

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन

लेखक

डॉ. दरबारीलाल कोठिया

सम्पादक

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

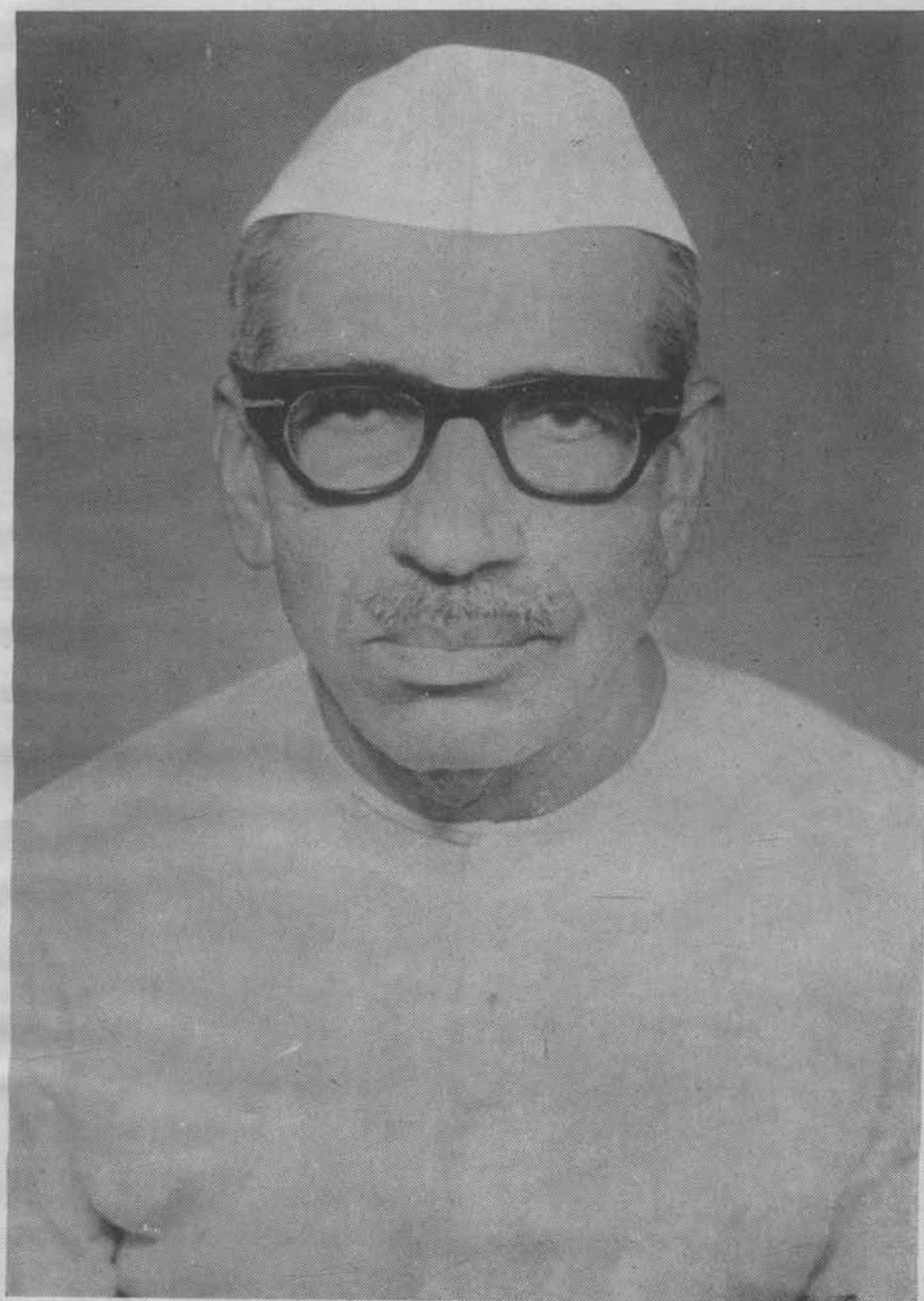
वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन

दाकारीलाल मोहिया

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

—श्रमणवेळगोळके अनेक शिलालेखोंका प्रथम पद्य ।



डॉ. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य

युगवीर-समन्तभद्र-ग्रन्थमाला : १५

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन

STUDIES IN JAINA PHILOSOPHY & LOGIC

लेखक

डॉ. दरबारीलाल कोठिया

सम्पादक

डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

ग्रन्थमाला-सम्पादक व नियामक :
डॉक्टर दरबारीलाल कोठिया

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन
STUDIES IN JAINA PHILOSOPHY & LOGIC

ट्रस्ट-संस्थापक :
आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

लेखक :
डॉ. दरबारीलाल कोठिया

सम्पादक :
डॉ. गोकुलचन्द्र जैन

© प्रकाशक :
मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट,
१/१२८ डुमराँव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी (उ. प्र.)

संस्करण :
प्रथम : १९८०

मूल्य :
पुस्तकालय-संस्करण पचहत्तर रुपये

मुद्रक :
सन्मति मुद्रणालय,
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी (उ. प्र.)

वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट : एक दृष्टिमें

जैन साहित्य और इतिहासके विशेषज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय आचार्य जुगल-किशोरजी मुख्तार 'युगवीर' ने अपनी दीर्घकालीन साहित्य-इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियोंको मूर्तरूप देनेके हेतु अपने निवास-स्थान सरसावा (सहारनपुर), उत्तर प्रदेशमें 'वीर-सेवा-मन्दिर' नामसे एक शोध-संस्थाकी स्थापना की थी और उसके लिए रोडपर क्रीत विस्तृत भूखण्डपर एक सुन्दर भवनका निर्माण किया था, जिसका उद्घाटन वैशाख सुदी ३ (अक्षयतृतीया), विक्रम संवत् १९९३, दिनांक २४ अप्रैल १९३६ में किया गया था। सन् १९४२ में मुख्तारश्रीने अपनी सम्पत्तिका 'वसोयतनामा' लिखकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। 'वसोयतनामा' में उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' के संचालनार्थ इसी नामसे ट्रस्टकी भी उन्होंने योजना की थी, जिसकी भी रजिस्ट्री ५ मई १९५१ को उनके द्वारा करा दी गयी थी। इस प्रकार आचार्य मुख्तारश्रीने 'वीर-सेवा-मन्दिर' व 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' दोनोंकी स्थापना करके उनके द्वारा साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानकार्यको प्रथमतः अग्रसारित किया।

स्वर्गीय बा. छोटेलालजी कलकत्ता, स्वर्गीय ला. राजकृष्णजी दिल्ली, स्वर्गीय रायसाहब लाला उल्फतरायजी दिल्ली आदिकी प्रेरणा और स्वर्गीय पूज्य क्षु. गणेश-प्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) के आशीर्वादसे सन् १९४८ में श्रद्धेय मुख्तार साहबने उक्त 'वीर-सेवा-मन्दिर' का एक कार्यालय उसकी शाखाके रूपमें दिल्लीमें, उसके राजधानी होनेके कारण अनुसन्धानकार्यको अधिक व्यापकता और प्रकाश मिलनेके उद्देश्यसे, रायसाहब ला. उल्फतरायजीके चैत्यालयमें खोला था। पश्चात् बा. छोटेलालजी, साहू शान्तिप्रसादजी और समाजकी उदारतापूर्ण आर्थिक सहायतासे उसका भवन भी बन गया, जो २१ दरियागंज नई दिल्ली-२ में स्थित है और जिसमें 'अनेकान्त' (मासिक) का प्रकाशन एवं अन्य साहित्यिक कार्य सम्पादित होते हैं। इसी भवनमें सरसावासे ले जाया गया विशाल ग्रन्थागार है, जो जैन विद्याके विभिन्न अंगोंपर अनुसन्धान करनेके लिए विशेष उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है।

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट ग्रन्थ-प्रकाशन और साहित्यानुसन्धानका विशेष कार्य कर रहा है। अब तक इसके द्वारा २२ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन हो चुका है और २३वाँ प्रकाशन प्रस्तुत है। उनके नाम ये हैं—१-२. युगवीर-निबन्धावली (भाग १, २) ३. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, ४. लोकविजययन्त्र, ५. प्रमाण-नय-निक्षेप-प्रकाश, ६. देवागम (आप्तमीमांसा), ७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार (संस्कृत-हिन्दी टीका युक्त), ८. समाधिमरणोत्साहदीपक, ९. तत्त्वानुशासन, १०. प्रमेयकण्ठिका, ११. नयी किरण : नया सवेरा, १२. जैनधर्मपरिचय, १३. आरम्भिक जैनधर्म, १४. करणानुयोगप्रवेशिका, १५. द्रव्यानुयोगप्रवेशिका, १६. चरणानुयोगप्रवेशिका, १७. महावीर-वाणी, १८. अनेकान्तवाद, १९. भ. महावीरका जीवनवृत्त, २०. मङ्गलायतनम् (महावीर-चरित), २१. ऐसे थे हमारे गुरुजी, २२. प्रमाणपरीक्षा और २३. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन।

प्रकाशकीय

सितम्बर १९७७ में वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे प्रमाणशास्त्रके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'प्रमाण-परीक्षा' का प्रकाशन हुआ था। यह जैनदर्शन एवं न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् तार्किकशिरोमणि आचार्य विद्यानन्दकी उपलब्ध नौ रचनाओंमें मध्यम परिमाणकी महत्त्वकी श्रेष्ठ रचना है। इसका सुन्दर सम्पादन और हिन्दी रूपान्तर डॉ. दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्यने किया है। डॉक्टर कोठियाने इसकी विस्तृत प्रस्तावना लिखकर उसमें प्रमाणशास्त्रके सभी विषयोंपर बहुत ही सुन्दर और अच्छा प्रकाश डाला है।

यहाँ पाठकोंको यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि उत्तर प्रदेश शासनने ट्रस्टके इस प्रकाशनको पुरस्कृत किया है और इसके सुयोग्य सम्पादक डॉक्टर कोठियाको २ नवम्बर १९७९ में सम्पन्न अपने पुरस्कार-समारोहमें प्रशस्ति-पत्रके साथ एक सहस्र रुपएका पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया है। यह ट्रस्टके लिए गौरवकी बात है।

इस समेत अब तक ट्रस्टसे २२ प्रकाशन हो चुके हैं, जो सभी बड़े उपयोगी और महत्त्वके हैं। यह प्रसन्नताकी बात है कि आज डॉक्टर कोठियाका एक और विशाल एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशमें आ रहा है। वह है 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परीक्षालन'। इसमें जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्रका गहरा एवं अनुसन्धानपूर्ण विमर्श किया गया है। अनेक आचार्यों और उनकी कृतियोंका समीक्षात्मक अध्ययन बड़े ही ऊहापोहके साथ प्रस्तुत किया गया है। अनेक आचार्योंके समयादिका निर्णय भी इसमें खोजपूर्वक दिया गया है। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरण, रत्नकरण्डकश्रावकाचारके कर्तृत्व जैसी कई समस्याएँ भी कोठियाजीने इसमें सप्रमाण समाहित की हैं। सामान्य पाठकोंसे लेकर विश्वविद्यालयोंके अध्यापकों और शोध-छात्रों तकके लिए यह ग्रन्थ निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगा। या यों कहें कि जैन प्रमाणशास्त्रसे सम्बन्धित विषयोंके अध्ययनके लिए उन्हें यह मार्गदर्शनका कार्य करेगा।

ट्रस्टकी यह विशेषता है कि वह अपने सीमित साधनोंसे जैन साहित्य और इतिहासके मर्मज्ञ एवं अनुसन्धाता स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी 'युगवीर' द्वारा स्थापित परम्परा—जैन साहित्य-इतिहास सम्बन्धी अनुसन्धान-प्रवृत्तियोंको चालू रखे हुए है। हमें आशा है उनके परोक्ष आशीर्वादसे यह परम्परा चालू रहेगी।

ट्रस्टके सभी सदस्योंके हम आभारी हैं, जिनके उत्साह और सहयोगसे ट्रस्ट जिनवाणीके प्रकाशन और साधनामें संलग्न है।

एटा (उत्तर प्रदेश)

४-६-१९८०

डॉ. श्रीचन्द्र जैन संगल

उपाध्यक्ष एवं कोषाध्यक्ष, वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट

सम्पादकीय

‘जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन’ जैन विद्याके अप्रतिम मनीषी न्यायाचार्य डॉ. पण्डित दरबारीलाल कोठियाकी एक अनुपमेय कृति है। अर्धशताब्दी से अधिक दीर्घकालव्यापी उनके अनुसन्धान-कार्योंका यह एक ऐसा ऐतिहासिक दस्तावेज है, जो भारतीय विद्याकी विशिष्ट विधा जैनदर्शन एवं प्रमाणशास्त्रके अनुसन्धित्सुओं-जिज्ञासुओंके लिए दुर्लभ सन्दर्भ-ग्रन्थके रूपमें महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होगा। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता आचार्य स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सरसावा (सहारनपुर, उ. प्र.) की पुण्यभूमिमें स्थापित ‘वीर-सेवा-मन्दिर’ के अनुसन्धान-पत्र ‘अनेकान्त’ एवं जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार) के ‘जैन सिद्धान्त भास्कर’ प्रभृति शोध-मासिकोंमें लिखित शोध-निबन्धोंसे लेकर बंगालमें कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरके ‘शान्ति-निकेतन’, मध्य प्रदेशमें सागर विश्वविद्यालय एवं जबलपुर विश्वविद्यालय और राजस्थानमें राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुरमें पठित शोध-निबन्धों एवं व्याख्यानों, अनन्य परिश्रमपूर्वक सम्पादित प्राचीन ग्रन्थों-की प्रस्तावनाओं तथा काशीके गंगातटपर निर्मित कुटीरके अपने स्वाध्याय-कक्षमें ध्यानस्थ होकर न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलाल कोठियाने जो दर्शन और न्यायशास्त्रका तलस्पर्शी सूक्ष्म चिन्तन और सातिशय गवेषणापूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है उसके सर्वाधिक महनीय अंशको प्रस्तुत कृतिमें समाहित किया गया है। जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्रके क्षेत्रमें डॉक्टर कोठियाकी ऐतिहासिक गवेषणाएँ नितान्त मौलिक, तर्कयुक्त एवं शास्त्रसम्मत हैं। उन्होंने युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे जो प्रस्थापनाएँ कीं, अन्ततः उनकी उन औचित्यपूर्ण स्थापनाओंको विद्वज्जगत्के महामनीषियोंने^१ अंगीकार कर अपने लेखनमें उन्हें समाहित किया। उदाहरणके रूपमें कतिपय सन्दर्भोंको हम यहाँ रेखांकित करना उपयुक्त समझते हैं:—

१. जैन प्रमाणशास्त्रका व्यवस्थित विकास स्वामी समन्तभद्रसे होता है। समन्तभद्रको अपनी विरासतमें आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छ-उमास्वामी-का चिन्तन उपलब्ध था। आचार्य कुन्दकुन्दने जिस दार्शनिक और आरम्भिक प्रमाणशास्त्रीय चिन्तनको अपने प्राकृत-प्राभृतीमें संप्रथित किया, उसे तत्त्वार्थ-सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छने संस्कृतकी सूत्रशैलीमें निबद्ध कर दिया। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रमें ‘न्यायशास्त्रके बीज’ स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। स्वामी समन्तभद्रने इसी तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरण—“मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभूताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥” को

१. दृष्टव्य—

न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार, जैन-दर्शन तथा सिद्धिविनिश्चयटीकाकी प्रस्तावना।

डॉ. होरालाल जैन, डॉ. ए. एन. उपाध्ये—शाकटायन व्याकरण, जनरल एडोटीरियल।

पं. फूलचन्द्र शास्त्री—सर्वार्थसिद्धि, द्वितीय संस्करण, प्रस्तावना।

- आधार बनाकर देवागम अपर नाम आप्तमीमांसाकी रचना की। डॉ. कोठियाकी इस स्थापनाको उस समयके अनेक दिग्गज विद्वानोंने नकारा। 'अनेकान्त' में यह चर्चा वर्षों तक चली, किन्तु अन्ततः उन सभी विद्वानोंने इसे स्वीकार कर लिया और अपने उत्तरकालीन लेखनमें उसे समाहित किया।
२. स्वामी समन्तभद्रकी कृतियोंके सम्बन्धमें दूसरा जो प्रश्न बहुचर्चित हुआ, वह है 'रत्नकरण्डकभावाचारका कर्तृत्व'। 'अनेकान्त' में इस विषयपर भी वर्षों तक चर्चा चली। डॉ. कोठियाने अनेक युक्तियों और प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध कर दिया कि 'रत्नकरण्डकभावाचार' असन्दिग्ध रूपसे स्वामी समन्तभद्रकी कृति है।
३. स्वामी समन्तभद्रका समय-निर्धारण मात्र जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्रका ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण भारतीय दर्शनोंके इतिहासका एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया था। इस विषयको लेकर विद्वान् लगभग दो खेमोंमें बँट गये थे—एक वे जो जेनेन्द्र व्याकरणके स्पष्ट उल्लेखोंके बावजूद स्वामी समन्तभद्रकी आचार्य सिद्धसेन दिवाकरका उत्तरवर्ती बताना चाहते थे, दूसरे वे जो जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्रके ऐतिहासिक विकासके स्पष्ट और सुदृढ़ प्रमाणोंके आधारपर स्वामी समन्तभद्रका समय ईसाकी द्वितीय शताब्दी निर्णीत करते थे^१। स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तारने अपनी जिन दीर्घकालिक गवेषणाओंके आधारपर स्वामी समन्तभद्रका समय निर्धारित किया उसमें डॉ. कोठियाके अनुसन्धान-पूर्ण निबन्धों—निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र, बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन और समन्तभद्र, दिग्नाग और समन्तभद्र, धर्मकीर्ति और समन्तभद्र, मीमांसकधुरीण भट्ट कुमारिल और समन्तभद्र, भर्तृहरि और समन्तभद्र आदिसे महनीय योगदान प्राप्त हुआ।
४. स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित देवागम अपर नाम आप्तमीमांसा तथा पं. मूलचन्द्र शास्त्री द्वारा अनूदित युक्त्यनुशासन दोनोंकी विस्तृत प्रस्तावनाओंमें डॉ. कोठियाने उक्त ग्रन्थोंके स्वरूप-निर्धारणके साथ ग्रन्थोंकी विषय-वस्तुको इस प्रकार सुव्यवस्थित रूपमें प्रस्तुत किया है कि आगेके अध्येताओंने उसे अपरिवर्तित रूपमें अपने ग्रन्थोंमें समाहित—स्वीकृत कर लिया।
५. स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके आद्य भाष्यकार महान् तार्किक भट्ट अकलंकके दुर्लभ और अनुपलब्ध ग्रन्थोंका अन्वेषण, वैज्ञानिक सम्पादन तथा टीकासे मूल ग्रन्थोंके पुनरुद्धारका जैसा महनीय कार्य स्व. न्यायाचार्य डॉ. पण्डित महेन्द्रकुमार जैनने किया, उसी प्रकार भट्ट अकलंकके आप्तमीमांसा-भाष्यकी अक्षरशः अपने महाभाष्य आप्तमीमांसासंस्कृतिकृतिके समाहित करनेवाले

दृष्टव्य—

१. पं. मुखलाल संघवी, सन्मतिसूत्र, प्रस्तावना।
२. स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामी समन्तभद्र तथा डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ए. एन. उपाध्ये—शाकटायनव्याकरण, जनरल एडिटोरियल।

तथा युक्त्यनुशासनपर अद्वितीय भाष्य—युक्त्यनुशासनालंकार, जैमिनिसूत्रपर लिखित मीमांसा-श्लोकवार्तिककी तरह तत्त्वार्थसूत्रपर तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक तथा उसका भाष्य और आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा आदि मौलिक ग्रन्थोंके स्रष्टा आचार्य विद्यानन्दके ग्रन्थोंका तलस्पर्शी अध्ययन, सम्पादन और प्रसारका कार्य न्यायाचार्य डॉ. पण्डित कोठियाने किया।

६. न्यायदीपिकाके बाद सन् १९४९ में जब डॉ. कोठिया द्वारा वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादित आप्तपरीक्षा हिन्दी अनुवादके साथ प्रकाशित हुई तो विद्वज्जगत् और सामान्य अध्येता-जिज्ञासुओंने उसे एक सुखद आश्चर्य और महनीय उपलब्धिके रूपमें समाहित किया। आचार्य विद्यानन्दके अत्यन्त क्लिष्ट दार्शनिक ग्रन्थोंका जैसा अनुगम, पंक्तिपाण्डित्य और आनुपूर्वी अध्ययन डॉक्टर कोठियाको है, वह अनन्य और असाधारण है। वे सम्पूर्ण दार्शनिक जगत्में आचार्य विद्यानन्दके एकमात्र वर्तमान सारस्वत-चक्रवर्ती हैं। इस कथनमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। इस सन्दर्भमें अनायास ही दो प्रसंग स्मरण हो आते हैं—

(१) सन् १९७४ की बात है। मैं अपनी एक शोधयात्रापर अहमदाबाद गया था। आ. पण्डित दलसुख भाई मालवणियाके साथ भारतीय विद्याओंके असाधारण विद्वान् श्रद्धेय पण्डित सुखलाल संघवीके दर्शन करने गया। पण्डितजीने दलसुख भाईकी पदचाप सुनते ही कहा—‘दलसुख भाई हैं क्या?’ पण्डितजी वृद्धावस्था और अस्वस्थताके कारण बिस्तरपर लेटे हुए थे। मालवणियाजीने उत्तरमें कहा—‘पण्डितजी, बनारससे डॉ. गोकुलचन्द्रजी आये हैं।’ मैंने पण्डितजीके चरण छुए और उन्होंने कहा—‘बैठो’। फिर काशीके एक-एक जैन विद्वान्का नाम ले-लेकर उनकी कुशल-क्षेम पूछी। फिर बोले—‘यहां कैसे आये।’ अपनी बात कहते-कहते मैंने कहा—‘पण्डितजी, हिन्दू विश्वविद्यालयमें आ गया हूँ। पढ़ने-लिखनेका पर्याप्त समय मिलेगा। आप बताइए क्या पढ़ूँ।’ इतना सुनते ही पण्डितजी उठकर बैठ गये और बोले—‘तुम पढ़ना चाहते हो, बताओ पूरे दिगम्बर-श्वेताम्बर विद्वानोंमें कोई है, जिसे अष्ट-सहस्री और श्लोकवार्तिक लगते हों।’ बिना रुके ही वे बोले “अकेले दरबारीलाल कोठियाको लगते हैं। तुम पढ़ना चाहते हो तो उनसे इन ग्रन्थोंकी पढ़ो। दर्शनमें तुम्हारी गति है। हमने तुम्हारी सत्यशासन-परीक्षाकी प्रस्तावनाको सुना है।”

(२) सन् १९६० में डॉक्टर कोठिया हिन्दू विश्वविद्यालयकी जैन चेयरपर आये। तब वे रवीन्द्रपुरीमें रहते थे। काशीके जैन विद्वानोंके साथ उनका बराबर उठना-बैठना चलने लगा। एक बार सबने मिलकर निश्चय किया कि डॉ. कोठिया विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीका आद्यन्त वाचन-विवेचन करें। इस विद्यागोष्ठी और वाचनामें कई विद्वान् शामिल हुए।

इन प्रसंगोंसे डॉक्टर कोठियाके जैनदर्शनशास्त्रके पाण्डित्य और उसके प्रति बहुश्रुत विद्वानोंकी निष्ठाका पता चलता है।

(३) आसपरीक्षाकी प्रस्तावनामें डॉ. कोठियाने भारतीय दार्शनिकोंके अनेक साक्ष्य उपस्थित करके जो समय-निर्धारण किया है, वह सर्वमान्य हुआ।

७. विद्यानन्दकी प्रमाण-परीक्षाका आसपरीक्षाकी ही तरह एक सुसम्पादित संस्करण तैयार करनेका प्रस्ताव पं. दलसुखभाई मालवणियाने दस-बारह वर्ष पूर्व किया था। प्रस्ताव तो डॉक्टर कोठियाने मान लिया, पर उन दिनों वे वर्षी ग्रन्थमाला, वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् आदिके उत्तरदायित्वपूर्ण सम्पादन-प्रकाशन आदिमें इतने डूब गये कि प्रमाण-परीक्षाका प्रस्ताव स्थगित रह गया। दीर्घकालीन प्रतीक्षाके अनन्तर अभी पिछली वर्ष प्रमाणपरीक्षाका संस्करण प्रकाशित हुआ तो विद्वज्जगत्ने उसका हार्दिक स्वागत किया। उत्तर प्रदेश शासनने उनकी इस कृतिपर उन्हें एक सहस्र रुपयोंका पुरस्कार और प्रशस्ति-पत्र देकर सम्मानित किया। आसपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाकी विस्तृत प्रस्तावनाओंमें उन्होंने जो गवेषणापूर्ण चिन्तन और दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है, उसे प्रस्तुत ग्रन्थमें समाहित किया गया है। अभी हमें विश्वास है कि अष्टसहस्रीका भी एक प्रामाणिक संस्करण वे शीघ्र ही विद्वज्जगत्को भेंट करेंगे।

८. अकलंकके वचन-समुद्रका मन्थन करके माणिक्यनन्दिने न्यायविद्यामृतको परीक्षामुखके रूपमें प्रदत्त किया—

अकलङ्कवचोम्भोधेरुदध्रे येन धीमता ।

न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥

परीक्षामुखपर आचार्य प्रभाचन्द्रने अपना विस्तृत भाष्य प्रमेयकमलमार्तण्ड और अनन्तवीर्येने प्रमेयरत्नमाला नामक टीका लिखी, जिनका पिछले वर्षोंमें अध्ययन-अध्यापन और प्रसार पर्याप्त मात्रामें हुआ, किन्तु माणिक्यनन्दिका समय-निर्धारण तथा 'परीक्षामुखके सूत्रोंका उद्गम' विषयपर डॉ. कोठियाने सर्वप्रथम विस्तारके साथ गवेषणापूर्ण विचार किया। प्राचीन और अर्वाचीन सभी ग्रन्थ-सम्पादकों और अध्येताओंको यह सामग्री सम्पूर्ण रूपमें उपादेय और संग्रहणीय सिद्ध हुई।

९. डॉ. कोठियाने जैनन्याय या प्रमाणशास्त्रका तीसरा चरण प्रभाचन्द्रकाल माना है। इस दृष्टिसे अभिनव धर्मभूषणकृत न्यायदीपिका तथा नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिकाको इस युगकी अन्तिम कड़ी कहा जा सकता है। ये दोनों ग्रन्थ जैन प्रमाणशास्त्रके प्रवेशद्वार हैं। डॉक्टर कोठियाने इनका वैज्ञानिक रीतिसे सम्पादन करके जैन प्रमाणशास्त्रके जिज्ञासुओंका मार्ग उद्घाटित कर दिया है। अन्नभट्टने 'बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः।' कहकर और तर्कसंग्रह रचकर जिस प्रकार न्यायशास्त्रमें प्रवेशका द्वार खोल दिया उसी प्रकार डॉक्टर कोठियाने इन ग्रन्थोंके सुसम्पादित संस्करण तैयार करके जैन-न्यायके जिज्ञासुओंका पथ प्रशस्त किया। इन दोनों ग्रन्थोंकी विस्तृत एवं

विशद प्रस्तावनाओंमें डॉ. कोठियाने जैन प्रमाणशास्त्रके प्रायः सभी विषयों-का विवेचन कर दिया है, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थमें समाहित किया गया है।

१०. प्रस्तुत ग्रन्थ—‘जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन’ में डॉ. कोठियाकी उपर्युक्त सामग्री सुव्यवस्थित रूपमें समुपलब्ध है। इस ग्रन्थकी एक अद्भुत विशेषता यह है कि इसमें लेखकके भाव, भाषा और प्रतिपादनशैली मूलरूपमें सुरक्षित है। एक बड़ी विशेषता यह भी है कि इस सम्पूर्ण सामग्रीका लेखक-ने स्वयं ही पुनरावलोकन, संशोधन, संवर्धन और प्रकाशनपर्यन्त आद्योपान्त निरीक्षण किया। ऐसा सौभाग्य बहुत बड़े सुयोगसे ही सम्भव होता है। इससे एक बड़ा लाभ यह होगा कि डॉ. कोठियाके कृतित्वका एक स्पष्ट चित्र पाठक स्वयं निर्मित कर सकेंगे।
११. इस ग्रन्थमें जितनी सामग्री समाहित हो सकी है, उससे लगभग दो गुनी सामग्री अभो और है, जिसका संयोजन और प्रकाशन हमारी परिकल्पना-योजनामें है।
१२. प्रस्तुत ग्रन्थ जैन विद्याकी विभिन्न शाखा-प्रशाखाओंके अध्ययन-अनुसन्धानके प्रति देश-विदेशमें बढ़ रही अभिरुचिके अनुरूप एक ऐसे सन्दर्भ-ग्रन्थका कार्य करेगा, जिसमें-से अनेक शोध-उपाधियोंके लिए विषय-चयन, सन्दर्भ-सामग्रीके आकलन और उसके तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक विवेचनकी विशिष्ट दृष्टि और प्रचुर मात्रामें अनुसन्धानपूर्ण सामग्री एक साथ उपलब्ध हो सकेगी।

डॉ. कोठियाकी इस नवीनतम कृतिके सन्दर्भमें इतना कहनेके बाद उनके व्यक्तित्वके विषयमें संक्षेपमें इंगित करनेका मोह संवरण करना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

मध्यप्रदेशके पावन तीर्थ ‘नयनागिरि’ की पुण्यभूमिमें जनमे बालककी काशीके गंगातट तककी यात्रा उनके भौतिक और आध्यात्मिक विकासकी दोहरी यात्रा है। विन्ध्याकी बोहड़ धरतोके खेतोंमें ‘सिलो’ बोननेवाला बालक बौद्धिक विकासके उन्नत सुमेरुकी सर्वोच्च शिखर तक पहुँच सकता है—इसका जीवन्त प्रतीक हैं न्यायाचार्य डॉ. पण्डित दरबारीलाल कोठिया। उदीयमान अभावग्रस्त प्रतिभाओंके लिए उनसे बड़ा प्रेरणा-दीप कौन हो सकता है? ‘नैनागिरिसे गंगातट’ शीर्षकसे उनके जीवनके कतिपय प्रेरक कथा-प्रसंगोंको मैंने आकलित किया है, जिसकी पाण्डुलिपि उनके ६९वें वर्ष-प्रवेशपर काशीमें तीर्थंकर पाश्र्वकी जन्मभूमिपर आयोजित समारोहमें उन्हें समर्पित की थी। आशा है वह शीघ्र प्रकाशमें आयेगी। उसके आमुखके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

० “काशीसे नैनागिरि की यात्रा मुश्किलसे चौबीस घण्टेकी है। १० बजे सवेरे काशी एक्सप्रेस पकड़ी। रात १० बजे कटनी पहुँचे और थोड़ी देरमें विलासपुर-भोपाल एक्सप्रेसमें जा बैठे। भोर होते-होते सागर और फिर छतरपुर बसमें बैठे तो बन्डा या दलपतपुर होते हुए दो घण्टेमें नैनागिरि।”

“नैनागिर इतना पास है तो बाबाजीको नैनागिरसे काशी पहुँचनेमें पचास साल कैसे लग गये ।” मेरा बेटा पूछ रहा और मैं कह रहा हूँ—

“बेटा, वे सीधे नहीं आये । तीर्थयात्रा करते हुए आये हैं । उन्होंने कई तीर्थों-को एक साथ जोड़ दिया है । अब तो वे स्वयं तीर्थ बन गये हैं ।”

०० नैनागिरसे गंगातट तककी उनकी यात्रा दोहरी यात्रा है । एक यात्रा वह जो बाहर-बाहर चलती है । और दूसरी यात्रा है—अन्तर्यात्रा, आध्यात्मिक यात्रा, जो अन्तरंग जीवनमें चलती है । मुझे लगा कि उनकी यह यात्रा-कथा अनेक असहाय, साधनहीन बच्चोंको प्रेरणा दे सकती है, आगे बढ़नेका सम्बल जुटा सकती है । विपदाओंसे घिरे लोगोंको सहारा दे सकती है, राह दिखा सकती है । अनेक लोगोंमें आध्यात्मिक विकासकी सूर्यकिरण अधिगमज सम्प्रगदर्शन उपजा सकती है ।

००० “एक विचित्र सपना देखा है ।”—मैंने कहा ।

“तुम स्वप्न देखते हो ?”

“जी, मैं स्वप्न नहीं देखता ।

जब कभी जो देखता हूँ, वह होकर रहता है ।

पूर्वाभास होता है स्वप्न ।”

“अद्भुत सपना देखा है आज ।”

“बताने लायक हो तो बताओ ।”

“बताऊँगा । जरूर बताऊँगा । आपको नहीं बताऊँगा तो किसको बताऊँगा ।”

“अच्छा बताओ ।”

“और मैं उन्हें बताने लगा—

मैंने देखा जिस सिद्धशिलापर वरदत्त महर्षिको केवलज्ञान हुआ था । आप उसी शिलापर निर्ग्रन्थ ध्यान लगाये बैठे हैं ।”

“और”

“और मैं देश-विदेशसे आये रिसर्चस्कालरोंको आपको दिखा-दिखाकर कह रहा हूँ—

“देखो, देख सकते हो तो देखो, देखनेकी कोशिश करो । इसे कहते हैं क्षपकश्रेणी ।”

“व्हाट इज क्षपकश्रेणी सर,” एक फ्रेन्च महिला रिसर्चस्कालरने मुझे टोक दिया है और मैं फिर कह रहा हूँ—

“क्षपकश्रेणी आध्यात्मिक विकासकी विशिष्ट प्रक्रिया है । इस स्टेजपर पहुँचकर योगी तीव्र गतिसे अपना आध्यात्मिक विकास करता है । जैन दृष्टिसे आठवें गुणस्थानसे यह प्रक्रिया आरम्भ होती है । फिर योगी तीव्र गतिसे अपने घातिया कर्मोंको नष्ट करता जाता है, करता जाता है । और शुक्लध्यानसे उसके कर्मबन्धन तार-तार होकर बिखर जाते हैं । घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं । वह केवली हो जाता है । उसके अनन्तज्ञानमें लोक-अलोकके सभी पदार्थ दर्पणकी तरह प्रतिबिम्बित

होने लगते हैं। वह 'जिन' हो जाता है, 'अर्हत्' हो जाता है। इट इज सर्वज्ञता, ओमनीसाइन्स।"

"हू यू फालो मिस....."

मैंने उसी फ्रेंच रिसर्चस्कालरकी ओर देखते हुए कहा था।

"यस सर, आई फालो,

"मे आई टेक सम स्नेप सर"

उसने पूछा,

और मैंने अनुमति दे दी।

"स्फोर, व्हाइ नाट"। और उसने खट-खट कुछ चित्र खींच लिये।"

वे थोड़ा मुसकराये। बोले—"बड़ा अद्भुत स्वप्न देखा है तुमने। मैं रातभर बैठा अपने जीवन और वरदत्त महामुनिके ध्यान, केवलज्ञान, निर्वाण आदिके विषयमें ही सोचता रहा। हो सकता है, वही मनोवर्गणाएँ तुम्हारे सपनेमें आकलित होती रही हों।

बड़ा क्षयोपशम है तुम्हारा।"

फिर एक क्षण रुककर उन्होंने कहा—

"तुम्हारा स्वप्न सच हो जाये।"

अपने जीवन-कालमें डॉ. कोठियाने लेखन, सम्पादन, अध्यापन, जिनवाणीका प्रचार, समाजसेवा, देश-विदेशके अनुसन्धितसुओंको मार्गदर्शन, अभावग्रस्तोंको अपनी सीमित आयमेंसे भी निरन्तर आर्थिक सहयोग और सामाजिक सम्बन्धोंके निर्माणका जो कीर्तिमान निमित्त किया है और उसके प्रतिफल जो अनेक अलंकरण, न्यायालंकार, न्यायरत्नाकर, न्यायवाचस्पति आदि मानद उपाधियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की है, वह किसीके लिए भी स्पृहणीय हो सकती है। महासागरकी तरह गम्भीर डॉ. कोठिया आह्लाद और उद्वेगके अवसरोंपर महासागरकी ही तरह कभी उद्वेलित भी हुए, पर सब अपनेमें ही समाते गये। मैं उन्हें हिन्दीके महान् कवि बेचन शर्मा उग्रकी एक पंक्ति ऐसे अवसरोंपर प्रायः सुनाया करता था—"हम विषपायी जनमके सहे कुबोल अबोल।"

डॉ. कोठिया और उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती चमेली देवीकी तीन सन्तानों-मेंसे एक भी दीर्घजीवी नहीं हुई तो इस सुपर्णयुगलका पितृत्व-मातृत्व अनेक बालक-बालिकाओं—विद्यार्थियोंमें सहस्रगुणित होकर विराट् बन गया। यही कारण है कि वे अपनी सीमित आयमेंसे भी पचास हजारसे अधिकको राशिको प्रसन्नतापूर्वक निकाल विकीर्ण करते रहे।

आँकड़ोंकी भाषामें डॉक्टर कोठियाके व्यक्तित्व और कृतित्वको निम्नलिखित रूपमें आकलित किया जा सकता है—

डॉ. दरबारीलाल कोठिया और उनका अवदान

जन्म : आषाढ़ कृष्ण द्वितीया, वि. सं. १९६८,

१९११, नैनागिर, जिला छतरपुर (म. प्र.)

शिक्षा : न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, एम. ए., पी-एच. डी.,

महावीर जैन विद्यालय, सादूमल (ललितपुर), उ. प्र.,

स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

परिवार : पण्डितजी तथा उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती चमेली देवी ।

आवास : १।१२८ चमेली कुटीर, डुमराँव बाग, अस्सी, वाराणसी २२१००५ ।

सेवाएँ

१९३७-४० वीर विद्यालय, पपोरा (टीकमगढ़)

१९४०-४२ ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम, मथुरा (उ. प्र.)

१९४२-५० वीर सेवा मन्दिर, सरसावा (उ. प्र.)

१९५०-५७ समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालय, दिल्ली ।

१९५७-६० दि. जैन कालेज, बड़ौत, मेरठ (उ. प्र.)

१९६०-७४ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

जैन-बौद्ध दर्शनके रीडर पदसे सेवा-निवृत्त ।

कृतियाँ

१९४४ अध्यात्मकमलमार्तण्ड, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा ।

१९४५ न्यायदीपिका, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा—दिल्ली ।

१९४९ आसपरीक्षा, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा—दिल्ली ।

१९४९ श्रीपुरपाशर्वनाथस्तोत्र " " "

१९४९ शासनचतुश्चिन्ता " " "

१९५० स्याद्वादसिद्धि, माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला ।

१९५० प्राकृतपद्यानुक्रमणी, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा—दिल्ली ।

१९६१ प्रमाणप्रमेयकलिका, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।

१९६४ समाधिमरणोत्साहदीपक, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी ।

१९६६ द्रव्यसंग्रह, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी ।

१९६९ जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी ।

१९७७ प्रमाणपरीक्षा, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी ।

१९८० जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी ।

मानव सेवाएँ

१. स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी ।

उपाधिष्ठाता

२. श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी ।

मन्त्री

३. श्री गणेश वर्णी संस्थान, वाराणसी ।

मन्त्री

४. वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी ।

मन्त्री

५. श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद्	अध्यक्ष
६. दि. जैन अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी, अयोध्या	उपाध्यक्ष
७. बिहार प्रादेशिक दि. जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी	सदस्य
८. प्राकृत जैन शोध संस्थान, वैशाली	सदस्य
९. जैन सन्देश, मथुरा	सह-सम्पादक
१०. अनेकान्त ।	सह-सम्पादक
११. जैन प्रचारक	सम्पादक

मानद उपाधियाँ एवं सम्मान

‘न्यायालंकार’ की मानद उपाधि स्वर्णपदक एवं प्रशस्तिपत्र वीर निर्वाण भारती द्वारा । नई दिल्ली	१९७४
स्वर्णपदक एवं प्रशस्तिपत्र आल इण्डिया दिगम्बर भगवान् महावीर २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव महासमिति, दिल्ली	१९७४
‘न्यायरत्नाकर’ की मानद उपाधि मूडबिंद्री, दक्षिण कनारा, कर्नाटक	१९७५
‘न्यायवाचस्पति’ की मानद उपाधि द्रोणगिरि (मध्य प्रदेश)	१९७७
उत्तर प्रदेश शासन द्वारा ‘प्रमाणपरीक्षा’ ग्रन्थपर एक सहस्र रुपयेका पुरस्कार एवं प्रशस्ति-पत्र	१९७९

सम्मान

दि. जैन समाज, हटा (टीकमगढ़)	१९३८
दि. जैन समाज, घुवारा (टीकमगढ़)	१९३८
दि. जैन नया मन्दिर शास्त्रसभा, धर्मपुरा, दिल्ली	१९४५
जैन सभा दरियागंज, दिल्ली	१९५१
दि. जैन समाज, मदनगंज किशनगढ़ (राजस्थान)	१९७५
दि. जैन समाज, कानपुर	१९७६

जिनवाणीका प्रसार

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला तथा श्री अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत् परिषद्के माध्यमसे पचाससे अधिक ग्रन्थोंका सम्पादन, प्रकाशन तथा हजारों परिवारोंमें प्रेषण ।

आर्थिक योगदान

विद्यार्थियों, विद्वानों, अभावग्रस्त व्यक्तियों तथा संस्थाओंको अपनी सीमित आयमें-से भी लगभग पचास हजारका दान ।

प्रस्तुत ग्रन्थकी सामग्रीके संयोजन, सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशनमें जिनका सहयोग प्राप्त हुआ, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। सर्वप्रथम श्रद्धेय डॉ. दरबारीलालजी कोठियाके प्रति श्रद्धासे विनत हूँ कि उन्होंने अपनी शोध-सामग्रीके पुस्तकरूपमें संयोजन-सम्पादनका मुझे अवसर दिया। मेरे अनेक आत्मीय मित्रों—शोध-छात्रों, जो अब सभी 'डॉक्टर' हो चुके हैं उनमें डॉ. शीतलचन्द्र जैन, डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, डॉ. सनतकुमार जैन, श्री सन्तशरण शर्मा और श्री भोलानाथ शर्माके अनन्य सहयोगके लिए उनका आभारी हूँ और उनके अभ्युदयकी हार्दिक कामना करता हूँ। वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टके माननीय ट्रस्टीगण सत्साहित्यके प्रकाशनमें पूर्ण रुचि लेते हैं, इससे ट्रस्टके संस्थापक स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारकी आत्माको हार्दिक सन्तोषका अनुभव होगा। इस ग्रन्थको ट्रस्टकी ओरसे प्रकाशित कर ट्रस्टीजनोंने विद्वज्जगत्का बड़ा उपकार किया है। मैं उनके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

ज्ञानका क्षेत्र अपार है। क्षायोपशमिक ज्ञानको अपनी परिसीमाएँ हैं। इस कारण ग्रन्थमें अनेक कमियाँ हो सकती हैं। उनके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

“को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।”

श्रुतपंचमी

१७ जून १९८०

—गोकुलचन्द्र जैन

अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

आत्म-निवेदन

इस बीसवीं शताब्दीमें जैन विद्याके विभिन्न क्षेत्रोंमें अनेक लेखकों और चिन्तकों द्वारा प्रशस्त और पर्याप्त कार्य हुआ है। पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) और परम श्रद्धेय पं. गोपालदासजी वरैयाने जहाँ जैन शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा स्थापित की तथा अनेक शिक्षा-संस्थाओंको जन्म देकर जैन विद्याके मर्मज्ञ सैकड़ों विद्वानोंको तैयार किया वहाँ आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार, आचार्य पं. नाथूरामजी प्रेमी और आ. पं. सुखलालजी संघवीने विगत सहस्राब्दियोंमें जैन वाङ्मयके कोषागारको समृद्ध करनेवाले आचार्यों—ग्रन्थकारों और उनकी कृतियोंको प्रकाशमें लानेका मार्ग प्रशस्त किया तथा जैन साहित्य एवं इतिहासके विशेषज्ञोंकी परम्पराको जन्म दिया। फलतः विद्वद्गुरु पं. वंशीधरजी न्यायालंकार, पं. माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री, पं. मन्मथलालजी विद्यावारिधि जैसे जैन शास्त्रज्ञ और डॉ. हीरालालजी, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, पं. भुजबलि शास्त्री जैसे जैन साहित्य-इतिहास विशारद एवं सम्पादन-कलाकुशल मनीषी पैदा हुए। इन सारस्वतोंने जैन विद्याकी जो सेवा-उपासना की है वह सदा स्मरणीय एवं उल्लेखनीय रहेगी। इन्होंने जैन विद्याके सम्पादन-प्रकाशनका जो मानदण्ड स्थापित किया वह आज भी विद्यमान है। इसी परम्परामें स्व. डॉ. पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं. चैनसुख दास न्यायतीर्थ, पं. दलसुख मालवणिया, पं. फूलचन्द्र शास्त्री, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य, पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, पं. हीरालाल शास्त्री, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, स्व. पं. परमानन्द शास्त्री आदिका योगदान भी उल्लेखनीय है।

अब हमारे देखते-देखते ऐसा लग रहा है कि ये दोनों धाराएँ प्रवाहहीन हो रही हैं। न तो वह जैन शास्त्रोंके अध्ययन-अध्यापनकी परम्परा दिखाई देती है और न जैन साहित्य-इतिहासके अनुसन्धानके प्रति रुचि दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन शिक्षण-संस्थाएँ एक-एक कर या तो बन्द हो रही हैं या आकर्षणहीन हो गयी हैं। जैन साहित्य और इतिहासके अनुसन्धानका गम्भीर एवं तलस्पर्शी अध्ययन भी नहीं-के-बराबर होता जा रहा है। हाँ, एक प्रकाशकी किरण उन विश्व विद्यालयोंसे जरूर

दिखाई पड़ती है, जहाँ जैन विद्याका अध्ययन और अनुसन्धान हो रहा है। हमें आशा है कि इन विश्व विद्यालयोंमें कार्यरत जैन विद्याके विद्वान् और छात्र इस विद्याके अध्ययन-अध्यापन और अनुसन्धानमें गहराई एवं पूरा परिश्रम करके नये तथ्य प्रस्तुत करेंगे तथा अप्रकाशित, लुप्त और अनुपलब्ध जैन साहित्यको विभिन्न शास्त्रभण्डारोंमें खोजकर प्रकाशमें लायेंगे। पूज्यपादका सारसंग्रह, पात्रस्वामीका त्रिलक्षण-कदर्थन, श्रीदत्तका जल्पनिर्णय, कुमारनन्दिका वादन्याय, सुमतिकी सन्मति-टोका, अनन्तवीर्यका प्रमाणसंग्रहभाष्य, विद्यानन्दका विद्यानन्दमहोदय, अनन्त-कीर्तिकी स्वतःप्रामाण्यभङ्गसिद्धि प्रभृति ग्रन्थ जैन वाङ्मयके अपूर्व ग्रन्थ हैं, जो आज अनुपलब्ध हैं और जिनके उत्तरवर्ती ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलते हैं। इन ग्रन्थों तथा इसी प्रकारके अन्य अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी खोज होनी चाहिए तथा जो बहुत-सा साहित्य शास्त्रभण्डारोंमें अप्रकाशित पड़ा है उसका सुसम्पादनके साथ प्रकाशन भी होना चाहिए। इस कार्यको निश्चय ही विश्व विद्यालयोंके जैन विद्याके विद्वान् एवं छात्र कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थमें उस सब शोध-कार्यको समाहित किया गया है, जो हमने १९३६ से पिछले वर्ष तक ४४ वर्षोंमें जैनमित्र, अनेकान्त, जैन सिद्धान्तभास्कर प्रभृति पत्रों, अभिनन्दन-ग्रन्थों और विश्व विद्यालयोंकी संगोष्ठियोंमें शोधनिबन्धोंके रूपमें तथा आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, न्यायदीपिका और प्रमाणप्रमेयकलिकाकी प्रस्तावनाओंमें बहुमूल्य विमर्शके साथ प्रस्तुत किया है। हमने इन निबन्धोंका स्वयं आद्योपान्त पुनरीक्षण-सम्पादन, अनेक निबन्धोंमें आवश्यक संशोधन, परिवर्धन और परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ—‘तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण’, ‘रत्नकरण्डक-श्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति है’ जैसे निबन्धोंमेंसे वे अंश निकाल दिये हैं, जो सामयिक एवं आक्षेपपरक प्रतीत हुए। भाषामें भी हमने काफी सुधार किया है। इस तरह विभिन्न रूपोंमें पूर्व प्रकाशित स्थायी महत्त्वकी मूल्यवान् सामग्रीको एकत्र कर, उसे प्रस्तुत ग्रन्थका रूप दिया गया है।

अन्तमें अपने सहायकोंका आभार मानना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। लेख मैं सन् १९३४ से लिखने लगा था और वे ‘आज्ञ’, ‘जैनमित्र’, ‘वीर’, ‘जैनसन्देश’ और ‘जैनदर्शन’ (मासिक) में प्रकाशित हुए। इन पत्रोंके सम्पादकोंका, विशेषकर स्व. पं. परमेश्वरीदासजीका आभारी हूँ, जिन्होंने प्रेरणा और बिना प्रेरणाके मेरे लेखोंको ‘वीर’ और ‘जैनमित्र’ में प्रकाशित किया। वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर) के संस्थापक, प्रवर्त्तक और अधिष्ठाता जैन साहित्य-इतिहास-पुरातत्त्व विद्यामहार्णव स्वर्गीय आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारकी प्रेरणापर ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम मथुराके प्राचार्यपदको छोड़कर २४ अप्रैल १९४२ में जब सरसावा पहुँचा, तो उनके सुयोगसे ‘अनेकान्त’ जैसे विश्रुत शोध-मासिकमें शोध-लेख लिखे। इन लेखोंका वे अपनी सूक्ष्म और पैनी दृष्टिसे सम्पादन करते और उन्हें ‘अनेकान्त’ में प्रकाशित करते थे। उनका सुयोग और दीर्घ सान्निध्य न मिला होता, तो शोध-लेखक न बन पाता। उनकी पकड़ अद्भुत थी। वस्तुतः वे सम्पादकाचार्य थे। बादमें तो उन्होंने ‘अनेकान्त’ का अपना सहयोगी सहायक सम्पादक भी बना लिया था। उनसे मत-भेद हो जाने और

वीर-सेवा-मन्दिर छोड़ देनेपर भी वे मुझे और मैं उन्हें अन्तःकरणसे छोड़ न सके थे। परिणामस्वरूप ९ जुलाई १९६० में अपने वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्लीमें आयोजित वीर शासनजयन्तीके विशिष्ट समारोहपर मुझे उन्होंने अपना धर्मपुत्र बनाया और साहित्यिक सेवाका उत्तराधिकारी बनाया। तबसे मैं वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्टका मानद मन्त्रीके रूपमें दायित्व वहन कर रहा हूँ। ऐसे निःस्वार्थसेवी और साहित्य-साधनाके लिए सम्पूर्ण समर्पित श्रद्धेय मुख्तार साहबके प्रति मेरी परोक्ष श्रद्धाञ्जलि है।

स्वर्गीय डॉ. हीरालालजी 'निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक हैं', 'रत्नकरण्डश्रावकाचार आप्तमीमांसाकारकी कृति नहीं है' और डॉक्टर महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' जैसे विमर्श एवं अनुसन्धान योग्य लेख न लिखते, तो 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु स्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक हैं?', 'क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं है?' तथा 'तत्त्वार्थ-सूत्रका मङ्गलाचरण' जैसे अनुसन्धानपूर्ण विस्तृत एवं निर्णयात्मक शोध-निबन्ध न लिखे जाते। अतः इन दोनों विद्वानोंके लिए भी हमारे श्रद्धा-सुमन समर्पित हैं।

अनेक विद्वान् मित्रों एवं शिष्योंका सुझाव था कि मेरे स्थायी महत्त्वके शोध-निबन्ध आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारके 'जैन साहित्यके इतिहासपर विशद प्रकाश' एवं 'निबन्धावली' की तरह पुस्तकरूपमें प्रकाशित हो जायें तो जैन प्रमाण-शास्त्रपर शोध करनेवाले अनेक अनुसन्धाताओंको उनसे लाभ पहुँचेगा। इस दिशामें डॉक्टर प्रेमचन्द्र जैनने प्रारम्भिक प्रयत्न भी किया।

सन् १९७३ में डॉक्टर गोकुलचन्द्रजीके काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें आ जानेपर उन्होंने इस कार्यको अपने हाथमें लिया और महत्त्वपूर्ण शोध-सामग्रीको दो भागोंमें संयोजित-सम्पादित करके प्रकाशित करनेकी योजना बनायी। उनके सक्रिय प्रयत्न एवं सहयोगसे ही प्रस्तुत सामग्रीको 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' के रूपमें एक नये ग्रन्थका स्वरूप प्राप्त हुआ है। डॉक्टर गोकुलचन्द्रजी उन साहित्यिक युवाप्रतिभाओंमें हैं, जिनके मनमें जैन विद्याकी उपासनाके लिए अपूर्व संकल्प-शक्ति है। हमें आशा है कि इस पीढ़ीके ये प्रतिभाशाली मनीषी जैनवाङ्मयकी निश्चय ही असाधारण सेवा करेंगे। अब जुलाई १९७९ से डॉक्टर गोकुलचन्द्रजीके सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसीमें पहुँच जानेसे वहाँ श्रमण-विद्या संकायके अन्तर्गत प्राकृत एवं जैनागम विभाग प्रारम्भ हुआ है, जिसमें वे रीडर एवं अध्यक्ष हैं। शोध-कार्यमें उनकी प्रशस्त अभिरुचि और विशिष्ट दृष्टि है। उनके मार्गदर्शनमें अनेक अनुसन्धाता जैनसाहित्यकी विभिन्न विधाओंपर अनुसन्धानकार्य कर चुके हैं और कर रहे हैं। यह बहुत ही शुभ चिह्न है। मेरा उन्हें हृदयसे मङ्गल आशीर्वाद है।

प्रिय पं. शीतलचन्द्रजी जैनदर्शनाचार्य, अध्यक्ष जैनदर्शन-विभाग, स्याद्धाद महाविद्यालयका भी इस कार्यमें योग रहा है। उन्होंने ग्रन्थके परिशिष्ट तैयार कर सहायता पहुँचायी है, इसके लिए उन्हें भी मेरा आशीर्वाद है।

मेरी धर्मपत्नी सी. चमेलीबाई कोठियाने अनेक अवसरोंपर मेरे स्वास्थ्यकी रक्षा की है। पिछले दो वर्षोंमें दो बार विशेष रूपसे अस्वस्थ हो जानेपर भी

उसने बड़े धैर्यसे मेरे मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्यका परिरक्षण किया। इसमें उसे और मुझे गुरुजनोंका आशीर्वाद तथा बा. मीजीलालजी, डॉक्टर गोकुलचन्द्रजी, अपने पड़ोसी श्री बी. के. दत्ता जैसे मित्रोंका सहयोग एवं सद्भावनाएँ मिली हैं। मैं इन सभीका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

द्वितीय ज्येष्ठ शुक्ला ५, श्रुत-पञ्चमी

वीर निर्वाण सं. २५०६,

१७ जून, १९८०

—दरबारीलाल कोठिया

विषयानुक्रम

१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र : ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि १-२३

तीर्थंकर परम्परा, द्वादशांग श्रुत, उपलब्ध श्रुत; धर्म, दर्शन और न्याय, जैन प्रमाणशास्त्रका उद्गम, जैन न्यायका विकास—१. आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल, २. मध्यकाल अथवा अकलंककाल, ३. उत्तरकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल, प्रमाणशास्त्र, प्रमाणका स्वरूप, प्रमाणके भेद, परोक्षका लक्षण, परोक्षके भेद, प्रत्यक्षका स्वरूप, प्रत्यक्षके भेद, प्रमाणका विषय, प्रमाणका फल, नय ।

२. आचार्य कुन्दकुन्दका प्राकृत वाङ्मय और उसकी देन २४-३०

आचार्य कुन्दकुन्द, समय, ग्रन्थ-रचना—१. प्रवचनसार, २. पंचास्तिकाय, ३. समयसार, ४. नियमसार, ५. दंसणपाहुड, ६. चारित्तपाहुड, ७. सुत्तपाहुड, ८. बोधपाहुड, ९. भावपाहुड, १०. मोक्षपाहुड, ११. लिंगपाहुड, १२. सीलपाहुड, १३. बारस-अणुवेक्खा, १४. सिद्धभत्ति, १५. सुदभत्ति, १६. चारित्तभत्ति, १७. योगिभत्ति, १८. आयरिय-भत्ति, १९. णिव्वाण-भत्ति, २०. पंचगुरु-भत्ति, २१. षोस्सामि-शुद्धि; भारतीय संस्कृतिकी देन—१. साहित्यिक उद्भावनाएँ : छन्द-वैविध्य, अलंकार-विविधता, २. दार्शनिक चिन्तन, ३. तात्त्विक चिन्तन, ४. लोककल्याणी दृष्टि ।

३. आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण ३१-६९

आचार्य गृद्धपिच्छका तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण, युक्तियोंपर विचार—विद्यानन्दका अभिमत, विद्यानन्दकी दृष्टिमें सूत्र और सूत्रकार तथा शास्त्रकार—विद्यानन्दके ग्रन्थोंके अवतरण—(क) तत्त्वार्थश्लोकवात्तिक, (ख) अष्टसहस्री, (ग) प्रमाण-परीक्षा, (घ) पत्रपरीक्षा, (ङ) आसपरीक्षा, (च) युक्त्यनुशासन-टीका, अन्य कारणोंपर विचार—१. दिगम्बर जैन सूत्र-ग्रन्थोंमें मंगलाचरण, श्वेताम्बर जैन सूत्र-ग्रन्थोंमें मंगलाचरण, २-३. देखो युक्तियोंपर विचार (युक्तियोंकी जाँच), ४. प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थवृत्तिविवरण, ५. श्वेताम्बर परम्परा द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतार' मंगलाचरणको न अपनाने-पर विमर्श, अप्रासंगिक विषय, उपसंहार । [द्वितीय लेख] आक्षेप-परिहार-समीक्षा, १. सर्वार्थसिद्धिके उदाहरण, २. तत्त्वार्थवात्तिकके उदाहरण, ३. तत्त्वार्थश्लोकवात्तिकके उदाहरण, अनुपपत्तियोंकी अनुपपत्ति, विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्परा और आधार—१. पूर्व परम्परा-विचार, २. आधार-विचार, उपसंहार, परिशिष्ट (आ. अभयचन्द्रका महत्त्वपूर्ण उल्लेख) ।

४. तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज

७०-७५

न्यायका स्वरूप : प्रमाण और नय, तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण, प्रमाणाभास और नय, प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद, अनुमानके (पक्ष, हेतु और उदाहरण) तीन अवयवोंसे सिद्धि—१. मत्यादि तीन ज्ञानोंमें प्रमाणाभासताकी सिद्धि, २. मुक्तजीवके उर्ध्वगमनकी सिद्धि, ३. लोकाकाशमें जीवोंके अवगाहकी सिद्धि, ४. सत्में उत्पाद, व्यय और घ्राध्यकी सिद्धि ।

५. तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा

७६-८४

तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थसूत्रमें श्वेताम्बर आगम विरुद्ध प्रतिपादन, दिगम्बर श्रुतका अनुसरण, दिगम्बर श्रुतके विरुद्ध अप्रतिपादन, उपसंहार—तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बराचार्य रचित ग्रन्थ ।

६. स्वामी समन्तभद्र और जैन दर्शनको उनकी देन

८५-९४

समन्तभद्रसे पूर्वका युग, तत्कालीन स्थिति, १. सदसद्वाद, २. शाश्वत-अशाश्वतवाद, ३. द्वैत-अद्वैतवाद, ४. वक्तव्यावक्तव्यवाद, समन्तभद्रकी देन—चिन्तन (स्याद्वाद), कृतियाँ ।

७. निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र

९५-१०६

पृष्ठभूमि, निष्कर्षपर विचार, दोनोंका भिन्न व्यक्तित्व और भिन्न काल ।

८. नागार्जुन और समन्तभद्र

१०७-१११

९. दिग्नाग और समन्तभद्र

११२-११८

समन्तभद्र और भर्तृहरि ।

११८

१०. कुमारिल और समन्तभद्र

११९-१२४

११. धर्मकीर्ति और समन्तभद्र

१२५-१३३

दिग्नागके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार, धर्मकीर्तिके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार ।

१२. गन्धहृस्ति महाभाष्य

१३४-१४१

ग्रन्थोंके उल्लेख, शिलालेखादिकके उल्लेख, जनश्रुति, मेरा अनुसन्धान और विचार ।

[द्वितीय लेख] चामुण्डरायकृत त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण (कन्नड़) में समन्तभद्रदेव तथा उनके तर्कशास्त्र तत्त्वार्थभाष्यका समुल्लेख ।

१३. देवागम-आप्तमीमांसा

१४२-१६४

नाम, परिचय, प्रथम परिच्छेद, द्वितीय परिच्छेद, तृतीय परिच्छेद, चतुर्थ परिच्छेद, पंचम परिच्छेद, षष्ठ परिच्छेद, सप्तम परिच्छेद, अष्टम परिच्छेद, नवम परिच्छेद, दशम परिच्छेद; देवागमकी व्याख्याएँ—१. देवागमविवृति

(अष्टशती), २. देवागमालंक्रुति (अष्टसहस्रो), ३. देवागम-वृत्ति, देवागम-का मूलाधार—‘मोक्ष मार्गस्य नेतारम्’ स्तोत्र, जो तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है, कुछ स्थापनाएँ, उनपर विचार—समीक्षा ।

१४. युक्त्यनुशासन

१६५-१८०

नाम, नामपर प्रभाव, ग्रन्थ-परिचय—१. प्रस्ताव, २. प्रस्ताव, अन्तिम दो कारिकाएँ, युक्त्यनुशासनके उल्लेख और मान्यता, युक्त्यनुशासन-टीका, हिन्दी अनुवाद ।

१५. रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनतापर अभिनव प्रकाश

१८१-१८८

१. आ. वादिराज और प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डकका उल्लेख, २. यशस्ति-कर्म रत्नकरण्डकका अनुसरण, ३. सिद्धसेनके न्यायावतारमें रत्नकरण्डकका पद्य, ४. रत्नकरण्डकमें अपने समयकी एक सांस्कृतिक प्राचीन परम्पराका समुदयेख—११वीं प्रतिमाका स्वरूप, लाटीसंहितामें ११वीं प्रतिमा, चारित्र-सारमें ११वीं प्रतिमा, अमितगतिश्रावकाचारमें ११वीं प्रतिमा, रत्नकरण्डक-श्रावकाचारमें वनवास, वरांगचरितमें वनवास और चैत्यवास, आत्मानुशासनमें वनवासकी क्षीणता और चैत्यवासपर खेद, ५. वनवासका समर्थक ग्रन्थ-कारकी एक दूसरा महत्त्वपूर्ण उल्लेख, उपसंहार ।

१६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति है

१८९-२४३

पृष्ठभूमि—प्रो. हीरालालजी द्वारा ‘जेन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय’ में रत्नकरण्डकश्रावकाचारके कर्तृत्वपर उठाया गया प्रश्न, प्रश्नपर ऊहापोह-पूर्वक विमर्श—रत्नमाला और रत्नकरण्डककी भिन्नकर्तृकता—रत्नकरण्डकमें शिक्षात्रतोंमें देशावकाशिक और रत्नमालामें उसके स्थानमें मारणान्तिक सल्लेखनाका कथन, रत्नकरण्डकमें वनवासका विधान और रत्नमालामें उसका निषेध तथा चैत्यवासका समर्थन, वादिराज द्वारा रत्नकरण्डकका उल्लेख, प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डकपर टीका और उसका उल्लेख, सोमदेव द्वारा यशस्तिकर्ममें रत्नकरण्डकका अनुसरण, सिद्धसेनके न्यायावतारमें रत्नकरण्डकका ‘आप्तोपज्ञ’ श्लोक, पूज्यपाद द्वारा सर्वार्थसिद्धिमें रत्नकरण्डकका अनुसरण, दोषके स्वरूपपर विचार, आसमीमांसा और रत्नकरण्डकमें दोषका स्वरूप एक-सा ही है—भिन्न नहीं है, दोनोंके भाषासाहित्य और प्रतिपादनशैलीकी भिन्नताका कारण; एकका दार्शनिक और दूसरेका धार्मिक रचना होना, दोनों एककर्तृक हैं ।

[द्वितीय लेख] छूट गया है, जो परिशिष्टमें है ।

[तृतीय लेख] केवलीमें १२ दोषोंके अभावका स्वीकार, आसमीमांसामें भी रत्नकरण्डकोक्त दोषका स्वरूप, क्षुधादि वेदनाएँ मोहनीय सहकृत वेदनीय जन्य कही गयी हैं, केवल वेदनीय क्षुधादि वेदनाओंका जनक नहीं है, केवलीजिनमें क्षुधादि वेदनाएँ नहीं हैं ।

[४]

[चतुर्थ लेख] सरागी और वीतरागी देवोंकी समानता-असमानतापर विचार, लक्षण और उपलक्षणका विवेक ।

[पंचम लेख] क्या रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंका समावेश है ?, केवलीमें जन्मादि ६ दोषोंका निर्णय, ९३वीं कारिकामें आसमीमांसाकारकी विवक्षा, अज्ञान स्वयं मल है, मलजनक नहीं, कारिकाके वीतराग और विद्वान् पद, केवलीमें सुख-दुःखकी वेदनाएँ सिद्धान्तसम्मत नहीं हैं ।

[षष्ठ लेख] प्रो. सा. का विश्लेष, पार्श्वनाथचरितके उल्लेखपर विस्तृत विचार, देव और योगीन्द्रपदपर विचार, देवपदके उल्लेख, योगीपदके उल्लेख, योगीन्द्रपदके उल्लेख, वादिराज और प्रभाचन्द्र प्रायः समकालीन हैं, रत्नकरण्ड-टीकाके कर्तृत्वपर सन्देह और भ्रान्त उल्लेख, प्रभाचन्द्रका उल्लेख सर्वथा असन्दिग्ध है, रत्नकरण्डके उपान्यय पद्यके इलेषार्थपर विचार, शेष बातोंपर विचार, उपसंहार ।

१७. रत्नकरण्डक-टीका और उसके कर्ताका समय

२४४-२४८

१८. आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चय टीका

२४९-२५८

अनन्तवीर्य नामके दो विद्वान् और उनका समय, अकलंकके व्याख्याकारों-में अनन्तवीर्यका स्थान; व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा और ग्रन्थ-रचना, सिद्धि-विनिश्चयटीका ।

१९. आचार्य विद्यानन्द और उनकी अपूर्व देन

२५९-३१२

विद्यानन्द नामके अनेक विद्वान्, विद्यानन्द और पात्रकेशरी (पात्रस्वामी) की एकताका भ्रम-निवारण, जीवन-वृत्त—कुमारजीवन और जैनधर्मग्रहण, मुनिजीवन और जैनाचार परिपालन तथा आचार्यपद, दो महत्त्वपूर्ण विचार, गुणपरिचय-दिग्दर्शन (सूक्ष्मप्रज्ञता, स्वतन्त्र विचारणा, उदारता आदि), विद्यानन्दपर पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थकारोंका प्रभाव—१. आचार्य गृद्धपिच्छ, २. समन्तभद्रस्वामी, ३. श्रीदत्त, ४. सिद्धसेन, ५. पात्रस्वामी, ६. भट्टा-कलंकदेव, ७. कुमारनन्दि भट्टारक; विद्यानन्दका उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंपर प्रभाव—१. माणिक्यनन्दि, उनका समय, मेरी विचारणा; २. आ. वादिराज, ३. आ. प्रभाचन्द्र, ४. आ. अभयदेव, ५. आ. वादिदेवसूरि, ६. आ. हेमचन्द्र, ७. लघु समन्तभद्र, ८. अभिनव धर्मभूषण, ९. उपाध्याय यशोविजय; समय-विमर्श, कार्यक्षेत्र, कृतियाँ—१. विद्यानन्दमहोदय, २. आसपरीक्षा, ३. प्रमाणपरीक्षा, ४. पत्रपरीक्षा, ५. सत्यशासनपरीक्षा, ६. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, (स्वतन्त्र); ७. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और उसका भाष्य, ८. अष्टसहस्री-देवा-गमालंकार, ९. युक्त्यनुशासनालंकार; (व्याख्या); नया चिन्तन—१. भावना-विधि-नियोग, २. जातिसमीक्षा, ३. सह-क्रमानेकान्तकी परिकल्पना, ४. व्यव-हार और निश्चय द्वारा वस्तु-विवेचन, ५. उपादान और निमित्तका विचार ।

२०. आस-परीक्षा

३१३-३१७

ग्रन्थ-परिचय, ग्रन्थका महत्त्व और श्रेष्ठता ।

२१. प्रमाण-परीक्षा

३१८-४०१

ग्रन्थ-परिचय—नाम, भाषा व शैली, उद्देश्य व प्रयोजन, विभाग; विषय-परिचय (आभ्यन्तर), मङ्गलाचरण, प्रमाणलक्षण, जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणस्वरूप-विमर्श—कुन्दकुन्द, गूढपिच्छ, समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, देवसूरि, हेमचन्द्र, अभिनव धर्मभूषण; १. प्रमाणलक्षण-परीक्षा (विद्यानन्द द्वारा प्रमाण-परीक्षामें विशेष विवेचन)—अनुमानसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी सिद्धि, विज्ञानाद्वैतवाद-परीक्षा, परमब्रह्म-परीक्षा, अस्वसंवेदिज्ञान-परीक्षा, परोक्षज्ञान-परीक्षा, प्रधानपरिणामज्ञान-परीक्षा, भूतचैतन्य-परीक्षा, तत्त्वोपप्लव-परीक्षा, प्रामाण्य-परीक्षा; २. प्रमाण-संख्या-परीक्षा—प्रमाणके दो भेद (प्रत्यक्ष और परोक्ष), बौद्धमत-परीक्षा, तर्कप्रमाण-विमर्श, वैशेषिकमत-समीक्षा और तर्कप्रमाणसिद्धि, सांख्यादि-मत-समीक्षा, प्रत्यभिज्ञानप्रमाण-विमर्श, स्मृतिप्रमाण-विमर्श, प्रत्यक्ष-विमर्श, प्रत्यक्षके तीन भेद (इन्द्रियप्रत्यक्ष, अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष), स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-समीक्षा, इन्द्रियप्रत्यक्ष तथा अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष-विमर्श, अतीन्द्रियप्रत्यक्ष-विमर्श—१. अवधिज्ञान और उसके भेद, २. मनःपर्ययज्ञान और उसके भेद, ३. केवलज्ञान-विमर्श, परोक्षका विशेष विमर्श—परोक्षके दो भेद (मतिज्ञान और श्रुतज्ञान), मतिज्ञानके भेद—इन्द्रियानिन्द्रियमति-विमर्श, स्मृति-विमर्श, प्रत्यभिज्ञान-विमर्श, तर्क-विमर्श, अनुमान-विमर्श—त्रैरूप्य-समीक्षा, पाँचरूप्य-मीमांसा, हेतुका अविनाभाव (अन्यथानुपपत्ति) लक्षण-निर्णय; हेतुभेद—१. विधिसाधन, २. प्रतिषेधसाधन; विधिसाधक-विधिसाधन—भूत-भूतके तीन भेद—१. कार्यहेतु, २. कारणहेतु, ३. अकार्यकारणहेतु (१. व्याप्य, २. सहचर, ३. पूर्वचर, ४. उत्तरचर), प्रतिषेध-साधक-विधिसाधन—अभूतभूतके तीन भेद—१. विरुद्धकार्य, २. विरुद्धकारण, ३. विरुद्ध अकार्यकारण (१. विरुद्ध व्याप्य, २. विरुद्ध सहचर, ३. विरुद्ध पूर्वचर, ४. विरुद्ध उत्तरचर), परम्पराहेतु १६, उनके स्वरूप; प्रतिषेधसाधनके २ भेद—१. विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन, २. प्रतिषेध-साधक-प्रतिषेधसाधन, विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन—भूत-अभूतके ४. भेद—१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि, २. विरुद्धकारणानुपलब्धि, ३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि, ४. विरुद्धसहचरानुपलब्धि; प्रतिषेधसाधक-प्रतिषेधसाधन—अभूत-अभूतके ६ भेद—१. कार्यानुपलब्धि, २. कारणानुपलब्धि, ३. व्यापकानुपलब्धि, ४. सहचरानुपलब्धि, ५. पूर्वचरानुपलब्धि, ६. उत्तरचरानुपलब्धि; नैयायिकहेतुभेद-मीमांसा, सांख्यहेतुभेद-मीमांसा, साध्यका स्वरूप, अनुमानके भेद—१. स्वार्थानुमान, २. परार्थानुमान, परार्थानुमानके २ भेद—१. अक्षरश्रुतज्ञान, २. अनक्षरश्रुतज्ञान, स्वार्थानुमान मतिज्ञान है और परार्थानुमान श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञानका स्वरूप, श्रुतके भेद—१. सर्वज्ञ-

वचनोद्भूत, २. असर्वज्ञवचनोद्भूत; शब्द पौरुषेय है, वेदकी अपौरुषेयताकी समीक्षा; ३. प्रमाणविषय-परीक्षा, ४. प्रमाणफल-परीक्षा, उपसंहार और अन्तमंगलकामना, आत्म-निवेदन ।

२२. माणिक्यनन्दि और उनका परीक्षामुख

४०३-४३०

(क) आचार्य माणिक्यनन्दि और उनका समय

४०५-४१२

समय-विचार, मेरी विचारणा—१. विद्यानन्दका अनुसरण, २. वादिराजका अननुसरण, ३. नयनन्दिद्वारा उल्लेख, ४. प्रभाचन्द्रद्वारा उल्लेख और गुरु-शिष्यसम्बन्ध; व्यक्तित्व और कृतित्व, गुरु-शिष्यपरम्परा और अन्य गुण ।

(ख) परीक्षामुख और उसका उद्गम

४१३-४३०

ग्रन्थ-परिचय, ग्रन्थका महत्त्व, परीक्षामुखका विषय, व्याख्याएँ—१. प्रमेय-कमलमार्तण्ड, २. प्रमेयरत्नमाला, ३. प्रमेयरत्नालंकार, ४. न्यायमणि-दीपिका, ५. प्रमेयकण्ठिका; परीक्षामुखका उद्गम, प्रथम परिच्छेद, द्वितीय परिच्छेद, तृतीय परिच्छेद, चतुर्थ परिच्छेद, पंचम परिच्छेद, षष्ठ परिच्छेद, उपसंहार ।

२३. अभिनव धर्मभूषण और उनकी न्यायदीपिका

४३१-४९३

(क) अभिनव धर्मभूषण यति

४३३-४४१

प्रासंगिक, धर्मभूषण और उनके अभिनव तथा यति विशेषण, धर्मभूषण नामके दूसरे विद्वान्, प्रस्तुत धर्मभूषण और उनकी गुरुपरम्परा, सहाय-विचार, व्यक्तित्व और कृतित्व ।

(ख) न्यायदीपिका और उसके प्रतिपाद्य विषय

४४२-४८०

जैन न्याय-साहित्यमें न्यायदीपिकाका स्थान और महत्त्व, नाम, भाषा, रचनाशैली, परिचय (बाह्य), प्रतिपाद्य विषय (आन्तरिक)—१. मङ्गलाचरण, २. शास्त्रकी त्रिविध प्रवृत्ति, ३. लक्षणका लक्षण, ४. प्रमाणका सामान्य लक्षण, ५. धारावाहिक ज्ञान, ६. प्रामाण्य-विचार, ७. प्रमाणके भेद, ८. प्रत्यक्षका लक्षण, ९. अर्थ और आलोककी कारणताका निरास, १०. सन्निकर्ष, ११. सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, १२. मुख्य-प्रत्यक्ष, १३. सर्वज्ञता, १४. परोक्ष, १५. स्मृति, १६. प्रत्यभिज्ञान, १७. तर्क, १८. अनुमान, १९. अवयवमान्यता, २०. हेतुका लक्षण, २१. हेतुभेद, २२. हेत्वाभास ।

(ग) न्यायदीपिकामें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

४८१-४९३

न्यायविन्दु, दिग्नाग, शालिकानाथ, उदयन, वामन (जैनतर ग्रन्थ और ग्रन्थकार); तत्त्वार्थसूत्र, आसमीमांसा, महाभाष्य, जैनेन्द्रव्याकरण, आसमीमांसाविवरण (अष्टशती और अष्टसहस्री), राजवात्तिक और भाष्य, न्यायविनिश्चय, परीक्षामुख, तत्त्वार्थश्लोकावत्तिक और भाष्य, प्रमाण-

परीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमेयकमठमार्तण्ड, प्रमाणनिर्णय, कारुण्यकलिका, स्वामी समन्तमद्र, भट्टाकलंकदेव, कुमारनन्दिमहारक, मागिकयनन्दि, स्याद्वादविद्यापति (जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार) ।

२४. नरेन्द्रसेन और उनकी प्रमाणप्रमेयकलिका

४९५-५३३

(क) नरेन्द्रसेन

४९७-५०४

नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वान्, प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता नरेन्द्रसेन, नरेन्द्रसेनकी गुरु-शिष्य-परम्परा—१. गुरु-परम्परा, २. शिष्य-परम्परा, नरेन्द्रसेनका समय, नरेन्द्रसेनका व्यक्तित्व और कार्य ।

(ख) प्रमाणप्रमेयकलिका

५०५-५३३

नाम, भाषा और रचनाशैली, बाह्यविषयपरिचय—प्रमाणतत्त्व-परीक्षा, प्रमेयतत्त्वपरीक्षा; आभ्यन्तरविषय-परिचय—१. मंगलाचरण, २. तत्त्व-मीमांसा, ३. प्रमाणतत्त्वमीमांसा—ज्ञातृव्यापार-परीक्षा, इन्द्रियवृत्ति-परीक्षा, कारकसाकल्य-परीक्षा, संनिकर्ष-परीक्षा, प्रमाणका निर्दोष स्वरूप, प्रमाणका फल, प्रमाण और फलका भेदाभेद, ज्ञानके अनिवार्य कारण; ४. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा—सामान्यपरीक्षा, जैनों द्वारा सांख्यिके सामान्यवादपर विचार, विशेष-परीक्षा, जैनोंका उत्तरपक्ष, सामान्यविशेषोभय-परीक्षा, जैनोंका उत्तरपक्ष, ब्रह्म-परीक्षा, जैनों द्वारा ब्रह्मवादपर विचार, वक्तव्यावक्तव्यतत्त्व-परीक्षा, जैनों द्वारा उत्तरपक्ष, उपसंहार ।

२५. परिशिष्ट

५३५-५४४

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशिष्ट

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि

तीर्थंकर परम्परा :

जैन धर्म भारतीय धर्म होते हुए भी वैदिक और बौद्ध, दोनों भारतीय धर्मोंसे भिन्न धर्म है। यह बात इतिहास, पुरातत्त्व और साहित्यकी साक्षियोंसे प्रमाणित हो चुकी है। इसके प्रवर्तक वैदिक धर्मके २४ अवतारों और बौद्ध धर्मके २४ बुद्धोंसे भिन्न २४ तीर्थंकर हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं, जिन्हें आदिब्रह्मा, आदिनाथ, बृहद्देव, पुरुदेव और वृषभ नामोंसे भी उल्लेखित किया गया है।

युगारम्भमें जैन परम्पराके अनुसार भोगभूमिकी समाप्ति होनेपर ऋषभदेवने प्रजाको आजीविका हेतु कृषि (खेती करने), मसि (लिखने-पढ़ने), असि (रक्षा करने) आदि कार्योंकी शिक्षा दी थी, इससे इन्हें प्रजापति भी कहा गया है। महा-पुराण^१ व पउमचरिय^२ आदिके उल्लेखानुसार इनके गर्भमें आनेपर हिरण्य (सुवर्ण) की वर्षा होनेके कारण इनका नाम हिरण्यगर्भ^३ हुआ। प्रजापति, हिरण्यगर्भ और ऋषभ इन नामोंसे इनकी ऋग्वेद, अथर्ववेद^४, श्रीमद्भागवत^५ आदि वैदिक वाङ्मयमें भी संस्तुति की गयी है। भागवतमें ऋषभभावतारके रूपमें पूरा जीवन-चरित देते हुए इन्हें अर्हत्-धर्मका प्रवर्तक भी कहा है।

ऋषभदेवके बाद विभिन्न समयोंमें क्रमशः अजितसे लेकर नमि पर्यन्त बीस अन्य तीर्थंकर हुए। जैन वाङ्मयमें इनका सविशेष वर्णन है। ये महाभारत कालसे प्राक्कालीन हैं। इनके पश्चात् महाभारतकालमें श्रीकृष्णके समयमें बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि हुए, जो श्रीकृष्णके चाचा समुद्रविजयके पुत्र थे। वैदिक साहित्यमें अरिष्टनेमिके भी उल्लेख मिलते हैं।

अरिष्टनेमिसे लगभग एक हजार वर्ष बाद तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व हुए। ये काशी (वाराणसी)के राजा अश्वसेनके पुत्र थे। पार्श्वकी ऐतिहासिकताके पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं।

पार्श्वके अढ़ाई-सौ वर्ष बाद ईसा पूर्व छठी शतीमें चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए। वर्धमान तथा बौद्धधर्मके शास्ता गौतम बुद्ध समकालीन थे।

१. आचार्य समन्तभद्र, स्वयंभूस्तोत्र श्लोक २।

२. जिनसेन, महापुराण १२-९५।

३. विमलसूरि, पउमचरिय ३-६८।

४. वही, २, ३३, १५।

५. अथर्ववेद १५, १, २-७।

६. भा. पु., स्क. ५, अ. ३।

७. आचार्य कुन्दकुन्द, चउबीस-तित्थयर-भक्ति, गा. ३, ४, ५।

द्वादशांग श्रुत :

इन तीर्थंकरोंने जनकल्याणके लिए जो धर्मोपदेश दिये, उन्हें उनके प्रधान शिष्य—गणधरोंने बारह अंगोंमें निबद्ध किया। इसे 'द्वादशांग श्रुत' कहा गया है। आर्ष, आगम, सिद्धान्त, प्रवचन आदि नामोंसे भी उसका उल्लेख किया गया है। यह श्रुत मूलतः दो भागोंमें विभक्त है—१. अंगप्रविष्ट और २. अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट वह श्रुत है जो तीर्थंकरकी साक्षात् वाणी सुनकर गणधर द्वारा रचा जाता है। इसे वे विषयक्रमसे बारह भागोंमें निबद्ध करते हैं। वे अंग इस प्रकार हैं— १. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन, ८. अन्तःकुद्दशा, ९. अनुत्तरोपपादिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाकसूत्र और १२. दृष्टिवाद।

दृष्टिवादके पाँच भेद हैं—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। इनके भी अवान्तर भेद किये गये हैं। परिकर्मके पाँच, पूर्वगतके चौदह और चूलिकाके पाँच भेद हैं। परिकर्मके ५ भेद हैं—१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २. सूर्य-प्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति (यह पाँचवें अंग व्याख्याप्रज्ञप्तिसे भिन्न है)। पूर्वगतके चौदह भेद किये हैं— १. उत्पाद, २. आप्रायणीय, ३. वीर्यानुप्रवाद, ४. आस्तित्वास्तित्प्रवाद, ५. ज्ञानप्रवाद, ६. सत्य-प्रवाद, ७. आत्मप्रवाद ८. कर्मप्रवाद, ९. प्रत्याख्यानप्रवाद, १०. विद्यानुवाद, ११. कल्याणनामधेय, १२. प्राणावाय, १३. क्रियाविशाल और १४. लोकबिन्दुसार। चूलिकाके पाँच भेद इस प्रकार हैं— १. जलगता, २. स्थलगता, ३. मायागता, ४. रूपगता और ५. आकाशगता। इन सबमें उनके नामानुसार विषयोंका वर्णन है।

श्रुतका दूसरा भेद अंगबाह्य है। यह श्रुत अंगप्रविष्ट श्रुतके आधारसे आचार्यों द्वारा रचा जाता है, इसीसे इसे अंगबाह्य श्रुत कहा है। इसके चौदह भेद हैं—१. सामायिक, २. चतुर्विंशतिस्तव, ३. वन्दना, ४. प्रतिक्रमण, ५. वैनयिक, ६. कृतिकर्म, ७. दशवेकालिक, ८. उत्तराध्ययन, ९. कल्पव्यवहार, १०. कल्पाकल्प, ११. महाकल्प, १२. पुण्डरीक, १३. महापुण्डरीक और १४. निषिद्धका। इस श्रुतमें मुख्यतया साध्वाचार वर्णित है।

उत्तरकालमें अल्पमेधाके धारक आचार्य इसी द्विविध श्रुतका आश्रय लेकर विविध ग्रन्थोंकी रचना करते और उन्हें जन-जन तक पहुँचानेका प्रयत्न करते हैं।

उपलब्ध श्रुत :

ऋषभदेवका द्वादशांग श्रुत अजिततक, अजितका शम्भवतक और शम्भवका अभिनन्दनतक, इस तरह पूर्व तीर्थंकरका श्रुत उत्तरवर्ती अगले तीर्थंकर तक रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वका द्वादशांग श्रुत तबतक रहा, जबतक महावीर तीर्थंकर नहीं हुए। आज जो द्वादशांग श्रुत उपलब्ध है वह तीर्थंकर महावीरसे सम्बद्ध है। अन्य सभी तीर्थंकरोंका द्वादशांग श्रुत नष्ट हो जानेसे अप्राप्त है। वर्द्धमान महावीरका द्वादशांग-श्रुत भी पूरा उपलब्ध नहीं है। प्रारम्भमें वह शिष्य-परम्परामें स्मृतिके आधारपर श्रुतपरम्परा द्वारा विद्यमान रहा। बादमें उसका संकलन किया गया। दिगम्बर परम्पराके अनुसार वर्तमानमें जो श्रुत प्राप्त है वह

दृष्टिवादका कुछ अंश है। शेष ग्यारह अंग और बारहवें अंगका बहुभाग नष्ट हो चुका है। बलभीमें संकलित ग्यारह अंगोंको दिगम्बर परम्परा मूल आगम नहीं मानती है। श्वेताम्बर परम्परामें ये ग्यारह अंग मान्य हैं। उनके अनुसार मात्र बारहवाँ दृष्टिवाद अंग ही अनुपलब्ध है।

धर्म, दर्शन और न्याय :

उक्त श्रुतमें धर्म, दर्शन और प्रमाणशास्त्र-न्याय तीनोंका समावेश रहता है। मुख्यतया आचारके प्रतिपादनका नाम धर्म है। इस धर्मका जिन विचारों द्वारा समर्थन एवं सम्पोषण किया जाता है उन विचारोंको दर्शन कहा जाता है। और जब धर्मके समर्थनके लिए प्रस्तुत विचारोंको युक्ति-प्रतियुक्ति, खण्डन-मण्डन, प्रश्न-उत्तर और शंका-समाधान पूर्वक दृढ़ किया जाता है तो उसे प्रमाणशास्त्र या न्याय कहते हैं। धर्म, दर्शन और प्रमाणशास्त्रमें मुख्य यही भेद है। धर्मशास्त्र कहता है कि सब जीवोंपर दया करो, किसी जीवकी हिंसा न करो अथवा सत्य बोलो, असत्य कभी मत बोलो। दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्रके इस कथन (नियम) को जनहृदयों में उतारता हुआ कहता है कि जीवोंपर दया करना कर्त्तव्य है, गुण है, पुण्य है और इससे सुख मिलता है, किन्तु जीवकी हिंसा अकर्त्तव्य है, दोष है, पाप है और दुःख मिलता है। इसी तरह सत्य बोलना कर्त्तव्य है, गुण है, पुण्य है और सुख मिलता है, किन्तु असत्य बोलना अकर्त्तव्य है, दोष है, पाप है और दुःख मिलता है। प्रमाणशास्त्र दर्शनशास्त्रके इस समर्थनको युक्ति देकर दृढ़ करता है कि यतः दया जीवका स्वभाव है, अन्यथा कोई भी जीव जीवित नहीं रह सकता। परिवारमें, देशमें और राष्ट्रोंमें अनवरत हिंसा रहनेपर शान्ति और सुख कभी उपलब्ध नहीं हो सकते। इसी प्रकार सत्य बोलना मनुष्यका स्वभाव न हो तो परस्परमें अविश्वास छा जायेगा और लेन-देन आदि सारे सामाजिक व्यवहार या तो नष्ट हो जायेंगे और या समाप्त हो जायेंगे। तात्पर्य यह है कि धर्म जहाँ सदाचारका विधान और असदाचारका मात्र निषेध करता है वहाँ दर्शनशास्त्र उनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य, पुण्यापुण्य और सुख-दुःखका विचार पैदा करता एवं मार्गदर्शन करता है तथा न्यायशास्त्र दर्शनशास्त्रके विचारको हेतुपूर्वक मस्तिष्कमें बिठा देता है। वस्तुतः न्यायशास्त्रसे विचारको जो दृढ़ता मिलती है वह चिरस्थायी, विवेकयुक्त और निर्णयात्मक होती है। उसमें सन्देह, विपर्यय या अनिश्चितताकी स्थिति नहीं रहती। इसी कारण भारतीय दर्शनोंमें न्यायशास्त्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन प्रमाणशास्त्रका उद्गम :

हम ऊपर दृष्टिवाद अंगका उल्लेख कर आये हैं। इसमें जैन प्रमाणशास्त्रके उद्गम-बीज प्रचुर मात्रामें उपलब्ध हैं। आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्तकृत षट्-खण्डागममें,^१ जो उक्त दृष्टिवाद अंगका ही अंश है, 'सिया पज्जता, सिया अपज्जता', 'मणुस अपज्जता दव्वपमाणेण केवडिया', 'असंखेज्जा',^२ जैसे स्यात् शब्द और प्रश्नोत्तर

१. षट्खं. १।१।७९, धव. पु., १, पृ. २१९।

२. वही, १।२।५०, पु. ३, पृ. २६२।

शैलीको लिये हुए प्रचुर वाक्य पाये जाते हैं, जो जैन न्यायके बीज हैं—उनसे उसकी उत्पत्ति हुई है, यह कहा जा सकता है। षट्खण्डागमके आधारसे रचित आचार्य कुन्दकुन्दके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार आदि आर्ष-ग्रन्थोंमें^१ भी उसके कुछ और अधिक उद्गम बीज मिलते हैं। ‘सिय अत्थि णत्थि उह्यं...’ ‘तम्हा’ ‘जैसे युक्ति-प्रवण वाक्यों एवं शब्दप्रयोगों द्वारा उनमें प्रश्नोत्तर उठाकर विषयोंको दृढ़ किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि जैन न्यायका उद्भव दृष्टिवाद अंग श्रुतसे हुआ है। दृष्टिवादका जो स्वरूप दिया गया है उससे भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है। उसके स्वरूपमें कहा गया है^२ कि उसमें विविध दृष्टियों—वादियोंकी मान्यताओं का प्ररूपण और उनको समीक्षा की जाती है। यह समीक्षा हेतुओं एवं युक्तियों द्वारा ही सम्भव है।

श्वेताम्बर परम्परामें मान्य आगमोंमें भी “से केणट्ठेणं भंते एवमुच्चई जीवाणं भंते ? किं सासया असासया ? गोयमा ! जीवा सिय सासया सिय असासया । गोयमा ! दवट्ठयाए सासया भावट्ठयाए असासया” जैसे तर्कगर्भ प्रश्नोत्तर मिलते हैं। ‘सिया’ या ‘सिय’ शब्द ‘स्यात्’ (कथंचिदर्थबोधक) संस्कृत शब्दका पर्याय-वाची प्राकृत शब्द है, जो स्याद्वादन्यायका प्रदर्शक है। यशोविजयने स्पष्ट लिखा है^३ कि ‘स्याद्वादाथो दृष्टिवादाणवोत्थः’—स्याद्वादाथ—जैन न्याय दृष्टिवादारूप अर्णव (समुद्र)से उत्पन्न हुआ है। यथाथमें ‘स्याद्वाद’ जैन न्यायका ही पर्याय शब्द है। समन्तभद्रने^४ सभी तीर्थंकरोंको स्याद्वादी—स्याद्वादन्यायप्रतिपादक और उनके न्यायको स्याद्वादन्याय बतलाया है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि ब्राह्मणन्याय और बौद्धन्यायके बाद जैन न्यायका विकास हुआ है, इसलिए उसकी उत्पत्ति इन दोनोंसे मानी जानी चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् (अ०७) में एक वाकोवाक्य शास्त्रविद्याका उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तरशास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्तिशास्त्र किया जाता है^५। वात्स्यायनके न्यायभाष्यमें^६ भी एक आन्वीक्षिकी विद्याका, जिसे न्यायविद्या अथवा न्यायशास्त्र कहा गया है, कथन मिलता है। तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमें दर्शनशास्त्र एवं न्यायशास्त्रके अध्ययन-अध्यापनके प्रमाण भी मिलते बताये जाते हैं^७। इससे जैन न्यायका उद्भव ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायसे हुआ प्रतीत होता है ?

यह प्रश्न युक्त नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त न्यायोंसे भी पूर्ववर्ती उक्त दृष्टिवाद श्रुत पाया जाता है और उसमें प्रचुर मात्रामें जैन न्यायके बीज समाविष्ट हैं। अतः उसका उदय उसीसे मानना युक्त है। दूसरी बात यह है कि ब्राह्मण न्याय और बौद्ध

१. पंचा. १४, १३।

२. षट्खं., धवला, पृ. १, पृ. १०८।

३. अष्टस. टी., पृ. १।

४. स्वयम्भू. १४, १०२, आप्तमी. का. १३।

५. डॉ. भगवानदास, दर्शनका प्रयोजन, पृ. १।

६. न्या. भा. पृ. ४।

७. विक्रमस्मृति ग्रन्थ, पृ. ७१८।

न्यायमें कहीं भी स्याद्वादका समर्थन नहीं है, प्रत्युत उसको मोसांसा है। ऐसी स्थितिमें स्याद्वादरूप जैन न्यायका उद्गम स्याद्वादात्मक दृष्टिवाद श्रुतसे ही सम्भव है। सिद्धसेन,^१ अकलंक^२ और विद्यानन्दका^३ भी यही मत है। अकलंकदेवने^४ न्यायविनिश्चयके आरम्भमें कहा है कि 'कुछ गुणद्वेषी तार्किकोंने कलिकालके प्रभाव और अज्ञानताके कारण स्वच्छ न्यायको मलिन बना दिया है। उस मलिनताको सम्यग्ज्ञानरूपी जलसे किसी तरह दूर करनेका प्रयत्न करेंगे।' अकलंकके इस कथनसे ज्ञात होता है कि जैन न्याय ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायसे पूर्व विद्यमान था और जिसे मलिन कर दिया गया था तथा उस मलिनताको अकलंकने दूर किया था। अतः जैन न्यायका उद्गम उक्त न्यायोंसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद श्रुतसे हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायोंके साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् जैन न्यायके विकासमें ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायका विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्ररचना जैन न्यायकी क्रमिक शास्त्ररचनामें सहायक हुई हो। समकालीनोंमें ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।

जैन न्याय विकास :

जैन न्यायके विकासको कालकी दृष्टिसे तीन कालोंमें बाँटा जा सकता है और उन कालोंके नाम निम्नप्रकार रखे जा सकते हैं :—

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल (ई. २०० से ई. ६५० तक)
२. मध्यकाल अथवा अकलंककाल (ई. ६५० से ई. १०५० तक)
३. उत्तरकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल (ई. १०५० से ई. १७०० तक)

१. आदिकाल अथवा समन्तभद्रकाल :

जैन न्यायके विकासका आरम्भ स्वामी समन्तभद्रसे होता है। स्वामी समन्तभद्रने भारतीय दार्शनिक क्षेत्रके जैन दर्शन क्षेत्रमें युग-प्रवर्तकका कार्य किया है। उनके पहले जैन दर्शनके प्राणभूत तत्त्व 'स्याद्वाद'को प्रायः आगम रूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक तत्त्वोंके निरूपणमें ही उपयोग होता था तथा सीधी-साधी विवेचना कर दी जाती थी। विशेष युक्तिवाद देनेकी उस समय आवश्यकता नहीं होती थी। परन्तु समन्तभद्रके समयमें उसकी आवश्यकता महसूस हुई, क्योंकि दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें अपूर्व दार्शनिक क्रान्तिका रहा है, इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् पैदा हुए हैं। यद्यपि महावीर और बुद्धके उपदेशोंसे यज्ञप्रधान वैदिक परम्पराका बढ़ा हुआ प्रभाव काफी कम हो गया था और श्रमण—जैन तथा बौद्ध परम्पराका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त

१. द्वात्रिंशिका १-३०, ४-१५।

२. तत्त्वार्थवातिक, पृ. २९५।

३. अष्टसहस्रो, पृ. २३८।

४. माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिवशात्प्रायो गुणद्वेषिभिः।

न्यायोयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,

सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलैस्तत्रानुकम्पापरैः ॥....न्यायवि. श्लो. २।

हो चुका था। किन्तु कुछ शताब्दियोंके बाद वैदिक परम्पराका पुनः प्रभाव प्रसृत हुआ और वैदिक विद्वानों द्वारा श्रमण-परम्पराके सिद्धान्तोंकी आलोचना एवं काट-छाँट आरम्भ हो गयी थी। फलस्वरूप श्रमण—बौद्ध परम्परामें अश्वघोष, मातृचेत, नागार्जुन प्रभृति विद्वानोंका प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने वैदिक परम्पराके सिद्धान्तों एवं मान्यताओंका खण्डन और अपने सिद्धान्तोंका मण्डन, प्रतिष्ठापन तथा परिष्कार किया। उधर वैदिक परम्परामें भी कणाद, अक्षपाद, वादरायण, जैमिनि आदि महा उद्योगी विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और उन्होंने भी अश्वघोषादि बौद्ध विद्वानोंके खण्डन-मण्डनका सयुक्तिक जवाब देते हुए वैदिक सिद्धान्तोंका संरक्षण किया। इसी दार्शनिक उठापटकमें ईश्वरकृष्ण, असंग, विन्ध्यवासी, वात्स्यायन प्रभृति विद्वान् दोनों ही परम्पराओंमें हुए, जिन्होंने अनेक शास्त्रोंकी रचना की। इस तरह उस समय सभी दर्शन अखाड़ेमें आ चुके थे और परस्परमें एक-दूसरेको परास्त करनेमें लगे थे। इस सबका आभास उस कालके अश्वघोषादि विद्वानोंके उपलब्ध साहित्यसे होता है। जब ये विद्वान् अपने-अपने दर्शनके एकान्त पक्षों और मान्यताओंके समर्थन तथा परपक्षके निराकरणमें व्यस्त थे, उसी समय दक्षिण भारतके क्षितिजपर जैन परम्परामें आचार्य गृद्धपिच्छके बाद स्वामी समन्तभद्रका उदय हुआ। ये प्रतिभाकी मूर्ति और क्षात्र तेजसे सम्पन्न थे। सूक्ष्म एवं अगाध पाण्डित्य और समन्वयकारिणी प्रज्ञासे वे समन्वित थे। उन्होंने उक्त संघर्षोंको देखा और अनुभव किया कि परस्परके आग्रहोंसे वास्तविकता लुप्त हो रही है। दार्शनिकोंके हठ मात्र भावैकान्त, अभावैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त अनित्यैकान्त, नित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवादैकान्त, अहेतुवादैकान्त, अपेक्षावादैकान्त, अनपेक्षावादैकान्त, देवैकान्त, पुरुषार्थैकान्त, पुण्यैकान्त, पापैकान्त आदि ऐकान्तिक मान्यताओंमें सीमित हैं। इनकी स्पष्ट झलक उनकी आसमीमांसामें मिलती है।

समन्तभद्रने आसमीमांसामें दार्शनिकोंकी इन मान्यताओंको देकर स्याद्वाद-न्यायसे उनका समन्वय किया है। भावैकान्तवादी अपने पक्षकी उपस्थापना करते हुए कहता था कि सब भावरूप ही है, अभावरूप कोई वस्तु नहीं है—‘सर्वं सर्वत्र विद्यते’ (सब सब जगह है), न कोई प्रागभावरूप है, न प्रध्वंसाभावरूप है, न अन्योन्याभावरूप और न अत्यन्ताभावरूप है। अभाववादी उसके विपरीत अभावकी स्थापना करता था और जगत्को शून्य बतलाता था।

अद्वैतवादीका मत था कि वस्तु एक ही है, अनेक नहीं, अनेकका दर्शन मायाविजृम्भित अथवा अविद्योपल्पित है। अद्वैतवादियोंके भी अनेक पक्ष थे। कोई एक मात्र ब्रह्मका समर्थन करता था, कोई मात्र ज्ञानको और कोई केवल शब्दको मानता था। द्वैतवादी इसका विरोध करते थे और तत्त्वको अनेक सिद्ध करते थे। द्वैतवादियोंकी भी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न थीं। कोई सात पदार्थ मानता था, कोई सोलह और कोई पचवीस तत्त्वोंकी स्थापना करता था।

नित्यवादी वस्तुमात्रको नित्य बतलाता था। वह तर्क देता कि यदि वस्तु अनित्य है तो उसके नाश हो जानेके बाद यह जगत् और वस्तुएँ स्थिर क्यों

दिखाई देती हैं। अनित्यवादी कहता था कि वस्तु प्रति समय नष्ट हो रही है, कोई भी स्थिर नहीं है। अन्यथा जन्म, मरण, विनाश, अभाव, परिवर्तन आदि नहीं होना चाहिए। जो स्पष्ट बतलाते हैं कि वस्तु नित्य नहीं है, अनित्य है।

इसी तरह भेदवाद-अभेदवाद, अपेक्षावाद-अनपेक्षावाद, हेतुवाद-अहेतुवाद, देववाद-पुरुषार्थवाद आदि एक-एक वाद (पक्ष) को माना जाता और संघर्ष किया जाता था।

जैन तार्किक समन्तभद्रने इन सभी दार्शनिकोंके पक्षोंका गहराई और निष्पक्ष दृष्टिसे अध्ययन किया तथा उनके दृष्टिकोणोंको समझ कर स्याद्वादन्यायसे उनमें सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने किसीके पक्षको मिथ्या कहकर तिरस्कृत नहीं किया, क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मा है। अतः कोई पक्ष मिथ्या नहीं है, वह मिथ्या तभी होता है, जब वह इतरका तिरस्कार करता है।

समन्तभद्रने वादियोंके उक्त विरोधी पक्षयुगलोंमें स्याद्वादन्यायके माध्यमसे सप्तभंगीकी विशद योजना करके उनके आपसी संघर्षोंको जहाँ शमन किया वहाँ उन्होंने तत्त्वग्राही एवं पक्षाग्रहशून्य निष्पक्ष दृष्टि भी प्रस्तुत की। यह निष्पक्ष दृष्टि ही स्याद्वाद दृष्टि है, क्योंकि उसमें सभी पक्षोंका समादर एवं समावेश है। एकान्त-दृष्टियोंमें अपना-अपना आग्रह होनेसे अन्य पक्षोंका न समादर है और न समावेश है।

समन्तभद्रकी यह अनोखी, किन्तु सही कान्तिकारी अहिंसक दृष्टि भारतीय दार्शनिकों, विशेषकर उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुई। सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द, हरिभद्र आदि तार्किकोंने उनका अनुगमन किया है। सम्भवतः इसी कारण उन्हें कलियुगमें स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादाग्रणी आदि रूपमें स्मृत किया है। यद्यपि स्याद्वाद और सप्तभंगीका प्रयोग आगमोंमें, भी तदीय विषयोंके निरूपणमें होता था, किन्तु जितना विशद और विस्तृत प्रयोग एवं योजना उनकी कृतियोंमें उपलब्ध है उतना उनसे पूर्व प्राप्त नहीं है। समन्तभद्रने 'नययोगान्न सर्वथा' ^१ 'नयैर्नयविशारदः' ^२ जैसे पदप्रयोगों द्वारा सप्तभंगनयोंसे वस्तुकी व्यवस्थाका विधान बनाया और 'कथंचित्ते सदेवेष्टं' ^३ 'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादि-चतुष्टयात्' ^४ जैसे वचनों द्वारा उस विधानको व्यवहृत किया है।

उदाहरणके लिए हम उनके भाववाद और अभाववादके समन्वयको उनकी आसमीमांसा ^५ से प्रस्तुत करते हैं।

वस्तु कथंचित् भावरूप ही है, क्योंकि स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावसे वह वैसी ही प्रतीत होती है। यदि उसे सब प्रकारसे भावरूप माना जाये, तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोंका अभाव हो

१. षट्त्वं. १, १, ७; १, २, ५० आदि तथा पंचास्ति. गाथा १४।

२. आप्तमो. १४।

३. वही, का. २३।

४. आप्तमो. का. १४।

५. वही, का. १५।

६. वही, का. ९, १०, ११, १२, १४, १५।

जायेगा। फलतः वस्तु अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और स्वरूपरहित हो जायेगी। अतः वस्तु स्वरूपचतुष्टयकी अपेक्षा भावरूप ही है। इसी तरह वस्तु कथंचित् अभावरूप ही है, क्योंकि परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावसे वैसी ही अवगत होती है। यदि उसे सर्वथा अभावरूप ही स्वीकार किया जाये तो विधिरूपमें होनेवाले सारे ज्ञान और वचनके व्यवहार लुप्त हो जायेंगे और जगत् अन्ध एवं मूक बन जायेगा। अतः वस्तु परचतुष्टय की अपेक्षासे अभावरूप ही है। इसी प्रकार वस्तु कथंचित् उभयरूप ही है, क्योंकि क्रमशः दोनों विवक्षाएँ होती हैं। वस्तु कथंचित् अवक्तव्य ही है, क्योंकि एक साथ दोनों विवक्षाएँ सम्भव नहीं हैं। इन चार भंगों (तत्-तत् धर्मके प्रतिपादक उत्तर वाक्यों)को दिखलाकर वचनकी शक्यताके आधार पर समन्तभद्रने^१ अपुनरुक्त तीन भंग (तीन धर्मके प्रतिपादक तीन उत्तरवाक्य) और नियोजित करनेकी सूचना देते हुए सप्तभंगी-योजना प्रदर्शित की है। इस तरह समन्तभद्रने भाव (सत्ता) और अभाव (असत्ता)के पक्षोंमें होनेवाले आग्रहको समाप्त कर दोनोंको वास्तविक बतलाया और दोनोंको वस्तुधर्म निरूपित किया। इसी प्रकार उन्होंने द्वैत-अद्वैत, नित्य-अनित्य आदि पक्षोंके आग्रहको भी समाप्त कर उन्हें वास्तविक सिद्ध किया है। उनका कहना था^२ कि इतर पक्षके तिरस्कारक 'सर्वथा'के आग्रहको छोड़कर उस पक्षके संग्राहक 'स्यात्'के वचनसे वस्तुका निरूपण करना चाहिए। इस निरूपणमें वस्तु और उसके सभी धर्म सुरक्षित रहते हैं। एक-एक पक्ष सत्यांशोंका ही निरूपण करते हैं, सम्पूर्ण सत्यका नहीं, सम्पूर्ण सत्यका निरूपण तभी सम्भव है जब सभी पक्षोंको आदर दिया जाये—उनकी उपेक्षा न की जाये। समन्तभद्रने^३ स्पष्ट घोषणा की कि निरपेक्ष—इतर तिरस्कारक पक्ष सम्यक् नहीं हैं, सापेक्ष—इतरग्राहक पक्ष ही सम्यक् (सत्य प्रतिपादक) हैं।

आचार्य समन्तभद्रने प्रमाणलक्षण, नयलक्षण, सप्तभंगोलक्षण, स्याद्वादलक्षण, हेतुलक्षण, प्रमाण-फलव्यवस्था, वस्तुस्वरूप, सर्वज्ञसिद्धि आदि जैन न्यायके कतिपय अंगों-प्रत्यंगोंका भी प्रतिपादन किया, जो प्रायः उनके पूर्व नहीं हुआ था अथवा बहुत कम हुआ था। अतएव यह काल जैन न्यायके विकासका आदि काल है और इसे समन्तभद्रकाल कहना अनुचित न होगा। समन्तभद्रके इस महान् कार्यको उत्तरवर्ती श्रीदत्त, पूज्यपाद, सिद्धसेन, मल्लवादी, सुमति, पात्रस्वामी प्रभृति जैन तार्किकोंने अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं द्वारा अग्रसारित किया। श्रीदत्तने, जो त्रैसठ वादियोंके विजेता थे, जल्पनिर्णय, पूज्यपादने सारसंग्रह, सिद्धसेनने सन्मति, मल्लवादी-ने द्वादशारनयचक्र, सुमतिने सन्मति-टीका: पात्रस्वामीने त्रिलक्षणकदर्थन जैसी तार्किक कृतियोंको रचा है। दुर्भाग्यसे जल्पनिर्णय, सारसंग्रह, सन्मति-टीका और त्रिलक्षणकदर्थन आज उपलब्ध नहीं हैं, केवल उनके उल्लेख मिलते हैं। सिद्धसेनका सन्मति और मल्लवादीका द्वादशारनयचक्र उपलब्ध हैं, जो समन्तभद्रकी कृतियोंके आभारी हैं।

१. आ. मी., २०, २२, २३।

२. स्वयम्भू. १०१, १०२।

३. आप्तमो. १०८, स्वय. ६१, युक्त्यनुशा. का. ५१।

हमारा अनुमान है कि इस कालमें और भी अनेक न्यायग्रन्थ रचे गये होंगे, क्योंकि एक तो उस समयका दार्शनिक वातावरण प्रतिद्वन्द्विताका था। दूसरे, जैन विद्वानोंमें धर्म और दर्शनके ग्रन्थोंकी रचनेकी मुख्य प्रवृत्ति थी। बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित (ई. ७वीं-८वीं शती) और उनके शिष्य कमलशील (ई. ७वीं-८वीं शती) ने तत्त्वसंग्रह एवं उसकी टोकामें जैन तार्किकोंके नामोल्लेख पूर्वक और बिना नामोल्लेखके उद्धरण देकर उनकी आलोचना की है। परन्तु वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। इस तरह इस आदिकाल अथवा समन्तभद्रकालमें जैन न्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका तैयार हो गयी थी।

२. मध्यकाल अथवा अकलंककाल :

उक्त भूमिकापर जैन न्यायका उत्तुंग और सर्वांगपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल और तीक्ष्णबुद्धि तार्किक - शिल्पीने खड़ा किया, वह है अकलंक। अकलंकके कालमें भी समन्तभद्रकी तरह जबर्दस्त दार्शनिक मुठभेड़ हो रही थी। एक तरफ शब्दाद्वैतावादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्यायनिष्णात उद्योतकर प्रभृति वैदिक विद्वान् अपने पक्षोंपर आरुढ़ थे, तो दूसरी ओर धर्मकीर्ति और उनके तर्कपटु शिष्य एवं व्याख्याकार प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि आदि बौद्धतार्किक अपने पक्षपर दृढ़ थे। शास्त्रार्थों और शास्त्रनिर्माणकी पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिकका प्रयत्न था कि वह जिस किसी तरह अपने पक्षको सिद्ध करे और परपक्षका निराकरण कर विजय प्राप्त करे। इतना ही नहीं, परपक्षको असद् प्रकारोंसे पराजित एवं तिरस्कृत भी किया जाता था। विरोधी को 'पशु', 'अह्लीक' जैसे शब्दोंका प्रयोग करके उसे और उसके सिद्धान्तोंको तुच्छ प्रकट किया जाता था। यह काल जहाँ तर्कोंके विकास का मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस कालमें न्याय का बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्त्वके संरक्षणके लिए छल, जाति और निग्रहस्थानों का खुलकर प्रयोग करना और उन्हें शास्त्रार्थका अंग मानना इस कालकी देन बन गयी। क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि पक्षोंका समर्थन इस कालमें घड़ल्लेसे किया गया और कट्टरतासे इतरका निरास किया गया।

तीक्ष्णदृष्टि अकलंकने इस स्थितिका अध्ययन किया और सभी दर्शनोंका गहरा एवं सूक्ष्म अभ्यास किया। इसके लिए उन्हें कांची, नालन्दा आदिके तत्कालीन विद्यापीठोंमें प्रच्छन्न वेषमें रहना पड़ा। समन्तभद्र द्वारा स्थापित स्याद्वादन्यायकी भूमिकाको ठीक तरह न समझनेके कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, उद्योतकर, कुमारिल आदि बौद्ध-वैदिक विद्वानोंने पक्षाग्रही दृष्टिका ही समर्थन किया था। अतः अकलंकने महाप्रयास करके दो अपूर्व कार्य किये। एक तो स्याद्वादन्यायपर आरोपित दूषणोंको दूरकर उसे स्वच्छ बनाया^१ और दूसरा कितना ही नया निर्माण किया। यही कारण

१. श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ५४।६७ में सुमति-सप्तक नामके एक महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थका उल्लेख है, जो आज अनुपलब्ध है।

२. न्यायसू. १।१।१, ४।२।५०, १।२।२, ३, ४, आदि।

३. न्यायविनिश्चयकी कारिका २, जो पहले फुटनोटमें आ चुकी है।

है कि उनके द्वारा निर्मित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें चार ग्रन्थ तो केवल न्यायशास्त्रपर ही लिखे गये हैं। यहाँ अकलंकके उक्त दोनों कार्योंका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. दूषणोद्धार :

यों अकलंकने विभिन्न वादियों द्वारा दिये गये सभी दूषणोंका परिहार कर उनके सिद्धान्तोंकी कड़ी समीक्षा की है। किन्तु यहाँ उनके दूषणोद्धार और समीक्षाके केवल दो स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं—

(क) आप्तमीमांसामें समन्तभद्रने^१ मुख्यतया आप्तकी सर्वज्ञता और उनके उपदेश—स्याद्वादकी सहेतुक सिद्धि की है। तथा सर्वज्ञता—केवलज्ञान और स्याद्वादमें साक्षात् (प्रत्यक्ष) एवं असाक्षात् (परोक्ष)से सर्वतत्त्वप्रकाशनका भेद बतलाया है^२। कुमारिलने मीमांसाश्लोकवार्तिकमें सर्वज्ञतापर और धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमें स्याद्वाद (अनेकान्त) पर आक्षेप किये हैं। कुमारिल कहते हैं—

एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः ।

सूक्ष्मातीताविविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥

नर्ते तदागमात्सिद्धचेन्न च तेनागमो बिना ।—मीमां., श्लो. ८७ ।

जो सूक्ष्मादि विषयक अतीन्द्रिय केवलज्ञान पुरुषके माना जाता है वह आगम के बिना सिद्ध नहीं होता और उसके बिना आगम सिद्ध नहीं होता, इस प्रकार सर्वज्ञता के स्वीकारमें अन्योन्याश्रय दोष है।

अकलंक कुमारिलके इस दूषणका परिहार करते हुए उत्तर देते हैं—

एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।

नर्ते तदागमात् सिद्धचेत् न च तेन बिनाऽऽगमः ॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।

प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥

—अकलंकप्र., न्यायवि. का. ४१२, ४१३ ।

यह सच है कि अनुमान द्वारा सिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञ) आगमके बिना और आगम केवलज्ञानके बिना सिद्ध नहीं होता, तथापि उनमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, क्योंकि पुरुषातिशय—केवलज्ञान अर्थबल—प्रतीतिवशसे माना जाता है और इसलिए बीजांकुरके प्रबन्ध—सन्तानकी तरह इस (केवलज्ञान और आगम) का प्रबन्ध (सन्तान) अनादि कहा गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि समन्तभद्रने अनुमानसे जिस केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, कुमारिलने उसीमें अन्योन्याश्रय दोष दिया है। अकलंकदेवने सहेतुक उस दोषका परिहार किया और सर्वज्ञता तथा आगम दोनोंको अनादि बतलाया है।

(ख) धर्मकीर्तिने स्याद्वादपर निम्न आक्षेप किया है—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्टं नाभिधावति ॥

—प्रमाणवा. १-१८३ ।

१. आप्तमी. का. ५ और ११३ ।

२. वही, का. १०५ ।

यदि सब पदार्थ उभयरूप—अनेकान्तात्मक हों, तो उनमें भेद न रहनेके कारण किसीको 'दही खा' कहने पर वह ऊँटको खानेके लिए क्यों नहीं दौड़ता ?

धर्मकीर्तिके भी इस आक्षेपका सबल जवाब देते हुए अकलंक कहते हैं—

दध्युष्टादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥

सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।

तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्ट्यते ॥

तथा वस्तुबलादेव देदाभेदव्यवस्थितेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्टमभिधावति ॥

—अ. ग्रं., न्यायवि. का. ३७२, ३७३, ३७४ ।

दधि और ऊँटको एक बतलाकर दोष देना धर्मकीर्तिका पूर्वपक्ष (अनेकान्त) को न समझना है और दूषक होकर भी वे विदूषक—दूषक नहीं, उपहास्यके ही पात्र होते हैं—क्योंकि उन्हींको मान्यतानुसार सुगत भी मृग थे और मृग भी सुगत हुआ है। फिर भी सुगतको वन्दनीय और मृगको भक्षणीय कहा जाता है। और इस तरह पर्यायभेदसे सुगत और मृगमें वन्दनीय एवं भक्षणीयकी भेदव्यवस्था तथा उनमें चित्त-सन्तान (जीवद्रव्य) की अपेक्षासे अभेदव्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार वस्तुबल (पर्याय और द्रव्यकी प्रतीति) से सभी पदार्थोंमें भेद और अभेदकी व्यवस्था है। अतः किसीको 'दही खा' कहनेपर वह ऊँटको खानेके लिए क्यों दौड़ेगा, क्योंकि सत्—द्रव्यकी अपेक्षा अभेद होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा उनमें भेद है। अतएव वह दही—भक्षणीय (पर्याय) को ही खानेके लिए दौड़ेगा। अभक्षणीय—ऊँट (पर्याय) को नहीं। यही वस्तुव्यवस्था है। भेदाभेद (अनेकान्त) तो वस्तुका स्वभाव है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

यहाँ अकलंकने धर्मकीर्तिके आक्षेपका शालीन उपहासको लिये बड़ा ही करारा उत्तर दिया है। बौद्ध परम्परामें सुगत पूर्वजन्ममें मृग थे, उस समय वे भक्षणीय थे और जब वही मृग सुगत हुआ तब वह भक्षणीय नहीं रहा—वन्दनीय बन गया। इस प्रकार एकचित्तसन्तानकी अपेक्षा उनमें अभेद है और मृग तथा सुगत दो पर्यायोंकी दृष्टिसे भेद है। इसी प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तु इस भेदाभेदकी व्यवस्थाका अतिक्रमण नहीं करती। अकलंकने धर्मकीर्तिके आरोपका उत्तर देते हुए यहाँ स्याद्वादको सिद्ध किया है। इस तरह अकलंकने दूषणोद्धारका कार्य बड़ी योग्यता और सफलताके साथ पूर्ण किया है।

२. नव-निर्माण :

अकलंकदेवने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नव-निर्माणका किया। जैन न्यायके जिन आवश्यक तत्त्वोंका उनके समयतक विकास नहीं हो सका था, उनका उन्होंने विकास किया अथवा उनको प्रतिष्ठा की। उन्होंने अपने चार ग्रन्थ न्यायशास्त्रपर ही लिखे हैं। वे हैं—(१) न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), (२) सिद्धिविनिश्चय, (३) प्रमाणसंग्रह और (४) लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित)। ये चारों ग्रन्थ कारिका-त्मक हैं। न्यायविनिश्चयमें ४३०, सिद्धिविनिश्चयमें ३६७, प्रमाणसंग्रहमें ८७ और

लघीयस्त्रयमें ७८ कारिकाएँ हैं। ये चारों ग्रन्थ क्लिष्ट और दुरूह हैं। न्यायविनिश्चय-पर वादिराजने, सिद्धि-विनिश्चयपर अनन्तवीर्यने और लघीयस्त्रयपर प्रभाचन्द्रने विस्तृत एवं विशद व्याख्याएँ लिखी हैं। प्रमाणसंग्रहपर भी आचार्य अनन्तवीर्यका भाष्य (व्याख्या) है, जो उपलब्ध नहीं है। किन्तु उसके उल्लेख मिलते हैं।

अकलंकने इनमें विभिन्न दार्शनिकोंकी समीक्षापूर्वक प्रमाण, निक्षेप और नयके स्वरूप, संख्या, विषय एवं फलका विशद विवेचन, प्रमाणके प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद, प्रत्यक्ष-के सांव्यवहारिक और मुख्य इन दो भेदोंकी प्रतिष्ठा, परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्य-भिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम इन पाँच भेदोंकी इयत्ताका निर्धारण, उनका सयुक्तिक साधन, लक्षण-निरूपण तथा इन्हींके अन्तर्गत उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव आदि परकल्पित प्रमाणोंका समावेश, सर्वज्ञकी अनेक प्रमाणोंसे सिद्धि, अनुमानके साध्य-साधन अंगोंके लक्षणों और भेदोंका विस्तृत निरूपण तथा कारणहेतु, पूर्वचर हेतु, उत्तरचर हेतु, सहचर हेतु आदि अनिवार्य हेतुओंकी प्रतिष्ठा, अन्यथानु-पपत्तिके अभावसे एक अर्किचित्कर हेतुभासका स्वीकार और उसके भेदरूपसे असिद्धादिका प्रतिपादन, दृष्टान्त, धर्मी, वाद, जाति और निग्रहस्थानके स्वरूपादिका जैन दृष्टिसे प्रतिपादन, जय-पराजय व्यवस्था आदि कितना ही नया निर्माण करके जैन न्यायको न केवल समृद्ध और परिपुष्ट किया, अपितु उसे भारतीय न्यायशास्त्रमें वह गौरवपूर्ण स्थान दिलाया, जो बौद्ध न्यायको धर्मकीर्तिने दिलाया है। वस्तुतः अकलंक जैन न्यायके मध्यकालके स्रष्टा हैं। इससे इस कालको अकलंककाल कहा जा सकता है।

अकलंकने जैन न्यायकी जो रूपरेखा और दिशा निर्धारित की, उसीका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने किया है। हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य प्रथम, वादिराज, माणिक्यनन्दि आदि मध्ययुगीन आचार्योंने उनके कार्यको आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी बनाया है। उनके सूत्रात्मक कथनको इन आचार्योंने अपनी रचनाओं द्वारा सुविस्तृत, सुप्रसरित और सुपुष्ट किया है। हरिभद्रकी अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, वीरसेनकी तर्कबहुल ध्वला-जयध्वला टीकाएँ, कुमारनन्दिका वादन्याय, विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, युक्त्यनुशासनालंकार, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य, वादिराजके न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाणनिर्णय और माणिक्यनन्दिका परीक्षा-मुख इस कालकी अतूठी तार्किक रचनाएँ हैं।

३. उत्तरकाल अथवा प्रभाचन्द्रकाल :

यह काल जैन न्यायके विकासका अन्तिम काल है। इस कालमें मौलिक ग्रन्थोंके निर्माणकी क्षमता कम हो गयी और व्याख्याग्रन्थोंका निर्माण हुआ। प्रभाचन्द्रने इस कालमें अपने पूर्वज आचार्योंका अनुगमन करते हुए जैन न्यायपर जो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं वैसे व्याख्याग्रन्थ उनके बाद नहीं लिखे गये। अतएव इस कालको प्रभाचन्द्रकाल कहा जा सकता है। अकलंकके लघीयस्त्रय-पर उन्होंने लघीयस्त्रयालंकार, जिसका दूसरा नाम 'न्यायकुमुदचन्द्र' है और

माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' पर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी प्रमेयबहुल एवं तर्कपूर्ण टीकाएँ रची हैं, जो प्रभाचन्द्रकी अमोघ तर्कणा और उज्ज्वल यशको प्रसूत करती हैं। विद्वज्जगतमें इन टीकाओंका बहुत आदर है। अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका और वादि-देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर (प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारटीका) ये दो टीकाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं, जो प्रभाचन्द्रकी तर्क-पद्धतिसे प्रभावित हैं।

इस कालमें लघु अनन्तवीर्य, अभयदेव, देवसूरि, अभयचन्द्र, हेमचन्द्र, मल्लिषेणसूरि, आशाधर, भावसेनत्रैविद्य, अजितसेन, अभिनव धर्मभूषण, चारुकीर्ति, विमलदास, नरेन्द्रसेन, यशोविजय आदि तार्किकोंने अपनी व्याख्या या मूल रचनाओं द्वारा जैन न्यायकी संक्षेप एवं सरल भाषामें प्रस्तुत किया है। इस कालकी रचनाओंमें लघु अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति), अभयदेवकी सन्मतितर्कटीका, देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और उसकी स्वोपज्ञटीका स्याद्वादरत्नाकर, अभयचन्द्रकी लघोःस्त्रयतात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसा, मल्लिषेणसूरिकी स्याद्वादमंजरी, आशाधरका प्रमेयरत्नाकर, भावसेनका विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनकी न्यायमणिदीपिका, अभिनव धर्मभूषणकी न्यायदीपिका, चारुकीर्तिकी अर्थप्रकाशिका और प्रमेयरत्नालंकार, विमलदासकी सप्तभंगि-तरंगिणी, नरेन्द्रसेनकी प्रमाणप्रमेयकलिका और यशोविजयके अष्टसहस्री-विवरण, ज्ञानबिन्दु और जैनतर्कभाषा विशेष उल्लेखयोग्य जैन न्यायग्रन्थ हैं। अन्तिम तीन तार्किकोंने अपने न्यायग्रन्थोंमें नव्यन्याय शैलीको भी अपनाया है। इसके बाद जैन न्यायकी धारा प्रायः बन्द-सी हो गयी और उसमें आगे कोई प्रगति नहीं हुई।

इस तरह जैन मनीषियोंने जहाँ जैन न्यायका उच्चतम विकास करके भारतीय ज्ञानभण्डारको समृद्ध बनाया वहाँ जैन वाङ्मयको भी सम्पुष्ट एवं परिवर्द्धित किया है।

प्रमाणशास्त्र :

'नोयते परिच्छिते ज्ञायते वस्तुतत्त्वं येन सो न्यायः' इस न्यायशब्दकी व्युत्पत्तिके आधारपर न्याय उसे कहा गया है जिसके द्वारा वस्तुस्वरूप जाना जाता है। तात्पर्य यह कि वस्तुस्वरूपके परिच्छेदक साधन (उपाय)को न्याय कहते हैं। न्यायके इस स्वरूपके अनुसार कुछ दार्शनिक 'लक्षणप्रमाणाभ्यामर्थसिद्धिः'^१—लक्षण और प्रमाण दोनोंसे वस्तुकी सिद्धि (ज्ञान) मानते हैं। अन्य दार्शनिक 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'^२—प्रमाणोंसे वस्तु-परीक्षा करनेको न्याय बतलाते हैं। अनेक तार्किक पंचावयववाक्यके प्रयोग—अनुमानको न्याय कहकर उससे वस्तुपरिच्छित्ति प्रतिपादन करते हैं। जैन तार्किक आचार्य गृद्धपिच्छने 'प्रमाणनयैरधिगमः' (त. सू. १-६) सूत्र द्वारा प्रमाणों और नयोंसे वस्तुका ज्ञान निरूपित किया है। फलतः अभिनव धर्मभूषणने^३ 'प्रमाणनयात्मको न्यायः—प्रमाण और नयको न्याय कहा है। अतः जैन मान्यतानुसार प्रमाण और नय दोनों न्याय (वस्त्वधिगम-उपाय) हैं।

१. २. ३. न्यायदी. टि. पृ. ५, वीरसेवामन्दिर प्रकाशन, १९४५।

४. वही, पृ. ५।

प्रमाणका स्वरूप :

षट्खण्डागममें ज्ञानमार्गणानुसार आठ ज्ञानोंका प्रतिपादन करते हुए तीन ज्ञानों (कुमति, कुश्रुत और कुअवधि)को मिथ्याज्ञान और पाँच ज्ञानों (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल)को सम्यग्ज्ञान निरूपित किया है। कुन्दकुन्दने^१ उसका अनुसरण किया है। गृद्धपिच्छने^३ उसमें कुछ नया मोड़ दिया है। उन्होंने मति आदि पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान तो कहा ही है, उन्हें प्रमाण भी प्रतिपादित किया है। अर्थात् उन्होंने मत्यादिरूप पंचविध सम्यग्ज्ञानको प्रमाणका लक्षण बतलाया है। समन्तभद्रने^४ तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहा है। उनका यह तत्त्वज्ञान उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानरूप ही है। सम्यक् और तत्त्व दोनोंका एक ही अर्थ है और वह है—सत्य—यथार्थ। अतः सम्यग्ज्ञानको या तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहना एक ही बात है। उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंने प्रायः सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण कहा है। विशेष यह कि अकलंक,^५ विद्यानन्द^६ और माणिक्यनन्दिने^७ उस सम्यग्ज्ञानको 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक' सिद्ध किया और प्रमाणलक्षण में उपयुक्त विकास किया है। वादिराज,^८ देवसूरि,^९ हेमचन्द्र,^{१०} धर्मभूषण^{११} आदि परवर्ती तार्किकोंने भी प्रायः यही प्रमाण-लक्षण स्वीकार किया है। यद्यपि हेमचन्द्रने सम्यक् अर्थ-निर्णयको प्रमाण कहा है,^{१२} पर सम्यक् अर्थनिर्णय और सम्यग्ज्ञानमें शाब्दिक भेदके अतिरिक्त कोई अर्थभेद नहीं है।

प्रमाणके भेद :

प्रमाणके कितने भेद सम्भव और आवश्यक हैं, इस दिशामें सर्व प्रथम स्पष्ट निर्देश आचार्य गृद्धपिच्छने^{१३} किया है। उन्होंने कहा है कि प्रमाणके दो भेद हैं—१. परोक्ष और २. प्रत्यक्ष। पूर्वोक्त पाँच सम्यग्ज्ञानोंमें आदिके दो ज्ञान—मति और श्रुत इन्द्रियादि सापेक्ष होनेसे परोक्ष तथा अन्य तीन ज्ञान—अवधि, मनःपर्यय और केवल इन्द्रियादि सापेक्ष न होने एवं आत्ममात्रकी अपेक्षासे होनेके कारण प्रत्यक्ष

१. षट्खं. १।१।१५।

२. नियमसा. गा. १०, ११, १२।

३. त. सू. १-९, १०।

४. आप्तमो. १०१, वीरसेवा मन्दिर मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन।

५. लघीय. का. ६०।

६. प्रमाणप. पृ. १, वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन।

७. परो. मु. १-१।

८. प्रमाणनिर्णय. पृ. १।

९. प्र. न. त. १।१।२।

१०. प्र. मो. १।१।२।

११. न्याय. दी. पृ. ९।

१२. प्र. मो. १।१।२।

१३. 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'—त. सू. १-१०, ११, १२।

प्रमाण हैं। यह प्रमाणद्वयका विभाग इतना विचारपूर्ण और कुशलतासे किया गया है कि इन्हीं दोमें अन्य सब प्रमाणोंका समावेश हो जाता है। मति (इन्द्रिय-अनिन्द्रियजन्य अनुभव), स्मृति (स्मरण), संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) ये पाँचों ज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय सापेक्ष होनेसे मतिज्ञानके ही अवान्तर भेद हैं और इसलिए उनका परोक्षमें ही अन्तर्भाव किया गया है।^१

जैन न्यायके प्रतिष्ठाता अकलंकने^२ भी प्रमाणके इन्हीं दो भेदोंको मान्य किया है। विशेष यह कि उन्होंने प्रत्यक्ष तथा परोक्षके स्पष्ट लक्षणों और भेदोंका भी निर्देश किया है। विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञानको परोक्ष बतलाकर प्रत्यक्षके मुख्य एवं संव्यवहार इन दो भेदों तथा परोक्षके प्रत्यभिज्ञा आदि पाँच भेदोंका उन्होंने सविस्तर निरूपण किया है। उल्लेखनीय है कि अकलंकने^३ परोक्षके प्रथम भेद मति (इन्द्रिय-अनिन्द्रियजन्य ज्ञान) को संव्यवहारप्रत्यक्ष वर्णित किया है। इससे उन्होंने इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञानको प्रत्यक्ष कहनेकी दूसरे दार्शनिकोंकी मान्यताका संग्रह किया है और व्यवहारसे उसे प्रत्यक्ष कहकर तथा परमार्थसे परोक्ष मानकर आगम-परम्पराका संरक्षण भी किया है। विद्यानन्द^४ और माणिक्यनन्दिने^५ भी प्रमाणके यही दो भेद स्वीकार किये और अकलंककी तरह ही उनके लक्षण एवं भेद निरूपित किये हैं। उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने भी प्रायः इसी प्रकार प्रतिपादन किया है।

परोक्षका लक्षण :

परोक्षका लक्षण सर्व प्रथम आचार्य पूज्यपादने^६ प्रस्तुत किया है। उन्होंने बतलाया है कि 'पर' अर्थात् इन्द्रिय, मन, प्रकाश और उपदेश आदि बाह्य निमित्त तथा स्वावरणकर्मक्षयोपशमकी अपेक्षासे आत्मामें जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह परोक्ष कहा गया है। अतः मति और श्रुत दोनों ज्ञान उक्त उभय निमित्तोंसे पैदा होते हैं, अतः वे परोक्ष हैं।

अकलंकदेवने^७ पूज्यपादके इस लक्षणको अपनाते हुए भी परोक्षका एक

१. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्', 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्' त. सू. १-१३, १४।

२. लघीय., १-३, प्रमाणसं. १-२, अ. ग्र. सिधो जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, ई. १९३९।

३. वही, १-३।

४. प्र. प. पृ., २८, ४१, ४२, वीरसेवामन्दिरट्रस्ट-प्रकाशन, ई. १९७७, १।

५. परी. मु. २-१, २, ३, ५, ११ तथा ३-१, २।

६. 'पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमित्याख्यायते'—स. सि. १-११, भारतीय ज्ञानपीठ।

७. 'तथोपात्तानुपात्तपरप्रत्ययापेक्षं परोक्षम्'—त. वा. १-११, 'ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता'—लघीय., स्वोपज्ञवृ. १-३।

नया लक्षण, जो उनके पूर्व प्रचलित नहीं था, और दिया है और जो उनके न्याय-ग्रन्थोंमें उपलब्ध है। वह है अविशद ज्ञान, जिसका ऊपर संकेत किया जा चुका है। अर्थात् जो ज्ञान विशद—स्पष्ट नहीं है वह परोक्ष है। यद्यपि इन दोनों (परापेक्ष और अविशद ज्ञान) लक्षणोंमें तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है—जो परापेक्ष होगा वह अविशद होगा ही, फिर भी वह दार्शनिकदृष्टिसे है और पहला आगमदृष्टिसे। अकलंकका यह संक्षिप्त परोक्षलक्षण उत्तरवर्ती जैन दार्शनिकों द्वारा अधिक ग्राह्य और लोकप्रिय हुआ।

विद्यानन्दने^१ इन दोनों लक्षणोंको साध्य-साधनके रूपमें प्रस्तुत किया है। उनका मन्तव्य है कि परापेक्ष होनेके कारण परोक्ष अविशद है। परापेक्ष लक्षण साधन है और अविशदज्ञान लक्षण साध्य है। माणिक्यनन्दिने^२ परोक्षके इसी अविशदज्ञान लक्षणको स्वीकार किया है और उसे प्रत्यक्षादिपूर्वक होनेसे परोक्ष कहा है। परवर्ती जैन तार्किकोंने^३ अकलंकीय परोक्षलक्षणको ही प्रायः प्रश्रय दिया है।

परोक्षके भेद :

तत्त्वार्थसूत्रकारने^४ परोक्षके दो भेद कहे हैं—१. मति और २. श्रुत। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान मतिज्ञान है तथा मतिज्ञानपूर्वक होनेवाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये आगमिक परोक्षभेद हैं। भट्टाकलंकदेवने^५ आगमके इन परोक्षभेदोंको अपनाते हुए भी उनका दार्शनिक दृष्टिसे विवेचन किया है। उनके विवेचनानुसार परोक्ष प्रमाणकी संख्या तो पाँच ही है, किन्तु उनमें मतिको छोड़ दिया गया है, क्योंकि उसे संव्यवहारप्रत्यक्ष माना है तथा श्रुत (आगम) को ले लिया है। इसमें सैद्धान्तिक अथवा दार्शनिक किसी भी दृष्टिसे बाधा नहीं है। इस तरह परोक्षके मुख्यतया पाँच भेद हैं—१. स्मृति, २. संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), ३. चिन्ता (तर्क), ४. अभिनिबोध (अनुमान) और ५. श्रुत (आगम)।

पूर्वानुभूत वस्तुके स्मरणको स्मृति कहते हैं। जैसे 'वह' इस प्रकारसे उल्लिखित होनेवाला ज्ञान। अनुभव तथा स्मरणपूर्वक होनेवाला जोड़रूप ज्ञान संज्ञा

१. परोक्षमविशदज्ञानात्मकम्, परोक्षत्वात् । यन्न विशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम्, यथाऽतीन्द्रिय-प्रत्यक्षम्, परोक्षं च विवादाध्यासितं ज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकम् ।—प्र. प. पृ. ४१, बीरसेवामन्दिर-ट्रस्टप्रकाशन, वाराणसी, १९७७।

२. 'परोक्षमितरत्', 'प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्।'।

—प. मु. ३-१, २।

३. 'अविशदः परोक्षम्'—हेमचन्द्र, प्र. मी. १।२।१ आदि।

४. 'आद्ये परोक्षम्', 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्',—त. सू. १-२१, १४।

५. प्र. सं. १-२, लघी. १-३, अ. प्र., सिध्दी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद।

६. 'अविसंवादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा। स्मृतिः संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य। संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य। चिन्ता अभिनिबोधस्य अनुमानादेः। प्राक् शब्दयोजनात् शेषं श्रुतज्ञानमनेकप्रभेदम्।'—लघीय. स्वोपज्ञवृत्ति २-१०।

है। इसे प्रत्यभिज्ञा या प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। यथा—‘यह वही है’, अथवा ‘यह उसीके समान है’ या ‘यह उससे विलक्षण है’ आदि। इसके एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रातियोगिक आदि अनेक भेद माने गये हैं। अन्वय (विधि) और व्यतिरेक (निषेध) पूर्वक होनेवाला व्याप्ति (साध्य और साधनरूपसे अभिमत दो पदार्थोंके अविनाभाव सम्बन्ध)का ज्ञान चिन्ता अथवा तर्क है। ऊह अथवा ऊहा भी इसे कहते हैं। इसका उदाहरण है—इसके होनेपर ही यह होता है और नहीं होनेपर नहीं ही होता। जैसे—अग्निके होनेपर ही धुआं होता है और अग्निके अभावमें धुआं नहीं ही होता। निश्चित साध्यविनाभावी साधनसे जो साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान है। जैसे—धूमसे अग्निका ज्ञान। शब्द, संकेत आदि पूर्वक जो ज्ञान होता है वह श्रुत है। इसे आगम, प्रवचन आदि भी कहते हैं। जैसे—‘भेरु आदिक हैं’ शब्दोंको सुनकर सुमेरु पर्वत आदिका बोध होता है। ये सभी ज्ञान परापेक्ष हैं। स्मरणमें अनुभव, प्रत्यभिज्ञानमें अनुभव तथा स्मरण, तर्कमें अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान, अनुमानमें लिङ्ग-दर्शन, व्याप्तिस्मरण और श्रुतमें शब्द एवं संकेतादि अपेक्षित हैं, उनके बिना उनकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अतएव ये और इस प्रकारके उपमान, अर्थापत्ति आदि परापेक्ष अविशद ज्ञान परोक्ष प्रमाण माने गये हैं।

अकलंकने इनके विवेचनमें जो दृष्टि अपनायी वही दृष्टि विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि आदि तार्किकोंने अनुसृत की है। विद्यानन्दने^१ प्रमाण-परीक्षाओं और माणिक्यनन्दिने^२ परोक्षामुल्लेखमें स्मृति आदि पाँचों परोक्ष प्रमाणोंका विशदताके साथ निरूपण किया है। इन दोनोंकी विशेषता यह है कि उन्होंने प्रत्येककी सहेतुक सिद्धि करके उनका परोक्षमें ही समावेश किया है। विद्यानन्दने^३ इनकी प्रमाणतामें सबसे बड़ा हेतु उनका अविसंवादी होना बतलाया है। साथ ही यह भी कहा है कि यदि कोई स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और श्रुत (पदवाक्यादि) अपने विषयमें विसंवाद (बाधा) उत्पन्न करते हैं तो वे स्मृत्याभास, प्रत्यभिज्ञाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और श्रुताभास हैं। यह प्रतिपत्ताका कर्तव्य है कि वह सावधानी और युक्ति आदि पूर्वक निर्णय करे कि अमुक स्मृति निर्बाध होनेसे प्रमाण है और अमुक सबाध (विसंवादी) होनेसे अप्रमाण है। इसी प्रकार वह प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और श्रुतके प्रामाण्याप्रामाण्यका भी निर्णय करे। ये पाँचों ज्ञान यतः अविशद हैं, अतः परोक्ष हैं, यह भी विद्यानन्दने स्पष्टताके साथ प्रतिपादन किया है।

विद्यानन्द^४ की एक और विशेषता है। वह है अनुमान और उसके परिकरका विशेष निरूपण। जितने विस्तारके साथ उन्होंने अनुमानका प्रतिपादन किया है उतना स्मृति आदिका नहीं। तत्त्वार्थलोकवार्तिक और प्रमाणपरीक्षाओं अनुमान-

१. प्र. प. पृ. ४१ से ६५।

२. प. मु. ३।१ से १०१।

३. ‘स्मृतिः प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत्। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा, प्रत्यक्षासासवत्।’—प्र. प. पृ. ४२।

४. प्र. प. पृ. ४५ से ५८।

निरूपण सर्वाधिक है। पत्रपरीक्षामें तो प्रायः अनुमानका ही शास्त्रार्थ उपलब्ध है। विद्यानन्दने^१ अनुमानका वही लक्षण दिया है जो अकलंकदेवने^२ प्रस्तुत किया है। अर्थात् 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्'—साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको उन्होंने अनुमान कहा है। साधन और साध्यका विश्लेषण भी उन्होंने अकलंक प्रदर्शित दिशानुसार किया है। साधन वह है जो साध्यका नियमसे अविनाभावी है। साध्य-के होनेपर ही होता है और साध्यके न होनेपर नहीं ही होता। ऐसा अविना-भावी साधन ही साध्यका अनुमापक होता है, अन्य नहीं। त्रिलक्षण, पंचलक्षण आदि साधनलक्षण सदोष होनेसे युक्त नहीं हैं^३। इस विषयका विशेष विवेचन हमने अन्यत्र^४ किया है। साध्य वह है जो इष्ट—अभिप्रेत, शक्य—अबाधित और अप्रसिद्ध होता है। जो अनिष्ट है, प्रत्यक्षादिसे बाधित है और प्रसिद्ध है वह साध्य—सिद्ध करने योग्य नहीं होता। वस्तुतः जिसे सिद्ध करना है उसे इष्ट होना चाहिए। अनिष्टको कोई सिद्ध नहीं करता। इसी तरह जो बाधित है—सिद्ध करनेके अयोग्य है उसे भी सिद्ध नहीं किया जाता। तथा जो सिद्ध है उसे पुनः सिद्ध करना निरर्थक है। अतः निश्चितसाध्याविनाभावी साधन (हेतु)से जो इष्ट, अबाधित और असिद्धरूप साध्यका विज्ञान किया जाता है वह अनुमान प्रमाण है।

अनुमानके दो भेद हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। अनुमाता जब स्वयं ही निश्चित साध्याविनाभावी साधनसे साध्यका ज्ञान करता है तो उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहा जाता है। उदाहरणार्थ—जब वह धूमको देखकर अग्नि-का ज्ञान, रसको चखकर उसके सहचर रूपका ज्ञान या कृत्तिकाके उदयको देखकर एक मूहूर्त्त बाद होनेवाले शकटके उदयका ज्ञान करता है तब उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान है। और जब वही स्वार्थानुमाता उक्त हेतुओं और साध्योंको बोलकर दूसरोंको उन साध्य-साधनोंकी व्याप्ति (अन्यथानुपपत्ति) ग्रहण कराता है और दूसरे उसके उक्त वचनोंको सुनकर व्याप्ति ग्रहण करके उक्त हेतुओंसे उक्त साध्योंका ज्ञान करते हैं तो दूसरोंका वह अनुमानज्ञान परार्थानुमान है।

धर्मभूषणोंने स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमानके सम्पादक तीन अंगों और दो अंगोंका भी प्रतिपादन किया है। वे तीन अंग हैं—(१) साधन, (२) साध्य और (३) धर्मी। साधन तो गमकरूपसे अंग है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी दोनोंका आधाररूपसे। दो अंग हैं—(१) पक्ष और (२) हेतु। जब साध्य धर्मको धर्मीसे पृथक् नहीं माना जाता—उससे विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा जाता है तो पक्ष और हेतु ये दो ही अंग विवक्षित होते हैं। इन दोनों प्रतिपादनोंमें मात्र

१. प्र. प. पृ. ४५।

२. 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये।'—न्या. वि. द्वि. भा. २।१।

३. 'तत्र साधनं साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणम्।'—प्र. प. पृ. ४५।

४. प्र. प. पृ. ४५ से ४९।

५. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, पृ. ९२, बीरसेवामन्दिर-ट्रस्टप्रकाशन, १९६९।

६. न्यायविनि. २-१७२ तथा प्र. प. पृ. ५७।

७. न्या. दो. पृ. ७२, ३-२४।

विवक्षाभेद है—मौलिक कोई भेद नहीं है। वचनात्मक परार्थानुमानके प्रतिपाद्यों की दृष्टिसे दो, तीन, चार और पाँच अवयवोंका भी कथन किया गया है। दो अवयव प्रतिज्ञा और हेतु हैं। उदाहरणसहित तीन, उपनयसहित चार और निगमन-सहित पाँच अवयव हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि विद्यानन्द ने परार्थानुमानके अक्षरश्रुत और अनक्षर-श्रुत दो भेदोंको प्रकट करते हुए उसे अकलंकके अभिप्रायनुसार श्रुतज्ञान बतलाया है और स्वार्थानुमानको अभिनिबोधरूप मतिज्ञानविशेष कहा है। आगमकी प्राचीन परम्परा यही है^१।

श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषरूप अन्तरंग कारण तथा मतिज्ञानरूप बहिरंगकारणके होनेपर मनके विषयको जाननेवाला जो अविशद ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है।^२ अथवा आप्तके वचन, अँगुली आदिके संकेतसे होनेवाला अस्पष्ट ज्ञान श्रुत है। यह श्रुतज्ञान सन्ततिकी अपेक्षा अनादिनिधन है। उसकी जनक सर्वज्ञपरम्परा भी अनादिनिधन है। बीजांकुरसन्ततिकी तरह दोनोंका प्रवाह अनादि है। अतः सर्वज्ञोक्त वचनोंसे उत्पन्न ज्ञान श्रुतज्ञान है और वह निर्दोष पुरुषजन्य एवं अविशद होनेसे परोक्ष प्रमाण है। इस प्रकार परोक्षके पाँच ही भेद हैं।

प्रत्यक्ष :

जो इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा नहीं रखता और आत्ममात्रकी अपेक्षासे होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।^३ अकलंकदेव ने प्रत्यक्षके इस लक्षणको आत्मसात् करते हुए भी उसका एक नया लक्षण और प्रस्तुत किया है, जो दार्शनिकों द्वारा अधिक ग्राह्य और लोकप्रिय हुआ है। वह है विशद ज्ञान। जो ज्ञान विशद अर्थात् अनुमानादि ज्ञानोंसे अधिक विशेष प्रतिभासी होता है वह प्रत्यक्ष है। उदाहरणार्थ—‘अग्नि है’ ऐसे किसी विश्वस्त व्यक्तिके वचनसे उत्पन्न अथवा ‘वहाँ अग्नि है, क्योंकि धुँआँ दिख रहा है’ ऐसे धूमादि साधनोंसे जनित ‘अग्नि-ज्ञान’-से ‘यह अग्नि है’ अग्निको देखकर हुए अग्निज्ञानमें जो विशेष प्रतिभासरूप वैशिष्ट्य अनुभवमें आता है उसीका नाम विशदता है। और यह विशदता ही प्रत्यक्षका लक्षण है। तात्पर्य यह कि जहाँ अस्पष्ट ज्ञान परोक्ष है वहाँ स्पष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष है। सभी जैन दार्शनिकोंने प्रत्यक्षका यही लक्षण स्वीकार किया है। विद्यानन्दने इन प्रत्यक्षभेदोंका विशदता और विस्तारपूर्वक निरूपण किया है।

१. प्र. प. पृ. ५८।

२. विशेषके लिए देखें, जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, पृष्ठ ७७-७८।

३. प्र. प. पृ. ५८।

४. स. सि. १।१२, पृ. १०३।

५. लघी. १।३।

६. ‘तत् त्रिविधम्—इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियप्रत्यक्षविकल्पात्। तत्रेन्द्रियप्रत्यक्षं सांख्यवह्नारिकं देशतो विशदत्वात्। तद्वदनिन्द्रियप्रत्यक्षम्, तस्यान्तर्मुखाकारस्य कथंचिद्वैशद्यसिद्धेः।

इन्द्रियप्रत्यक्षके उन्होंने आरम्भमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद बतलाये हैं तथा ये चारों पाँचों इन्द्रियों और बहु आदि बारह अर्थभेदोंके निमित्तसे होते हैं। अतः $४ \times ५ \times १२ = २४०$ भेद अर्थावग्रहकी अपेक्षासे गिनाये हैं। और यतः व्यंजननावग्रह चक्षु तथा मनसे नहीं होता, अतः उसकी अपेक्षासे $१ \times ४ \times १२ = ४८$ भेदोंका कथन किया है। इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्षके $२४० + ४८ = २८८$ भेद कहे हैं। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मनसे उक्त बारह प्रकारके पदार्थोंमें होता है। अतः उसके $४ \times १ \times १२ = ४८$ भेद प्रतिपादित किये हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष ये दोनों मतिज्ञान अर्थात् संव्यवहारप्रत्यक्ष हैं। अतएव संव्यवहारप्रत्यक्षके कुल $२८८ + ४८ = ३३६$ भेद हैं।^१ अतीन्द्रिय प्रत्यक्षके दो भेद हैं (१) विकलप्रत्यक्ष और (२) सकलप्रत्यक्ष। विकलप्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—(१) अवधिज्ञान और (२) मनःपर्ययज्ञान। सकलप्रत्यक्ष मात्र एक ही प्रकारका है और वह है केवलप्रत्यक्ष। इनका विशेष कथन प्रमाणपरीक्षामें देखना चाहिए। इस प्रकार जैन दर्शनमें प्रमाणमें मूलतः प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद माने गये हैं।

प्रमाणका विषय—

जैन दर्शनमें यतः वस्तु अनेकान्तात्मक है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण हो, चाहे परोक्ष प्रमाण, सभी सामान्य-विशेषरूप, द्रव्य-पर्यायरूप, भेदाभेदरूप, नित्यानित्यरूप आदि अनेकान्तात्मक वस्तुको विषय करते अर्थात् जानते हैं। कोई भी प्रमाण केवल सामान्य या केवल विशेष आदिरूप वस्तुको विषय नहीं करते, क्योंकि वैसी कोई वस्तु ही नहीं है। वस्तु तो अनेकान्तरूप है और वही प्रमाणका विषय है^२।

प्रमाणका फल—

प्रमाणका फल अर्थात् प्रयोजन वस्तुको जानना और उसका अज्ञान दूर होना है^३। यह प्रमाणका साक्षात् फल है। वस्तुको जाननेके उपरान्त उसके ग्राह्य होनेपर उसमें ग्रहणबुद्धि, हेय होनेपर हेयबुद्धि और उपेक्षणीय होनेपर उपेक्षा-बुद्धि होती है। ये बुद्धियाँ उसका परम्परा फल हैं। प्रत्येक प्रमाताको ये दोनों फल उपलब्ध होते हैं।

नय—

पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जहाँ प्रमाणसे अखण्ड (समग्र) रूपमें होता है वहाँ नयसे^४ खण्ड (अंश) रूपमें होता है। धर्मीका ज्ञान प्रमाण और धर्मका ज्ञान

अतीन्द्रियप्रत्यक्षं तु द्विविधं विकलप्रत्यक्षं सकलप्रत्यक्षं चेति । विकलप्रत्यक्षमपि द्विविधम्—
अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं चेति । सकलप्रत्यक्षं तु केवलज्ञानम् । तदेतत्त्रिविधमपि मुख्यं
प्रत्यक्षम्, मनोऽज्ञानपेक्षत्वात् ।—प्र. प. पृ. ३८, अनुच्छेद ९१ ।

१. प्र. प. पृ. ४० ।

२. वही, पृ. ६५ ।

३. प्र. प. पृ. ६६ ।

४. लघोय. नयप्रवेश, का. ३०-४६ ।

नय है। दूसरे शब्दोंमें अंशग्राही ज्ञान नय है। यह मूलतः दो प्रकारका है—
 १. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। अथवा १. निश्चय और २. व्यवहार। द्रव्यार्थिक द्रव्यको, पर्यायार्थिक पर्यायको, निश्चय असंयोगीको और व्यवहार संयोगीको ग्रहण करता है। इन दो मूल नयोंके अवान्तर भेदोंका निरूपण जैन शास्त्रोंमें विपुल-मात्रामें उपलब्ध होता है। वस्तुको सही रूपमें जाननेके लिए उनका सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। विस्तारके कारण वह यहाँ नहीं किया जाता। यहाँ हमने जैन प्रमाणशास्त्रका संक्षेपमें परिशीलन करनेका प्रयास किया है। यों उसके विवेचनके लिए एक स्वतन्त्र एवं विस्तृत ग्रन्थ अपेक्षित है।



आचार्य कुन्दकुन्दका प्राकृत-वाङ्मय और उसकी देन

आचार्य कुन्दकुन्द :

भारतीय चिन्तकों और ग्रन्थकारोंमें आ० कुन्दकुन्दका अग्रपंक्तिमें स्थान है। उन्होंने अपने विपुल एवं असाधारण प्राकृत वाङ्मयके द्वारा भारतीय संस्कृति को अध्यात्म एवं तत्त्वज्ञानप्रधान विचार तथा आचार प्रदान किया और उसे अद्भुत ढंगसे प्रभावित किया है। भारतीय साहित्यमें प्राकृत-भाषाके महापण्डित और इस भाषामें निबद्ध सिद्धान्त-साहित्यके अद्वितीय रचयिताके रूपमें इनका नाम अत्यन्त विश्रुत है। जब कोई मंगल कार्य किया जाता है तो उसके आरम्भमें 'मंगलं कुन्दकुन्दार्यः' कहकर उनका स्मरण किया जाता है। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके ग्रन्थों और शिलालेखोंमें उनकी असाधारण विद्वत्ता, अनुपम संयम, अद्भुत इन्द्रिय-विजय, अनेक ऋद्धि-सिद्धियों आदि विशेषताओंका ससम्मान उल्लेख किया गया है। आठ वर्षकी अवस्थामें ही कुन्दकुन्दने साधु-दीक्षा ले ली थी और चौरासी वर्षकी लम्बी आयु तक दीर्घ चिन्तन, मनन और ग्रन्थ-सृजन किया था।

समय :

इनके समयके विषयमें अनेक मत हैं। डॉक्टर ए. एन. उपाध्येने उन सभी मतों पर ऊहापोह किया है और ईस्वी सन् का प्रारम्भ उनका अस्तित्व-समय निर्णीत किया है। मूल संघकी उपलब्ध पट्टावलीके अनुसार भी यही समय माना गया है। स्वर्गीय पं. जुगलकिशोर मुख्तारने^१ भी अनेक प्रमाणोंसे विक्रमकी पहली शताब्दी समय सिद्ध किया है, जो लगभग उक्त दोनों मतोंके अनुकूल है।

ग्रन्थ-रचना :

कुन्दकुन्दने अपनी ग्रन्थ-रचनाके लिए प्राकृत, पाली और संस्कृत इन तीन प्राचीन भारतीय भाषाओंमेंसे प्राकृतको चुना। प्राकृत उस समय जन-भाषाके रूपमें प्रसिद्ध थी और वे जनसाधारण तक अपने चिन्तनको पहुँचाना चाहते थे। अतएव उनकी सभी कृतियाँ प्राकृतमें ही निबद्ध उपलब्ध हैं। प्राकृत-साहित्यके निर्माताओंमें उनका मूर्धन्य स्थान है। इन्होंने जितना प्राकृत-वाङ्मय रचा है उतना अन्य मनीषीने नहीं लिखा। कहा जाता है कि इन्होंने ८४ पाहुडों (प्राभृतों-प्रकरणग्रन्थों) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली कृत 'षट्खण्डागम' नामक आगम-ग्रन्थकी विशाल टीकाकी रचना की थी और यह सब ग्रन्थराशि शौरसेनी प्राकृत-में रची गयी थी। पर आज वह सब उपलब्ध नहीं है। फिर भी जो प्राप्त है वह इतनी है कि जैन वाङ्मय उससे समृद्ध एवं देदीप्यमान है। यहाँ उनकी उपलब्ध कृतियोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१. प्र. सा. प्रस्तावना पृ. १०-२५ परमश्रुत-प्रभावक-मण्डल, बम्बई, १९३५ ई.।

२. पुरातनवाक्यसूची, प्रस्तावना पृ. १२, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, १९५० ई.।

१. प्रवचनसार—इसमें तीन अधिकार हैं—१. ज्ञानाधिकार, २. ज्ञेयाधिकार, और ३. चारित्राधिकार। अधिकारोंके नामसे ही उनके विषयोंकी अवगति हो जाती है। इसपर दो व्याख्याएँ हैं—एक आ. अमृतचन्द्रकी और दूसरी आ. जयसेन की। अमृतचन्द्रकी व्याख्याके अनुसार इसकी गाथासंख्या (९२ + १०८ + ७५) = २७५ है और जयसेनकी व्याख्यानुसार ३१७ है। ये दोनों व्याख्याएँ संस्कृतमें निबद्ध हैं और मूलका विशद व्याख्यान करती हैं।

२. पंचास्तिकाय—इसमें दो श्रुतस्कन्ध (अधिकार) हैं—१. षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय और २. नवपदार्थ। इन अधिकारोंके नामसे ही उनके अभिधेयका ज्ञान हो जाता है। इसपर भी उक्त दोनों आचार्योंकी संस्कृतमें टीकाएँ हैं और दोनों सुस्पष्ट हैं।

३. समयसार—इसमें दस अधिकार हैं—१. जीवाजीवाधिकार, २. कर्तृकर्माधिकार, ३. पुण्यपापाधिकार, ४. आस्रवाधिकार, ५. संवराधिकार, ६. निर्जराधिकार, ७. बन्धाधिकार, ८. मोक्षाधिकार, ९. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार और १०. स्याद्वादाधिकार। अन्तिम अधिकार व्याख्याकार अमृतचन्द्र द्वारा अभिहित है, मूलकार कुन्दकुन्द द्वारा रचित नहीं। अमृतचन्द्रको इस अधिकारके रचनेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि समयसारका अध्येता पूर्वं अधिकारोंमें वर्णित निश्चय और व्यवहार नयोंकी प्रधान एवं गौण दृष्टिके विषयमें भ्रममें न पड़े और दोनों नयोंसे आत्मतत्त्वको सम्यक् समझे। इसीसे इस अधिकारमें उन्होंने स्याद्वादके वाच्यभूत अनेकान्तका समर्थन करनेके लिए तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयों (दृष्टियों) से आत्मतत्त्वका विवेचन किया है। अन्तमें कलशकाव्योंमें उन्होंने इसी तथ्यको स्पष्टतया व्यक्त किया है। इस समयसारपर भी अमृतचन्द्र और जयसेनकी संस्कृत-व्याख्याएँ हैं, जो मूलके हादंको बहुत उत्तम ढंगसे स्पष्ट करती हैं।

भारतीय वाङ्मयमें कुन्दकुन्दका यह समयसार एक अद्वितीय ग्रन्थरत्न है। इसमें शुद्ध आत्माका अनुभूत, तर्कयुक्त और आगमसम्मत व्यवस्थित विवेचन किया है। उपनिषदोंके आत्मतत्त्व-विवेचनसे इसका आत्मतत्त्व-विवेचन बिलकुल विलक्षण, किन्तु बुद्धिगम्य, विश्लेषणात्मक और आकर्षक है। आचार्य कुन्दकुन्द एकमात्र इसी की रचना करते और अपनी अन्य कृतियोंको न भी रचते तो भी वे इस अमर रचना द्वारा भारतीय वाङ्मयमें अमर रहते। 'समय' शब्दके अनेक अर्थ हैं। यहाँ उसका 'आत्मा' अर्थ गृहीत है। उसीका सार इसमें निहित है।

४. नियमसार—इसमें बारह अधिकार और १८७ गाथाएँ हैं। इसपर पद्म-प्रभमलधारीदेवकी संस्कृत-टीका है, जो मूलको तो स्पष्ट करती ही है, सम्बद्ध श्लोकोंका भी आकर है। इस ग्रन्थमें भी समयसारको तरह आत्मतत्त्वका प्रतिपादन है। मुमुक्षुके लिए यह उतना ही उपयोगी और उपादेय है जितना उक्त समयसार।

५. वंसणपाहुड—इसमें मोक्षमार्गके प्रथम पाये सम्यग्दर्शनका २६ गाथाओंमें विशद विवेचन है।

६. चारित्तपाहुड—इसमें ४४ गाथाओंमें मनुष्य-जीवनको उज्ज्वल बनाने वाले एवं मोक्षमार्गके तीसरे पाये सम्यक्चारित्रका अच्छा निरूपण है।

७. सुत्तपाहुड—इसमें २७ गाथाओं द्वारा सूत्र (निर्दोष वाणी) का महत्त्व और तदनुसार प्रवृत्तिपर बल दिया गया है।

८. बोधपाहुड—इसमें ६२ गाथाएँ हैं, जिनके द्वारा उन ११ महत्त्वकी बातोंका निरूपण किया गया है, जिनका बोध मुक्तिके लिए वांछनीय है।

९. भावपाहुड—इसमें १६३ गाथाओंके द्वारा आत्म-परिणामोंकी निर्मलताका कथन किया गया है।

१०. मोक्षपाहुड—१०६ गाथाओं द्वारा इसमें मोक्षका स्वरूप बतलाते हुए बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन आत्मभेदोंका प्रतिपादन किया है।

११. लिंगपाहुड—इसमें २२ गाथाएँ हैं और मुक्तिके लिए आवश्यक लिंग (वेष), जो द्रव्य और भाव दो प्रकारका है, विवेचित है।

१२. सीलपाहुड—४० गाथाओं द्वारा विषयतृष्णा आदि अशीलको बन्ध एवं दुःखका कारण बतलाते हुए जीव-दया, इन्द्रिय-दमन, संयम आदि सत्प्रवृत्तियोंको शील बतलाया गया है और उन्हें ही उपादेय प्रतिपादित किया है।

इन उक्त आठ पाहुडोंको 'अष्टपाहुड' कहा जाता है और आरम्भके ६ पाहुडों-पर श्रुतसागरसूरिकी संस्कृत-व्याख्याएँ हैं।

१३. बारस अणुवेक्खा—इस रचनामें वेराग्योत्पादक १२ अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का ९१ गाथाओंमें निरूपण है।

१४. सिद्धभक्ति—इसमें १२ गाथाओं द्वारा सिद्धस्वरूप वर्णित है।

१५. सुदभक्ति—इसमें ११ गाथाओं द्वारा श्रुतका प्रतिपादन है।

१६. चारित्तभक्ति—इसमें दश अनुष्टुप् गाथाओं द्वारा पाँच प्रकारके चारित्र-का दिग्दर्शन है।

१७. योगिभक्ति—२३ गाथाओं द्वारा इसमें योगियोंकी विभिन्न अवस्थाओंका विवेचन है।

१८. आयरियभक्ति—इसमें १० गाथाओं द्वारा आचार्य-गुणोंकी संस्तुति है।

१९. णिव्वाणभक्ति—इसमें २७ गाथाएँ हैं और निर्वाणका स्वरूप एवं निर्वाण-प्राप्त तीर्थंकरोंकी स्तुति है।

२०. पंचगुरुभक्ति—यह ७ गाथाओंकी लघु कृति है और पाँच परमेष्ठियोंकी भक्ति निबद्ध है।

२१. थोस्सामिथुदि—८ गाथाओं द्वारा इसमें ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है।

इन रचनाओंके सिवाय कुछ विद्वान् रयणसार और मूलाचारको भी कुन्दकुन्द-की रचनाएँ बतलाते हैं। परन्तु इनका साहित्यिक और वैषयिक सूक्ष्म अध्ययन करने-पर ये रचनाएँ उनकी प्रतीत नहीं होतीं। अनेक समीक्षक मनीषी भी इसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं।

भारतीय संस्कृतिकी देन :

कुन्दकुन्दके इस विशाल वाङ्मयकी भारतीय संस्कृतिकी क्या देन है, इसपर विचार करनेपर हमें उसकी मुख्यतया निम्न चार उपलब्धियाँ अवगत होती हैं—

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ

२. दार्शनिक चिन्तन

३. तात्त्विक विवेचन

४. लोककल्याणी दृष्टि

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ :

छन्द-वैविध्य—प्राकृत-साहित्य गद्यसूत्रों और पद्यसूत्रों दोनोंमें उपनिबद्ध हुआ है। कुन्दकुन्दने अपने समग्र ग्रन्थ, जो उपलब्ध हैं, पद्यसूत्रों—गाथाओंमें ही रचे हैं। प्राकृतका पद्य-साहित्य यद्यपि एकमात्र गाथा-छन्दमें, जो आर्याछन्दके नामसे प्रसिद्ध है, प्राप्त है। किन्तु कुन्दकुन्दके प्राकृत-वाङ्मयकी विशेषता यह है कि उसमें गाथा-छन्दके अतिरिक्त अनुष्टुप् और उपजाति छन्दोंका भी उपयोग किया गया है। निश्चय ही छन्द-वैविध्यसे रचनामें पाठकको विशेष आनन्द आता है और उसका वैशिष्ट्य बढ़ जाता है। हम यहाँ उदाहरणार्थ उनके ग्रन्थोंसे कुछ अनुष्टुप् तथा उपजाति छन्दोंके उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

[क] १. एगो मे सस्सवो अप्पा णाण-दंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

—भावपा. ५९ ।

२. जो समो सव्वभूवेसु थावरेसु तसेसु वा ।

तस्स सामाङ्गं ठाड् इदि केवलिसासणे ॥

—निमयसा. १२६ ।

[ख] णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिण ।

णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहणवज्जे विसमे समे वा ॥

—प्र. सा. ।

अलंकार-विविधता

संस्कृत-साहित्यमें अलंकारहीन काव्यको निर्भूषणा नारीकी तरह श्रीहीन बतलाकर अलंकारका महत्त्व उद्घोषित किया है। उस प्राचीन कालमें आ. कुन्दकुन्दने अपने प्राकृत-वाङ्मयमें भी अलंकारोंका समावेश किया है। अप्रस्तुत प्रशंसाका एक उदाहरण देखिए—

[ग] ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयणिऊण जिणधम्मं ।

गुड-दुद्धं पि पिवंता ण पणया णिव्विसा होति ॥

—भावपा. १३७ ।

[घ] उपमालंकारको भी देखिए—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वानं ।

अहिओ तह सम्मत्तो रिसि-सावय-दुविहधम्माणं ॥

—भावपा. १४३ ।

[ड] एक रूपकालंकारका भी उदाहरण देखिए—

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभक्तिरायेण ।

ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभाव-सत्थेण ॥

—भावपा. १५२ ।

उपर्युक्त उद्धरणोंमें हमें कुन्दकुन्दके प्राकृत-साहित्यकी अनेक साहित्यिक उद्भावनाएँ परिलक्षित होती हैं, जिनसे अवगत होता है कि कुन्दकुन्द केवल सिद्धान्तवेत्ता मनीषी ही न थे, वे प्राकृतके प्रौढ़ कवि भी थे और प्राकृतमें विविध छन्दों तथा अलंकारोंमें कविता करनेकी विशिष्ट प्रतिभा उन्हें प्राप्त थी ।

दार्शनिक चिन्तन

कुन्दकुन्दका दार्शनिक चिन्तन अनुभव और तर्क पर आधारित है । जब वे किसी प्रमेयका विचार करते हैं तो उसमें दर्शनका आधार अवश्य रहता है । यहाँ दो उदाहरण दृष्टव्य हैं—

१. कुन्दकुन्दने पंचास्तिकायमें द्रव्यके दो लक्षण दिये हैं और दोनोंको समुक्तिक सिद्ध किया है । द्रव्यका पहला लक्षण यह है कि जो सत् है और जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होता है वह द्रव्य है । दूसरा लक्षण यह है कि जो गुणों और पर्यायोंका आश्रय है वह द्रव्य है । इन दोनों लक्षणोंका कुन्दकुन्दने हेतुपूर्वक समर्थन भी किया है ।^१ पहला लक्षण जहाँ द्रव्यकी त्रयात्मक शक्तिका प्रकाशक है वहाँ दूसरा लक्षण सह और क्रमशः पाये जानेवाले उसके दो प्रकारके धर्मों (गुणों और पर्यायों)का सूचक है । कुन्दकुन्दने 'द्रव्य' शब्दकी व्युत्पत्ति द्वारा^२ बतलाया है कि जो स्थिर रहता हुआ उत्पाद और व्ययरूप पर्यायोंको प्राप्त करता है वह द्रव्य है । अथवा जो गुण और पर्यायोंको लिये हुए है वह द्रव्य है । द्रव्यके ये दोनों लक्षण कुन्दकुन्दका अपना चिन्तन है, जिसे उत्तरवर्ती सभी ग्रन्थकारोंने अनुसृत किया है ।

२. प्राकृत आगम-ग्रन्थोंमें हमें वस्तु-निरूपण 'सिया अत्थि' (स्याद अस्ति—कथंचित् है) और 'सिया णत्थि' (स्यात् नास्ति—कथंचिद् नहीं है) इन दो भंगों (प्रकारों)से मिलता है । कुन्दकुन्दने उनमें विकास करके उक्त निरूपणको सात भंगों द्वारा प्रतिपादित किया है^३ और द्रव्यमात्रको 'सप्तभंग' (सात प्रकारका) निरूपित किया है तथा उसे वक्ताकी विवक्षावश सम्भवित प्रकट किया है । कुन्दकुन्दका यह चिन्तन भी नया है, जिसे समन्तभद्र जैसे युगप्रधान आचार्योंने अपनाकर उसका विस्तृत एवं विशद व्याख्यान किया है ।

३. कुन्दकुन्दकी दृष्टि बड़ी सुलझी और गहरी थी । एक जगह उन्होंने प्रतिपादन किया है कि 'भाव (सत्)का विनाश और अभाव (असत्)का उत्पाद नहीं

१. पंचास्तिकाय, गा. १० ।

२. वही, गा. ११, १२, १३, १५ और ५४ ।

३. 'दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सवभाव-पज्जयाइं जं । दवियं तं भणंते.....'—वही ९ ।

४. सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥—वही, गाथा १४ ।

होता ।' दूसरे स्थानपर वे कहते हैं कि 'सत्का विनाश और असत्का उत्पाद होता है ।' इन दोनों कथनोंमें उपस्थित विरोधका वे स्वयं परिहार करते हुए लिखते हैं कि पहला कथन द्रव्यकी विवक्षासे है और दूसरा पर्यायकी दृष्टिसे । और इस तरह उन्होंने उक्त दोनों कथनोंको दो नयों (द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक)से बतलाकर उनके विरोधका अनुभवगम्य एवं युक्तिपूर्ण परिहार किया है । कुन्दकुन्दकी यह सूक्ष्म दृष्टि बड़ी ही प्रभावोत्पादक और वस्तुतत्त्वकी प्रदर्शिका है ।

तात्त्विक विवेचन

कुन्दकुन्दके प्राकृत-वाङ्मयका मन्थन करनेपर प्रतीत होता है कि उसका बहुभाग तात्त्विक निरूपणपरक ही है और वह उनका अपना ही है । समयसार और नियमसारमें जो शुद्ध आत्माका विशद और विस्तृत विवेचन है वह अन्यत्र दुर्लभ है । मोक्षपाहुड (गा. ४-७)में आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों तथा उनके स्वरूपका प्रतिपादन भी अद्वितीय है । नियमसार (गा. १५९) में व्यवहार-नयसे आत्माको सर्वज्ञ और निश्चयनयसे आत्मज्ञ निरूपित करना कुन्दकुन्दका अपना एवं नया विचार है । इसी ग्रन्थ (गा. १६०) में षट्खण्डागमके ज्ञान और दर्शनके योगपद्यका सर्वप्रथम समर्थन मिलता है । पुद्गलके दो तथा छह भेदोंका निरूपण (नि. गा. २०-२४), परमाणुका स्वरूप कथन (नि. गा. २६), कर्मभूमिज और भोगभूमिज ये मनुष्योंके दो भेद (नि. गा. १६) इसीमें उपलब्ध हैं । पंचास्तिकायमें द्रव्य, सत्ता, गुण, पर्याय (गा. १२, १३), स्वदेह-प्रमिति जीव (गा. ३३), त्रिविध (कर्म, कर्मफल और ज्ञान) चेतना (गा. ३८), शब्दकी पौद्गलिकता (गा. ७९), छह द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व (गा. १०२, १०८) विवेचित हैं । स्कन्धोंके बादरबादर आदि ६ (पंचा. ७६) और पुद्गलके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु (पं. गा. ७४) इन चार भेदों आदिका विमर्श अद्वितीय है ।

अध्यात्म-विवेचनमें कुन्दकुन्दने जो निश्चय और व्यवहारनयोंका अवलम्बन लिया है वह भी उनकी प्राकृत-वाङ्मयकी अपूर्व विचारणा है । इन नयोंकी प्ररूपणा हमें इससे पहलेके साहित्यमें नहीं मिलती । व्यवहार और निश्चय द्विविध मोक्षमार्गोंकी प्रकल्पना (पंचा. गा. १६०, १६१), सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका निरूपण (स. सा. गा. २२९-२३६) अणुमात्र राग रखनेवाला सर्वशास्त्रज्ञ भी स्वसमयका ज्ञाता नहीं हो सकता (पंचा. १६७), जीवको सर्वथा कर्मबद्ध अथवा कर्म-अबद्ध बतलाना नयपक्ष (एकान्तवाद) है और दोनोंका ग्रहण करना समयसार है (स. सा. १४१-१४३), पुण्य और पाप दोनों उसी तरहके बन्धन हैं जिस प्रकार लोहे और सोनेकी बेड़ियाँ (स. सा. १४५, १४६), तीर्थंकर भी यदि वस्त्रधारी हो तो सिद्ध नहीं हो सकता (दं. पा. २३), चारित्रहीन भी निर्वाण पा सकता है. पर दर्शनहीन नहीं (दं. पा. ३२) आदि सैद्धान्तिक चिन्तना भी कुन्दकुन्दके प्राकृत-वाङ्मयकी अपूर्व देन है । उल्लेखनीय है कि कुन्दकुन्दके वाङ्मयने जो दृष्टि प्रस्तुत की वह उत्तरकालीन ग्रन्थकारों द्वारा आदृत एवं पुष्ट हुई है । ज्ञात होता है कि इसीसे कुन्दकुन्दको सर्वाधिक सम्मान मिला और मूलसंघके नायक माने गये ।

४. लोककल्याणी दृष्टि

कुन्दकुन्दके प्राकृत वाङ्मयकी जो अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है वह है उसकी लोककल्याणी-दृष्टि अथवा सर्वोदयका उद्देश्य। लोक (मानवमात्र) को यह मार्गदर्शन करना—बताना उसका मुख्य प्रयोजन है कि वह यह अनुभव करे कि वह विविध दुःखों एवं अभावोंसे पीड़ित है और बन्धनमें बद्ध है। तथापि वह उन दुःखों एवं बन्धनसे मुक्त हो सकता है और शाश्वत सुख एवं स्वतन्त्रताको प्राप्त कर सकता है। समयसार-का आरम्भ करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'लोगोंको विषयभोगों और स्तुति-निन्दाकी कथा बहुत रुचिकर (प्रिय) लगती है, क्योंकि उसे उन्होंने अनेक बार सुना है, अनुभव किया है और रात-दिन उसीके चक्करमें रहते हैं। परन्तु शुद्ध चिदानन्द आत्माकी चर्चा न कभी सुनी, न अनुभव की और न सत्संगतिसे उसका परिचय ही पाया। अतः मैं अनुभव, तर्क और शास्त्राभ्यासद्वारा प्राप्त सम्पूर्ण शक्तिसे उस चिदानन्द आत्माका लोगोंको दर्शन करानेका प्रयास करूँगा।' उनके इस प्रतिज्ञा-वचनसे उनकी दृष्टि लोक-कल्याणके लिए कितनी छटपटा रही है, यह सहज ही विदित हो जाता है। एक जगह तो वे कह उठते हैं कि 'कल्याणका ठेका उच्च कुल या उच्च जातिवालोंने ही नहीं लिया है क्योंकि न देह, न कुल और न जाति वन्दनीय है, वन्दनीय हैं गुण। वे जहाँ हैं वह वन्दनीय है और गुणका विकास प्रायः सभी मनुष्योंमें सम्भव है। (दं. पा. २७)।

आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण

आचार्य गृद्धपिच्छका तत्त्वार्थसूत्र

आचार्य गृद्धपिच्छका, जिन्हें उमास्वामी और उमास्वाति भी कहा जाता है, 'तत्त्वार्थसूत्र' जैन परम्पराका एक विश्रुत और मान्य ग्रन्थरत्न है। यह संस्कृत-भाषामें रचित धर्म और दर्शन दोनोंकी एक अनुठी गद्यसूत्र-रचना है। इसका जैन साहित्य और शिलालेखोंमें तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र, तत्त्वार्थाधिगम, मोक्षशास्त्र, निःश्रेयसशास्त्र जैसे अनेक नामोंसे उल्लेख हुआ है। इसमें मोक्ष, मोक्षमार्ग, तत्त्वार्थ और तत्त्वार्थाधिगमोंका प्रतिपादन किया गया है। अतः इसका उपर्युक्त नामोंसे व्यवहार होना स्वाभाविक है। इसके सूत्र नपे-तुले, अर्थगर्भ, गम्भीर और बड़े विशद हैं। इसपर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके आचार्योंने अनेकों टीकाएँ लिखी हैं और इसे बहु मान दिया है। इन टीकाओंमें कई टीकाएँ तो इतनी विशाल और गम्भीर हैं कि वे स्वतन्त्र ग्रन्थकी योग्यता रखती हैं।

तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण

प्रस्तुतमें विचारणीय है कि इस महान् सूत्रग्रन्थके आरम्भमें उसके कर्ता द्वारा निबद्ध कोई मंगलाचरण है या नहीं? यदि है तो वह कौन-सा है? इस विषयमें विद्वानोंमें मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि इसके आदिमें आप्त-स्तुतिके रूपमें शास्त्रकारकृत कोई मंगलाचरण नहीं हैं—उसके बिना ही यह शास्त्र रचा गया है। दूसरे अनेक विचारकोंका स्पष्ट मत है कि उसके प्रारम्भमें सूत्रकार-रचित मंगलाचरण है और वह निम्न प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभूताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

जो विद्वान् इस पद्यको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं मानते वे इसे आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिका, जो तत्त्वार्थसूत्रकी आद्य व्याख्या है और जिसे 'तत्त्वार्थवृत्ति' कहा जाता है, मंगलश्लोक बतलाते हैं। इसके समर्थनमें वे निम्न युक्तियाँ प्रस्तुत करते और उन पर बल देते हैं—

(१) आचार्य विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री दोनों ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें वर्णित आप्तस्वरूपके परीक्षणके लिए बनाये हैं और यह सत्य है कि उक्त मंगलपद्य सर्वार्थसिद्धिके आरम्भमें उसके मंगलाचरण-के रूपमें पाया जाता है। आप्तपरीक्षाके 'प्रोत्थानारम्भकाले....' (का. १२३) और

१. न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमार जैन, वाराणसी, 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' शीर्षक लेख, जैन सिद्धान्त भास्कर, जून १९४२। (मुख्यतः इसी लेखके उत्तरमें यह उत्तर-लेख लिखा गया।

अष्टसहस्रीके 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंक्रियते मयाऽस्य' (पृ. १) उल्लेखोंसे निम्न तीन सूचनाएँ मिलती हैं—

(क) आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोकमें वर्णित आप्तकी परीक्षाके लिए लिखे गये हैं ।

(ख) इसी श्लोकमें वर्णित आप्तकी मोमांसा स्वामी समन्तभद्रने अपनी आसमीमांसामें की है ।

(ग) यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बताते समय या उसकी अवतरणिका—भूमिका बाँधते समय शास्त्रकारने बनाया है ।

तीसरी बातसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस शास्त्रकारने तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बताया या उसकी उत्थानिका—भूमिका या अवतरणिका बाँधी, उसी शास्त्रकारने उस भूमिकाके प्रारम्भमें इस मंगल-श्लोकको रचा है । यहाँ यदि यह तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र है तो उसकी उत्पत्तिका निमित्त बतानेवाले या भूमिका—अवतरणिका बाँधनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं । उन्होंने सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें ही तत्त्वार्थसूत्रका निमित्त बताया है और उसी भूमिकाके प्रारम्भमें इस जैन वाङ्मयके अमर रत्नरूप मंगल-श्लोककी रचा है । वस्तुतः यह मंगल श्लोक आचार्य पूज्यपादने ही बनाया है ।

(२) यदि यह मंगल-श्लोक मूलग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्रका हो तो टीकाकारों—पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द जैसे मूर्धन्य व्याख्याकारों द्वारा उसकी व्याख्या क्यों नहीं की गयी ?

(३) यद्यपि विद्यानन्दने इस मंगल श्लोकको आप्तपरीक्षा (पृ. १२) में सूत्रकारकृत और उसीके अन्त (पृ. २६५, श्लोक १२३)में उसे शास्त्रकारकृत कहा है । किन्तु उनके ये सूत्रकार और शास्त्रकार पद तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थशास्त्रके कर्ताके वाचक न होकर सर्वार्थसिद्धिकारके वाचक हैं । "विद्यानन्दकी यह शैली है कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्योंका उल्लेख शास्त्रकार या सूत्रकार शब्दोंसे करते हुए मिलते हैं । उदाहरणार्थ उन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. १८४) में अकलंक-देवका सूत्रकारशब्दसे तथा तत्त्वार्थवार्तिकका सूत्रशब्दसे उल्लेख किया है । आप्तपरीक्षा (पृ. ६४) में ही वे 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' शब्द लिखकर न केवल उमास्वामीको ही सूत्रकार लिखते हैं अपितु 'प्रभृति' शब्दसे अन्य पूज्यपाद आदि आचार्योंका भी सूत्रकार होना सूचित करते हैं । जो विद्यानन्द तत्त्वार्थवार्तिकको सूत्र तथा अकलंकको भी सूत्रकार लिख सकते हैं वे यदि सर्वार्थसिद्धिकारको सूत्रकार लिखते हैं तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि तो राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकके लिए आधारभूत सूचनाकारिणी होनेसे सूत्रकल्प ही है ।'

उक्त युक्तियोंपर विचार :

यहाँपर उक्त युक्तियोंपर विचार किया जाता है—

१. बीर सेवामन्दिर, दिल्ली प्रकाशन, १९४७ ।

२. सनातन जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता प्रकाशन, १९१३ ।

ज्ञात होता है कि विद्यानन्दके उल्लेखों और उनके अभिमतपर गहराईसे ध्यान नहीं दिया गया और न उनके अन्य सन्दर्भ-वाक्योंके प्रकाशमें उन्हें देखा गया है। इसीसे उनके उपर्युक्त पद्य-वाक्योंका अर्थ गलत करके गलत निष्कर्ष निकाला गया है।

आप्तपरीक्षाके 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य । प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ॥' इस वाक्यका सन्दर्भानुसार सीधा अर्थ यह है कि 'जो प्रकृष्ट अथवा महान् रत्नोंके उद्भवका स्थान है उस श्रीमत् तत्त्वार्थशास्त्ररूपी अद्भुत सलिलनिधि (समुद्र) के उत्थानारम्भ-समयमें समस्त पापों अथवा विघ्नोंका नाश करनेके लिए आदरास्पद शास्त्रकारने जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्र रचा...'। इसी तरह अष्टसहस्रीके 'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमोमांसितं कृतिरलंक्रियते मयास्य'—वाक्यका सीधा अर्थ है—शास्त्र (तत्त्वार्थशास्त्र) के अवतार—रचनारम्भसमयमें रची गयी स्तुति ('मोक्ष-मार्गस्य नेतारं' मंगल श्लोक) के विषयभूत आपकी जिसमें मोमांसा की गयी है उस (आपमोमांसा) का अलंकरण (व्याख्यान) करता हूँ ।'

सन्दर्भके अनुसार यहाँ आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्री दोनों स्थलोंमें प्रयुक्त 'तत्त्वार्थशास्त्र' और 'शास्त्र' दोनों पदोंसे विद्यानन्दको आचार्य गृद्धपिच्छका 'तत्त्वार्थसूत्र' शास्त्र विवक्षित है। उसके अतिरिक्त उन्हें अन्य कोई शास्त्र अभिप्रेत नहीं है। यह आप्तपरीक्षाके ही उस पद्यसे भी प्रकट है जो उपर्युक्त 'श्रीमत्तत्त्वार्थ-शास्त्राद्भुत-' आदि (१२३वें) पद्यके अनन्तर दिया गया है और जो ग्रन्थका अन्तिम (१२४वाँ) पद्य है। सुविधाके लिए वह पद्य भी नीचे दिया जाता है—

इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा ।

प्रणीताऽऽप्तपरीक्षेयं कुविवाद-निवृत्तये ॥१२४॥

'इस प्रकार तत्त्वार्थशास्त्रके आदिमें मुनीन्द्र द्वारा रचे गये स्तोत्र (मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्) के व्याख्यानस्वरूप यह आप्तपरीक्षा आप्तविषयक मिथ्यावादों (मान्यताओं) के निरासके लिए रची गयी है ।'

इस पद्यमें प्रयुक्त सभी पद स्पष्ट हैं। 'तत्त्वार्थशास्त्र' पदसे तत्त्वार्थसूत्र, 'मुनीन्द्र' पदसे उसके कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य और 'स्तोत्र' पदसे वही 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल श्लोक, जिसे स्वयं विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा (पृ. १२) के आरम्भमें 'सूत्रकार'के नामसे 'किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्र-काराः प्राहुरिति निगद्यते' शब्दोंके साथ उद्धृत किया है, उन्हें इष्ट है।

'प्रोत्थानारम्भकाले' पदमें आये 'उत्थान' शब्दका अर्थ शब्दकोषोंमें उद्यम (यत्न) और उद्गम (उत्पत्ति) अर्थ तो है, पर भूमिका अर्थ नहीं है। इन दोनों अर्थोंमेंसे यहाँ पर कोई-सा अर्थ ग्रहण करने पर 'प्रोत्थानारम्भकाले' पद का वही

१. (क) उत्थानमुद्गमे तंत्रेऽप्युद्यमे हर्षणे रणे ।—विश्वलोचन कोष ।

(ख) उत्थानमुद्यमे तंत्रे पौरुषे पुस्तके रणे । प्राङ्गणोद्गमहर्षेषु ।—मेदिनी ।

(ग) उत्थानं पौरुषे तंत्रे संनिविष्टोद्गमेऽपि च ।—अमरकोष ।

(घ) Rise, origin, effort, activity (V.S. Apte

अर्थ होता है जो 'शास्त्रावतार' और 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' इन पदोंका है। ये तीनों पद एक ही अर्थके सम्प्रत्यायक हैं—उनका भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं है। 'शास्त्रावतार' पदके अर्थमें कुछ सन्देह हो सकता था, पर विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके आरम्भ (पृ. ३) में अकलंकदेवके 'मंगलपुरस्सर' पदका 'शास्त्रावतारकाल' पर्याय देकर उस सन्देहको भी निरस्त कर दिया है। 'शास्त्रावतार' और 'शास्त्रावतारकाल' दोनों एकार्थक हैं। ऐसी स्थितिमें 'प्रोत्थान' का अर्थ 'शास्त्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलाना' या 'भूमिका बांधना' करना संगत नहीं है। वह किसी भी शब्दकोषमें उपलब्ध नहीं होता। 'शास्त्रावतार' पदका भी अर्थ 'तत्त्वार्थशास्त्रके अवतार—अवतरणिका—भूमिकाके समय किया जाना और पाठकोंसे यह अनुरोध करना कि आप्तपरीक्षाके उपयुक्त अन्तिम (१२४ वें) पद्यमें आये 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पदका भी अर्थ 'तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिकाके प्रारम्भमें' यह करना चाहिए और उस भूमिकाको वह भूमिका प्रकट करना, जो पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि'के आरम्भमें पायी जाती है, युक्त नहीं है, क्योंकि 'प्रोत्थान' और 'अवतार' का भूमिका या भूमिका बांधना अर्थ न शब्दकोषों में मिलता है और न वह विद्यानन्दको अभिप्रेत है। उन्हें उक्त तीनों पदोंका अर्थ 'तत्त्वार्थशास्त्रके आरम्भमें' यही अभीष्ट है। अतः 'सर्वार्थसिद्धि'के आरम्भमें उपलब्ध तत्त्वार्थशास्त्रकी उत्पत्तिबोधक भूमिका' रूप अर्थ विद्यानन्दके ग्रन्थ-सन्दर्भों एवं अभिप्रायके सर्वथा विपरीत है।

इस प्रसंगमें एक बात बड़ी उपहासास्पद कही गयी है कि 'प्रोत्थानारम्भकाले' पदका जो अर्थ 'तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाली सर्वार्थसिद्धिकी भूमिका' सुझाया है उसी अर्थमें उक्त 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पद प्रयुक्त हुआ है।' इसपर यदि कोई पूछे कि 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पदकी शब्दरचनापरसे तो उक्त अर्थ नहीं निकलता—उसका तो 'तत्त्वार्थशास्त्रकी आदिमें' यही अर्थ है, तो उत्तरमें कहा गया है कि '३२ अक्षरवाले इस छोटे-से श्लोकमें अधिककी गुंजाइश नहीं है।' इसपर प्रश्न है कि क्या विद्यानन्दको अपना अन्तिम वक्तव्य उस ३२ अक्षरवाले अनुष्टुप् छन्दमें ही देनेके लिए कोई बाध्यता थी, जिसमें वे अपने आशयको पूरी तरह व्यक्त भी न कर सकें? यदि नहीं, तो अधिक अक्षरोंवाले बड़े छन्दमें ही १२३वें पद्यकी भांति उन्होंने अपना पूरा आशय क्यों नहीं प्रकट किया? दूसरे, यदि उक्त अर्थ विद्यानन्दको इष्ट होता तो ३२ अक्षरवाले उक्त श्लोकमें भी वे 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पद न देकर 'तत्त्वार्थवृत्त्यादौ' जैसा स्पष्ट पद रखकर उसे प्रकट कर सकते थे। सर्वार्थसिद्धिका दूसरा नाम 'तत्त्वार्थवृत्ति' भी है, जैसा कि उसके पुष्पिका-वाक्यों और अन्तिम पद्योंसे विदित है। परन्तु विद्यानन्दने 'तत्त्वार्थवृत्त्यादौ' पदका प्रयोग न करके 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पदका ही प्रयोग किया है, जो उनके अभिप्रायका सूचक है और 'प्रोत्थानारम्भकाले' तथा 'शास्त्रावतार' जैसे उनके दूसरे पदोंपर भी प्रकाश डालता है।

१. "....सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिर्ह्युपात्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या ॥१॥

तत्त्वार्थवृत्तिमुदितां विदिताथतत्त्वाः शृण्वन्ति ये परिपठन्ति...।—स. सि. १०-९; पृ. ४७४, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण।

विद्यानन्दका अभिमत

अब हम विद्यानन्दके ही ग्रन्थोंसे कुछ ऐसे उल्लेखोंको प्रस्तुत करते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि वे “मोक्षमार्गस्य नेतारम्” मङ्गलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण मानते हैं, सर्वार्थसिद्धिका नहीं।

(अ) “कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं तस्य श्लोकवार्तिकं वा तद्व्याख्यानं वा, येन तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत्, तल्लक्षणयोगत्वात् । वर्णात्मकं हि पदं पदसमुदायविशेषः सूत्रं सूत्रसमूहः प्रकरणं प्रकरणसमितिराह्निकं आह्निक-संधातोऽध्यायः अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम् । तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तीति शास्त्रं तत्त्वार्थः ।....प्रसिद्धे च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वे तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव तदर्थत्वात् । वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं च प्रसिद्धं तत्कथमन्यार्थं भवेत् । तदनेन तद्व्याख्यानस्य शास्त्रत्वं निवेदितम् ।....ततस्तदारम्भे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम् ।”—त. श्लो. पृ. २।

यहाँ तत्त्वार्थ, उसके श्लोकवार्तिक और उसके व्याख्यान (भाष्य) तीनोंमें शास्त्रका लक्षण पाये जानेसे उन्हें शास्त्र सिद्ध करके उनके आरम्भमें परमेष्ठिगुण-स्तवनके विधानको युक्त बतलाया गया है। विचारनेकी बात है कि यदि दशाध्यायी-रूप तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) के आरम्भमें परमेष्ठिका गुणस्तवन न किया गया होता तो विद्यानन्द उसके आरम्भमें ‘तदारम्भे युक्तं परापरगुरुप्रवाहस्याध्यानम्’ शब्दों द्वारा उसके किये जानेका औचित्य क्यों प्रदर्शित करते और क्यों उसके आधारपर श्लोकवार्तिक तथा उसके व्याख्यानके आरम्भमें किये गये अपने ‘श्रीवर्धमानमाध्याय’ आदि परमेष्ठिगुणस्तोत्रको भी युक्त बतलाते ? अतः इस उल्लेखसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विद्यानन्द तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें मंगलाचरण मानते हैं।

(आ) अब विचारणीय है कि वह मंगलाचरण उन्हें कौन-सा इष्ट है ? इस विषयमें उन्होंने अपने अभिमतको निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।

सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥२॥

सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।

श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिभम् ॥३॥

—त. श्लो. पृ. ४

यहाँ तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रको सोपपन्न प्रकट करनेके लिए प्रथम पद्यवार्तिक द्वारा बतलाया है कि मुनीन्द्र (तत्त्वार्थसूत्रकर्ता) ने मोक्षमार्गप्रवक्ताकी ‘प्रबुद्धाशेष-तत्त्वार्थ’, ‘प्रक्षीणकल्मष’ और ‘मोक्षमार्गनेता’ इन तीन विशेषणोंसे संस्तुति की है, जिससे उसकी सिद्धि होती है। यदि मोक्षमार्गप्रवक्ता (आप्त) न होता तो वे उसकी संस्तुति क्यों करते ? यतः उन्होंने उक्त विशेषणोंसे उसकी संस्तुति की है, अतः मोक्षमार्गप्रवक्ता सिद्ध है। दूसरे पद्यवार्तिक द्वारा उन्होंने यह कहा है कि मुमुक्षु आत्मा (प्रतिपाद्य) की मोक्षविषयक जिज्ञासा भी सिद्ध है। इस प्रकार मोक्षमार्ग-प्रवक्ता तथा प्रतिपाद्य-जिज्ञासा दोनोंका सद्भाव सिद्ध होनेसे प्रथम सूत्रका अवतरण (रचा जाना) उचित एवं निर्बाध है। विद्यानन्दके इस प्रतिपादनसे स्पष्ट विदित

होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें उसके कर्तानि परमेष्ठीकी संस्तुतिरूप मंगलाचरण किया है। जिन विशेषणों द्वारा विद्यानन्दने मोक्षमार्ग-प्रवक्ता (आप्त) को मुनीन्द्र-संस्तुत्य प्रकट किया है उन्हीं विशेषणों द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोक-में परमेष्ठी (आप्त) का संस्तवन अभिहित है। अतः 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'प्रक्षीण-कल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य नेतरि' ये तीन विशेषण 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल श्लोकके 'ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां', 'भेत्तारं कर्मभूभूताम्' और 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इन तीन विशेषणोंके क्रमशः स्मारक हैं या उनकी ही सूचनार्थ वे दिये गये हैं। अतएव उक्त प्रतिनिधि-पदों तथा 'मुनीन्द्रसंस्तुत्ये सिद्धे' पदोंके प्रयोगसे स्पष्ट अवगत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें मंगलाचरण किया गया है और वह मंगलाचरण विद्यानन्दको 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोक अभिमत है।

(इ) अष्टसहस्रीगत निम्न उल्लेख भी इस प्रसंगमें यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें तत्त्वार्थशास्त्रको निःश्रेयसशास्त्र (मोक्षशास्त्र) बतालाते हुए उसके आरम्भमें स्तुत आप्तके लिए उन्हीं विशेषणोंका उसी क्रमसे उपादान है जिनका जिस क्रमसे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकमें निर्देश है—

(१) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभूतृतया विश्व-तत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवत्सर्वज्ञस्यैवान्यव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।'

—अष्टस. पृ. २९४।

(२) तदेवेदं निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मङ्गलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन.....'

—अष्टस. पृ. ३

इन दोनों ही उल्लेखोंमें तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें मंगलाचरणके किये जाने और उस मंगलाचरणके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलस्तोत्रके होनेका स्पष्ट निर्देश।

(ई) आप्तपरीक्षाके भी निम्न उल्लेख उक्त तथ्यकी पुष्टि करते हैं—

(१) इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः।

(२) किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभूताम्।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

—(आप्तप. पृ. २, १२)

(३) '....इति मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभूतां ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां भगवन्तमहन्तमेवान्ययोगव्यवच्छेदेन निर्णीतमहं वन्दे तद्गुणलब्ध्यर्थमिति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः, प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीसमन्त-भद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमोमांसायां प्रकाशनात्। देवागम-तत्त्वार्थालङ्कार-विद्या-नन्दमोहोदयेषु च तदन्वयस्य [अस्माभिः] व्यवस्थापनात्....।'

—आप्तप. श्लो. १२०, पृ. २६१, २६२; वीरसेवामन्दिर प्रकाशन।

आप्तपरीक्षाके ये उल्लेख स्पष्टतया उक्त बातके समर्थक हैं। यहाँ प्रथम उल्लेखमें विद्यानन्दको 'शास्त्र' शब्दके प्रयोगसे तत्त्वार्थशास्त्र तथा 'मुनिपुङ्गव' पदसे तत्त्वार्थसूत्रकार अभिप्रेत हैं।

दूसरे उल्लेखमें उन्होंने प्रश्नोत्तरपूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलस्तोत्रको 'सूत्रकारकृत' बतलाया है। और ये सूत्रकार वे ही सूत्रकार हैं, जिनके सूत्रोंको उन्होंने अपने सभी ग्रन्थोंमें 'सूत्रकार' के नामसे 'सूत्रकारमतम्' (आप्त प. पृ. ६), 'सूत्रकारवचनात्' (आप्त प. पृ. २४२), 'इत्याह सूत्रकारः' (त. श्लो. पृ. १८२), 'निरासायाह सूत्रकृत्' (त. श्लो. पृ. ९१), 'सूत्रकारेण "सूत्रितम्"' (त. श्लो. पृ. ११२), 'सूत्रकारोऽत्र...ब्रवीति' (त. श्लो. ८३), 'सूत्रकारोदित' (अ. स. पृ. २६७), 'इति सूत्रकारैः' (अ. स. पृ. २८१), 'सूत्रकारवचनात्' (अ. स. पृ. २८१) जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। सर्वार्थसिद्धिके किसी वाक्यको सूत्र और उसके कर्ताको सूत्रकार अपने किसी भी ग्रन्थमें उन्होंने नहीं कहा।

तीसरे उद्धरणमें आप्तपरीक्षामें उक्त मंगल-श्लोककी ही संक्षेपमें परम्परानुसृत अथवा पदार्थघटना (शब्दार्थ) रूप व्याख्या करनेका निर्देश किया है और यह भी सूचित किया है कि उसका विस्तारसे प्रश्नोत्तररूप व्याख्यान समन्तभद्रस्वामीने देवागम (आप्तमीमांसा) में तथा हमने देवागमालंकार, तत्त्वार्थालंकार और विद्यानन्दमहोदयमें किया है।

विद्यानन्दका यह सब प्रतिपादन बतलाता है कि उक्त मंगल-श्लोक उन्हें तत्त्वार्थसूत्रका ही मंगलाचरण मान्य है।

ध्यान रहे, प्रथम युक्तिके अन्तर्गत उसपरसे जिन तीन सूचनाओंको फलित किया गया है उनमें प्रथमकी दो सूचनाओंके विषयमें किसीको विवाद नहीं है। आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल-श्लोकमें स्तुत आप्तकी परीक्षाके लिए लिखे गये हैं तथा उसीकी मीमांसाके लिए स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसा रची है, इन दोनों बातोंको हम भी मानते हैं। अतः उनपर विचार न करके केवल तीसरी सूचनापर ही ऊपर विस्तृत चिन्तन किया गया है।

(२) अब दूसरी युक्तिपर विचार किया जाता है—

(क) यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारों—पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दने अपनी टीकाओं—तत्त्वार्थवृत्ति, तत्त्वार्थवार्त्तिक और तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिकमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल श्लोककी पदार्थघटनारूप व्याख्या नहीं की। परन्तु उससे यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस कारण वह तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं है। सच तो यह है कि मंगलाचरण ग्रन्थकर्ताकी एक श्रद्धा है, जो उसकी आस्तिकताका सूचक होता है। वह ग्रन्थान्तके प्रशस्ति-पद्यकी भांति ग्रन्थका अन्तरंग भाग नहीं होता। विवेच्य (वर्ण्य) विषय जहाँसे आरम्भ होता और जहाँ समाप्त होता है वही मूल-ग्रन्थ कहलाता है। अतः व्याख्याकारको मूल ग्रन्थकी ही व्याख्या करना आवश्यक है। भले ही वह मूल ग्रन्थके भी किसी पद-वाक्यादिको सुगम कहकर अभ्याख्यात छोड़ दे। किन्तु मंगलाचरण और प्रशस्ति पद्यकी व्याख्या करना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। यह दूसरी बात है कि कुछ व्याख्याकार उनकी भी व्याख्या कर देते हैं। यहाँ कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हैं, जिनमें व्याख्याकारने मूल ग्रन्थकी ही व्याख्या की है, मंगलाचरणकी नहीं—

(१) श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध 'कर्मस्तव' और 'षडशीति' नामके द्वितीय एवं चतुर्थ कर्मग्रन्थोंमें मंगलाचरण किया गया है। परन्तु उनके भाष्योंमें मूलके

मंगलाचरणपर कुछ भी नहीं लिखा गया—उसका व्याख्यान करना तो दूर रहा, उसके पदोंका निर्देश तक भी नहीं किया गया है।

(२) श्वेताम्बर परम्परामें ही प्रसिद्ध तत्त्वार्थधिगमसूत्रका जो स्वोपज्ञभाष्य है उसमें उन ३१ कारिकाओंका कोई भाष्य नहीं है जो मूल ग्रन्थके साथ सम्बद्ध हैं और उसके आरम्भमें निबद्ध हैं तथा जिनमें मंगलाचरण और ग्रन्थ-प्रतिज्ञाकी कारिकाएँ भी हैं। ऐसा भी नहीं कि स्वोपज्ञ भाष्य अथवा टीका होनेसे मंगलाचरणके पद्योंकी स्वयं कर्त्ताद्वारा टीका न की जाती हो; क्योंकि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणका जो 'जीतकल्पसूत्र' है उसकी स्वोपज्ञ टीकामें गणीजीने उसके मंगलाचरणकी स्वयं व्याख्या की है। इसी तरह १३वीं शताब्दीके पं. आशाधरजीने 'धर्माभूत' की स्वोपज्ञ टीकामें मूलके मंगलपद्योंकी व्याख्या की है, उन्हें छोड़ा नहीं है।

अतः मंगलाचरणकी व्याख्या करना या न करना व्याख्याकारोंपर निर्भर है, वे उसके लिए बाध्य नहीं हैं।

(ख) दूसरी बात यह है कि सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण अपना लेनेसे उसमें उसके कर्त्ता द्वारा उसकी व्याख्या करना आवश्यक नहीं रहा। दूसरेके मंगलाचरणको अपनानेकी बात भी नयी नहीं है। महाकम्मपयडोपाहुडके 'णमो जिणार्ण' आदि ४४ मंगलसूत्रोंकी वेदनाखण्डमें अपनाया गया और 'णमो अरहंताण' आदिरूपसे जो णमोकारमंत्र षट्खण्डागम, भगवतीसूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध और जीवाभिगम आदि सूत्रग्रन्थोंका मंगलाचरण बना हुआ है, उसे भी किसीने किसीपरसे अपनाया है—उसका कर्त्ता तो एक ही होगा। इसी प्रकार दिगम्बर प्राकृत पंचसंग्रहके बन्धोदयसत्त्वाधिकार और श्वे. कर्मस्तवका भी मंगलाचरण एक है। वह किसी एकके द्वारा रचा गया और दूसरेके द्वारा अपनाया गया है। अतः सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणको अपना लेनेसे उसकी व्याख्या नहीं की गयी है।

(ग) तत्त्वार्थवार्त्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक ये दोनों वार्त्तिकग्रन्थ हैं और वार्त्तिकग्रन्थोंमें वार्त्तिकके लक्षणानुसार सूत्रोंकी ही अनुपपत्तिका प्रदर्शन, उसका परिहार और सूत्रसम्बन्धी विशेष कथन होता है। जैसा कि विद्यानन्दके श्लोकवार्त्तिकगत वार्त्तिकलक्षणसे अवगत होता है—

‘वार्त्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम्’

—त. श्लो. पृ. २।

ऐसी दशामें वार्त्तिकग्रन्थोंमें सूत्रोंकी ही व्याख्या आवश्यक है, मंगलाचरण, प्रशस्तिपद्य आदिकी नहीं, जो प्रायः सूत्र-ग्रन्थके मूल नहीं होते। और जब वार्त्तिकग्रन्थोंके लिए उनकी व्याख्या आवश्यक नहीं तो उनके भाष्योंके लिए वह आवश्यक कैसे हो सकती है, क्योंकि वे वार्त्तिकानुसारी ही होते हैं। अतः तत्त्वार्थवार्त्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें भी यदि मंगलाचरणकी पदाथ्यघटनारूप व्याख्या उपलब्ध न हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

(घ) इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थवृत्ति(सर्वार्थसिद्धि), तत्त्वार्थवार्त्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक इन तीनों तत्त्वार्थसूत्रकी व्याख्याओंसे पहले आ. समन्तभद्र उक्त मंगलाचरणपर आक्षेप-समाधानात्मक विश्रुत व्याख्या—आप्तमोमांसा लिख चुके थे, जिसका उल्लेख अकलंक और विद्यानन्दने किया है। अष्टशतीके आरम्भ (पृ. १) में

अकलंकने 'देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षि-
पतैव' शब्दों द्वारा और विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके मंगलपद्यमें 'शास्त्रावताररचितस्तुति-
गोचराप्तमीमांसितं कृतिरलंकृत्यते मयाऽस्य' पदों द्वारा प्रकट किया है कि आप-
सीमांसा उसी आप्तके विशेषणोंके व्यतिरेक-व्याख्यानमें लिखी गयी है जिसकी उन
विशेषणों द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवमें संस्तुति की गयी है। अतः इन
व्याख्याकारोंको उसकी व्याख्या करना आवश्यक नहीं रहा। फिर विद्यानन्दने तो यह
भी सूचित किया है कि उनकी अष्टसहस्री भी, जो आपसीमांसाकी अलंकृति है, उसी
मंगलश्लोकके व्याख्यानमें रचित है। आप्तपरीक्षा (पृ. २६१, २६२, २६५)में भी सूचना है
कि वह भी आप्तमीमांसाकी तरह उक्त मंगलश्लोककी व्याख्या है। साथ ही यह भी
निर्देश है कि उसकी विशेष स्थापना (व्यवस्था) देवागमालंकार, तत्त्वार्थालंकार और
विद्यानन्दमहोदयमें की है। इससे यह भी सिद्ध है कि उक्त मंगलस्तोत्रकी व्याख्या
तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें भी की गयी है। व्याख्याका अर्थ केवल शब्दार्थ ही नहीं है,
अपितु उसमें प्रतिपादित आप्तगुणोंकी परीक्षाद्वारा व्यवस्था करना भी है और वह
व्याख्या आप्तमीमांसा, अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाकी भाँति तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक-
में भी उपलब्ध है। अतः व्याख्याकारों द्वारा मंगलाचरणकी व्याख्या न होनेका प्रश्न
उठाकर उसे तत्त्वार्थसूत्रका मंगलश्लोक न मानने और सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण
सिद्ध करनेका प्रयास तथ्यपूर्ण नहीं है।

(ङ) प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मूढन्य व्याख्याकारों द्वारा उक्त मंगलस्तोत्र-
की शब्दार्थरूप व्याख्या न किये जानेसे उत्तरकालमें जब उसके कर्तृत्व-विषयमें सन्देह
उठने लगा तो उत्तरवर्ती तत्त्वार्थसूत्र-व्याख्याताओंने अपनी व्याख्याओंमें उसकी
शब्दार्थरूप व्याख्या भी निबद्ध की है। बालचन्द्र, योगदेव, भास्करानन्दी, श्रुतसागर
आदिकी तत्त्वार्थसूत्र-टीकाओंमें उक्त मंगलश्लोककी व्याख्या सुस्पष्टतया मिलती है,
जो शब्दार्थरूप ही है और इन सभी टीकाकारोंने उसे सूत्रकारकृत बतलाया है।

(३) अब तीसरी युक्ति विचार-प्राप्त है। इस युक्तिका आधार विद्यानन्दके
दो उद्धरण बतलाये गये हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) तेनेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणमित्येतत् सूत्रोपात्त-
मुक्तं भवति । ततः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा । द्रव्यपर्यायसामान्य-
विशेषार्थात्मवेदनम् ॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने ।—त. श्लो. पृ. १८४ ।

(२) तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः ।—आ. प. पृ. ६४ ।

इन उद्धरणोंको प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि प्रथम उद्धरणमें 'इन्द्रिया-
निन्द्रियानपेक्ष' आदि वाक्य तत्त्वार्थवार्त्तिकका है, जिसे विद्यानन्द 'इत्येतत् सूत्रोपात्तं'
शब्दोंके द्वारा 'सूत्र' बतलाते हैं तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' श्लोक न्यायविनिश्चय
(पृ. ३) का है, जो अकलंकरचित है और जिन्हें विद्यानन्दने 'सूत्रकाराः' पदके प्रयोग
द्वारा 'सूत्रकार' कहा है। इसी प्रकार द्वितीय उद्धरणमें उमास्वामीके साथ 'प्रभृति'
शब्दसे उन्होंने पूज्यपाद आदि आचार्योंको भी सूत्रकार होना सूचित किया है। इस
तरह विद्यानन्द जब तत्त्वार्थवार्त्तिकको 'सूत्र' और अकलंकको 'सूत्रकार' कह सकते
हैं तो सर्वार्थसिद्धिको, जो तत्त्वार्थवार्त्तिकके लिए सूत्रकल्प ही है, 'सूत्र' और सर्वार्थ-

सिद्धिकार पूज्यपादको 'सूत्रकार' लिख हो सकते हैं ।

विद्यानन्दकी दृष्टिमें सूत्र और सूत्रकार तथा शास्त्रकार :

(१) अब देखना है कि उक्त उद्धरणोंमें प्रयुक्त 'सूत्र' और 'सूत्रकार' पदोंका वाच्य विद्यानन्दको क्या अभिप्रेत है ? क्या उन्होंने तत्त्वार्थवार्त्तिकको सूत्र और अकलंकको सूत्रकार कहा है ? यहाँ उसीकी जाँच की जाती है—

लगता है कि उक्त उद्धरणोंको देते हुए उन्हें ध्यानसे नहीं पढ़ा गया और इसीसे बहुत भारी भ्रान्ति हुई है । यथार्थमें प्रथम उद्धरणमें आये 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्द क्रमशः तत्त्वार्थवार्त्तिक और अकलंकके लिए प्रयुक्त नहीं हुए । अपितु उनका प्रयोग तत्त्वार्थ सूत्र और उसके कर्त्ता उमास्वामी—गृद्धपिच्छाचार्यके लिए हुआ है । इसका खुलासा इस प्रकार है—

तत्त्वार्थसूत्रकारने 'आद्ये परोक्षम्' [त. सू. १-११]—'आदिके दो ज्ञान (मति और श्रुत) परोक्ष हैं' इस सूत्रके द्वारा परोक्ष प्रमाणका लक्षण अभिहित किया है । इसके अनन्तर ही 'प्रत्यक्षमन्यत्' [त. सू. १-१२]—'अन्य तीन ज्ञान (अवधि, मनः-पर्यय और केवल) प्रत्यक्ष हैं' इस सूत्र द्वारा उन्होंने प्रत्यक्षका लक्षण प्रतिपादित किया है । अकलंकदेवने इसी सूत्रोक्त प्रत्यक्षलक्षणको तत्त्वार्थवार्त्तिकके उपर्युक्त 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्' [त. वा. १-१२-१] इस वार्त्तिक द्वारा अनूदित तथा स्पष्ट किया है । इसपर शंका की गयी कि वार्त्तिकगत प्रत्यक्षलक्षण सूत्रोक्त प्रत्यक्षलक्षणसे विरुद्ध है, क्योंकि वार्त्तिकके प्रत्यक्षलक्षणमें इन्द्रिय-अनिन्द्रियकी अनपेक्षा, व्यभिचाररहितता और साकार-ग्रहणत्व इन तीन विशेष बातोंका उल्लेख है, जो सूत्रकथित प्रत्यक्षलक्षणमें उपलब्ध नहीं हैं ? इस शंकाका समाधान स्वयं अकलंकदेवने इसी सूत्र-व्याख्यामें किया है । वह समाधान शंका-सहित नीचे उद्धृत है—

‘किं गतमेतद्विद्यता सूत्रेण, आहोस्विदेवं वक्तव्यमिति ? गतं प्रतिपन्नम् । कथमिति चेत्, उच्यते । अक्षं प्रति नियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः ॥२॥ अक्षोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष आत्मा, प्रापक्षयोपशमः प्रक्षोणावरणो वा, तमेव प्रति नियतं प्रत्यक्षमिति विग्रहात् परापेक्षानिवृत्तिः कृता भवति । अधिकारात् अनाकार-व्यभिचारव्युदासः ॥३॥ अधिकृतमेतत्—‘ज्ञानं सम्यक्’ इति च, ततोऽनाकारस्य दर्शनस्य व्यभिचारिणो ज्ञानस्य च व्युदासः कृतो भवति ।’

यहाँ वार्त्तिकगत लक्षणको सूत्रोक्त लक्षणसे अविरुद्ध सिद्ध करते हुए बतलाया गया है कि 'अक्षं प्रति नियतम्' ऐसा प्रत्यक्षपदका विग्रह होनेसे उसके द्वारा सूत्रकारने अक्ष अर्थात् आत्मा और आत्माके आश्रित होनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष निरूपित किया है । अतः परापेक्षा—इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षाकी निवृत्ति सूत्रकारको स्वयं अभिप्रेत है । तथा ज्ञान और सम्यक्का अधिकार होनेसे, अनाकार दर्शन और व्यभिचारो ज्ञानका निरास भी उन्हें विवक्षित है । अतः वार्त्तिक द्वारा सूत्रकथित प्रत्यक्षलक्षणका ही अनुवाद किया गया है—दोनों एक ही हैं—वे विरुद्ध नहीं हैं । तात्पर्य यह कि वार्त्तिकगत तीनों बातें मूल सूत्रमें भी निहित हैं ।

अकलंकके तत्त्वार्थवार्त्तिकगत इस प्रत्यक्षलक्षण तथा उन्हींके न्याय-

विनिश्चयमें प्रतिपादित प्रत्यक्षलक्षण दोनोंको सूत्रसंगत बतलाते हुए विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकमें जो अकलंकानुसारी प्रतिपादन किया है उसीका एक अधूरा अंश उक्त उद्धरणमें उद्धृत किया गया है। यहाँ वह पूरा उद्धरण दिया जाता है, जिससे वस्तुस्थितिका सहो आकलन किया जा सकेगा—

‘ज्ञानग्रहणसंबन्धात्केवलावधिदर्शने ।
व्युदस्येते प्रमाणाभिसंबन्धादप्रमाणता ॥
सम्यगित्यधिकाराच्च विभंगज्ञानवर्जनम् ।
प्रत्यक्षमिति शब्दाच्च परापेक्षानिवर्तनम् ॥

न ह्यक्षमात्मानमेवाश्रितं परमिन्द्रियमनिन्द्रियं वापेक्षते, यतः प्रत्यक्षशब्दादेव परापेक्षानिवृत्तिर्न भवेत् । तेन ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्’ इत्येतत् (वार्त्तिकं) सूत्रोपात्तमुक्तं भवति । ततः—

प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमंजसा ।
द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थमवेदनम् ॥
सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने ।
प्रधानगुणभावेन लक्षणस्याभिधानतः ॥

यदा प्रधानभावेन द्रव्यार्थमवेदनं प्रत्यक्षलक्षणं तदा स्पष्टमित्यनेन मतिश्रुत-मिन्द्रियानिन्द्रियापेक्षं व्युदस्यते, तस्य साकल्येनास्पष्टत्वात् । यदा तु गुणभावेन तदा प्रादेशिकप्रत्यक्षवर्जनं तदपाक्रियते, व्यवहाराश्रयणात् । साकारमिति वचनान्निराकार-दर्शनव्युदासः । अंजसेति विशेषणाद्विभंगज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षाभासमुत्सारितम् । तच्चैवविधं द्रव्यादिगोचरमेव नान्प्रदिति विषयविशेषवचनाद्दर्शितम् । ततः सूत्र-वार्त्तिकाविरोधः सिद्धो भवति ।’

इस उद्धरणमें विद्यानन्दने आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रगत प्रत्यक्षप्रतिपादक सूत्र और अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्त्तिकके प्रत्यक्षानुवादक वार्त्तिकमें अविरोध सिद्ध करते हुए बतलाया है कि ‘प्रकृत सूत्र’ में ज्ञानके ग्रहणका सम्बन्ध होनेसे केवलदर्शन और अवधिदर्शनरूप निराकार दर्शनका, ‘प्रमाण’का प्रकरण होनेसे अप्रमाणताका तथा ‘सम्यक्’का अधिकार होनेसे विभंगज्ञानका परिहार सिद्ध है और ‘प्रत्यक्ष’ शब्दके प्रयोगसे परापेक्षा—इन्द्रियानिन्द्रियसहकारिताकी भी निवृत्ति हो जाती है । यह नहीं कि आत्माकी ही अपेक्षासे होनेवाला प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनरूप परको अपेक्षा रखे, जिससे ‘प्रत्यक्ष’ शब्दसे ही उनकी निवृत्ति न हो । अतः ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्’ यह जो ‘प्रत्यक्षमन्यत्’ [त. सू. १-१२] सूत्रका तत्त्वार्थवार्त्तिकगत वार्त्तिक है वह सूत्रोक्तके समर्थनरूपसे ही उक्त हुआ है—सूत्र-कथित प्रत्यक्षलक्षणका ही वह अनुवाद है । और इसलिए ‘द्रव्यपर्याय अथवा सामान्य-विशेषरूप अर्थ एवं आत्माके—स्व-परके—स्पष्ट, साकार और अंजस (सम्यक्) ज्ञान-को सूत्रकारने प्रत्यक्षका लक्षण प्रतिपादित किया है’ यह अकलंकका (उनके तत्त्वार्थ-वार्त्तिक और न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थोंका) आशय है, यह जानना चाहिए, क्योंकि प्रधान और गौणभावसे लक्षणका कथन किया गया है ।’ इसके बाद प्रधान और गौण लक्षणके स्पष्टीकरणके साथ न्यायविनिश्चयगत प्रत्यक्षलक्षणमें प्रयुक्त स्पष्ट, साकार और अंजसा विशेषणोंकी भी सार्थकता प्रदर्शित करते हुए उनकी संगति ‘प्रत्यक्षमन्यत्’

[त. सू. १-१२] सूत्रके व्याख्यानमें रचे अकलंकदेवके ही तत्त्वार्थवार्त्तिकगत उपयुक्त 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' आदि वार्त्तिकके विशेषणोंके साथ बिठलाई गयी है और अन्तमें नतीजा निकालते हुए लिखा है कि—'इससे सिद्ध है कि सूत्र और तत्त्वार्थवार्त्तिकके वार्त्तिकमें कोई विरोध नहीं है।'

इस सारी वस्तुस्थितिपर-से स्पष्ट है कि विद्यानन्दने यहाँ कहीं भी तत्त्वार्थ-वार्त्तिकके लिए 'सूत्र' शब्दका और अकलंकदेवके लिए 'सूत्रकार' शब्दका प्रयोग नहीं किया। 'सूत्रोपात्त' और 'सूत्र-वार्त्तिकाविरोधः' इन दो पदोंमें जो 'सूत्र' शब्दका प्रयोग है वह उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्रके उस १२वें 'प्रत्यक्षमन्यत्' सूत्रके लिए किया गया है जिसके साथ 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' इत्यादि अकलंककृत तत्त्वार्थवार्त्तिकके वार्त्तिकका विरोध-परिहार किया है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः' इत्यादि न्याय-विनिश्चयगत अकलंक-कारिकाकी भी उसके साथ संगति दिखाई गयी है। स्मरण रहे, विद्यानन्दने इस कारिकाको तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकका भी वार्त्तिक बनाकर उसे अपना लिया है। इसमें अकलंकदेव द्वारा प्रयुक्त 'प्राहुः' क्रियापदका कर्ता उनके द्वारा उक्त न होनेसे अध्याहृत था, जिसे विद्यानन्दने अगले पद्यवार्त्तिकमें 'सूत्रकाराः' पद देकर सूचित किया है। और यह 'सूत्रकाराः' पद उन सूत्रकार आचार्य उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त हुआ है जिनके उक्त १२वें सूत्रके साथ अकलंक-वार्त्तिकके विरोधका परिहार किया गया तथा अकलंक-कारिकाकी भी संगति बिठलायी गयी है। इस प्रकार विद्यानन्दने अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्त्तिक और न्यायविनिश्चयगत उक्त दोनों प्रत्यक्ष-लक्षण सम्बन्धी उद्धरणों (वार्त्तिक और कारिका) को प्रस्तुत करके उन्हें आ. गृह-पिच्छके उक्त १२वें सूत्रका अविरोधी बतलाया है। अकलंकदेवने स्वयं तत्त्वार्थवार्त्तिकमें अपने उक्त वार्त्तिकको शंका-समाधानपूर्वक उक्त १२वें सूत्रके साथ संगत एवं उसीका अनुवाद सिद्ध किया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। कारिकामें प्रत्यक्षलक्षणगत जिन 'स्पष्ट, साकार, अंजसा' तीन विशेषणोंका प्रयोग है वे क्रमशः वार्त्तिकके प्रत्यक्ष-लक्षणगत 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष, साकारग्रहण, अतीतव्यभिचार' इन तीन पदोंके ही पर्याय हैं। इसलिए अकलंक द्वारा प्रयुक्त 'प्राहुः' क्रियाका कर्ता स्वयं अकलंक कैसे हो सकते हैं? उसका कर्ता उन्हें वे ही सूत्रकार अभिप्रेत हैं जिनके सूत्रके साथ उन्होंने अपने वार्त्तिक और कारिकाकी संगति बिठाकर उन्हें उसका ही अनुवाद बतलाया है। ऐसी स्थितिमें उक्त अवतरणमें आये 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंका वाच्य क्रमशः तत्त्वार्थवार्त्तिक और अकलंकको बतलाना सर्वथा भ्रमपूर्ण एवं वस्तुस्थितिके प्रतिकूल है।

मालूम होता है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकके उक्त अवतरणमें आये 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंको अकलंकवाक्योंके अनन्तर प्रयुक्त देखने और अवतरणके नीचेके 'ततः सूत्र-वार्त्तिकाविरोधः सिद्धो भवति' इस वाक्यपर दृष्टि न जानेसे ही भ्रम हुआ है और 'सूत्र' एवं 'सूत्रकार' शब्दोंको क्रमशः तत्त्वार्थवार्त्तिक और अकलंकदेवके लिए प्रयुक्त समझ लिया गया है। तथा उसके आधारसे यह व्याप्ति भी बना ली गयी है कि 'विद्यानन्दकी यह शैली है कि वे अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्यको 'सूत्रकार' और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थको 'सूत्र' लिखते हैं।' किन्तु ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दने न अकलंकको सूत्रकार लिखा है और न उनके तत्त्वार्थवार्त्तिको सूत्र।

यहाँ हम विद्यानन्दके ग्रन्थोंके कुछ अवतरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें देखेंगे कि उन्होंने अकलंकदेवका उल्लेख अकलंक नामसे या वृत्तिकार या वार्तिककार आदि रूपसे किया है, 'सूत्रकार' रूपसे नहीं—

(क) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

१. द्वित्वसंख्याविशेषोऽत्राकलंकैरभ्यधायि यः ।—पृ. १८२, वा. १७८ ।
२. श्रुतस्वरूपप्रतिपादकमकलंकग्रन्थमनुवादपुरस्सरं विचारयति ।

पृ- २३९ ।

३. अत्राकलंकदेवाः प्राहुः । —पृ. २३९ ।
४. इति व्याख्यानमाकलंकमनुसर्तव्यम् ।—पृ. २४० ।
५. नाकलंकवचोबाधा संभवत्यत्र जातुचित् ।—पृ. २४१ ।
६. 'श्रुतं शब्दानुयोजनादेव 'इत्यवधारणस्याकलंकाभिप्रेतस्य कदाचिद्विरोधाभावात् ।—पृ. २४२ ।
७. सिद्धे वाऽत्राकलंकस्य महतो न्यायवेदिनः ।—पृ. २७७ ।
८. तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलंकैः कथितो जयः ।—पृ. २८१ ।
९. जातिरकलंकोक्तलक्षणा ।—पृ. ३०९ ।
१०. जातिलक्षणमकलंकप्रणीतमस्तु किमपरेण ।—पृ. ३१० ।

(ख) अष्टसहस्री

१. तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना । पृ—२ ।
२. वृत्तिकारास्त्वकलंकदेवा एवमाचक्षते—। पृ. १०१ ।
३. इति व्याख्यानमकलंकदेवैर्व्यधायि ।—पृ. १३९ ।
४. इति तात्पर्यं व्याख्यानमकलंकदेवानाम् ।—पृ. १५० ।

(ग) प्रमाणपरीक्षा

१. तथा चोक्तं तत्त्वार्थवार्तिककारैः 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतो-
व्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षमिति ।—[१-१२] पृ. ३८ ।
२. तत्त्वार्थवार्तिककारैरभिधानात् ।—पृ. ४१ ।
३. तदुक्तमकलंकदेवैः [लघी० १-३]—पृ. ४२ ।

(घ) पत्रपरीक्षा

१. श्रीमदकलंकदेवस्य प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं....।—पृ. ४ ।
२. अकलंकवचो यद्वत् ।—पृ. ५ ।

(ङ) आप्तपरीक्षा

१. तथा चोक्तमकलंकदेवैः....।—पृ. १९८ ।

(च) युक्त्यनुशासनटीका

१. प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गीति
वार्तिककारवचनात् ।—पृ. १०७ ।

इन अवतरणोंमें विद्यानन्दने अकलंकदेवके वचनोंको उनके नामसे या वृत्तिकार और तत्त्वार्थवार्तिककार या वार्तिककारके नामसे ही उद्धृत किया है, 'सूत्रकार' नामसे उनके एक भी वचनका उल्लेख नहीं किया । इस प्रकार विद्यानन्दकी शैलीको

प्रदर्शित करनेके लिए दिया गया उपर्युक्त उदाहरण सवथा असिद्ध एवं भ्रान्त है।

(२) अब रह जाती है, आप्तपरीक्षाटीकाके 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामि-प्रभृतिभिः' इस उल्लेखमें प्रयुक्त हुए 'प्रभृति' शब्दसे अन्य पूज्यपाद आदि आचार्योंको सूत्रकार सूचित करनेकी बात, वह भी नहीं बनती; क्योंकि यह पंक्ति हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है, केवल मुद्रित दोनों (काशी और बम्बईकी) प्रतियोंमें मिलती है, जो न आवश्यक है और न युक्त। 'प्रभृति' शब्दका औचित्य तभी सम्भव था जब 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः' पाठ न होकर 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' पाठ होता। सोचनेकी बात है कि एक तत्त्वार्थसूत्रके, जो केवल आचार्य गृद्धपिच्छ अपर-नाम उमास्वामी रचित है, उमास्वामी आदि अनेक कर्ता कैसे हो सकते हैं? अतः यदि किसी प्रतिमें उक्त पंक्ति हो भी तो उसका शुद्ध रूप या तो 'तत्त्वार्थसूत्रकारा-दिभिः उमास्वामिप्रभृतिभिः' यह होना चाहिए और या 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वा-मिभिः' यह होना उचित है। उसमें 'प्रभृति' शब्द, जो संगत नहीं है, किसी लेखककी असाधवानी या भूलसे जुड़ गया जान पड़ता है। इन सुझाये दोनों रूपोंसे 'सूत्रकार' शब्दका वाच्य उमास्वामी ही सिद्ध होते हैं, पूज्यपाद आदि अन्य आचार्य नहीं। यदि यह मान भी लिया जाय कि विद्यानन्दने 'प्रभृति' शब्दका प्रयोग किया है और उसके द्वारा उन्होंने पूज्यपाद आदि आचार्योंको भी सूत्रकार सूचित किया है तो उससे यह फलित नहीं किया जा सकता कि उन्होंने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकका कर्ता उन्हें भी बतलाया है, क्योंकि एक ही कृति (मंगलश्लोक) के भिन्न कालवर्ती अनेक कर्ता नहीं हो सकते—उसका कर्ता तो एक ही होगा और दूसरे उसके अनुसर्ता होंगे। ऐसी दशामें उक्त मंगलश्लोकगत विषयके प्रतिपादनमें उमास्वामीका नाम विशेष रूपसे देने और दूसरे किसी भी आचार्यका नामोल्लेख साथमें न करनेसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि विद्यानन्दने उमास्वामी आचार्यको ही उक्त मंगलश्लोकका कर्ता सूचित किया है, दूसरे पूज्यपादादि आचार्य, जिन्होंने इस मंगलश्लोकको अथवा इसमें प्रयुक्त हुए आप्तके विशेषणोंको अपनाया है, इसके अनुसर्ता ही हैं—कर्ता नहीं। 'शास्त्रकार' पदका प्रयोग भी विद्यानन्दने तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छके लिए किया है, तत्त्वार्थवृत्तिकार आ. पूज्यपादके लिए नहीं—वे स्पष्टतः व्याख्याकार हैं।

अन्य कारणोंपर विचार

यद्यपि उपर्युक्त मुख्य युक्तियोंपर विचारके उपरान्त वस्तुस्थितिके स्पष्टतया सामने आ जानेपर 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलस्तोत्रको उमास्वामिकृत न माननेका कोई कारण नहीं रहता, फिर भी कुछ ऐसे दूसरे कारण भी उपस्थित किये गये हैं जिनकी वजहसे उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार उमास्वामीका स्वीकार करनेमें हिचक हो रही है। अतः उन कारणोंपर भी यहाँ विचार किया जाता है। वे कारण निम्न प्रकार हैं—

“१. जहाँ तक प्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ देखनेमें आये हैं, उनमें कहीं भी

१. देखिए, लेखक द्वारा सम्पादित-अनुवादित आप्तपरीक्षाका नया संस्करण, जो सन् १९४९में बीर-सेवा-मन्दिरसे प्रकाशित हुआ है।

मंगलाचरण करनेकी पद्धति नहीं है ।

२. यदि यह सूत्रकारकृत होता और तत्त्वार्थसूत्रका ही अंग होता, तो उसकी व्याख्या करनेवाले पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्द आदि आचार्योंने अपने सर्वार्थ-सिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक आदि व्याख्याग्रन्थोंमें इसका व्याख्यान अथवा निर्देश अवश्य किया होता ।

३. यदि पूज्यपादने स्वयं इसे न बनाया होता और वे इसे सूत्रकारकृत समझते तो वे सर्वार्थसिद्धिमें इसका व्याख्यान अवश्य करते ।

४. सर्वार्थसिद्धिपर प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण नामका एक विवरण उपलब्ध है । इसमें इस मंगल श्लोकको सर्वार्थसिद्धिका मानकर उसका यथावत् व्याख्यान किया है ।

५. तत्त्वार्थसूत्र थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ श्वेताम्बर-परम्परामें भी मान्य है । उसपर एक स्वयं सूत्रकारका स्वोपज्ञ भाष्य भी प्रसिद्ध है । सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय उपाध्याय आदि-आदि आचार्योंने इसपर टीकाएँ लिखी हैं । इन सभी व्याख्याओंमें इस मंगलश्लोकका उल्लेख तक नहीं है । यदि वह स्वयं उमास्वामिकृत होता, तो कोई कारण नहीं था कि इन श्वेताम्बर व्याख्याओंमें न पाया जाता । इस श्लोकमें कोई भी ऐसी साम्प्रदायिक वस्तु नहीं है, जिसमें साम्प्रदायिकताके कारण इसके छोड़नेका प्रसंग आता । यदि इन प्राचीन आचार्योंको यह ज्ञात होता कि यह श्लोक सूत्रकारका है, तो वे इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्नको कभी भी न छोड़ते । वे इसपर व्याख्या करते और स्वतन्त्र ग्रन्थ तक रचते ।

इत्यादि कारणोंसे यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यह श्लोक स्वयं सूत्रकार-कृत नहीं है, पूज्यपादकृत है ।”

उक्त कारणोंकी समीक्षा :

१. प्रथम कारण ऐसा नहीं है, जो विषयका निर्णायक हो सके, क्योंकि देखने-में ऐसे प्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ न भी आये हों, जिनमें मंगलाचरण किया गया हो, तो इसपर-से यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता है कि उमास्वामिकाल तक सूत्रग्रन्थोंमें मंगलाचरणकी पद्धति नहीं थी । इसके अतिरिक्त ऐसे अनेक प्राचीन सूत्र-ग्रन्थ दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें पाये जाते हैं, जिनमें मंगला-चरण किया गया है । यहाँ उनमें-से कुछके नाम मंगलाचरणकी सूचना सहित प्रकट किये जाते हैं—

(अ) दिगम्बर जैन सूत्रग्रन्थ—

(१) षट्खण्डागम—यह पुष्पदन्त-भूतबली आचार्य प्रणीत अतिप्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ है । इसमें मंगलाचरण किया गया है । इसके प्रथम खण्ड ‘जीव-दृष्टाण’ की आदिमें ‘णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं’ इत्यादि प्रसिद्ध णमोकार मन्त्र मंगलाचरणके रूपमें निबद्ध है । ‘वेयणाखण्ड’ की आदिमें ‘णमो जिणाणं’ इत्यादि ४४ मंगलसूत्र दिये हैं, जिनके विषयमें आचार्य वीरसेनने उसकी टीका ‘धवला’ में लिखा है कि ‘ये गौतमस्वामिप्रणीत ‘महाकम्मपयडीपाहुड’ के आदिके मंगलसूत्र हैं, वहीसे लाकर भतबलि आचार्यने उन्हें उस कम्मपयडीपाहुडके उपसंहाररूप इस वेदनाखण्ड-

की आदिमें मंगलके लिए रखा है, और इसलिए ये एक प्रकारसे अनिवद्ध तथा दूसरे प्रकारसे निबद्ध मंगलके रूपमें हैं।' इससे सूत्रग्रन्थोंकी आदिमें मंगलाचरणकी पद्धति गौतम स्वामी तक पहुँच जाती है, जहाँसे आगमसूत्रोंका प्रारम्भ होता है।

(२) प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि कुन्दकुन्दाचार्यके सूत्र-ग्रन्थ हैं, जिनमें 'एस सुरासुरमहियो', 'इंदसदवदियाणं' इत्यादि रूपसे मंगलाचरण किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य उमास्वामीसे पूर्ववर्ती हैं।

(आ) इवेताम्बरीय सूत्रग्रन्थ

(१) भगवतोसूत्र—इसमें 'णमो अरिहंताणं' आदि रूपमें कई मंगलसूत्र दिये हैं।

(२) दशाश्रुतस्कन्धसूत्र—इसमें भी 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि णमोकार मन्त्रको ही मंगलाचरणके रूपमें दिया है।

(३) नन्दीसूत्र—इसमें 'जयइ जगज्जीवजोणी' आदि तीन गाथाएँ मंगलाचरणके रूपमें उपलब्ध हैं।

(४) निशीथसूत्र—इसमें 'नमो सुयदेवयाए' रूपसे मंगलका विधान है।

(५) दशवैकालिकसूत्र—इसमें 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इत्यादि रूपसे मंगलाचरण किया है।

(६) जीतकल्पसूत्र—इसमें 'कयपवयणप्पणामो' इस रूपमें मंगलाचरण है।

(७) तत्त्वार्थसूत्र—इसके आरम्भमें मूलसे सम्बन्धित जो ३१ कारिकाएँ स्वयं सूत्रकारकृत मानी जाती हैं, उनमें नमस्कारात्मक मंगलाचरणकी एक कारिका 'कृत्वा त्रिकरणशुद्धं' आदि भी है।

इन प्रमाणोंसे प्रकट है कि प्राचीन सूत्रग्रन्थोंमें भी मंगलाचरणकी पद्धति रही है, शुभ कार्यके आदिमें मंगलाचरण करना शिष्ट एवं आस्तिक परम्पराके अनुकूल है। यदि कुछ ग्रन्थोंमें मंगलाचरण उपलब्ध न हो तो उसपरसे यह निर्णय कर लेना युक्त नहीं है कि उमास्वामीने भी मंगलाचरण न किया होगा, क्योंकि प्रकट रूपमें मंगलाचरणका करना-न-करना अथवा मनसे, वचनसे या कायसे मंगलाचरण करके भी उसे शास्त्रमें निबद्ध करना-न-करना कर्ताकी रुचिपर निर्भर है। और इसलिए प्रथम कारणमें कुछ भी बल मालूम नहीं होता।

२, ३. दूसरे तथा तीसरे कारणोंपर हम 'युक्तियोंकी जाँच' उपशीर्षकके नीचे विस्तारसे विचार कर आये हैं। खासकर दूसरी युक्तिकी जाँचके प्रसंगमें इनपर सयुक्तिक विमर्श किया गया है। अतः पुनः विचार अनावश्यक है।

४. चौथे कारणमें प्रभाचन्द्र कृत जिस तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरणका उल्लेख है वह निःसन्देह सर्वार्थसिद्धिका है और सर्वार्थसिद्धिमें उक्त मंगलश्लोकको अपनाकर उसका अंग बना लिया गया है। अतः सर्वार्थसिद्धिके पदोंपर विवरण लिखने वाले प्रभाचन्द्र उसके पदोंका भी विवरण लिखें, तो कोई आश्चर्य नहीं है। वीरसेनाचार्यने, यह जानते हुए भी कि 'वेदनाखण्ड'की आदिमें 'णमो जिणाणं' आदि ४४ मंगलसूत्र 'महाकम्मपयडीपाहुड' से लिये गये हैं, उन्हें वेदनाखण्डका अंग मानकर उनकी भी व्याख्या की है। यदि वीरसेनकी व्याख्यामात्रसे उक्त मंगलसूत्र वेदनाखण्डके कर्ता आचार्य भूतबलिकी कृति नहीं हो सकते, तो प्रभाचन्द्रके विवरणमात्रसे भी उक्त

मंगलश्लोक सर्वार्थसिद्धिके कर्ता पूज्यपादकी कृति नहीं हो सकता ।

इसके अतिरिक्त उक्त विवरणकी जो प्रति लाला प्रद्युम्नकुमारजी सहारनपुरके मन्दिरमें मौजूद है उसको देखनेसे मालूम होता है कि उसमें उक्त मंगलश्लोकके पदोंका अर्थ तक भी नहीं दिया है—‘यथावत् व्याख्यान’ की बात तो बहुत दूर है । यथावत् व्याख्यानका तो स्थान उस भूमिकासे पूर्ववर्ती था, जो मंगलश्लोकके अनन्तर पायी जाती है और ‘कश्चिद्ब्रूयः’ से आरम्भ होती है । विवरणमें भूमिकाके पदोंकी विवृतिके पूर्व ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ इत्यादि मंगलश्लोकके पदोंकी कोई भी व्याख्या नहीं है । जैसा कि उसके निम्न उद्धरणसे प्रकट है—

‘कश्चिद्ब्रूयः प्रसिद्धैकनामा प्रत्यासन्ननिष्ठः निष्ठाशब्देन निर्वाणं चारित्रं चोच्यते, प्रत्यासन्ना निष्ठा यस्यासौ प्रत्यासन्ननिष्ठः, अवाग्विसर्गं न विद्यते वाचां विसर्गो विसर्जनमुच्चारणं यत्र निरूपणकर्मणि । उपसद्य समीपे गत्वा । निराकारत्वात् स्वपरव्यवसायलक्षणशून्यत्वात् । आहत्य निरूपिता हठात् समर्थिता । सम्यग्दर्शन’ एतेषां निर्देश्यामो निर्देशं करिष्यामः । मोक्षमार्गस्य मोमांसं प्रति । भेत्तारं यौगं प्रति । ज्ञातारं सौगतं प्रति । विविक्ते त्रसबाधारहिते । कर्म द्रव्यकर्मं मलः भावकर्म । प्रमाणेन शून्यो वादः प्रवादः । तीर्थकरमिवात्मानं मन्यन्ते तीर्थकरमन्याः निश्चयस्वरूपशून्यत्वात् ।’

इस अवतरणमें अक्रम तथा अव्यवस्थितरूपमें उक्त मंगलश्लोकके मात्र तीन पद हैं, जिनमें-से ‘मोक्षमार्गस्य’ पदको मोमांस [क] के प्रति, ‘भेत्तारं’ को यौगके प्रति और ‘ज्ञातारं’ को सौगतके प्रति कहा बतलाया गया है—शेष पदोंका उल्लेख तक भी नहीं है । यह है उक्त मंगलश्लोकका ‘यथावत् व्याख्यान’, जिसके आधार-पर उसे पूज्यपादकृत मनवानेका प्रयत्न किया गया है और जिसके माननेके लिए समुचित कारण नहीं है, जैसा कि ऊपर देख चुके हैं ।

५. पाँचवाँ कारण कितना सबल है, यह नीचेके विचारसे स्पष्ट हो जावेगा—

(क) जब श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका अलग पाठ स्थिर कर लिया गया और उसमें उक्त मंगलश्लोकको स्थान नहीं दिया गया, तो उत्तरकालमें होनेवाले सिद्धसेनगणि आदि व्याख्याकारोंके लिए यह आवश्यक नहीं रहा कि वे उक्त मंगलस्तोत्रका अपनी टीकाओंमें उल्लेख करें या उसकी व्याख्या करें । अलग सूत्रपाठ स्थिर करनेके समयसे ही इस विषयमें साम्प्रदायिकताका प्रवेश हो गया होगा और साम्प्रदायिकता ऐसी चीज है कि वह अच्छी-से-अच्छी बातको ठुकरा देती है ।

(ख) यह सत्य है कि उक्त मंगलश्लोकमें कोई साम्प्रदायिक तत्त्व नहीं है, परन्तु उसके न होनेपर भी यह अनिवार्य नहीं है कि उसे दिया ही जाय या उसकी व्याख्या की ही जाय, क्योंकि श्वेताम्बर सूत्रपाठमें कितने ही वे सूत्र नहीं दिये गये हैं, जो दिगम्बर सूत्रपाठमें पाये जाते हैं और जिनका विषय श्वेताम्बरीय आगमोंमें उपलब्ध है, और इसलिए जिनमें कोई साम्प्रदायिक तत्त्व नहीं था । इसी तरह दि० सूत्रपाठमें उस मंगलाचरणकारिकाको नहीं दिया गया, जो श्वे. सूत्रपाठके साथकी ३१ कारिकाओंमें निबद्ध है । अतः साम्प्रदायिक तत्त्व न होते हुए भी किसीको अपना-ना-अपना-अपनी-अपनी रुचिपर निर्भर है ।

(ग) यह भी तो सत्य है कि हरिभद्र, सिद्धसेनगणि और यशोविजय-उपाध्यायको सर्वार्थसिद्धि प्राप्त थी और उसमें उक्त मंगलश्लोक विद्यमान था, फिर उन्होंने इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्नको क्यों नहीं अपनाया ? इसे अपनाकर उस पर उन्होंने व्याख्याएँ क्यों नहीं लिखीं ? और क्यों नहीं समन्तभद्र और विद्यानन्दकी तरह स्वतन्त्र ग्रन्थ रचे ? क्या सूत्रकारका होनेसे ही उक्त श्लोकमें अमूल्यपना, बेजोड़पना और श्लोकरत्नपना तथा व्याख्याके लिए पात्रपना आता ? यदि ऐसी ही बात हो, तो इससे ही साम्प्रदायिकताके बीजकी अनुभूति होती है। यशोविजयने दि. ग्रन्थोंपर टीका-टिप्पण लिखे हैं, फिर उन्होंने इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्नपर स्वतन्त्र व्याख्या-ग्रन्थ क्यों नहीं रचा ? क्या ९वीं से १८वीं शताब्दितकके इन आचार्योंको सर्वार्थसिद्धि उपलब्ध नहीं थी ? जब कि उसकी रचना विक्रमकी ६वीं शताब्दीमें हो गयी थी। अतः इस अमूल्य श्लोकरत्नको वृत्तिकारकृत होनेसे भी इन आचार्यों द्वारा व्याख्यात होना चाहिए। परन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या नहीं की। इस प्रकार यह कारण भी अभीष्टका साधक नहीं है।

इस तरह उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत न माननेमें जो अन्य कारण दिये गये हैं उनमें-से एक भी कारण उसे सूत्रकारकृत निषेध करनेमें सक्षम नहीं है।

अप्रासंगिक विषय

इसी सन्दर्भमें एक अप्रासंगिक विषयकी भी चर्चा की गयी है। वह है समन्त-भद्रका समय। उक्त मंगलश्लोकको पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण मानकर और विद्यानन्दकी इस सूचनापर कि समन्तभद्रस्वामीने अपनी आसमीमांसा उसीके व्याख्यानमें लिखी है, इतिहासज्ञोंको यह सुझानेका प्रयास किया गया है कि 'विद्यानन्दके इस उल्लेखके अनुसार समन्तभद्रका समय पूज्यपादके अनन्तर नहीं तो समकाल तक तो अवश्य सिद्ध होगा।' परन्तु हम ऊपर देख चुके हैं कि विद्यानन्द उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकारका प्रतिपादन करते हैं, पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका नहीं। ऐतिहासिक तथ्योंका निर्णय प्रमाणपूर्वक ही किया जाना चाहिए, पूर्वाग्रह रखकर कल्पित धारणानुसार नहीं। समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें इतिहास, पुरातत्त्व और साहित्यके प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा अनेक प्रमाणपुरस्सर लिखा 'समन्तभद्रका समय और डाक्टर के. वी. पाठक' नामका लेख देखना चाहिए। इस लेखमें उन्होंने समन्तभद्रका समय पूज्यपादसे बहुत पूर्ववर्ती और आचार्य गृध्र-पिच्छसे उत्तरवर्ती अर्थात् विक्रमकी तीसरी-चौथी शताब्दी अनेक एवं सबल प्रमाणोंसे सिद्ध किया है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचनसे निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं—

१. आ. विद्यानन्दने आप्तपरीक्षाके अन्तिम पद्यों और अष्टमहस्तीके मंगलपद्यमें ऐसी कोई सूचना नहीं की कि 'तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्तिका निमित्त बतलानेवाली

भूमिका बाँधते समय आ. पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि-टीकाके प्रारम्भमें स्वयं उक्त मंगलश्लोकको बनाकर रखा है' और न उन शब्दोंसे ही ऐसी कोई सूचना मिलती है जिनकी ओर संकेत किया गया है। उन शब्दोंका स्पष्ट आशय इतना ही है कि तत्त्वार्थशास्त्र (सूत्र) की आदिमें—उसके रचनारम्भके समयमें शास्त्रकार—सूत्रकार उमास्वामीने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलस्तोत्रकी रचना की है और इसीकी व्याख्यामें आ. समन्तभद्रने आप्तमीमांसा तथा विद्यानन्दने आप्तपरीक्षा लिखी है।

२. विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक सभाष्य, आप्तपरीक्षा सटीक और अष्ट-सहस्री इन ग्रन्थोंपर-से उनका यह स्पष्ट अभिमत पाया जाता है कि उक्त मंगलस्तोत्र सूत्रकार उमास्वामीकी रचना है और उसे उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें मंगलाचरणके रूपमें रचा है।

३. विद्यानन्दकी दृष्टिमें 'सूत्रकार' शब्दका वाच्य एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता आचार्य स्वामी हैं और 'सूत्र' शब्दका अभिधेय उनकी एकमात्र कृति 'तत्त्वार्थसूत्र' है। जो उदाहरण दिया गया है वह बिल्कुल गलत तथा भ्रमपूर्ण है। उसमें पाये जानेवाले 'सूत्र' और 'सूत्रकार' शब्दोंका प्रयोग 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' और 'अकलंकदेव' के लिए न होकर 'तत्त्वार्थसूत्र' और उसके कर्ता 'उमास्वामी' के लिए किया गया है।

४. उक्त मंगलस्तोत्रके उमास्वामीकृत न होनेमें जो अन्य पाँच कारण उपस्थित किये गये हैं उनमें-से कोई भी कारण अभीष्टका साधक नहीं है। (१) सूत्र-ग्रन्थोंके आदिमें मंगलाचरणकी प्रथाका पता उमास्वामीके पूर्व गौतमस्वामी तक चलता है, जैसा कि ऊपर उद्धृत किये गये उल्लेखोंसे प्रकट है। (२) किसी भी टीकाकारको यह अनिवार्य नहीं कि वह मूल ग्रन्थके मंगलाचरणकी भी टीका करे। (३) सर्वार्थ-सिद्धिमें पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्रका ही उक्त मंगलस्तोत्र मंगलाचरणके रूपमें अपना लिया है, इससे उन्हें उसकी व्याख्या करना और भी आवश्यक नहीं रहा। (४) प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण उक्त मंगलश्लोकके सूत्रकारकृत होनेमें बाधक नहीं है। (५) श्वेताम्बर आचार्यों द्वारा श्वेताम्बरसूत्रपाठीय 'कृत्वा त्रिकरणशुद्धं' आदि मंगलाचरणको अपनानेसे उक्त मंगलश्लोकपर व्याख्या करनेका प्रश्न नहीं उठता।

इस पूरे विवेचनसे अवगत होता है कि उक्त मंगलश्लोक आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है।

[द्वितीय लेख]

हमारे प्रथम लेखके उत्तरमें एक लेख पुनः प्रकाशित हुआ है। उसपर भी यहां विचार किया जाता है।

उल्लेख्य है कि इस लेखमें उन दो भूलोंको स्वीकार कर लिया गया है, जिनके

तीन संस्करण हो जानेपर भी वे ज्ञात नहीं हो सकी थीं और हमारे लेखसे वे ज्ञात हो गयी हैं।

उक्त लेखपर विचार करनेसे पूर्व अपने उक्त लेखकी कुछ विशेष बातोंको संक्षेपमें दे देना अनुचित न होगा, इससे विचारकी शृंखला और सम्बन्ध बना रहेगा और आगेके विचारमें सुविधा होगी। वे विशेष बातें इस प्रकार हैं—

(१) 'कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं....' इत्यादि तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकका अवतरण, जो तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें मंगलाचरणकी सिद्धिके लिए प्रस्तुत किया गया।

(२) 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थ....' आदि श्लोकवार्त्तिकके दो पद्यवार्त्तिकोंका उल्लेख, जिनके द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोक मुनीन्द्र—उमास्वामीका मंगलाचरण सिद्ध होता है।

(३) अष्टसहस्रिके 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्य' इत्यादि अन्तिम वाक्यका उद्धरण, जिसके द्वारा उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका आदिम मंगलाचरण बताया गया है।

(४) 'शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः' आदि आप्तपरीक्षाका उल्लेख और 'मुनिपुङ्गवाः सूत्रकारादयः', 'सूत्रकारमतम्', 'सूत्रकारवचनात्' आदि वाक्योत्तरे, जिनके आधारपर उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार कृत मानने और सूत्रकारसे उमास्वामीका ग्रहण करनेका विद्यानन्दका अभिप्राय बताया गया है।

(५) 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः' के स्थानमें 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना और उसको पुष्ट करनेवाली युक्तियाँ।

(६) सूत्र और सूत्रकार विषयक तत्त्वार्थवार्त्तिकका उल्लेख और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्त्तिकका विशेष कथन, जिसके द्वारा भूलका उद्धावन तथा विद्यानन्दके अभिप्रायका प्रकाशन किया गया है।

(७) विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें 'सूत्रकार' शब्द आ. उमास्वामीके लिए प्रयुक्त हुआ है, इसके उल्लेख।

(८) विद्यानन्दके ग्रन्थोंपर-से वे उल्लेख उद्धृत किये गये हैं, जिनमें कहीं भी उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अकलंक या पूज्यपादादि आचार्योंको 'सूत्रकार' और पूर्ववर्ती ग्रन्थोंको 'सूत्र' नहीं बताया।

(९) प्रथम कारणको सदोष ठहरानेके लिए प्रमाणरूपमें दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्रग्रन्थोंके ९ उल्लेख, जिनमें मंगलाचरण किया गया है।

(१०) दूसरे कारणको दूषित करते हुए कर्मस्तव, षडशीति आदिके टीका-भाष्योंका हवाला, जिनमें मूलग्रन्थके मंगलाचरणका निर्देश और व्याख्यान नहीं पाया जाता है।

(११) टीका-ग्रन्थोंमें मंगलाचरणके व्याख्यान और अव्याख्यान दोनों प्रकारकी

१. इन भूलोंका पहला संस्करण 'न्यायकुमुदचन्द्र' के द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें, दूसरा 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' की प्रस्तावनामें और तीसरा संस्करण 'जैन सिद्धान्त भास्कर' में प्रकाशित लेखमें हुआ है।

पद्धतिकी उपलब्धिका कथन, जिससे पूज्यपादके लिए मंगलश्लोककी टीका करना अनिवार्य नहीं ।

(१२) आ. पूज्यपाद द्वारा सर्वार्थसिद्धिमें उक्त मंगलश्लोकको अपना लेनेकी बात और दूसरोंके द्वारा भी दूसरेके मंगलाचरणको अपनाये जानेके प्रमाणोंका उल्लेख, जिससे सर्वार्थसिद्धिमें मंगलश्लोककी व्याख्या लाजिमी नहीं रहती ।

(१३) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें वर्णित वार्तिकके लक्षणानुसार तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक और तत्त्वार्थवार्तिकमें मंगलश्लोकका पदार्थघटनारूप व्याख्यान न होनेपर भी उनमें उक्त मंगलश्लोकका आक्षेप-समाधानरूप व्याख्यान किये जानेका स्पष्टीकरण ।

(१४) तीसरा कारण दूसरे कारणसे भिन्न नहीं है, इसका निर्देश और पाँचवें कारणके तीन अवयव मानकर उनका सविस्तर उत्तर ।

अब उत्तरलेखकी बातोंपर विचार किया जाता है । उनमें भी सबसे पहले उन बातोंपर, जो मेरे लेखके कुछ मुद्दोंको आक्षेप और अपने परिहारके रूपमें कही गयी हैं, विमर्श प्रस्तुत है ।

आक्षेप-परिहार-समीक्षा

यहाँ परिहारका सार प्रत्याक्षेपके रूपमें और उसकी समीक्षा समाधानके रूपमें प्रस्तुत है—

१. प्रत्याक्षेप—‘तदारम्भे’ पदमें आये ‘तत्’ शब्दका वाच्य तत्त्वार्थसूत्र न होकर श्लोकवार्तिक है । यहाँ श्लोकवार्तिकके आदिमें किये गये ‘श्रीवर्धमानमाध्याय’ मंगल-श्लोकका औचित्य सिद्ध किया है । और ‘मुनीन्द्र’ पदसे विद्यानन्दको गणधर आदि विवक्षित हैं, न कि उमास्वामी ।

१. समाधान—आ. विद्यानन्द ‘शास्त्र’के आदिमें मंगलाचरणकी आवश्यकता मानते हैं, इसलिए ‘कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं....’ इत्यादिके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र, श्लोक-वार्तिक और उसके व्याख्यान इन तीनोंको शास्त्र सिद्ध करके ‘ततस्तदारम्भे’ पदके द्वारा श्लोकवार्तिक और उसके व्याख्यानके साथमें तत्त्वार्थशास्त्ररूप शास्त्रके आरम्भमें भी मंगलाचरण—परापरगुरुका आध्यान (स्मरण) करना युक्त बतलाया गया है । अतः ‘तदारम्भे’ पदमें आये हुए ‘तत्’ शब्दका वाच्य ‘शास्त्र’—तत्त्वार्थशास्त्र, उसका श्लोकवार्तिक और उसका व्याख्यान तीनों विद्यानन्दको विवक्षित हैं । तत्त्वार्थशास्त्रमें शास्त्रका लक्षण पाये जानेसे वह मुख्यशास्त्र है और श्लोकवार्तिक तथा उसका व्याख्यान उसीपर रचे जानेसे वे भी शास्त्र कहे गये हैं । अतः ‘तदारम्भे’ पदमें आये ‘तत्’ शब्दका वाच्य तत्त्वार्थशास्त्रका व्यवच्छेद कर मात्र श्लोकवार्तिक नहीं है अपितु तीनों हैं । इस बातको श्लोकवार्तिकके इस पूरे स्थलपर ध्यान देनेपर सहज ही जाना जा सकता है ।

‘मुनीन्द्रसंस्तुत्ये’ पदमें आये हुए ‘मुनीन्द्र’ पदसे विद्यानन्दको वे ही आचार्य विवक्षित हैं जिन्होंने मोक्षमार्गप्रणेतृत्व, कर्मभूभृद्भेतृत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व इन तीन विशेषणोंसे आसकी स्तुति की है और वे हैं उमास्वामी । उमास्वामीने ही ‘मोक्ष-

मार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोकमें उन्हीं विशेषणोंसे आसस्तुति की है, गणधर आदिने नहीं और इसलिए विद्यानन्दको 'मुनीन्द्र' पदसे प्रकृतमें वे विवक्षित नहीं हैं। विद्यानन्दके 'मुनीन्द्राणामादिसूत्रप्रवर्तनम्' आदि प्रतिपादनोंमें आये 'मुनीन्द्र' पदसे भी जाना जाता है कि उन्हें 'मुनीन्द्र' पदसे आदिसूत्र (सम्पद्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः) के प्रवर्तक—रचयिता अभीष्ट हैं। और वे 'उमास्वामी' हैं, गणधरदेव नहीं। श्लोकवार्तिकके इस प्रकरण और उनके अन्य ग्रन्थोंके सन्दर्भोंसे यह स्पष्ट हो जाता है। यदि 'मुनीन्द्र' पदका व्यापक अर्थ भी लिया जाय तब भी विद्यानन्दके लिए परगुरुके साथ अपरगुरु भी उससे ग्राह्य हैं और अपरगुरुमें 'एतेनापरगुरुर्गणधरादिः सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यातः' (त. श्लो. पृ. १) शब्दों द्वारा सूत्रकार उमास्वामी भी गृहीत हैं। अतः 'मुनीन्द्रसंस्तुत्ये....प्रवृत्तं सूत्रमादिमम्' में आये 'मुनीन्द्र' पदसे विद्यानन्दको गणधरके सिवाय सूत्रकार (उमास्वामी) भी अभिप्रेत हैं।

२. प्रत्याक्षेप—बिना प्राचीन प्रतियोंके आधारके आप्तपरीक्षाके 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' पाठकी जगह 'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः उमास्वामिप्रभृतिभिः' इस अन्य पाठकी कल्पना इतिहासके क्षेत्रमें ग्राह्य नहीं हो सकती।

२. समाधान—'तत्त्वार्थसूत्रकारादिभिः' पाठकी कल्पना 'प्रभृति' शब्दके प्रयोग की मांगके अनुरूप है—वह असंगत नहीं है। उसकी पुष्टिमें अनेक प्रमाण भी पिछले लेखमें दिये गये हैं, जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया जान पड़ता है। यथार्थमें 'प्रभृति' शब्दका औचित्य तभी है जब 'तत्त्वार्थसूत्रकार' के साथ 'आदि' शब्द हो। अन्यथा एक ही तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता 'उमास्वामिप्रभृति' अनेक आचार्य कैसे हो सकते हैं? अतः या तो 'उमास्वामिप्रभृतिभिः' के साथ 'प्रभृति' शब्द नहीं होना चाहिए और या उसे यदि ग्रन्थकारोक्त माना जाय तो 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः' पदके साथ 'आदि' शब्द होना ही चाहिए, तभी दोनों पदोंकी संगति ठीक बैठती है। यह इतिहासकी वस्तु नहीं है, यह सन्दर्भानुसार अर्थसंगतिकी वस्तु है। इतिहास भी अधिकांशरूपसे कल्पनाओंके आधारपर ही तैयार होता है और जब उनकी पोषक घटनाएँ मिल जाती हैं तो वे प्रामाणिक बन जाती हैं और इतिहास निर्माण करती हैं। इसी तरह उक्त पाठकी कल्पनाके पोषक जब अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं और यह भी पूरी तरह सम्भव है कि प्राचीन प्रतियोंमें ऐसा ही पाठ मिले। ऐसी स्थितिमें उक्त पाठकी कल्पना इतिहासक्षेत्रमें अग्राह्य नहीं कही जा सकती है।

दूसरे, आप्तपरीक्षाकी प्राचीन हस्तलिखित दिल्ली आदिकी^१ प्रतियोंमें उक्त 'तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामिप्रभृतिभिः' पंक्ति ही नहीं है, और उसके बिना अर्थमें कोई असंगति नहीं आती, बल्कि उक्त अशुद्ध पाठके रहनेसे असंगति आती है, जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है।

३. प्रत्याक्षेप—मेरा तात्पर्य प्राचीन संस्कृतभाषामें निबद्ध सूत्र-ग्रन्थोंमें मंगला-

१. दिल्लीकी प्रति सं. १५७८ की लिखी हुई है और पंचायती मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध है। इसके तथा अन्य प्रतियोंके आधारसे हमने सन् १९४९ में आप्तपरीक्षाका सम्पादन किया और वीर-सेवा-मन्दिरसे उसका प्रकाशन हुआ।

चरण करनेकी पद्धति दृष्टिगोचर नहीं होनेसे है ।

३. समाधान—प्रथम तो सूत्र-ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओंमें निबद्ध पाये जाते हैं । यदि संस्कृत-भाषाके ही सूत्र-ग्रन्थ अभिप्रेत थे, तो पहले ही 'संस्कृत' विशेषण साथमें देकर अपने अभीष्ट तात्पर्यको प्रकट करना चाहिए था । दूसरे, संस्कृत सूत्र-ग्रन्थोंमें भी श्वेताम्बर 'तत्त्वार्थसूत्र'का उदाहरण है, जिसके आरम्भमें वह 'कृत्वा त्रिकरणशुद्धं' मंगलपद्य भी है जो ३१ सम्बन्धकारिकाओंके साथ दिया गया है । इसके अतिरिक्त 'ब्रह्मसूत्र' आदिमें भी 'अथ' शब्दके द्वारा मंगलाचरण अभिहित है और 'अथ' शब्दको मंगलात्मक माना गया है । जैसा कि निम्न प्रमाणसे प्रकट है—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।

कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

—वैशेषि. सूत्रोप. पृ. २ ।

४. प्रत्याक्षेप—वे ३१ कारिकाएँ मूलकी नहीं हैं, भाष्यकी हैं । तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद उमास्वातिने भाष्य बनाते समय उन्हें मूलग्रन्थको लक्ष्य करके भाष्यके अंग रूपमें बनायी हैं ।

४. समाधान—उक्त कारिकाएँ मूलग्रन्थके साथ ही निबद्ध हैं । तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद उमास्वातिने उनकी रचना नहीं की; जैसा कि निम्न २२वीं कारिका-से स्पष्टतया प्रकट है, जो मूल ग्रन्थका नाम, विषय, प्रकृति, आकृति और प्रयोजनका उल्लेख करके उसके रचनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए है—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रन्थम् ।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममहंद्वचनैकदेशस्य ॥

'मैं (उमास्वाति) जिनेन्द्रभगवान्के वचनोंके एकदेशके संग्रहरूप इस अर्थबहुल लघुग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमको शिष्यहितार्थ कहूँगा ।'

इस कारिकाके ठीक पूर्ववर्ती २१वीं कारिका 'कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमधंये नमस्कारम्' इत्यादि है जिसमें वीर भगवान्के नमस्कारात्मक मंगलका प्रतिपादन है । इस मंगलाचरणके करनेके बाद अपने ग्रन्थ रचनेके उद्देश्यको प्रकट करनेके लिए ही उक्त २२वीं कारिका रची गयी है । यहाँ इस कारिकामें आया हुआ 'वक्ष्यामि' पद ध्यातव्य है और उससे प्रकट है कि कम-से-कम इस २२वीं कारिका तक तो तत्त्वार्थसूत्रकी रचना नहीं हुई है । अन्यथा, तत्त्वार्थसूत्र बना चुकनेके बाद यदि भाष्य बनाते समय यह कारिका रची गयी होती तो आ. उमास्वाति 'वक्ष्यामि' पदका प्रयोग न करके 'उक्तं' जैसे पदका ही प्रयोग करते । तत्त्वार्थसूत्रकी उस सटिप्पण प्रतिसे भी वे कारिकाएँ मूलके साथ निबद्ध हुई जानी जाती हैं, जिसका परिचय आचार्य जुगल-किशोर मुख्तार सम्पादक 'अनेकान्त' ने दिया है ।

५. प्रत्याक्षेप—कर्मग्रन्थोंके भाष्य विशेषावश्यक भाष्यकी तरह अविकल व्याख्यानात्मक न होकर आवश्यकनिर्युक्तिके मूल भाष्यकी तरह पूरक भाष्य हैं और

इसलिए उनमें मूलग्रन्थके हर एक वाक्यका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है। इसीसे उनमें मंगलगाथाके सिवाय मध्यकी अनेक गाथाओंको भी अव्याख्यात छोड़ दिया है। परन्तु अकलंक और पूज्यपादके अखण्ड व्याख्याग्रन्थ—तत्त्वार्थवार्त्तिक, सर्वार्थसिद्धि ऐसे भाष्य नहीं हैं, उनमें मूल ग्रन्थके 'च', 'तु' जैसे शब्दोंको भी अव्याख्यात नहीं छोड़ा। अतः इनके विषयमें मंगलश्लोकको अव्याख्यात छोड़नेकी बात कहना इनकी शैलीको न समझना है।

५. समाधान—पूरकभाष्य वे कहे जाते हैं, जो मात्र छूटे हुए,—पूर्वमें अव्याख्यात विषयपर ही व्याख्या करें। किन्तु ऊपर जिन भाष्योंका हवाला दिया गया है वे व्याख्यात विषयका भी प्रतिपादन करनेसे पूरक भाष्य नहीं कहे जा सकते हैं। और न सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्त्तिक अखण्ड व्याख्याग्रन्थ हैं। इनमें भी उक्त भाष्योंकी तरह मंगलश्लोकके अतिरिक्त मध्यके अनेक सूत्रों, पदों और शब्दोंको भी छोड़ दिया गया है। 'च', 'तु' शब्दोंकी तो बात ही क्या है। ऐसी ही स्थिति तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिककी व्याख्यापद्धतिकी भी है, जिसपर आगेके प्रत्याक्षेपमें जोर दिया गया है। नीचेके कुछ उदाहरणोंपर-से यह विषय बिलकुल स्पष्ट हो जाता है और परिभाषित अखण्ड व्याख्यापद्धतिकी बात गलत ठहरती है।

(१) सर्वार्थसिद्धिके उदाहरण—

(क) अव्याख्यात सूत्र—'लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्'।
(अ० ४, सू० ४२)।

(ख) वे सूत्र जिनके रेखांकित पद अव्याख्यात हैं—

१. 'प्रत्यक्षमन्यत्' (अ० १, सू० १२)।

२. 'तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहान्ताः' (अ० ३ सू० २५)।

(३) 'आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन....' (अ० ४, सूत्र ३२)।

(ग) वे सूत्र जिनके उत्थानिका-वाक्य नहीं हैं—

अ० ७ सू० २६, २७, २८, २९, अ० ८ सू० २६।

(घ) वे सूत्र जिनमें प्रयुक्त हुए 'च' 'वा' 'इति' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० ३ सू० ३४, ३९। अ० ५ सू० ७, ३९। अ० ६ सू० १८, २१, २४।
अ० ७ सू० १०, ११, १२। अ० ९ सू० ३२, ३३।

(२) तत्त्वार्थवार्त्तिकके उदाहरण—

(क) अव्याख्यात सूत्र—

'अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य' (अ० ८ सू० १८)

(ख) वे सूत्र, जिनके रेखांकित पद अव्याख्यात हैं—

१. 'शेषाणां समुच्छन्नम्' (अ० २ सू० ३५)

२. 'आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन...' (अ० ४ सू० ३२)।

(ग) वे सूत्र, जिनके उत्थानिका-वाक्य नहीं हैं—

अ० ७ सू० २६, २७, २८, २९, अ० ८, सू० २६।

(घ) वे सूत्र, जिनमें प्रयुक्त हुए 'च' 'वा' 'इति' और 'अपि' शब्द अव्याख्यात हैं—
अ० २ सू० ४७, ४८ । अ० ३ सू० ३९ । अ० ५ सू० २०, ३६, ३८ । अ० ६
सू० १८, २१, २४ । अ० ७ सू० १०, ११, १२ । अ० ९ सू० ३२, ३३ ।

(३) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उदाहरण—

(क) अव्याख्यातसूत्र—

अ० ४ सू० २८, २९, ३०, ३९ ।

(ख) वे सूत्र, जिनके रेखांकित पद अव्याख्यात हैं—

१. 'भवनेषु च' (अ० ४ सू० ३७) ।

२. 'अपरा द्वादशमुहूर्ता वेदनीयस्य' (अ० ८ सू० १८) ।

(ग) वे सूत्र, जिनमें प्रयुक्त हुए 'च' 'वा' 'इति' और 'अपि' शब्द अव्याख्यात हैं—

अ० २ सू० ४७, ४८ । अ० ३ सू० ४० । अ० ५ सू० ७, २०, ३९ । अ० ६
सू० २४ । अ० ७ सू० १०, ११, १२ । अ० ९ सू० ३२, ३३ । अ० १० सू० ३ ।

(घ) वे सूत्र, जिनके वार्तिक नहीं हैं—

अ० २ सू० ३७, ३८, ४१ । अ० ३ सू० ११, १२, १३ इत्यादि ।

अ० ४ सू० १६, २८, २९, ३० इत्यादि । अ० ८ सू० १५ ।

(ङ) वे सूत्र, जिनके उत्थानिका-वाक्य नहीं हैं—

अ० २ सू० २५ । अ० ३ सू० १, ७, ११, २१ । अ० ४ सू० १, २, ३ इत्यादि ।
अ० ५ सू० १, २, ३ आदि । अ० ६ सू० १, २, १० आदि । अ० ७ सू० १, ३, ११,
१२ । अ० ८ सू० २५ । अ० ९ सू० १ आदि । अ० १० सू० ५ ।

(च) वे सूत्र, जिनके वार्तिक और व्याख्यान न होनेके साथ-साथ उत्थानिका-
वाक्य भी नहीं हैं :—

अ० ४ सू० २९, ३० ।

ऐसी हालतमें सर्वार्थसिद्धि आदिको अखण्ड व्याख्या-ग्रन्थ एवं अविकल
व्याख्यानात्मक बताकर मंगल-श्लोकके व्याख्यानपर जोर देना और श्वे० कर्मगन्थों-
के भाष्योंको, जिनमें मंगल-गाथाका व्याख्यान नहीं है और न निर्देश ही है, पूरक
भाष्य कहकर व्याख्यान न होनेकी पुष्टि करना तथा उनकी शैलीको न समझनेकी
बात कहना समुचित नहीं है ।

६. प्रत्याक्षेप—(क) वार्तिकका लक्षण कुछ भी क्यों न हो, पर प्रश्न तो यह है
कि जब अकलंकदेव और विद्यानन्द दोनों उमास्वामीके एक भी शब्दको बिना
व्याख्या या उत्थानिकाके नहीं छोड़ते, उनपर वार्तिक बनाते हैं, उत्थानिका लिखते हैं
और अविकल व्याख्यापद्धतिसे उनकी व्याख्या करते हैं, तब मंगलश्लोक क्यों उन्होंने
अछूता छोड़ा ?

(ख) अथवा यह मंगलश्लोक भी सूत्रग्रन्थका अवयव होनेसे सूत्र कहलाया,
सूत्र पद्यात्मक भी होते हैं, अतः इसपर वार्तिक बनना न्यायप्राप्त है ।

(ग) श्लोकवार्तिकमें किया गया वार्तिकका लक्षण प्रमाणवार्तिकमें अव्याप्त है ।
वार्तिकका एक व्यापक लक्षण है 'उक्तानुक्तदुरुक्तार्थचिन्ताकारि तु वार्तिकम्' । अतः

मंगलश्लोकके तत्त्वार्थसूत्रमें उक्त होनेसे उसपर वार्तिक बनना उचित ही है।

६. समाधान—(क) अकलंक और विद्यानन्दकी व्याख्यापद्धतिके सम्बन्धमें जो कल्पना की गयी है वह गलत है। जैसा कि प्रत्याक्षेप नं० ५ के समाधानमें किये गये स्पष्टीकरणसे प्रकट है। और इसलिए उसके आधारपर मंगलश्लोककी व्याख्यापर जोर देना कुछ अर्थ नहीं रखता।

(ख) हम पिछले लेखमें कह आये हैं कि मंगलाचरण ग्रन्थका मुख्य अवयव (अंग) नहीं है। जहाँसे ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय शुरू होता है और जहाँ समाप्त होता है वह सब अंश मुख्यतः ग्रन्थ कहलाता है। मंगलाचरणमें ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय वर्णित नहीं होता, उसका एक प्रयोजन निर्विघ्नतया ग्रन्थकी समाप्ति भी है, जिससे मालूम होता है कि ग्रन्थ प्रधानतः मंगलाचरणके बादके और समाप्तिपर्यन्तके लेखसंग्रहको कहते हैं। इस दृष्टिसे मंगलाचरण ग्रन्थसे उसी प्रकार अलग है जिस प्रकार ग्रन्थकी प्रशस्ति। जब वह वस्तुतः ग्रन्थसे अलग चीज है तब उसपर ग्रन्थके व्याख्याकारोंको व्याख्या करना अनिवार्य नहीं है। ग्रन्थारम्भके पूर्वमें निबद्ध किया जानेसे वह ग्रन्थका आद्य अंश उपचारसे कहा जाता है। अतः उक्त मंगल-श्लोक सूत्रग्रन्थका मुख्य अवयव न होनेसे उसपर व्याख्या होना या वार्तिक बनना आवश्यक नहीं है। मूलके भी किसी अंशका व्याख्यान करना या न करना व्याख्याकारोंकी रुचिविशेषपर अवलम्बित है; जैसा कि प्रत्याक्षेप नं० ५ के समाधानमें दिये हुए सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें अव्याख्यात अंशोंसे प्रकट है।

(ग) आ० विद्यानन्दने श्लोकवार्तिकमें गद्यसूत्रवार्तिकको लक्ष्य करके उक्त वार्तिकका लक्षण किया है। न्यायवार्तिक, राजवार्तिक आदि गद्यसूत्रवार्तिक ग्रन्थ हैं। उनके अपने गद्यवार्तिक गद्यसूत्रोंपर रचे हुए हैं और उन सबमें अनुपपत्तिचोदना, तत्परिहार और विशेष-कथन किया ही गया है। दिग्नागके कारिकारूप 'प्रमाण-समुच्चय' सूत्रग्रन्थपर लिखा गया प्रमाणवार्तिक कारिकावार्तिक है—गद्यसूत्रवार्तिक नहीं। अतः गद्यसूत्रवार्तिकोंको लक्ष्य करके किये गये विद्यानन्दनके उक्त गद्यसूत्र-वार्तिकलक्षणको कारिकावार्तिकरूप प्रमाणवार्तिकमें अव्यापक बताना समुचित नहीं है। मंगलश्लोक जब ग्रन्थका अवयव नहीं, तो उसपर वार्तिक बननेका प्रश्न ही नहीं उठता।

७. प्रत्याक्षेप—'मंगलपुरस्सरस्तव' शब्दोंसे अकलंकका अभिप्राय उक्त मंगल-श्लोकको सूत्रकारकृत माननेका नहीं है।

७. समाधान—विद्यानन्द जैसे प्रामाणिक आचार्यने अकलंकके उक्त शब्दोंकी जो व्याख्या की है वह जबतक गलत प्रमाणित नहीं होती तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि अकलंकका अभिप्राय उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत माननेका नहीं है। 'मंगलपुरस्सर.....' शब्दोंकी विद्यानन्दकृत व्याख्याकी सुसंगति और उसकी पुष्टि इसी लेखमें आगे की गयी है।

८. प्रत्याक्षेप—तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरणकी जैसी व्याख्यानशैली एवं मर्यादा है उसीके अनुसार 'यथावत् व्याख्यान' शब्दका अर्थ लगाना चाहिए। ग्रन्थकार जिसका जिस रूपमें व्याख्यान करना चाहता है वही उसका 'यथावत् व्याख्यान' है।

८. समाधान—तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण जब एक विवरण ग्रन्थ है तब उसमें केवल अव्यवस्थित रूपसे निर्देश कर देने मात्रको कोई विचारक विद्वान् 'यथावत् व्याख्यान' का रूप नहीं दे सकता। यदि 'यथावत् व्याख्यान' की उक्त परिभाषा मानी जाय, तो वह उस वाक्यार्थमें अतिव्यापक है जो एक ग्रन्थकारने अज्ञान या प्रमादसे अन्यथा किया है। इसी तरह यदि कोई अकलंक अथवा विद्यानन्दके किन्हीं वाक्योंका ठीक अर्थ न समझकर विपरीत व्याख्यान करता है तो उसका वह व्याख्यान भी 'यथावत् व्याख्यान' की कोटिमें आ जायेगा। परन्तु वह न यथावत् व्याख्यान है और न वह विद्वद्ग्राह्य। 'यथावत् व्याख्यान' शब्दका अर्थ व्यवस्थित एवं यथार्थ व्याख्यान ही है। तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरणमें उपलब्ध 'अव्यवस्थित व्याख्यान' या 'निर्देशमात्र' यथावत् व्याख्यान नहीं कहा जा सकता।

अनुपपत्तियोंकी अनुपपत्ति—

अब हम उत्तर लेखके आरम्भमें 'कुछ अनुपपत्तियाँ' उपशीर्षकके साथ दी गयीं अनुपपत्तियोंपर भी विचार करते हैं। आश्चर्य है कि जब यह स्वीकार कर लिया गया है कि 'इस मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ. विद्यानन्द हैं' तो वे अनुपपत्तियाँ रहती ही कहाँ हैं? सच तो यह है कि जब उक्त मंगलश्लोकको विद्यानन्दकी मान्यतानुसार तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मान लिया गया तब 'मेरी तो यह अनुपपत्ति थी, जो अब भी कायम है,' 'तो भी अभी तीन प्रश्न अवशिष्ट रह जाते हैं जो इस (विद्यानन्दकी)' मान्यतामें अनुपपत्ति उत्पन्न करते हैं,' 'पर प्रश्न तो यह है कि वे (विद्यानन्द) उसे (मंगलश्लोकको) स्पष्टतः तत्त्वार्थसूत्रका अंग भी मानते थे क्या? सन्देहात्मक प्रश्न दोलायमान चित्तवृत्तिके सूचक हैं। ऐसी दशामें वे अनुपपत्तियाँ विचार योग्य नहीं ठहरतीं। यथार्थमें किसी स्थिर पक्षपर ही विचार या विमर्श किया जा सकता है अस्थिर पर नहीं।

हाँ, यदि यही मान्यता कायम रखी जाय कि आ. विद्यानन्द उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण नहीं मानते थे, तो उक्त तीन अनुपपत्तियोंपर ही नहीं, अन्य अनुपपत्तियोंपर भी व्यवस्थित विचार किया जा सकता है। पर तब यह मान्यता कि 'इस मंगलश्लोकको सूत्रकार कृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ. विद्यानन्द हैं, समाप्त हो जायेगी। अतः अनुपपत्तियोंमें कोई दम न होनेसे वे विचारयोग्य नहीं हैं।

विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्परा और आधार

अब हम उक्त लेखकी अवशिष्ट दो बातोंको भी लेते हैं, जो नयी उपस्थित की गयी हैं और जिनमें-से (१) एक है विद्यानन्दकी मान्यतामें पूर्व-परम्पराका अभाव और (२) दूसरी है विद्यानन्दकी उस मान्यताका आधार-विषयक प्रश्न। इन दोनों बातोंके द्वारा विद्यानन्दकी मान्यताके महत्त्वको कम करनेके लिए यह बतलानेका प्रयास किया गया है कि विद्यानन्दको अपनी इस मान्यताके लिए पूर्वाचार्य-परम्पराका कोई समर्थन प्राप्त नहीं है, वह उनकी निजी मान्यता एवं गलत धारणा है जो अकलंककी अष्टशतीके एक वाक्यके आधारपर उसका गलत अर्थ करके बना ली गयी है। और इसलिए विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगलश्लोकको जो उमास्वातिके

तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण प्रतिपादन किया है वह वास्तविक नहीं है। इसपरसे आश्चर्य होना स्वाभाविक है। जिन विद्यानन्दको 'सूक्ष्मप्रज्ञ' बतलाया जाता है, जिन्हें न्यायकुमुदचन्द्र-द्वितीय भागकी प्रस्तावनामें 'अतुल तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतो-मुखी अध्ययन' के धनी तक प्रकट किया गया है और जिनके वचनोंको प्रमाण मानकर उनके आधारपर कुछ ही समय पूर्व यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया था कि विद्यानन्दने उक्त मंगलश्लोकको आ. पूज्यपादके द्वारा तत्त्वार्थशास्त्रकी भूमिका बांधते समय सर्वार्थसिद्धिके मंगलरूपमें रचा हुआ बतलाया है, उन्हीं विद्यानन्दको अब सन्देहकी दृष्टिसे देखा जाने लगा है। अस्तु! यहां इस नये मतपर भी विचार किया जाता है। यद्यपि, विचार करते समय यह आशंका अवश्य हो सकती है कि इस विचार द्वारा सन्तोष हो सकेगा या नहीं? क्योंकि वे कई शताब्दी पूर्वके बालचन्द्र, योगीन्द्रदेव और श्रुतसागरादि टीकाकारोंके विषयमें कहा गया था कि उन्होंने उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका जो मंगलाचरण बतलाया है वह उनकी कल्पना है—उन्हें उसके लिए पूर्व परम्परा प्राप्त नहीं थी; जब विद्यानन्द तककी पूर्व परम्परा बतला दी गयी तो अब विद्यानन्द-मान्यताकी भी पूर्व परम्पराका प्रश्न उठाया गया है। यदि विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्व परम्परा भी बतला दी गयी तो फिर उन दूसरे उत्तरोत्तर आचार्योंकी मान्यताका प्रश्न उठाया जायेगा फिर भी उन दोनों बातोंपर विचार किया जाता है।

१. पूर्वपरम्परा-विचार—

पूर्वपरम्पराके अभाव-सम्बन्धमें जो युक्तियाँ दी गयी हैं उनका सार यह है कि—विद्यानन्दको तत्त्वार्थसूत्रपर अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके दो ही टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे—एक आ. पूज्यपादकी 'सर्वार्थसिद्धि' और दूसरा श्रीअकलंकदेवका 'राजवार्तिक', इन दोनों टीकाग्रन्थोंमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोककी कोई व्याख्या नहीं है। यदि यह मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण होता तो पूज्यपाद और अकलंकदेव इसकी व्याख्या जरूर करते, क्योंकि "आ. पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रके किसी भी अंशको बिना व्याख्या और उत्थानके नहीं छोड़ते। वे उसके एक-एक शब्दका व्याख्यान करते हैं। यह उनकी व्याख्यापद्धति है।" "इसी तरह अकलंकदेव राजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके प्रत्येक अंशका या तो वार्तिक बनाकर या उसका सीधा ही विशद व्याख्यान करते हैं।" इसके सिवाय, सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति एक भव्यके प्रश्नपर बतलाई है, "भूमिकाके अनुसार यदि तत्त्वार्थसूत्रकी भव्यके प्रश्नपर उत्पत्ति हुई है तो सूत्रकारको मंगलाचरण करनेका कोई अवसर या प्रसंग नहीं था।" "मूल तत्त्वार्थसूत्रकी कुछ प्रतियोंमें यह श्लोक नहीं भी है।" अतः विद्यानन्दको अपनी मान्यताके लिए पूर्व परम्परा प्राप्त नहीं थी।

इस युक्तिवादके पिछले दो अंश पूर्व परम्पराके विचारके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं रखते। मूलतत्त्वार्थसूत्रकी कुछ प्रतियोंमें इस मंगलश्लोकका न पाया जाना प्रकृत विषय पर कोई असर नहीं डालता—खासकर ऐसी हालतमें जब कि उनकी प्राचीनताका द्योतक समयका उल्लेख भी साथमें न हो और अधिकांश प्रतियोंमें यह मंगलश्लोक पाया जाता हो। रही भव्यके प्रश्नपर तत्त्वार्थसूत्रकी उत्पत्ति,

इसके विषयमें प्रथम तो आपत्ति सन्देह युक्त है इसीसे 'यदि' शब्दका साथमें प्रयोग है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्र प्रश्नोत्तरके रूपमें नहीं है—प्रश्नोत्तर रूपमें होनेपर उसमें उत्तरोंके साथ प्रश्न भी रहने चाहिए थे, परन्तु प्रश्न तो दूर रहे, प्रथम दो प्रश्नोंके उत्तर भी साथमें नहीं हैं। ग्रन्थकी सूत्रप्रकृतिको देखते हुए, सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें ग्रन्थावतारका जो सम्बन्ध व्यक्त किया गया है उसका इतना ही आशय है कि किसी भव्य या सभी भव्य जीवोंको लक्ष्य करके आचार्य महोदयने इस ग्रन्थरत्नकी रचना की है—यह नहीं कि उस भव्य तथा आचार्य महोदयके मध्यमें जो साक्षात् प्रश्नोत्तर हुआ था उसीको निबद्ध कर दिया गया है। तीसरे, अवतार-कथा कुछ भिन्न प्रकारसे भी पाई जाती है। और चौथे, तत्त्वार्थवार्तिकमें श्रीअकलंकदेव "अपरे आरातीया...। नात्र शिष्याचार्यसम्बन्धो विवक्षितः। किन्तु...इति निश्चित्य मोक्षमार्गं व्याचिख्या-सुरिदमाह।" इत्यादि प्रथम सूत्रके पीठिका वाक्यों द्वारा प्रश्नोत्तर रूप सम्बन्धके अभावका भी सूचन करते हैं। अतः मंगलाचरणको अनवसर प्राप्त तथा अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता और न ऐसा कहकर विद्यानन्दकी मान्यताके लिए पूर्वपरम्परा-का अभाव ही बतलाया जा सकता है।

अब रह जाता है युक्तिवादका प्रथम अंश, इसके सम्बन्धमें निम्न विचार है:—
प्रथम तो यह कहना ठीक नहीं कि आ० विद्यानन्दको सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक ये ही दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे; क्योंकि ऐसा कहना तभी बन सकता है जब पहले यह सिद्ध कर दिया जाय कि विद्यानन्दसे पहले तत्त्वार्थसूत्रपर इन दो टीकाग्रन्थोंके सिवाय और किसी भी दिगम्बर टीका ग्रन्थकी रचना नहीं हुई थी। परन्तु यह सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि अनेक शिलालेखों आदि परसे यह प्रकट है कि पूर्वमें दूसरे भी टीकाग्रन्थ रचे गये हैं, जिनमें-से एक तो वही है, जिसका तत्त्वार्थवार्तिकमें प्रथम सूत्रके अनन्तर 'अपरे आरातीयाः' इत्यादि वाक्योंके द्वारा सूचन पाया जाता है; दूसरा स्वामी समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटि आचार्यका टीका-ग्रन्थ है, जिसका उल्लेख श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ के निम्न श्लोकमें मिलता है और जिसमें प्रयुक्त हुआ 'एतत्' शब्द इस बातको प्रकट करता है कि यह श्लोक उसी टीकाग्रन्थका वाक्य है और वहीसे लिया गया है—

“तस्यैव शिष्यशिखकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेह्यष्टिः।

संसारवाराकरपोतमेतत्तत्त्वार्थसूत्रं तदलंकारः॥”

यह भी नहीं कहा जा सकता कि दूसरे टीकाग्रन्थ विद्यानन्दको उपलब्ध नहीं थे, क्योंकि अनुपलब्धिका कोई कारण प्रदर्शित नहीं है। फिर जो ग्रन्थ गुरुको न उपलब्ध हो वह शिष्यको उपलब्ध हो जाय; जैसे कि प्रमाणसंग्रहादि जो ग्रन्थ पं० गोपालदासजी-को उपलब्ध नहीं थे वे आज नयी खोजके कारण उनके शिष्योंको उपलब्ध हो रहे हैं। और इसलिए सम्भव तो यह भी है कि जो टीकाग्रन्थ पूज्यपाद तथा अकलंकको प्राप्त न हो वह विद्यानन्दके सामने मौजूद हो। अतः वर्तमानमें उपलब्ध इन दो

१. जैसा कि सर्वार्थसिद्धिके इन वाक्योंसे प्रकट है—“विनेयाशयवशात्तत्त्वदेशनाविकल्पः। केचि-त्संक्षेपवृत्तयः, अपरे नातिसंक्षेपेण नातिविस्तरेण प्रतिपाद्याः। सर्वसत्त्वानुग्रहार्थो हि सतां प्रयासः” इति अधिगमोपायभेदोद्देशः कृतः।—स. सि. १-८।

टीकाग्रन्थोंपर-से यह कल्पना कर लेना कि विद्यानन्दको भी ये ही दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध थे—इनसे पुराना अथवा इनके समकालीन दूसरा कोई टीकाग्रन्थ उपलब्ध नहीं था—युक्तिसंगत नहीं है। और इसी तरह मात्र इन दो टीकाग्रन्थों पर-से विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्पराको खोजना भी युक्ति-युक्त नहीं है। उनकी मान्यताकी पूर्वपरम्पराके लिए दूसरे टीकाग्रन्थ, तत्त्वार्थटीकाओंसे भिन्न दूसरे ग्रन्थ, जिनमें आसपरीक्षादिकी तरह तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणका उल्लेख हो, और अपने साक्षात्गुरु, दादागुरु तथा समकालीन दूसरे वृद्ध आचार्योंसे प्राप्त हुआ परिचय ये सब भी कारण हो सकते हैं। इनके सिवाय, अपने समयसे ५००-७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई मूल तत्त्वार्थसूत्रकी ऐसी प्रामाणिक प्रतियाँ भी उस मान्यतामें कारण हो सकती हैं जिनमें उक्त मंगलश्लोक मंगलाचरणके रूपमें दिया हुआ हो। इतनी पुरानी—आ० उमास्वातिके समय तककी—प्रतियोंका मिलना उस समय कोई असम्भव नहीं था। आज भी हमें अनेक ग्रन्थोंकी ऐसी प्रतियाँ मिल रही हैं जो अबसे ६००-७०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई हैं। ऐसी हालतमें मात्र सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थ-वार्तिकको विद्यानन्द-मान्यताकी पूर्वपरम्पराके निर्णयका आधार बनाना निर्बाध नहीं है।

दूसरे, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें उक्त मंगलश्लोककी टीकाका न होना मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण माननेमें कोई बाधक नहीं है और न विद्यानन्दकी मान्यताको पूर्वपरम्पराका समर्थन अप्राप्त होनेमें साधक है, क्योंकि टीकाकारोंके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वे मंगलश्लोककी भी व्याख्या करें—खासकर ऐसी हालतमें उनके लिए व्याख्या करना और भी अनावश्यक हो जाता है जबकि उन्होंने मूलके मंगलाचरणको अपनाकर उसे अपनी टीकाका मंगलाचरण बना लिया हो। सर्वार्थसिद्धि ऐसा ही टीकाग्रन्थ है जिसमें मूलके मंगलाचरणको अपना लिया गया है और तत्त्वार्थवार्तिक ऐसी ही सूत्रवार्तिकरूप टीकाप्रकृतिको लिये हुए है जो मंगलाचरणकी व्याख्याको अनावश्यक कर देती है। इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण एवं पुष्टिकरण प्रथम लेखमें हो चुका है और रहा-सहा इस लेखमें 'आक्षेप-परिहार-समीक्षा' उपशीर्षकके नीचे कर दिया गया है। अतः यहाँपर उसको फिरसे दोहराना अनावश्यक है।

तीसरे, सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें मंगलाचरणकी व्याख्याको आवश्यक बतलानेमें जो कि मूल के किसी भी अंश अथवा शब्दको बिना व्याख्याके न छोड़नेरूप व्याख्यापद्धति हेतु दिया गया है, वह पक्षाव्यापक एवं सदोष है; क्योंकि इन दोनों ही टीका-ग्रन्थोंमें मूलके कितने ही पद-वाक्य तथा शब्द अव्याख्यात हैं और कितने ही सूत्रोंके उत्थान-वाक्य भी साथमें नहीं हैं; जैसा कि 'आक्षेप-परिहार-समीक्षा' उपशीर्षकके नीचे प्रत्याक्षेप नं० ५, ६ के समाधानोंमें बतलाया जा चुका है। फिर मंगलाचरणकी व्याख्याकी तो बात ही क्या है, क्योंकि वह ग्रन्थका अंग नहीं होता और इसलिए उसकी व्याख्या करना अनिवार्य नहीं। उसका करना-न करना व्याख्याकारोंकी रुचिपर निर्भर है।

इस तरह पहली बातके समर्थनमें दिया गया युक्तिवाद सदोष होनेके कारण

विद्यानन्दकी मान्यताके विषयमें पूर्वपरम्पराके अभावको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। अतः यह कहना कि 'उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखनेवालोंमें 'सर्वप्रथम' आचार्य विद्यानन्द हैं, उन्हें जब अपनी धारणाके पक्षमें पूर्वाचार्योंकी परम्परा नहीं मिली और श्लोकवार्तिकमें उस श्लोकका व्याख्यान करना प्रबल बाधक जँचा तो वे अन्य प्रकारसे उसके पदोंकी व्याख्या कर जानेपर भी तत्त्वार्थसूत्रके अंगरूपसे उसे अव्याख्यात रखनेके कार्यमें पूज्यपाद और अकलंक आदिके साथ शामिल होगये हैं', निःसार है। ऐसा प्रतिपादन करके जाने-अनजाने एक ऐसी जिम्मेवारीको ले लिया गया है जिसका निर्वाह करना कठिन है, क्योंकि ऐसे प्रतिपादनकी समीचीनता अथवा यथार्थताको व्यक्त करनेके लिये यह बतलाना आवश्यक है कि आ० विद्यानन्द-के सामने मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो प्रतियाँ थीं, दूसरी टीकाएँ थीं और तत्त्वार्थसूत्रके उल्लेख-विषयक दूसरे ग्रन्थ थे उन सबको देख लिया गया है और उनमें कहीं भी उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण अथवा सूत्रकारकृत नहीं लिखा है; तभी यह प्रतिपादन किया जा सकता है कि "इस मंगलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखने-वाले सर्वप्रथम आ० विद्यानन्द हैं।" साथ ही, यह भी बतलाना होगा कि आ० विद्यानन्दपर जो यह गम्भीर आरोप लगाया गया है कि 'उन्होंने यह जानते हुए भी कि उनकी उक्त मंगलश्लोक-विषयक धारणाको पूर्वाचार्यपरम्पराका समर्थन प्राप्त नहीं है, फिर भी उसे आपसीक्षादिके द्वारा चलानेका प्रयत्न किया है' इस प्रकारके आरोपपर हमारा प्रश्न है न कि इस आरोपका क्या आधार है? क्या इसमें विद्यानन्दका निजी स्वार्थादिक कोई कारण है? जब आ० विद्यानन्द अपनी मान्यताका अन्य ग्रन्थों द्वारा खुला प्रचार कर रहे थे तब उन्हें श्लोकवार्तिकमें उक्त श्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका अंग मानकर उसकी खुली व्याख्या करनेमें किस बातका भय उपस्थित था? और वह भय खुली व्याख्या न करनेमात्रसे कैसे दूर हो गया, जबकि विद्यानन्द श्लोकवार्तिकमें ही प्रकारान्तरसे उसकी व्याख्या कर रहे हैं और उसकी सूचना भी अपनी आपसीक्षा-टीकामें दे रहे हैं? लगता है कि उपर्युक्त सारा कथन पूर्वाग्रहसे प्रेरित है। और वह निश्चय ही विद्वद्ग्राह्य नहीं है।

(२) आधार-विचार—

अब रह जाती है मान्यताके आधारवाली दूसरी बात। उसके विषयमें हमारा कहना है कि जब यह स्वीकार कर लिया है कि "यह तो विद्यानन्द जैसे आचार्यके लिए कम सम्भव है कि वे ऐसी धारणा बिना किसी पूर्वाचार्यवाक्यके अवलम्बनके बना लेते," तो उस आधारकी खोज होनी चाहिए। अन्वेषण करनेपर अकलंककी अष्टशतीका निम्न वाक्य विद्यानन्दकी उस धारणा-मान्यताका आधार प्राप्त होता है—

“देवागमेत्यादि मंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तैव स्वयं.....।”

इस वाक्यसे ठीक पूर्ववर्ती दो मंगल-पद्योंमें अकलंकदेवने क्रमशः अर्हत्समुदयकी, तद्वाणीकी और समन्तभद्रकी स्तुति करके समन्तभद्रकी 'देवागम' कृतिकी वृत्ति लिखनेकी प्रतिज्ञा की है और उसे 'भगवान्का स्तव' बतलाया है। 'देवागम' नाम 'देवागम' शब्दसे प्रारम्भ होनेके कारण भक्तमरादि स्तोत्रोंके नामोंकी तरहसार्थक है।

विद्यानन्दने भी समन्तभद्रकी उस कृतिपर अष्टसहस्री नामकी एक अलंकृति (टीका) लिखी है जिसके प्रथम मंगलपद्यमें उन्होंने जिनेश्वर समुदाय और उनकी वाणीके साथ समन्तभद्रकी स्तुति करके उनकी उस कृतिपर अलंकृति लिखनेकी प्रतिज्ञा की है और कृतिका नाम 'आप्तमीमांसितम्' दिया है, जो उस कृतिकी अन्तिम कारिका 'इतीय-माप्तमीमांसा' में दिये हुए नामके अनुकूल है। साथ ही नाममें प्रयुक्त हुए 'आप्त' का विशेषण 'शास्त्रावताररचित-स्तुति-गोचर' दिया है। यहाँ उल्लेख्य है कि विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अकलंककी अष्टशतीको पूर्णतः अपनाया है और उसका मूलतः अनुसरण करते तथा अपने कथनका अष्टशतीसे समर्थन करते हुए अकलंकके हार्दको व्यक्त करने और उनके प्रतिपाद्य विषयको पूर्वाचार्य-परम्पराकी मान्यतानुसार स्पष्ट करने तथा संगत बिठलानेका भी पूरा प्रयत्न किया है। और इस सब प्रयत्नके द्वारा वे स्वामी समन्तभद्रकी कृतिको अलंकृत करनेमें सक्षम हुए हैं। यतः अपने मंगलपद्य तथा उससे सम्बन्धित आगेके कथनके विषयका स्पष्टीकरण करते हुए विद्यानन्दने, "तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादिना तत्संस्तवनविधानात्" इस वाक्यके द्वारा यह बतलाकर कि हमने ही अहंत्समुदाय, तद्वाणी और समन्तभद्रका संस्तवन नहीं किया अपितु पूर्ववर्ती आचार्य देवागम वृत्तिकार अकलंकदेवने भी 'उद्दीपीकृत' इत्यादि पद्योंके द्वारा अहंत्समुदाय, तद्वाणी और समन्तभद्रका स्तवन किया है, तदनन्तर अष्टशती-वृत्तिके 'देवागमेत्यादि' उस आद्य वाक्यको दिया है जिसे उपर्युक्त प्रकारसे अधूरा उद्धृत करके विद्यानन्दकी तत्त्वार्थशास्त्रके मंगलाचरण-विषयक मान्यताका एकमात्र आधार बतलाया गया है और जिसका (बिन्दुस्थानीय) शेष अंश इस प्रकार है—

“श्रद्धा-गुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते । तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः।
शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात् ।”

इस पूरे वृत्तिवाक्य-द्वारा अकलंकने देवागम इत्यादि ११४ पद्यात्मक परम-आप्तकी गुणातिशयपरीक्षाको स्वीकार करने, 'मंगल-पुरस्सरस्तवविषय' विशेषण पद देने और परीक्षाके स्वीकार-द्वारा ग्रन्थकारमें श्रद्धा-गुणज्ञताकी सिद्धि करने रूप तीनों बातोंको सूचित किया है—अर्थात् यह बतलाया है कि आचार्य समन्तभद्रने देवागम इत्यादि ग्रन्थके द्वारा उस परम-आप्तदेवके गुणातिशयकी परीक्षाको स्वीकार किया है जो मंगलाचरणके निमित्त रचे गये स्तवनका विषयभूत है और उनकी इस परीक्षासे यह स्पष्ट है कि वे आप्तमें श्रद्धा रखते थे, क्योंकि उन (श्रद्धा और गुणज्ञता) मेंसे किसी एकके भी न होनेपर परीक्षा बन ही नहीं सकती। ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (आप्तस्तवन पुरस्सर शास्त्रविधान) के अनुसर्ता होनेसे अपने परीक्षा-ग्रन्थका निर्माण किया है। पूर्व परम्परानुसार विद्यानन्दने अष्टशतीके उक्त अंशको अपनाकर तदनन्तर प्रयुक्त हुए 'इत्यनेन' जैसे शब्दोंके द्वारा अकलंकके इसी आशयको और भी व्यक्त करते हुए अपने और अकलंकके शब्दविन्यासकी एकाभिप्रेतके नाते जो तुलना की है वह द्रष्टव्य है—

“मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते । मंगलं पुरस्सर-

मस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तवः इति व्याख्यानात् ।”

अर्थात्—मंगलपुरस्सरस्तव ही शास्त्रावतार रचितस्तुति कहा जाता है; क्योंकि मंगल है पुरस्सर जिसके ऐसा जो शास्त्रावतार काल वह ‘मंगलपुरस्सर’ कहलाता है और उस शास्त्रावतार कालके अवसरपर रचा गया जो स्तव : स्तोत्र है उसे ‘मंगलपुरस्सरस्तव’ कहते हैं, ऐसा ‘मंगलपुरस्सरस्तव’ पदका व्याख्यान है ।

‘मंगलपुरस्सरस्तव’ पदके इस व्याख्यानको ‘अर्थ’ तथा ‘अनुवाद’ नाम देकर और अर्थ-अनुवाद तथा व्याख्यानमें कोई भेद न करके ‘सीधा अर्थ’ तथा ‘सीधा अनुवाद’ न करना बतलाया गया है । यद्यपि स्पष्टरूपसे यह नहीं लिखा कि विद्यानन्दने अर्थ करनेमें गलती की, अथवा वह किसी तरह बनता ही नहीं, बल्कि अन्यपदार्थ-प्रधान बहुव्रीहि समासके द्वारा वैसा अर्थ बनता जरूर है इसे स्पष्ट स्वीकार किया है, फिर भी यह अर्थ सीधा नहीं, सीधा अर्थ पूर्वपदके अनुसन्धानसे दूसरा ही निकलता है और उस दूसरे—अपने द्वारा प्रस्तुत किये गये सीधे—अर्थको देकर प्रकारान्तरसे यह सूचित किया गया है कि विद्यानन्दने सीधा अर्थ न करके जो गलती खाई है उसीका यह परिणाम है कि वे उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण बतला रहे हैं । अस्तु, अष्टशतीके उक्तवाक्यका जो सीधा अर्थ प्रस्तुत किया गया है वह इस प्रकार है—

“देवागम आदि मंगलपूर्वक किया गया जो स्तव अर्थात् जिसमें देवागम नभोयान आदि मंगलसूचक पद विद्यमान हैं ऐसा जो स्तव उस देवागमस्तवके विषय-भूत परमआप्तके गुणातिशयकी परीक्षाको स्वीकार करनेवाले ग्रन्थकार....।”

इस अर्थके द्वारा जहाँ यह सुझानेका प्रयत्न किया गया है कि समन्तभद्रके सामने दूसरा ऐसा कोई शास्त्र नहीं था, जिसके ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ जैसे मंगलाचरणमें आये हुए आप्तके गुणोंकी इस ‘देवागम’ ग्रन्थमें परीक्षा की गयी हो बल्कि स्वयं यह देवागम ग्रन्थ आप्तकी परीक्षाको लिये हुए होने तथा स्तव कहा जानेसे उस ‘स्तव’ शब्दका भी वाच्य है जो ‘मंगलपुरस्सरस्तव’ पदमें प्रयुक्त हुआ है । वहाँ बादको ‘अतः’ शब्दके प्रयोग द्वारा निष्कर्ष निकालते हुए यह भी फलित किया गया है कि—“अकलंकदेव देवागम आदि पदोंको मंगलार्थक मानकर देवागमस्तवको मंगलशून्य होनेकी आशंकाका निराकरण कर रहे हैं ।” परन्तु ये दोनों ही बातें समुचित प्रतीत नहीं होतीं; क्योंकि प्रथम तो जबतक आप्तका कोई गुणस्तोत्र सामने न हो तबतक आप्तके उन गुणोंकी परीक्षामें प्रवृत्ति ही नहीं होती ।

दूसरे, वह श्रद्धा भी चरितार्थ नहीं होती जिसे अकलंकने परीक्षामें एक आवश्यक प्रयोजनके तौरपर स्वीकार किया है ।

तीसरे, अकलंकके ‘शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्’ ये दोनों पद व्यर्थ जान पड़ते हैं ।

चौथे, देवागमके प्रारम्भमें ऐसा कोई मंगलाचरण भी नहीं, जिसमें वर्णित आप्तके स्वरूपको लेकर ही अगली कारिकाओंमें उसकी परीक्षा की गयी हो ।

पांचवें, देवागम स्वयं अकलंककी दृष्टिमें भगवत्स्तोत्र (“भगवतां स्तवः”) है और भगवत्स्तोत्र सारा ही मंगलरूप होता है तब अकलंकके विषयमें यह कहना कि वे ‘देवागम आदि पदोंको मंगलार्थक मानकर देवागमस्तवके सम्बन्धमें मंगलशून्य होनेकी आशंकाका निराकरण कर रहे हैं’ निरर्थक जान पड़ता है ।

छठे, देवागम आप्तमीमांसाके नामके साथ मूलतः एक परीक्षाग्रन्थ है, जिसमें आप्त परीक्ष्य है और वह परीक्षाके अनन्तर ही स्तुतिका विषय बनाया जा सकता है—पहले नहीं । यही कारण है कि देवागम द्वारा परीक्षाको समाप्त करके स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासनमें उन परमआप्त वीर भगवान्को अपनी स्तुतिका विषय बनाया है जिन्हें देवागमकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त हुए ‘नातस्त्वमसि नो महान्’ जैसे शब्दोंके द्वारा परीक्षाके पहले ‘महान्’ प्रतिपादन नहीं किया था; जैसा कि युक्त्यनुशासनकी प्रथम कारिकामें प्रयुक्त ‘स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं’ जैसे शब्दोंसे ज्ञात होता है, जिनमें ‘अद्य’ परीक्षावसान समयका द्योतक है और चौथी कारिकामें ‘महान्तीत्यतः प्रतिवक्तुमीशाः’ कथन द्वारा उन्हें स्पष्टतया ‘महान्’ भी घोषित किया गया है । यह सब स्थिति तीक्ष्णदृष्टि अकलंकदेवकी आंखोंसे ओझल नहीं थी; तब अकलंकके लिए कैसे युक्त हो सकता है कि वे ऐसे परीक्षाग्रन्थमें आप्तके स्तव-नादिरूप किसी मंगलाचरणकी आकांक्षा अथवा आशंका करें और उसे न देखकर प्रथम पद्यमें पड़े हुए ‘देवागम’ ‘नभोयान’ जैसे शब्दोंके द्वारा उसकी पूर्ति करनेका प्रयत्न करें ।

सातवें, अकलंकदेवकी ऐसी प्रकृति और प्रवृत्ति ही नहीं पायी जाती कि वे मंगलाचरण-शून्यताकी आशंका करके उसके निराकरणका प्रयत्न करें अथवा किसी तरह मंगलाचरणकी संगति बिठलायें । यदि ऐसी प्रकृति एवं प्रवृत्ति होती और तत्त्वार्थसूत्रमें मंगलाचरण न होनेपर तत्त्वार्थवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रकी मंगल-शून्यताका भी निरसन करते हुए प्रथम सूत्रमें प्रयुक्त हुए सम्यग्दर्शनादि पदोंके द्वारा उस मंगलाचरणकी संगति जरूर बिठलाते, क्योंकि परीक्षा-ग्रन्थकी अपेक्षा निःश्रेयसशास्त्रमें उसकी संगति बिठलाना कहीं अधिक संगत एवं आवश्यक था, जैसा कि ब्रह्मसूत्रकी आदिमें ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ सूत्रमें प्रयुक्त हुए ‘अथ’ शब्दके द्वारा उसके व्याख्याकारोंने मंगलकी संगति बिठलायी है और जिसे स्वीकार भी किया गया है । परन्तु तत्त्वार्थवार्तिकमें ऐसा कुछ भी नहीं पाया जाता और इसलिए यही कहना होगा कि या तो अकलंककी वैसी प्रकृति तथा प्रवृत्ति नहीं थी और या थी तो तत्त्वार्थवार्तिकमें उन्होंने जो मंगल-विषयकी चर्चा नहीं की उसका यही कारण है कि वे तत्त्वार्थसूत्रमें

1. विद्यानन्दने स्वयं युक्त्यनुशासनकी टीकामें ‘अद्य’ शब्दका वाच्य ‘अस्मिन्काले परीक्षावसान-समये’ दिया है । और प्रथम कारिकाकी प्रस्तावनामें स्पष्ट रूपसे यह स्वीकार किया है कि ‘आप्तमीमांसा (देवागम)’ के द्वारा व्यवस्थापित आप्तकी स्तुतिरूपमें यह ग्रन्थ उसके अनन्तर रचा गया है । जैसा कि उनके निम्न उद्धरणसे स्पष्ट है—

“श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हताऽन्यतीर्थकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः ? इति ते पृष्टा इव प्राहुः.....” ।

मंगलाचरणका होना जानते थे—भले ही अपने वार्तिककी प्रकृतिके अनुसार उन्होंने उसकी व्याख्यादि करना आवश्यक नहीं समझा। दोनों ही हालतोंमें बाधा आती है। अतः उनका सीधा अर्थ ही नहीं किन्तु उस अर्थके द्वारा जो उक्त दो बातें सुझायी गयी हैं अथवा फलित की गयी हैं वे भी बाधित ठहरेंगी। और इसलिए उनके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि विद्यानन्दने सीधा अर्थ न करके गलती अथवा भूल की है और वह गलती अथवा भूल ही उनकी उस मान्यताका आधार है।

इसके सिवाय, यहां यह प्रश्न पैदा होता है कि जब अष्टशतीके उक्त वाक्यका अभीष्ट अर्थ बन सकता था और वह सीधा-सरल अर्थ था, तो विद्यानन्दने उसे छोड़कर दूसरा अर्थ क्यों किया? इसके उत्तरमें यह तो नहीं कहा जा सकता कि विद्यानन्दको वह सीधा अर्थ मालूम नहीं था; क्योंकि प्रथम तो सीधा-सरल अर्थ सबसे पहले मालूम हुआ करता है—उसीपर पहली दृष्टि पड़ती है, गूढ़ तथा गम्भीर अर्थ बादको दृष्टिपथमें आता है। दूसरे ऐसा कहनेमें विद्यानन्दका तलस्पर्शी पाण्डित्य और सर्वतोमुख-अध्ययन, जिसे स्वीकार किया गया है, बाधक पड़ता है—उनका वह पाण्डित्य और सर्वतोमुखी अध्ययन हमें उनकी उक्त सरलार्थ-विषयक अनभिज्ञताकी ओर आकृष्ट नहीं होने देता। अकलंककी गूढ़से गूढ़ पंक्तियों, वाक्यों तथा पदोंके मर्मको और अकलंकके हादं (हृद्गत भाव) को व्यक्त करनेवाले आचार्योंमें विद्यानन्दका ऊँचा स्थान है। इसीसे उन्हें 'सूक्ष्मप्रज्ञ' कहनेमें विद्वानोंको गर्व होता है। अतः उनपर अनभिज्ञताका आरोप तो नहीं किया जा सकता। तब यही कहना होगा कि उन्हें 'उक्त अर्थ भी हो सकता है' ऐसा मालूम जरूर था। परन्तु फिर भी उन्होंने उस सीधे-सरल अर्थको ग्रहण न करके जो दूसरा अर्थ स्वीकार किया है उसका कारण? कारण दो हो सकते हैं—एक तो यह कि विद्यानन्द उस सीधे अर्थको अबाधित और पूर्वपरम्पराके साथ संगत नहीं समझते थे बल्कि उस अर्थको ही अबाधित एवं पूर्व परम्पराके साथ संगत जानते थे जो उन्होंने किया है, और दूसरा कारण यह कि पूर्वपरम्पराके साथ संगति-असंगतिका कोई खयाल न रखकर उन्हें अपनी नयी कपोलकल्पना अथवा निराधार धारणाको चलाना ही इसके द्वारा इष्ट था। परन्तु इस पिछले कारणके सम्बन्धमें फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि पूर्वपरम्पराका उल्लंघन करके अपनी नयी कपोलकल्पनाको चलानेमें विद्यानन्दका क्या हेतु था?—किस स्वार्थादिके वश उन्होंने ऐसा किया? इसका कोई उत्तर नहीं बनता। और इसलिए जबतक इस प्रश्नका समुचित समाधान न कर दिया जाय तब तक दूसरा कारण ग्राह्य नहीं हो सकता—खासकर ऐसी हालतमें वह और भी अग्राह्य हो जाता है जब हम विद्यानन्दके ग्रन्थोंपर-से यह देखते हैं कि उनकी प्रकृति और परिणति अपनी पूर्वाचार्य-परम्पराका अनुसरण करनेकी ओर ही पायी जाती है; यतः यह स्वीकार किया जाता है कि 'यह तो विद्यानन्द जैसे आचार्योंके लिए कम सम्भव है कि वे ऐसी धारणा बिना किसी पूर्वाचार्यवाक्यके आलम्बनके बना लेते।' ऐसी हालतमें उपर्युक्त एक ही कारण रह जाता है और वही समुचित जान पड़ता है। सीधे अर्थ और फलितार्थमें जो सात बाधाएँ ऊपर उपस्थित की गयी हैं उनसे वह अबाधित नहीं रहता, और जब अबाधित नहीं तब पूर्वपरम्पराके साथ संगत भी कैसे हो सकता है। विद्यानन्दका अर्थ सीधा-साधारण अर्थ न होकर विशेषार्थ है और

वह पूर्वपरम्पराके साथ संगत है, इसीसे उन्होंने उसे देते हुए पहले ही यह सूचित कर दिया है कि 'मंगलपुस्सरस्तव ही शास्त्रावताररचित स्तुति कहा जाता है,' जिसका 'कहा जाता है' ('इत्युच्यते') यह पद स्वकपोलकल्पना अथवा स्वरुचि-विरचितत्वकी भावनाको हटाकर कथनकी ख्याति और पूर्वपरम्पराके साथ उसकी संगतिका द्योतक है। साथ ही उस अर्थके अनन्तर 'इति व्याख्यानात्' पद देकर तो उन्होंने उसकी स्थितिकी और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् यह बतला दिया है कि 'मंगलपुरस्सरस्तव' पदका 'शास्त्रावताररचितस्तुति' सीधा अर्थ या अनुवाद नहीं है, किन्तु वह उसका व्याख्यान है—पूर्वाचार्यपरम्परासे प्राप्त विशिष्ट कथन है।

यहाँ 'व्याख्यानात्' शब्द खासतौरसे ध्यान देने योग्य है और वह प्रामाणिकताकी दृष्टिसे विद्यानन्दके उस अर्थकी जान है। प्रतीत होता है कि उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया गया और शायद इसीसे विद्यानन्दके अर्थके साथ उसे उद्धृत भी नहीं किया। परन्तु कुछ भी हो, यथास्थान प्रयुक्त हुआ यह शब्द अपना खास महत्त्व रखता है और किसी तरह भी उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। न्यायकी परिभाषामें 'व्याख्यान' संगत विशिष्ट कथनको अथवा प्रसिद्ध-अर्थसे भिन्न कथनको कहते हैं, जिसकी पुष्टि "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" इस सुप्रसिद्ध एवं आचार्य पूज्यपाद,^१ अकलंकदेव^२ और विद्यानन्द^३ के द्वारा अनुमोदित न्याय-वाक्यसे भी हो जाती है, जिसे देकर अकलंकदेवने तो "इत्यनिष्टस्य निवृत्तिर्भवति" शब्दों द्वारा यह भी प्रकट किया है कि 'इससे अनिष्टको निवृत्ति होती है।' यतः आ० विद्यानन्दने जहाँ स्वामी समन्तभद्रकी कारिकाओं और अकलंकदेवकी अष्टशतीके वाक्योंका सीधा-सरल अर्थ या अनुवाद किया है वहाँ उन्होंने 'व्याख्यानात्' जैसे पदका प्रयोग भी नहीं किया—अपनी ओरसे उन्होंने इस पदका प्रयोग संगत विशेषार्थकी प्रतिपत्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिए ही किया है। जैसा कि नीचेके कुछ उदाहरणोंसे प्रकट है :—

१—"तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः....। तेषां समयास्तोर्थकृतसमयास्तोर्थच्छेदसम्प्रदाया...कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः संवादको (?) नैव भवेदिति व्याख्यानात् ।"

—अष्टस., का. ३ पृ. ५

२—"एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाव्यावृत्तेरिति (अष्टशती) यथा च कपिलादयोऽनेकप्रमाणवादिनस्तोर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोऽपि (अनेक-प्रमाणवादिनः), तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात् । नैकप्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाण-वादिन इति व्याख्यानात् ।"

—अष्टस., का. ३ पृ. ४२ ।

३—"अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः.....इति (न्यायविनिश्चय)
अभिलापविवेकतः अभिलापरहितत्वात् इति व्याख्यानात् ।

—अष्टस., का. १३ पृ. १२१ ।

१. सर्वार्थसिद्धि पृ. ३०६ (शोलापुर संस्करण) ।

२. तत्त्वार्थवार्तिक पृ. १३१, ३५५ ।

३. श्लोकवार्तिक पृ. ५०४ ।

४—“अत्रापीयमेव कारिका (अभिलापतवंशानामित्यादि) योज्या, अभिलापविवेकत इत्यभिलापनिश्चयत इति व्याख्यानात् ।”

—अष्टस., का. १३ पृ. १२१ ।

५—“प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्रभंगी इति (त. वार्तिक) वचनात्... । १ विधिकल्पना, २ प्रतिषेधकल्पना, ३ क्रमतोविधि-प्रतिषेधकल्पना, ४..., ७ क्रमाऽक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना च सप्तभंगीति व्याख्यानात् ।”

—अष्टस., का. १४ पृ. १२५ ।

इन उदाहरणोंसे, जिनमें पहला समन्तभद्रके और शेष सब अकलंकके पदोंके गूढार्थ अथवा विशेषार्थको व्यक्त करनेवाले हैं, विद्यानन्दके हार्दको भले प्रकार समझा जा सकता है। साथ ही यह भी देखा जा सकता है कि उन्होंने अकलंकदेवके ‘मंगल-पुरस्सरस्तव’ इस गूढ़ (विशेष) पदका जो वह सामान्य अर्थ नहीं किया, जिसे सीधा अर्थ बतलाया जाता है, उसका कारण न तो तद्विषयक उनकी अनभिज्ञता है, न अपनी नयी कल्पनाको चलाना है, बल्कि यही है कि वे उसे बाधित तथा पूर्वपरम्पराके विपरीत जानते थे। इसीसे उन्होंने उसका परित्याग करके वह विशेष अर्थ किया है जो पूर्वपरम्पराकी मान्यतानुसार अकलंकको विवक्षित और सर्व प्रकारसे सुसंगत था। उक्त पदका जो व्याख्यान उन्होंने दिया है वह या तो उसी रूपमें पहलेसे किसी ग्रन्थमें मौजूद था—उन्होंने उसे वहाँसे उद्धृत किया है और या उसका स्रोत उन्हें पूर्वाचार्यपरम्परासे बीजरूपमें प्राप्त था—वे अपने गुरु, दादागुरु तथा दूसरे समकालीन वृद्ध आचार्योंके मुखसे वैसा सुन चुके थे; प्राचीन ग्रन्थोंके उल्लेखोंसे भी यह मालूम कर चुके थे कि ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ इत्यादि मंगलश्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है और उसमें स्तुत आपको लक्ष्य कर स्वामी समन्तभद्रने ‘आप्तमीमांसा’ लिखी है। उनकी इस प्रामाणिक जानकारीमें मूल तत्त्वार्थसूत्रकी वे प्राचीन प्रतियाँ भी सहायक हो चुकी थीं, जो ५००-७०० वर्ष पहलेकी अथवा उमास्वामीके समय तककी लिखी हुईं उन्हें प्राप्त थीं और उनमें उक्त मंगलाचरण मौजूद था। इन दोनों अवस्थाओंसे भिन्न वह व्याख्यान उनकी निजी कल्पना नहीं है। विद्यानन्द जहाँ केवल अपनी ओरसे कोई व्याख्यान उपस्थित करते हैं वहाँ वे ‘व्याख्यातुं शक्यत्वात्’ जैसे पदोंका प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

१. अकलंकदेवके वचन कितने गूढ़ तथा गम्भीरार्थक होते हैं, यह बात नीचेके दो आचार्य-वाक्योंसे जानी जा सकती है—

“गूढमर्थमकलङ्कवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।

व्यञ्जयत्यमलमनत्रवीर्यवाक् दीपवर्तिरनिशं पदे पदे ॥”

—वादिराजसूरि ।

“देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।

न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥” —प्रथम अनन्तवीर्य ।

२. यथा—‘अर्थशब्देन प्रत्यक्षस्याभिधानाद्वा, क्वचिद्विषयेण विषयिणो वचनाद्धर्मकीर्तिकारिकाया एव तन्मतदूषणपरत्वेन व्याख्यातुं शक्यत्वात् । यथा च’” ।

—अष्टस. पृ. १२२, का. १३ ।

इस सम्पूर्ण ऊहापोहसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दकी उक्त मंगलश्लोक-विषयक मान्यताका आधार अकलंकदेवकी अष्टशतीगत 'देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तव....' आदि वाक्य है, जिसके साथ उन्होंने अपने 'शास्त्रावताररचितस्तुति...' आदि वाक्यकी संगति बिठायी है और उसे उससे प्रमाणित किया है। अतः विद्यानन्दकी मंगलाचरणविषयक मान्यता साधारण तथा पूर्वपरम्परासम्मत है। इसीसे वे तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिक, अष्टसहस्री और आप्तपरीक्षामें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रका निभ्रान्त मंगलाचरण प्रतिपादन करते और आप्तपरीक्षादिके रूपमें उसकी व्याख्या करते हैं। अतः उक्त मान्यतामें पूर्वपरम्परा और आधारका अभाव बतलाना युक्त नहीं है।

उपसंहार

मैं समझता हूँ कि उत्तर लेखकी सभी बातों और प्रासंगिक विषयोंका विचार पिछले और इस लेखमें आ गया है। अब ऐसी कोई बात नहीं रही, जो असमाहित रही हो।

इस चर्चके महत्त्वपूर्ण तीन परिणाम सामने आये। प्रथम तो जहाँ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकका कर्ता आ. विद्यानन्दके उल्लेखोंका गलत अर्थ करके सर्वार्थसिद्धिकार आ. पूज्यपादको बतलाया जाता था और 'सूत्रकार' तथा 'शास्त्रकार' पदोंका वाच्य भी उन्हींको माना जाता था, वहाँ अब विद्यानन्दके उन उल्लेखोंका स्पष्टीकरण और उनपर-से हुए भ्रमका निवारण हो जानेपर उन्हीं उल्लेखोंसे उक्त मंगलश्लोकका कर्ता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छको स्वीकार कर लिया गया है तथा विद्यानन्दके 'सूत्रकार' और 'शास्त्रकार' पदोंका प्रयोग भी उन्हींके लिए मान लिया गया है। तात्पर्य यह कि यह लिखकर कि 'इस मङ्गलश्लोकको सूत्रकारकृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ. विद्यानन्द हैं' उक्त मंगलस्तोत्रको तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण अंगीकार कर लिया गया है।

दूसरे, जो विद्वान् उक्त मंगलश्लोकके कर्तृत्व-विषयमें ढुलमुल-विचार थे उन्हें निष्पक्ष निर्णयके लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो गयी।

तीसरे, जो विद्यानन्दके उल्लेखोंका गलत अर्थ करके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्'को पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण बतलाकर उसके मीमांसाकार आचार्य समन्तभद्रको पूज्यपादका उत्तरकालीन बतलाने लगे थे उनकी वह गति और प्रयास रुक गया।

-
१. उदाहरणस्वरूप पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी (तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी-विवेचन सहित, प्रस्तावना पृ. १७ और सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना पृ. ५६ में) 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण न मानकर सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण मानते थे। किन्तु अब वे उसे 'सूत्रकारको ही अनुपम कृति' स्वीकार करने लगे हैं (आ. शान्तिसागरजी जन्म-शताब्दिस्मृति-ग्रन्थ, 'तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएँ' शीर्षक लेख पृ. ३८, ३९, ४०)। इस मत-परिवर्तनका कारण हमारे उक्त लेख ही मालूम होते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने इस लेखमें उनकी विचार-सरणि और युक्तियाँ ही अनुसृत की हैं।

अब विद्यानन्दकी मंगलाचरण विषयक उक्त मान्यताके पूर्वाधारका नया प्रश्न उठाया गया है। किन्तु यह प्रश्न निस्सार है, क्योंकि अकलंकदेवके अष्टशतीगत 'देवा-गमेत्यादिमङ्गल' आदि प्रतिपादन और उसके विद्यानन्दकृत व्याख्यान द्वारा उसका पूर्वाधार भी मिल जाता है, जिसका ऊपर विवेचन किया जा चुका है। स्मरण रहे कि इस प्रकारके प्रश्न उठानेसे कहीं भी विश्रान्ति नहीं हो सकेगी और विद्यानन्द जैसे महान् आचार्यके कथनपर अविश्वास ही व्यक्त होगा, जो युक्त नहीं है। विद्यानन्दको अवश्य ही अकलंककी अष्टशती द्वारा प्रतिपादित उक्त परम्परा प्राप्त थी, उसीके आधारपर उन्होंने दृढ़ताके साथ उक्त मंगलश्लोकको तत्त्वार्थसूत्रकारका मंगल-स्तोत्र प्रतिपादित किया है।

परिशिष्ट

उक्त दोनों लेखोंके लिखे जानेके कुछ काल बाद आ. विद्यानन्दके पूर्वोल्लिखित उल्लेखोंके अतिरिक्त उक्त मंगलश्लोकको आचार्य गृद्धपिच्छ रचित प्रकट करने-वाला एक अतिस्पष्ट एवं अभ्रान्त उल्लेख और उपलब्ध हुआ है, जो निम्न प्रकार है—

“गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममङ्गलतया प्रथममुक्तत्वात् ।”

—गो. जी. म. प्र. टी. पृ. १४।

यह उल्लेख सात-आठसौ वर्ष प्राचीन गोम्मटसार जीवकाण्डकी मन्दप्रबो-धिका टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आ. अभयचन्द्र (१२वीं-१३वीं शताब्दी) का है। इस उल्लेखमें कई महत्त्वपूर्ण बातोंका निर्देश है। प्रथम तो तत्त्वार्थसूत्रकारके ‘गृद्धपिच्छाचार्य’ नामका, दूसरे तत्त्वार्थसूत्रके ‘तत्त्वार्थशास्त्र’ नामका, तीसरे गृद्धपिच्छाचार्य द्वारा तत्त्वार्थशास्त्रकी आदिमें ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ इत्यादि अर्हन्नमस्कारको मंगलरूपमें प्रथम करनेका और चौथे अर्हन्नमस्कारको ही परममंगल प्रतिपादन करनेका स्पष्ट कथन है। इसमें उक्त मंगलश्लोकको सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद देव-नन्दिकी सर्वार्थसिद्धिका अर्हन्नमस्कार न बतलाकर बहुत ही स्पष्ट और सन्तुलित शब्दावलीमें आचार्य गृद्धपिच्छरचित तत्त्वार्थसूत्रकी आदिमें उनके द्वारा अभिहित अर्हन्नमस्कार प्रतिपादित किया गया है। यह उल्लेख जहाँ विद्यानन्दके उल्लेखोंका पोषक एवं समर्थक है—वहाँ वह इस बातको भी प्रकट करता है कि ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ इत्यादि मंगलश्लोकको सात-आठसौ वर्ष पूर्व भी आ. गृद्धपिच्छ रचित तत्त्वार्थसूत्रका ही मंगलाचरण माना जाता था।

तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज

तत्त्वार्थसूत्र जैन परम्पराका एक महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। इसमें जैन तत्त्वज्ञानका अत्यन्त संक्षेप और प्रांजल संस्कृत-गद्यसूत्रोंमें बड़ी विशदताके साथ प्रतिपादन किया गया है। इसके रचयिता आचार्य गृद्धपिच्छ हैं, जिन्हें उमास्वामी और उमास्वाति नामोंसे भी जाना जाता है।

इसमें दश अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें रत्नत्रयके रूपमें मोक्षमार्गका उल्लेख करते हुए सम्यग्दर्शन, उसके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वों, उन्हें जाननेके उपायों और सम्यग्ज्ञानका निरूपण किया गया है। दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायोंमें जीवतत्त्वका लक्षण, उसके विभिन्न भेदों, उससे सम्बन्धित शरीरों, जन्मों, योनियों, आवासों (रत्नप्रभा आदि नरकभूमियों, जम्बूद्वीप-लवणसमुद्र आदि मध्यलोकके स्थानों और देवनिकायों) तथा उनसे सम्बद्ध आवश्यक जानकारीयोंका प्रतिपादन निबद्ध है। पाँचवें अध्यायमें अजीवतत्त्व और उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पाँच भेदोंका, छठे और सातवें अध्यायोंमें आस्रवतत्त्व (पापास्रव और पुण्यास्रव) का, आठवेंमें बन्धतत्त्वका, नवमेमें संवर और निर्जरा तत्त्वोंका तथा दशवेंमें मोक्ष-तत्त्वका विवेचन है। इस तरह जैनधर्मके प्रसिद्ध सात तत्त्वोंका इसमें सांगोपांग कथन किया गया है। और इस प्रकार हमें इसमें धर्म और दर्शनका पर्याप्त या यों कहिए कि प्रायः पूरा निरूपण उपलब्ध होता है।

अब प्रश्न है कि इस धर्म और दर्शनके ग्रन्थमें क्या उनके विवेचन या सिद्धिके लिए न्यायका भी अवलम्बन लिया गया है? इस प्रश्नका उत्तर, जब हम तत्त्वार्थसूत्रका गहराई और सूक्ष्मतासे अध्ययन करते हैं, तो उसीसे मिल जाता है।

न्यायका स्वरूप : प्रमाण और नय

न्यायदोषिकाकार अभिनव धर्मभूषणयतिने न्यायका स्वरूप देते हुए लिखा है कि 'प्रमाण और नय दोनों न्याय हैं, क्योंकि उनके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है। उनके अतिरिक्त उनके ज्ञानका अन्य कोई उपाय नहीं है।' जैसा कि उनके निम्न प्रतिपादनसे स्पष्ट है—

‘प्रमाणनयार्थां हि विवेचिता जीवादयः सम्यग्धिगम्यन्ते । तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात् ।’—न्या. दी. पृ. ४ ।

न्यायशब्दकी व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दी गयी है कि 'नि' पूर्वक 'इण् गतौ' धातुसे करण अर्थमें 'घञ्' प्रत्यय करनेपर 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है। 'नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः, अर्थपरिच्छेदकोपायो न्यायः इत्यर्थः । स च प्रमाणनयात्मक एव' । अर्थात् निश्चयसे जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं वह न्याय है और वह

१. 'प्रमाणनयात्मकन्यायस्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकारसम्पत्तये प्रकरणमिदमारभ्यते ।'—

न्यायदी. पृ. ५, वीरसेवामन्दिर संस्करण, सन् १९४५ ।

२. न्या. दी. टिप्प. पृ. ५, संस्करण उपर्युक्त ।

प्रमाण एवं नयरूप ही है, क्योंकि उनके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान किया जाता है। अतएव जैनदर्शनमें प्रमाण और नय न्याय हैं।

तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण, प्रमाणाभास और नय

न्यायके उक्त स्वरूपके अनुसार तत्त्वार्थसूत्रमें प्रमाण और नय दोनोंका प्रतिपादन उपलब्ध है। तत्त्वार्थसूत्रकारने स्पष्ट कहा है कि प्रमाण और नयोंके द्वारा पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होता है। यथा—

‘प्रमाणनयैरधिगमः।’—त. सू. १-६।

इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें जहाँ धर्म और दर्शनका प्रतिपादन किया गया है वहाँ उसमें प्रमाण और नयरूप न्यायका भी प्रतिपादन है।

षट्खण्डागम ग्रन्थोंमें ज्ञानमार्गणाके अन्तर्गत ज्ञानमीमांसाके रूपमें आठ ज्ञानोंका वर्णन किया गया है। उनमें पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान और तीन ज्ञानोंको मिथ्या-ज्ञान निरूपित किया गया है। परन्तु वहाँ उन ज्ञानोंका प्रमाण और प्रमाणाभासके रूपमें कोई विभाजन दृष्टिगोचर नहीं होता। पर तत्त्वार्थसूत्रमें आगमवर्णित पाँच सम्यग्ज्ञानोंको प्रमाण और तीन मिथ्याज्ञानोंको प्रमाणाभास (अप्रमाण-विपर्यय) बतलाकर दार्शनिक एवं न्यायिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। मति आदि पाँच ज्ञानोंको प्रमाण तथा विपरीत मति, विपरीत श्रुत और विपरीत अवधि (विभंगज्ञान) इन तीन ज्ञानोंको विपर्यय—अप्रमाण—प्रमाणाभासके रूपमें निरूपण संस्कृत-भाषाके ग्रन्थोंमें तत्त्वार्थसूत्रमें ही सर्वप्रथम उपलब्ध होता है।

तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायके दूसरे अंग नयका भी प्रतिपादन है और उसके सात भेदोंका निर्देश किया गया है^१। वे हैं नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। टीकाकारोंने इनका विस्तृत विवेचन किया है।

प्रमाणके प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद

प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाणके दो भेदोंको बतलाकर उनका तत्त्वार्थसूत्रमें विशदताके साथ प्रतिपादन किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानोंको परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष कहा गया है।^२ तत्त्वार्थसूत्रकारने परोक्षता और प्रत्यक्षताका भी कारण बतलाते हुए लिखा है कि चूँकि आदिके दोनों (मति और श्रुत) ज्ञान इन्द्रियों और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं। अतः परापेक्ष होनेसे वे परोक्ष कहे गये हैं और अन्य तीन ज्ञान (अवधि, मनःपर्यय और केवल) इन्द्रियों और मनकी सहायतासे न होने तथा मात्र आत्माकी सहायतासे होनेके कारण प्रत्यक्ष बतलाये गये हैं^३। यह प्रमाणद्वयका भेद आगमिक^४ न होकर

१. ‘मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्’, ‘तत्प्रमाणे’—त. सू. १-९, १०।

२. ‘मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च’—वही, १-३१।

३. ‘नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः।’—वही, १-३२।

४. ‘तत्प्रमाणे’, ‘आद्ये परोक्षम्’, ‘प्रत्यक्षमन्यत्’—वही, १-१०, ११, १२।

५. ‘तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्’, ‘प्रत्यक्षमन्यत्’—त. सू. १-१४, १२।

६. मति, श्रुत आदि पाँच सम्यग्ज्ञानोंका भेद आगमिक है। स्वभावज्ञान और विभावज्ञानके

तार्किक है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती अकलंक^१, विद्यानन्द^२ आदि सभी जैन-तार्किकोंने किया है। भारतीय न्यायशास्त्रमें^३ किये गये प्रमाणके दो (वैशेषिक और बौद्धस्वीकृत), तीन (सांख्यमान्य), चार (नैयायिकसम्मत) पांच (प्राभाकर-अंगीकृत) और छह (भाट्ट मीमांसक स्वीकृत) भेदोंका समावेश उनके उक्त प्रमाण-द्वय (प्रत्यक्ष और परोक्ष) में ही हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार^४ जब मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करते हुए उन्हें मतिज्ञान कहते हैं और उनका इन्द्रिय-मनपूर्वक होनेके कारण परोक्षमें अन्तर्भाव करते हैं तो उनकी यहाँ निश्चय ही तार्किक दृष्टि लक्षित होती है। उनकी इस दृष्टिसे प्रकाश लेकर पूज्यपादने^५ न्यायदर्शन आदिमें पृथक् प्रमाणके रूपमें स्वीकृत उपमान, आगम आदि प्रमाणोंको परसापेक्ष होनेसे परोक्षमें अन्तर्भाव कर लिया है और तत्त्वार्थसूत्रकारके प्रमाणद्वयका समर्थन किया है। अकलंकने^६ भी उनके प्रमाणद्वयकी ही सम्पुष्टि की है, साथ ही नये आलोकमें प्रत्यक्ष-परोक्षकी परिभाषाओं और उनके तार्किक भेदोंका भी प्रतिपादन किया है। उत्तरकालमें तो आचार्य गूढपिच्छका आधार लेकर अकलंकने जो प्रमाण-निरूपण किया उसीपर विद्यानन्द^७, माणिक्यनन्दि^८ आदि तार्किक चले हैं।

अनुमानके (पक्ष, हेतु और उदाहरण) तीन अवयवोंसे सिद्धि

तत्त्वार्थसूत्रमें कुछ सिद्धान्तोंकी सिद्धि अनुमान (युक्ति) से की गयी है। उन्होंने अनुमानप्रयोगके तीन अवयवों—पक्ष, हेतु और उदाहरणसे मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानोंको विपर्यय (अप्रमाण—प्रमाणाभास) सिद्ध करते हुए प्रतिपादन किया है—

- (१) पक्ष—मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च,
- (२) हेतु—सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेः,
- (३) उदाहरण—उन्मत्तवत् ।

—(त. सू. १-३१, ३२)

भेदसे ज्ञानोपयोगके दो भेदोंका आ. कुन्दकुन्दका निरूपण (नियमसा. गा. १०) भी आगमिक है। कुन्दकुन्दने प्रवचनसार (गा. २१, २२, ३९, ४०) में प्रत्यक्ष और परोक्ष शब्दोंका प्रयोग किया है। पर वहाँ इन शब्दोंका प्रयोग पदार्थके विशेषणरूपमें है। हाँ, इसी ग्रन्थमें आगे (गा. ५८ में) अवश्य परोक्ष और प्रत्यक्षके लक्षण बतलाते हुए उन्हें ज्ञानका विशेषण बनाया है। पर प्रमाणके भेदरूपमें उनका प्रतिपादन नहीं है।

१. लघीय. १।३।
२. प्रमाणपरी. पृ. २८, वीर-सेवामन्दिर-ट्रस्ट संस्करण, १९७७।
३. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, पृ. ६९, वीर-सेवामन्दिर-ट्रस्ट, १९६९।
४. त. सू. १-१३, १४।
५. स. सि. १-११।
६. लघीय. १।३।
७. प्र. प. पृ. २८।
८. परीक्षामु. ३-१, २।

अर्थात् मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान विपर्यय (मिथ्या—अप्रमाण—प्रमाणाभास) भी हैं, क्योंकि उनके द्वारा सत् (समीचीन) और असत् (असमीचीन) का भेद न कर स्वेच्छासे उपलब्धि होता है, जैसे उन्मत्त (पागल पुरुष) का ज्ञान । उन्मत्त व्यक्ति विवेक न रखकर माताको स्त्री और स्त्रीको माता कह देता है । उसी प्रकार मति, श्रुत और अवधि (विभंग) ज्ञान भी सत्-असत्का भेद न कर कभी काचकामलादिके वश वस्तुका विपरीत (अन्यथा) ज्ञान करा देते हैं । अतः ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान भी कहे जाते हैं ।

तत्त्वार्थसूत्रकारके इस प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्र भी समाहित है । सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके समयमें तीन ही अनुमानावयव वस्तु-सिद्धिमें प्रचलित थे, उपनय और निगमनको अनुमानावयव स्वीकार नहीं किया जाता था या उनका जैन संस्कृतिमें विकास नहीं हुआ था । तत्त्वार्थसूत्रकारके उत्तर-वर्ती आचार्य समन्तभद्रने भी 'देवागम' (आसमीमांसा) में उक्त तीन अवयवोंसे ही अनेक स्थलोंपर वस्तु-सिद्धि की है । न्यायायतारकार सिद्धसेनने भी अनुमानके तीन ही अवयवोंका प्रतिपादन किया है ।

तत्त्वार्थसूत्रकारका तीन अवयवोंसे वस्तु-सिद्धिका दूसरा उदाहरण और यहाँ प्रस्तुत है । तत्त्वार्थसूत्रके दशवें अध्यायमें तीन सूत्रों द्वारा मुक्त जीवके ऊर्ध्वगमनको सयुक्तिक सिद्ध करते हुए तत्त्वार्थसूत्रकारने लिखा है—

(१) पक्ष—तदनन्तरं (मुक्तः) ऊर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ।

(२) हेतु—पूर्वप्रयोगात्, असंगत्वात्, बन्धच्छेदात्, तथागतिपरिणामाच्च ।

(३) उदाहरण—आविद्धकुलालचक्रवत्, व्यपगतलेपालावुवत्, एरण्डबीजवत्, अग्निशिखावच्च ।

—त. सू. १०-५, ६, ७ ।

अर्थात् द्रव्यकर्मों और भावकर्मोंसे छूट जानेके बाद मुक्त जीव लोकके अन्त-पर्यन्त ऊपरको जाता है, क्योंकि उसका ऊपर जानेका पहलेका अभ्यास है, कोई संग (परिग्रह) नहीं है, कर्मबन्धन नष्ट हो गया है और उसका ऊपर जानेका स्वभाव है । जैसे कुम्हारका चाक, लेपरहित तूमरी, एरण्डका बीज और अग्निकी ज्वाला । मुक्त-जीवके ऊर्ध्वगमनको सिद्ध करनेके लिए सूत्रकारने चार हेतु दिये और उनके समर्थनके लिए चार उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं ।^१ इस तरह अनुमानसे सिद्धि या विवेचन करना न्यायशास्त्रका अभिधेय है । यद्यपि साध्याविनाभावी एक हेतु ही विवक्षित अर्थकी सिद्धिके लिए पर्याप्त है, उसे सिद्ध करनेके लिए अनेक हेतुओंका प्रयोग और उनके समर्थनके लिए अनेक उदाहरणोंका प्रतिपादन अनावश्यक है, किन्तु उस युगमें न्यायशास्त्रका इतना विकास नहीं हुआ था, वह तो उत्तरकालमें हुआ है । इसीसे अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि आदि न्यायशास्त्रके आचार्योंने साध्य (विवक्षित

१. अनुपदिष्टहेतुकिमिदमूर्ध्वगमनं कथमध्यवसातुं शक्यमिति ? अत्रोच्यते—आह—हेत्वर्थः पुष्कलोऽपि दृष्टान्तसमर्थनमन्तरेणाभिप्रेतार्थसाधनाय नालमिति, उच्यते—सर्वार्थसि. १०-६, ७ की उत्थानिकाएँ ।

अर्थ) की सिद्धिके लिए पक्ष और हेतु इन दोको ही अनुमानका अंग माना है, उदाहरणको भी उन्होंने नहीं माना—उसे अनावश्यक बतलाया है। तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रकारके कालमें परोक्ष अर्थोंकी सिद्धिके लिए न्याय (युक्ति-अनुमान) को आगमके साथ निर्णय-साधन माना जाने लगा था। यही कारण है कि उनके कुछ ही काल बाद हुए स्वामी समन्तभद्रने^२ युक्ति और शास्त्र दोनोंको अर्थके यथार्थ प्ररूपण-के लिए आवश्यक बतलाया है। उन्होंने यहां तक कहा है कि वीरजिन इसलिए आस हैं, क्योंकि उनका उपदेश युक्ति और शास्त्रसे अतिरुद्ध है। तत्त्वार्थसूत्रके उक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि उसमें न्यायशास्त्रके बीज समाहित है, जिनका उत्तरकालमें अधिक विकास हुआ है।

तत्त्वार्थसूत्रके पांचवें अध्यायके पन्द्रह और सोलहवें सूत्रों द्वारा जीवोंका लोकाकाशके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकाकाशमें अवगाह प्रतिपादन किया गया है। यह प्रतिपादन भी अनुमानके उक्त तीन अवयवों द्वारा हुआ है। पन्द्रहवां सूत्र पक्षके रूपमें और सोलहवां सूत्र हेतु तथा उदाहरणके रूपमें प्रयुक्त हैं।^३ 'जीवोंका अवगाह लोकाकाशके असंख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकाकाशमें है, क्योंकि उनमें प्रदेशोंका संहार (संकोच) और विसर्प (विस्तार) होता है, जैसे प्रदीप।' दीपकको जैसा आश्रय मिलता है उसी प्रकार उसका प्रकाश हो जाता है। इसी तरह जीवोंको भी जैसा आश्रय प्राप्त होता है वैसे ही वे उसमें समव्याप्त हो जाते हैं।

सत्में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी सिद्धि

द्रव्यका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमें आगमानुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी युक्तताको बतलाया है। यहां प्रश्न उठा कि उत्पाद, व्यय अनित्यता (आने-जाने) रूप हैं और ध्रौव्य (स्थिरता) नित्यतारूप है। ये दोनों (अनित्यता और नित्यता) एक ही सत्में कैसे रह सकते हैं? इसका उत्तर सूत्रकारने हेतुका प्रयोग करके दिया है। उन्होंने कहा कि मुख्य (विवक्षित) और गोण (अविवक्षित) की अपेक्षासे उन दोनोंकी एक ही सत्में सिद्धि होती है। द्रव्यांशकी विवक्षा करनेपर उसमें नित्यता और पर्यायांशकी अपेक्षासे कथन करनेपर अनित्यताकी सिद्धि है। इस प्रकार युक्तिपूर्वक सत्को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रयात्मक या अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।^४

१. 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्' —परीक्षा. ३-३७। न्यायविनि. का. ३८१, अकलंक्य. पत्रपरी. पृ. ९।

२. 'युक्तिशास्त्राविरोधि वाक्' —देवागम (आसमी.) का. ६।

३. 'असंख्येयभागादिषु जीवानाम् (अवगाह.)', 'प्रदेशसंहारविसर्पिभ्याम्, प्रदीपवत्' —त. सू. ५-१५, १६।

४. 'ननु इदमेव विरुद्धं तदेव नित्यं तदेवानित्यमिति। यदि नित्यं व्ययोदयाभावादनित्यता-व्याघातः। अथानित्यमेव स्थित्यभावान्नित्यताव्याघात इति? नैतद्विरुद्धम्। कुतः?—' स. सि. ५-३२ की उत्थानिका।

५. 'अपितानपितसिद्धेः'।—५-३२।

६. स. सि. ५-३२।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्र धर्म, दर्शन और न्याय तीनोंका सम्यग्ज्ञान कराने-वाला जैन वाङ्मयका अद्वितीय ग्रन्थ है। सम्भवतः इसीसे उसकी महिमा एवं गरिमाका गान करते हुए उत्तरवर्ती आचार्योंने कहा है^१ कि इस तत्त्वार्थसूत्रका जो एक भी बार पाठ करता या सुनता है उसे एक उपवास करने जितना फल प्राप्त होता है। तत्त्वार्थसूत्रकी इस महिमाको देखकर आज भी समाजमें उसका पठन-पाठन सबसे अधिक प्रचलित है और पर्यूषण (दशलक्षण) पर्वमें तो उसपर व्याख्यान भी दिये जाते एवं सुने जाते हैं।



१. 'दशाध्याये परिच्छन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥' —अज्ञात व्याख्याकार कृत ।

तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा

‘तत्त्वार्थसूत्र’ जैन वाङ्मयका बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह द्वादशांग अथवा चारों अनुयोगोंके प्रायः सभी विषयोंका प्रतिपादक है। थोड़े-से पाठ-भेद या कम-बढ़ सूत्रोंके साथ दोनों—दिगम्बर और श्वेताम्बर—परम्पराओंमें मान्य एवं प्रतिष्ठित है। यह सूत्रात्मक शैली और संस्कृत भाषामें लिखा दश अध्यायोंमें उसी तरह विभक्त है जिस तरह वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणादका ‘वैशेषिक सूत्र’ दश अध्यायोंमें विभाजित है।

इसमें जैन तत्त्वज्ञानको ‘गागरमें सागर’ की भाँति भर दिया गया है। सम्भवतः इसीसे इसके मात्र पाठको या श्रवणको एक उपवास करनेके बराबर प्रकट कर इसका महत्त्व बतलाया गया है^१। यही कारण है कि जैन परम्परामें इसका वही स्थान है जो हिन्दू परम्परामें गीताका, मुस्लिम सम्प्रदायमें कुरानका और ईसाईयोंमें बाइबिलका माना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रकी इस महत्ताको देखकर दिगम्बर और श्वेताम्बर व्याख्याकारोंने इसपर छोटी-बड़ी दर्जनों व्याख्याएँ—टीका, भाष्य, वृत्ति, टिप्पणी आदि लिखी हैं तथा उसे अपना सिद्ध करनेके लिए मतभेद-प्रदर्शक कतिपय बातें भी उसमें समाहित की हैं।

जहाँ तक हमारा खयाल है, सबसे पहले पण्डित सुखलालजी ‘प्रज्ञाचक्षु’ ने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषयमें दो लेख लिखे थे और उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको तटस्थ परम्पराका सिद्ध किया था।^२

इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्मारामजीने कतिपय श्वेताम्बर आगमोंके सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका तथोक्त समन्वय करके ‘तत्त्वार्थसूत्र-जैनागम-समन्वय’ नामसे एक ग्रन्थ लिखा और उसमें तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रसिद्ध किया।^३ जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलालजीको प्राप्त हुआ, तो अपने पूर्व विचारको छोड़कर उन्होंने उसे मात्र श्वेताम्बर परम्पराका प्रकट किया तथा यह कहते हुए कि “उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है।”....“वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं।” निःसंकोच तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको श्वेताम्बर होनेका अपना निर्णय भी दे दिया है।^४

१. दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः ॥ —अज्ञात टीकाकारकर्तृक ।

२. ‘तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति’ और ‘तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार और व्याख्याएँ’ शीर्षक दो लेख, अनेकान्त, वर्ष १, किरण ६, ७, ११, १२, ई. सन् १९३० ।

३. प्रकाशक, लाला शादीराम गोकुलचन्द जौहरी, चाँदनी चौक, देहली, सन् १९३४ ।

४. तत्त्वार्थसूत्र, पं. सुखलालजी, ‘लेखकका वक्तव्य’ पृ. १८ और ‘परिचय’ पृ. २४, ई. १९४० ।

इस तरह तत्त्वार्थसूत्रको एक परम्पराके द्वारा अपना सिद्ध करने और उसे वैसा बनानेके क्रियात्मक प्रयत्नको देखकर दिगम्बर विद्वानोंने भी इस दिशामें विचार करना आवश्यक समझा ।

पण्डित परमानन्दजी शास्त्रीने^१ 'तत्त्वार्थसूत्रके बीजोंकी खोज' शीर्षक एक गवेषणापूर्ण लेख लिखा और उसके द्वारा उन्होंने दिगम्बर परम्पराके प्राचीन आगम-ग्रन्थोंके उसमें सप्रमाण बीज प्रस्तुत कर उसे दिगम्बर परम्पराका सिद्ध किया ।

पण्डित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने^२ भी 'तत्त्वार्थसूत्रका अन्तःपरीक्षण' शीर्षक दो लेख लिखे और उनमें उन्होंने साधार सिद्ध किया कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर मान्यताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला है और इसलिए वह दिगम्बराचार्य द्वारा रचित दिगम्बर ग्रन्थ है ।

पं. नाथूरामजी प्रेमीने^३ अपनी खोजके निष्कर्षोंके आधारपर तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्त्ताको यापनीय संघका^४ बतलाया ।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकी वास्तविक मूल परम्परा क्या है, यह अभी तक भी विद्वानोंके सामने एक समस्या बनी हुई है ।

डॉ. हीरालालजीके 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धगत निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्रको एक माननेके मतपर विचार करने तथा लेख लिखनेके लिए भद्रबाहुको, जिनका श्वेताम्बर परम्परामें बहुत बड़ा स्थान है और जिनकी निर्युक्तियाँ सीधी आगमसूत्रोंपर लिखी होनेके कारण आगमतुल्य मानी जाती हैं, निर्युक्तियोंके अध्ययन करनेका अवसर मिला । निर्युक्तियोंमें हमें कुछ ऐसी बातें मिली हैं, जो श्वेताम्बर आगमोंके तो अनुकूल हैं । पर आचार्य उमा-स्वातिके तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल नहीं हैं । हमें लगा कि जब तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर आगमोंके आधारपर बना हुआ बतलाया जाता है और उसे श्वेताम्बर ग्रन्थ प्रसिद्ध किया जाता है तो उसमें आगमोंसे भिन्न बातें क्यों प्रतिपादित हैं और दिगम्बर परम्पराके अनुकूल वे क्यों हैं ? तत्त्वार्थसूत्रकार जब श्वेताम्बर परम्पराके हैं और उनका तत्त्वार्थ सचेल श्रुत (श्वेताम्बर आगम) के आधारपर बना है तब उन्होंने सचेल श्रुतका परित्याग कर अचेल श्रुतका अनुगमन क्यों किया ? भद्रबाहुकी तरह उन्होंने पूर्व परम्परानुसार ही अपने तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) की रचना क्यों नहीं की ? ये प्रश्न ऐसे हैं, जो उपेक्षणीय नहीं हैं और जो हमें वास्तविक तथ्यको खोजनेके लिए इंगित करते हैं ।

अतः यहाँ निर्युक्तिकार और तत्त्वार्थसूत्रकारके बीच पाये जानेवाले वैषम्य-को प्रस्तुत किया जाता है, जिसके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रकार और उनका तत्त्वार्थ-

१. अनेकान्त, वर्ष ४, किरण १ ।

२. अनेकान्त, वर्ष ४, किरण ११-१२ और अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १-२ ।

३. जैन साहित्यका इतिहास, पृ. ५३३, द्वितीय संस्करण, १९५६ ।

४. यापनीय संघ दिगम्बर और श्वेताम्बरसे पृथक् संघ है ।

५. यह लेख 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ?' शीर्षकसे अनेकान्त, वर्ष ६, किरण १०-११ में और आगे इसी ग्रन्थमें भी प्रकाशित है ।

सूत्र सचेल परम्पराके सिद्ध न होकर अचेल—दिगम्बर परम्पराके सिद्ध होते हैं।
यथा—

१. निर्युक्तिकार भद्रबाहुने उत्तराध्ययन निर्युक्तिकी ७७वीं गाथामें दर्शनपरीषह बतलाई है और उनका यह बतलाना उत्तराध्ययनसूत्रों (पृ. ८२) में आई 'सम्मत-परीसह' के अनुकूल है^१। भद्रबाहुकी वह गाथा निम्न प्रकार है—

‘दंसणमोहे दंसणपरीसहो नियमसो भवे एक्के।’

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मके उदय होनेपर नियमसे दर्शन-परीषह होती है। लेकिन तत्त्वार्थसूत्रकारने ‘दर्शनपरीषह’ या ‘सम्मत-परीसह’ नहीं कही। उन्होंने ‘अदर्शनपरीषह’ बतलाई है। जैसा कि उनके निम्न दो सूत्रोंसे प्रकट है—

(क) “क्षत्तिपासाशोतोष्णदंशमशकनामन्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशव-धयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।”—त. सू. ९-९।

(ख) ‘दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनाळाभौ।’—त. सू. ९-१४।

अर्थ—छुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

दर्शनमोहनीयकर्मके उदयसे अदर्शन और अन्तरायकर्मके उदयसे अलाभ परीषह होती है।

यहाँ दोनों सूत्रोंमें स्पष्टतया ‘अदर्शनपरीषह’ का ग्रहण है। और तत्त्वार्थसूत्र-के दिगम्बर टीकाकारोंने भी अदर्शनपरीषह ही मानी हैं, दर्शनपरीषह नहीं।

२. भद्रबाहुने इसी उत्तराध्ययननिर्युक्तिकी गाथा ८२ में एक जीवके उत्कृष्ट और जघन्यपनेसे सम्भव परीषहोंका वर्णन करते हुए एक साथ कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक २० परीषहोंका सद्भाव स्वीकार किया है। जैसा कि उनकी निम्न गाथासे स्पष्ट है—

वोसं उक्कोसपए वदंति जहन्नओ हवइ एगो।

सोउसिण चरियं निसीहिया य जुगवं न वदंति ॥

अर्थ—उत्कृष्टपनेसे २० और जघन्यपनेसे १ परीषह होती है। एक तो स्पष्ट है और २० इस तरहसे—शीत और उष्ण तथा चर्या और निषद्या ये एक साथ नहीं हो सकतीं। अतः शीत और उष्णमें-से कोई एक और चर्या तथा निषद्यामें-से कोई एक परीषह होगी। इस तरह दो परीषह कम करनेपर २२-२ = २० परीषह ही हो सकती हैं। इससे कम नहीं और न ज्यादा। उनका यह कथन श्वे. आगमानुसार है^२।

१. तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वयके उल्लिखित सूत्रोंमें भी ‘दंसणपरीसह’ है।—देखें पृ. २०६, २०८।

२. ‘सत्तविह्वंघगस्स णं भंते ? कति परीसहा पणत्ता ? गोयमा ? वावीसं परीसहा पणत्ता, वोसं, पुण वेदेइ, जं समयं सीयपरीसहं वेदेति णो तं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ, जं समयं उसिणपरीसहं वेदेइ णो तं समयं सीयपरीसहं वेदेइ, जं समयं चरियापरिसहं वेदेति णो तं समयं निसीहियापरीसहं वेदेति, जं समयं निसीहियापरीसहं वेदेइ णो तं समयं चरिया-परीसहं वेदेइ।’—तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वय पृ. २०८।

किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार उत्कृष्टपनेसे १९ ही परीषद् बतलाते हैं—

‘एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकोनविंशतिः ।’—त. सू. ९-१७

अर्थ—एक जीवमें एक साथ एकको आदि लेकर १९ तक परीषद् हो सकती हैं। यद्यपि तत्त्वार्थसूत्रकारने नियुक्तिकारकी तरह स्पष्ट करके नहीं बताया कि वे १९ परीषद् कौन-सी सम्भव हैं और कौन कम हो जाती हैं? पर १९ की संख्या तो सूत्रकारकी ही कण्ठोक्त है और उसका खुलासा तथा मेल उनके टीकाकारोंने बिठाकर उनके अभिप्रेतको स्पष्ट किया है और बतलाया है कि शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा चर्या, शय्या और निषद्यामेंसे एक ही परिषद् सम्भव है। अतः शीत और उष्णमेंसे एक तथा चर्या, शय्या और निषद्यामेंसे दो इस प्रकार तीन परीषद् कम कर देने पर $22-3 = 19$ ही परीषद् एकसाथ सम्भव हैं।

यहाँ तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारोंका एक ही मन्तव्य है। यह ध्यान देने योग्य है कि भद्रबाहुने चर्या और निषद्याके साथ शय्याका विरोध उद्घाटित नहीं किया। जबकि चर्या और निषद्याके पारस्परिक विरोधकी तरह शय्याका भी उन दोनोंके साथ स्पष्ट विरोध है। वे चर्या तथा निषद्याके समय शय्याका भी सहभाव मानते हैं और वे ऐसा मानकर ही उत्कृष्टपनेसे २० परीषद् होनेकी अपनी श्वेताम्बरोय श्रुतमान्यताको प्रकट करते हैं। जबकि तत्त्वार्थसूत्रकारकी मान्यता १९ की ही है।

३. नियुक्तिकार भद्रबाहु तीर्थंकरकर्मके २० कारणोंको बतलाते हैं जो श्वेताम्बर आगमानुसार हैं। वे कारण नीचे दिये जाते हैं:—

अरिहंतसिद्धपवयणगुरुथेर - बहुस्सुए तवस्सीसुं ।
वच्छल्लया एएसि अभिक्खनाणोवओगो य ॥
दंसणविणए आवस्सए य सोलव्वए निरइआरो ।
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाहो य ॥
अप्पुव्वनाणगहणो सुयभत्ती पवयणे पभावणा ।
एएहि कारणेहि तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥

अर्थ—अर्हत्त्वत्सलता, सिद्धवत्सलता, प्रवचन-वत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थवि-रवत्सलता, बहुश्रुतवत्सलता, तपस्विवत्सलता, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, दर्शननिरति-चारता, विनयनिरतिचारता, आवश्यकनिरतिचारता, शीलनिरतिचारता, व्रतनिरति-चारता, क्षणलवसमाधि, तपःसमाधि, त्यागसमाधि, वैयावृत्यसमाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति और प्रवचनप्रभावना इन कारणोंसे जीव तीर्थंकरत्व—तीर्थंकरपनेको प्राप्त होता है—अर्थात् तीर्थंकरकर्मका बन्ध करता है।

यहाँ नियुक्तिकारने यद्यपि बीस कारणोंको एक-एक करके गिना दिया है और वे कुल बीस हो जाते हैं किन्तु उनके परिमाणको स्पष्ट बतानेवाला संख्यावाची ‘बीस’ पद नहीं दिया। जब हमने इसी नियुक्तिकी अगली गाथाओंको पढ़ा तो वहाँ बीसका बोध करानेवाला उन्हीके द्वारा प्रयुक्त ‘बीस’ पद भी मिल गया, जहाँ बीसोंसे अथवा किसी एकसे भी तीर्थंकरकर्मका बन्ध होनेका उल्लेख है। वह गाथा इस प्रकार है।

नियमा मणुयगतोए इत्थो-पुरिसेयरोव्व सुह्लेसो ।
आसेवियबहुवोहं वीसाए अण्णयरएहि ॥

—आवश्यकनि. गा. ७४४ ।

अर्थ—मनुष्यगतिमें शुभलेश्यावाला पुरुष अथवा स्त्री नियमसे बीस कारणों या किसी एकका आसेवन करनेसे तीर्थंकरत्वको प्राप्त करता है ।

भद्रबाहुके द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त बीस कारणोंको जब हमने श्वे० आगमसूत्रोंके साथ भी मिलाया तो ज्ञातृवर्मकथांग अध्ययन ८ का ६४ वां सूत्र शब्दशः एक है । इतना ही नहीं, वही क्रम, वही नाम और वही संख्या हमें वहाँ उपलब्ध हुई । वह सूत्र पुनरुक्त होता हुआ भी यहाँ दिया जाता है—

अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए तवस्सोसुं ।

वच्छलया य तेसिं अभिक्खनाणोवओगो य ॥१॥

दंसण-विणए आवस्सए सोलव्वए निरइयारं ।

खणलव-तव-च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥

अप्पुव्वनागगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणा ।

एएहि कारणेहि तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥

—ज्ञातृवर्मकथांग, अ. ८, सू. ६४ ।

अर्थ वही है जो पहले दिया गया है । इस तरह हम निर्युक्तिकारको यहाँ भी अपने श्वेताम्बरीय श्रुतके आधारपर चलता हुआ देखते हैं ।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकारको श्वेताम्बर श्रुतके आधारपर चलता हुआ नहीं पाते । वे तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके २४वें सूत्रमें तीर्थंकरनामकर्मके १६ ही बन्धकारण निर्दिष्ट करते हैं और उनका यह निर्देश दिगम्बर श्रुत एवं परम्पराके सर्वथा अनुकूल है । तत्त्वार्थसूत्रका वह सूत्र निम्न प्रकार है :—

‘दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभिक्षणज्ञानोपयोगसंवेगो शक्तितस्त्यागतपसो साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमहंदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ।’

अर्थ—दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतोंका अनतीचार पालन, अभिक्षणज्ञानोपयोग, संवेग, शक्त्यनुसार त्याग, शक्त्यनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अहं-द्विक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक-परिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचनवत्सलत्व ये तीर्थंकरत्व—तीर्थंकरनामकर्मके १६ बन्धकारण हैं ।

१६ की संख्याके साथ यही बन्धकारण दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध षट्खण्डागम (३-४१) में इस प्रकार उपदिष्ट हुए हैं—

“दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सोलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपरिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जघाथामे तथा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणपभावणदाए

अभिक्षणं अभिक्षणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेवेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणासगोदं कम्मं बंधंति ।”—३-४१, पुस्तक ८ ।

४. निर्युक्तिकार भद्रबाहुने दशवेकालिकनिर्युक्तिमें बाह्य तपोंके निम्न ६ भेद गिनाये हैं—१. अनशन, २. ऊनोदर, ३. वृत्तिसंख्यान, ४. रसत्याग, ५. कायक्लेश, ६. संलीनता । जैसा कि उनकी गाथासे प्रकट होता है—

अणसणमूणोअरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ ।

कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥

भद्रबाहु द्वारा वर्णित बाह्य तपोंके ये छहों भेद श्वेताम्बर श्रुतके ही अनुसार हैं । व्याख्याप्रज्ञसिस्सुत्रमें इसी प्रकार ६ भेद बतलाये हैं । यथा—

अणसण ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।

कायकिलेसो पडिसंलीणया बज्झो तवो होई ॥

—व्याख्याप्र. श. २५, उ. ७, सू. ८ वृ. ।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार निम्नप्रकारसे ६ भेद गिनाते हैं ।

“अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।”—तत्त्वार्थसूत्र ९-१९ ।

इनमें निर्युक्ति और श्वे० श्रुतसम्मत ‘संलीनता’ तप नहीं है, किन्तु उनके स्थानमें विवक्तशय्यासन है । यद्यपि हरिभद्रसूरिने ‘संलीनता’ के इन्द्रियसंलीनता, कषायसंलीनता, योगसंलीनता और विविक्तचर्या ऐसे चार भेद किये हैं । इन भेदोंमें भी विवक्तशय्यासन नहीं है । यह प्रकट करनेकी जरूरत नहीं है कि विविक्तचर्या द्वारा भी विवक्तशय्यासनका ग्रहण नहीं किया जा सकता है क्योंकि विविक्तचर्या दूसरी चीज है और विवक्तशय्यासन अलग चीज है । अतः स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने श्वे. श्रुतसम्मत ‘संलीनता’ तपको अपने उल्लिखित बाह्य तपोंमें स्थान नहीं दिया है और इस तरह हम यहाँ भी उन्हें भद्रबाहुकी तरह श्वे. श्रुतका अनुसर्ता नहीं पाते हैं ।

५. निर्युक्तिकारने उत्तराध्ययननिर्युक्तिमें ‘अरई अचेल इत्थो’ कहकर अचेल-परीषह बतलायी है । उत्तराध्ययनसूत्र (पृ. ८२) में भी ‘अचेलपरीषह’ ही दी गयी है । परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकारने अचेलशब्दके स्थानमें ‘नाग्न्य’ शब्दको रखकर अचेल-परीषहकी स्थानापन्न ‘नाग्न्यपरीषह’ कही है । यद्यपि अचेल और नाग्न्यमें कोई विशेष भेद नहीं है, आरम्भमें नाग्न्यके अर्थमें ही अचेल शब्दको रखा था और भ. महावीरने अचेलक धर्मका ही उपदेश दिया था । परन्तु ‘अचेल’ शब्दके स्थानमें ‘नाग्न्य’ शब्दको रखना क्यों आवश्यक और इष्ट समझा गया ? और यह परिवर्तन कब और कैसे हुआ ? इस सम्बन्धमें एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण इतिहास छिपा हुआ है जो यहाँ खास ध्यान देने योग्य है और डेढ़-दो हजार वर्ष पूर्वकी स्थितिको जानने के लिए प्रेरित करता है ।

१. पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री रचित ‘भगवान् महावीरका अचेलक्य धर्म’ नामक ट्रेक्ट, जैन-संघ, चौरासी, मथुरा ।

भगवान् महावीरके उत्तरवर्ती आचार्योंने 'अचेल परीषह' में प्रयुक्त 'अचेल' शब्दको सर्वथा वस्त्ररहितता—एक भी वस्त्रका न होनाके अर्थमें व्यवहृत किया था। भगवान् महावीरने स्वयं भी वस्त्र नहीं रखा था और वे नग्न ही विचरे थे। इस बातको श्वेताम्बर परम्परा भी स्वीकार करती है। इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र भी उनके लिए अनैच्छिक और अल्पकालिक (लगभग एक वर्ष कुछ महीने) रहा। इससे इतना स्पष्ट है कि भगवान् महावीरकी परम्परा अचेलक्य धर्मकी ही प्रोत्साहन देती थी और उसीका आचरण करती थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों साधुवर्गमें काल-दोषके प्रभावसे शिथिलताएँ और कमजोरियाँ पैदा होती गयीं। ये शिथिलताएँ और कमजोरियाँ यहां तक बढ़ीं कि नग्न रहना बड़ा कठिन और लज्जाजनक प्रतीत होने लगा।

जिन साधुओंने पूर्ण निर्ग्रन्थताको पालन करनेमें अपनेको असमर्थ पाया उन्होंने एक कौपीनका ग्रहण अनिवार्य और अपरिहार्य कर लिया। होते-होते वह वस्त्र भी निर्ग्रन्थतामें सम्मिलित हो गया और आगम तथा सूत्रोंमें प्रयुक्त 'अचेल' शब्दका अर्थ भी बदल दिया गया—'अनुदरा कन्या' की तरह 'अचेल' का अर्थ 'ईषद् चेलः अचेलः' अर्थात् 'अल्पचेल' कर लिया गया। परन्तु जो साधु भगवान् महावीरकी शुद्ध निरपवादिक परम्पराके पक्षपाती बने रहे वे 'अचेलक' का अर्थ सदा पूर्ण चेलरहित ही करते आये। इसी परम्परामें कुछ ही समय बाद आचार्य उमास्वाति हुए। उन्होंने देखा कि 'अचेल' शब्द तो भ्रष्ट और भ्रान्तिजनक हो गया है और उसकी दोनों ही तरफ खींचतान की जा रही है। अतः इस शब्दके स्थानमें तदर्थक किसी दूसरे स्पष्ट शब्दका ही प्रयोग करना अब आवश्यक है, जिससे भगवान् महावीरकी परम्परा पूर्णतः निरपवाद रूपमें ही सुरक्षित रहे और वर्तमान साधुवर्गमें कुछ सुधार हो। यह विचार कर उन्होंने 'अचेल' शब्दके स्थानमें अत्यन्त स्पष्ट और निभ्रान्त 'नाग्न्य' शब्दका व्यवहार किया। हम देखते हैं कि आगम और सूत्रोंमें प्रयुक्त 'अचेल' के पर्यायवाचीके रूपमें 'नाग्न्य' शब्द सर्व प्रथम आ० उमास्वातिके तत्त्वार्थ-सूत्रमें ही मिलता है जो न केवल भगवान् महावीरकी निरपवादिक परम्पराका पोषक है, बल्कि दिगम्बरत्वका सर्वथा समर्थक है। परन्तु कई शताब्दियोंके बाद इस स्पष्ट 'नाग्न्य' शब्दकी भी खींचतान की गयी और उसकी 'अचेल' शब्द जैसी ही दशा हो गयी। नवमी, दशमी शताब्दीके विद्वान् सिद्धसेन गणी कहते हैं कि 'निरूपकरणताका नाम 'नाग्न्य' परीषह नहीं है जैसा कि दिगम्बर और भौतादिमत वाले स्वीकार करते हैं। किन्तु आगमोदित नाग्न्यका ग्रहण इष्ट होना चाहिए। आगममें रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि तीन, चार, पाँच, नव, दस और बारह प्रकारकी उपधि निर्दिष्ट है, आदि।

१. नाग्न्यपरीषहस्तु न निरूपकरणतैव दिगम्बरभौतादिवत् । किं तर्हि ? प्रवचनोक्तविधानेन नाग्न्यम् । प्रवचने तु द्विप्रकारः कल्पः—जिनकल्पः स्थविरकल्पश्च ।...तत्र यः पाणिपात्र-लब्धिसम्पन्नस्तस्योपधिरवश्यंतया रजोहरणं मुखवस्त्रिका च । कल्पग्रहणात् त्रिविधश्चतुर्विधः पंचविधो वा । प्रतिग्रहधारिणस्तु नवप्रकारोऽवश्यंतया, कल्पग्रहणात् दशविध एकादशविधो (द्वादशविधो) वा उपधिरागममाभिहितः एवंविधं नाग्न्यमिष्टम्"।—सटीक तत्त्वार्थ-विगम पृ. १२५।

यही अभी हालमें श्रीविजयलब्धिसूरीश्वरजीने अपने 'तत्त्वन्यायविभाकर' नामक स्वरचित ग्रन्थमें प्रकट किया है। उसमें अचेलस्थानीय 'नाग्न्य' परीषद् न रखकर 'अवस्त्र' परीषद् दी है और उसका अर्थ 'सदोषवस्त्रादिपरिहारेणाल्पमूल्याल्प-वस्त्रादिभिर्वर्त्तनमवस्त्रपरीषद्ः' किया है तथा टीका (पृ. १७४) में 'एवञ्च सर्वथावस्त्रत्वशून्यतायामवस्त्रपरीषद्त्वं निराकृतम्' कहकर 'सर्वथावस्त्ररहितता' अर्थका निषेध एवं खण्डन किया है। आज 'अचेल' या 'अवस्त्र' अथवा 'नाग्न्य' का अर्थ अल्पचेल, अल्पवस्त्र या अल्पमूल्यके वस्त्र कोई भी निष्पक्ष एवं समझदार व्यक्ति नहीं कर सकता। किन्तु साम्प्रदायिक मनोवृत्ति सब कुछ करा देती है। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। प्रकृतमें हमें यह कहना है कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थमें भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वातिने उसके स्थानमें नग्नता—सर्वथा वस्त्ररहितता अर्थको स्पष्टतः ग्रहण करनेके लिए 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया। इससे यह विदित हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा क्या है? और उसकी रचना किस परम्पराके श्रुतके आधार पर हुई है? अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र-कार नाग्न्यसमर्थक परम्पराके हैं और उनका तत्त्वार्थसूत्र 'नाग्न्य' प्रतिपादक श्रुतके आधारपर रचा गया है, सचेल नहीं।

६. निर्युक्तिकारने लौकान्तिकदेवोंके ९ भेद बतलाये हैं जो श्वेताम्बर आगमके अनुकूल हैं। निर्युक्तिकारकी वह ९ भेदोंको बतलानेवाली गाथा निम्न प्रकार है:—

सारस्सयमाइच्छा वण्ही वरुणा य गदतोया य ।

तुसिया अब्बाबाहा अगिच्छा चेव रिट्ठा य ॥

—आवश्यकनिर्यु० गा० २१४ ।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रकार लौकान्तिकदेवोंके ८ ही भेद बतलाते हैं। यथा—

सारस्वतादित्यवह्न्यचरणगर्दंतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ।—४-२५

यद्यपि श्वेताम्बरसूत्रपाठमें ९ भेद गिनाये गये मिलते हैं। पर पण्डित सुखलाल जी आदि श्वेताम्बर विद्वान् सूत्रगत 'मरुतो' पाठको पीछेसे प्रक्षिप्त हुआ बतलाते हैं। दूसरे, जिस भाष्यको सूत्रकारका स्वोपज्ञ माना जाता है, उसमें भी आठ ही भेद निर्दिष्ट हैं, नौ नहीं^१। इससे प्रकट है कि सूत्रकारकी मान्यता ८ भेदोंकी है—जो श्वेताम्बर श्रुतके अनुकूल नहीं है, क्योंकि श्वे० श्रुतमें ९ भेद माने गये हैं^२।

ये कुछ उदाहरणस्वरूप दोनों शास्त्रकारों—निर्युक्तिकार भद्रबाहु और उमा-स्वातिके मध्यमें परम्पराकी सूचक बातें हैं, जो स्पष्ट बतलाती हैं कि भद्रबाहु जहाँ सचेल श्रुत—श्वेताम्बर आगमके अनुसार अभिप्राय प्रकट करते हैं वहाँ आचार्य उमा-स्वाति उनसे भिन्न मत रखते हैं। ऐसी हालतमें यह कहना कि वे श्वेताम्बर परम्परामें हुए हैं और उनका तत्त्वार्थसूत्र सचेलश्रुतके आधारपर बना है, बहुत ही स्खलित और भ्रान्त है। सच तो यह है कि वह दिगम्बर श्रुतके आधारपर रचा गया है और

१. "एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथा-संख्यम् ।" —तत्त्वार्थभाष्य ४-२६ ।

२. देखो, ज्ञातृधर्मकथा, भगवती और स्थानांगादि ।

उसके रचयिता दिगम्बर परम्पराके हैं, यह उसका गहरा अध्ययन करनेपर स्पष्ट अवगत होता है। इसके लिए यहाँ उदाहरणस्वरूप मात्र दो प्रमाण प्रस्तुत हैं—

(१) तत्त्वार्थसूत्र (९-९) में २२ परीषद्‌होंके अन्तर्गत एक 'स्त्रीपरीषद्' है, जिससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ उस परम्पराका है जो मात्र पुरुषकी मुक्ति स्वीकार करती है और स्त्रीको उसके मोक्षमें बाधक मानती है। वह परम्परा है दिगम्बर। श्वेताम्बर परम्परा स्त्री और पुरुष दोनोंकी मुक्ति स्वीकार करती है, अतः उनके अनुसार तो स्त्रीपरीषद्‌हके साथ-साथ पुरुषपरीषद्‌ह भी कही जानी चाहिए, क्योंकि पुरुष भी स्त्रीकी मुक्तिमें बाधक है। पर तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे नहीं कहा। उन्होंने मात्र स्त्रीपरीषद्‌हका ही कथन किया है।

(२) इसी प्रकार अन्य २२ परीषद्‌होंमें 'दंशमशक' परीषद्‌ह परिगणित है। उससे जाना जाता है कि यह ग्रन्थ दिगम्बर परम्पराका है, क्योंकि उसके साधु पूर्ण दिगम्बर (अवस्त्र—नग्न) होते हैं और दंशमशकपरीषद्‌हकी भाषा उन्हींकी होती है, श्वेताम्बर (सवस्त्र) साधुको नहीं।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि यदि तत्त्वार्थसूत्रमें श्वेताम्बर आगमोंका कुछ साम्य मिलता है और उनकी कतिपय बातें उसमें उपलब्ध होती हैं तो वह स्वाभाविक है, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओंका मूल उद्गम स्थान तो तीर्थंकर महावीरका द्वादशांगश्रुत ही है और इसीसे अनेकों गाथाएँ तथा अनेकान्त, स्याद्वाद, प्रमाण, नय, कर्मवाद, अहिंसादि पाँच अणुव्रत जैसे विषयोंकी विवेचना दोनों परम्पराओंमें एक-सी है, इस तथ्यको हमें भूलना नहीं चाहिए। मुख्य प्रश्न तो यह है कि तत्त्वार्थसूत्रमें दोनों परम्पराओंकी खास भेदक बात या बातें क्या हैं? यह हम ऊपर देख चुके हैं। तत्त्वार्थसूत्रमें दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध एक भी बात नहीं है, जबकि श्वेताम्बर परम्पराके विरुद्ध अनेक बातें हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय बात यह है कि श्वेताम्बर आगममें तीर्थंकर प्रकृतिके बन्ध-कारण बीस निर्दिष्ट हैं, जिनका अनुसरण निर्युक्तियोंमें भी है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें वे सोलह ही प्रतिपादित हैं, जो दिगम्बर आगमके पूर्णतया अनुसार हैं। इसी तरह और भी बातें हैं।



स्वामी समन्तभद्र
और जैन दर्शनको उनकी देन



येनाशेषकुनोतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः,
यद्वाचोऽप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसाथंद्युतः ।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्,
विद्यानन्दधनप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रिणीः ॥

—विद्यानन्द, अष्टसहस्री, अन्तिम पद्य ।

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणेः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलम् ।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगे-
विद्यानन्दबुधैरलङ्कृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥

—विद्यानन्द, युक्त्यनुशासनालङ्कार, अन्तिम पद्य ।

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्वयः ॥
कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥

—जिनसेन, आदिपुराण १।४३-४४ ।

गुणान्विता निर्मलवृत्तमोक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥

—वीरनन्दि, चन्द्रप्रभचरित १।६ ।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥
अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलम्बिता ॥
त्यागो स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥

—वादिराजसूरि, पार्श्वनाथ चरित्र १।१७-१९ ।



स्वामी समन्तभद्र

आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयको जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावित किया और यशोभाजन हुआ वह यही स्वामी समन्तभद्र हैं। इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मयके मूर्धन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध है। अकलंकदेवने उन्हें स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्गका परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरिने आद्य-स्तुतिकार तथा शिलालेखोंने वीरशासनकी सहस्रगुणी वृद्धि करनेवाला, श्रुतकेवलि-सन्तानोन्नायक, समस्तविद्यानिधि, शास्त्रकर्त्ता एवं कलिकालगणधर कहकर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थमें जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आहंत-परम्परा ऋषभादि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-व्यवस्थापक स्याद्वादन्यायको भूलने लगे, तो इन्हीं महान् आचार्योंने उसे उज्जीवित एवं प्रभावित किया। अतः ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञानप्रसारक मूर्धन्य मनीषी-का विद्वानोंद्वारा स्मरण एवं गुणगान हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय श्रद्धेय पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थमें दिया है। वह इतना प्रमाणपूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि आज भी उसमें संशोधन, परिवर्त्तन या परिवर्धनकी गुंजाइश प्रतीत नहीं होती। वह इस समय भी बिल्कुल नया और चिन्तन-पूर्ण है। उसमें इतनी सामग्री है कि उसपर शोधार्थी अनेक शोध-प्रबन्ध लिख सकते हैं। अतएव यहाँ समन्तभद्रके परिचयादिकी पुनरावृत्ति न करके केवल उनकी उपलब्धियोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे।

समन्तभद्रसे पूर्वका युग

जैन अनुश्रुतिके अनुसार जैनधर्मके प्रवर्त्तक क्रमशः कालके अन्तरालको लिये चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्टनेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें वर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थंकरोंके द्वारा जो उपदेश दिया गया वह द्वादशांग कहा गया है। जैसे बुद्धके उपदेशको त्रिपिटक कहा जाता है। यह द्वादशांगश्रुत दो भागोंमें विभक्त है—१. अंग-प्रविष्ट और २. अंगबाह्य। ये दो भेद प्रवक्ताविशेषके कारण हैं। जो श्रुत तीर्थंकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अंगप्रविष्ट है। तथा जो इसके आधारसे उत्तरवर्ती प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया वह अंगबाह्य है। अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यके भी क्रमशः बारह और चौदह भेद हैं। अंगप्रविष्टके बारह भेदोंमें एक

दृष्टिवाद है जो बारहवां श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवादश्रुतमें विभिन्न वादियोंकी एकान्तदृष्टियों एवं मान्यताओंके निरूपण और समीक्षाके साथ उनका स्याद्वादन्यायसे समन्वय किया गया है। इस तथ्यको समन्तभद्रने अपनी कृतियोंमें 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्' जैसे पदप्रयोगों द्वारा व्यक्त किया है^१ और सभी तीर्थंकरोंको स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्रतिपादक) कहा है। अकलंकदेवने भी उन्हें स्याद्वादका प्रवक्ता तथा उनके शासन—उपदेशको स्याद्वादके अमोघ लांछनसे चिह्नित बतलाया है।^३

षट्खण्डागममें यद्यपि स्याद्वादकी स्वतन्त्र चर्चा नहीं मिलती, फिर भी सिद्धान्त-प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया) शब्दको लिये हुए अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ मनुष्योंको पर्याप्तिक तथा अपर्याप्तिक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि 'सिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता' अर्थात् मनुष्य स्यात् पर्याप्तिक हैं, स्यात् अपर्याप्तिक हैं। इसी प्रकार आगमके कुछ दूसरे विषयोंका भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आ० कुन्दकुन्दने उक्त दो (विधि और निषेध) वचन-प्रकारोंमें पाँच वचन-प्रकार और मिलाकर सात वचन-प्रकारोंसे वस्तु (द्रव्य) निरूपणका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।

दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥

—पंचास्तिकाय गा० १४ ।

'स्यादस्ति द्रव्यं स्यान्नास्ति द्रव्यं स्यादुभयं स्यादवक्तव्यं स्यादस्त्यवक्तव्यं स्यान्नास्त्यवक्तव्यं स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं' इन सात भंगोंका यहाँ उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आदेशवशात् (नय-विवक्षानुसार) द्रव्य-निरूपण करनेकी सूचना की है। कुन्दकुन्दने यह भी प्रतिपादन किया है^४ कि यदि सदरूप ही द्रव्य हो तो

१. '.....एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां षट्पुत्राणां प्ररूपणं निग्रहश्च क्रियते ।'

—वीरसेन, घवला, पुस्तक १., पृ. १०८ ।

२. बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।

स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥

—स्वयम्भूस्तो. श्लो. १४ ।

३. (क) धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।

ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

—लघीय. का. १-१ ।

(ख) श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलांछनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

—प्रमाणसं० १ । १ ।

(ग) वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधि ।

स्याद्वादामृतगभिणीं प्रतिहृतैकान्तान्धकारोदयाम् ॥

—अष्टश० मङ्गलश्लो० १ ।

४. पंचास्तिकाय गा० १५, १७ ।

उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असद्वृत्ति ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्यपर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे ध्रुव रहनेसे वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप है। इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैन वाङ्मयमें दर्शनका रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था। आ० गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुछ वृद्धि मिलती है। प्रथमतः उन्होंने प्राकृतमें सिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको संस्कृत-गद्यसूत्रोंमें बदला। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तोंका निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणागत मत्यादि ज्ञानोंको प्रमाण-संज्ञा देकर उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद किये। चौथे, दर्शनान्तरोमें पृथक् प्रमाणरूपमें स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमानको मतिज्ञान कहकर उनका 'अद्ये परोक्षम्' (त० सू० १-११) सूत्र द्वारा परोक्षप्रमाणमें ही अन्तर्भाव किया और नैगमादि नयोंको अर्थधिगमका उपाय बताया, आदि। इतना होनेपर भी दर्शनमें उन एकान्तवादों, संघर्षों और अनिश्चयोंका तार्किक समाधान नहीं हो पाया था, जो उस समयकी चर्चाके मुख्य विषय थे।

तत्कालीन स्थिति :

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओंमें अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गोतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्द्वी विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मण्डन और दूसरेके खण्डनमें लग गये। शास्त्रार्थोंकी बाढ़-सी आगयी। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार विरोधी युगलोंको लेकर तत्त्वकी मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियोंसे विचार किया जाता था। तथा वादियोंका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही माननेका आग्रह रहता था। इस खींचतानके कारण अनिश्चय (अज्ञान) वादी संजयके अनुयायी तत्त्वको अनिश्चित ही बतलाते थे।^१ उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१. सदसद्वाद

(१) तत्त्व सत् है।

(२) तत्त्व असत् है।

१. 'सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितिह ते ॥

—स्वयम्भू० श्लो० १०१ ।

२. दीघनिकाय सामञ्जस्यमुत्तमं संजयका मत 'अमराविक्षेपवाद' के रूपमें मिलता है। अमरा एक प्रकारकी मछलीका नाम है। उसके समान विक्षेप (अस्थिरता) होना—मानना अमराविक्षेपवाद है।

(३) तत्त्व उभय है ।

(४) तत्त्व अनुभय है ।

२. शाश्वत-अशाश्वतवाद

(१) तत्त्व शाश्वत है ।

(२) तत्त्व अशाश्वत है ।

(३) तत्त्व उभय है ।

(४) तत्त्व अनुभय है ।

३. द्वैत-अद्वैतवाद

(१) तत्त्व द्वैत है ।

(२) तत्त्व अद्वैत है ।

(३) तत्त्व उभय है ।

(४) तत्त्व अनुभय है ।

४. वक्तव्यावक्तव्यवाद

(१) तत्त्व वक्तव्य है ।

(२) तत्त्व अवक्तव्य है ।

(३) तत्त्व उभय है ।

(४) तत्त्व अनुभय है ।

समन्तभद्रकी देन

समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व उक्त चार ही कोटियोंमें समाप्त नहीं है, अपितु सात कोटियोंमें वह पूर्ण होता है।^१ उन्होंने स्पष्ट किया कि तत्त्व तो अनेकान्त रूप हैं^२—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि) के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है^३ और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट्

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।

सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥—आप्तमी. १०४ ।

२. (अ) 'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्'—युक्त्यनु. ४६ ।

(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्त्वभावम् ।

—स्वयम्भू. ४१ ।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम् ।

दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम् ॥

—युक्त्य. ३२ ।

३. (क) विधिनिषेधोऽनभिलाष्यता च त्रिकशस्त्रिद्विश एक एव ।

त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥

—युक्त्य. ४५ ।

अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभंगियाँ) भरी पड़ी हैं। हाँ, द्रष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहे या जाने तो यह समझे कि तत्त्वमें वह धर्म अमुक अपेक्षासे रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है। वह केवल विवक्षावश मुख्य है और अन्य धर्म गौण हैं।^१ इसे समझनेके लिए उन्होंने प्रत्येक कोटि (भंग—वचनप्रकार) के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगानेकी सिफारिश की^२ और 'स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया।^३ साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकता को प्रकट करनेके लिए प्रत्येक वाक्यके साथ एवकार पदका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया^४, जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियोंको उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भंगिनी प्रक्रिया—सप्तभंगी^५ अथवा सप्तभंगनय।^६ समन्तभद्रकी वह परिष्कृत सप्तभंगी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

(ख) विधेयं वायं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत्
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदन्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनयविवक्षेतरवशात् ॥

—स्वयम्भू. ११८ ।

१. (क) विधिनिषेधश्च कथञ्चिदिष्टो विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।

—स्वयम्भू. २५ ।

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।

—स्वयम्भू. ५३ ।

२. (अ) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।

स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलनामपि ॥

—आप्तमी. का. १०३ ।

(आ) तद्योतनः स्याद् गुणतो निपातः ।

—युक्त्य. ४३ ।

३. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।

—आप्तमी. १०४ ।

४. (क) यदैवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।

—युक्त्य. ४१ ।

(ख) अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्त्यभावाग्नियमद्वयेऽपि ।

—युक्त्य. ४२ ।

५. प्रक्रियां भङ्गिनोमेनां नयैर्नयविशारदः ।

—आप्तमी. २३ ।

६. 'सप्तभङ्गनयापेक्षः'..... आप्तमी. १०४ ।

सदसद्वाद

- (१) स्यात् सदरूप ही तत्त्व है ।^१
- (२) स्यात् असदरूप ही तत्त्व है ।
- (३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है ।
- (४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है ।
- (५) स्यात् सद और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है ।^२
- (६) स्यात् असद और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है ।
- (७) स्यात् सद और असद तथा अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है

इस सप्तभंगीमें प्रथम भंग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, द्वितीय परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, तृतीय दोनोंकी सम्मिलित अपेक्षाओंसे, चतुर्थ दोनों (सत्त्व-असत्त्व) को एक साथ कह न सकनेसे, पंचम प्रथम-चतुर्थके संयोगसे, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम तृतीय-चतुर्थके मिश्ररूपसे विवक्षित है और प्रत्येक भंगका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है । जैसा कि समन्तभद्रके निम्न प्रतिपादनसे प्रकट है :

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपाविचतुष्टयात् ।
 असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
 क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।
 अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥
 धर्मं धर्मैः अन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः ।
 अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गिता ॥

—आप्तमी. का. १५, १६, २१ ।

समन्तभद्रने सदसद्वादकी तरह अद्वैत-द्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अनन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिरर्थवाद, देव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्षकारणवाद इन एकान्तवादोंपर भी विचार प्रकट किया तथा उक्त प्रकारसे उनमें भी सप्तभंगी (सप्तकोटियों) की योजना करके स्याद्वादकी स्थापना की ।^३ इस तरह विचारकोंको उन्होंने स्याद्वाद-दृष्टि (तत्त्व-विचारकी पद्धति) देकर तत्कालीन विचार-संघर्षको मिटानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया । साथ ही दर्शनके लिए जिन उपादानोंकी आवश्यकता होती है उनका भी उन्होंने सृजन किया तथा आहत दर्शनको अन्य दर्शनोंके समकक्ष ही नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया ।

१. कथंचित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।

तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥

—आप्तमी. १४ ।

२. अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ।

—आप्तमी. १६ ।

३. आप्तमी. का. २३, ११३ ।

जिन उपादानोंकी उन्होंने सृष्टि करके उन्हें जैन दर्शनको प्रदान किया वे इस प्रकार हैं :

१. प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण^१
२. प्रमाणके अक्रमभावि और क्रमभावि भेदोंकी परिकल्पना^२
३. प्रमाणके साक्षात् और परम्परा फलोंका निरूपण^३
४. प्रमाणका विषय^४
५. नयका स्वरूप^५
६. हेतुका स्वरूप^६
७. स्याद्वादका स्वरूप^७
८. वाच्यका स्वरूप^८
९. वाचकका स्वरूप^९
१०. अभावका वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर स्वरूप कथन^१
११. तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन^{११}
१२. अनेकान्तका स्वरूप^{१२}
१३. अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना^{१३}
१४. जैनदर्शनमें अवस्तुका स्वरूप^{१४}
१५. स्यात् निपातका स्वरूप^{१५}
१६. अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि^{१६}
१७. युक्तियोंसे स्याद्वादकी व्यवस्था^{१७}

-
१. स्वयम्भूस्तोत्र का. ६३ ।
 २. आप्तमीमांसा का. १०१ ।
 ३. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान-हान-धीः ।
पूर्वाज्ञाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ —आप्तमी. १०२ ।
 ४. आप्तमी. १०७ ।
 ५. ६. आप्तमी. १०६ ।
 ७. आप्तमी. १०४ ।
 ८. आप्तमी. १११, ११२ ।
 ९. आप्तमी. १०९ ।
 १०. 'भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः,
भावान्तरं भाववदहंतस्ते । —युक्त्यनु. ५९ ।
 ११. युक्त्यनु. २३ ।
 १२. आप्तमी. १०७, १०८ ।
 १३. स्वयम्भूस्तो. १०३ ।
 १४. आप्तमी. ४८, १०५ ।
 १५. स्वयम्भू. १०२ ।
 १६. आप्तमी. ५ ।
 १७. आप्तमी. ११३ ।

१८. आप्तका तार्किक स्वरूप ।^१

१९. वस्तु (द्रव्य-प्रमेय) का स्वरूप ।^२

जैन न्यायके इन उपादानोंका विकास अथवा उपस्थापन करनेके कारण ही समन्तभद्रको जैन न्यायका आद्य-प्रवर्तक कहा गया है ।^३

कृतियाँ

समन्तभद्रकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं :

१. देवागम—११४ श्लोकोंके द्वारा इसमें आप्तकी भीमांसा परीक्षा की है ।

२. स्वयम्भूस्तोत्र—इसमें चौबीस तीर्थंकरोंका दार्शनिक शैलीमें गुणस्तवन है ।

३. युक्त्यनुशासन—इसमें भी वीरकी स्तुतिके बहाने दार्शनिक निरूपण है । यह ६४ पद्योंमें समाप्त है ।

४. जिन-शतक (स्तुति-विद्या)—यह ११६ पद्योंकी आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है । चौबीस तीर्थंकरोंकी इसमें स्तुति की गयी है ।

५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—यह उपासकाचार विषयक १६० पद्योंकी अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण कृति है । इसपर प्रभाचन्द्रने संक्षिप्त और सरल संस्कृत-टीका लिखी है, जो माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमालासे बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी है और अब वह मूल व हिन्दी रूपान्तरके साथ वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे भी प्रकट हो चुकी है ।

इनमें आदिकी तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पाँचवीं धार्मिक कृतियाँ हैं ।

इनके अतिरिक्त भी इनकी जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियोंके उल्लेख मिलते हैं । पर वे अनुपलब्ध हैं ।



१. आप्तमी. का. ४, ५, ६ ।

२. आप्तमी. १०७ ।

३. जैन दर्शन—स्याद्वादार्क्य वर्ष २, अंक ४-५, पृ. १७० ।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र

डॉ. हीरालालजीने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' शीर्षक निबन्धमें कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जो वे सभी विचारणीय हैं। उनमें एक निष्कर्ष यह है कि श्वेताम्बर आगमोंकी १० निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु द्वितीय और आप्तमीमांसा (देवागम) के कर्ता स्वामी समन्तभद्र दोनों एक ही व्यक्ति हैं—भिन्न-भिन्न नहीं। इस निष्कर्षका प्रधान आधार है—श्रवणबेलगोलके प्रथम शिलालेखमें द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी करनेवाले भद्रबाहु द्वितीयके लिए 'स्वामी' उपाधिका प्रयोग और उधर समन्तभद्रके लिए अनेक आचार्यों द्वारा 'स्वामी' पदसे उल्लिखित होना। डॉ. जैनने लिखा है—

“दूसरा (द्वितीय भद्रबाहु-द्वारा द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणीके अतिरिक्ते) महत्त्वपूर्ण संकेत इस शिलालेखसे यह प्राप्त होता है कि भद्रबाहुकी उपाधि स्वामी थी जो कि साहित्यमें प्रायः एकान्ततः समन्तभद्रके लिए ही प्रयुक्त हुई है। यथार्थतः बड़े-बड़े लेखकों जैसे विद्यानन्द^१ और वादिराज^२ सूरिने तो उनका उल्लेख नाम न देकर केवल उनकी इस उपाधिसे ही किया है, और यह वे तभी कर सकते थे जब कि उन्हें विश्वास था कि उस उपाधिसे उनके पाठक केवल समन्तभद्रको ही समझेंगे, अन्य किसी आचार्यको नहीं। इस प्रमाणको उपर्युक्त अन्य सब बातोंके साथ मिलानेसे यह प्रायः निस्सन्देह रूपसे सिद्ध हो जाता है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु द्वितीय एक ही व्यक्ति हैं।”

निष्कर्षपर विचार :

यहाँ उनके इस निष्कर्ष एवं आधारपर विचार किया जाता है।

यह आधार—प्रमाण कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता; क्योंकि 'स्वामी' उपाधि भद्रबाहु और समन्तभद्रके एक होनेकी गारण्टी नहीं है। दो व्यक्ति होकर भी दोनों 'स्वामी' उपाधिसे भूषित हो सकते हैं। यदि विद्यानन्द और वादिराजने मात्र 'स्वामी' पदका प्रयोग किया है और उससे उन्हें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं तो इससे भद्रबाहु और समन्तभद्र कैसे एक हो गये ?

१. यह ब्रैकटके भीतरका आशय-वाक्य लेखकका है।

२. 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितप्रथुपथं स्वामिमीमांसितम् तत्' ॥

—आप्तपरीक्षा।

३. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्वनाथचरित।

दूसरी बात यह है कि विद्यानन्दने जहाँ भी 'स्वामी' पदका प्रयोग समन्तभद्रके लिए किया है वहाँ आसमीमांसा (देवागम) का स्पष्ट सम्बन्ध है। आसपरीक्षाके 'स्वामिमीमांसितं तत्' उल्लेखमें 'मीमांसित' शब्दका प्रयोग है, जिससे उनके विज्ञ पाठक भ्रममें नहीं पड़ सकते और तुरन्त जान सकते हैं कि आसकी मीमांसा स्वामी समन्तभद्रने की है, उन्होंनेका विद्यानन्दने 'स्वामी' पदके द्वारा उल्लेख किया है। इसी तरह वादिराजसूरिके 'स्वामिनश्चरितं' उल्लेखमें भी 'देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्शयते' इन आगेके वाक्यों द्वारा 'देवागम' (आसमीमांसा) का स्पष्ट निर्देश है, अतः यहाँ भी उनके पाठक भ्रममें नहीं पड़ सकते। वे श्लोकके पूर्वार्धमें प्रयुक्त 'स्वामी' पदसे तुरन्त देवागमके कर्ता समन्तभद्रका ज्ञान कर लेंगे।

तीसरी बात यह है कि 'साहित्यमें एकान्ततः' स्वामी पदका प्रयोग समन्तभद्रके लिए हो नहीं हुआ है। विद्यानन्दके पूर्ववर्ती अकलंकदेवने पात्रकेसरीस्वामी या सीमन्धरस्वामीके लिए भी उसका प्रयोग किया है। श्वेताम्बर साहित्यमें सुधर्म गणधरके लिए स्वामी पदका प्रयोग पाया जाता है। और भी कितने ही आचार्य स्वामिपदके साथ उल्लेखित मिलते हैं। स्वयं डॉ. जैनने आवश्यकसूत्रचूर्णि और श्वेताम्बर पट्टावलीमें उल्लेखित 'वज्रस्वामी' नामके एक आचार्यका उल्लेख किया है और उन्हें भी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके कारण दक्षिणको विहार करनेवाला लिखा है। यदि द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी करके दक्षिणको विहार करने और स्वामी उपाधिको धारण करनेसे वज्रस्वामी भी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्रसे भिन्न नहीं हैं तो फिर इन वज्रस्वामीकी तीसरी पीढ़ीमें होनेवाले उन सामन्तभद्रका क्या होगा, जिन्हें डॉ. जैनने पट्टावलीके कथनपर आपत्ति न करके वज्रस्वामीका प्रपौत्र-शिष्य स्वीकार किया है और समन्तभद्र तथा सामन्तभद्रको एक भी बतलाया है। क्या प्रपितामह और प्रपौत्र भी एक हो सकते हैं? अथवा क्या प्रपौत्रकी भविष्यवाणीपर ही प्रपितामहने दक्षिणदेशको विहार किया था? इसपर गम्भीरतासे ध्यान नहीं दिया गया। यदि वज्रस्वामी भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्रसे भिन्न हैं और स्वामी पदका प्रयोग पात्रकेसरी जैसे दूसरे आचार्योंके लिए भी होता रहा है तो स्वामी उपाधिकी 'एकान्ततः समन्तभद्रके लिए ही' प्रयुक्त होनेकी बात अव्यभिचरित तथा अभ्रान्त नहीं कही जा सकती और इसलिए 'स्वामी' उपाधिके आधारपर भद्रबाहु द्वितीय और समन्तभद्रको एक सिद्ध नहीं किया जा सकता। एक नामके अनेक व्यक्ति भी सम्भव हैं और अनेक नामोंवाला एक व्यक्ति भी हो सकता है। इसी तथ्यपर समन्तभद्रके भी अनेक नाम हो सकते हैं और समन्तभद्र नामके अनेक व्यक्ति भी सम्भव हैं।

यहाँ प्रस्तुतमें विचारणीय यह है कि आसमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र और दश निर्युक्तियोंके कर्ता भद्रबाहु द्वितीय क्या अभिन्न हैं—एक ही व्यक्ति हैं? इसका ठीक निर्णय हम जितना अधिक इन दोनों आचार्योंके साहित्यका अभ्यन्तर परीक्षण द्वारा कर सकते हैं उतना दूसरे भिन्नकालीन उल्लेखवाक्यों, बाह्यसाधनों अथवा घटनाओंकी कल्पनापरसे नहीं कर सकते। इसीको न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीके

शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि—“दूसरे समकालीन लेखकोंके द्वारा लिखी गयी विश्वस्त सामग्रीके अभावमें ग्रन्थोंके आन्तरिक परीक्षणको अधिक महत्त्व देना सत्यके अधिक निकट पहुँचनेका प्रशस्त मार्ग है। आन्तरिक परीक्षणके सिवाय अन्य बाह्य साधनोंका उपयोग तो खोचतान करके दोनों ओर किया जा सकता है, तथा लोग करते भी हैं”^१।

अतः भद्रबाहु द्वितीयकी निर्युक्तियों और स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसादि कृतियोंका अन्तःपरीक्षण आवश्यक है। समन्तभद्रकी कृतियोंमें डॉ. जैन रत्नकरण्ड-श्रावकाचारको उनकी कृति नहीं मानते। परन्तु आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र इन तीनको उनकी कृतियाँ स्वीकार करते हैं। अतएव समन्तभद्रके इन तीनों ग्रन्थोंके साथ भद्रबाहुको निर्युक्तियों^२ का अन्तःपरीक्षण करके हमने जो कुछ अनुसन्धान एवं चिन्तन किया है उसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिससे इन दोनों आचार्योंका अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और विभिन्न समयवर्तित्व सहजमें ही जाना जा सकेगा और साथ ही यह भी ज्ञात हो जायेगा कि दोनों ही आचार्य दो भिन्न-भिन्न परम्पराओंमें हुए हैं :—

(१) निर्युक्तिकार भद्रबाहु केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनको युगपत् नहीं मानते। उनका कहना है कि केवलीके केवलदर्शन होनेपर केवलज्ञान और केवलज्ञान होनेपर केवलदर्शन नहीं होता; क्योंकि दो उपयोग एक साथ नहीं बनते। जैसा कि उनकी आवश्यकनिर्युक्तिकी निम्न गाथा (नं० ९७९) से स्पष्ट है—

नाणमि दंसणमि अ इत्तो एगयरयमि उवजुत्ता ।

सव्वस्स केवळिस्सा^३ जुगवं दो नत्थि उवओगा ॥

इसमें कहा गया है कि ‘सभी केवलियोंके—चाहे वे तीर्थंकरकेवली हों या सामान्यकेवली आदि—ज्ञान और दर्शनमें कोई एक ही उपयोग एक समयमें होता है, दो उपयोग एक साथ नहीं होते’।

आवश्यकनिर्युक्तिकी यथाप्रकरण और यथास्थानपर स्थित यह गाथा ऐतिहासिक दृष्टिसे बड़े महत्त्वकी है और कितनी ही उलझनोंको सुलझाती है। इससे तीन बातें प्रकाशमें आती हैं—एक तो यह कि भद्रबाहु द्वितीय केवलीको ज्ञान और दर्शन उपयोगमें से किसी एकमें ही एक समयमें उपयुक्त बतला कर क्रमपक्षका सर्वप्रथम प्रस्थापन करते हैं। और इस लिए वे ही क्रमपक्षके प्रस्थापक एवं प्रधान पुरस्कर्ता

१. अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना पृ. १४।

२. भद्रबाहुकर्तृक दश निर्युक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, और ये श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यकसूत्र आदि आगमसूत्रोंपर लिखी गयी हैं। उनमेंसे सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति और ऋषिभाषितनिर्युक्ति अनुपलब्ध हैं। ओषनिर्युक्ति और संसक्तनिर्युक्ति वोरसेवामन्दिरमें नहीं हैं। बाको ६ निर्युक्तियोंका ही अन्तःपरीक्षण किया गया है।

३. ‘केवलिस्स वि’ पाठान्तरम्।

४. यदि प्रज्ञापनासूत्र, पद ३०, सू. ३१४ को क्रमपक्षपरक माना जाये तो सूत्रकार क्रमपक्षके प्रस्थापक और निर्युक्तिकार भद्रबाहु उसके सर्व प्रथम समर्थक माने जायेंगे।

हैं। दूसरी बात यह कि भद्रबाहुके पहले एक ही मान्यता थी और वह प्रधानतया युगपत्पक्षकी मान्यता थी, जो दिगम्बर परम्पराके भूतबलि, कुन्दकुन्द आदि प्राचीन आचार्योंके वाङ्मयमें और श्वे० भगवतीसूत्र [५-४] तथा तत्त्वार्थभाष्य [१-३१] में उपलब्ध है और जिसका कि उन्होंने (भद्रबाहुने) इसी गाथाके उत्तरार्धमें 'जुगवं दो नत्थि उवओगा' कहकर खण्डन किया है। तीसरी बात यह है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहुके पहले या उनके समयमें केवलीके उपयोगद्वयका अभेदपक्ष नहीं था। अन्यथा क्रमपक्षके समर्थन एवं स्थापन और युगपत्पक्षके खण्डनके साथ ही साथ अभेदपक्षका भी वे अवश्य खण्डन करते। अतः अभेदपक्ष उनके पीछे प्रस्थापित हुआ फलित होता है और जिसके प्रस्थापक सन्मतिकार सिद्धसेन हैं। यही कारण है कि सिद्धसेन क्रमपक्ष और युगपत्पक्ष दोनोंका सन्मतिसूत्रमें जोरोंसे खण्डन करते हैं और अभेदवादको स्थापित करते हैं^२। हमारे इस कथनमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी विशेषणवतीगत वे दोनों गाथायें^३ भी सहायक होती हैं, जिनमें 'केई' शब्दके द्वारा सर्वप्रथम युगपत्पक्षका और 'अण्णे' शब्दके द्वारा पश्चात् क्रमपक्षका और अन्तमें दूसरे 'अण्णे' शब्दसे अभिन्नपक्षका उल्लेख किया है, जो उपयोगवादके विकासक्रमको बतलाता है और उमास्वाति, निर्युक्तिकार भद्रबाहु तथा सिद्धसेनके समयका भी ठीक निर्णय करनेमें खास सहायता करता है।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है और वह यह कि दिगम्बर परम्परामें अकलंकके पहले किसी दिगम्बर आचार्यने क्रमपक्ष या अभेदपक्षका खण्डन नहीं किया। केवल युगपत् पक्षका निर्देश किया है^४। पूज्यपादके बाद अकलंक ही एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने इतरपक्षों—क्रमपक्ष^५ और अभेदपक्षका^६ स्पष्टतया खण्डन किया है और युगपत्पक्षका सयुक्तिक समर्थन किया है^७। इससे यह फलित होता है कि पूज्यपादके बाद और अकलंकके पहले क्रमपक्ष और अभेदपक्ष पैदा हुए तथा निर्युक्तिकार

१. आ० हरिभद्र, अभयदेव और उपाध्याय यशोविजयने क्रमपक्षका पुरस्कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणको बतलाया है। पर जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण जब स्वयं 'अण्णे' कह कर क्रमपक्षके मानने वाले अपने किसी पूर्ववर्तीका उल्लेख करते हैं (देखो, विशेषणवती, गा० १८४) तब वे स्वयं क्रमपक्षके पुरस्कर्ता कैसे हो सकते हैं ?

२. सन्मतिसूत्र २-४ से २-३१ तक।

३. केई भणंति जुगवं जाणइ पांसइ य केवली णियमा।

अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं ॥

अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिदस्स।

जं चि य केवलणाणं तं चि य से दरिसणं विति ॥

—विशेषणवती, १८४, १८५।

४. इस बातको श्वेताम्बरीय विद्वान् पं. सुखलालजी भी स्वीकार करते हैं। —ज्ञानबिन्दु, प्रस्ता. पृ. ५५।

५. अष्टशती, का. १०१ की वृत्ति और तत्त्वा., वा., ६-१३-८।

६. तत्त्वार्थवार्तिक ६-४-१४, १५, १६।

७. तत्त्वार्थवार्तिक ६-४-१२।

भद्रबाहु और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण तथा अकलंकका मध्यकाल अभेदपक्षके स्थापन और उसके प्रतिष्ठाता (सिद्धसेन) का समय होना चाहिए^१ ।

तात्पर्य यह कि श्वेताम्बर परम्परामें केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगके सम्बन्धमें तीन पक्ष हैं—१. क्रमपक्ष, २. युगपत्पक्ष और ३. अभेदपक्ष । कुछ आचार्य केवलीके ज्ञान और दर्शन उपयोगको क्रमिक, कुछ दोनोंको युगपत् तथा कुछ दोनोंको अभिन्न—एक मानते हैं^२ । किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें केवल एक ही पक्ष है और वह है योगपक्षका ।

आचार्य भूतबलिके षट्खण्डागमसे लेकर अब तकके उपलब्ध समस्त दिगम्बर वाङ्मयमें योगपक्ष-पक्ष ही एक स्वरसे स्वीकार किया गया है^३ । अकलंकदेवने तो

१. पं. सुखलालजीवे सिद्धसेनसे भी पहले अभेदपक्षकी सम्भावना की है । —ज्ञानबिन्दु प्रस्ता. पृ. ६० । पर उसमें कितनी ही आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं ।

२. पिछले फुटनोटमें उल्लिखित विशेषणवतीकी १८४, १८५ नम्बरकी गाथा ।

३. यथा—

(क) 'सयं भयवं उपाण्णणाणदरिसी स..... सव्वलोए
सव्वजीवे सव्वभागे सव्वं समं जाणदि पस्सदि....'

—षट्खण्डा., पयडिअणु., सू. ७८ ।

(ख) जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा ।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥

—कुन्दकुन्द, णियम., गा. १५९ ।

(ग) पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगतमोहो ॥
भावे समविसयत्थे सूरु जुगवं जहा पयासेइ ।
सव्वं वि तथा जुगवं केवलणाणं पयासेदि ॥

—शिवायं, भगवती आराध. गा., २१४१, २१४२ ।

(घ) साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमिति । तत् छदस्येषु क्रमेण वर्तते । निरावरणेषु युगपत् ।
—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि १-९ ।

'जानन् पश्यन् समस्तं समनुपरतं' ।

—पूज्यपाद, सिद्धभ. ४ ।

(ङ) 'आवरणात्यन्तसंक्षये केवलानि युगपत्केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्यम् । भास्करे
प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत् ।'

—अकलंक, तत्त्वार्थवा., ६-४-१२

(च) 'दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं ण दुण्णि उवओगा ।

जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि ॥

—नेमिचन्द्र, द्रव्यसं. गा. ४४

क्रमपक्ष^१ और अभेदपक्ष^२ का खण्डन भी किया है। इतना ही नहीं किन्तु क्रमपक्षको उन्होंने केवलीका अवर्णवाद भी कहा है^३।

इतना प्रासंगिक कहनेके बाद अब मैं निर्युक्तिकार भद्रबाहुकी उपर्युक्त गाथासे विरोध प्रकट करनेवाले समन्तभद्रके आप्तमीमांसा और स्वयंभूस्तोत्रगत उन वाक्यों को रखता हूँ, जिनमें केवलीके ज्ञान और दर्शन उपयोगके योगपक्षका कथन किया गया है—

(क) 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।'

—आप्तमी., का. १०१।

(ख) नाथ युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलामलकवद्विवेदिथ ।

—स्वयंभूस्तोत्र श्लो. १२९।

'हे जिनेन्द्र, आपका ज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है। आपने समस्त चराचर जगत्को हस्तामलकवत्—हाथमें रखे हुए आँवलेकी तरह युगपत्—एकसाथ जाना है और यह जानना आपका सदा—अर्थात् नित्य और निरन्तर है—ऐसा कोई भी समय नहीं जब आप सब पदार्थोंको युगपत् न जानते हों ।'

यहाँ समन्तभद्रने युगपत्पक्षका प्रतिपादन किया है। उनके 'युगपत्' 'अखिल' 'च' 'सदा' और 'तलामलकवत्' सब ही पद सार्थक और महत्त्वके हैं। उनका युगपत्-पक्षका समर्थन करनेवाला 'सदा' शब्द तो विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है, और जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह स्पष्टतया केवलीके क्रमिक ज्ञान-दर्शनका विरोध करता है और उनके योगपक्षका प्रबल समर्थन करता है, क्योंकि ज्ञान-दर्शनकी क्रमिक दशामें ज्ञानके समय दर्शन और दर्शनके समय ज्ञान नहीं रहेगा। और इसलिए कोई भी ज्ञान सदाकालीन—शाश्वत नहीं बन सकेगा। पं. सुखलालजीने भी ज्ञानबिन्दुकी प्रस्तावना (पृ. ५५) में केवल आप्तमीमांसाके उक्त उल्लेखके आधारपर समन्तभद्रको एकमात्र योगपक्षका समर्थक बतलाया है। इस मान्यताभेदसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु और आप्तमीमांसाकार समन्तभद्रमें सहज ही पार्थक्य हो जाता है। यदि भद्रबाहु और समन्तभद्र एक होते तो निर्युक्तिमें क्रमवादका स्थापन और

१. 'तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्यात्' :

—अष्टशती, का. १०१।

२. 'तत्र ज्ञानमेव दर्शनमिति केवलिनोऽतीतानागतर्दाशित्वमयुक्तं ? तन्न, किं कारणं ? निरावरणत्वात् । यथा भास्करस्य निरस्तघनपटलावरणस्य यत्र प्रकाशस्तत्र प्रतापः यत्र च प्रतापस्तत्र प्रकाशः । तथा निरावरणस्य केवलिभास्करस्याचित्यमाहात्म्यविभूतिविशेषस्य यत्र ज्ञानं तत्रावश्यं दर्शनं यत्र च दर्शनं तत्र च ज्ञानम् ।

किं च—तद्वद्वृत्तेः ॥१५॥ यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते । किं च—विकल्पात् ॥१६॥ X X इति सिद्धं केवलिनस्त्रिकालगोचरं दर्शनम् ।

—तत्त्वार्थवा. ६-४।

३. '...कालभेदवृत्तज्ञानदर्शनाः केवलिनः इत्यादिवचनं केवलिवर्णवादः' ।

—तत्त्वार्थवा., ६-१३-८।

युगपत्वादका खण्डन तथा आप्तमीमांसामें युगपत्वादका कथन और फलितरूपेण क्रमिकवादका खण्डन दृष्टिगोचर न होता ।

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र और निर्युक्तिकार भद्रबाहु अभिन्न नहीं हैं—भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं ।

(२) निर्युक्तिकार भद्रबाहुने श्वेताम्बरीय आगमोंकी मान्यतानुसार चौबीसों तीर्थंकरोंको एक वस्त्रसे प्रव्रजित होना माना है । जैसा कि उनकी निम्न गाथासे प्रकट है—

सर्वेऽपि एगदूसेण णिग्गया जिणवरा चउव्वीसं ।

न य नाम अण्णलिगे नो गिहिलिगे कुलिगं वा ॥

—आवश्य. नि., गा. २२७ ।

‘सभी ऋषभ आदि महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थंकर एक दूष्य—एक वस्त्रके साथ दीक्षित हुए ।’

यहाँ भद्रबाहु तीर्थंकरोंको भी एक वस्त्ररूप उपधि^१ रखनेका उल्लेख करते हैं, अन्य साधुओंकी तो बात ही क्या । पर इसके विपरीत समन्तभद्र क्या कहते हैं, इसे भी देखें—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं

न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।

ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं

भवानेवात्याक्षीप्तं च विकृतवेषोपधिरतः ॥

—स्वयंभूस्तोत्र ११९ ।

यहाँ कहा गया है कि ‘हे नमिजिन ! प्राणियोंकी अहिंसा—उन्हें घात नहीं करना, प्रत्युत उनकी रक्षा करना लोकविदित परम ब्रह्म है—अहिंसा सर्वोत्कृष्ट आत्मा—परमात्मा है, वह अहिंसा उस साधुवर्गमें कदापि नहीं बन सकती है जहाँ अणुमात्र भी आरम्भ है । इसीलिए हे परम कारुणिक ! आपने उस परम ब्रह्मस्वरूप अहिंसाकी सिद्धिके लिए उभय प्रकारके ग्रन्थका—परिग्रहका त्याग किया और विकृतवेष—अस्वाभाविक वेष (भस्माच्छादनादि रूपमें) तथा उपधि—वस्त्रमें या आभरणादिमें आसक्त नहीं हुए ।’

जहाँ भद्रबाहु निर्युक्तिमें तीर्थंकरोंके उभय परिग्रहको छोड़ देनेपर भी उनके लिए एक वस्त्र रखनेका सुस्पष्ट विधान करते हैं वहाँ समन्तभद्र उभयपरिग्रहके छोड़ देने और अणुमात्र भी आरम्भ न करनेकी व्यवस्था करते हैं । साथ ही स्वाभाविक नग्नवेषके विरुद्ध वस्त्रादि धारणको विकृत वेष और उपधिका^२ धारण बतलाकर

१. यहाँ आ. हरिभद्रकी टीका द्रष्टव्य है—“सर्वेऽपि एकदूष्येण एकवस्त्रेण निर्गताः जिनवराश्चतुर्विंशतिः, + + कि पुनः तन्मतानुसारिणो न सोपधयः ? ततश्च य उपधि—रासेवितो भगवद्भिः स साक्षादेवोक्तः, य पुनर्विनयेभ्यः स्थविरकल्पिकादिभेदभिन्नेभ्योऽनुज्ञातः स खलु अपिशब्दात् ज्ञेय इति ।”—आव. नि., टी. गा. २२७ ।

२. (क) भद्रबाहुको भी ‘उपधि’ का अर्थ वस्त्र विवक्षित है । यथा—‘अप्यत्तेच्चिय वासे सर्वं उवहि धुवति जयणाए’ ।—पिडनि. २६ ।

उसका निषेध करते हैं। उनकी यह मान्यता स्वयंभूस्तोत्रके ही निम्न वाक्यसे और भी स्पष्ट हो जाती है—

वपुर्भूषावेषव्यवधिरहितं शान्ति (शान्त) करणं
यतस्ते संचष्टे स्मरशरविषातंकविजयम् ।
विना भीमैः शस्त्रैरदयहृदयामर्षविलयं
ततस्त्वं निर्मोहः शरणमसि नः शान्तिनिलयः ॥१२०॥

इसमें नमिजिनकी स्तुति करते हुए बतलाया है कि 'हे भगवन् ! आपका शरीर भूषा—आभूषण; वेष—भस्माच्छादनादिलिङ्ग और व्यवधि—वस्त्रसे रहित है, और वह इस बातका सूचक है कि आपकी समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो चुकी हैं अथवा इसीलिए वह शान्तिका कर्ता है—लोग आपके इस स्वाभाविक शरीरके यथाजात नग्नरूपको देखकर न तो वासनामय रागभावको प्राप्त होते हैं और न आपके शरीर-पर आभूषणादिके अभावको देखकर द्विष्ट, लुभित अथवा खिन्न हो होते हैं, क्योंकि द्वेष-लोभादिके कारणभूत आभरणादि हैं और वे आपके शरीरपर नहीं हैं। अतः वे आपके इस निर्मम आङ्मबरादिहीन शरीरको देखकर आपसे 'वीतरागतामय' शान्तिको प्राप्त करते हैं। और आपका यह वस्त्रादिहीन शरीर कठोर अस्त्र-शस्त्रोंके बिना ही कामदेवपर पूर्ण विजयको और निर्दयी क्रोधके अभावको भी प्रकट करता है।'

यहाँ 'वपुर्भूषावेषव्यवधिरहित' और 'स्मरशरविषातंकविजय' ये दो पद ध्यान देने योग्य हैं, जो बतलाते हैं कि जिनेन्द्रका वस्त्रादिसे अनाच्छादित अर्थात् नग्न शरीर है और वह कामदेवपर विजयको घोषित करता है। अनग्न शरीरसे कामदेवपर विजय प्रकट नहीं हो सकती—वहाँ विकार (लिङ्गस्पन्दनादि) छिपा रह सकता है और विकारहेतु मिलनेपर उसमें विकृति (ब्रह्मस्वलन) पैदा होनेकी पूरी सम्भावना है। अतः भूषादिहीन जिनेन्द्रका शरीर इस बातका प्रतीक है कि वहाँ कामरूप मोह नहीं रहा। इसीलिए समन्तभद्रने 'ततस्त्वं निर्मोहः' शब्दोंके द्वारा जिनेन्द्रको 'निर्मोह' कहा है। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र जिनेन्द्रोंको वस्त्रादिरहित बतलाते हैं और भद्रबाहु उनके एक वस्त्रके रखनेका उल्लेख करते हैं, जो श्वेताम्बरीय आचाराङ्गादि सूत्रोंके अनुकूल है। इतना ही नहीं पिङ्गिन्युक्तिमें 'परसेय....चौरधोवर्णं चैव' (गा० २३) वस्त्रप्रक्षालनका विधान, उसके वर्षाकालको छोड़कर शेषकालमें धोनेके दोष और 'वासासु अधोवर्णे दोसा' (पि० नि० २५) शब्दों द्वारा अप्रक्षालनमें दोष भी बतलाते हैं। क्या यह समन्तभद्रको विवक्षित है ? यदि हाँ, तो उन्होंने जो यह प्रतिपादन किया है कि 'जिस साधुवर्गमें अल्प भी आरम्भ होगा वहाँ अहिंसाका कदापि पूर्ण पालन—निर्वाह नहीं हो सकता—अहिंसारूप परम ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है' (न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ)। तब इसके क्या मायने हैं ? और उनके 'अणु', 'अपि' शब्दोंका प्रयोग क्या यों ही है ? किन्तु ऐसा नहीं है। अन्यथा 'ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं' यह न कहते। इस मान्यताभेदसे भी

(ख) 'पत्ते धोवर्णकाले उवाहि वीसामए साहू' ।—पिङ्गि० २८ ।

(ग) 'वासासु अधोवर्णे दोसा' ।—पिङ्गि० २५ ।

समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हैं—वे वास्तवमें भिन्न-भिन्न दो व्यक्ति हैं और जुदी-जुदी दो परम्पराओंमें हुए हैं।

(३) भद्रबाहुने सूत्रकृताङ्ग-निर्युक्तिमें स्तुतिनिक्षेपके चार भेद करके आगन्तुक (ऊपरसे परिधारित) आभूषणोंके द्वारा जिनेन्द्रकी स्तुति करनेको द्रव्यस्तुति कहा है—

शुद्धिक्खेवो चउहा आगंतुअभूषणेहि दग्धथुई ।

भावे संताण गुणाण कित्ताणा जे जहि भणिया ॥

—सूत्र० नि०, गा० ८४ ।

यहाँ तीर्थंकरदेवके शरीरपर आभूषणोंका विधान किया है और कहा गया है कि 'जो आगन्तुक भूषणोंसे स्तुति की जाती है वह द्रव्यस्तुति है और विद्यमान यथा-योग्य गुणोंका कीर्तन करना भावस्तुति है।' लेकिन समन्तभद्र इससे विरुद्ध कहते हैं और तीर्थंकरके शरीरकी आभूषण, वेष और उपाधि रहित रूपसे ही स्तुति करते हैं, जैसा कि स्वयम्भूस्तोत्रके पूर्वोल्लिखित 'वपुर्भूषावेषव्यवधिरहित' वाक्यसे स्पष्ट है। इसी स्वयम्भूस्तोत्रमें एक दूसरी जगह भी तीर्थंकरोंकी आभूषणादिरहित रूपसे ही स्तुति की गयी है और उनके रूपको भूषणादिहीन प्रकट किया है—

भूषावेषायुधत्यागि विद्यादमदयापरम् ।

रूपमेव तवाचष्टे धीर दोषविनिग्रहम् ॥९४॥

इसमें बतलाया है कि 'बाह्यमें आभूषणों, वेषों तथा आयुधों—अस्त्र-शस्त्रोंसे रहित और आभ्यन्तरमें विद्या तथा इन्द्रियनिग्रहमें तत्पर आपका रूप ही आपके निर्दोषपने को प्रकट करता है—जो बाह्यमें भूषणों, वेषों और आयुधोंसे सहित हैं और आभ्यन्तरमें ज्ञान तथा इन्द्रियनिग्रहमें तत्पर नहीं हैं वे अवश्य सदोष हैं।'

यहाँ समन्तभद्र शरीरपरके भूषणादिको स्पष्टतया दोष बतला रहे हैं और उनसे विरहित शरीरको ही दोषोंका विनिग्रहकर्ता दोषविजयी (निर्दोष) ठहराते हैं, अन्यथा नहीं। लेकिन भद्रबाहु अपनी परम्परानुसार भूषणोंके द्वारा उनकी स्तुति करना बतलाते हैं और उनके शरीरपर भूषणोंका सद्भाव मानते हैं। इस मतभेदसे भी निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक व्यक्ति नहीं हैं।

(४) भद्रबाहु मुनिको 'कम्बल' रूप उपधिका दान करनेका विधान करते हैं और उससे उसी भवसे मोक्ष जानेका उल्लेख करते हैं :—

तिल्लं तेगिच्छसुओ कंबलगं चंदणं च वाणियओ ।

दाउं अभिणिव्वंतो तेणेव भवेण अंतगओ ॥

—आवश्यकनि०, गा० १७४ ।

जब कि समन्तभद्र मुनिको उभय ग्रन्थका त्यागी होना अनिवार्य और आवश्यक बतलाते हैं, उसके बिना 'समाधि'—आत्मध्यान नहीं बन सकता है, क्योंकि पासमें कोई ग्रन्थ होगा तो उसके संरक्षणादिमें चित्त लगा रहनेसे आत्मध्यानकी ओर मनोयोग नहीं हो सकता। इसीलिए वे कहते हैं कि—

'समाधितंत्रस्तदुपोपपत्तये द्वयेन नैर्ग्रन्थगुणेन चायुजत्'

—स्वयम्भू० १६ ।

अर्थात्—हे जिनेन्द्र ! आप आत्मध्यानमें लीन हैं और उस आत्मध्यानकी प्राप्तिके लिए ही ब्राह्म और आभ्यन्तर दोनों निर्ग्रन्थतागुणोंसे युक्त हुए हैं ।

इससे भी स्पष्ट है कि दोनों आचार्य पृथक्-पृथक् हैं ।

(५) निर्युक्तिकार भद्रबाहु कहते हैं कि केवली तीर्थंकरको प्रणाम करते हैं और तीन प्रदक्षिणा देते हैं :—

केवलिणो तित्थं जिणं तित्थपणामं च मग्गओ तस्स ।

—आवश्य० नि०, गा० ५५९ ।

निर्युक्तिकारके सामने जब प्रश्न आया कि केवली तो कृतकृत्य हो चुके, वे क्यों तीर्थंकरको प्रणाम और प्रदक्षिणा देंगे ? तो वे इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहते हैं :—

तप्पुब्बिया अरहया पदुयपूता य विणयकम्मं च ।

कयकिच्चो वि जह कहं कहए णमए तहा तित्थं ॥

—आवश्य० नि०, गा० ५६० ।

लेकिन समन्तभद्र ऐसा नहीं कहते । वे कहते हैं कि जो हितैषी हैं—अपना हित चाहते हैं, अभी जिनका पूरा हित सम्पन्न नहीं हुआ है और इसलिए जो अकृत-कृत्य हैं वे ही तीर्थंकरको स्तुति, वन्दना, प्रणामादि करते हैं ।

(१) 'भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ।' —स्वयं० ६५ ।

(२) 'स्तुत्यं स्तुवन्ति सुधियः स्वहितैकतानाः ।' —स्वयं० ८५ ।

(३) 'स्वार्थनियतमनसः सुधियः प्रणमन्ति मंत्रमुखरा महर्षयः ।'

—स्वयं० १२४ ।

ऐसी दशामें समन्तभद्र और भद्रबाहु दोनों एक नहीं हो सकते ।

(६) भद्रबाहु वर्द्धमान तीर्थंकरके तपःकर्म (तपश्चर्या) को सोपसर्ग प्रकट करते हैं किन्तु शेष तीर्थंकरोंके, जिनमें पार्श्वनाथ भी हैं, तपःकर्मको निरूपसर्ग ही बतलाते हैं :—

सव्वेसि तवोक्कम्मं निरुवसग्गं तु वणिणयं जिणाणं ।

नवरं तु वद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥

—आचारा० नि०, गा० २७६ ।

श्वेताम्बर मान्यता है कि भगवान् महावीर कुण्डग्रामसे निकलकर जब दिन अस्त होते कर्मर ग्राम पहुँचे, तो वहाँ उनपर बड़े भयानक और बीभत्स उपद्रव एवं उपसर्ग किये गये । आगमसूत्रोंमें^१ भगवान् महावीरपर हुए इन उपसर्गोंका बहुत भयानक

१. तथा च किल कुंडग्रामान्मुहूर्तशेषे दिवसे कर्मरग्राममाप, तत्र च भगवानित आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानधिसहमानो महासत्त्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादशवर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चकार' ।

—आचारा. शीलांकाचार्यटीका, पृ. २७३ ।

२. आचारांगसूत्र, पृ. २७३ से २८३, सूत्र ४६ से ९३ ।

चित्र खींचा गया है क्या तिर्यंच क्या मनुष्य और क्या देवदानव, सबने उनपर महान् उपसर्ग किये। बारह वर्ष ६ महीने और १५ दिन तक इन उपसर्गोंको सहते रहे, फिर उन्हें केवलज्ञान हुआ। भगवान् महावीरके उपसर्गोंका इतना बीभत्स वर्णन करते हुए भी भगवान् पार्श्वनाथके उपसर्गोंका सूत्रोंमें या निर्युक्तिमें कोई उल्लेख तक नहीं है।

पर समन्तभद्र इससे विरुद्ध वर्णन करते हैं। वे स्वयंभूस्तोत्रमें पार्श्वनाथके भयंकर उपसर्गोंका स्पष्ट और विस्तृत विवेचन करते हैं जो दिग्म्बर परम्पराके साहित्यमें बहुलतया उपलब्ध हैं^१। यहां तक कि भगवान् पार्श्वनाथकी फणाविशिष्ट प्रतिमा भी उसीका प्रतीक है, किन्तु भगवान् महावीरके स्तवनमें उन उपसर्गोंका, जिनका श्वे० आगमसूत्रोंमें विस्तृत वर्णन है और निर्युक्तिमें जिनका सुस्पष्ट विधान एवं समर्थन भी है, कोई उल्लेख नहीं करते हैं। स्वयंभूस्तोत्रके उन श्लोकोंको नीचे दिया जाता है, जिनमें भ० पार्श्वनाथके भयानक उपसर्गोंका चित्रण किया है:—

तमालनीलैः सधनुस्तडिद्गुणैः प्रकीर्णभीमाशनिवायुवृष्टिभिः ।

बलाहकैर्वैरिवशैरुपद्रुतो महामना यो न चञ्चल योगतः ॥

बृहत्फणामण्डलमण्डपेन यं स्फुरत्तडित्पिङ्गरुचोपसर्गिणम् ।

जुगूह नागो धरणो धराधरं विरागसन्ध्यातडिदम्बुदो यथा ॥

स्वयोगनिस्त्रिशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम् ।

अवापदाहन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं त्रिलोकपूजातिशयारूपं पदम् ॥

—स्वयं. १३१ से १३३ तक ।

यहां समन्तभद्रने भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर अपने पूर्वभवके वैरी दैत्य कमठके द्वारा किये गये उपसर्गोंका कितने भयानक रूपमें वर्णन किया है, जिनका भद्रबाहुने अपनी निर्युक्तिमें नामोल्लेख तक भी नहीं किया, प्रत्युत पार्श्वनाथके तपःकर्म (तपश्चर्या) को निरुपसर्ग ही बतलाया है। यदि निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक होते, तो यह स्पष्ट विरुद्ध कथन उनकी लेखनीसे कदापि प्रसूत न होता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र और भद्रबाहु एक नहीं हैं, दो व्यक्ति हैं और वे क्रमशः दिग्म्बर और श्वेताम्बर दो भिन्न परम्पराओंमें हुए हैं।

मैं समझता हूँ निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्रको पृथक्-पृथक् व्यक्ति सिद्ध करनेके लिए उपर्युक्त थोड़े-से प्रमाण पर्याप्त हैं। जरूरत होनेपर और भी प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

समन्तभद्र और भद्रबाहुको पृथक् सिद्ध करनेके बाद अब मैं इनके भिन्न समयवर्तित्वके सम्बन्धमें भी कुछ कह देना चाहता हूँ।

समन्तभद्र, दिग्नाग (३४५-४२५ ई.) और पूज्यपाद (४५० ई.) के पूर्ववर्ती

१. प्रसिद्ध घबलाटीकाकार वीरसेनाचार्य भी भ. पार्श्वनाथका मंगलाभिवादन सकलोपसर्ग-विजयीरूपसे करते हैं—

सकलोवसग्गणिवहा संवरणे णेव जस्स फिट्ठंति ।

पासस्स तस्स णमिउं फासणियोअं परूवेमो ॥

—घबला, फासाणियोगहार ।

हैं^१, यह निर्विवाद है। बौद्धतार्किक नागार्जुन (१८१ ई.)^२ के साहित्यके साथ समन्तभद्र-के साहित्यका अन्तःपरीक्षण^३ करनेपर यह मालूम होता है कि समन्तभद्र नागार्जुनके समकालीन या कुछ ही समय बादके विद्वान् हैं। अतः समन्तभद्रके समयकी उत्तरावधि तो दिग्नागका समय है और पूर्वावधि नागार्जुनका समय है। अर्थात् समन्तभद्रका समय दूसरी-तीसरी शताब्दी है। जैसा कि पं. जुगलकिशोर मुख्तारकी भी मान्यता है^४ और डॉ. जैन भी इसे स्वीकार करते हैं। अतः समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें इस समय और अधिक विचारकी जरूरत नहीं है।

अब निर्युक्तिकार भद्रबाहुके समय-सम्बन्धमें विचार कर लेना चाहिए। श्वेताम्बर मुनि विद्वान् श्री चतुरविजयजीने 'श्री भद्रबाहु स्वामी' शीर्षक अपने एक लेखमें^५ अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि 'निर्युक्तिकार भद्रबाहु विक्रमकी छठी शताब्दीमें हो गये हैं, प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिह्र इनका भाई था × × × वराह-मिह्रका समय ईसाकी छठी शताब्दी (५०५ से ५८१ ई.) है। इससे भद्रबाहुका समय भी छठी शताब्दी निर्विवाद सिद्ध होता है।'

पहले यह कहा जा चुका है कि भद्रबाहुने केवलीके उपयोगके क्रमवादका प्रस्थापन किया है और युगपत्वादका खण्डन किया है। ईसाकी पाँचवीं और विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान् आ. पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि (१-९) में युगपत्वादका समर्थन किया है। पर क्रमवाद के सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। यदि क्रमवाद इनके पहले प्रचलित हो चुका होता तो वे इसका अवश्य आलोचन करते। जैसा कि पूज्यपादके उत्तरवर्ती अकलंकदेवने क्रमवादका खण्डन किया है और युगपत्वादका समर्थन किया है। इससे मालूम होता है कि निर्युक्तिकार ईसा की पाँचवीं शताब्दीके बादके विद्वान् हैं। उधर निर्युक्तिकारने सिद्धसेनके अमेदवादकी कोई आलोचना नहीं की, सिर्फ युगपत्वादका ही खण्डन किया है। अतः इनकी उत्तरावधि सिद्धसेनका समय (सातवीं शताब्दी) है। इस तरह निर्युक्तिकारका वही समय प्रसिद्ध होता है जो श्री मुनि चतुरविजयजीने बतलाया है। ऐसी स्थितिमें छठी शताब्दीके निर्युक्तिकार भद्रबाहु और दूसरी-तीसरी शताब्दीके स्वामी समन्तभद्र एक व्यक्ति कैसे हो सकते हैं? और इसलिए डॉ. जैनने बीरनिर्वाणसे ६०९ वर्षके पश्चात् निकटमें ही अर्थात् दूसरी शताब्दीमें निर्युक्तिकार भद्रबाहुके होनेकी जो कल्पना की है वह ठीक नहीं है।

•

१. 'समन्तभद्र और दिग्नाग' शीर्षक लेख, 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण १२। तथा यही ग्रन्थ।

२. तत्त्वसंग्रहकी भूमिका LXVIII, तथा वादन्यायमें इनका समय २५० A.D. दिया है।

३. 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक लेख।

४. स्वामी समन्तभद्र।

५. मूललेख गुजराती भाषामें है और वह 'आत्मानन्द जन्मशताब्दी-ग्रन्थमें' प्रकट हुआ था और हिन्दीमें अनुवादित होकर 'अनेकान्त' वर्ष ३, किरण १२ में प्रकाशित हुआ है।

नागार्जुन और समन्तभद्र

नागार्जुन ईसाकी दूसरी शताब्दी (१८१ ईस्वी) के एक प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक विद्वान् माने जाते हैं^१ । ये शून्यवादके पुरस्कर्ता हैं । 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी' 'युक्तिषष्टिका' आदि तार्किक-कृतियाँ इनकी बनायी हुई हैं । इनमें प्रथम दो कृतियाँ तो प्रकाशित हो चुकी हैं और वे प्रायः सुलभ हैं, किन्तु 'युक्तिषष्टिका' अब तक प्रकाशमें नहीं आयी और इसलिए उसका मिलना दुर्लभ बना हुआ है । इनके अतिरिक्त नागार्जुनकी और भी रचनाएँ सुनी जाती हैं, पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं ।

अब मैं 'समन्तभद्र और दिग्नाग, शीर्षक लेखकी^२ तैयारीमें लगा हुआ था, तब नागार्जुनकी 'माध्यमिका' और 'विग्रहव्यावर्तनी' के अध्ययन करनेका भी मुझे अवसर मिला । इन दोनों ग्रन्थोंके अध्ययनने मुझे स्वामी समन्तभद्रकी आप्त-मीमांसाके साथ इनका तुलनात्मक सूक्ष्म परीक्षण करनेके लिए भी प्रेरित किया । इन दोनों ग्रन्थकारोंकी कृतियोंका तुलनात्मक परीक्षण करनेके लिए तीव्र इच्छा तो पैदा हो गयी; पर कुछ कारणोंके वश उस समय वह पूरी न हो सकी । बादको मुझे पुनः कुछ बौद्धग्रन्थोंके अध्ययन करनेका मौका मिला, तो मेरा यह विचार स्थिर हो गया कि 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षकके साथ इन दोनों तार्किकोंके साहित्यिक अन्तः-परीक्षणके रूपमें एक लेख अवश्य ही लिखा जाना चाहिए । उसीके परिणामस्वरूप आज यह लेख अपने पाठकोंके सामने उपस्थित कर रहा हूँ—

(१) नागार्जुन अपनी विग्रहव्यावर्तनीमें कहते हैं :—

हेतोस्ततो न सिद्धिः नैःस्वाभाव्यात् कुतो हि ते हेतुः ।

निर्हेतुकस्य सिद्धिर्न चोपपन्नास्य तेऽर्थस्य ॥१७॥

यदि चाहेतोः सिद्धिः स्वभाव-विनिवर्तनस्य ते भवति ।

स्वाभाव्यास्तित्वं ममापि निर्हेतुकं सिद्धम् ॥१८॥

स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें नागार्जुनकी उपर्युक्त युक्तियोंको अपनाते हुए अद्वैतका खण्डन निम्न प्रकार करते हैं :—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत् द्वैतं स्याद्वेतुसाध्ययोः ।

हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

यहाँ अद्वैतके खण्डन करनेके लिए समन्तभद्रने वही सरणि अपनायी है जो नागार्जुनने भावके खण्डन करनेमें प्रयुक्त की है । नागार्जुन कहते हैं कि 'हेतुसे भावकी सिद्धि करते हो या बिना हेतुके ? हेतुसे तो भावकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि निस्वभाव होनेसे हेतु ही असिद्ध है । बिना हेतुके भावकी सिद्धि माननेपर हमारे

१. तत्त्वसंग्रहकी भूमिका LXVIII । वादन्यायमें २५० A. D. दिया है ।

२. 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण १२ । यह लेख इसी पुस्तकमें अन्यत्र प्रकाशित है ।

अभावकी भी सिद्धि बिना हेतुके हो जाय ।' समन्तभद्र कहते हैं कि 'हेतुसे अद्वैत (सिर्फ अभाव—शून्य) का साधन करनेपर हेतु और साध्यकी अपेक्षा द्वैतके प्रसंगसे छूट नहीं सकोगे और यदि हेतुके बिना ही अद्वैतकी सिद्धि करोगे तो वचनमात्र-से द्वैत (भाव और अभाव आदि) क्यों न सिद्ध हो जायेगा ।' यहाँ, पाठक देखेंगे कि दोनों ही जगह एक ही सरणि उपयोगमें लायी गयी है ।

(२) नागार्जुन विग्रहव्यावर्तिनीमें आगे लिखते हैं:—

सत एव प्रतिषेधो नास्ति घटो गेह इत्ययं यस्मात् ।

दृष्टः प्रतिषेधोऽयं सतः स्वभावस्य ते तस्मात् ॥११॥

समन्तभद्र इसे अपनाते हुए आसमीमांसा में जैनदृष्टिसे प्रतिपादन करते हैं:—

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः ।

असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥४७॥

नागार्जुनने जिस बातको और जिस ढंगसे पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्तुत करके यह कहा कि 'सत्' का ही प्रतिषेध होता है—असत् का नहीं, जिस तरह सत् रूप घरमें ही सत् रूप घटका ही प्रतिषेध किया जाता है—असत् का नहीं । समन्तभद्रने भी उपर्युक्त आसमीमांसागत कारिकामें जैनदृष्टिसे उसी बातको अपना सिद्धान्त स्थापित किया है और स्पष्ट किया है कि परद्रव्यादिचतुष्टयसे सत् रूप पदार्थका ही प्रतिषेध किया जाता है, असत् का नहीं; क्योंकि भाव विधि—विधान और निषेधका स्थान होता है ।

(३) नागार्जुन आगे चलकर जब यह कहते हैं:—

पूर्वं चेत् प्रतिषेधः पश्चात् प्रतिषेध्यमिति न चोपपन्नम् ।

पश्चानुपपन्नो युगपच्च यतः स्वभावोऽसन् ॥२०॥

तब समन्तभद्र इसका उत्तर देते हुए कहते हैं:—

संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ।—आसमी० २७ ।

यहाँ नागार्जुनने न्यायसूत्रके 'प्रतिषेध्यासिद्धेः' सूत्रको लेकर प्रतिषेध्य और प्रतिषेधकी अनुपपत्ति दिखलायी है और इस तरह शून्यतत्त्वका साधन किया है । समन्तभद्र इसका सयुक्तिक विरोध करते हुए कहते हैं कि प्रतिषेध करनेके पूर्व प्रतिषेध्यको माने बिना प्रतिषेध हो ही नहीं सकता और प्रतिषेध्य अवश्य सत् रूप मानना होगा । यह तो स्पष्ट ही है कि नागार्जुनने गौतमीय न्यायसूत्रके कितने ही सूत्रोंका खण्डन किया है, जिनकी कुछ झलक ऊपरकी कारिकाओंमें तथा विग्रहव्यावर्तिनी और माध्यमिकाकी दूसरी अनेक कारिकाओंमें निहित है ।

(४) सापेक्षता और निरपेक्षताको लेकर नागार्जुन विग्रहव्यावर्तिनीमें कहते हैं:—

अथ ते प्रमाणसिद्ध्या प्रमेयसिद्धिः प्रमेयसिद्ध्या च ।

भवति प्रमाणसिद्धिः नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः ॥

समन्तभद्र भी आसमीमांसा में यही कहते हैं:—

यद्यापेक्षकसिद्धिः स्यात्त द्वयं व्यवतिष्ठते ॥७३॥

आपेक्षिकसिद्धि माननेमें नागार्जुनने जो 'नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः' शब्दों द्वारा दोनोंकी भी सिद्धि न होने रूप दोष दिया है वही समन्तभद्रने 'न द्वयं व्यवतिष्ठते' शब्दों द्वारा प्रकट किया है ।

(५) नागार्जन पुनः विग्रहव्यावर्तिनी में लिखते हैं :—

यदि च प्रमेयसिद्धिरनपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि ।

किन्ते प्रमाणसिद्ध्या तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥४५॥

समन्तभद्र भी इसी बातका प्रतिपादन करते हैं :—

अनपेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥—आप्तमी. ७३॥

(६) नागार्जुन आगे चलकर पुनः कहते हैं—

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरपेक्ष्य ते प्रमेयाणि ।

भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥४१॥

इसपर समन्तभद्र आप्तमीमांसामें नागार्जुनकी तरह स्वरूपसिद्धि तो परापेक्ष न होनेका अपना भी मत प्रकट करते हैं । पर साथमें अनेकान्तदृष्टिसे अपेक्षा और अनपेक्षा दोनोंसे वस्तुसिद्धि (वस्तुके व्यवहार और स्वरूपकी सिद्धि) की सुन्दर एवं सयुक्तिक व्यवस्था भी करते हैं । यथा—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवोक्षया ।

न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७५॥

अपेक्षा-अनपेक्षाकी समस्या नागार्जुनके लिए माध्यमिकामें भी रहती है । यथा—

यदीन्धनमपेक्ष्याग्निरपेक्ष्याग्निं यदीन्धनम् ।

कतरत् पूर्बनिष्पन्नं यदपेक्ष्याग्निरिन्धनम् ।

यदीन्धनमपेक्ष्याग्निर्भवतीति प्रकल्प्यते ।

एवं सतीन्धनञ्चापि भविष्यति निरग्निकम् ॥

योऽपेक्ष्य सिध्यते भावस्तमेवापेक्ष्य सिध्यति ।

यदि योऽपेक्षितव्यः स सिध्यतां कमपेक्ष्यकः ॥

योऽपेक्ष्य सिध्यते भावः सोऽसिद्धोऽपेक्ष्यते कथम् ।

अपेक्ष्येन्धनमग्निं न नानपेक्ष्याग्निमिन्धनम् ॥

—माध्यमि. पृ. ७०-७१ ।

यहाँ पाठक देखेंगे कि नागार्जुन अपेक्षा और अनपेक्षाके एकान्तोंको पकड़कर जब उनके समन्वयका हल न निकाल सके, तो शून्यतत्त्वको मान बैठे । पर समन्तभद्रने इसका हल निकाल लिया और लोकमें दिख रही अपेक्षा-अनपेक्षासे सिद्धिको मानकर अनेकान्तदृष्टिसे उसका व्यवस्थापन किया । जैसा कि उपर्युक्त वाक्योंसे प्रकट होता है ।

इस थोड़े-से तुलनात्मक परीक्षण तथा समन्वयात्मक दृष्टिसे यह साफ जाना जाता है कि समन्तभद्रपर नागार्जुनके साहित्यकी तीव्र प्रतिक्रिया होनेसे वे उनके सम समय या निकट समयवर्ती हैं । अर्थात् दोनोंका अस्तित्व प्रायः एककालीन है अथवा नागार्जुनके तुरन्त बाद समन्तभद्र हुए जान पड़ते हैं ।

(७) और देखिए—

आचार्य कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ प्रभृति जैन विद्वानोंने सत्का या वस्तुका लक्षण 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' किया है और बतलाया है कि संसारकी सभी चेतन-अचेतन वस्तुएँ उत्पादादित्रयात्मक हैं। इन उत्पादादिके एक जगह रहनेमें कोई विरोध भी नहीं है। नागार्जुन इस वस्तुलक्षणकी मान्यताका जोरोसे खण्डन करते हुए 'माध्यमिका'में लिखते हैं—

उत्पादाद्यास्त्रयो व्यस्ता नालं लक्षणकर्मणि ।

संस्कृतस्य समस्ताः स्युरेकत्र कथमेकदा ॥४५॥

अर्थात् उत्पादादि तीन अलग-अलग सत्के लक्षण हैं या मिलकर तीनों ही सत्का लक्षण हैं ? अलग-अलग तो वे सत्के लक्षण नहीं हो सकते; क्योंकि इसमें कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। और यदि मिलकर तीनों सत्का लक्षण हैं तो वे तीनों एक जगह एक कालमें कैसे रह सकते हैं ? इसी बातको नागार्जुन माध्यमिका की एक दूसरी कारिकाके द्वारा भी प्रकट करते हैं—

उत्पादस्थितिभङ्गानामन्यत् संस्कृतलक्षणम् ।

अस्ति चेदनवस्थैवन्नास्ति चेत्ते न संस्कृताः ॥

नागार्जुनके इस प्रबल आक्षेपका सबल जवाब गृद्धपिच्छके उत्तरवर्ती स्वामी समन्तभद्रने आसमीमांसाकी निम्न कारिकाके द्वारा दिया है और उसमें गृद्धपिच्छके वस्तुलक्षणकी उत्पादादित्रयात्मकत्व मान्यताको सयुक्तिक पुष्ट किया है—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।

व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

इसमें बतलाया है कि सामान्यरूपसे सत्का न तो उत्पाद होता है और न विनाश; क्योंकि सत्का पूर्वोत्तर पर्यायोंमें स्पष्ट अन्वय (सद्भाव) पाया जाता है, किन्तु विशेषरूपसे—पर्यायकी दृष्टिसे सत् उत्पन्न होता है और विनष्ट भी होता है। अतः उत्पादादि तीनों मिलकर ही सत्का लक्षण हैं और वे एक साथ एक जगह रहते हैं—इसमें विरोधादि कोई भी दोष नहीं है।'

यहाँ नागार्जुनने गृद्धपिच्छके जिस 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थसू. ५-३०) सिद्धान्तकी कड़ी आलोचना करके सत्को जड़से ही उखाड़नेकी चेष्टा की है और 'संस्कृतस्य समस्ताः स्युरेकत्र कथमेकदा' जैसे वाक्योंका प्रयोग किया है। उसका सवा सोलह आना उत्तर स्वामी समन्तभद्रने 'सहैकत्रोदयादि सत्' कहकर दिया है। यहाँ समन्तभद्रके 'सह', 'एकत्र', 'उदयादि सत्' ये तीन पद खास ध्यान देने योग्य हैं, जो नागार्जुनके 'कथं', 'एकत्र', 'एकदा' के जवाबमें कहे गये हैं। समन्तभद्र युक्तिके साथ प्रतिबन्धि उत्तर देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, वे दो दृष्टान्तों द्वारा वस्तुके उत्पादादित्रयात्मकत्वकी मान्यताको सिद्ध भी करते हैं—

घटमौलिस्वर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिघ्नतः ।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्रपर नागार्जुनके उक्त खण्डनकी चोट पहुँची है और उनसे उन्हें जनताके विचलित होनेकी आशंका उत्पन्न हुई है। इसीसे वे इतनी सबलताके साथ उत्तर देनेमें प्रवृत्त एवं अग्रसर हुए जान पड़ते हैं। समन्तभद्रने नागार्जुनका इतना ही आलोचन नहीं किया, किन्तु नागार्जुनने जिन मुद्दों—भाव-अभाव, नित्य-अनित्य, अपेक्षा-अनपेक्षा आदि—को अपने खण्डनका आधार बनाकर शून्याद्वैतका साधन किया है, प्रायः उन सभी मुद्दों पर आपसीमांसामें सविस्तर विचार प्रकट करके स्याद्वादनीतिसे अनेकान्तात्मक प्रमेयवस्तुका व्यवस्थापन किया है।

इस अन्तःपरीक्षण-से स्पष्ट है कि स्वामी समन्तभद्रके सामने नागार्जुनके विचारोंकी खूब चर्चा और आलोचना रही है। उन्होंने उनके जिन विचारों को अयुक्त समझा, उनका सयुक्तिक खण्डन किया है। और इसलिए समन्तभद्र नागार्जुनके अधिक उत्तरकालीन नहीं ज्ञात होते—वे समकालीन या उनके कुछ ही समय बाद हुए जान पड़ते हैं। यह कुछ ही समय भी १०-२० वर्षसे अधिक प्रतीत नहीं होता। नागार्जुनके समय ई. सन् १८१ में यदि ये दस या बीस वर्ष और मिला दिये जायें तो समन्तभद्रका समय ई. सन् १९१ या २०१ के लगभग होता है। इस तरह समन्तभद्रका जो समय जैन मान्यतानुसार दूसरी-तीसरी शताब्दी माना जाता है वह ठीक ठहरता है।

दिग्नाग और समन्तभद्र

समन्तभद्र और दिग्नाग दोनों ही दो भिन्न परम्पराओंके प्रधान आचार्य हैं—समन्तभद्र जैन परम्पराके और दिग्नाग बौद्ध परम्पराके। जो सम्मान और प्रतिष्ठा जैन परम्परामें स्वामी समन्तभद्रको प्राप्त है प्रायः वही सम्मान और प्रतिष्ठा बौद्ध परम्परामें आचार्य दिग्नागको उपलब्ध है। दोनों ही अपने-अपने दर्शनशास्त्रके प्रभावक विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं। दिग्नागका समय प्रायः ईसाकी ४थी और ५वीं शताब्दी (३४५-४२५ ई०) माना जाता है, जब कि समन्तभद्रके समय-सम्बन्धमें आमतौरपर दूसरी शताब्दी (शक सं० ६०) की मान्यता है^१। यद्यपि इस मान्यतामें कुछ विद्वानोंको विवाद है, फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपादाचार्यसे, जिनका समय अनेक प्रमाणोंके आधारपर ईसाकी पाँचवीं शताब्दी^३ माना जाता है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं; किन्तु उनसे अथवा उनकी ग्रन्थ-रचनाके आरम्भ-से, जिसका अनुमानकाल ई० सन् ४५० के लगभग जान पड़ता है,^५ पहले हो गये हैं; क्योंकि पट्टावलियोंके अतिरिक्त श्रवणबेलगोलके अनेक शिलालेखोंमें भी समन्तभद्रको पूज्यपादके पूर्वका विद्वान् बतलाया है। दूसरे, स्वयं पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र-व्याकरण-के 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (५-४-१६८) इस सूत्रमें समन्तभद्रके मतका उल्लेख किया है। तीसरे, पूज्यपादके साहित्यपर समन्तभद्रके ग्रन्थोंका स्पष्ट प्रभाव पाया जाता है^४।

विचारणीय यह है कि स्वामी समन्तभद्र आचार्य दिग्नागके भी पूर्ववर्ती हैं या नहीं; क्योंकि दिग्नाग और पूज्यपादके समयमें जो थोड़ा अन्तर जान पड़ता है उस-परसे दिग्नाग पूज्यपादके पूर्ववर्ती मालूम होते हैं। इस विषयमें समन्तभद्र और दिग्नागके साहित्यका अन्तःपरीक्षणकर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(१) बौद्धदर्शनका प्रत्यक्ष-लक्षण प्रायः सभी बौद्ध-ताकिकों और इतर दार्शनिकोंके विचारकी वस्तु रहा है। बौद्ध दर्शनमें ही उसमें कितना ही संशोधन एवं परिवर्तन हुआ है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि दिग्नागके पहिले भी बौद्ध-परम्पराका

१. तत्त्वसंग्रहकी भूमिका पृ० ७३ LXXIII तथा वादन्यायके परिशिष्ट A. और E।
२. 'पट्टावली', जो हस्तलिखित संस्कृतग्रन्थोंके अनुसन्धान-विषयक डॉ० भाण्डारकरकी सन् १८८३-८४ की रिपोर्टमें पृ० ३२० पर प्रकाशित हुई है, तथा कर्णाटक-भाषाभूषणमें बी० लेविस राइसकी अंगरेजी प्रस्तावना।
३. 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४१ से १४४। पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दीने वि० सं० ५२६ (ई० सन् ४६९) में द्राविडसंघकी स्थापना की है (दर्शनसार, गा० २४-२८)।
४. 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १४३।
५. पं० जुगलकिशोर मुस्तारका 'सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्रका प्रभाव, शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ५, कि० १०-११, पृ० ३४५-३५२।

प्रत्यक्ष 'निर्विकल्पक', 'अकल्पक' या 'प्रत्यक्षबुद्धि' के नामसे प्रसिद्ध था। उस समय बौद्ध नैयायिकोंके सामने प्रत्यक्ष लक्षणकी एक अन्य परम्परा थी। वह थी 'इन्द्रिय-संनिकर्ष'^२ या 'इन्द्रियजन्यव्यवसायात्मक'^३ ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना। इसके विरोध-स्वरूप उन्हें प्रत्यक्षकी परिभाषा अपनी बनानी पड़ी। उन्होंने देखा कि 'इन्द्रिय-संनिकर्ष' और 'इन्द्रियजन्यव्यवसायात्मक ज्ञान' ये दोनों ही यथार्थ एवं वस्तुविषयक नहीं हैं, क्योंकि ये अर्थाभावमें भी हो जाते हैं और इसका कारण विकल्पवासना है। अतः विकल्पवासनासे शून्य अर्थजन्यबोध ही प्रत्यक्ष है और वही यथार्थ है—विकल्पात्मक इन्द्रियजन्य बोध या जड़ इन्द्रियसंनिकर्ष प्रत्यक्ष नहीं है। दिग्नागके पहले हमें ऐसे प्रत्यक्षकी मान्यताका आभास दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयगत एक कारिकासे मिलता है जिसमें दिग्नागने उसे खण्डित किया है और कुछ अंशोंमें मान्य भी किया है। साथ ही एक कारिकामें 'जात्याद्यसंयुतं कल्पनापोढं' को प्रत्यक्षका लक्षण स्थिर किया है^४ और दूसरी कारिका द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञानमें इन्द्रियोंकी असाधारणता एवं प्रधानता होनेसे 'प्रत्यक्ष' नामकी सार्थकता और इन्द्रियजन्यता भी बतलायी है^५। दिग्नागके द्वारा कदर्थित और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारों^६ द्वारा भी खण्डित यह बौद्धप्रत्यक्षका लक्षण वाचस्पतिमिश्रने स्पष्टतया वसुबन्धुका बतलाया है^७। किन्तु वसुबन्धु जिस समय 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक प्रकरणग्रन्थकी रचना

१. (क) निर्विकल्पं यदि ज्ञानं वस्त्वस्तीति न युज्यते ।

यस्माच्चित्तं न रूपाणि निर्विकल्पं हि तेन तत् ॥

—लंकावतारसूत्र, सगायक ११२ ।

(ख) मयाऽन्यैश्च तावागतैरनुगम्य यथावद्देशितं प्रज्ञप्तं विवृतमुत्तानीकृतं । यत्रानुगम्य सम्यगवबोधानुच्छेदाशाश्रितो विकल्पस्याप्रवृत्तिः स्वप्रत्यात्मार्यज्ञानानुकूलं तीर्थकरपक्ष-परपक्षश्चावकप्रत्येकबुद्धागतिलक्षणं तत्सम्यग्ज्ञानम् । किन्तु उपमानमात्रमेतन्महामते यदुत गंगानदीबालुकासमास्ताथागता समा न विषमा अकल्पाविकल्पनतः ।”

—लंकावतारसूत्र, पृ० २२८-३१ ।

(ग) प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा ।

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥१६॥

—विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिविशिका ।

२. “आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसंनिकर्षात् यन्निष्पद्यते तदन्यदिति ।” —वैशेषिकसूत्र ३, १, १८ ।

३. “इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।”

—न्यायसूत्र १, १, ४ ।

४. “प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् ।” —प्रमाणस०, का० ३ ।

५. “असाधारणहेतुत्वाद्द्वयपदेश्यं तदिन्द्रियैः ।” —प्रमाणस०, का० ४ ।

६. “अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति । तन्न, ततोऽर्थादिति यस्यार्थस्य यद्विज्ञानं व्यपदिश्यते यदि तत एव तद्भवति नार्थान्तराद्भवति तत् प्रत्यक्षम् ।”

—न्यायवार्तिक (उद्योतकर), पृ० ४० ।

७. “तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थं वासुबन्धवं तावत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपपन्नस्यति अपरे पुनरिति ।”

—न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, पृ० १५० ।

करते हैं और उसमें विज्ञप्तिमात्र तत्त्वकी प्रतिष्ठा करते हैं^१ तो वे वहाँ रूपादि अर्थके बिना भी रूपादि-विज्ञप्तिरूप प्रत्यक्षको मानते हैं^२ और 'तैमिरिक' तथा 'स्वप्नवत्' दृष्टान्तके द्वारा अर्थाभावमें भी रूपादि विज्ञप्तिके होनेका समर्थन करते हैं, तब यह सन्देह हो जाता है कि 'अर्थाद्विज्ञान' को प्रत्यक्ष माननेका सिद्धान्त वसुबन्धुका है या उनके पूर्ववर्ती या समकालीन अन्य किसी आचार्यका ? यह हो सकता है कि वसुबन्धु जिस समय 'विज्ञप्तिमात्र तत्त्व' के प्रतिष्ठापक न रहे हों उस समय 'अर्थाद्विज्ञान' को प्रत्यक्ष माननेका उनका सिद्धान्त रहा हो। कुछ भी हो। यह निश्चित है कि दिग्नागके पहिले वैसे प्रत्यक्ष लक्षणकी मान्यता थी और वह 'अकल्पक' 'निर्विकल्पक' 'प्रत्यक्षबुद्धि' 'रूपादिज्ञान' 'चक्षुरादिज्ञान' आदि नामोंसे ही प्रसिद्ध था। प्रमाणसमुच्चयकी उक्त प्रत्यक्षलक्षणको खण्डन करनेवाली वह कारिका इस प्रकार है—

ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति तत्र तु ।

ततोऽर्थादिति सर्वं तद्यत् तन्मात्रतो न हि ॥

—प्रमाणस०, का० १५ ।

इस तरह यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष 'निर्विकल्प' या 'अकल्पक' के नामसे दिग्नागके पहिले भी माना जाता था और यह बौद्ध नैयायिकोंकी खास मान्यता थी। दिग्नागने इसमें सिर्फ अर्थजन्यताकी आलोचना की और मुख्यतया इन्द्रियजन्यताका समर्थन किया। साथ ही कल्पनाका परिष्कार और उसकी परिभाषा भी बाँधी^३। बादमें तो इसे परिष्कृत करने और परिभाषा बाँधनेके कारण वह प्रत्यक्षका 'कल्पनापोढ' लक्षण दिग्नागका ही कहा जाने लगा। यहाँ तक कि उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकारोंने दिग्नागके नामसे ही अपने ग्रन्थोंमें उसे उद्धृत करके खण्डन भी किया है^४। दिग्नागसे कई शताब्दी बाद हुए प्रबल बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिने दिग्नागके तथाकथित प्रत्यक्षलक्षणमें 'अभ्रान्त' विशेषण लगाकर उसे संशोधित और परिवर्धित किया। इसके बादके दार्शनिकोंके खण्डन-मण्डनका विषय तो प्रायः धर्मकीर्तिका 'अभ्रान्त'-विशेषण-विशिष्ट प्रत्यक्ष लक्षण ही हुआ है। इस तरह हम देखते हैं कि बौद्ध परम्परामें प्रत्यक्ष-लक्षणके बारेमें तीन धाराएँ पायी जाती हैं—१. दिग्नागकी पूर्ववर्तिनी, २. दिग्नागोय और ३. धर्मकीर्तीय।

अब देखना है कि समन्तभद्रके साहित्यमें इन तीन धाराओंमें-से कौन-सी धारा

१. "विज्ञप्तिमात्रमेवैतदसदर्थविभासनात् ।" —विज्ञप्ति०, का० १ ।

२. द्वितीयकारिकाकी वृत्तिमें भी, जो स्वोपज्ञ जान पड़ती है, इस प्रकारका उल्लेख है—
"यदि विना रूपाद्यर्थेन रूपादिविज्ञप्तिरुत्पद्यते न रूपाद्यर्थात् । कस्मात् न्वचिद्देशे उत्पद्यते न सर्वत्र.....।"

३. "रशियन प्रो० चिर विट्स्की लिखते हैं कि—दिग्नागने कल्पनाके पाँच भेद किये थे—
जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया और परिभाषा ।" —न्यायकु० भा० प्र०, प्रस्ता० पृ० १०९ ।

४. (क) "अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति । अथ केयं कल्पना ? नामजाति-
योजनेति.... ।" —न्यायवार्तिक, पृ० ४१ ।

(ख) "संप्रति दिग्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति । अपरे इति....।"

लक्षित होती है ? इसके लिए हम यहाँ वे स्थल उपस्थित करते हैं जहाँ समन्तभद्रने बौद्धसम्मत प्रत्यक्षका निर्देश या आलोचन किया है। समन्तभद्रके स्थल निम्न प्रकार हैं—

(१) “प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र ।” —युक्तधनुशासन, का० २२ ।

(२) “प्रत्यक्षनिर्देशबद्धसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् ।”

—वही, का० ३३ ।

(३) “वीतविकल्पधीः का ।” —वही, का० १७ ।

यहाँ समन्तभद्रका ‘प्रत्यक्षबुद्धि’ शब्दका प्रयोग उसी प्रकारका है जिस प्रकारका वह वसुबन्धु^१ की ‘विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि’ की निम्न कारिकामें पाया जाता है—

प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा सा च यदा तदा ।

न सोऽर्थो दृश्यते तस्य प्रत्यक्षत्वं कथं मतम् ॥

—विज्ञप्ति०, का० १६ ।

‘अकल्पक’ और ‘वीतविकल्पधी’ शब्दका प्रयोग भी उनका वैसा ही है, जैसा कि इसी लेखके आरम्भमें पाद-टिप्पणमें उद्धृत लंकावतारसूत्र^२ के गद्य और पद्य भागमें ‘अकल्पाविकल्पनतः’ और ‘निर्विकल्पं यदि ज्ञानं’ वाक्योंमें उपलब्ध होता है ।

इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र प्रथम धारा (दिग्नाग पूर्ववर्तिनी)के उल्लेखकर्ता हैं—वही उनके समयमें प्रवाहित थी । यदि दूसरी (दिग्नागीय) या तीसरी (धर्मकीर्तीय) धारा प्रवाहित होती तो वे मुख्यतया दिग्नागके ‘जात्याद्यसंयुतकल्पनापोढ’रूप परिष्कृत लक्षणका या धर्मकीर्तिके ‘अभ्रान्त’—विशेषणविशिष्ट लक्षणका अथवा दोनोंका उल्लेख एवं आलोचन करते जैसा कि दिग्नागके उत्तरवर्ती तार्किकोंने दिग्नागीय प्रत्यक्षलक्षण और धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती दार्शनिकोंने दिग्नागीय तथा धर्मकीर्तीय दोनों प्रत्यक्षलक्षणोंका निर्देश एवं खण्डन-मण्डन किया है । और इसलिए कहना होगा कि समन्तभद्र उस समय हुए हैं जबकि प्रत्यक्षके लक्षणविषयमें पिछली दो विचार-धाराओंका जन्म ही नहीं हुआ था । फलतः समन्तभद्र धर्मकीर्तिके ही नहीं किन्तु दिग्नागके भी पूर्ववर्ती हैं ।

(२) दिग्नागने प्रमाणसमुच्चय-गत एक कारिकाके द्वारा प्रमाणके फलरूपमें ‘अज्ञाननाश’ का खण्डन किया है और यह बतलाया है कि फल सत् रूप होता है, ‘अज्ञाननाश’ असत् है और उसके सर्वत्र होनेका नियम भी नहीं है, इसलिए ‘अज्ञाननाश’ प्रमाणका फल नहीं है । प्रमाणसमुच्चयकी उस कारिकाका प्रकृत अंश इस प्रकार है—

अज्ञानादेर्न सर्वत्र व्यवच्छेदः फलं न सत् ॥२३॥

१. वसुबन्धुका समय तत्त्वसंग्रहकी भूमिकामें २८०-३६० A. D. दिया है, देखो, भूमि०, पृ० LXVI ।

२. लंकावतारसूत्रका एक चीनी अनुवाद गुणभद्र द्वारा ई० सन् ४४३ (A. D.) में हुआ है, ऐसा प्रो० Bunyui Nanjio M. A. ने सन् १९२६ के संस्करण (जापान) में प्रकट किया है और इससे यह सूत्र ईसाकी ५वीं शताब्दीसे बहुत पहलेका बना हुआ जान पड़ता है ।

विचारणीय है कि अज्ञान-व्यवच्छेदको प्रमाणका फल किस दार्शनिकने स्वीकार किया है। न्याय^१ वैशेषिक^२, मीमांसा^३ और बौद्ध^४ किसी भी परम्पराने 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल नहीं माना। यही पं० सुखलालजीने भी कहा है।

दिग्नागने जिन न्यायसूत्रकार और वात्स्यायनके प्रत्यक्षलक्षणका खण्डन किया है उन्होंने भी 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल स्वीकार नहीं किया। उपलब्ध जैन-जैनेतर दर्शन-साहित्यका अनुशीलन करनेपर ज्ञात होता है कि जैन मनीषी स्वामी समन्तभद्रने ही सर्वप्रथम 'अज्ञान-नाश' को प्रमाणका फल कहा है और अपनी आस-मीमांसाकी निम्न कारिकाके द्वारा उसे स्पष्टतया घोषित किया है—

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यावानहानधीः ।

पूर्वा वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वोचरे ॥१०२॥

यहाँ कारिकाके पूर्वार्धमें प्रमाणका जो फल दिया हुआ है वह तो वात्स्यायन-के भाष्यमें भी पाया जाता है, जिनका समय लगभग ईसाकी तीसरी-चौथी शताब्दी है। किन्तु उत्तरार्धमें जो 'अज्ञाननाश' फल दिया है वह समन्तभद्रका स्वोपज्ञ है, जिसे पूज्यपादने भी अपनी सर्वार्थसिद्धिमें "उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्" इस वाक्यके द्वारा अपनाया है। और न्यायावतारकार सिद्धसेन ईसाकी ७-८वीं शताब्दी ने^५ समन्तभद्रकी उक्त कारिकाका निम्न प्रकारसे अनुसरण किया है—

प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।

केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यावानहानधीः ॥२८॥

१. "यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम् ।"

—न्यायवा० भा०, पृ० १७ ।

२. "तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम् ।" —वैशेषिकसू० १. १. ३ ।

३. मीमांसाश्लोकवा० ५९-७३ (ग्रन्थ सामने न होनेसे प्रमा० मी० टि० के आधार पर नम्बर मात्र दिया गया है) ।

४. (क) "स्वसंवित्तिः फलं वात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः ।

विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥" —प्रमाणस० का० १० ।

(ख) "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते ।

स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा ॥" —तत्त्वसं० का० १३४४ ।

५. "अज्ञानविनाशका फलरूपसे उल्लेख, जिसका वैदिक-बौद्ध परम्परामें निर्देश नहीं देखा जाता ।....." —प्रमाण०, भा० पृ० ६८ ।

६. देखो, प्रमाणसमुच्चय, का० १८, १९, २०, २१, २२, २३ ।

७. क्योंकि सिद्धसेनने प्रत्यक्षके लक्षणमें कुमारिलके 'बाधवर्जित' विशेषणका और धर्मकीर्तिके 'अभ्रान्त' पदका प्रयोग किया है और कुमारिल तथा धर्मकीर्ति दोनों ही ईसाकी ७वीं शताब्दीके विद्वान् हैं ।

८. न्यायावतारमें समन्तभद्रके और भी कितने ही पद-वाक्योंका अनुसरण पाया जाता है—
'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्' इत्यादि शास्त्र-लक्षण वाला रत्नकरण्डकश्रावका-चारका ९वाँ पद्य तो ज्योंका त्यों श्लोक नं० ९ पर उद्धृत है। अतः वे समन्तभद्रसे उत्तरवर्ती हैं ।

इस तरह 'अज्ञाननाश' को प्रमाणका फल बतलाना एक जैन मान्यता है, जिसके आद्यपुरस्कर्ता समन्तभद्र हैं। अतः इस मान्यताका खण्डन करनेवाले दिग्नाग समन्तभद्रसे पूर्ववर्ती न होकर उत्तरवर्ती ही सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि समन्तभद्रके उत्तरवर्ती अकलंकदेव अपने पूर्वजके मतके उक्त खण्डनका सबल उत्तर अपनी उसी कारिकाकी व्याख्या अष्टशतीमें देते हुए लिखते हैं—

**“मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदः । तदभावे दर्शनस्यापि संनिकर्षा-
विशेषात् । क्षणपरिणामोपलम्भवदविसंवादकत्वासंभवात् ।”**

यहाँ अकलंकदेवकी पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जिनके द्वारा कहा गया है कि यदि 'अज्ञाननाश' को प्रमाणका फल नहीं मानोगे तो जिस सन्निकर्षका खण्डन करते हो उसमें और तुम्हारे निर्विकल्पक दर्शन-‘कल्पनापोढप्रत्यक्ष’में कोई अन्तर नहीं रहता; क्योंकि दोनों ही विसंवादकताके अव्यावर्तक हैं। और अविसंवादी ज्ञान प्रमाण माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त दिग्नागकृत खण्डन समन्तभद्रकी मान्यतासे ही सम्बन्ध रखता है, जिसका समुचित उत्तर उनके उत्तरवर्ती अकलंकदेवने दिया है।

(३) दिग्नागने 'प्रमाणसमुच्चय' गत ९वीं कारिकाकी वृत्तिमें प्रमाण और प्रमाण-फलके अभेदका प्रतिपादन एवं भेदका खण्डन निम्न प्रकारसे किया है—

**“अत्र यथा बाह्यानां प्रमाणत्फलमर्थान्तरं तथा नास्ति । फलभूतं विषयाकार-
मुत्पद्यमानं (ज्ञानं) सव्यापारं प्रतीयते ।”**

अर्थात् बाह्यों-बौद्धेतरोंके यहाँ जिस प्रकार प्रमाणसे फल भिन्न है वैसा यहाँ (बौद्धोंके) नहीं है।

यहाँ प्रमाण और फलके भेदका खण्डन किया गया है और प्रकारान्तरसे अभेदका प्रस्ताव किया है। दिग्नागके पहले वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक सभीके यहाँ प्रमाणसे फल सतत स्वीकार किया गया है। दिग्नागने उसका खण्डन करके उनमें अनर्थान्तरता मानी। यदि समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती होते तो वे इस प्रमाण और फल-विषयक भेदाभेदके सम्बन्धमें जैनदृष्टिकोणको दार्शनिकोंके सामने रखे बिना न रहते। कोई वजह नहीं कि समन्तभद्र भाव-अभाव, नित्य-अनित्य आदि अनेक मुद्दोंकी तो चर्चा करें और प्रमाण तथा फलके भेदाभेदविषयक मुद्देको यों ही छोड़ दें। इससे यह स्पष्ट मालूम होता है कि समन्तभद्रका अस्तित्व उस समयका है जब प्रमाण और फलका भेदाभेद उभरकर नहीं आया था—वे इसके पुरस्कर्ता दिग्नागसे पहिले हो चुके थे। यही कारण है कि समन्तभद्र और दिग्नागके उत्तरवर्ती आप्त-मीमांसके व्याख्याकार अकलंकने सर्वप्रथम जैन-परम्परा में इस गुत्थीको सुलझाया और प्रमाण तथा फलके भेदाभेदके सम्बन्धमें जैनदृष्टिकोणको स्पष्ट किया। समन्तभद्रके समयमें ऐसी कोई गुत्थी उपस्थित नहीं थी, इसीसे समन्तभद्रको सामान्य भेदाभेदका अनेकान्तदृष्टिसे स्पष्टीकरण करते हुए और प्रमाण तथा फलकी व्याख्या

१. “करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत् । नानात्वं च परश्चादिवत् ॥”

करते हुए भी उस गुत्थीको सुलझानेकी जरूरत पैदा नहीं हुई। दूसरे शब्दोंमें यों कहिए कि स्वामी समन्तभद्र तब हुए हैं जब प्रमाण और फलके सम्बन्धमें भेदाभेद-विषयक दो मत नहीं थे।

ऊपरके इस सम्पूर्ण विवेचन एवं साहित्यिक अन्तःपरीक्षणसे यह तथ्य सामने आता है कि समन्तभद्र दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं—उत्तरवर्ती नहीं। अब आगे भर्तृहरि, कुमारिल और धर्मकीर्तिके साहित्यके साथ भी समन्तभद्रके साहित्यका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है—

समन्तभद्र और भर्तृहरि

भर्तृहरि 'शब्दाद्वैतवाद' के प्रतिष्ठाता और 'स्फोटवाद' के पुरस्कर्ता माने जाते हैं। इनका तार्किकशैलीसे रचा गया 'वाक्यपदीय' नामका व्याकरण-ग्रन्थ अतिप्रसिद्ध है। भर्तृहरिके उत्तरवर्ती कुमारिल^१, धर्मकीर्ति^२, अकलंक^३, विद्यानन्द^४ आदि तार्किकोंने इनके शब्दाद्वैत और स्फोटवादका खण्डन किया है। यदि समन्तभद्र भर्तृहरिके उत्तरवर्ती होते तो वे भी उनके शब्दाद्वैतवाद और स्फोटवादका, जिसने अपने समयमें खूब जोर पकड़ा था, खण्डन किये बिना न रहते। परन्तु समन्तभद्रकी एक भी कृतिमें उक्त चर्चाकी गन्ध तक नहीं है। उत्तरवर्ती होनेपर कोई वजह नहीं कि समन्तभद्र सामान्यरूपसे अद्वैतवादका खण्डन कर जानेपर भी विशेषरूपसे बौद्ध-दर्शनसम्मत विज्ञानाद्वैत तथा बहिरर्थाद्वैत जैसे अद्वैतोंकी तो आलोचना कर जायें किन्तु भर्तृहरिके वाक्यपदीयगत शब्दाद्वैतपर एक शब्द भी न लिखें, जिसकी चर्चाने अपने समयमें एक भारी तहलका मचा दिया था और कुमारिल, धर्मकीर्ति, अकलंक जैसे तार्किकोंको बरबस अपनी ओर आकर्षित किया था। इससे साफ है कि भर्तृहरिके असमालोचक समन्तभद्र उसी प्रकार भर्तृहरिके पूर्ववर्ती हैं जिस प्रकार कि भर्तृहरिके असमालोचक दिग्नाग भर्तृहरिके पूर्ववर्ती हैं।



१. मीमांसा-श्लोकवार्तिक स्फोटवाद ।

२. प्रमाणवार्तिक (३-२५१ से) ।

३. राजवार्तिक, पृ. २३१ ।

४. अष्टसहस्री, पृ. २८५, श्लोकवार्तिक, पृ. २४१ ।

कुमारिल और समन्तभद्र

प्रसिद्ध मीमांसकतार्किक कुमारिलभट्टने समन्तभद्रोय आप्तमीमांसाकी आलोचना की है और आप्तमीमांसाके कितने ही पद, वाक्यों तथा कारिकाओंका बिम्बप्रतिबिम्बरूपसे अनुसरण भी किया है। नीचे इसका कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

यद्यपि सर्वज्ञत्व की मान्यता बहुत प्राचीन है और उसका साधन भी दार्शनिकोंने विविधरूपसे किया है। पर समन्तभद्रने उसके साधनका जो ढंग एवं सरणि अपनायी है वह अन्यत्र अलभ्य है। सातवीं शताब्दी तक के न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें न तो समन्तभद्र जैसी सर्वज्ञकी सिद्धि उपलब्ध होती है^१ और न उन जैसी सर्वज्ञ-साधनमें अपनायी गयी सरणि ही पायी जाती है। समन्तभद्र अपनी आप्त-मीमांसामें सर्वप्रथम सामान्यरूपसे सर्वज्ञका प्रस्ताव करते हैं और कहते हैं—

तीर्थकृतसमयानां च परस्परविरोधतः ।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥

अर्थात्—सभी तीर्थ-प्रवर्तकों और उनके उपदेशोंमें परस्परविरोध होनेसे सब तो आप्त नहीं हो सकते, कोई ही (एक) गुरु (आप्त-सर्वज्ञ) होना चाहिए।

भट्ट कुमारिल इसको आलोचना करते हुए लिखते हैं—

सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु ।

तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।

अथोभावपि सर्वज्ञौ मतभेदः तयोः कथम् ॥

—तत्त्वसं., का. ३१४८-४९ ।

यहाँ समन्तभद्रके 'परस्परविरोधतः'के स्थानमें कुमारिलने 'विरुद्धार्थोपदेशिषु' पदका प्रयोग किया है और जिस विरोधकी समन्तभद्रने सूचना मात्र दी थी उस विरोधको कुमारिलने दूसरी 'सुगतो यदि सर्वज्ञः' इस कारिकाके द्वारा स्पष्ट किया है। साथ ही समन्तभद्रने जो यह कहा था कि 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः'—'कोई ही एक

१. न्याय-वैशेषिक ईश्वरको ही सर्वज्ञ मानते हैं। युक्त और वियुक्त योगी आत्माओंकी सर्वज्ञ मानते तो हैं, पर मोक्ष होनेके बाद, उनका ज्ञान योगजन्य होनेसे शेष नहीं रहता। सांख्य, योग और वेदान्त दर्शन भी न्यायवैशेषिककी ही तरह सर्वज्ञत्व मानते हैं अन्तर सिर्फ इतना है कि सांख्य, योग प्रकृति (बुद्धि) तत्त्वमें, वेदान्त बुद्धिसत्त्वमें सर्वज्ञत्व मानते हैं।—देखो, प्रमाणमी. भा. टि., पृ. २९

२. इन कारिकाओंको शांतरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें कुमारिलके नामसे उद्धृत किया है। अष्टसहस्री पृ. ५ में विद्यानन्दने भी दूसरी कारिका 'तदुक्तं' करके कुमारिलकी तरफसे उद्धृत की है।

सर्वज्ञ होना चाहिए' उसका विरोध कुमारिलने 'को नामैकोऽवधार्यताम्'—'किस एकका निश्चय करते हो' जैसे शब्दों द्वारा किया है।

समन्तभद्र जब अपने उपर्युक्त प्रस्तावानुसार एक दूसरी कारिकामें सर्वज्ञका सामान्यरूपसे 'अनुमेयत्व' हेतुके द्वारा संस्थापन करते हैं तो कुमारिल इसकी भी आलोचना करते हैं। समन्तभद्रकी वह सामान्य सर्वज्ञकी साधक कारिका निम्न प्रकार है—

सूक्ष्मान्तरितद्वारार्थः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥

यहां समन्तभद्रने 'कस्यचित्' जैसे सामान्यवाची सर्वनाम शब्दका प्रयोग किया है जो 'सामान्य पुरुष' का वाचक होता है और उस सामान्य पुरुषमें 'अग्नि आदि पदार्थ' रूप दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे 'अनुमेयत्व' (अनुमानके विषय) रूप हेतुके द्वारा सूक्ष्म, अन्तरित (कालव्यवहित) और दूरवर्ती पदार्थोंकी प्रत्यक्षताकी सिद्धि (अनुमान द्वारा साधना) की है। इस तरह इस कारिकाके द्वारा सर्वज्ञ-सामान्यकी सिद्धि की गयी है। इसके पहले समन्तभद्रने एक अन्य कारिकाके द्वारा 'सर्वज्ञता' की कसौटी एवं नियामक 'वोतरागता' (दोष और आवरणोंकी रहितता) को बतलाया है और उसका साधन भी उन्होंने 'क्वचिद्यथा' जैसे सामान्य शब्दोंके प्रयोग-पूर्वक किया है। समन्तभद्रकी वह कारिका इस प्रकार है—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशयानात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥

इसमें बतलाया है कि 'किसी आत्मा-विशेषमें दोष (अज्ञानादि) और आवरणों (ज्ञानावरणादिकर्म) का सर्वथा क्षय होता है, क्योंकि इनकी न्यूनाधिकता देखी जाती है' और जिस आत्मामें यह 'वोतरागता' (निर्दोषता) प्रकट हो जाती है उसी आत्मामें पूर्वोक्त सर्वज्ञता सम्भवित है, अन्यमें नहीं। समन्तभद्र नीचेकी दो कारिकाओं द्वारा इसी बातको प्रकट करते हैं और पूर्वोक्त सामान्य-सर्वज्ञताका आश्रय 'अहन्तजिन' को ही बतलाते हैं। यद्यपि समन्तभद्रने आगेकी इन कारिकाओंमें भी जैनसम्मत 'अहन्त' या 'जिन' शब्दका प्रयोग नहीं किया है तथापि पूर्वापरके सम्बन्ध मिलाने पर यह मालूम हो जाता है कि जैनपरम्पराभिमत स्याद्वादनायक 'अहन्त-जिन' में ही उन्होंने विशेषरूपसे सर्वज्ञताका साधन किया है। समन्तभद्रकी वे दोनों कारिकाएँ भी इस प्रकार हैं—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।

आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥

—आप्तमी०, का० ६, ७ ।

कुमारिलने समन्तभद्रके द्वारा प्रयुक्त 'कश्चिद्' 'क्वचिद्' और 'कस्यचिद्' इन सामान्य शब्दोंको लेकर, उनके द्वारा प्रस्थापित इस सामान्य और विशेष सर्वज्ञताका खण्डन बड़े आवेश और युक्तिवादके साथ निम्न प्रकार किया है—

नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः तत्सर्वज्ञत्वमित्यपि ।
 साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञान्यूनमेव तत् ॥
 सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते ।
 यत्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥
 यदीयागमसत्यत्वसिद्धयै सर्वज्ञतोच्यते ।
 न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥
 यावद् बुद्धो न सर्वज्ञस्तावद् तद्वचनं मृषा ।
 यत्र वचनं सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥
 अन्यस्मिन्नहि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता ।
 सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥

—तत्त्वसंग्रह का० ३२३० से ३२३४ तक ।

ये कारिकाएँ कुमारिलने समन्तभद्रकी सामान्यसर्वज्ञ और विशेष-सर्वज्ञकी सिद्धिके खण्डनको लक्ष्य करके रची जान पड़ती हैं; क्योंकि कुमारिलके पूर्व समन्तभद्रके सिवाय किसी भी दार्शनिकने उक्त प्रकारसे सर्वज्ञका साधन नहीं किया है, जिसका यह कुमारिलकृत खण्डन कहा जाय । हाँ, बौद्ध परम्परामें बादको होने वाले बौद्धप्रवर शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशीलने 'अस्ति कोऽपि सर्वज्ञः, वचचिद्धा सर्वज्ञत्वं, प्रज्ञादीनां प्रकर्षदर्शनात्' रूपसे सामान्य-सर्वज्ञके साधनका निर्देश अवश्य किया है, पर वह उनका स्वतन्त्र उद्भावन नहीं है, वह तो कुमारिलकी उक्त कारिकाओंका अर्थस्फोट है । दूसरे, जब शान्तरक्षित कुमारिलके नामसे उनकी उक्त कारिकाएँ उद्धृत करते हैं, तो कुमारिलकृत उक्त खण्डन शान्तरक्षित या उनके व्याख्याकार कमलशीलका खण्डन नहीं कहा जा सकता । तीसरे, शान्तरक्षित और कमलशील कुमारिलके उत्तरवर्ती विद्वान् हैं और उनका समय ईसाकी आठवीं शताब्दी है, जब कि कुमारिल सातवीं शताब्दीके विद्वान् हैं । चौथे, समन्तभद्रके कितने ही विचारों, पद-वाक्योंका अनुसरण या खण्डन तत्त्वसंग्रहमें पाया जाता है । यहाँ तक कि समन्तभद्रके उत्तरवर्ती पात्रस्वामी, सुमतिदेव आदि दिगम्बराचार्यों तकका खण्डन भी उपलब्ध है^१ । अतः तत्त्वसंग्रहमें पाया गया सामान्य और विशेष-सर्वज्ञका साधन और उसकी सरणि समन्तभद्रका ही अनुसरण है । यह अवश्य है कि कुमारिलने उक्त कारिकाओंमें 'सुगत' अथवा 'बुद्ध' का नामोल्लेख करके उनकी सर्वज्ञताका भी निरसन किया है, पर वह निरसन समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंको ही आधार बनाकर किया गया जान पड़ता है, क्योंकि बौद्धपरम्परामें कुमारिलके पहले रचा गया ऐसा कोई भी बौद्धग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, जिसमें सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारके सर्वज्ञत्वका बुद्धमें साधन किया गया हो और जिसका कुमारिलने पूर्वोक्त खण्डन किया हो । यहाँ एक बात और भी ध्यान देने योग्य है और वह यह कि बौद्ध तार्किक जितना सुगतके धर्मज्ञ होनेमें जोर देते हैं उतना उनके

१. ये कारिकाएँ अष्टसहस्रो, पृ० ७५ पर 'एतेन युक्तं भट्टेन' करके उद्धृत हैं ।

२. देखो, तत्त्वसंग्रह, पृ० ३७९, ३८२, ३८३, ४०६, ४१५, ४९६ ।

सर्वज्ञ होनेमें नहीं^१। सर्वज्ञताको तो उन्होंने गौणरूपसे स्वीकार किया है,^२ जब कि जैनपरम्परा मुख्य रूपसे सर्वज्ञको मानती है^३। अतः यह स्पष्ट है कि कुमारिलकृत उक्त खण्डन समन्तभद्रकी आसमोमांसागत सामान्य और विशेष सर्वज्ञकी साधक उपर्युक्त कारिकाओंको ही लेकर किया गया है। सच तो यह है कि समन्तभद्रने 'सूक्ष्मान्तरित' इत्यादि कारिकाके द्वारा सामान्यतया सर्वज्ञकी सिद्धि की है और आगे उस सर्वज्ञको 'स त्वमेवाऽसि' इत्यादि कारिकाके द्वारा 'अहन्त-जिन' बतलाया है और उन्हींको सर्वज्ञ मानकर अन्य तीर्थ-प्रवर्तकोंके मतों—आगमों—उपदेशोंकी 'त्वन्मतामृतबाह्यानां', 'आप्ताभिमानदग्धानां' इत्यादि कारिकाओंके द्वारा आलोचना की है तथा उनके उपदेशोंको युक्ति-शास्त्रविरोधी सिद्ध करके उनमें आसता न बन सकनेकी बात कही है। साथ ही जैन तीर्थकरके वचनोंमें युक्ति-शास्त्रका अवरोध दिखलाकर उनकी आसतामें विश्वास प्रकट किया है। समन्तभद्रकी यह सारी नीति एवं सर्वज्ञ-साधनकी प्रक्रिया कुमारिलको पसन्द नहीं आयी और इसलिए उसकी उन्होंने 'नरः कोऽप्यस्ति' इत्यादि कारिकाओं द्वारा तीव्र आलोचना की है। अन्तमें तो वे एक विशिष्ट युक्ति देते हुए कहते हैं कि 'अन्यके सर्वज्ञ होनेपर दूसरेके वचनमें सत्यता नहीं आती, समानाधिकरणता—एकाधिकरणवृत्तित्वके होनेपर ही सर्वज्ञता और वचन-सत्यतामें अङ्गाङ्गिभाव—साध्यसाधन-भाव बनता है। यतः प्रकृतमें सर्वज्ञता तो सामान्यमें सिद्ध की गयी है और वचन-सत्यता (युक्तिशास्त्रा-विरोधिवानी) अहन्तजिनमें बतलायी है। ऐसे वैयधिकरण हेतुओं (अन्यनिष्ठ निर्दोषता और युक्तिशास्त्राविरोधी वचन) द्वारा साध्य (सर्वज्ञता) की सिद्धि नहीं हो सकती हैं।' ऐसी दशामें यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि कुमारिलने समन्तभद्रको लक्ष्य करके उनका ही खण्डन किया है।

आगे चलकर तो कुमारिलने 'एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितं' इस कारिकाके द्वारा जैनसम्मत और वह भी समन्तभद्र-प्रस्थापित केवलज्ञान—सर्वज्ञताका खण्डन स्पष्ट शब्दोंमें किया है। समन्तभद्रके पहले जैनपरम्परामें सूक्ष्मातीतादि (सूक्ष्मान्तरितादि) विषयरूपसे

१. "हेयोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः ।

यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥

दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।

प्रमाणं दूरदर्शी चेत्तर्हि गृध्रानुपास्महे ॥" —प्रमाणवा० २-३२, ३३ ।

२. "स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते ।

साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥" —तत्त्वसं० का० ३३०९ ।

"मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते । यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम् ॥" —तत्त्वसं० प० पृ० ८६३ ।

३. "सर्वज्ञवादकी परम्पराका अवलम्बी मुख्यतया जैन सम्प्रदाय ही जान पड़ता है, क्योंकि जैन आचार्योंने प्रथमसे ही अपने तीर्थकरोंमें सर्वज्ञत्वको माना और स्थापित किया है । (आचा० श्रु० २ चू० ३ पृ० ४२५ A. आव० नि० गा० १२७) ।"

—पं. सुखलालजी, प्रमाणमी० भाषाटि० पृ० ३० ।

अनुमानके द्वारा सर्वज्ञका साधन उपलब्ध नहीं होता। समन्तभद्रने ही अनुमानसे सर्वज्ञका साधन किया है। समन्तभद्रके उत्तरवर्ती अकलंकके द्वारा कुमारिलको दिये गये समन्तभद्रके कुमारिलकृत खण्डनके उत्तरसे भी यही अभ्रान्तरूपसे मालूम होता है, जिसमें उन्होंने 'अनुमानविजृम्भितम्' पदका प्रयोग करके यह स्पष्ट किया है कि कुमारिलने मात्र जैन सम्मत केवलज्ञानका ही खण्डन नहीं किया, किन्तु जो केवलज्ञान (सर्वज्ञता) अनुमानके द्वारा विजृम्भित (समन्तभद्रद्वारा स्थापित) किया गया है उसका उन्होंने खण्डन किया है।

कुमारिलने समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतुका खण्डन करनेके लिए भी अनुमेयत्व जैसे ही प्रमेयत्वादि हेतुओंको सर्वज्ञके सद्भावके बाधक बतलाकर जो यह कहा है कि 'जब प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञके बाधक हैं तब कौन उस सर्वज्ञकी कल्पना करेगा?' वह भी अकलंकको सहन नहीं हुआ और इसलिए वे समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतुकी पुष्टि करते हुए कुमारिलको उनके उस खण्डनका निम्न प्रकार जवाब देते हैं।

“तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादियंत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धमर्हति संशयितुं वा ।” —अष्टश. आप्तमी. का. ५।

अर्थात्—प्रमेयत्व और सत्त्व आदि अनुमेयत्व हेतुका पोषण ही करते हैं तो कौन समझदार उनसे उस सर्वज्ञका निषेध या उसके सद्भावमें संदेह कर सकता है?

अकलंकके उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शांतरक्षितने भी कुमारिलके इस खण्डनका जवाब दिया है^३। अवैदिक कहे जानेके कारण कुमारिलके लक्ष्य जैनोंके साथ बौद्ध भी हो सकते हैं। अतः कुमारिलके खण्डनका उत्तर अकलंक और शांतरक्षित दोनों दे सकते हैं।

कुमारिलने समन्तभद्रकी केवल आलोचना ही नहीं की, बल्कि अनेक स्थानोंपर उनकी विचारसरणि और उनके पद-वाक्योंका अनुसरण भी किया है। यहाँ उदाहरणार्थ एक स्थल उपस्थित किया जाता है, जिसपरसे भी यह सहजमें जाना जा सकता है कि समन्तभद्र वस्तुतः कुमारिलके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। वह स्थल निम्न प्रकार है—

घटभौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोव्रतो न दध्यति न पयोत्ति दधिव्रतः ।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥—आप्तमी. का. ५९, ६०।

१. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।

नर्ते तदागमात् सिद्धयेन्न च तेन विनागमः ॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।

प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥ —न्यायविनि० का० ४१२, ४१३।

२. प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।

सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥ —मी. श्लो. चोदनासू. का. १३२।

३. 'एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः ।

निहन्तुं हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥'—तत्त्वसं. का. ८८५।

समन्तभद्रकी इन कारिकाओंकी प्रतिबिम्बरूप कुमारिलकी निम्न कारिकाएँ हैं—

‘वर्धमानकभङ्गे च रुचकः कियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ।’

—मी. श्लो. वा. पृ. ६१९ ।

इन कारिकाओंमें समन्तभद्रका कितना अधिक विचारसाम्य और शब्दसाम्य पाया जाता है, यह सहज ही ज्ञात हो जाता है । इनके अर्थका स्फोट करनेकी आवश्यकता नहीं है, दोनों ही कारिकाएँ सुगम हैं । अतः यह असंदिग्ध है कि समन्तभद्र कुमारिलके उत्तरवर्ती न होकर पूर्ववर्ती विद्वान् हैं ।



धर्मकीर्ति और समन्तभद्र

समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसा में 'स्याद्वाद' (अनेकान्तवाद) का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः ।

सप्तभङ्गन्यायेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

इसमें बतलाया है कि 'सर्वथा एकान्तके त्यागपूर्वक जो 'किंचित्' का विधान है वह स्याद्वाद है—अनेकान्तसिद्धान्त है ।' धर्मकीर्ति समन्तभद्रके इस स्याद्वाद-लक्षणकी आलोचना करते हैं और उनके द्वारा प्रयुक्त 'किंचित्' शब्दका उपहास करते हुए प्रमाणवार्तिकमें लिखते हैं—

एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लोलाकुलम् ।

प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात् ॥ १-१८२ ।

अर्थात्—'कपिलमतके खण्डनसे ही अयुक्त, अश्लोल और आकुल जो 'किंचित्' का प्रलाप—कथन है वह खण्डित हो जाता है, क्योंकि वह भी एकान्त संभवित है ।'

यहाँ धर्मकीर्तिने स्पष्टतया समन्तभद्रके 'सर्वथा एकान्तके त्यागपूर्वक किंचित्के विधानरूप' स्याद्वादका खण्डन किया है । समन्तभद्रके पहले जैनदर्शनमें स्याद्वादका इस प्रकारसे लक्षण उपलब्ध नहीं होता । समन्तभद्रके पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्दने सप्तभङ्गोंके नाम तो निर्देश किये हैं परन्तु स्याद्वादकी उन्होंने कोई परिभाषा नहीं दी । यहाँ धर्मकीर्तिके द्वारा खण्डनमें प्रयुक्त 'तदप्येकान्तसंभवात्' पद भी खास तौरसे ध्यान देने योग्य है, जिससे साफ ध्वनित होता है कि उनके सामने 'एकान्तके त्यागरूप अनेकान्तकी वह मान्यता रही है जो 'किंचित्' के विधान द्वारा व्यक्त की जाती थी तथा जिसका ही खण्डन उन्होंने 'वह भी एकान्त सम्भवित है' जैसे शब्दों द्वारा किया है ।

इसके सिवाय, समन्तभद्रने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' इत्यादि कारिका के द्वारा सब पदार्थोंको सद् और असद् दोनों रूप माना है अर्थात् उन्होंने यह बतलाया है कि विश्वके सब ही पदार्थ सत् और असत् उभयरूप हैं । समन्तभद्रके इस कथनकी भी धर्मकीर्ति आलोचना करते हुए लिखते हैं—

सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।

चोदितो बधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥

सर्वात्मत्वे च सर्वेषां भिन्नौ स्यातां न धीध्वनौ ।

भेदसंभारवादस्य तदभावादसंभवः ॥ —प्रमाणवा० १-१८३, १८५ ।

१. सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ।

असदेव विपर्यासात् चेत्यवतिष्ठते ॥१५॥—आप्तमी० ।

यहाँ 'सर्वस्योभयरूपत्वे' और 'सर्वात्मत्वे च सर्वेषां' ये पद ध्यान देने योग्य हैं, जो समन्तभद्रके द्वारा प्रतिपादित 'सब पदार्थोंके सद् और असद् दोनों रूप' वस्तु-स्वरूपका खण्डन करनेके लिए ही प्रयुक्त किये गये जान पड़ते हैं, क्योंकि धर्मकीर्तिके उक्त खण्डन जैनदर्शन-सम्मत उभयात्मकताका किया है और जैन परम्परामें समन्त-भद्रके पहले तार्किकरूपसे उभयात्मकताका प्रतिपादन देखनेमें नहीं आता।

उल्लेखनीय है कि धर्मकीर्तिके इन दोनों आक्षेपोंका जवाब अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें दिया है^१। यदि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो निश्चय ही उनके इन आक्षेपोंका उत्तर वे देते और ऐसी हालतमें अकलंकको इनका जवाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती हैं। धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंमें पाया जाने वाला विचार और शब्दका साम्य समन्त-भद्रका ही आभारी है।

कुछ विद्वानोंने समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती होनेका विचार व्यक्त किया है और अपने विचारके समर्थनमें कतिपय हेतु भी दिये हैं। यहाँ उनपर भी विचार प्रस्तुत है।

१. 'समन्तभद्रकी आसमीमांसाके चौथे परिच्छेदमें वर्णित "विरूपकार्यारम्भाय" आदि कारिकाओंके पूर्वपक्षोंकी समीक्षा करनेसे ज्ञात होता है कि समन्तभद्रके सामने सम्भवतः दिग्नागके ग्रन्थ भी रहे हैं। बौद्ध दर्शनकी इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहले नहीं की जा सकती।' (न्यायकु. द्वि. भा. प्रस्ता. पृ. २७)

२. 'अधिक सम्भव तो यह है कि समन्तभद्र और अकलंकके बीच साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध हो; क्योंकि समन्तभद्रकी कृतिके ऊपर सर्व प्रथम अकलंककी ही व्याख्या है।' (अकलंकग्रन्थ. प्रा. पृ. ९)

३. 'यह भी सम्भव है कि शान्तिरक्षितके तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी शब्द स्वामी समन्तभद्रका ही सूचक हो।' (अकलंकग्र. प्रा. पृ. ९)

४. समन्तभद्रके साथ धर्मकीर्तिका विचार और शब्दका साम्य पाया जाता है। दिग्नागके प्रमाण-समुच्चयगत मंगलश्लोकके ऊपर ही उसके व्याख्यानरूपसे धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकका प्रथम परिच्छेद रचा है, जिसमें धर्मकीर्तिने प्रमाणरूपसे

१. यथा:—

“ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासिभावप्रवादम्,

चक्रे लोकानुरोधात् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे ।

न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित्

इत्यश्लिलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥” १७० ॥

“दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादेकचोदनम् ।

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥ ३७२ ॥

सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।

तथापि सुगतो बन्धो मृगः खाद्यो यथेष्ट्यते ॥ ३७३ ॥

तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥ ३७४ ॥

सुगतको ही स्थापित किया है। ठीक उसी तरहसे समन्तभद्रने भी पूज्यपादके 'मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्' वाले मंगलको लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है और उसके द्वारा जैन तीर्थंकरको ही आप्त प्रमाण स्थापित किया है, यह तो विचार-साम्य हुआ। शब्द-साम्य भी है। 'धर्मकीर्तिने सुगतको 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशन्' (प्रमाणवा. १।१३५) 'वैफल्याद् वक्ति नानृतम्' (प्रमाणवा. १।१४७) कहकर अविरोधभाषी कहा है। समन्तभद्रने भी 'युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्' (आप्तमी. का. ६) कहकर जैन तीर्थंकरको सर्वज्ञ स्थापित किया है।' (न्यायकु. द्वि. प्रा. पृ. १८, १९)

५. 'समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्याविशेषाच्च' (आप्तमी. का. ७१, ७२) इन दो पद्योंके प्रत्येक शब्दका खण्डन धर्मकीर्तिके टीकाकार अचंड (९०० ई.) ने किया है न कि धर्मकीर्तिने। अतः कम-से-कम समन्तभद्र धर्मकीर्तिके पूर्वकालीन तो हो ही नहीं सकते।' (न्याय. कु. द्वि. प्रा. पृ. १९, २०)

ये पांच हेतु हैं। प्रथम हेतुके प्रस्तोता न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजी हैं और वे समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं। शेष चार हेतुओंको पं. सुखलालजी संघवीने प्रस्तुत किया है और वे समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका परवर्ती बतलाते हैं। यद्यपि ये सभी हेतु प्रायः अपने वर्तमान रूपमें सम्भावनारूप ही हैं—कोई निर्णयरूप नहीं हैं। फिर भी यहाँ उनपर विचार किया जाता है।

दिग्नागके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार—

१. समन्तभद्रकी 'विरूपकार्यारम्भाय' आदि जिन कारिकाओंकी समीक्षाके आधारपर समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती प्रतिपादन किया है यदि उन कारिकाओं की समीक्षा दिग्नागके पूर्ववर्ती बौद्धतार्किक नागार्जुनके ग्रन्थोंके साथ की जाय तो यह सरलतासे ज्ञात हो जाता है कि समन्तभद्रके सामने दिग्नागसे पूर्व नागार्जुनके ग्रन्थ रहे हैं। इसके लिए यहाँ एक उदाहरण उपस्थित किया जाता है।

बौद्ध विद्वान् नागार्जुन कहते हैं :—

अथ ते प्रमाणसिद्ध्या प्रमेयसिद्धिः प्रमेयसिद्ध्या च ।

भवति प्रमाणसिद्धिः नास्त्युभयस्यापि ते सिद्धिः ॥

—विग्रहव्या० का० ४७ ।

स्वामी समन्तभद्र कहते हैं :—

याद्यापेक्षकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते ।

—आप्तमी० का० ७३ ।

नागार्जुन कहते हैं :—

यदि च प्रमेयसिद्धिरनपेक्ष्यैव भवति प्रमाणानि ।

किन्ते प्रमाणसिद्ध्या तानि यदर्थं प्रसिद्धं तत् ॥

—विग्रहव्या० का० ४५ ।

आ० समन्तभद्र भी इसी बातको कहते हैं :—

अनापेक्षकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ।

—आप्तमी० का० ७३ ।

१. विशेष जाननेके लिए 'नागार्जुन और समन्तभद्र' शीर्षक लेख इसी ग्रन्थमें देखें पृ. १०७ ।

नागार्जुन पुनः कहते हैं :—

यदि च स्वतः प्रमाणसिद्धिरनपेक्ष्य ते प्रमेयाणि ।

भवति प्रमाणसिद्धिः न परापेक्षा हि सिद्धिः ॥

—विग्रहव्या० का० ४१ ।

समन्तभद्र उक्त वाक्योंके आधारपर अनेकान्तदृष्टिसे व्यवस्था करते हुए कहते हैं :—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया ।

न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाद्भवत् ॥

—आप्तमी० का ७५ ।

यहाँ समन्तभद्र और नागार्जुनमें विचार और शब्दका कितना स्पष्ट साम्य है; जो हमें बतलाता है कि समन्तभद्रके समक्ष नागार्जुनके ग्रन्थ रहे। दिग्नागके ग्रन्थोंका सद्भाव तो उस हालतमें माना जा सकता था जब उनमें प्रतिपादित विचार दिग्नागसे पूर्व सम्भावित न होते और समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें दिग्नागके ही किसी ऐसे विचारका आलोचन या अनुसरण पाया जाता, जो खास दिग्नागका ही होता; किन्तु ऐसे विचारोंका, जिनका उद्भव सीधा दिग्नागसे है, आलोचना या अनुसरण समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता।

इसके विपरीत समन्तभद्रका आलोचन दिग्नागने किया है। दार्शनिक युगमें 'अज्ञान-निवृत्ति' को प्रमाणका फल कहनेवाले सर्व प्रथम जैन तार्किक स्वामी समन्तभद्र हैं और उसका खण्डन दिग्नागने 'अज्ञान-निवृत्ति' को असत् बतलाकर किया है। अतः स्पष्ट है कि दिग्नागके ग्रन्थ समन्तभद्रके सामने नहीं रहे। बौद्धदर्शनकी जिस स्पष्ट विचार-धाराको दिग्नागसे मानते हैं और उसके पूर्व उसके न होनेकी सम्भावना प्रकट करते हैं वह ठीक नहीं है क्योंकि नागार्जुन और बसुबन्धुके, 'माध्यमिका', 'विग्रहव्यावर्तनी', 'विशतिका-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' और 'त्रिशिका-विज्ञप्तिकारिका' आदि प्रकरणग्रन्थोंका ध्यानसे सूक्ष्म समीक्षण किया जाय, तो हम उनमें उक्त बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पाते हैं। वस्तुतः तर्कविकास यहींसे शुरू हुआ है जो दिग्नाग और धर्मकीर्ति आदिके द्वारा उसी प्रकार पूर्णताको प्राप्त हुआ है जिस प्रकार जैनदर्शनका तर्कविकास समन्तभद्र और सिद्धसेनसे आरम्भ होकर अकलंक और विद्यानन्द आदिके द्वारा चरम सीमाको पहुँचा दिया गया है। इसलिए समन्तभद्रको दिग्नागसे उत्तरकालीन माननेके लिए जो 'बौद्धदर्शनकी इतनी स्पष्ट विचारधाराकी सम्भावना दिग्नागसे पहिले नहीं की जा सकती' रूप हेतु प्रस्तुत किया गया है वह अव्यभिचारी नहीं है क्योंकि उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नागार्जुन आदि प्रसिद्ध बौद्ध तार्किकोंके ग्रन्थोंमें बौद्धदर्शनकी स्पष्ट विचारधारा पायी जाती है और इसलिए समन्तभद्र दिग्नागके उत्तरवर्ती नहीं हैं, किन्तु दिग्नागके पूर्ववर्ती और नागार्जुनके (१८१ ई.) उत्तरकालीन या सम-सामयिक हैं।

१. पूर्वोल्लिखित 'समन्तभद्र और दिग्नागमें पूर्ववर्ती कौन?' लेख, 'अनेकान्त' वर्ष ५, किरण १२ तथा यही ग्रन्थ पृ. ११२ ।

यहाँ इतना और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि समन्तभद्रकी 'विरूपकार्या-रम्भाय' आदि जिन कारिकाओंका हवाला दिया गया है और फलितार्थरूपमें यह कहा गया है कि उक्त कारिकाएँ दिग्नागके विचारोंका खण्डन करनेके लिए समन्तभद्रने रची हैं, वह भी ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि जिन विचारोंका खण्डन उक्त कारिकाओंमें पाया जाता है वह विचार नागार्जुनकी निम्न कारिकामें भी है :—

सर्वेषां विसभागानां^१ सभागानां च कर्मणाम् ।

प्रतिसन्धौ सधातूनामेक उत्पद्यते तु सः ॥

—माध्यमिकाकारिका पृ० ११४ (कल० सं०) ।

समन्तभद्रकी उक्त कारिकागत 'विरूपकार्य' शब्द 'विसभाग' के लिए ही आया है । यदि दिग्नागके उन शब्दोंका भी उल्लेख कर दिया जाता, जिनके साथ समन्तभद्रकी उक्त कारिकाओंकी समीक्षा की गयी है, तो उन शब्दोंपर भी विचार कर लिया जाता । अतः प्रथम कारण समन्तभद्रको दिग्नागका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है ।

धर्मकीर्तिके उत्तरवर्तित्वकी मान्यतापर विचार

२. अब दूसरे हेतुके सम्बन्धमें विचार किया जाता है:—

(१) किसीकी कृतिका सर्वप्रथम टीकाकार होना उन दोनोंके बीच साक्षात् विद्याके सम्बन्धका साधक नहीं है । (१) धर्मकीर्ति (६२५ ई.) के वादन्यायपर जो दो टीकाएँ उपलब्ध हैं वे विनीतदेव (७७५ ई.) और शान्तरक्षित (८२५ ई.) की हैं । इनमेंसे वादन्यायके सर्वप्रथम टीकाकार विनीतदेव हैं, किन्तु धर्मकीर्ति और विनीतदेवमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि विनीतदेव धर्मकीर्तिसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष बाद हुए हैं ।

(२) श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यपर, जिनका समय विक्रमकी तोसरोसे पाँचवीं शताब्दी तकका अनुमानित किया जाता है^२, सर्वप्रथम टीकाएँ ८-९ वीं सदीके विद्वान् सिद्धसेन गणी और हरिभद्रकी हैं, किन्तु उमास्वातिके साथ इनका साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनों ही आचार्य उमास्वातिसे प्रायः ३००-४०० वर्ष बाद हुए हैं ।

(३) समन्तभद्रके 'युक्त्यनुशासन' और 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सर्वप्रथम टीकाकार क्रमशः विद्यानन्द (९वीं शताब्दी) और प्रभात्रन्द्र (११ वीं शताब्दी) हैं । पर इनका समन्तभद्रके साथ साक्षात्-विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि ये दोनों ही आचार्य समन्तभद्रसे बहुत बादके विद्वान् हैं ।

(४) सिद्धसेनके न्यायावतारके सर्वप्रथम टीकाकार सिद्धर्षि (१०वीं शताब्दी)

१. (क) 'भिन्नजातीयानि कर्माणि विसभागानि सदृशानि सभागानि..... ।' —माध्य० वृ० पृ० ११४ ।

(ख) 'विसदृशरूपं विरूपं कार्यम्'..... 'सभागविसभागावकलृप्तिं प्रतिपत्त्यभिप्रायवशात्स-मनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं..... ।' —अष्टस० पृ० १९८, १९९ ।

२. पं. सुखलालजी, 'ज्ञानविन्दु' प्रस्तावना, पृ. ५४ ।

हैं, किन्तु सिद्धसेन और सिद्धर्षिमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि सिद्धर्षि सिद्धसेनसे स्पष्टतः ३००-४०० वर्ष बाद हुए हैं।

ऐसे कितने ही उदाहरण और दिये जा सकते हैं, जिनमें मूल ग्रन्थकार और उसके सर्वप्रथम टीकाकारमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं है। अतः किसीकी कृतिका 'सर्वप्रथम टीकाकार होना' साक्षात् विद्याके सम्बन्धका अव्यभिचरित साधन नहीं है—वह उसका व्यवस्थापक नहीं है। ऐसी हालतमें समन्तभद्रकी कृतिके सर्वप्रथम टीकाकाररूप साधनके द्वारा समन्तभद्र और अकलंकके बीच 'साक्षात् विद्याका ही सम्बन्ध' रूप साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती और न उसके द्वारा समन्तभद्रको अकलंकका समकालीन बतलाकर धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा और उसकी अकलंककृत प्रथम व्याख्या—अष्टशतीका सूक्ष्म अध्ययन करनेपर यह ज्ञात नहीं होता कि समन्तभद्र और अकलंकके बीच गुरु-शिष्यका सम्बन्ध रहा होगा। बल्कि यही प्रतीत होता है कि अकलंक समन्तभद्रके बहुत बाद हुए हैं और उन्हें आप्तमीमांसा कितने ही पाठभेदोंके साथ प्राप्त हुई थी। यहाँ एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया जाता है, जिसपरसे यह सहजमें जाना जा सकेगा कि समन्तभद्र अकलंकसे बहुत पूर्ववर्ती हैं और उनकी आप्तमीमांसा उन्हें पाठभेदोंके साथ मिली थी। अकलंकदेव आप्तमीमांसाकी एक कारिकाके एक पदका व्याख्यान करते हुए उसके अनेक पाठभेद दिखलाते हैं और 'पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं। यथा—

‘सपक्षविपक्षयोर्भावाभावाभ्यां साधनवत्। स्वभेदैर्वा संवेदनवत्। स्वारम्भकावयवैर्वा घटादिवत्। तादृशं हि साधनं स्वार्थक्रियायाः। तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति।’ —अष्टश. का. ३३।

यदि समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध होता तो अकलंक अपने गुरु समन्तभद्रके मुखसे पढ़े-सुने पाठको ही रखकर व्याख्यान करते, पाठान्तरोंकी कल्पना न करते। साथ ही समन्तभद्रको विवक्षित और अतिप्रसिद्ध पाठके अनेक अर्थ करते हुए भी 'पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति' जैसे शब्दोंका वे कदापि प्रयोग न करते। इससे यह सहजमें अनुमान लगाया जा सकता है कि समन्तभद्र और अकलंकमें साक्षात् विद्याका सम्बन्ध नहीं रहा और न समन्तभद्रके तुरन्त ही बाद अकलंक हुए हैं। किन्तु कई शताब्दी बाद हुए जान पड़ते हैं।

३. तीसरे हेतुके सम्बन्धमें हमें यह कहना है कि सम्भावना ऐसी होनी चाहिए, जिसके कुछ आधार हों। हमें आश्चर्य है कि तत्त्वसंग्रहमें मात्र स्वामीपदोपलक्षित पात्रस्वामी नामको देखकर उन्होंने समन्तभद्र स्वामी होनेकी सम्भावना कैसे

१. जान पड़ता है कि अकलंकग्रन्थत्रयके प्राक्कथनमें समन्तभद्र और अकलंकके बीच साक्षात् विद्याका सम्बन्ध माननेपर पण्डित सुखलालजीको जब बादमें ऊपर जैसी आपत्तियाँ मालूम पड़ी हैं तब वे न्यायकु० द्वि० भागके प्राक्कथनमें उक्त सम्बन्धको कुछ अस्वीकार भी करते हुए पाये जाते हैं। परन्तु वहाँ भी 'अगर' जैसे अनिर्णायक शब्दोंका प्रयोग करते हैं, जिनसे पाठक भ्रममें पड़े बिना नहीं रह सकते।

कर ली। जब तत्त्वसंग्रहमें एक ही जगह नहीं, अनेकों जगह पात्रस्वामीके नामसे उनके वाक्यों और कारिकाओंको उद्धृत किया गया है तब पात्रस्वामी समन्तभद्र स्वामी कैसे सम्भवित हो सकते हैं? प्रथम, तो यह कि दिगम्बर साहित्यमें समन्तभद्र स्वामीसे पात्रस्वामी पृथक् स्वीकार किये गये हैं और दोनोंकी पृथक्-पृथक् कृतियाँ हैं। दूसरे यदि शान्तरक्षित जैसे बहुश्रुत बौद्ध विद्वान्की दृष्टिमें पात्रस्वामी और समन्तभद्र स्वामी एक होते तो वाचस्पति मिश्रकी तरह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंको भी वे उद्धृत करते और उनका खण्डन करते। तीसरे, शान्तरक्षितने जिन वाक्यों और श्लोकोंको पात्रस्वामीके नामसे उद्धृत किया है वे वाक्य और श्लोक कोई भी समन्तभद्रकी वर्तमान आसमीमांसादि कृतियोंमेंसे किसीमें भी नहीं पाये जाते हैं। चौथे, शान्तरक्षितने पात्रस्वामीका कहकर जिस 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि श्लोकको उद्धृत करके खण्डन किया है और जो पात्रस्वामीके 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक अनुपलब्ध ग्रन्थका माना जाता है, उसे अकलंक, विद्यानन्दादि जेनाचार्योंने भी पात्रस्वामीका ही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है। यदि समन्तभद्र और पात्रस्वामी एक होते और 'अन्यथानुपपन्नत्वं' श्लोक आपकी दृष्टिमें समन्तभद्रका है तो ये जेनाचार्य भी उसे समन्तभद्रके नामसे ही प्रकट करते। किन्तु ऐसा नहीं है, सभीने समन्तभद्रसे पृथक् उसका उल्लेख किया है। ऐसी हालतमें उक्त सम्भावना 'तत्त्वसंग्रहगत पात्रस्वामी समन्तभद्र हैं' बिल्कुल निराधार और निष्प्रमाणिक है। ऐसी कच्ची सम्भावनाओंके आधारपर निमित्त इतिहास भ्रामक एवं हानिप्रद होगा।

४. चौथे हेतुके विषयमें मेरा निम्न प्रकार कथन है:—

प्रथम तो समन्तभद्र जब दिग्नागके पूर्ववर्ती है तो दिग्नागके उत्तरवर्ती धर्मकीर्तिके ग्रन्थमें यदि किसी विषयमें समन्तभद्रके विचारके साथ मिलता जुलता उनका विचार पाया जाता है तो वह समन्तभद्रका ही आभारी है—अर्थात् उनकी आप्तमीमांसासे ही लिया हुआ वह धर्मकीर्तीय विचार है।

दूसरे विद्यानन्दके जिन आधारोंपर 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को पूज्यपादका बतलाया जाता है वे सब आधार उसे सूत्रकारका बतलाते हैं^१, इस बातको अनेक प्रमाणोंके साथ 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो लेखों द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है, जो इसी ग्रन्थमें अन्यत्र (पृ. ३१ से ६९) प्रकाशित हैं। अतः उसे अब पूज्यपादका बतलाना बड़ा भारी भ्रम है।^३

१. देखो, तत्त्वसंग्रह पृ० ४०६, ४१५।

२. विद्यानन्दके उल्लेखोंके अलावा उक्त मंगलश्लोकको सूत्रकार-उमास्वामीकृत बतलानेवाला एक अतिस्पष्ट, अभ्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'मन्दप्रबोधिका' नामक संस्कृत बड़ी टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आ० अभयचन्द्र (१२, १३वीं सदी) उक्त मंगलस्तोत्रको उमास्वामी अपर नाम गृद्धपिच्छाचार्यका ही प्रकट करते हैं। यथा—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्मस्कारस्यैव परममंगलतया प्रथममुक्तत्वात्'—गो० जी० मं० टी० पृ० १४।

३. आश्चर्य है कि इस भ्रमकी पुनरावृत्ति ज्ञानविन्दुकी प्रस्तावना पृ० ५५ में भी की गयी है।

इस तरह 'विचार-साम्य' रूप चौथे हेतुके एक भागपर विचार करनेके बाद दूसरे भागके सम्बन्धमें जो शब्द-साम्यरूप है, विचार-साम्यकी तरह यह कहा जा सकता है कि वह समन्तभद्रीय है। दूसरे, वह शब्द-साम्य भी जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। सुगतको जहाँ एक जगह धर्मकीर्तिने 'युक्त्यागमाभ्यां विमृशत्' कहकर युक्ति और आगमसे विचार करनेवाला बतलाया है और दूसरी जगह 'वैफल्याद्वक्ति नानृतम्' के द्वारा मिथ्या भाषण न करनेवाला—सत्यभाषी बतलाया है वहाँ समन्त-भद्रने एक ही जगह जैन तीर्थंकरको 'युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' कहकर मात्र यथार्थवक्ता प्रकट किया है—उसे धर्मकीर्तिकी तरह विचारक नहीं बतलाया। तीसरे, युक्ति और आगम जैसे शब्द तो ऐसे हैं जिनका प्रयोग धर्मकीर्तिसे पहिले भी दृष्टिगोचर होता है।^१ हाँ, यदि इन शब्दोंके प्रयोगका आद्य पुरस्कर्ता धर्मकीर्ति ही होता, उसके पहले बौद्ध या बौद्धेतर साहित्यमें इनका प्रयोग उपलब्ध न होता, तो यह किसी अंशमें मान्य भी था कि धर्मकीर्तिके अमुक शब्दोंको अपनानेके कारण समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शब्दसाम्यवाली युक्ति भी निरापद नहीं है और इसलिए वह समन्तभद्रको धर्मकीर्तिका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें असमर्थ है।

५. पाँचवाँ हेतु भी विचारयुक्त नहीं है। प्रथम तो, यह कोई आवश्यक नहीं है कि कोई उत्तरवर्ती ग्रन्थकार अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारका अपने ग्रन्थमें आलोचन एवं खण्डन करे ही। दूसरे, समन्तभद्रके 'द्रव्यपर्याययोरैक्यं' तथा 'संज्ञासंख्या-विशेषाच्च' इन दो पद्यों और उनके प्रत्येक शब्दका खण्डन यदि धर्मकीर्तिने नहीं किया, उनके टीकाकार अर्चट (९०० ई.) ने किया है, तो इससे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं हो जाते और न कहे जा सकते हैं। यदि नागार्जुनके किसी विचार या पद-वाक्यका खण्डन अकलंकदेवने नहीं किया, उनके टीकाकार विद्यानन्दने किया हो, तो क्या नागार्जुन अकलंकके उत्तरवर्ती हो जायेंगे? गौतमीय छल, जाति, निग्रहस्थानोंके सूत्रों और उद्योतकरके अमुक अमुक पद-वाक्योंका खण्डन अकलंकदेवने नहीं किया है, पर विद्यानन्दने किया है।^२ इसी तरह भर्तृहरिके 'आख्यातशब्दः संघातो' और 'पदमाद्यं पदञ्चान्त्यं' (वाक्यप० २, १, २) इन दो पद्योंका खण्डन अकलंकदेवने नहीं किया, उनके उत्तरवर्ती विद्यानन्द और प्रभाचन्द्रने किया है।^३ ऐसी हालतमें इस तर्कानुसार गौतम, उद्योतकर और भर्तृहरिको भी अकलंकके उत्तरवर्ती होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। तीसरे, यह भी सम्भव है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा शान्तरक्षितकी तरह धर्मकीर्तिको भी उपलब्ध न हुई हो और इसीसे धर्मकीर्तिने आप्तमीमांसागत विचारों, पद-वाक्योंका खण्डन नहीं किया है। जो ग्रन्थ आजसे कई सौ वर्ष पहलेके विद्वानोंको नहीं मिल सके वे आज हमें मिल रहे हैं। अतः अनुपलब्धिकी हालतमें धर्मकीर्तिका उक्त पद्योंका खण्डन न करना भी पूर्णतया सम्भवित है। चौथे, धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी अन्य दो कारिकाओं ('स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः' और 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्') का

१. देखो, सर्वार्थसि० पृ० १।

२. देखो, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १-३३ का 'तत्त्वार्थाधिगमभेद' प्रकरण।

३. देखो, अष्टसं० पृ० २८४, न्यायकुमुद० पृ० ७३९।

‘प्रमाणवार्तिक’ (२-१८२ और १-१८३, १८५) में ‘एतेनैव’ ‘सर्वस्योभयरूपत्वे’ और ‘सर्वात्मत्वे च सर्वेषां’ इन कारिकाओं द्वारा खण्डन किया ही है। उसका जवाब अकलंकदेवने ‘न्यायविनिश्चय’ (का० ३७०, ३७१, ३७२, ३७३ और ३७४) में दिया है। यदि समन्तभद्र, धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन या समकालीन होते तो वे निश्चय ही धर्मकीर्तिकी इन कारिकाओंका स्वयं जवाब देते और ऐसी हालतमें अकलंकको उनका जवाब देनेका अवसर ही न मिलता। इससे स्पष्ट है कि समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि धर्मकीर्तिने आप्तमीमांसाका खण्डन करनेके लिए उक्त कारिकाओंको चुना। ‘द्रव्यपर्याययोरैक्यं’ और ‘संज्ञासंख्या-विशेषाच्च’ इन दो पद्योंको नहीं चुना। वाचस्पति मिश्रने भी इन कारिकाओंसे भिन्न ही दो कारिकाओंको उद्धृत करके उनका खण्डन किया है।^१ यह खण्डनका चुनाव खण्डनकारकी रुचि पर निर्भर है। अतः समन्तभद्रके उक्त दो पद्योंका धर्मकीर्तिके द्वारा खण्डन न किये जाने और उनके टीकाकार अर्चटके द्वारा किये जानेसे समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती सिद्ध नहीं किये जा सकते।

इस तरह हम देखते हैं कि समन्तभद्रको दिग्नाग और धर्मकीर्तिका उत्तरकालीन सिद्ध करनेके लिए जो हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, उनमें कोई भी हेतु समन्तभद्रको उक्त दोनों विद्वानोंका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है।



१. देखो, आत्ममी० १०३, १०४।

२. देखो, भामती पृ० ४८२।

गन्धहस्ति महाभाष्य

‘गन्धहस्ति महाभाष्य’ की जो अनुश्रुति चली आ रही है उसने समाज और विद्वानों दोनोंका ध्यान खींच रखा है। काफी अरसेसे इसके अस्तित्वके विषयमें बहुत अधिक विचार और चर्चा होती आ रही है। पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार^१, पं. सुखलालजी^२ आदि विचारकोंने इसके विषयमें अनुकूल और प्रतिकूल विचारबहुल सामग्री प्रस्तुत की हैं। वीर-सेवा-मन्दिरसे हालमें प्रकाशित ‘न्यायदीपिका’ की प्रस्तावनामें हमने भी साढ़े तीन पेजोंमें अपना विचार प्रस्तुत किया है और हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ‘प्राचीन साहित्यपरसे इसका अनुसन्धान करनेकी अभी भी आवश्यकता बनी हुई है।’ वहाँ किये गये अपने उक्त विचारको यहाँ दे देना आवश्यक समझता हूँ, जिससे महाभाष्यके अनेक जिज्ञासुओंको लाभ होगा और मेरे प्रस्तुत विचारके सन्दर्भ मिलानेमें सहायक होगा। वह विचार निम्न प्रकार है—

‘किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकारके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए अधिकांशतः निम्न साधन अपेक्षित होते हैं—

१. ग्रन्थोंके उल्लेख।
२. शिलालेखादिकके उल्लेख।
३. जनश्रुति—परम्परा।

१. जहाँ तक महाभाष्यके ग्रन्थोल्लेखोंकी बात है और वे अब तक जितने उपलब्ध हो सके हैं, उन्हें मुख्तार साहबने प्रस्तुत किया ही है। हाँ, एक नया ग्रन्थोल्लेख हमें और उपलब्ध हुआ है। वह अभयचन्द्रसूरिकी ‘स्याद्वादभूषण’ नामक लघोयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिका है, जो इस प्रकार है—

“परोक्षितं विचारितं स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः। कथं न्यक्षेण विस्तरेण।
क अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ—” —लघी. ता. पृ. ६७।

ये अभयचन्द्रसूरि तथा ‘गोम्मटसार’की मन्दप्रबोधिका संस्कृत-टीका और प्रक्रियासंग्रह (व्याकरणविषयक टीकाग्रन्थ) के कर्ता अभयचन्द्रसूरि यदि एक हैं और जिन्हें डॉक्टर ए. एन. उपाध्ये^३ तथा मुख्तार साहब^४ ईसाकी १३वीं और विक्रमकी १४वीं शताब्दीका विद्वान् स्थिर करते हैं तो उनके इस उल्लेखसे महाभाष्यके विषयमें कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। प्रथम तो यह कि यह उल्लेख मुख्तार साहबके प्रदर्शित उल्लेखोंके समसामयिक है—उसका शृंखलाबद्ध पूर्वाधार अभी प्राप्त नहीं है, जो स्वामी समन्तभद्रके समय तक पहुँचाये। दूसरे यह, कि अभयचन्द्रसूरि इस उल्लेखके

१. ‘स्वामी समन्तभद्र’, पृ. २१२ से २४३।
२. अनेकान्त, वर्ष १, किरण ४ गत ‘गन्धहस्ती’ शीर्षक लेख।
३. अनेकान्त, वर्ष ४, किरण १, पृ. ११९।
४. ‘स्वामी समन्तभद्र’, पृ. २२४ का फुटनोट।

विषयमें अभ्रान्त प्रतीत नहीं होते। कारण, वे अकलंकदेवकी लघ्वीयस्त्रयगत जिस कारिकाके 'अन्यत्र' पदका 'स्वामी समन्तभद्रादिसूरि' शब्दका अध्याहार करके 'तत्त्वार्थ-महाभाष्य' व्याख्यान करते हैं वह सूक्ष्म समीक्षण करनेपर अकलंकदेवकी अभिप्रेत मालूम नहीं होता। बात यह है कि अकलंकदेव वहाँ 'अन्यत्र' पदके द्वारा कालादिके लक्षणको जाननेके लिए अपने पूर्व रचित तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यकी सूचना करते जान पड़ते हैं, जहाँ (त० वार्तिक ४-४२) उन्होंने स्वयं कालादि आठका विस्तार-से विचार किया है।

यद्यपि प्रक्रियासंग्रहमें भी अभयचन्द्रसूरिने सामन्तभद्रो महाभाष्यका उल्लेख किया है और इस तरह उनके ये दो उल्लेख हो जाते हैं। परन्तु इनका पूर्वाधार क्या है? सो कुछ भी मालूम नहीं होता। अतः प्राचीन साहित्यपरसे इसका अनुसन्धान करनेकी अभी भी आवश्यकता बनी हुई है।

२. अब तक जितने भी शिलालेखों आदिका संग्रह किया गया है उनमें महाभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्यका उल्लेखवाला कोई शिलालेखादि उपलब्ध नहीं है, जिससे इस ग्रन्थके अस्तित्व-विषयमें कुछ सहायता मिल सके। तत्त्वार्थसूत्रके तो शिलालेख मिलते भी हैं,^१ पर उसके महाभाष्यका कोई शिलालेख नहीं मिलता।

३. जनश्रुति—परम्परा जरूर ऐसी चली आ रही है कि स्वामी समन्तभद्रने तत्त्वार्थसूत्रपर गन्धहस्ति नामका भाष्य लिखा है, जिसे महाभाष्य और तत्त्वार्थभाष्य या तत्त्वार्थमहाभाष्य भी कहा जाता है और आसमीमांसा उसका पहला प्रकरण है। परन्तु इस जनश्रुतिका पुष्ट और पुराना कोई आधार नहीं है। मालूम होता है कि इस जनश्रुतिके कारण पिछले ग्रन्थोल्लेख ही हैं। ३१ अक्टूबर सन् १९४४में कलकत्ते-में हुए वीर-शासन-महोत्सवपर श्री संस्करण सेठी मिले। उन्होंने कहा कि गन्धहस्ति-महाभाष्य एक जगह सुरक्षित है और वह मिल सकता है। उनकी इस बातको सुनकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई और उनसे प्रेरणा की कि उसकी उपलब्धि आदिकी पूरी कोशिश करके उसकी सूचना हमें दें। इस कार्यमें होनेवाले व्ययके भारको उठानेके लिए वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा प्रस्तुत है। परन्तु उन्होंने आज तक कोई सूचना नहीं दी। इस तरह जनश्रुतिका आधारभूत पुष्ट प्रमाण नहीं मिलनेसे महाभाष्यका अस्तित्व सन्दिग्धकोटिमें आज भी स्थित है।

आ. अभिनव धर्मभूषणके सामने अभयचन्द्र सूरिके उपर्युक्त उल्लेख रहे हैं और उन्हींके आधारपर उन्होंने 'न्याय-दीपिका'में स्वामी समन्तभद्रकृत महाभाष्यका उल्लेख किया जान पड़ता है। उन्हें यदि इस ग्रन्थकी प्राप्ति हुई होती तो वे उसके भी किसी वाक्यादिको जरूर उद्धृत करते और अपने विषयको उससे ज्यादा प्रमाणित करते। अतः यह निश्चय रूपसे कहा जा सकता है कि आचार्य धर्मभूषण-यतिका उल्लेख महाभाष्यकी प्राप्ति-हालतका मालूम नहीं होता। केवल जनश्रुतिके

१. अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी ।

सूत्रोक्तं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥ —शि. १०८ ।

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार ।

यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥ —शि. १०५ (२५४) ।

आधार और उसके भी आधारभूत पूर्ववर्ती ग्रन्थोल्लेखोंपर-से किया गया जान पड़ता है ।—न्यायदी. प्रस्ता. पृ. ७३ से ७६ ।

इस विचारके बाद भी गन्धहस्ति महाभाष्यके विषयमें मेरा अनुसन्धान बराबर चालू रहा । फलस्वरूप अनेक ग्रन्थोंके पन्ने पलटते हुए गन्धहस्ति-महाभाष्यकी कल्पनाके उद्गमका स्थान ज्ञात हो गया । हमने इसपर बहुत गम्भीरतासे विचार किया है और इस विषयका शीघ्र ही एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखनेका प्रयत्न कर रहे थे कि पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर, सिवनीके द्वारा महाभाष्यके अस्तित्वकी चर्चा 'जैनसन्देश', 'जैनबोधक' और 'जैन मित्र' में प्रसारित देख हमने उचित समझा कि उक्त लेख इस अवसर पर लिखना समयोचित और सर्वथा उपयुक्त है । यही सोचकर प्रस्तुत लेख लिखा गया है ।

मुख्तार साहबके संकलनके अनुसार 'तत्त्वार्थ-महाभाष्य' या 'गन्धहस्ति भाष्य'का समुल्लेख करनेवाले निम्नलिखित विद्वान् हैं—

१. कवि हस्तिमल्ल^१, २. जिनेन्द्रकल्याणाम्बुदयके कर्ता अप्यायं^२,
३. लक्ष्मीसेनाचार्यके शिष्य^३, ४. अभिनव धर्मभूषणयति^४, ५. अभयचन्द्रसूरि^५,
६. लघु समन्तभद्र^६ और ७. श्वेताम्बर विद्वान् मल्लिषेणसूरि^७ ।

इनमें मल्लिषेणसूरिका उल्लेख इस प्रकार है—

“यद्यप्यवयवप्रदेशयोगं गन्धहस्त्यादिषु भेदोऽस्ति तथापि नात्र सूक्ष्मेक्षिकया चिन्त्या ।” —स्याद्वादमंजरी, पृ. ६३, श्लोक ९ ।

इस उल्लेखमें जिस 'गन्धहस्ति' का मल्लिषेण सूरिने जिक्र किया है वह सिद्धसेनगणीकी तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति है । सन्मत्तिसूत्रके टीकाकार अभयदेव आदिने सिद्धसेनगणीकी तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति और उनके लिए ही 'गन्धहस्ति' पदका प्रयोग किया है और जो सन्दर्भादिसे युक्त प्रतीत होता है । अतः मल्लिषेणसूरिका उपर्युक्त उल्लेख प्रकृतमें अनुपयुक्त है और इसलिए उससे स्वामी समन्तभद्रकृत 'गन्धहस्ति भाष्य'के अस्तित्वपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता ।

शेष विद्वानोंमें अभयचन्द्रसूरि और लघु समन्तभद्र कुछ प्राचीन हैं और बाकी उनके उत्तरवर्ती तथा अनुसर्ता हैं । लघु समन्तभद्रका उल्लेख यह है—

१. इनका समय विक्रमकी १४वीं शताब्दी माना जाता है ।
२. इन्होंने अपना जिनेन्द्रकल्याणाम्बुदय शक सं. १२४९ में पूर्ण किया है, इसलिए इनका समय शक सं. १३वीं और ईसाकी १४वीं शताब्दी है ।
३. इनका समय भी ईसाकी १४वीं शताब्दी है ।
४. इनका समय ईसाकी १४वीं सदीका उत्तरार्ध और १५वीं सदीका प्रथम पाद तथा वि. की १५वीं सदी सुनिश्चित है (न्यायदी. प्र. पृ. १००) ।
५. डॉ. ए. एन. उपाध्येने इनका समय ईसाकी १३वीं शताब्दी (ईस्वी सन् १२७९ में स्वर्गवास) परीक्षापूर्वक निश्चित किया है (अनेकान्त वर्ष ४, कि. १, पृ. ३१९) ।
६. मुख्तार सा. ने इनका समय विक्रमकी १४वीं शताब्दी अनुमानित किया है । (स्वामी समन्तभद्र, पृ. २२९ का फुटनोट) ।
७. इनका भी समय वि. की १४वीं शताब्दी है ।

“इह हि पुरा भगवद्भिरुमास्वातिपादैराचार्यवर्यैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामि-समन्तभद्राचार्याः”—अष्टसहस्री-विषमपदटि. पृ. १ ।

एलक पन्नालाल सरस्वतीभवन बम्बईकी जो प्रति मेरे सामने है उसमें टिप्पण प्रारम्भ होनेके पहले उक्त भूमिकांश पाया जाता है। इसके बाद भी भूमिका है और इस भूमिकाके ठीक अनन्तर टिप्पण शुरू है—“श्रीपाद्वैनाथाय नमः” लिखकर और ‘देवं स्वामिनममलं’ इत्यादि मंगलाचरण पद्य देकर टिप्पण प्रारम्भ किया गया है। इससे यह मालूम होता है कि उक्त भूमिका टिप्पणकार लघु समन्तभद्रकी नहीं है, किसी उत्तरवर्ती दूसरे विद्वान्की है, क्योंकि टिप्पणकारकी यदि होती तो उसे वे मंगलाचरणके बादमें ही निबद्ध करते, पहले नहीं। लेकिन भूमिकाके अन्तमें ‘इति समन्तभद्रकृतव्याकृतिः समाप्ता । ६ ।’ और भूमिकाके आदिमें ‘अथाष्टसहस्री-पंजिकासंस्कृतप्रारम्भः । श्रीसरस्वत्यै नमः । श्रीमद्विनयकीर्तिमुनये नमः । शुभमस्तु ।’ वाक्य पाये जाते हैं, जिससे यह भी प्रतीत होता है कि भूमिका भी टिप्पणकार लघु समन्तभद्रकी है। कुछ भी हो, फिर भी लघु समन्तभद्र अभयचन्द्रसूरिके उत्तरवर्ती होनेसे वे अभयचन्द्रसूरिके ही अनुसर्ता कहे जायेंगे। हम पहले बतला आये हैं कि अभयचन्द्रसूरि ईसाकी १३वीं, विक्रमकी १४वीं और शक सं. १२वीं शताब्दीके विद्वान् माने जाते हैं और कवि हस्तिमल्लादिक उनके उत्तरकालीन हैं और इसलिए वे सब उनके ही अनुगामी हैं। अतः अभयचन्द्रसूरिके उल्लेख ही खास तौरसे विचारणीय हैं। उनके दो उल्लेख प्राप्त हैं—एक प्रक्रियासंग्रहमें और दूसरा अकलंकदेवके लघोयस्त्रयपर लिखी गयी स्याद्वादभूषण नामक तात्पर्यवृत्तिमें। प्रक्रियासंग्रहका उल्लेख इस प्रकार है—

‘तृतीयान्तादुपज्ञाते प्रथमतो ज्ञाते यथायोगं अणादयो भवन्ति । अर्हता प्रथमतो ज्ञातं आर्हतं प्रवचनम् । सामन्तभद्रं महाभाष्यमित्यादि ।’

—प्रक्रियासंग्रह क्रमिक सूत्र सं. ७४६ ।

यहां सामन्तभद्र महाभाष्यका नामोल्लेख एक उदाहरणमें हुआ है और उसके द्वारा यह समझाया गया है कि जैसे—समन्तभद्र द्वारा उपज्ञात—स्वरचित महाभाष्य। इससे ‘अभयचन्द्रसूरि समन्तभद्रोपज्ञ महाभाष्यकी सूचना कर रहे हैं’ इतना प्रकट है। परन्तु वह महाभाष्य कौनसे ग्रन्थपर लिखा गया है, इस बातकी यहाँ कोई सूचना अथवा संकेत नहीं किया गया है। लेकिन हाँ, इसकी सूचना उन्होंने स्याद्वादभूषण नामक लघोयस्त्रयतात्पर्यवृत्तिमें की है। वह इस प्रकार है—

‘परीक्षितं विचारितं स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः । कथं ? न्यक्षेण विस्तरेण क्व ? अन्यत्र तत्त्वार्थमहाभाष्यादौ....।’ —लघो. ता., पृ. ६७ ।

इस उल्लेखको हम पहले भी उल्लिखित कर आये हैं। यहाँ अभयचन्द्र सूरिने यह बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्रादि आचार्योंने कालादि आठका तत्त्वार्थ-महाभाष्यादिमें विस्तारसे विचार किया है। इस स्पष्टोल्लेखसे यह मालूम हो जाता

१. कालादिलक्षणं न्यक्षेणान्यत्रेक्ष्यं परीक्षितम् ।

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मात्मनिष्ठितम् ॥—लघोय० ४७ ।

है कि समन्तभद्रने जो महाभाष्य रचा माना जाता है वह तत्त्वार्थमहाभाष्य है। अर्थात् तत्त्वार्थ (तत्त्वार्थसूत्र) के ऊपर उन्होंने महाभाष्य रचा है। पर प्रश्न है कि अभयचन्द्रसूरिने यह किस आधारसे जाना ? और यहां 'अन्यत्र' पदका 'तत्त्वार्थ-महाभाष्य' अर्थ कहाँसे किया ? क्या उनके सामने कुछ आधार था ? या कुछ अनुश्रुतिमात्र थी ? बस, इसी बातके निर्णयपर सारी दारमदार है। यदि इसका पूर्वाधार मिल जाता है तो गन्धहस्तिमहाभाष्यके अस्तित्व अथवा कल्पनाका ठोक पता चल जायेगा और वस्तुस्थिति सामने आ जायेगी। मैं पहले बतला आया हूँ कि अभयचन्द्रसूरिने अकलंकदेवके लघोयस्त्रयकी जिस कारिकाके 'अन्यत्र' पदका 'स्वामिसमन्तभद्रादिसूरि' शब्दका अध्याहार करके जो 'तत्त्वार्थमहाभाष्य' व्याख्यान किया है वह अभ्रान्त नहीं है। वहाँ अकलंकदेवने अपने ही पूर्वर्चित 'तत्त्वार्थवार्तिक-भाष्य' को देखनेकी प्रेरणा की है जहाँ उन्होंने स्वयं कालादि आठका विस्तारसे बहुत सुन्दर विचार किया है—(त. वा. ४-४२)।

अब हम अभयचन्द्रसूरिके उक्त उल्लेखके आधारको बतलाते हैं जो हमें अनुसन्धान करते हुए अभी प्राप्त हुआ है। अकलंकदेवके लघोयस्त्रयपर अभयचन्द्र-सूरिके लगभग दो सौ वर्ष पहले एक और महत्त्वपूर्ण और विशाल टीका लिखी गयी है। वह टीका है ११वीं शताब्दीके प्रमुख तार्किक विद्वान् और 'प्रमेयकमलमातण्ड' आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता प्रसिद्ध प्रभाचन्द्राचार्यकी 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामक बृहद् और वैदुष्यपूर्ण व्याख्या। इसमें प्रभाचन्द्राचार्यने लघोयस्त्रयकी कारिका (४७) की व्याख्या करते हुए उसके 'अन्यत्र' पदका जो व्याख्यान किया है उसे सन्दर्भसहित नीचे दिया जाता है—

“काल आदिर्यस्य कारकादेः स तथोक्तः तस्य लक्षणं स्वरूपं प्रमाणं वा अन्यत्र तत्त्वार्थभाष्यादौ परीक्षितं विचारितम् ईक्ष्यम् अन्वेष्यम् न्यक्षेण आत्मना, 'निश्चितः पूर्वं प्रमाणेन व्यवस्थापितोऽक्षो न्यक्षः' इति व्युत्पत्तेः न्यक्षेण विस्तरेण इति वा ।”
—न्यायकु., द्वि. भा., पृ. ६४६-६४७।

यहाँ आ. प्रभाचन्द्रने कारिकाके 'अन्यत्र' पदका व्याख्यान 'तत्त्वार्थभाष्यादि' किया है जो सर्वथा सुसंगत और अकलंकदेवको अभिप्रेत है। अकलंकदेवके 'तत्त्वार्थ-वार्तिकभाष्य' को पहले 'तत्त्वार्थभाष्य' कहा और माना जाता था। वीरसेनस्वामी-ने अपनी धवला और जयधवला टीकाओंमें अकलंकदेवके 'तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य' का 'तत्त्वार्थभाष्य'के नामसे ही उल्लेख किया है, जिसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये—उपपादो जन्म...'

—धवला १, १, २, पृ. १०३।

(२) 'अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थभाष्यगतः ।'

—जयधवला, मुद्रित, भा. १, गा. १३, १४, पृ. २१०।

वीरसेनस्वामीने 'तत्त्वार्थभाष्य' के नामसे जो पंक्तियाँ और वाक्य उद्धृत किये हैं वे सब अक्षरशः अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यमें उपलब्ध हैं।

जयधवलाकी प्रकाशित प्रथम पुस्तककी प्रस्तावना (पृ. ३४) में भी यही प्रकट किया है। यथा—

“श्री वीरसेनस्वामीने धवला और जयधवलामें अकलंकदेवके ‘तत्त्वार्थराज-वार्तिकभाष्यका खूब उपयोग किया है और सर्वत्र इसका उल्लेख ‘तत्त्वार्थभाष्य’के नामसे किया है।”

अतएव यह असन्दिग्ध है कि प्रभाचन्द्रने ‘अन्यत्र’ पदका ‘तत्त्वार्थभाष्य’ व्याख्यान करके उसके द्वारा अकलंकदेवके ही तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यकी सूचना की है। दूसरी बात यह है कि प्रभाचन्द्रने कारिकागत ‘न्यक्षेण’ पदके यहाँ दो अर्थ प्रकट किये हैं—एक तो ‘आत्मना’ और दूसरा ‘विस्तरेण’। ‘आत्मना’ पदसे उनका अभिप्राय ‘स्वेन—अकलंकदेवेन’ यह भी प्रतीत होता है, जो स्पष्टतया बतलाता है कि ‘तत्त्वार्थभाष्य’ से प्रभाचन्द्रको अकलंकरचित तत्त्वार्थवार्तिकभाष्य ही इष्ट है और कोई नहीं। अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यमें ‘आत्मा’ (जीव) के माध्यमसे कालादि आठका विवेचन किया है। अतः ‘न्यक्ष’का अर्थ आत्मा भी किया गया है और विस्तारसे उनका कथन भी किया है।

अभयचन्द्रसूरिको प्रभाचन्द्रके इसी ‘तत्त्वार्थभाष्यादौ’ पदमें भ्रान्ति हुई जान पड़ती है। उन्होंने उसे अपनाकर और साथमें अपनी ओरसे ‘तत्त्वार्थ’के आगे और ‘भाष्यादौ’के पहले मध्यमें ‘महा’ शब्दको और जोड़ दिया है तथा जो कुछ अस्पष्ट या अपुष्ट रूपमें सुन रखा होगा, उसकी स्वयं कोई छानबीन न कर उसके आधारपर ‘स्वामिसमन्तभद्राद्यैः सूरिभिः’ पदको ऊपरसे अध्याहृत करके यह घोषित कर दिया कि ‘स्वामीसमन्तभद्ररचित तत्त्वार्थमहाभाष्य है और उसमें कालादि आठका उन्होंने विस्तारसे वर्णन किया है, वहाँसे पाठकोंको देखना चाहिए, यह अकलंकदेव सूचित कर रहे हैं।’ परन्तु पाठक देख चुके हैं कि जिन आचार्य प्रभाचन्द्रके ‘न्याय-कुमुदचन्द्र’—लघोयस्त्रयालंकारपरसे अभयचन्द्रसूरिने अपनी लघोयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति रची है, उन्होंने ‘अन्यत्र’ पदका क्या अर्थ किया है ? उन्होंने क्या कोई ऐसी घोषणा की है ? नहीं, उन्होंने न तो वैसा अर्थ किया है और न वैसी घोषणा ही की है। उन्होंने तो सिर्फ वही अर्थ किया है जो ग्रन्थकार अकलंकदेवको अभिप्रेत है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्राचार्य तक समन्तभद्रकृत तत्त्वार्थमहाभाष्य या गन्धहस्तिमहाभाष्यकी कोई कल्पना अथवा अनुश्रुति न थी, यदि होती तो वे भी अभयचन्द्रसूरि द्वारा प्रदर्शित व्याख्यान करते अथवा ‘न्यक्षेण’ का ‘आत्मना’ अर्थ न कर केवल ‘विस्तरेण’ अर्थ करके ‘स्वामिसमन्तभद्राद्यैः’ शब्दका निक्षेप जरूर करते।

अतः गन्धहस्तिमहाभाष्यकी कल्पना प्रभाचन्द्रके बाद हुई है और उसके स्पष्ट जनक उनके दो सौ वर्ष बाद हुए अभयचन्द्रसूरि हैं। श्वेताम्बर परम्पारामें सिद्धसेनगणीकी ‘तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति’ ‘गन्धहस्ति’ के नामसे प्रसिद्ध थी। आश्चर्य नहीं कि दूरी आदि किन्हीं कारणोंसे अभयचन्द्रसूरिने या उनके कुछ पूर्ववर्तियोंने उसे ही समन्तभद्रकृत गन्धहस्तिमहाभाष्य समझ लिया हो और फिर अपने ग्रन्थोंमें वैसा उल्लेख किया हो। जहाँ एक ग्रन्थमें उल्लेख हुआ, फिर दूसरे ग्रन्थोंमें भी उसका उल्लेख होना अस्वाभाविक नहीं है। यही कारण है कि स्वयं अभयचन्द्रसूरिने अपने दूसरे ग्रन्थ प्रक्रिया-

संग्रहमें भी महाभाष्यका उल्लेख किया है, और फिर उनके उत्तरवर्तियों—लघु समन्तभद्र, कवि हस्तिमत्तल और अप्यार्य एवं अभिनव धर्मभूषण यति आदिने भी अपने-अपने ग्रन्थोंमें स्वामी समन्तभद्रकृत महाभाष्यके उल्लेख किये। और इस तरह स्वामी समन्तभद्रकृत गन्धहस्तिमहाभाष्यके अस्तित्वकी परम्परा चल चठी। आश्चर्य यह है कि वह न तो उन्हें प्राप्त हुआ और न उनके पूर्ववर्ती पूज्यपाद, अकलंक, वीरसेन, विद्यानन्द और प्रभाचन्द्र आदिको भी मिला। केवल ११वीं शताब्दी और १३वीं शताब्दीके मध्य (अर्थात् दो सौ वर्षोंके बीच) में उसकी कल्पना उद्भूत हुई है।

पं. सुमेरुचन्द्रजी दिवाकरका समर्थन करते हुए उनके द्वारा प्रकाशित जिस पद्यको^१ श्रीयुत मोतीचन्द्र गौतमचन्द्रजी कोठारी एम. ए. ने गन्धहस्तिमहाभाष्यके अस्तित्वका पोषक सबल प्रमाण बतलाया है और अपनी ओरसे यह प्रमाणपत्र भी दे दिया है कि 'इस श्लोककी भाषाशैलीको देखकर मुझे यह श्लोक समन्तभद्र-कर्तृक ही मालूम पड़ता है', उस पद्यकी न केवल समन्तभद्रकर्तृकतामें, अपितु प्राचीनता और प्रामाणिकतामें भी सन्देह है। हो सकता है कि वह स्वयं दिवाकरजी का रचा हुआ हो या ग्रन्थान्तरोंका हो। श्लोकको भाषाशैली ऐसी नहीं है कि समन्तभद्रकर्तृकताकी ही उसपर छाप लगायी जावे। पद्यमें आये 'सदा' और 'प्रतिदिन' जैसे पुनरुक्त पदोंका प्रयोग आचार्य समन्तभद्र जैसे तार्किक, कवि और वैयाकरणसे सम्भव प्रतीत नहीं होता। मुझे तो वह स्वयं दिवाकरजीकी रचना प्रतीत होती है। मैं शासनदेवताओंके सामर्थ्य और चमत्कारमें विश्वास रखता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि वे असंख्यातों मील दूरकी चीज ला सकते और ले जा सकते हैं।

यदि वस्तुतः शासनदेवताकी यह वाणी है कि "उसका अस्तित्व जर्मनीमें नहीं है—(कहीं है अवश्य ?) यह भाष्यग्रन्थ बहुत जोर्ण-शोर्ण हो गया है।" तो मेरा उनसे कहना है कि वे जोर्ण-शोर्ण अवस्थामें ही सही उसे लाकर विद्वानों और समाजके सामने सिर्फ दर्शनोंके लिए ही प्रस्तुत करें। यदि ऐसा हुआ तो हम उनकी उक्त वाणीको सत्यतामें विश्वास करेंगे और तभी गन्धहस्ति महाभाष्यका अस्तित्व स्वीकार किया जा सकेगा।

[द्वितीय लेख]

स्वामी समन्तभद्र द्वारा रचित गन्धहस्तिमहाभाष्यके अस्तित्वकी समस्या विचारकोंके लिए एक पहेली जैसी बनी हुई चली आ रही है। अन्य विद्वानोंकी तरह हमने भी उसपर पर्याप्त विचार किया और उक्त प्रथम लेखमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि समन्तभद्रकृत गन्धहस्ति-महाभाष्य या महाभाष्य अथवा तत्त्वार्थमहाभाष्य एक कल्पनामात्र है और उस कल्पनाके जनक अभयचन्द्रसूर हैं।

परन्तु हमने तत्सम्बन्धी अनुसन्धान बराबर जारी रखा—उसे छोड़ा नहीं। जब कोई समन्तभद्र या उनके ग्रन्थोंका उल्लेख दृष्टिमें आया, तो उसे उत्सुकतापूर्वक देखनेका पूरा प्रयत्न किया। हालमें 'लक्षणाबली' के लिए लक्षणोंका संकलन करते

१. "श्रीजैनशासनमनिन्द्यमनाद्यनन्तं भव्यौघतापशमनाय सुधाप्रवाहम् ।

आनन्दकन्दलतिकापरिवर्धकं च बन्दे सदा प्रतिदिनं प्रथुषमतीर्थम् ॥"

समय भास्करनन्दिकी मैसूरसे प्रकाशित 'तत्त्वार्थवृत्ति' (तत्त्वार्थसूत्रटीका) हमें उपलब्ध हुई। इसकी प्रस्तावनामें पं. शान्तिराज शास्त्रीने ग्रन्थ और ग्रन्थकारका विचार करते हुए समन्तभद्रके भाष्यके सम्बन्धमें भी विमर्श किया है और उन्होंने समन्तभद्र-भाष्यके उल्लेखोंमें एक नया और प्राचीन उल्लेख प्रस्तुत किया है, जो यहाँ दिया जाता है—

अभिमतमागिरे 'तत्त्वार्थभाष्यमं तर्कशास्त्रमं' बरेदुवचो- ।

विभवदिनिलेगेसेद 'समंतभद्रदेवर' समानरेंबरुमोलरे ॥५॥

यह उल्लेख चामुण्डरायके प्रसिद्ध त्रिषष्टि-लक्षणमहापुराणका है, जो कनड़ी भाषामें रचा गया है और जिसे उन्होंने शक सं. ९००, वि. सं. १०३५ में समाप्त किया है। चामुण्डराय गंगनरेश राचमल्लके प्रधान मन्त्री थे। राचमल्लका राज्य-काल वि. सं. १०३१ से १०४१ तक है। कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रन्नने अपने वि. सं. १०५० में रचे गये 'पुराणतिलक' में चामुण्डरायकी विशेष कृपाका उल्लेख किया है^१। यही चामुण्डराय प्रसिद्ध गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके निर्माता और नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती द्वारा अतिशय प्रशस्य हुए हैं।

चामुण्डरायका यह उल्लेख बहुत कुछ सबल है। इसमें दो बातोंका स्पष्ट निर्देश है। एक तो यह कि समन्तभद्रदेवने तत्त्वार्थभाष्य रचा है और दूसरी यह कि वह तर्कशास्त्र ग्रन्थ है। नहीं कहा जा सकता कि चामुण्डरायने समन्तभद्रके भाष्यका उल्लेख किस आधारसे किया? क्या उन्हें उक्त ग्रन्थ प्राप्त था अथवा अनुश्रुति मात्र थी? फिर भी यह उल्लेख काफी महत्त्वपूर्ण है और अभयचन्द्रसूरिसे दो सौ वर्षके लगभग प्राचीन है।

इस सम्बन्धमें समन्तभद्रभाष्यप्रेमी विद्वानोंको अवश्य विचार करना चाहिए और उसका अनुसन्धान करते रहना चाहिए।

उक्त उल्लेखमें एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र वादिराज-सूरिसे पूर्व भी 'देव' उपपदके साथ स्मृत होते थे और 'समन्तभद्रदेव' नामसे उनका विद्वान् गुण-कीर्तन करते थे।

१. पं. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास ।

देवागम-आप्तमीमांसा

नाम :

स्वामी समन्तभद्रकी सबसे अधिक विश्रुत कृति 'देवागम' है। प्राचीन ग्रन्थ-कारोंने प्रायः इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। अकलंकदेवने इसपर अपना विवरण (अष्टशतीभाष्य) लिखनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके आरम्भमें इसका यही नाम दिया है और उसे 'भगवत्स्तव' (भगवान्का स्तोत्र) कहा है।^१ विद्यानन्दने भी 'अष्टसहस्री' (पृ. २९४) में अकलंकदेवके अष्टशतीगत 'स्वोक्त-परिच्छेदे' पदकी व्याख्या 'देवागमाख्ये'...शास्त्रे' करके इसका 'देवागम' नाम स्वीकार किया है।^२ बादिराज,^३ हस्तिमल्ल^४ आदि ग्रन्थकारोंने भी अपने ग्रन्थोंमें समन्तभद्रकी उल्लेखनीय कृतिके रूपमें इसका इसी नामसे निर्देश किया है। आश्चर्य नहीं कि जिस प्रकार 'कल्याणमन्दिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव' आदि स्तोत्र 'कल्याणमन्दिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव' जैसे आद्य पदोंसे आरम्भ होनेके कारण वे उन नामोंसे ख्यात हैं उसी प्रकार यह स्तव भी 'देवागम' पदसे आरम्भ होनेसे 'देवागम' नामसे अधिक प्रसिद्ध रहा हो और इसीसे ग्रन्थकारों द्वारा वह इसी नामसे विशेष उल्लिखित हुआ हो।

स्तवकारने^५ इसका 'आप्तमीमांसा' नाम दिया है, जिसे अकलंकदेवने^६ 'सर्वज्ञ-विशेषपरीक्षा' कहा है। विद्यानन्दने^७ अपने ग्रन्थोंमें 'देवागम' नामके अतिरिक्त इस 'आप्तमीमांसा' नामका भी उपयोग किया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह कृति जहाँ 'देवागम' नामसे जैन साहित्यमें विश्रुत है वहाँ वह 'आप्तमीमांसा' नामसे भी। और इस तरह यह महत्त्वपूर्ण रचना दोनों नामोंसे प्रख्यात है।

परिचय :

यह दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय-विभाजनकी दृष्टिसे स्वयं ग्रन्थकारोक्त हैं।^८ ग्रन्थकारकी यह दश-संख्यक परिच्छेदोंकी कल्पना हमें आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायों और महर्षि कणादके 'वैशेषिक सूत्र'के दश अध्यायोंका स्मरण दिलाती है। अन्तर इतना ही है कि ये सूत्र-ग्रन्थ गद्यात्मक

१. 'कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ।'—अष्टश., प्रारम्भिक पद्य २ ।

२. 'इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे...।'—अष्टश., पृ. २९४ ।

३. 'स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥'—पादर्व. च. ।

४. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सहर्शनान्वितः ।'—विक्रान्तको. प्र. ।

५. 'इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।'—देवागम, का. ११४ ।

६. अष्टश. देवागम, का. ११४ ।

७. अष्टश. पृ. १, आप्तपरीक्षा पृ. २३३, २३२, वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, दिल्ली ।

८. 'स्वोक्तपरिच्छेदे....'—अष्टश., देवागम, का. ११४ ।

तथा सिद्धान्तशैलीमें रचित हैं और देवागम पद्यात्मक एवं दार्शनिक शैलीमें रचा गया है। उस समय दार्शनिक रचनाएँ प्रायः कारिकात्मक तथा इष्टदेवकी स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंकी रचनाएँ इसी प्रकारकी उपलब्ध होती हैं। समन्तभद्रने भी समयकी मांगके अनुरूप अपने तीन (स्वयम्भू, युक्त्यनुशासन और देवागम) स्तोत्र दार्शनिक एवं कारिकात्मक शैलीमें रचे हैं।

प्रथम परिच्छेद :

इसके दस परिच्छेदोंमें कुल ११४ कारिकाएँ हैं। प्रथम परिच्छेदमें १-२३ कारिकाएँ हैं। १-३ तक उन विशेषताओंका उल्लेख करके मोमांसा की गयी है जिनसे आस माननेकी बात कही जाती है। ४थीमें ऐसे व्यक्ति-विशेषकी सम्भावना की है जो निर्दोष हो सकता है। ५वींमें ऐसे हेतुसे सामान्य आस (सर्वज्ञ) का संस्थापन (अनुमान) किया है जो साध्यका अविनाभावी तथा निर्दोष है। ६ठीमें वह सामान्य आसत्व युक्तिपूर्वक अर्हत्तुमें पर्यवसित किया गया है और कहा गया है कि चूँकि उनका शासन (तत्त्वप्ररूपण) प्रमाणाविरुद्ध है, अतः वही आस प्रमाणित होते हैं। ७वींमें वर्णित है कि जो एकान्त तत्त्वके प्ररूपक हैं उनका वह एकान्त प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। ८वींमें यह बताया गया है कि एकान्तवादियोंका वह तत्त्व-प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध कैसे है। यतः एकान्तवादी स्वपरवैरी हैं, अतः उनका पुण्य-पापादि प्ररूपण उनके यहाँ सम्भव नहीं है। ९-११ तक तीन कारिकाओं द्वारा वस्तुको सर्वथा भाव (विधि) रूप स्वीकार करनेपर प्रागभाव आदि चारों अभावोंके अपह्नवका दोष दिया गया है। बताया गया है कि प्रागभावका अपलाप करनेपर किसीका उत्पाद नहीं हो सकेगा—अर्थात् कार्य अनादि हो जायेगा, प्रध्वंसाभावके न रहनेपर किसीका नाश नहीं होगा—अर्थात् कार्यद्रव्य अनन्त हो जायेगा, अन्योन्याभावके निषेध करनेपर 'यह अमुक है, अमुक नहीं' ऐसा निर्द्धारण नहीं हो सकेगा—अर्थात् सब सबरूप हो जायेगा। और अत्यन्ताभावके लोप हो जानेपर वस्तुका अपना प्रतिनियत स्वरूप न रहेगा। इस तरह सारी वस्तु-व्यवस्था चौपट (समाप्त) हो जायेगी।

कारिका १२ द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो वस्तुको सर्वथा अभाव (शून्य) रूप मानते हैं। कहा गया है कि अभावरूप वस्तु स्वीकार करनेपर उसे स्वयं जानने-के लिए बोध (ज्ञान) और दूसरोंको जनाने—बतानेके लिए वचनरूप साधन-प्रमाणों तथा अनभिमत भावरूप वस्तुको स्वयं दोषपूर्ण जानने और दूसरोंको दोषपूर्ण बतानेके लिए उक्त दोनों (बोध और वचनरूप) दूषणप्रमाणोंको स्वीकार करना आवश्यक है, जो सर्वथा अभाववादमें सम्भव नहीं, क्योंकि वे दोनों भावरूप हैं।

का. १३में सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव दोनोंरूप वस्तुको माननेपर विरोध तथा उसे सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय) स्वीकार करनेपर उसका 'अवाच्य' शब्दसे भी कथन न कर सकनेका दोष दिखाया गया है।

१४-२२ तक ९ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय (अपेक्षावाद) से वस्तुको अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव (विधि) और अभाव (निषेध) रूप विरोधी युगलको लेकर उसे सप्तभंगात्मक (सप्तधर्मरूप) सिद्ध किया है। २३वीं कारिका द्वारा एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि विरोधी युगलोंको लेकर भी वस्तुमें सप्तभंगी (सप्तभंगा-

त्मकता) की योजना करनेकी सूचना की गयी है ।

इस तरह प्रथम परिच्छेदमें भाव और अभावके सम्बन्धमें उन एकान्त मान्यताओंकी मीमांसा की गयी है जो ग्रन्थकारके समयमें चर्चित एवं बद्धमूल थीं । साथ ही उनका नय-विवक्षासे समन्वय करके उनमें सप्तभंगो—अनेकान्तकी स्थापना की है ।

द्वितीय परिच्छेद :

द्वितीय परिच्छेदमें २४-३६ तक १३ कारिकाएँ हैं । २४-२७ तक चार कारिकाओं द्वारा अद्वैतैकान्त (सर्वथा एकवाद) की समाक्षा की गयी है और कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा एक माननेपर क्रिया-भेद, कारक-भेद, पुण्य-पापरूप कर्म-द्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप ज्ञानद्वैत और बन्ध-मोक्षरूप जीवकी शुद्धाशुद्ध दो अवस्थाएँ ये सब अद्वैतमें सम्भव नहीं हैं । इसके सिवाय हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि करनेपर साधन और साध्यका द्वैत स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । यदि बिना हेतुके ही अद्वैत माना जाय, तो द्वैतको भी बिना हेतुके मान लेना चाहिए । इसके अतिरिक्त अद्वैतवादमें यह भी विचारणीय है कि 'अद्वैत' पदमें जो 'द्वैत' शब्द पड़ा हुआ है उसका वाच्य द्वैत है या नहीं ? क्योंकि नामवाली वस्तुका निषेध उसके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता और द्वैतको स्वीकार करनेपर सर्वथा अद्वैतकी मान्यता समाप्त हो जाती है । यथार्थमें अद्वैत द्वैतका निषेध है और द्वैत वस्तुभूत अद्वैतैकान्तमें स्वीकृत न होनेसे उसका निषेधरूप सर्वथा अद्वैत कैसे माना जा सकता है ?

कारिका २८ के द्वारा सर्वथा द्वैत (अनेक) वादी वैशेषिकोंके अनेकवादकी आलोचना करते हुए प्रतिपादन किया गया है कि जिस पृथक्त्व गुणसे द्रव्यादि पदार्थों-को पृथक् (अनेक) कहा जाता है वह उनसे अपृथक् है या पृथक् ? उसे उनसे अपृथक् तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा उनका सिद्धान्त नहीं है । यदि उसे उनसे पृथक् कहा जाय, तो वह पृथक्त्वगुण अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता, क्योंकि वह अनेकोंमें रहकर ही अपने अस्तित्वको स्थिर रखता है । इस प्रकार वैशेषिकोंके अनेकवादकी मान्यताका आधार-स्तम्भ (पृथक्त्वगुण) जब ढह जाता है तो उसपर आधारित अनेकवादका प्रासाद भी धाराशायी हो जाता है ।

बौद्ध भी अनेकवादी हैं । पर उनका अनेकवाद वैशेषिकोंके अनेकवादसे भिन्न है । वे अन्वयरूप एकत्व न मानकर सर्वथा पृथक्-पृथक् अनेक विसदृश क्षणोंको ही वस्तु स्वीकार करते हैं । उनकी इस मान्यताकी भी २९-३१ तक तीन कारिकाओं द्वारा समीक्षा की गयी है । कहा गया है कि मालाके दानोंमें सूतकी तरह क्षणोंमें अन्वरूप एकत्व न माननेपर उनमें सन्तान, सादृश्य, समुदाय और प्रेत्यभाव आदि नहीं बन सकते, क्योंकि क्षणोंका एक-दूसरेसे एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त ज्ञान और ज्ञेय इन दोनोंको 'सत्' की अपेक्षासे भी भिन्न माननेपर दोनों ही असत् हो जावेंगे । और उस हालतमें न ज्ञानकी स्थिति रहेगी और न बाह्य तथा अन्तस्तत्त्वरूप आभ्यन्तर ज्ञेय ही बन सकेगा । वचनोंसे भी उनकी स्थिति नहीं रोपी जा सकती है, क्योंकि वचन सामान्य (अन्यापोह) मात्रको कहते हैं, जो अवस्तु

है, विशेष (स्वलक्षात्मक वस्तु) को नहीं और ऐसी दशामें समस्त वचन यथार्थतः वस्तुके वाचक न होनेसे मिथ्या (असत्य) ही हैं।

कारिका ३२ के द्वारा वस्तुको सर्वथा एक और सर्वथा अनेक दोनों (उभय) रूप अंगीकार करनेपर विरोध तथा अवाच्य (अनुभय) स्वीकार करनेपर 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

३३-३६ तक ४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय (कथंचिद्वाद) से एक और अनेकके विरोधी युगलकी अपेक्षासे सप्तभंगीकी योजना करके वस्तुमें कथंचित् एक और कथंचित् अनेक आदि अनेकान्तकी पूर्ववत् स्थापना की गयी है।

इस प्रकार दूसरे परिच्छेदमें एक (अद्वैत) और अनेक (द्वैत) के बारेमें रूढ़ एकान्त धारणाओंकी समालोचना करके इस युगलकी अपेक्षासे भी वस्तुको सप्त-भंगात्मक (अनेकान्तरूप) सिद्ध किया गया है।

तृतीय परिच्छेद :

तृतीय परिच्छेदमें ३७-६० तक २४ कारिकाएँ हैं। ३७-४० तक चार कारिकाओं द्वारा सांख्यदर्शनके एकान्त नित्यवादकी आलोचनामें कहा गया है कि प्रधान एवं पुरुषको सर्वथा नित्य स्वीकार करनेपर उनमें किसी भी प्रकारके विकारकी सम्भावना नहीं है; क्योंकि उत्पत्तिसे पूर्व न किसीको कारक कहा जा सकता है और न जप्तिसे पूर्व किसीको प्रमाण कह सकते हैं। अकारकस्वभाव छोड़कर कारक-स्वभाव ग्रहण करनेरूप उत्पत्ति होनेके बाद कारक और अज्ञापकस्वभाव छोड़कर ज्ञापकस्वभाव ग्रहण करनेरूप जप्ति होनेके अनन्तर ज्ञापक (प्रमाण) व्यवहार होता है। एकरूप रहनेके कारण एकान्त नित्य (प्रधान व पुरुष) से किसीकी उत्पत्ति अथवा जप्ति आदिरूप कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है और इसलिए उसे न कारक कहा जा सकता है और न प्रमाण। इन्द्रियोंसे जैसे घटादि अर्थकी अभिव्यक्ति होती है वैसे ही प्रधानरूप कारक या प्रमाणसे महदादिकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकारकी मान्यता भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण तथा कारक दोनोंरूप प्रधान सर्वथा नित्य होनेसे उसका अभिव्यक्तिके लिए भी व्यापार सम्भव नहीं है। अन्यथा अभिव्यक्तिसे पूर्व रहनेवाले अनभिव्यञ्जक स्वभावको छोड़ने तथा व्यञ्जक स्वभावको ग्रहण करनेरूप अवस्थान्तरको प्राप्त करनेसे उसे अनित्य मानना पड़ेगा। अतः महदादि प्रधानसे अभिव्यञ्ज्य (विकार्य) भी नहीं हो सकते। इसी तरह एकान्त नित्य पक्षमें पुरुषकी तरह सत्कार्यकी न उत्पत्ति सम्भव है और न अभिव्यक्ति, क्योंकि सदा विद्यमान रहनेसे उसमें किसी भी तरहका परिणमन (परिवर्तन), चाहे वह उत्पत्तिरूप हो और चाहे अभिव्यक्तिरूप, नहीं बन सकता है। पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव (पर्यायान्तर), बन्ध और मोक्ष ये सब परिणाम भी एकान्त नित्य (अपरिणामी पुरुषवाद) में असम्भव हैं। नित्य जब सदा एकरूप (कूटस्थ) रहेगा तो उसमें कोई विकृति नहीं हो सकती। तथा बिना विकृतिके पुण्यपापादि, जो भिन्न कालोंमें होनेवाली अवस्थाविशेष हैं, कैसे सम्भव हैं, यह विचारणीय है।

४१-५४ तक चउदह कारिकाओं द्वारा एकान्त अनित्यपक्ष (क्षणिकवाद) में दोष दिये गये हैं। कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा अनित्य (क्षणिक) स्वीकार

करनेपर भी उक्त-प्रेत्यभावादि नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्वापर क्षणोंमें परस्पर अन्वय (ध्रौव्यात्मक बन्धन-कड़ी) न होनेके कारण प्रत्यभिज्ञा, स्मरण, अनुभव, अभिलाषा आदि ज्ञानधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। ऐसी दशामें न पूर्व क्षणको कारण और न उत्तर क्षणको कार्य कहा जा सकता है। सर्वथा क्षणिकवादमें न असत्कार्यकी उत्पत्ति, न कार्य-कारणभाव, न हिंस्य-हिंसकभाव, न गुरु-शिष्यभाव, न पति-पत्नीभाव, न मातृ-पुत्रभाव, न बद्ध-मुक्तभाव और न स्कन्धसन्ततियाँ हो बन सकती हैं।

५४ के द्वारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य दोनों (उभयैकान्त) के स्वीकारमें विरोध और न सर्वथा नित्य तथा न सर्वथा अनित्य दोनोंके निषेधरूप अवाच्यैकान्त (अनुभयैकान्त) में 'अवाच्य' शब्दसे उसका कथन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

५६-६० तक ५ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनयसे वस्तुको कथंचित् नित्य, कथंचित् अनित्य, कथंचित् उभय, कथंचित् अनुभय आदि सप्तभंगात्मक अनेकान्त सिद्ध किया है। इस प्रकार इस परिच्छेदमें नित्यानित्यके वरोधी युगलकी अपेक्षासे भी पूर्ववत् सप्तभंगी दिखायी गयी है। उल्लेखनीय है कि दो महत्त्वपूर्ण दृष्टान्तों (लौकिक एवं लोकोत्तर) द्वारा भी वस्तुमें नित्यता (ध्रौव्य) और अनित्यता (उत्पाद-व्यय) दोनोंको प्रतीतिसिद्ध बतलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेद :

चौथे परिच्छेदमें ६१-७२ तक १२ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा भेद और अभेदका विचार किया गया है। ६१-६६ तक ६ कारिकाओंमें भेद (अन्यता) वादी वैशेषिकोंकी एकान्त भेद-मान्यताकी समीक्षा की गयी है। कहा गया है कि यदि कार्य और कारणमें, गुण और गुणीमें तथा सामान्य और सामान्यवानों (द्रव्य-गुण-कर्म) में सर्वथा अन्यत्व (भेद) माना जाय तो एक (कार्य—अवयवी आदि) का अनेकों (कारणों—अवयवों आदि) में रहना (वृत्ति) सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह एक अनेकोंमें प्रत्येकमें अंश रूपसे रहता है या सम्पूर्णरूपसे ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं, कारण कि उस एकके अंशोंको नहीं माना है—उसे निरंश स्वीकार किया गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने कारण (अवयव) होंगे उतने ही कार्य (अवयवी) मानने पड़ेंगे। यदि उस एक (अवयवी) में अंश-कल्पना करें, जो यथार्थमें स्वकीय सिद्धान्त-विरुद्ध है, तो फिर उसे एक कैसे कहा जा सकता है—उसे सांश (अनेक) ही प्रतिपादन करना चाहिए। इस तरह सर्वथा भेदवादमें यह वृत्ति-दोष अनिवार्य है—जिसे दूर नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार इस भेद-वादमें सामान्य व समवायसम्बन्धकी, जिन्हें भिन्न पदार्थ स्वीकार किया है, अपने आश्रयोंमें वृत्ति नहीं बनती। कारण यह है कि जिन नाशशील एवं उत्पादशील व्यक्तियों (घट-पट-गौ आदि) में उन दोनोंको स्थिति स्वीकार की गयी है उनके नाश या उत्पाद होनेपर उन दोनोंका न नाश होता है और न उत्पाद। ऐसी स्थितिमें आश्रयके बिना आश्रयो (सामान्य तथा समवाय) कहाँ और कैसे रहेंगे ? जब कि उन्हें प्रत्येक व्यक्तिमें सम्पूर्ण रूपसे रहनेवाला तथा नित्य और निष्क्रिय माना गया है।

निष्क्रिय होनेसे वे नाशशील व्यक्तिके नाश और उत्पादशील व्यक्तिके उत्पादके समय अन्यत्र (दूसरे व्यक्तियोंमें) जा नहीं सकते तथा नित्य होनेसे वे व्यक्तिके साथ न नष्ट हो सकते हैं और न उत्पन्न । अतः उनका विधान 'द्विविधामें दोनों गये माया मिली न राम' कहावतको चरितार्थ करता है । अर्थात् सामान्य और समवाय दोनोंकी स्थिति भेदवादमें डवांडोल है । इसके अतिरिक्त सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव न होनेसे द्रव्य, गुण और कर्मका भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है । सामान्य और समवायमें परस्पर सम्बन्ध क्यों सम्भव नहीं है ? इसका कारण यह है कि वे द्रव्य न होनेसे उनमें संयोगसम्बन्ध तो स्वयं वैशेषिकोंको भी इष्ट नहीं है । समवाय भी उनमें सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्हें अवयव-अवयवी गुण-गुणी आदि रूपमें स्वीकृत नहीं किया गया । 'सामान्यं समवायि'—सामान्य समवायवाला है, इस प्रकारसे उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्धकी भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक समवायके सिवाय अन्य समवायान्तर वैशेषिकोंने नहीं माना । अन्यथा अनवस्था दोषसे वह मुक्त नहीं हो सकता । हाँ, उनमें एकार्थसमवायकी कल्पना की जा सकती थी, पर वह भी नहीं की जा सकती, क्योंकि घटत्वादि सामान्य घटादिमें समवायसे रह जानेपर भी समवाय उनमें समवेत नहीं है । स्पष्ट है कि वैशेषिकोंने समवायके रहनेके लिए अन्य समवाय नहीं स्वीकार किया—एक ही समवाय उन्होंने माना है । इस तरह जब सामान्य और समवाय दोनोंमें परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है तो ये असम्बद्ध रहकर द्रव्यादिसे सम्बन्धित नहीं हो सकते । फलतः तीनों (सामान्य, समवाय और द्रव्यादि) बिना सम्बन्धके खपुष्प-तुल्य ठहरते हैं ।

वैशेषिकोंमें कोई परमाणुओंमें पाक (अग्निसंयोग) होकर द्व्यणुकादि अवयवीमें क्रमशः पाक मानते हैं और कोई परमाणुओं किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेसे उनमें पाक (अग्निसंयोग) न मानकर केवल द्व्यणुकादि (अवयवी) में पाक स्वीकार करते हैं । जो परमाणुओंमें पाक नहीं मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य (अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिरैकरूप) हैं और इसलिए वे द्व्यणुकादि सभी अवस्थाओंमें एकरूप बने रहते हैं—उनमें किसी भी प्रकारकी अन्यता (भिन्नरूपता-रूप परिणति) नहीं होती उनमें सर्वदा अनन्यता (एकरूपता) विद्यमान रहती है । इसी (किन्ही वैशेषिकोंकी) मान्यताको आ. समन्तभद्रने 'अणुओंका अनन्यतैकान्त' कहा है और कारिका ६७ के द्वारा उसकी भी समीक्षा की है । उन्होंने इस मान्यतामें दोषोद्घाटन करते हुए बताया है कि यदि अणु द्व्यणुकादि संघातदशामें भी उसी प्रकारके बने रहते हैं जिस प्रकार वे विभागके समयमें हैं; (क्योंकि उनमें अन्यता भिन्नरूपता नहीं होती, अन्यथा उनमें अनित्यताका प्रसंग आयेगा), तो वे असंहत (अमिश्र—बिना मिले) ही रहेंगे और उस हालतमें अवयवीरूप पृथिवी आदि चारों भूत भ्रान्त (मिथ्या) ही होंगे । और जब पृथिवी आदि अवयवीरूप कार्य भ्रान्त ठहरते हैं तो उनके जनक परमाणु भी भ्रान्त स्वतः सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि

१. अष्टसहस्रो (पृ. २२२) में इस ६७वीं कारिकाके उत्थानिकावाक्यके आरम्भिक 'अपरः प्राह' पदपर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने जो उसका अर्थ 'सौगतः' दिया है वह ठीक नहीं है । यहाँ सारा सन्दर्भ वैशेषिकोंका है, सौगतोंका नहीं ।

कार्य निश्चय ही अनुरूप कारणकी ही सूचना करता है। इस तरह वैशेषिकोंके अनन्यतैकान्तमें न वास्तविक पृथिव्यादिरूप अवयवी बनता है और न वास्तविक उनके कारणरूप परमाणु ही सिद्ध होते हैं तथा इन दोनोंके न बननेपर उनमें रहने-वाले गुण, जाति (सामान्य), विशेष, समवाय और कर्म ये कोई भी पदार्थ घटित नहीं होते।

आगे कारिका ६८ के द्वारा सांख्योंके अनन्यतैकान्त (अभेदैकान्त) की भी आलोचना करते हुए कहा गया है कि यदि कार्य (महदादि) और कारण (प्रधान) दोनोंमें सर्वथा अनन्यता (अभेद) हो, तो उनमेंसे एकका अस्तित्व रहेगा, दूसरेका अभाव हो जायेगा। फलतः वह एक भी दूसरेका अविनाभावी होनेसे उसके अभावमें न रह सकेगा। इसके अतिरिक्त इस अभेदैकान्तमें कार्य और कारणकी लोकप्रसिद्ध द्वित्वसंख्या भी कभी उपलब्ध न होगी। यदि उसे संवृतिसे माना जाय तो वह संवृति मिथ्या ही है और इसलिए संवृति तथा शून्यता दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है।

कारिका ७० के द्वारा सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद दोनोंके स्वीकारमें विरोध तथा न सर्वथा भेद और न सर्वथा अभेद अर्थात् अनुभय (अवाच्य) माननेमें 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निरूपण न हो सकनेका दोष प्रदर्शित किया गया है।

७१-७२ द्वारा उन अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें कथंचित् भेद, कथंचित् अभेद आदि सप्तभंगी-प्रक्रियाकी योजना करके उनमें अनेकान्त सिद्ध किया है और यह दिखाया है कि किस तरह उनमें अभेद (एकत्व) है और किस तरह उनमें भेद (नानात्व) आदि है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें भेद और अभेदको लेकर विभिन्न वादियों द्वारा मान्य भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि एकान्तोंकी आलोचना और स्याद्वादनयसे उनमें अनेकान्तकी व्यवस्था की गयी है।

पंचम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ७३-७५ तक तीन कारिकाओं द्वारा उन वादियोंकी मीमांसा करते हुए जैन दृष्टि प्रस्तुत की गयी है जो सर्वथा अपेक्षासे या सर्वथा अनपेक्षा आदिसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि मानते हैं। कारिका ७३ में कहा गया है कि यदि धर्म और धर्मीकी, विशेषण और विशेष्यकी, कार्य और कारणकी तथा प्रमाण और प्रमेय आदिकी सिद्धि सर्वथा अपेक्षासे मानी जाय तो उनकी कभी भी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वे उसी प्रकार अन्योन्याश्रित रहेंगे जिस प्रकार किसी नदीमें डूबते हुए दो तैराक एक दूसरेके आश्रय होते हैं और फलतः दोनों ही डूब जाते हैं। यदि उनकी सिद्धि सर्वथा अनपेक्षासे (स्वतः) ही स्वीकार की जाय तो अमुक कार्य-कारण हैं, अमुक धर्म-धर्मी हैं, अमुक विशेषण-विशेष्य हैं, अमुक प्रमाण-प्रमेय हैं और अमुक सामान्य-विशेष हैं, इस प्रकारका व्यवहार नहीं बन सकेगा, क्योंकि ये सब व्यवहार परस्परकी अपेक्षासे होते हैं।

कारिका ७४ में सर्वथा उभयवादियोंके उभयेकान्तमें विरोध और सर्वथा अनुभयवादियोंके अनुभयेकान्तमें 'अनुभय' शब्द द्वारा भी कथन न हो सकनेका दोष दिया गया है।

७५ द्वारा स्याद्वादनयसे वस्तुस्वरूपकी सिद्धि प्रदर्शित की गयी है। कहा गया है कि धर्म-धर्मभाव, कार्य-कारणभाव, विशेषण-विशेष्यभाव और प्रमाण-प्रमेयभावका व्यवहार तो अपेक्षासे सिद्ध होता है। परन्तु उनका स्वरूप स्वतः सिद्ध है। यथार्थमें कार्यमें कार्यता, कारणमें कारणता, प्रमाणमें प्रमाणता, प्रमेयमें प्रमेयता आदि स्वयं सिद्ध है वह परापेक्ष नहीं है। अन्यथा किसी भी वस्तुका अपना स्वतन्त्र स्वरूप नहीं बन सकेगा। जैसे कर्ताका स्वरूप कर्मपेक्ष और कर्मका स्वरूप कर्त्रपेक्ष नहीं है तथा बोधकका स्वरूप बोध्यापेक्ष और बोध्यका स्वरूप बोधकापेक्ष नहीं है। पर उनका व्यवहार अवश्य परस्पर-सापेक्ष है। उसी प्रकार धर्म-धर्मी आदिका स्वरूप तो स्वयं सिद्ध है किन्तु उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इस तरह इस परिच्छेदमें अपेक्षा और अनपेक्षाके विरोधी युगलमें भी सप्तभंगीकी योजना करके अनेकान्तकी व्यवस्था की गयी है।

षष्ठ परिच्छेद :

षष्ठ परिच्छेदमें ७६-७८ तक तीन कारिकाओं द्वारा हेतुवाद और अहेतुवादकी एकान्त मान्यताओंमें दोषोद्घाटन करते हुए उनमें सप्तभंगी-योजनापूर्वक समन्वय (अनेकान्तस्थापन) किया गया है।

कारिका ७६ में सर्वथा हेतुवादसे वस्तुसिद्धि माननेपर प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे वस्तुज्ञानके अभावका प्रसंग तथा आगमसे सर्वसिद्धि स्वीकार करनेपर परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तोंके प्रतिपादक वचनोंसे भी विरोधी तत्त्वोंकी सिद्धिका प्रसंग दिया गया है।

कारिका ७७ में पूर्ववत् उभयैकान्तमें विरोध और आवाच्यतैकान्तमें 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निर्वचन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित है।

इस परिच्छेदकी अन्तिम ७८वीं कारिकामें हेतुवाद और अहेतुवाद दोनोंसे वस्तुसिद्धि होनेका निर्देश करते हुए सप्तभंगात्मक अनेकान्त प्रदर्शित किया गया है। कहा है कि जहाँ आप्त वक्ता न हो वहाँ हेतुसे साध्यकी सिद्धि की जाती है और उस सिद्धिको हेतु-साधित कहा जाता है तथा जहाँ आप्त वक्ता हो वहाँ उसके वचनसे वस्तुकी सिद्धि होती है और वह सिद्धि आगम-साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तु-सिद्धिका अंग उपायतत्त्व (हेतुवाद और अहेतुवाद) भी अनेकान्तात्मक है।

सप्तम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ७९-८७ तक ९ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा ज्ञानैकान्त और बाह्यार्थैकान्त आदि एक-एक एकान्तोंके स्वीकार करनेमें आनेवाले दोषोंको दिखलाते हुए निर्दोष अनेकान्तकी स्थापना की गयी है।

कारिका ७९ के द्वारा बतलाया है कि यदि सर्वथा ज्ञानतत्त्व ही हो, बाह्य अर्थ न हो, तो सभी बुद्धियाँ और सभी वचन मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि दोनोंका प्रामाण्य बाह्य अर्थपर निर्भर है। जिनका ज्ञात बाह्यार्थ सत्य निकलता है उन्हें प्रमाण और जिनका सत्य नहीं निकलता उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। परन्तु ज्ञानैकान्तवादमें बाह्यार्थको स्वीकार न करनेके कारण किसी भी बुद्धि और किसी भी वचनकी प्रमाणताका निश्चय नहीं हो सकता और इसलिए उन्हें मिथ्या ही कहा जावेगा और

जब वे मिथ्या हैं तो वे प्रमाणाभासकी कोटिमें प्रविष्ट हैं। किन्तु बिना प्रमाणके उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है। तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्वके ही स्वीकार करनेपर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही नहीं बनते और उनके न बननेपर किस तरह ज्ञानमात्रको वास्तविक और बाह्यार्थको अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है।

८० के द्वारा साध्य और साधनकी विज्ञप्तिसे विज्ञप्तिमात्रतत्त्वकी सिद्धिके प्रयासको भी निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि उक्त प्रकारसे सिद्ध करनेपर प्रतिज्ञादोष और हेतुदोष आते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञप्तिमात्रतत्त्वको मानने वालोंके यहाँ न साध्य है और न हेतु। अन्यथा द्वैतका प्रसंग आयेगा।

८१ के द्वारा उन्हें दोष दिया गया है, जो केवल बाह्यार्थ स्वीकार करते हैं, अन्तरंगार्थ (ज्ञान) को नहीं मानते। कहा गया है कि यदि सर्वथा बाह्यार्थ ही हो, ज्ञान न हो, तो न संशय होगा, न विपर्यय और न अनध्यवसाय। इतना ही नहीं, सत्यासत्यका निर्णय भी नहीं किया जा सकेगा। फलतः जो विरोधो अर्थका प्रतिपादन करते हैं उनके भी मोक्षादि कार्योंकी सिद्धि हो जायगी। इसके अतिरिक्त स्वप्न-बुद्धियोंका स्वार्थके साथ सम्बन्ध न होनेसे उन्हें असंवादो नहीं कहा जा सकेगा।

कारिका ८२ के द्वारा सर्वथा उभयवादमें विरोध और सर्वथा अनुभयवादमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका कथन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् दिखाया गया है।

कारिका ८३ द्वारा स्याद्वादसे वस्तुव्यवस्था करनेपर कोई दोष नहीं आता, यह दिखलाते हुए कहा गया है कि स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। पर बाह्य प्रमेयकी अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों हैं। जिस ज्ञानका बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध होता है वह प्रमाण है तथा जिसका बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्य ही मिलता है वह प्रमाणाभास है। इस तरह स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण हैं, कोई प्रमाणाभास नहीं है। किन्तु बाह्य प्रमेयकी सत्यतासे प्रमाण और असत्यतासे प्रमाणाभास हैं। अतः प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था अन्तरंगार्थ (ज्ञान) और बाह्यार्थ दोनोंको स्वीकार करनेसे होती है, किसी एकसे नहीं। यही अनेकान्तरूप वस्तुतत्त्व है जिसको स्याद्वादसे उक्त प्रकार व्यवस्था होती है।

कारिका ८४ के द्वारा उन (बौद्धों) का समाधान किया गया है, जो बाह्यार्थ नहीं मानते, केवल उसको शाब्दिक (काल्पनिक) प्रतीति स्वीकार करते हैं। उनके लिए कहा गया है कि कोई भी शब्द क्यों न हो, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है। उदाहरणार्थ जीवशब्दको ही लीजिए, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य है क्योंकि वह एक संज्ञा है। जो संज्ञा होती है उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है, जैसे हेतुशब्द अपने वाच्य हेतुरूप बाह्यार्थको लिये हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि जीव-शब्दका प्रयोग शरीरमें या इन्द्रियों आदिके समूहमें नहीं होता, क्योंकि ऐसी लोकरूढ़ि नहीं है। 'जीव गया, जीव मौजूद है' इस प्रकारका जिसमें व्यवहार होता है उसीमें यह लोकरूढ़ि नियत है। कोई भी व्यक्ति यह व्यवहार न शरीरमें करता है, क्योंकि वह अचेतन है, न इन्द्रियोंमें करता है, क्योंकि वे मात्र उपभोगकी साधन हैं और न शब्दादि विषयोंमें करता है, क्योंकि वे भोग्यरूपसे व्यहृत होते हैं। वह तो

भोक्ता आत्मामें 'जीव' यह व्यवहार करता है। अतः 'जीव' शब्द जीवरूप बाह्यार्थ सहित है। माया, अविद्या, अप्रमा आदि जो भ्रान्तिसूचक संज्ञाएँ हैं वे भी माया, अविद्या, अप्रमा आदि अपने भावात्मक अर्थोंसे सहित हैं। जैसे प्रमासंज्ञा अपने प्रमारूप अर्थसे सहित है। इन संज्ञाओंको मात्र वक्ताके अभिप्रायकी सूचिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रोताओंकी जो उन संज्ञाओं (नामों) को सुनकर उस-उस अर्थक्रियामें प्रवृत्तिका नियम देखा जाता है वह अभिप्रायसे सम्भव नहीं है। अतः संज्ञाओं (शब्दों) को अभिप्रायका सूचक नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें सत्यार्थ (बाह्यार्थ) का सूचक स्वीकार करना चाहिए।

अगली ८५-८७ तक तीन कारिकाओंके द्वारा ग्रन्थकार अपने उक्त कथनका सबल समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी तीन संज्ञाएँ होती हैं। बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा। तथा ये तीनों संज्ञाएँ बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीनकी क्रमशः वाचिका हैं और तीनोंसे श्रोताको उनके प्रतिबिम्बात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध होते हैं। अतः 'जीव' यह शब्द केवल जीवबुद्धि या जीवशब्दका वाचक न होकर जीवार्थ, जीवशब्द और जीवबुद्धि इन तीनोंका वाचक है। वास्तवमें उनके प्रतिबिम्बात्मक तीन बोध होनेसे उन तीनों संज्ञाओंके वाच्यार्थ तीन हैं, यह ध्यान देनेपर स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक पदार्थ तीन प्रकारका है—बुद्ध्यात्मक, शब्दात्मक और अर्थात्मक। और तीनोंकी वाचिका तीन संज्ञाएँ हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और इस तरह समस्त संज्ञाएँ (शब्द) अपने अर्थ सहित हैं।

यद्यपि विज्ञानवादीके लिए ऊपर कहा गया हेतु (संज्ञा होनेसे) असिद्ध है, क्योंकि उसके यहाँ विज्ञानके अलावा संज्ञा (शब्द) नहीं है। उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जब हम कुछ कहते या सुनते या जानते हैं तो हम वक्ता, श्रोता या प्रमाता कहे जाते हैं और ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं। तथा इन तीनोंके तीन कार्य भी अलग-अलग होते हैं। वक्ता अभिधेयका ज्ञान करके वाक्य बोलता है, श्रोता उसको श्रवण कर उसका बोध करता है और प्रमाता शब्द और अर्थरूप प्रमेयकी परिच्छिन्ति (प्रमा) करता है। ये तीनों ही उन तीनोंके बिल्कुल जुड़े-जुड़े कार्य हैं। विज्ञानवादी इन अनुभवसिद्ध पदार्थोंका अपह्नव करनेका साहस कैसे कर सकता है। ऐसी दशामें वह हेतुको असिद्धादि दोषोंसे युक्त नहीं कह सकता। यदि वह इन अनुभवसिद्ध पदार्थों (अभिधेय, अभिधेयके ग्राहक वक्ता और श्रोता) को विभ्रम कहे तो उसका विज्ञानवाद और साधक प्रमाण भी विभ्रमकोटिमें आनेसे कैसे बच सकते हैं। और प्रमाणके विभ्रम होनेपर उसे जो इष्ट अन्तर्ज्ञेय (ज्ञान) है वह और जो उसे इष्ट नहीं है ऐसा बहिर्ज्ञेय दोनों हो, जिन्हें तादृश (प्रमाणरूप) और इतर—अन्यादृश (अप्रमाणरूप) माना जाता है, विभ्रम ही सिद्ध होंगे। ऐसी हालतमें सर्वथा विज्ञानवादमें हेयोपादेयका तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है ?

यदि प्रमाणको अभ्रान्त कहें, तो उसके लिए बाह्यार्थका स्वीकार आवश्यक है। उसके बिना प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्भव नहीं है; क्योंकि उन्हीं ज्ञानों तथा शब्दोंमें प्रमाणता होती है जिनका बाह्यार्थ होता है और जिनका बाह्यार्थ नहीं होता उन्हें प्रमाणाभास माना जाता है। यथार्थमें जिस बुद्धिका ज्ञात अर्थ

प्राप्त होता है उसे सत्य और जिसका ज्ञात अर्थ प्राप्त नहीं होता उसे असत्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस शब्दका अभिहित अर्थ मिलता है वह सत्य और जिसका अभिहित अर्थ नहीं मिलता उसे असत्य माना जाता है। इस प्रकार बाह्यार्थके सद्भाव और असद्भावमें ही बुद्धि और शब्द प्रमाण एवं प्रमाणाभास कहे जाते हैं। सर्वथा ज्ञानैकान्तमें यह प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था सम्भव नहीं है। अतः उक्त प्रकारसे बाह्यार्थ अवश्य सिद्ध होता है और उसके सिद्ध हो जानेपर वक्ता आदि तीन और उनके बोधादि तीन भी सिद्ध हो जाते हैं। अतएव उक्त 'संज्ञात्व' हेतु असिद्धादि दोष युक्त नहीं है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें ज्ञापकोपाय तत्त्वमें भी सप्तभंगीकी योजना करके उसे स्याद्वादनयसे अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

अष्टम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें ८८-९१ तक चार कारिकाएँ हैं। ८८वीं कारिकाके द्वारा सर्वथा देववादकी मान्यतामें दोष दिखलाते हुए कहा है कि यदि एकान्ततः देवसे ही इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पत्ति स्वीकार की जाय, तो उनका निष्पादक देव किससे निष्पन्न होता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है? उसकी निष्पत्ति पौरुषसे तो मानी नहीं जा सकती, क्योंकि 'सब पदार्थोंकी सिद्धि देवसे ही होती है' इस मान्यताकी समाप्ति हो जाती है। यदि उसकी निष्पत्ति अन्य देवसे कही जाय तो मोक्ष कभी किसीको हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि वह अन्य देव पूर्व देव से उत्पन्न होगा और वह पूर्व देव भी और पूर्ववर्ती देवसे होगा और इस तरह पूर्व-पूर्व देवोंका जहाँ ताँता बना रहेगा वहाँ पौरुष निष्फल सिद्ध होगा।

८९ वीं कारिकाके द्वारा सर्वथा पौरुषवादको भी दोषपूर्ण बतलाते हुए कहा गया है कि यदि सर्वथा पौरुषसे ही सभी इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पत्ति हो, तो पौरुष किससे उत्पन्न होता है, यह बताया जाय? देवसे तो उसकी उत्पत्ति कही नहीं जा सकती; क्योंकि 'पौरुषसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि होती है' यह प्रतिज्ञा टूट जाती है। अगर अन्य पौरुषसे उसकी निष्पत्ति कही जाय तो किसी भी प्राणीका पौरुष (प्रयत्न) निष्फल नहीं होना चाहिए—सभीका पौरुष सफल होना चाहिए। पर ऐसा दृष्टि-गोचर नहीं होता। अतः देवैकान्तकी तरह पौरुषैकान्त भी सदोष है और इसलिए वह भी ग्राह्य नहीं है।

करिका ९० के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका प्रतिपादन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् बताया गया है।

कारिका ९१ के द्वारा स्याद्वादसे पदार्थोंकी सिद्धि की गयी है। जहाँ इष्टानिष्ट वस्तुओंका समागम बुद्धिव्यापारके बिना मिलता है वहाँ उनकी प्राप्ति देवसे है और जहाँ उनका समागम बुद्धिव्यापारपूर्वक होता है वहाँ पौरुषकृत है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें देवैकान्त, पौरुषैकान्त आदि एकान्तोंको त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए उनमें स्याद्वादसे वस्तुसिद्धिकी व्यवस्था की गयी है और यहाँ भी पूर्ववत् सप्तभंगीकी योजना दिखलाई है।

नवम परिच्छेद :

इस परिच्छेदमें पिछले परिच्छेदमें वर्णित दैवकारकोपायतत्त्वके पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी स्थितिपर विचार किया गया है। पुण्य किन कारणोंसे होता है और पाप किन बातोंसे, यही इस परिच्छेदका विषय है, क्योंकि पुण्य और पापके सम्बन्धमें भी ऐकान्तिक मान्यताएँ हैं।

इसमें चार कारिकाएँ हैं। ९२वीं कारिकाके द्वारा उस मान्यताकी समीक्षा की है जिसमें दूसरेमें दुःख उत्पन्न करनेसे पापबन्ध और सुख उत्पन्न करनेसे पुण्यबन्ध स्वीकृत है। पर यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर दूध आदि दूसरेमें सुख तथा कण्टकादि दुःख उत्पन्न करनेके कारण उनके भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि चेतन ही बन्धयोग्य हैं, अचेतन दुग्धादि एवं कण्टकादि नहीं, तो वीतराग (कषायरहित) भी पुण्य और पापसे बँधेंगे, क्योंकि वे अपने भक्तोंमें सुख और अभक्तोंमें दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त पड़ते हैं। यदि कहा जाय कि उनका उन्हें सुख-दुःख उत्पन्न करनेका अभिप्राय न होनेसे उन्हें पुण्य-पाप-बन्ध नहीं होता, तो 'परमें सुख उत्पन्न करनेसे पुण्य और दुःख उत्पन्न करनेसे पाप-बन्ध होता है' यह एकान्त मान्यता नहीं रहती।

९३वीं कारिकाके द्वारा उन वादियोंको भी मीमांसा की है जो कहते हैं कि अपनेमें दुःख उत्पन्न करनेसे तो पुण्य और सुख उत्पन्न करनेसे पापका बन्ध होता है। कहा गया है कि ऐसा सिद्धान्त माननेपर वीतराग मुनि और विद्वान् मुनि भी क्रमशः कायक्लेशादि दुःख तथा तत्त्वज्ञानादि सुख अपनेमें उत्पन्न करनेके कारण पुण्य-पापसे बँधेंगे। फलतः वे कभी भी संसार-बन्धनसे छुटकारा न पा सकेंगे। अतः यह एकान्त भी संगत प्रतीत नहीं होता।

कारिका ९४ के द्वारा उभयैकान्तमें विरोध और अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्दसे भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् प्रदर्शित किया गया है।

कारिका ९५ के द्वारा स्याद्वादसे पुण्य और पापकी व्यवस्था की गयी है। युक्तिपूर्वक कहा गया है कि सुख-दुःख, चाहे अपनेमें उत्पन्न किये जायें और चाहे परमें। यदि वे विशुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संक्लेश (अशुभ परिणामों) से पैदा होते हैं या उन परिणामोंके जनक हैं तो क्रमशः उनसे पुण्यास्रव और पापास्रव होता है। यदि ऐसा नहीं है तो जो दोष ऊपर दिया गया है उसका होना दुर्निवार है। यथार्थमें पुण्य और पाप अपनेको या परको सुख-दुःख पहुँचाने मात्रसे नहीं होते हैं, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामोंपर उनका होना निर्भर है। जो सुख-दुःख शुभ परिणामोंसे जन्य हैं या उनके जनक हैं उनसे तो पुण्यका आस्रव होता है और जो अशुभपरिणामोंसे जन्य या उनके जनक हैं वे नियमसे पापस्रवके कारण या कार्य हैं। यह वस्तुव्यवस्था है। इस प्रकार स्याद्वादमें ही पुण्य और पापकी व्यवस्था बनती है, एकान्तवादमें नहीं।

दशम परिच्छेद :

इस अन्तिम परिच्छेदमें ९६-११४ तक बीस कारिकाएँ हैं। कारिका ९६ के द्वारा सांख्यदर्शनके उस सिद्धान्तकी समीक्षा की गयी है जिसमें कहा गया है कि

‘अज्ञानसे बन्ध होता है और ज्ञानसे मोक्ष’ । परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त हैं और इसलिए किसी-न-किसी ज्ञेयका अज्ञान बना रहेगा । ऐसी स्थितिमें कभी भी कोई पुरुष केवली नहीं हो सकता । इसी प्रकार अल्पज्ञान (प्रकृति-पुरुषका विवेकमात्र) से मोक्ष मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि अल्पज्ञानके साथ बहुत-सा अज्ञान भी रहेगा । ऐसी दशामें बन्ध ही होगा, मोक्ष कभी न हो सकेगा । इस प्रकार विचार करनेपर ये दोनों ही एकान्त दोषपूर्ण हैं और इसलिए वे ग्राह्य नहीं हैं ।

९७ के द्वारा उभयेकान्तमें विरोध और आवाच्यतैकान्तमें ‘आवाच्य’ शब्दके द्वारा भी उसका निर्देश न हो सकनेका दोष दिया गया है ।

९८ के द्वारा स्याद्वादसे बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था बतलाते हुए कहा है कि मोहसहित अज्ञानसे बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञानसे नहीं । इसी तरह मोहरहित अल्पज्ञानसे मोक्ष सम्भव है और मोहसहित अल्पज्ञानसे नहीं । अतः बन्धका कारण केवल अज्ञान नहीं है और न मोक्षका कारण केवल अल्पज्ञान है । यथार्थमें मोहके सद्भावमें बन्ध और मोहके अभावमें मोक्ष अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होते हैं । अज्ञानका बन्धके साथ और ज्ञानका मोक्षके साथ अन्वयव्यभिचार तथा व्यतिरेकव्यभिचार होनेसे उनका उनके साथ न अन्वय है और न व्यतिरेक । और जब उनका उनके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है तो उनमें कार्यकारणभाव भी नहीं बन सकता । अतः मोहसहित अज्ञानसे बन्ध और मोहरहित थोड़ेसे भी ज्ञानसे मोक्षकी व्यवस्था मानी जानी चाहिए ।

कारिका ९९ में उनकी समीक्षा अन्तर्निहित है जो प्राणियोंकी अनेक प्रकारकी इच्छादि सृष्टिको ईश्वरकृत मानते हैं—उसे उनके शुभाशुभ-कर्मजन्य स्वीकार नहीं करते । ग्रन्थकार कहते हैं कि प्राणियोंकी इच्छादि विचित्र सृष्टि उनके स्वकर्मानुसार होती है, ईश्वर उसका कर्त्ता नहीं है । और उनका वह कर्म उनके शुभाशुभ परिणामोंसे अर्जित होता है, क्योंकि समस्त संसारी जीव शुद्धि (शुभ परिणाम) और अशुद्धि (अशुभ परिणाम) की अपेक्षासे दो भागोंमें विभक्त हैं ।

उल्लिखित शुद्धि और अशुद्धि ये दोनों जीवोंकी एक प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो उनमें पाक्य और अपाक्य शक्तियोंकी तरह नैसर्गिक होती हैं, यह कारिका १०० में प्रतिपादन है ।

कारिका १०१ में जैन प्रमाणका स्वरूप और उसके अक्रमभावि तथा क्रमभावि ये दो भेद निर्दिष्ट हैं ।

कारिका १०२ में प्रमाणके फलका निर्देश करते हुए उसे दो प्रकारका बतलाया है—एक साक्षात्फल और दूसरा परम्पराफल । अक्रमभावि (केवल) प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल उपेक्षा (वस्तुओंमें रागद्वेषका अभाव) है । क्रमभावि प्रमाणका भी साक्षात्फल अज्ञाननाश है और परम्पराफल हानबुद्धि, उपादानबुद्धि तथा उपेक्षाबुद्धि है ।

कारिका १०३ में सूचित किया है कि वक्ताके प्रत्येक वाक्यमें उसके आशयका बोधक ‘स्यात्’ निपातपद प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य विद्यमान रहता है जो एक धर्म (बोध्य) का बोधक (वाचक) होता हुआ अन्य अनेक धर्मों (अनेकान्त) का द्योतक होता है । यह बात सामान्य वक्ताके वाक्योंके विषयमें ही नहीं है, केवलियोंके

भी वाक्योंमें 'स्यात्' निपातपद निहित रहता है और वह एक (विवक्षित) धर्मका प्ररूपक होता हुआ अन्य सभी (अविवक्षित) धर्मोंका अस्तित्व प्रकाशक होता है ।

कारिका १०४ में उसी 'स्यात्' के बाद (मान्यता) अर्थात् स्याद्वादको स्पष्ट किया गया है । कहा गया है कि किञ्चित्, कथञ्चित् शब्दोंसे जिसका विधान होता है और जिसमें एकान्तकी गन्ध नहीं है तथा जो सप्तभंगीनयसे विवक्षित (उपादेय) का विधायक एवं अविवक्षितों (हेत्यों—शेष धर्मों) का निषेधक (सन्मात्रसूचक) है वह स्याद्वाद है । कथञ्चिद्वाद, किञ्चिद्वाद इसीके पर्याय हैं ।

कारिका १०५ में स्याद्वादका महत्त्व घोषित करते हुए कहा गया है कि तत्त्वप्रकाशनमें स्याद्वादका वही महत्त्व है जो केवलज्ञानका है । दोनों ही समस्त तत्त्वोंके प्रकाशक हैं । उनमें यदि अन्तर है तो इतना ही कि केवलज्ञान साक्षात् समस्त तत्त्वोंका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् (परोक्ष) उनका प्रकाशक है ।

कारिका १०६ में प्रतिपादन है कि उल्लिखित तत्त्वप्रकाशन स्याद्वाद (श्रुत—अहेतुवाद—आगम) के अतिरिक्त नयसे भी होता है और नयसे यहाँ हेतु विवक्षित है, जो स्याद्वादके द्वारा जाने गये अर्थके विशेष (धर्म) का गमक है तथा सपक्षके साधर्म्य एवं विपक्षके वैधर्म्य (अन्यथानुपपन्नत्व) को लिये हुए है अर्थात् साध्यका अविनाभावी होता हुआ साध्यका साधक है वह हेतु है । व्याख्याकारोंने इस कारिका—में ग्रन्थकार द्वारा नयलक्षणके भी कहे जानेका व्याख्यान किया है । उनके व्याख्यानके अनुसार नय तत्त्वज्ञानका वह महत्त्वपूर्ण उपाय है जो स्याद्वाद द्वारा प्रमित अनेकान्तके एक-एक धर्मका बोध कराता है । समग्रका ग्राहक ज्ञान तो प्रमाण है और असमग्रका ग्राहक नय है । यही इन दोनोंमें भेद है ।

कारिका १०७ में जैनसम्मत वस्तु (प्रमेय) का भी स्वरूप निरूपित है । ऊपर नयका निर्देश किया जा चुका है । उसके तथा उसके भेदों-उपभेदों (उपनयों) के विषयभूत त्रिकालवर्ती धर्मों (गुण-पर्यायों) के समुच्चय (समष्टि) का नाम द्रव्य (वस्तु—प्रमेय) है । यह समुच्चय संयोगादि सम्बन्धरूप न होकर कथञ्चित् अवि-भ्राद्भावसम्बन्ध (तादात्म्य) रूप है । वस्तुका कोई भी धर्म उसके शेष धर्मोंसे न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न । सभी धर्म परस्पर मैत्रीभावके साथ वस्तुमें वर्तमान हैं और वे सभी वस्तुकी आत्मा (स्वरूप) हैं । इस प्रकारके सहअस्तित्वात्मक सम्बन्धको अविष्वगभावसम्बन्ध कहते हैं । वस्तु सत्सामान्यकी अपेक्षासे एक होती हुई भी धर्म-धर्मिके भेदसे अनेकरूप भी है । अथवा यों कहें कि वह न सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक है, अपितु एकानेकात्मक जात्यन्तररूप है ।

कारिका १०८ में उस शंकाका समाधान प्रस्तुत है जिसमें कहा गया है कि जैन दर्शनमें एकान्तोंके समूहका नाम अनेकान्त है और एकान्तको मिथ्या (असत्य) माना गया है । अतः उनका समूह (अनेकान्त) भी मिथ्या कहा जायेगा । अनेक असत्य मिलकर एक सत्य नहीं बन सकता । इसलिए उक्त एकान्तसमुच्चयरूप अनेकान्तको जो ऊपर वस्तु कहा गया है वह सम्यक् नहीं है ? इस शंकाका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको यदि मिथ्या कहा जाता है तो वह हमें इष्ट है; क्योंकि स्याद्वादियोंके यहाँ वस्तुमें निरपेक्ष एकान्तता नहीं है । स्याद्वादी सापेक्ष एकान्तको स्वीकार करते तथा उनके ही समूहको अनेकान्त मानते

हैं, निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको नहीं। उन्होंने स्पष्टतया निरपेक्ष नयों (एकान्तों) को मिथ्या (असत्य) और सापेक्षोंको वस्तु (सम्यक्—सत्य) कहा है, क्योंकि वे ही अर्थक्रियाकारी हैं।

कारिका १०९ में वाचकके स्वरूपकी भी स्याद्वाददृष्टिसे व्यवस्था की गयी है। जो विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, चाहे निषेधवाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध कराते हैं। जब विधिवाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधि धर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेध धर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बोध नहीं कराता। इसी प्रकार प्रतिषेधवाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेध धर्मका कथन करनेके साथ अविनाभावी विधि धर्मका भी मौन ज्ञापन करता है—उसका निरास या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है—तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए है। अतः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानी नहीं कर सकता। हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गोणरूपसे अवगम कराता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करनेके लिए स्याद्वाददर्शनमें वक्ता द्वारा बोले गये प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' निपात-पद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूपसे अवश्य रहता है। यदि विधिवाक्य या निषेधवाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हों, तो अन्य विरोधी धर्मका लोप होनेसे उसका अविनाभावी अभिधेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहने-पर वह अविशेष्य (शून्य) हो जायेगी।

११०-११३ तक चार कारिकाओंके द्वारा वाच्यके स्वरूपमें अंगीकृत एकान्त-वादियोंके अभिनिवेशोंकी समीक्षा करते हुए स्याद्वादसे वाच्यके भी स्वरूपकी स्थापना की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्येक वचन (वाक्य) तद् और अतद् रूप वस्तुको कहता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं, तो 'तद्रूप ही वस्तु है' ऐसा कथन करने वाला वचन सत्य नहीं है और जब वह सत्य नहीं तब असत्य वाक्यों द्वारा तत्त्वार्थ (यथार्थ वस्तु) का उपदेश कैसे हो सकता है ? विधिवादियोंको इसपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिए।

'अन्य नहीं' इतना ही प्रत्येक वचन सूचन करते हैं, यह एकान्त मान्यता भी युक्त नहीं है, क्योंकि वाणीका स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका निषेध करती हुई अपने अर्थसामान्यका भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी ऐसी नहीं है वह खपुष्पके समान मिथ्या है।

वाणी केवल अन्यव्यावृत्तिरूप (अन्यापोह) सामान्यका प्रतिपादन करती है, विशेष (स्वलक्षण) का नहीं, यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि अन्यव्यावृत्ति मूषा होनेसे वह शब्दका अर्थ नहीं हो सकती। जिस शब्दसे जिस अर्थविशेषकी प्रतीति, प्राप्ति और जिसमें प्रवृत्ति हो वही उस शब्दका अर्थ है। तुच्छरूप अन्य-व्यावृत्ति किसी भी शब्दसे ज्ञात या प्राप्त नहीं होती और न उसमें किसीकी प्रवृत्ति

होती है। अतः वह शब्दका वाच्य नहीं है। चूँकि घटपटादि शब्दोंसे घटपटादि विशेष अभिप्रेतोंकी प्रतीति एवं प्राप्ति होती है और उन शब्दोंको सुनकर श्रोताकी उन्हींमें प्रवृत्ति होती है, अतः घटादि शब्दोंका वाच्य घटादि अभिप्रेत-विशेष हैं, अघटा-दिव्यावृत्ति नहीं। अतः 'स्यात्' पदसे अंकित वचन ही सत्यके सूचक एवं प्रकाशक हैं। जो वचन 'स्यात्' पदसे अंकित नहीं वे सत्यका प्रकाशन नहीं कर सकते।

जो अभीप्सित अर्थका कारण है और प्रतिषेध्य (विरोधी) का अविनाभावी है वही शब्दका विधेय है और वही आदेय तथा उसका प्रतिषेध्य हेय है। यथार्थमें वक्ताके लिए जो इष्ट है उसे कहने तथा जो इष्ट नहीं उसके निषेध करनेके लिए ही उसके द्वारा शब्दका प्रयोग किया जाता है और जिसके लिए शब्दप्रयोग है वही उसका वाच्य है। अतः शब्दका वाच्य न सर्वथा विधि है और न सर्वथा अन्यव्यावृत्ति (निषेध) है, अपितु उभयात्मक (अनेकान्तरूप) वस्तु उसकी वाच्य है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ—प्रमाण, प्रमेय, वाचक, वाच्य आदि स्वभावतः स्याद्वाद-मुद्रांकित हैं।

इस अन्तिम परिच्छेदकी अन्तिम कारिका ११४ है। इसमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने अपनी प्रस्तुत कृतिका प्रयोजन प्रदर्शित किया है। कहा है कि हमने यह आसमीमांसा कल्याणके इच्छुक लोगोंके लिए रची है, जिससे वे यह जान सकें, श्रद्धा कर सकें और समाचरण भी कर सकें कि सम्यक् कथन अमुक है और मिथ्या कथन अमुक है और इस तरह सम्यक् कथनको सत्यता एवं उपादेयता तथा मिथ्या कथनकी असत्यता एवं हेयताका उन्हें अवधारण हो सके। इससे आचार्य महोदयके परहितसम्पादनप्रवण हृदयका और उनकी दर्शनविशुद्धि, प्रवचनवात्सल्य तथा मार्गप्रभावना जैसी उच्च भावनाओंका परिचय मिलता है।

देवागमकी व्याख्याएँ :

ऊपर देवागम और उसके प्रतिपाद्य विषयका कुछ परिचय दिया गया है। अब उसकी व्याख्याओंका भी परिचय देनेका प्रयास किया जाता है।

देवागमपर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं^१—१. देवागम-विवृति (अष्टशती-भाष्य), २. देवागमालंकार (आप्तमीमांसा-लंकार-अष्टसहस्री) और ३. देवागम-वृत्ति।

१. आ. विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें आ. अकलंकदेवके समाप्ति-मंगलसे पूर्व 'केचित्' शब्दोंके साथ देवागमके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति-मंगल पद्य दिया है। उससे प्रतीत होता है कि अकलंकदेवसे पूर्व भी देवागमपर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है, जो विद्यानन्दको प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसपरसे ही उन्होंने उल्लिखित समाप्ति-मंगलपद्य दिया है। लघुसमन्तभद्र (वि. सं. १३वीं शती) ने वादीभट्टसिंह द्वारा देवागम (आप्तमीमांसा) के उपलालन—व्याख्यान करनेका उल्लेख अष्टसहस्री-टिप्पण (पृ. १) में किया है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। देवागमके महत्त्व और विश्रुतिको देखते हुए आश्चर्य नहीं कि उसपर विभिन्न कालोंमें विविध टीका-टिप्पणादि लिखे गये हों। अकलंकदेवने अष्टशती (का. ३३ की विवृति) में एक स्थानपर 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' शब्दोंका प्रयोग करके देवागमके पाठभेदों और उसकी अनेक व्याख्याओंकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

१. देवागम-विवृति (अष्टशती) :

इसके रचयिता आ. अकलंकदेव हैं। यह देवागमकी उपलब्ध व्याख्याओंमें सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। परिच्छेदोंके अन्तमें जो समाप्ति-पुष्पिका-वाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका आसमीमांसाभाष्य (देवागम-भाष्य) के नामसे उल्लेख हुआ है।^१ आ. विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेदके आरम्भमें जो ग्रन्थ-प्रशंसामें पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है।^२ सम्भवतः आठसौ श्लोकप्रमाण रचना होनेसे इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। लगता है कि इस अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी 'देवागमालंकृति' व्याख्याको उन्होंने आठ हजार श्लोकप्रमित बनाया और 'अष्टसहस्री' नाम रखा। जो हो, इस तरह यह अकलंकदेवकी व्याख्या देवागम-विवृति, आसमीमांसा-भाष्य (देवागम-भाष्य) और अष्टशती इन तीनों नामोंसे जैन वाङ्मयमें विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानोंका उसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्यको अष्टसहस्रीके सहारे ही ज्ञात किया जा सकता है। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना मिलना दुर्लभ है। अष्टसहस्रीके अध्ययनमें जिस प्रकार कष्टसहस्रीका अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशतीके अभ्यासमें भी कष्टशतीका अनुभव उसके अभ्यासीको पद-पदपर होता है।

२. देवागमालंकृति (अष्टसहस्री) :

यह आ. विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे आप्तमीमांसा-लंकृति, आसमीमांसा-लंकार और देवागमालंकार इन नामोंसे भी साहित्यमें उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं 'अष्टसहस्री' भी कहा है।^३ देवागमकी जितनी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं उनमें यह विस्तृत और प्रमेयबहुल व्याख्या है। इसमें देवागमकी कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशतीके प्रत्येक पद-वाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है कि यदि दोनोंको भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपोंमें न रखा जाय तो पाठकको यह जानना कठिन है कि यह अष्टशतीका अंश है और यह अष्टसहस्रीका। विद्यानन्दने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्यकी आवश्यक एवं अर्थोपयोगी सान्दर्भिक वाक्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्रवाल-न्यायसे अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शनी अद्भुत प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह देवागमालंकृति न रचते तो अष्टशतीका गूढ़ रहस्य अष्टशतीमें ही छिपा रहता और मेधावियोंके लिए वह रहस्यपूर्ण बनी

१. 'इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥छ॥१०॥'

२. अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ।

विलसदकलंकषिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥—अष्टस. पृ. १७८ ।

३. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यातैः ।

विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥—अष्टस. पृ. १५७ ।

रहती। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानोके अतिरिक्त इसमें विद्यानन्दने कितना ही नया विचारपूर्ण प्रमेय और अपूर्व चर्चाएँ भी प्रस्तुत की हैं। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याके महत्त्वकी उद्घोषणा करते हुए लिखा है कि 'हजार शास्त्रोंका पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है; क्योंकि इस एकके अभ्याससे ही स्वसमय और पर-समय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।' व्याख्याकारकी यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वयं इसकी निर्णायिका है। देवागममें यतः दश परिच्छेद हैं अतः उसके व्याख्यानस्वरूप अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका आरम्भ और समाप्ति दोनों एक-एक गम्भीर पद्य द्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभद्र (१३वीं शती) ने 'अष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषमपदों, वाक्यों और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती हैं। यह देवागमालंक्रुति कोई ६५ वर्ष पूर्व सन् १९१५ में सेठ नाथारंगजी गांधी द्वारा एकबार प्रकाशित हो चुकी है। पर वह अब अप्राप्य है। अब आधुनिक सम्पादनके साथ इसका दूसरा शुद्ध संस्करण प्रकट होना चाहिए।

३. देवागम-वृत्ति—

यह देवागमकी लघुपरिमाणकी व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह दुरुह है और न अष्टसहस्रीके समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओंका व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्योंका शब्दार्थ और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेपमें प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ, कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिए यह वृत्ति पर्याप्त उपयोगी है। इसके रचयिता आ. वसुनन्दि हैं, जिन्होंने वृत्तिके अन्तमें स्वयं लिखा है कि 'मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकारके लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण किया है।' वृत्तिकारके इस स्पष्ट आत्मनिवेदनसे इस वृत्तिकी लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है। उल्लेखनीय है कि वसुनन्दिके समक्ष देवागमकी ११४ कारिकाओंपर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि कारिकाको विद्यानन्दके उल्लेखानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्यकी देवागम-व्याख्याका समाप्ति-मंगल-पद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागमकी ११५वीं कारिका किस आधारपर माना और उसका विवरण किया? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीन कालमें साधुओंमें देवागमका पाठ करने और उसे कण्ठस्थ रखनेकी परम्परा रही है। वसुनन्दिने देवागमको ऐसी प्रतिपरसे कण्ठस्थ किया होगा, जिसमें मूलमात्र देवागमकी ११४ कारिकाओंके साथ उक्त अज्ञात देवागम-व्याख्याका समाप्तिमंगल-पद्य भी अंकित कर दिया गया होगा और

१. 'श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य...देवागमाख्याः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतावस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय।'।

उसपर ११५ का अंक डाल दिया होगा। वसुनन्दिने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओंपरसे जानकारी एवं अनुसन्धान किये बिना देवागमका अर्थ हृदयंगम रखनेके लिए यह देवागम-वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी (११५) कारिकाओंका विवरण लिखा होगा। यही कारण है कि प्रस्तुत वृत्तिमें न कहीं अष्टशतीके पद वाक्यादिका निर्देश मिलता है और न कहीं अष्टसहस्रीके। अस्तु। यह देवागमवृत्ति कलकत्ताकी सनातन जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९१४ में एक बार प्रकाशित हो चुकी है। यह अब अच्छे संस्करणके रूपमें पुनः मुद्रित होना चाहिए।

देवागमका मूलाधार :

देवागमकी व्याख्याओंका परिचय देनेके बाद उसकी रचनाके मूलाधारपर भी यहाँ विचार किया जाता है।

आ. विद्यानन्दका जैन वाङ्मयमें सम्मानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियोंको आप्त-वचन जैसा माना जाता है। विद्यानन्दके उल्लेखानुसार स्वामी समन्तभद्रने देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें स्तुत आप्तकी मीमांसाके लिए की थी। उनके वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं :—

(१) 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिः.....'

—अष्टस. आदिमङ्गलश्लो. १, पृ. १।

(२) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभूदभेतृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदहंत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोग्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परोक्षेयं विहिता।'—अष्टस., पृ. २९४।

(३) श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य,
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पुथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या..... ॥

—आप्तप. का. १२३, पृ. २६२।

(४) '.....इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमान-स्यान्वयः सम्प्रदायावप्रवच्छेदलक्षणः पदार्थघटनालक्षणो वा लक्षणीयः, प्रपञ्चतस्तदन्व-यस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमालयाप्तमीमांसायां प्रकाश-नात्।'—आप्तप. का. १२०, पृ. २६१-२६२।

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, निःश्रेयसशास्त्र या मोक्षशास्त्र) के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी वन्दना शास्त्रकार आ. उमास्वामीने की है, उन्हीं विशेषणोंकी मीमांसा (सोपपत्ति विचारणा) स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें की है। तात्पर्य यह कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलस्तोत्र आप्तमीमांसाकी रचनाका मूलाधार है। विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावताररचितस्तुति-गोचराप्तमीमांसितं', 'शास्त्रकारैः कृतं यत् स्तोत्रं' 'स्वामिमीमांसितं तत्', 'शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य' 'तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्' जैसे स्पष्ट और अर्थगर्भ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जो आप्तमीमांसाको तत्त्वार्थसूत्रके मंगलस्तोत्रका व्याख्यान अन्दिग्ध घोषित कर रहे हैं। विद्यानन्दने अपने इस कथनको साधार और परम्परागत बतलानेके लिए उसे अकलंकदेवके अष्टशतीगत उस प्रतिपादनसे भी प्रमाणित किया है, जिसमें अकलंकदेवने आप्तकी मीमांसा (परीक्षा) करनेके कारण समन्तभद्रपर किये जाने वाले अश्रद्धालुता और अगुणज्ञताके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए कहा है कि यतः ग्रन्थकारने देवागमादि मंगलपूर्वक की गयी 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवके विषयभूत परमात्माके गुणविशेषोंकी परीक्षाको स्वीकार किया है, इससे उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों बातें स्वयं आपन्न हो जाती हैं, क्योंकि उनमें-से एककी भी कमी रहनेपर परीक्षा सम्भव नहीं है। निश्चय ही ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (तत्त्वार्थ-शास्त्रकी पद्धति—मंगलविधानपूर्वक शास्त्रकरण) का अनुसरण करके ही आप्तमीमांसाकी रचनाका उपक्रम किया है और इससे सहज ही जाना जा सकता है कि उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों हैं। अकलंकका वह प्रतिपादन इस प्रकार है :—

‘देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्।’—अष्टश. अष्टस. पृ. २।

विद्यानन्दने अकलंकदेवके इस प्रतिपादन और अपने उक्त कथनका इसी अष्टसहस्री (पृ. ३) में समन्वय भी किया है और इस तरह अपने निरूपणको उन्होंने परम्परागत सिद्ध करके उसमें प्रामाण्य स्थापित किया है।

‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ स्तोत्र तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण :

जहाँ विद्यानन्द और अकलंकदेवके उपर्युक्त उल्लेखोंसे सिद्ध है कि स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ आदि स्तोत्रके व्याख्यानमें लिखी गयी है वहाँ विद्यानन्दके ही उक्त उल्लेखोंपरसे यह भी स्पष्ट है कि वे उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रका मंगलाचरण मानते हैं। तथा तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थ-शास्त्रसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छरचित दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र ही विवक्षित है।^१ इस सम्बन्धमें पर्याप्त ऊहापोह एवं विस्तारपूर्वक विचार अन्यत्र किया जा चुका है। परन्तु कुछ विद्वान् विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंका साभिप्राय अर्थविपर्यास करके उसे

१. (क) कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं? येन तदारम्भे परमेष्ठितामाध्यानं विधीयत इति चेत् तल्लक्षणयोग्यत्वात्। तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यास्तोत्रेति शास्त्रं तत्त्वार्थः।

—त. श्लो. पृ. २।

(ख) ‘इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।’—आप्तप० का. १२४।

(ग) दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः॥

२. ‘तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण’ शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण, ६-७, १०-११, सन् १९४२ तथा यही ग्रन्थ पृ. ३१ से ६९।

सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दिकी रचना बतलाते हैं।^१ उनका प्रयास है कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविध प्रमाणोंसे निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके विक्रम सं. दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि. सं. सातवीं-आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाय।

यहाँ उनकी स्थापनाओंको देकर उनपर सूक्ष्म और गहराईसे विचार किया जाता है :—

(१) आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि सूत्रकार शब्द केवल आ. उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था।

(२) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपपत्ति-उपस्थापन और उसके परिहारकी चर्चासे स्पष्ट फलित होता है कि विद्यानन्दके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नहीं था।

(३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विशेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी श्लोकके विषयभूत आप्तकी मोमांसा समन्तभद्रने अपनी आप्तमोमांसा में की।

समीक्षा

इन तीनों स्थापनाओंकी यहाँ समीक्षा की जाती है। प्रथम स्थापनाके समर्थनमें विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे कोई ऐसा उल्लेख-प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो। तथ्य तो यह है कि विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकर्ताको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा। जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकर्ताओंके उन्होंने अवतरण दिये हैं उन्हें उन्होंने उनके नामसे या ग्रन्थनामसे या केवल 'तदुक्तम्' कहकर उल्लेखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं। सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दका प्रयोग केवल उमास्वामीके लिए किया है। इस सम्बन्धमें हमने विद्यानन्दके ग्रन्थोंपरसे खोजकर ३३ अवतरण उदाहरणार्थ अन्यत्र दिये हैं,^२ जिनसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दकी प्रकृति अन्य आचार्योंको सूत्रकार या शास्त्रकार लिखनेकी नहीं रही, केवल उमास्वामीके लिए ही इन दोनों शब्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है। किसी लेखकका जो सूत्रलक्षण 'सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते...' उन्होंने कहींसे उद्धृत किया है उससे इतना ही सिद्ध करना उन्हें अभिप्रेत है कि इस लक्षणानुसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंमें सूत्रता है। उससे यह अभिप्राय कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि उन्होंने अन्य लेखकों भी शास्त्रकार या सूत्रकार कहा है।

दूसरी स्थापनाके समर्थनमें जो यह कहा गया है कि उक्त मंगलश्लोककी व्याख्याकारों द्वारा व्याख्या न होनेसे वह तत्त्वार्थसूत्रका मंगलपद्य नहीं है वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि व्याख्याकारोंको यह आवश्यक नहीं है कि वे व्याख्येय ग्रन्थके

१. डॉ. नथमल टाटिया, 'मोक्षमार्गस्य नेतारम् के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि', शीर्षक लेख, मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ पृ. ५६३।

२. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, पृष्ठ २३२।

मंगलाचरणकी भी व्याख्या करें। उदाहरणार्थ श्वेताम्बर 'कर्मस्तव' नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ और 'षडशीति' नामके चतुर्थ कर्मग्रन्थको लीजिए। इनमें मंगलाचरण उपलब्ध हैं। पर उनके भाष्यकारोंने अपने भाष्योंमें उनका भाष्य या व्याख्यान नहीं किया। फिर भी वे मंगलाचरण उन्हीं ग्रन्थोंके माने जाते हैं। एक अन्य उदाहरण और लीजिए, श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमूलके साथ जो ३१ सम्बन्धकारिकाएँ पायी जाती हैं उनका स्वोपज्ञ भाष्यमें कोई व्याख्यान या भाष्य नहीं किया गया। फिर भी उन्हें सूत्रकार-रचित माना जाता है। बात यह है कि व्याख्याकार मूलके उन्हीं पदों और वाक्योंकी व्याख्या करते हैं जो कठिन होते हैं या जिनके सम्बन्धमें विशेष कहना चाहते हैं। जो पदवाक्यादि सुगम होते हैं उन्हें वे 'सुगमम्' कहकर या बिना कहे अव्याख्यात छोड़ देते हैं। 'मोक्षमार्गस्य' श्लोक भी सुगम है। इसीसे उसकी व्याख्याकारोंने व्याख्या नहीं की। अतः उक्त श्लोकको अव्याख्यात होनेसे सूत्रकार-कृत असिद्ध नहीं कहा जा सकता।

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गयी है कि विद्यानन्दको यदि उक्त मंगल-स्तोत्र उमास्वामी प्रणीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे' आदि सौत्थानिका वाक्य द्वारा अनुपपत्तिस्थापन और उसका परिहार न कर उसीका यहाँ निर्देश करते। इस सम्बन्धमें हम इतना ही पूछना चाहते हैं कि स्थापनाकारने उक्त उत्थानिकावाक्य सहित पद्योंसे उक्त अर्थ कैसे निकाला? क्योंकि विद्यानन्दने यहाँ केवल उस प्रसंगोपात्त अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है जिसमें अनुपपत्तिकारने कहा है कि तत्त्वार्थशास्त्रका प्रथमसूत्र युक्त नहीं है, क्योंकि वह मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष न होनेपर भी किसी प्रतिपाद्यविशेषकी जिज्ञासामें ही प्रवृत्त हुआ (रचा गया) है? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए वे कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगल-स्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, वीतराग और मोक्षमार्गके नेताकी स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ता-विशेष है, उसके सद्भावमें प्रतिपाद्यविशेषकी जिज्ञासा होनेपर भावी श्रेयसे युक्त होने वाले ज्ञान-दर्शनस्वरूप आत्माके ज्ञानार्थ सूत्रकारद्वारा प्रथम सूत्रकी प्रवृत्ति (रचना) संगत ही है। विद्यानन्दका वह पूरा स्थल इस प्रकार है:—

'ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्तायामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।

सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥

सत्यां तत्प्रतिपित्तायामुपयोगात्मकात्मनः ।

श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम् ।'

—त. श्लो. पृ. ४।

विद्यानन्दने यहाँ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे' और 'मोक्षमार्गस्य

नेतरि' पदोंके द्वारा आपके जिन गुणोंका उल्लेख किया है वे वही हैं जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्रमें अभिहित हैं—उन्हींका यहां उन्होंने अनुवाद (पुनः कथन) किया है । 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' पदके द्वारा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने उक्त विशेषणोंसे आपकी स्तुति करनेके बाद ही आदिसूत्र रचा । हमें आश्चर्य है कि विद्यानन्दके जो उल्लेख स्थापनाकारके रचमात्र भी साधक न होकर उनके लिए 'स्ववधाय कृत्योत्थापन' रूप हैं उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस क्यों किया जाता है ।

तीसरी स्थापनामें जो उक्त स्तोत्रके व्याख्यानस्वरूप आपमीमांसाके लिखे जानेकी बात कही गयी है उसमें कोई विवाद नहीं है । पर जब उस स्तोत्रको विद्यानन्दके उल्लेखों द्वारा, जो स्थापनाकारके अभिप्रायके लेशमात्र भी साधक नहीं हैं, पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की जाती है, तब भारी आश्चर्य होता है । 'प्रोत्थानारम्भकाले' इस आप्तपरीक्षागत पदका सीधा और प्रकरणसंगत अर्थ है—प्रयत्नारम्भसमयमें अथवा अवतरणारम्भसमयमें । परन्तु इस सीधे अर्थको अंगीकार न कर उसका अर्थ किया गया है कि 'उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक, अतएव प्रोत्थान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अतएव 'प्रोत्थानारम्भकाले' का अर्थ हुआ व्याख्यानारम्भकाले' । प्रश्न है कि प्रकृष्टज्ञानसे वृत्ति या व्याख्यानका ग्रहण कैसे कर लिया गया ? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोतसे । यदि विद्यानन्दको उक्त स्तोत्र पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) का बताना इष्ट होता, तो वे इतना बुद्धि-व्यायाम न कर पाठकोंको उलझनमें न डालते और 'प्रोत्थानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे । इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृतं' के स्थानपर 'वृत्तिकारैः कृतं' दे सकते थे । इससे श्लोककी रचनामें कोई क्षति भी नहीं होती । किन्तु विद्यानन्दको यह सब इष्ट ही नहीं था । वे असन्दिग्ध रूपमें उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थशास्त्रका मानते थे और उसे शास्त्रकार—न कि वृत्तिकार रचित स्वीकार करते थे और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आ. गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) ही अभिप्रेत थे ।

अतः विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत उक्त उल्लेख, अष्टसहस्रीमें आये 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया' आदि निर्देश और आप्तपरीक्षागत 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः' प्रोत्थानारम्भकाले' शास्त्रकारैः कृतं यत् । स्तोत्रं', 'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा ।' आदि उल्लेखोंसे असन्दिग्ध है कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्रका कर्ता शास्त्रकारको मानते हैं और 'शास्त्रकार' से उन्हें एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रकार आ. गृद्धपिच्छ ही विवक्षित हैं, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दि नहीं । विद्यानन्दने अपने सभी ग्रन्थोंमें 'शास्त्रकार' और 'सूत्रकार' पदोंका प्रयोग केवल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके लिए किया है । इसी प्रकार तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र या निःश्रेयस-शास्त्र शब्दका प्रयोग भी उन्हींके तत्त्वार्थसूत्रके लिए हुआ है, व्यापक या अन्य अर्थमें नहीं, यह हम ऊपर देख चुके हैं ।

युक्त्यनुशासन

(क) नाम

देवागमके उपरान्त स्वामी समन्तभद्रने जिस महत्त्वपूर्ण कृतिको रचना की वह 'युक्त्यनुशासन' है। टीकाकार आचार्य विद्यानन्दने अपनी टीकाके आरम्भ, मध्य और अन्तमें इसका इसी नामसे उल्लेख किया है। आदिवाक्यमें,^१ जो मंगलाचरण या जयकारपद्यके रूपमें है, समन्तभद्रके इस स्तोत्रका जयकार करते हुए उन्होंने इसका नाम स्पष्टतया 'युक्त्यनुशासन' प्रकट किया है। कारिका ३९ की टीका-समाप्तिपर, जहाँ प्रथम प्रस्ताव पूर्ण हुआ है और जो प्रायः ग्रन्थका मध्य भाग है, एक पद्य^२ तथा पुष्पिका-वाक्यमें^३ भी विद्यानन्दने प्रस्तुत स्तोत्रका नाम 'युक्त्यनुशासन' बतलाया है। इसके अतिरिक्त टीकाके अन्तमें दिये गये दो समाप्तिपद्योंमें-से दूसरे पद्यमें^४ और टीकासमाप्ति-पुष्पिकावाक्यमें^५ स्वामी समन्तभद्रकी कृतिके रूपमें इसका 'युक्त्यनुशासन' नाम स्पष्टतः निर्दिष्ट है।

हरिवंशपुराणके कर्ता आचार्य जिनसेन^६ (वि. सं. ८४०) ने भी अपने इसी पुराणके आरम्भमें पूर्ववर्ती आचार्योंके गुणवर्णन-सन्दर्भमें समन्तभद्रकी एक कृतिका नाम 'युक्त्यनुशासन' दिया है और उन्हें उसका कर्ता कहा है। आश्चर्य नहीं, उनकी वह 'युक्त्यनुशासन' नामसे उल्लिखित कृति प्रस्तुत कृति ही हो।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि उक्त नाम स्वयं समन्तभद्रके लिए भी इष्ट है या नहीं? यदि इष्ट है तो उन्होंने ग्रन्थके आदि अथवा अन्तमें वह नाम निर्दिष्ट क्यों नहीं किया? इसका उत्तर यह है कि उपर्युक्त नाम स्वयं समन्तभद्रकी है। यद्यपि उन्होंने वह नाम ग्रन्थके न आरम्भमें दिया है और न अन्तमें, तथापि ग्रन्थके मध्यमें वह नाम उपलब्ध है। कारिका ४८ में^७ समन्तभद्रने 'युक्त्यनुशासन' पदका प्रयोग करके उसकी सार्थकता भी प्रदर्शित की है। उन्होंने बतलाया है कि 'युक्त्यनुशासन' वह शास्त्र है, जो प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोध अर्थका प्ररूपक है। अर्थात् युक्ति (हेतु), जो प्रत्यक्ष और आगमके विरोध नहीं है, पूर्वक तत्त्व (वस्तुस्वरूप) की

१. प्रमाण-नय-निर्णीत-वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।

जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम् ॥

—युक्त्य. टी. पृ. १, मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।

२. स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः ।—वही, पृ. ८९ ।

३. इति युक्त्यनुशासने परमेश्विस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः ।—वही, पृ. ८९ ।

४. प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्वाद्धादमार्गानुगैः ।—वही, पृ. १८२ ।

५. इति श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यकृतो युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः ।—वही, पृ. १८२ ।

६. जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।—हरि. पु. १-३०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।

७. 'दृष्टागमाभ्यामविरोधमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।'

व्यवस्था करनेवाले शास्त्रका नाम युक्त्यनुशासन है।' जो अर्थप्ररूपण प्रत्यक्षविरुद्ध अथवा आगमविरुद्ध है वह युक्त्यनुशासन नहीं है। साध्याविनाभावी साधनसे होने-वाला साध्यार्थ (अभिप्रेत अनुमेयार्थ) प्ररूपण युक्त्यनुशासन है।^१ युक्त्यनुशासनकी यह परिभाषा प्रस्तुत ग्रन्थमें पूर्णतया पायी जाती है। अपनी इस परिभाषाके समर्थनमें समन्तभद्रने^२ एक उदाहरण भी उपस्थित किया है। वह इस प्रकार है— 'अर्थरूप (वस्तुस्वरूप) स्थिति, उत्पत्ति और विनाश इन तीनोंको प्रतिसमय लिये हुए ही तत्त्वतः व्यवस्थित होता है, क्योंकि वह सत् है।' इस उदाहरणमें जिस प्रकार वस्तुका स्वरूप उत्पादादित्रयात्मक युक्ति (हेतु) पुरस्सर सिद्ध किया गया है उसी प्रकार वीर-शासनमें समग्र अर्थसमूह प्रत्यक्ष और आगमाविरोधी युक्तियोंसे सिद्ध है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष और आगमसे अबाधित तथा प्रमाण और नयसे निर्णीत अर्थप्ररूपण वीरशासनमें ही उपलब्ध होता है और उसी प्रकारका अर्थप्ररूपण समन्तभद्रने प्रस्तुत 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें किया है। अतः प्रत्यक्ष और आगमाविरुद्ध अर्थ (तत्त्व) का प्ररूपण होनेसे वीरशासन युक्त्यनुशासन है और वीर-शासनका ही इस ग्रन्थमें प्ररूपण होनेसे इसे 'युक्त्यनुशासन' नाम दिया जाना सर्वथा उपयुक्त है। और वह नाम उक्त प्रकारसे समन्तभद्र-अभिहित ही है।

परवर्ती विद्यानन्द, जिनसेन (हरिवंशपुराणकार) जैसे मूर्धन्य ग्रन्थकारोंने समन्तभद्रद्वारा दत्त नामसे ही इसका उल्लेख किया है। उन्होंने स्वयं वह नाम कल्पित नहीं किया।

एक प्रश्न और यहाँ उठ सकता है। वह यह कि यदि उक्त नाम स्वयं समन्तभद्रोक्त है तो उसे उन्होंने ग्रन्थके आदि अथवा अन्तमें ही क्यों नहीं दिया, जैसा कि दूसरे ग्रन्थकारोंकी भी परम्परा है। समन्तभद्रने स्वयं अपने अन्य ग्रन्थोंके नाम या तो उनके आदिमें दिये हैं और या अन्तमें। देवागम (आप्तमीमांसा) में उसका नाम आदिमें देवागम और अन्तमें आप्तमीमांसा निर्दिष्ट है। स्वयम्भूस्तोत्रमें उसका नाम आरम्भमें 'स्वयम्भुवा' (स्वयम्भू) के रूपमें पाया जाता है। इसी प्रकार रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें उसका नाम उसके अन्तिम पद्यमें आये '....रत्नकरण्डभावं' पदके द्वारा प्रकट किया है। परन्तु प्रस्तुत युक्त्यनुशासनमें ऐसा कुछ नहीं है?

इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका नाम उसके आदि और अन्तकी तरह मध्यमें भी देते हुए मिलते हैं। उदाहरणके लिए विषापहारकार धनञ्जय-को लिया जा सकता है। धनञ्जयने अपने स्तोत्र 'विषापहार' का नाम न उसके आरम्भमें दिया और न अन्तमें। किन्तु स्तोत्रके मध्यमें एक पद्यमें^३ प्रकट किया है, जिसमें 'विषापहार' पद आया है और उसके द्वारा स्तोत्रका नाम 'विषापहार' बतलाया है। इसी प्रकार समन्तभद्रने इस ग्रन्थके मध्यमें आये 'दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं

१. 'तथा चान्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्साध्यार्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनमिति प्रकाशितं भवति, दृष्टागमाभ्यामविरोधस्यान्यथानुपपत्तेरिति देवागमादौ निर्णीतप्रायम्।'।

—युक्त्य. टी. पृ. १२२, १२३; विद्यानन्द।

२. युक्त्य. का. ४८।

३. 'विषापहारं मणिमौषधानि मंत्रं समुद्दिश्य रसायनं च'।—विषाप० स्तोत्र श्लो० १४।

युक्त्यनुशासनं ते' (का० ४८) इस कारिकावाक्यमें प्रयुक्त 'युक्त्यनुशासन' पदसे इसका 'युक्त्यनुशासन' नाम अभिहित किया है। फलतः उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंमें इसका यही नाम विश्रुत हुआ और उन्होंने इसी नामसे अपने ग्रन्थोंमें निर्देश किया है। अतः इसका मूल नाम 'युक्त्यनुशासन' (युक्तिशास्त्र) है।

मूल ग्रन्थ और उसकी विद्यानन्द-रचित संस्कृत-टीकापरसे इसके अन्य नाम प्राप्त होते हैं। वे हैं—वीरस्तुति, वीरस्तोत्र, परमेष्ठि-स्तोत्र और परमात्म-स्तोत्र। '...स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं' (का० १) इस वाक्यसे 'वीर-स्तुति', 'न रागाग्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ' (का० ६४) और 'स्तुतः शक्त्या... वीरो' (का० ६५) इन पदोंसे तथा 'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः' (टी० पृ० ८९) इस टीका-पद्यसे 'वीर-स्तोत्र', 'इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठि-स्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः' (टी० पृ० ८९) इस मध्यवर्ती टीका-पुष्पिका-वाक्यसे 'परमेष्ठि-स्तोत्र' और 'श्रद्धागुणज्ञतयोरेव परमात्मस्तोत्रे युक्त्यनुशासने प्रयोजकत्वात्' (टी० पृ० १७८) इस टीका-वाक्यसे 'परमात्म-स्तोत्र' ये चार नाम फलित होते हैं। वस्तुतः समन्तभद्रने इसमें भगवान् वीर और उनके शासनका गुणस्तवन किया है। अतः इसके ये नाम भी सार्थक होनेसे फलित हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। ग्रन्थकी प्रकृति इन नामोंको स्पष्टतया बतलाती है।

(ख) नामपर प्रभाव

लगता है कि समन्तभद्रने इसकी रचना नागार्जुनकी युक्तिषष्ठिकासे प्रेरित होकर की है। युक्तिषष्ठिका^१ इकसठ पद्योंकी बौद्ध दार्शनिक कृति है। इसमें नागार्जुन-ने, जो माध्यमिक (शून्याद्वैत) सम्प्रदायके प्रभावशाली विद्वान् हैं, भाव, अभाव आदिरूपसे तत्त्वका निरास करके शून्याद्वैतकी सम्पुष्टि की है। युक्त्यनुशासनमें चौंसठ पद्य हैं और उनमें भाव, अभाव आदि अनेकान्तात्मक वस्तुकी स्याद्वादद्वारा व्यवस्था की गयी है। अतएव युक्त्यनुशासन नागार्जुनकी युक्तिषष्ठिकाके उत्तरमें लिखा गया प्रतीत होता है। युक्तिशब्दसे आरम्भ कर रचे जानेवाले ग्रन्थोंके निर्माणकी परम्परा उत्तरकालवर्ती दार्शनिकोंमें भी रही है। फलतः युक्तिदीपिका (सांख्य-कारिका-व्याख्या) जैसे ग्रन्थ उत्तरकालमें विरचित हुए हैं।

यहाँ उल्लेख्य है कि लंकावतार-सूत्रपद्यकारने^२ बुद्धके सिद्धान्त (देशना) को 'चतुर्विधो नयविधिः सिद्धान्तं युक्तिदेशना ।' (श्लो० २४६) शब्दों द्वारा 'युक्तिदेशना'

१. १० फरवरी १९४७ में शान्तिनिकेतनके शोधकर्ता श्री रामसिंह तोमर द्वारा युक्तिषष्ठिका-के १ से ४० संख्यक पद्योंमेंसे केवल भिन्न संख्यावाले २३ पद्य प्राप्त हुए थे। उनसे ज्ञात हुआ था कि चीनी भाषामें जो युक्तिषष्ठिका उपलब्ध है उसपरसे ही उक्त पद्य संस्कृतमें अनूदित हो सके हैं, शेषका अनुवाद अभी नहीं हुआ है। कम-बढ़ पद्य-संख्या होनेपर भी 'षष्ठिका' कहा जा सकता है। विशतिका, त्रिशतिका आदि नामोंसे रची जानेवाली रचनाओंमें कम-बढ़ श्लोक होनेपर भी वे उन नामोंसे अभिहित हुई हैं।

२. लंकावतारसूत्रपद्यभागकी एक दुर्लभ प्रति, जो खण्डित जान पड़ती है, ३० मार्च ४३ में श्रद्धेय मुस्तार सा. से प्राप्त हुई थी, उसीसे इन पद्योंको हमने अपनी नोटबुकमें लिखा था।

प्रतिपादित किया है। समन्तभद्रने वर्द्धमान-वीरके सिद्धान्त (तत्त्वोपदेश) को 'युक्त्यनुशासन' कहा है। अतः असम्भव नहीं, युक्त्यनुशासन युक्तिदेशनाका भी जवाब ही, क्योंकि दोनोंका अर्थ प्रायः एक ही है, जो 'युक्तिपुरस्सर उपदेश' के रूपमें कहा जा सकता है। अन्तर यही है कि लंकावतारसूत्रपद्यकार बुद्धके उपदेशको 'युक्तिपुरस्सर उपदेश' कहते हैं और समन्तभद्र वीरके उपदेशको। समन्तभद्र इतना विशेष कहते हैं कि उस युक्तिपुरस्सर उपदेशको प्रत्यक्ष और आगमसे अबाधित भी होना चाहिए, मात्र युक्तिबलपर ही उसे टिका नहीं होना चाहिए।

(ग) ग्रन्थ-परिचय

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, युक्त्यनुशासन ६४ पद्योंकी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक रचना है। देवागममें^१ युक्तिपूर्वक आप्त और आप्तके शासन (उपदेश) की मीमांसा करके वह आप्त वीरको और आप्त-शासन वीर-शासनको सिद्ध किया है तथा अन्योको अनाप्त (आप्ताभास) और उनके शासनों (उपदेशों) को अनाप्तशासन बतलाया है। इस मीमांसा (परीक्षा) की कसौटीपर कसे जाने और सत्य प्रमाणित होनेके उपरान्त वीर और उनके स्याद्वाद-शासनकी स्तुति (गुणाख्यान) करनेके उद्देश्यसे समन्तभद्रने इस युक्त्यनुशासनकी रचना की है। यह उन्होंने स्वयं प्रथम कारिकाके^२ द्वारा व्यक्त किया है। उसमें प्रयुक्त 'अद्य' पद तो, जिसका विद्यानन्दने^३ 'परीक्षाके अन्तमें' यह अर्थ किया है, सारी स्थितिको स्पष्ट कर देता है।

टीकाके अनुसार यह ग्रन्थ दो प्रस्तावोंमें विभक्त है। पहला प्रस्ताव कारिका १ से लेकर ३९ तक है और दूसरा कारिका ४० से ६४ तक। यद्यपि ग्रन्थके अन्तमें पहले प्रस्तावकी तरह दूसरे प्रस्तावका नाम-निर्देश नहीं है, व्याख्याकारने 'इति श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यकृतो युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः' इस समाप्ति-पुष्पिकावाक्यके साथ ग्रन्थको समाप्त किया है, तथापि ग्रन्थके मध्य (का. ३९) में जब टीकाकार द्वारा स्पष्टतया प्रथम प्रस्तावकी समाप्तिका उल्लेख किया गया है तो शेषांश द्वितीय प्रस्ताव सुतरां सिद्ध हो जाता है। तथा शेषांशके बीचमें किसी अन्य प्रस्तावकी कल्पना है नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तावोंका यह विभाजन मूलकारकृत है या व्याख्या-कारकृत ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ग्रन्थकारने उनका निर्देश नहीं किया,

१. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

त्वन्मत्तामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।

आप्ताभिमान-दग्धानां स्वेषं दृष्टेन बाध्यते ॥

—देवाग० का० ६, ७, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन, वाराणसी ।

२. कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।

निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाशयपाशबन्धम् ॥—युक्त्य. का. १ ।

३. 'अद्यास्मिन् काले परीक्षावसानसमये' ।—युक्त्य. टी. पृ. १ ।

४. 'इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः ।'—युक्त्य. टी. पृ. ८९; का. ३९ ।

तथापि ग्रन्थके अध्ययनसे अवगत होता है कि उक्त प्रस्ताव-विभाजन ग्रन्थकारको अभिप्रेत है, क्योंकि जिस कारिका (३९) पर व्याख्याकारने प्रस्तावका विराम माना है वहाँ ग्रन्थकारकी विचारधारा या प्रकरण पूर्वपक्षके रूपमें समाप्त है और कारिका ४० से ६४ तक उत्तरपक्ष । पूर्वपक्षमें एकान्तवादोंकी समीक्षा है और उत्तर-पक्षमें अनेकान्तवाद अर्थात् वीर-शासनका निरूपण । विद्यानन्दने ग्रन्थकारके इस अभिप्रायके अनुसार ही दो प्रस्तावोंका स्पष्ट उल्लेख किया है । दोनोंका विषय-परिचय यहाँ प्रस्तुत है:—

१. प्रस्ताव—इसमें १-३९ कारिकाएँ हैं । पहली कारिकामें स्तुतिकारने देवागमके द्वारा सिद्ध निर्दोषता, सर्वज्ञता और आगमेशिता इन तीन गुणोंसे विशिष्ट वर्द्धमान-वीरकी स्तुति करनेकी इच्छा अथवा प्रतिज्ञा की है ।

दूसरीमें स्तुतिका स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि लोकमें उसे स्तुति कहा गया है जिसमें यथार्थताको लांघकर (चढ़ा-बढ़ाकर) गुणोत्कर्षाख्यान (प्रशंसा-गान) किया जाय । पर आप (वीरजिन) भूरि गुणोंके समुद्र हैं और हम (समन्तभद्र) उसके अणुके बराबर भी अंशको कहनेमें असमर्थ हैं । तब हम किस तरह आपकी स्तुति करनेके अधिकारी (स्तोता) हो सकते हैं ?

तीसरीमें उक्त प्रश्नके समाधान रूपमें प्रतिपादन किया है कि फिर भी धृष्टता-का आलम्बन लेकर भक्तिवश अपनी शक्त्यनुसार आपके गुण-कथन द्वारा स्तुतिमें प्रवृत्त हुआ हूँ । क्या उत्साही व्यक्ति दुर्लभ भी इष्ट वस्तुके प्राप्त करनेमें अपनी शक्तिके अनुसार नाना प्रयत्नोंसे उत्साहित (उत्साहयुक्त-प्रवृत्त) नहीं होते ? अर्थात् होते ही हैं ।

चतुर्थ कारिकामें आगे उस गुणाख्यान (स्तुति) के रूपको सीमित शब्दोंमें व्यक्त करते हुए बतलाया है कि हे जिन ! आपने शुद्धि (ज्ञानावरण और दर्शना-वरणके क्षयसे उद्भूत निर्मल ज्ञान-दर्शन) और शक्ति (अन्तरायके अभावसे प्रकट अनन्तवीर्य) के उत्कर्षकी सीमाको, जो अनुपम तथा शान्तिरूप (मोहके नाशसे आविर्भूत प्रशम सुखात्मक) है, प्राप्त किया है । अतः आप ब्रह्म-पथ (मोक्षमार्ग) के नेता (शास्ता) हैं और इसलिए महान् (पूज्य—आप्त) हैं, इतना ही हम देवागममें उठायी उस शक्तीके उत्तररूपमें कह सकते हैं, जिसमें आपको देवागमादि विभूतियोंसे महान् नहीं माना गया है । पर इन गुणोंसे आप महान् माने जाने योग्य हैं ।

पाँचवींमें उस अन्तर्निहित प्रश्नका उत्तर है जिसमें कहा गया है कि जब वीरके महान् होनेसे उनका शासन भी महान् है तो उसका सार्वत्रिक (सभीपर) एकाधिपतित्व क्यों नहीं है—उसके प्रभावकी कमीका कारण क्या है ? समन्तभद्र इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह तथ्य है कि वीर-शासनमें सर्वातिशायि शक्ति (योग्यता) है, पर उसके सार्वत्रिक प्रभावकी कुण्ठाके दो कारण हैं—१. बाह्य और २. आभ्यन्तर । बाह्य कारण कलिकाल है और आभ्यन्तर कारण श्रोताका स्वच्छ अभिप्राय न होना तथा प्रवक्ताकी उक्त शासनके प्रदचनकी कुशलता न होना । इन दो कारणोंसे वीरका शासन सबके द्वारा ग्राह्य नहीं है ।

छठी कारिकामें उक्त वीर-शासनको बतलाते हुए प्रतिपादन किया है कि हे

जिन ! आपका मत (शासन) दया (अहिंसा), दम (इन्द्रिय और मनोनिग्रहरूप संयम), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (ध्यान) का मुख्यतया प्रश्रयदाता तथा नयों (सापेक्ष दृष्टियों) और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अर्थरूप (वस्तुतत्त्व) का यथार्थ निश्चायक है । साथ ही वह अन्य समस्त प्रवादों (एकान्तमतों) से अधृष्य (अजेय-अबाध्य) है । अतएव वह अद्वितीय है ।

आगेकी कारिकाओंमें उन प्रवादोंकी समीक्षापूर्वक वीरशासनमें अभिमत वस्तुका स्वरूप विवेचित है ।

सर्वप्रथम सातवीं कारिकामें भेद और अभेदके निरपेक्ष उभयवाद, सर्वथा अभेदवाद और सर्वथा भेदवादकी मोमांसा करते हुए बतलाया है कि हे वीर जिन ! आपके द्वारा प्रतिपादित वस्तुका स्वरूप अभेद (एक, द्रव्य, सामान्य, नित्य) और भेद (अनेक, पर्याय, विशेष, अनित्य) दोनों रूप है । स्वतन्त्र (निरपेक्ष) दोनों अथवा केवल अभेद या केवल भेदरूप वस्तु खपुष्पकी तरह असत् (सिद्ध नहीं होती) है । समवाय-सम्बन्ध किसी दूसरे समवाय-सम्बन्धसे सम्बन्धित न होनेसे भेद-अभेद (अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, सामान्यवान्-सामान्य, विशेषवान्-विशेष) का व्यवस्थापक नहीं हो सकता । फलतः समवाय व्यवस्थित न होनेपर संयोग, विशेषण-विशेष्य, एकार्थसमवाय आदि सम्बन्धोंकी भी व्यवस्था न हो सकनेसे संसर्ग (समस्त सम्बन्धों) की हानि (अभाव) से उनके समस्त सम्बन्धियों—द्रव्य-गुणादि पदार्थोंकी भी हानि सुनिश्चित है । इसी प्रकार सर्वथा अभेदवाद (सांख्य-वेदान्तमत) और सर्वथा भेदवाद (बौद्धमत) भी निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि सर्वथा एकान्तमें बन्धादि असम्भव हैं ।

कारिका ८-३४ में सांख्योंके अभेदवाद-नित्यवाद, सौत्रान्तिक बौद्धोंके भेदवाद-क्षणिकवाद, विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धोंके विज्ञानवाद और माध्यमिक बौद्धोंके शून्यवादकी विस्तृत एवं कड़ी समीक्षा करके उन्हें आठवीं कारिकामें उक्त 'समन्तदोषं मतमन्यदीयम्' अपने इस कथनके अनुसार सब तरहसे सदोष सिद्ध किया है और फलित किया है कि छोटी कारिकामें जो वीरके स्याद्वाद-शासनकी निर्दोष एवं अद्वितीय बतलाया गया है वह युक्त है ।

कारिका ३५-३६ में चार्वाकों (भौतिकवादियों) की उस प्रवृत्ति (मान्यता) की, जो 'शिशोदर-पुष्टि-तुष्टि'—'विषय भोगो और पेट भरो' इसमें ही तुष्ट रहना अर्थात् 'खाओ-पिओ और मजामोज उड़ाओ, रूप है और लोकको पतनकी ओर ले जानेवाली है, खेदके साथ मोमांसा की गयी है ।

कारिका ३७, ३८ और ३९ में प्रवृत्तिरक्त एवं शम-तुष्टिरक्त मोमांसकोंकी उन अनाचारसमर्थक क्रियाओंकी आलोचना है, जिनमें मांसभक्षण, मदिरापान और मैथुन-सेवनको दोष न मानकर उनका खुले आम समर्थन किया है^१ । समन्तभद्र कहते हैं कि उक्त प्रवृत्तियाँ निश्चय ही लोकके पतनकी कारण हैं, क्योंकि जगत् स्वभावतः स्वच्छन्दवृत्ति है और उसे कहींसे समर्थन (असद् वृत्तियोंकी विधेयताका प्रोत्साहन) मिल जानेपर और अधिक स्वच्छन्द (स्वेच्छाचारी) हो जाता है । अतः इस तम

१. न मांस-भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां.....॥

—उद्धृत, युक्त्य. टी. पृ. ८३ ।

(अज्ञानान्धकार) को दूर करनेके लिए शम, सन्तोष, संयम, दया और समाधिरूप वीर-शासन ही सुप्रभात है ।

इस प्रकार संक्षेपमें इस प्रस्तावमें एकान्तमतोंको सदोष और अनेकान्तमत (वीरशासन) को निर्दोष युक्तिपुरस्सर प्रतिपादन किया है । विस्तारपूर्वक इन दोनों-का कथन समन्तभद्रके देवागममें उपलब्ध है ।

२. प्रस्ताव—इस प्रस्तावमें ४०-६४ तक २५ कारिकाएँ हैं । ४० से लेकर ६०वीं कारिका तक २१ कारिकाओंमें वीर-जिनके द्वारा प्ररूपित अर्थतत्त्व (वस्तुस्वरूप) का सयुक्तिक विवेचन किया गया है, जिसका संकेत 'अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्व' (का.७) इस कारिकामें उपलब्ध है । वस्तुतः इन कारिकाओंमें, वीर-शासनमें वस्तुका स्वरूप किस प्रकारका व्यवस्थित है, इसीका मुख्यतया प्रतिपादन है—एकान्तवादोंमें स्वीकृत वस्तुस्वरूपका प्रदर्शन यहाँ गौण है—वह प्रथम प्रस्तावमें अभिहित हो चुका है । सामान्य और विशेष, एक और अनेक, द्रव्य और पर्याय, नित्य और अनित्य इन्हें जैन दर्शनमें किस रूपमें स्वीकार किया गया है ? क्या सामान्यमें विशेष या विशेषोंमें सामान्य, एकमें अनेक या अनेकोंमें एक, द्रव्यमें पर्याय या पर्यायोंमें द्रव्य, नित्यमें अनित्य या अनित्योंमें नित्य निष्ठ (अनुस्यूत—रहता) है ? इसका उत्तर कारिका ४० में देते हुए समन्तभद्र कहते हैं कि जितने विशेष हैं वे सब सामान्यमें निष्ठ हैं । यदि विशेषोंमें सामान्यको निष्ठ माना जाये तो किसी एक विशेषके अभाव होनेपर उसके सामान्यका भी अभाव प्रसक्त होगा, क्योंकि आधारके बिना आधेय नहीं टिक सकता । अन्य विशेष भी आने-जानेवाले होनेसे उनके अभावमें सामान्यकी स्थिति सम्भव नहीं है । यही न्याय द्रव्य-पर्याय आदिके विषयमें है ।

विशेष सामान्यनिष्ठ क्यों हैं, इसका कारण यह है कि वक्ता जो पद-प्रयोग करता है उसके द्वारा विवक्षित विशेषके अभिधानके साथ-साथ विशेषान्तरोंका सूचन होता हुआ उन (विशेषों) से आत्मभूत सामान्यका भी सूचन (प्रकाशन) होता है, क्योंकि वह विशेष अपने आत्मभूत अन्य विशेषों तथा आधारभूत सामान्यसे अविष्वग्भाव सम्बन्ध रखता है । तात्पर्य यह कि प्रत्येक पद विवक्षित विशेषका मुख्यरूपसे प्रतिपादन करता है और गौणरूपसे अन्य समस्त विशेषों एवं उनसे आत्मभूत सामान्यका सूचन करता है—उनका वह निषेध अथवा अस्वीकार नहीं करता । इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक पदका स्वभाव विवक्षित विशेषको कहते हुए उससे कथंचित् अभिन्न सभी विशेषों और उनके आधारभूत सामान्यको भी, जो अविवक्षित हैं, गौणरूपसे सूचित करनेका है । विशेषकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल सामान्य और सामान्यकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल विशेष प्रतीत न होनेसे दोनों अवस्तु हैं, उन्हें पद बोधित नहीं करता । अतएव परस्पर निरपेक्ष उभय और दोनोंके सर्वथा निषेधरूप अनुभयको भी पद बोधित नहीं करता । किन्तु इन (सर्वथा सामान्य, सर्वथा विशेष, सर्वथा उभय और सर्वथा अनुभय) से विलक्षण (जात्यन्तर) सामान्य-विशेषात्मक, एकानेकात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक और नित्यानित्यात्मक वस्तुको पद मुख्य और गौणरूपसे प्रकाशित करता है और तभी वह सत्यकोटिमें आता है, क्योंकि प्रतिपत्ताकी उस पदसे उसी प्रकारकी वस्तुमें प्रवृत्ति, प्रतीति और प्राप्ति देखी जाती है ।

अतः वक्ताका वचन (पद) विशेष सहित सामान्यका प्रकाशक होनेसे विशेषोंका आश्रय सामान्य है अर्थात् विशेष सामान्यनिष्ठ हैं।

अब प्रश्न है कि यदि प्रत्येक पद सामान्यविशेषात्मक वस्तुका प्रकाशक है, तो श्रोताको अविवक्षितका परिहार करके विवक्षितकी ही प्रतिपत्ति कैसे होगी, क्योंकि आपकी दृष्टिसे पद किसीका व्यवच्छेदक नहीं है—वह सभी विशेषों और सामान्यका प्रकाशक है ? इसका उत्तर ग्रन्थकारने कारिका ४१, ४२, ४३, और ४४ में दिया है। वे कहते हैं कि वक्ता जब अपने अभिप्रेत अभिधेयका श्रोताको ज्ञान करानेके लिए पदका प्रयोग करता है तो उसका अभिप्राय उस पदप्रयोगसे श्रोताको अभिप्रेतका अवधारण करानेका होता है और इसलिए वह, विवक्षितका ही श्रोताको बोध हो, प्रत्येक पदके साथ अवधारणार्थक एवकार पदका भी प्रयोग करता है और उससे अस्वार्थ (अविवक्षित) का व्यवच्छेद करके स्वार्थ (विवक्षित) का बोध कराया जाता है। अतः स्याद्वाद-शासनमें प्रत्येक पद एवकार सहित होता है। यदि किसी पदके साथ वक्ता उसका प्रयोग नहीं करता है तो भी वह वहाँ सामर्थ्यसे अवश्य लभ्य रहता है जिसे समझदार श्रोता समझ लेता है। पर वह प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य रहता है।

एवकारसे जहाँ अस्वार्थका व्यवच्छेद होकर स्वार्थकी प्रतिपत्ति श्रोताको करायी जाती है वहाँ उससे एक अनिष्ट-प्रसंगके भयकी सम्भावना रहती है। वह यह कि श्रोता यह मान बैठे कि वस्तु विवक्षित स्वार्थवाली ही है—अविवक्षित अस्वार्थ-वाली नहीं है जब कि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। उदाहरणार्थ यह कहा जाय कि 'देवदत्त पिता ही है' तो यह कथन उसके पुत्रकी अपेक्षा ठीक होते हुए भी उसके अपने पिता आदिकी अपेक्षा ठीक नहीं है, क्योंकि उनकी अपेक्षा तो वह पुत्र आदि भी है। अतएव इष्ट (अभिप्रेत) की सम्प्रतिपत्तिके लिए जहाँ वक्ता अपने वचन-प्रयोगके साथ विवक्षितके निश्चयका बोधक अवधारणार्थक एवकारका प्रयोग आवश्यक समझता है वहाँ अनिष्ट-निवृत्ति (अनभिप्रेतोंके अभाव-प्रसंगके निराकरण) के लिए वह 'स्यात्' निपातपदका भी प्रयोग करता है, जिसका अर्थ है कि देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षासे पिता ही है, पर अपने पिता, मामा आदिकी अपेक्षासे अपिता आदि भी है—उनकी दृष्टिसे तो वह पुत्र, भानजा आदि है। अतएव 'देवदत्त स्यात् पिता ही है' ऐसा वचनप्रयोग न्याय्य है और वही वक्ताके लिए अभीष्ट है। यहाँ 'स्यात्' निपातपद संशय या सम्भावना या शायदका बोधक नहीं है, अपितु एक निश्चित दृष्टि या अभिप्रायका प्रकाशक है। इसी अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिए स्वामी समन्तभद्रने एवकारपद-प्रयोगके समर्थनके साथ ही प्रत्येक पदको 'स्यात्' पदसे भी युक्त प्रतिपादित किया है। इस 'स्यात्' पदके प्रयोगसे वक्ता श्रोताको अविवक्षितोंके सद्भाव (अभाव नहीं) का बोध कराता है। अतः स्याद्वादी वक्ता और श्रोता स्याद्वादनयसे वस्तुका अभिधान करता तथा उसे समझता है। अतएव उपर्युक्त आशंकित अनिष्ट-प्रसंगरूप भय (हानि) की सम्भावना नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदके साथ प्रयुक्त एवकारसे जहाँ विवक्षितका निश्चय बोधित होता है वहाँ स्यात्-पदके प्रयोगसे अविवक्षितोंके अभाव-प्रसंगकी निवृत्ति भी की जाती है अर्थात् उनका गौणरूपसे मौन

सद्भाव स्वीकृत रहता है—अविवक्षाके कारण उनका अभाव नहीं हो जाता—मात्र उनका निश्चय अबोधित है ।

यदि वक्ताके पदप्रयोगके साथ 'स्यात्' निपात न भी प्रयुक्त हो, तब भी उसका तदर्थक अभिप्राय रहनेसे वह सामर्थ्यसे एवकारकी तरह गम्य हो जाता है । इस प्रकार ग्रन्थकारने^१ वक्ताके प्रत्येक पदप्रयोगके साथ एवकार और 'स्यात्' निपात दोनोंके प्रयोगका प्रकट या अप्रकटरूपमें समर्थन किया है । ध्यान रहे 'स्यात्' निपात उन अनभिप्रेतों (विरोधी धर्मों) का मात्र सद्भाव द्योतित (प्रकाशित) करता और मूल पद (घड़ा है आदि) अभिप्रेत (विवक्षित) का मुख्यतया प्रतिपादन करता है तथा एवकार उसके निश्चयका अवबोधक होता है । यही प्रतिपादन समन्तभद्रने 'कथञ्चित् सदेवेष्टं' (दे. का. १४)—वस्तु 'कथञ्चित् सत् ही है' इत्यादि रूपसे विस्तारपूर्वक देवागममें किया है ।

वक्ताके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले जिस पदका उल्लेख ऊपर किया गया है उसका प्रयोग वक्ता एक प्रतिपाद्य अथवा अनेक प्रतिपाद्योंके लिए सात तरहसे करता है । अतएव सात विकल्पोंमें वह विभक्त होता है । वे सात विकल्प इस प्रकार हैं— १. विधि, २. निषेध और ३. अनभिलाप्यता ये तीन तो एक-एककी अपेक्षा (असंयोगी) मूल विकल्प (भंग) हैं तथा दो-दोके संयोगसे निष्पन्न तीन द्विसंयोगी विकल्प हैं— ४. विधि-निषेध, ५. विधि-अनभिलाप्यता और ६. निषेध-अनभिलाप्यता । तीनके संयोगसे होनेवाला एक त्रिसंयोगी विकल्प है । वह है— ७. विधि-निषेध-अनभिलाप्यता । और इस तरह वक्ता पदका प्रयोग सात तरहसे करता है । इसका कारण यह है कि प्रतिपाद्य, जिसे समझानेके लिए वक्ता पद प्रयुक्त करता है, सात तरह प्रश्न करता है । उसके सात प्रश्नोंका कारण उसके सात सन्देह हैं, उसके सात सन्देहोंका कारण उसकी सात जिज्ञासाएँ हैं और उसकी उन सात जिज्ञासाओंका भी कारण वस्तुनिष्ठ सत्त्वादि सात धर्म हैं, जो उसमें स्वभावतः विद्यमान हैं । इन सात धर्मोंको लेकर ही प्रतिपाद्यको सप्तजिज्ञासादिक्रमसे सात प्रश्नोंके करनेका अवसर मिलता है । फलतः वक्ता उक्त सप्तसंख्यक प्रश्नोंका उत्तर भी सप्तपदों (सप्तपदी—सात वाक्यों) द्वारा देता है । उसके इन सप्त उत्तरपदोंको ही स्याद्वाद-शासनमें सप्तभंग या सप्तभंगी के नामसे उल्लेखित किया गया है । ये सातों भंग सभी जीवादिपदार्थधर्मोंमें 'स्यात्' शब्द द्वारा नेतव्य (योजनीय) हैं । कारिका ४५ में यही सब निरूपण किया गया है ।

कारिका ४६ में बतलाया है कि 'स्यात्' शब्द भी उन जीवादिपदार्थधर्मों (एकांतों) को मुख्य और गौणकी विवक्षाओं द्वारा ही कल्पित (निरूपित) करता

१. 'ततः स्यात्कारलाञ्छनं पदमेवकारोपहितमर्थवत् प्रतिपत्तव्यमिति' ।

—विद्यानन्द, युक्त्य. टी., पृ. १०४ ।

२. '.....सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव संभवात्, प्रश्नवशादेव सप्त-भङ्गोति नियमवचनात् । सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघट-नात् । सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात् ।'

—अष्टस., पृ. १२५-१२६ ।

है, क्योंकि वह उपाधि (विशेषण) के अनुसार भेदक होता है। तात्पर्य यह कि जिस धर्मकी विवक्षा होती है वह मुख्य और जिसकी विवक्षा नहीं होती वह गौणरूपसे 'स्यात्' शब्द द्वारा प्रकाशित होता है। यही कारण है कि प्रथम भंगमें विधिधर्मकी विवक्षा होनेसे वह मुख्यतया प्रतिपादित है और शेष निषेध आदि धर्मोंकी विवक्षा न होनेसे वे गौणतया द्योतित हैं। इसी प्रकार द्वितीय भंगमें निषेधधर्म, तृतीयमें अनभिलाप्यताधर्म, चतुर्थमें विधि-निषेधधर्म, पंचममें विधि-अनभिलाप्यताधर्म, षष्ठमें निषेध-अनभिलाप्यताधर्म और सातवें भंगमें विधि-निषेध-अनभिलाप्यताधर्मकी विवक्षा होनेसे वे प्रधानतया प्रतिपादित हैं तथा शेष धर्मोंकी विवक्षा न होनेसे वे गौणरूपसे सूचित हैं। इस प्रकारके वैशिष्ट्यका प्रकाशन प्रत्येक भंगमें प्रकट या अप्रकटरूपमें रहनेवाला 'स्यात्' निपात ही करता है। यह सामर्थ्य किसी अन्य शब्दमें नहीं है। आचार्य समन्तभद्रने इसी तथ्यको 'धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः' (देवा. का. २२)—अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक-एक धर्मका प्रयोजन अन्य ही है। उन अनन्त धर्मोंमेंसे अन्यतम धर्मको प्रधान होनेपर शेष सभी धर्म उसके अंग (अप्रधान) हो जाते हैं—देवागमकी इस कारिकामें प्रकट किया है।

यहाँ ध्यातव्य है कि 'स्यात्' निपात जहाँ नयकी अपेक्षासे वस्तुधर्मों—एकान्तोंका मुख्य-गौणभावसे प्रकाशन करता है वहाँ वह प्रमाणकी अपेक्षासे अशेष जीवादितत्त्व—अनेकान्तका भी बोध कराता है, क्योंकि तत्त्व दो प्रकारका है—द्रव्यरूप और पर्यायरूप। अथवा विधिरूप और निषेधरूप। दोनोंके समुच्चयका नाम अनेकान्त है और एक-एक किन्तु परस्पर-सापेक्ष दोनों एकान्त हैं। एकान्त नयका विषय है और अनेकान्त प्रमाणका। नयवाक्यसे जिस प्रकार एकान्तका बोध होता है उसी प्रकार प्रमाणवाक्यसे अनेकान्तका। 'सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशो नयाधीनः।' अतः नयवाक्यकी तरह प्रमाणवाक्यके साथ भी वक्ता 'स्यात्' निपातका प्रयोग करता है। अतएव सप्तभंगी दो प्रकारकी मानी गयी है—१. नयसप्तभंगी और २. प्रमाणसप्तभंगी। नयसप्तभंगीका विषय सम्यक् एकान्त है और प्रमाणसप्तभंगीका सम्यक् अनेकान्त। इसी भावका प्रकाशन ग्रन्थकारने इस कारिकामें किया है।

कारिका ४७ में निर्देश है कि स्याद्वाद-शासनमें न सर्वथा द्रव्य व्यवस्थित है, क्योंकि पर्यायोंसे रहित केवल द्रव्यकी प्रतीति नहीं होती, न सर्वथा पर्यायें स्वीकृत हैं, क्योंकि द्रव्यसे रहित मात्र पर्यायोंका प्रत्यक्षादिप्रमाणसे अनुभव नहीं होता, न सर्वथा पृथग्भूत (परस्परनिरपेक्ष) द्रव्य और पर्यायें दोनों अंगीकृत हैं, क्योंकि उनकी भी किसी प्रमाणसे प्रतीति नहीं होती, और न सर्वथा द्वायात्मक एक तत्त्व अभिमत है, क्योंकि द्वायात्मकता और एकत्व दोनों विरुद्ध हैं। द्वायात्मक माननेपर उसे एक और एक माननेपर द्वायात्मक स्वीकार नहीं किया जा सकता। द्रव्य और पर्यायें दोनों प्रत्यक्षादिसे प्रतिभासमान होते हैं। अतः दोनों स्याद्वाद-दर्शनमें अभिमत हैं और वे तीन तरहसे स्वीकृत हैं—१. कथंचिद् भिन्न, २. कथंचिद् अभिन्न और ३. कथंचिद् भिन्नाभिन्न। उन्हें सर्वथा भिन्न, सर्वथा अभिन्न और सर्वथा भिन्नाभिन्न स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उसमें उपर्युक्त प्रकारसे प्रत्यक्षादिसे विरोध आता है। जब पर्यायाधिकनयकी प्रधानताको लक्ष्यमें रखा जाता है तब द्रव्य और पर्याय कथंचिद्

भिन्न हैं। तथा जब द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यताको दृष्टिमें लाया जाता है तब द्रव्यसे पर्याय कथंचिद् अभिन्न हैं। और जब क्रमसे दोनों नयोंकी विवक्षा होती है तब द्रव्य तथा पर्याय दोनों कथंचिद् भिन्नाभिन्न हैं। इस प्रकार धर्म (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों तीन प्रकारसे व्यवस्थित हैं।

कारिका ४८ में उक्त कथनको युक्त्यनुशासन (प्रत्यक्ष और आगमाविरुद्ध एवं युक्तिसिद्ध) प्ररूपित किया और दृष्टान्त द्वारा उसका समर्थन किया है।

कारिका ४९ में भेद (नाना) को अभेद (एक) का और अभेद को भेदका अविनाभावी प्रकट करके उन्हें प्रधान तथा गौणरूपसे विभिन्न पदोंका वाच्य बतलाया है। तात्पर्य यह कि जहाँ भेद है वहाँ अभेद भी रहता है और जहाँ अभेद है वहाँ भेद भी रहता है। अभेदको छोड़कर केवल भेद और भेदको छोड़कर केवल अभेद नहीं रहता। सिर्फ विवक्षावश वे मुख्य और गौण हो जाते हैं। जब एक पदके द्वारा भेद विवक्षित होता है तो भेद मुख्य और अभेद गौण हो जाता है—वहाँ अभेदका तिरस्कार नहीं होता। तथा जब दूसरे पदके द्वारा अभेद विवक्षित होता है तो अभेद मुख्य और भेद गौण हो जाता है—उस (भेद) का अपलाप नहीं होता।

कारिका ५० में प्रतिपादन है कि धर्म यदि परस्परमें निरपेक्ष हों और धर्मोंसे पृथक् हों तो वे उसी प्रकार अर्थक्रियामें अक्षम हैं जिस प्रकार आतान-वितानरूप तन्तु परस्परनिरपेक्ष होनेपर पटरूप कार्यकी निष्पत्तिमें असमर्थ हैं। अतः अंश अंशीसे और अंशी अंशीसे न सर्वथा पृथक् है, न सर्वथा अपृथक् और न सर्वथा पृथक्-अपृथक्, अपितु वे परस्परमें कथंचिद् भिन्न, कथंचिद् अभिन्न और कथंचिद् भिन्नाभिन्न हैं। अतएव वे (अंश) परस्परसापेक्ष होकर ही अर्थक्रियामें समर्थ हैं। इसी प्रकार उन अंशोंके ग्राहक नय भी अपने अस्तित्वरूप अर्थक्रियामें परस्पर सापेक्ष होकर सक्षम देखे जाते हैं।

कारिका ५१ में कथन किया है कि एकान्तके आग्रहसे लोगोंको अहंकार और अहंकारसे रागादि उत्पन्न होते हैं। पर एकान्तके त्याग और अनेकान्तके स्वीकारसे, जो वस्तुका स्वाभाविक (यथार्थ-सम्यग्दर्शन) रूप है, न आग्रहमूलक अहंकार होता है और न अहंकारकारणक रागादि। फलतः स्याद्वादशासनमें लोगोंका मन समता (माध्यस्थ्य) पूर्ण होता है।

कारिका ५२ में उस शंकाका सयुक्तिक समाधान है जिसमें कहा गया है कि स्याद्वाद-शासनमें भी अनेकान्तके प्रति राग और सर्वथा एकान्तके प्रति द्वेष होता है, तब इस शासनमें भी लोगोंका मन समतापूर्ण कैसे हो सकता है? और उस हालतमें उसमें बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था भी कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए समन्तभद्र कहते हैं कि प्रतिपक्ष (विरोधी धर्म) के निषेधकको अनेकान्तवचनोंद्वारा प्रतिपक्षके निराकरणसे रोका जाता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु प्रतिपक्ष (विरोधी) धर्मको भी लिए हुए होनेसे नानात्मक है। फलतः गलत वस्तुस्वरूपको माननेसे रोकने और यथार्थ वस्तुस्वरूपका निश्चय करानेके कारण स्याद्वादशासनमें एकान्तवादके प्रति द्वेष और अनेकान्तके प्रति राग नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः अतत्त्वका परिहार कर तत्त्वका निश्चय कराना रागद्वेष नहीं है। अतः स्याद्वादीका मन समतापूर्ण होता

है और इसलिए स्याद्वादशासनमें ही बन्ध तथा मोक्षकी व्यवस्था है, क्योंकि बन्ध और मोक्ष ज्ञाता-आत्मामें होते हैं, प्रधान (प्रकृति) में नहीं, वह तो अज्ञ है ।

कारिका ५३-६० में वीर-शासनमें प्रत्येक पदका वाच्य क्या है और वाचकका स्वरूप क्या है, इसका समीक्षापूर्वक प्रतिपादन किया है । बौद्ध अन्यापोहरूप सामान्यको, वैशेषिक जातिरूप सामान्य और विशेषको, मीमांसक व्यक्तिसे अभिन्न सामान्यको, संवेदनाद्वैतवादी संवित्ति मात्र (अतद्व्यावृत्तिके अभिनिवेश) को, वेदान्ती सत्ताद्वैतरूप सामान्यको, शून्याद्वैतवादी शून्यको और सांख्य प्रधानरूप सामान्यको वाच्य मानते हैं । इन सबकी आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि कोई भी पद या वाक्य हो वह विशेष और सामान्य दोनोंको मिलित रूपमें विधिमुखेन अथवा निषेधमुखेन अभिहित करता है । तात्पर्य यह कि विशेष सामान्यमें उसी प्रकार निष्ठ हैं जिस प्रकार घटमें रूपादि । अत एव वक्ता जब विधिवाक्यका प्रयोग करता है तब विधिवाक्य विधिका मुख्यतया अभिधान करता है और निषेधका गौणतया द्योतन करता है । और जब वह निषेधवाक्य बोलता है तब निषेधवाक्य निषेधका मुख्यरूपसे और विधिका गौणरूपसे कथन (प्रकाशन) करता है । अतः वाच्य भी अनेकान्तात्मक है और वाचक भी । ये विधि और निषेध सामान्य-विशेषरूप ही हैं ।

आप्तमीमांसाकी प्रस्तावना (पृ. २२-२३) में का. १०९ के व्याख्यान-सन्दर्भमें हमने लिखा है कि 'जो विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनको समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधि-वाक्य हो, चाहे निषेधवाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक वस्तुका बोध कराते हैं । जब विधिवाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधिधर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेधधर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिका ही बोध नहीं कराता । इसी प्रकार प्रतिषेधवाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेधधर्मका कथन करनेके साथ अविनाभावी विधिधर्मका भी मौन ज्ञापन करता है—उसका निरास या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता । इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है—तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए है । अतः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानो नहीं कर सकता । हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौणरूपसे अवगम कराता है । इसी तत्त्वको प्रस्तुत करनेके लिए स्याद्वाददर्शनमें वक्ताद्वारा बोले गये प्रत्येक वाक्यमें 'स्यात्' निपातपद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकटरूपसे अवश्य रहता है । यदि विधि-वाक्य या निषेधवाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हों, तो अन्य विरोधी धर्मका लोप होनेसे उसका अविनाभावी अभिधेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहनेपर वह अविशेष्य (धर्मशून्य) हो जायेगी ।'

यथार्थमें हमें, वस्तुमें अभेदबुद्धि और भेदबुद्धि दोनों होती हैं। अभेद-बुद्धिसे सामान्य (विधि) के सद्भावका और भेदबुद्धिसे विशिष्टता (विशेष-निषेध) के सत्त्वका निश्चय होता है। अभेदबुद्धिको अन्वयबुद्धि और भेदबुद्धिको व्यावृत्ति (व्यतिरेक) बुद्धि कहते हैं। इस प्रतिपादनसे स्पष्ट है कि वाच्य अनेकान्तात्मक है। और वाचक भी अनेकान्तरूप है।

६१-६४ तक चार कारिकाएँ उपसंहारके रूपमें हैं। वीरशासनकी विशेषता बतलाते हुए कारिका ६१ में कहा गया है कि उपर्युक्त प्रकारसे वीर-शासन सभी वस्तुधर्मोंका प्रतिपालक है—किसी धर्मका लोपक नहीं, तथा उन धर्मोंकी व्यवस्था वह मुख्य और गौणभावसे करता है। इसके विपरीत एकान्त (क्षणिकत्वादि) शासन उन वस्तुधर्मोंको परस्पर निरपेक्ष प्रतिपादित करते एवं एक-एक धर्मको ही पूर्ण वस्तु मानते हैं—या तो उसे सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक, सर्वथा सत् या सर्वथा असत्, सर्वथा एक (द्वैत) या सर्वथा अनेक (द्वैत) आदि स्वीकार करते हैं। फलतः विरोधो धर्मका तिरस्कार (निषेध) होनेसे उनके अविनाभावी इष्ट धर्मका भी अभाव प्रसक्त होता है और इस तरह एकान्तशासन सभी धर्मोंसे शून्य हैं—उनमें उनका अभिमत धर्म भी व्यवस्थित नहीं होता। अतएव वीरशासन ही समस्त विपदाओं (दुःखों) का अन्त करनेवाला है, निरन्तर (अविच्छेद्य) है और 'सर्वोदय तीर्थ' (सभीके अभ्युदयका कारण होनेसे तीर्थरूप) है।

कारिका ६२में ग्रन्थकारने उन सभी दार्शनिकोंको, जो वीर-शासनके द्वेषी भी हों, वीरशासनकी समीक्षार्थ आह्वान किया है और उनसे घोषणापूर्वक कहा है कि वे उपपत्तिचक्षु (युक्तिरूप दृष्टिसे युक्त) और समदृष्टि (पूर्वाग्रहोंसे मुक्त निष्पक्ष) होकर वीर-शासनकी यथेच्छ मीमांसा करें—देखें-परखें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो वे निश्चय ही अपने कदाग्रह रूप अभिमानका त्यागकर अमद्व होनेपर भी समन्तभद्र (स्वपरके कल्याणकर्ता) बन जायेंगे।

कारिका ६३में स्तुतिका सद्भावपूर्ण एवं शुद्ध लक्ष्य बतलाते हुए कहा है कि हमने न राग (पक्षपात)से वीर-जिनका स्तवन किया और न द्वेषसे 'दूसरोंके दोषोंको कहनेकी आदत द्वारा' खलत्व (टुच्चापन) दिखाया है—हमने केवल एक परीक्षकके कठोर कर्तव्यका पालन किया है। इसी कारण उन लोगोंके लिए, जो न्याय-अन्याय (युक्त-अयुक्त, सम्यक्-असम्यक्) तथा विचारणीय पदार्थके गुण-दोषों (लाभालाभ) को जाननेके इच्छुक हैं, वीर-जिनके गुण-कथनके आश्रयसे हितान्वेषण (हितकी खोज) का उपाय (मार्ग) बतलाया है।

इस प्रस्तावकी अन्तिम कारिका ६४ है। इसमें स्वामी समन्तभद्रने वीर-जिनके शासनको हितकारी और युक्तिशास्त्राविरोधी प्रमाणसे निर्णीत होनेके कारण उनमें ही अपनी भक्तिको स्थिर करनेकी उनसे कामना की है। वे कहते हैं कि हे जिन ! आप उन देवेन्द्रों एवं मुनिश्रेष्ठों द्वारा स्तुत्य हैं, जो स्वयं दूसरोंसे स्तुत हैं और एकाग्र-मनसे आपका ही ध्यान करते हैं। आपने निःश्रेयसपद प्राप्त किया तथा पापरूप शत्रुसेनापर विजय पाकर अद्भुतशक्तिके धारक वीर और महावीर बने हैं। इन गुणोंके कारण आप मेरे द्वारा भी यथाशक्ति स्तुत हुए हैं। अर्थात् मैंने भी शक्त्यनुसार

आपकी स्तुति की है। फलस्वरूप मेरी भक्ति आपके ही अद्वितीय मार्गमें रहे, यही चाहता हूँ।

(घ) अन्तिम दो कारिकाएँ :

ग्रन्थकारने अपने नामका उल्लेख 'भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः' इस ६२वीं कारिकामें किया है। उनके इस उल्लेखसे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ यहीं समाप्त है। स्वयम्भूस्तोत्रमें भी 'तव देव मतं समन्तभद्रं सकलम्' (स्वयं. १४३) इस नामोल्लेखवाली कारिकापर ही उसकी समाप्ति है और वही कारिका उसकी अन्तिम कारिका है—उसके बाद उसमें और कोई कारिका उपलब्ध नहीं है। जिनस्तुति, आस-मीमांसा और रत्नकरण्डश्रावकाचारमें ग्रन्थकारका नाम निर्देश न होनेसे उनका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अतः युक्त्यनुशासनमें उक्त ६२वीं कारिकाके बाद जो ६३ व ६४ नम्बरवाली दो कारिकाएँ अन्तमें उपलब्ध होती हैं वे ग्रन्थकारोक्त नहीं ज्ञात होतीं।

प्रश्न है कि फिर आचार्य विद्यानन्द जैसे मूर्धन्य मनीषीने उक्त दोनों कारिकाओंकी व्याख्या क्यों की, उससे तो उक्त दोनों पद्य मूल ग्रन्थके ही अंग अवगत होते हैं ?

इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि विद्यानन्दसे पूर्व युक्त्यनुशासनपर किसी विद्वान्के द्वारा व्याख्या लिखी गयी हो और व्याख्याकारने अपनी व्याख्याके अन्तमें उक्त पद्य दिये हों। कालान्तरमें वह व्याख्या तो लुप्त हो गयी हो और व्याख्याके उक्त अन्तिम पद्य मूलके साथ किसीने जोड़ दिये हों। या यह भी सम्भव है कि किसी पाठ करनेवाले विद्वान्ने उक्त पद्य स्वयं रचकर उसके साथ सम्बद्ध कर दिये हों और वही प्रति व्याख्यारहित विद्यानन्दको मिली हो तथा उन्होंने उक्त दोनों पद्योंको उसके साथ पाकर उनकी भी व्याख्या की हो। जो हो, ये दोनों अन्तिम पद्य यथास्थितिके अनुसार विचारणीय अवश्य हैं।

हाँ, एक बात यहाँ कही जा सकती है। वह यह कि ग्रन्थकारने ग्रन्थके आरम्भमें प्रथम कारिकामें वीर-जिनकी स्तुतिकी इच्छा व्यक्त की है तथा दूसरी, तीसरी और चौथी कारिकाओं द्वारा प्रश्नोत्तरपूर्वक 'तथापि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः' (का. ३) जैसे वाक्योंको लिये हुए उनके प्रति असीम भक्ति प्रकट की है। अतः उपसंहारमें भी ग्रन्थकार द्वारा उसका प्रकाशन हो, तो आश्चर्य नहीं, और तब उक्त दोनों अन्तिम कारिकाएँ भी उसी असीम भक्तिकी प्रकाशिका होनेसे ग्रन्थकारोक्त ही कही जा सकती हैं।

(ङ) युक्त्यनुशासनके उल्लेख और मान्यता :

यों तो स्वामी समन्तभद्रकी प्रायः सभी कृतियाँ अर्थगम्भीर और दुरूह हैं। किन्तु युक्त्यनुशासन उनमें भी अत्यन्त जटिल एवं गम्भीर है। इसका एक-एक वाक्य सूत्रात्मक है और बहु-अर्थका बोधक है। साधारण बुद्धि और साधारण आयामसे उसकी गहराई एवं तलमें नहीं पहुँचा जा सकता है। इसे समझनेके लिए विशिष्ट दार्शनिक प्रतिभा, असाधारण मेधा, एकाग्रसाधना और बहु परिश्रमकी आवश्यकता

है। सम्भवतः युक्त्यनुशासनकी इन्हीं विशेषताओंके कारण हरिवंशपुराणकारने समन्तभद्र-वाणोको वीर-वागीकी तरह प्रभावशालिनी बतलाया है। विद्यानन्दने तो उससे प्रभावित होकर उसपर व्याख्या लिखी और अपने ग्रन्थोंमें उसके वाक्योंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत करके उससे अपने कथनकी सम्पुष्टि की है। आप्तपरीक्षा (पृ. ११८) में वैशेषिक दर्शनकी समीक्षाके सन्दर्भमें युक्त्यनुशासन (का. ७) के एक प्रमाण-वाक्य 'संसर्गहानेः सकलार्थहानिः' का विस्तृत अर्थोद्घाटन किया है। उसे भाष्य कहा जाय तो आश्चर्य नहीं है। वस्तुतः विद्यानन्दके इस अर्थोद्घाटनसे उक्त वाक्यकी गम्भीरता और दुरुहताकी कुछ झाँकी मिल जाती है।

विद्यानन्दसे पूर्व भट्ट अकलंकदेवने भी युक्त्यनुशासनके वाक्यों और कारिकाओंको उद्धृत किया है। तत्त्वार्थवार्तिक (पृ. ३५) में आगत अनेकान्तलक्षण— 'एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो 'युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः'— पर युक्त्यनुशासन (का. ४८) के 'युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते' इस वाक्यका प्रभाव लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त त. वा. (१-१२, पृ. ५७) में 'प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र' (युक्त्य. का. २२) इत्यादि पूरी कारिका भी उद्धृत पायी जाती है और उसे 'उक्तं च' के साथ प्रस्तुत करके उन्होंने उससे अपने प्रतिपादनको प्रमाणित किया है।

अकलंकदेवसे लगभग दो शताब्दी पहले आचार्य पूज्यपाद (ई. ५वीं शती) ने भी युक्त्यनुशासनका उपयोग किया जान षड़ता है। युक्त्यनुशासनमें एक स्थल (का. ३९) में शीर्षोपहार आदिसे देवोंकी आराधना कर उन सिद्ध बनने वालोंकी समीक्षा की है, जो उस आराधनासे सुखकी तीव्र लालसा रखते हैं, पर अपने दोषों (राग-द्वेष-मोहादि) की निवृत्ति नहीं करते। यथा—

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाराध्य सुखाभिगूढाः ।

सिद्धयन्ति दोषापचयानपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥

पूज्यपादने भी लगभग इन्हीं शब्दोंमें अपनी सर्वार्थसिद्धि (९-२, पृ. ४१०) में संवरके गुप्त्यादि साधनोंके विवेचन-सन्दर्भमें यही कहा है—

'तेन तीर्थाभिषेक-दीक्षा-शीर्षोपहार-देवताराधनादयो^१ निर्वातिता भवन्ति; राग-द्वेष-मोहोपात्तस्य कर्मणोज्ज्वला निवृत्त्यभावात् ।'

इन दोनों स्थलोंकी तुलनासे स्पष्ट जान पड़ता है कि पूज्यपाद युक्त्यनुशासनसे परिचित एवं प्रभावित थे और उसकी उक्त कारिकाका उनके उक्त वाक्योंपर प्रभाव है।

(च) युक्त्यनुशासन-टीका :

युक्त्यनुशासनपर विद्यानन्दकी एक मध्यम परिमाणकी संस्कृत-टीका प्राप्त है। यह टीका ग्रन्थके हार्दको स्पष्ट करनेमें पूर्णतः सक्षम है। टीकाकारने अत्यन्त विशदताके साथ इसके पद-वाक्यादिका अर्थोद्घाटन किया है। व्याख्याकारकी सूक्ष्म दृष्टि इसके प्रत्येक पद और उसके आशयके अन्तस्तल तक पहुँची है। वस्तुतः इसपर

१. तुलना—'...दीक्षासममुक्तिमानाः—'—युक्त्य. का. ३७ ।

यह व्याख्या न होती तो युक्त्यनुशासनके अनेक स्थल दुरधिगम्य बने रहते। व्याख्या-कारने अपनी इस व्याख्याका नाम 'युक्त्यनुशासनालंकार' दिया है, जो युक्त्यनुशासन-का अलंकरण करनेके कारण सार्थक है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा-के बाद रचा है, क्योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं।^१ यह मूल ग्रन्थके साथ कोई ६० वर्ष पूर्व वि. सं. १९७७ में माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमालासे एक बार प्रकाशित हो चुका है, परन्तु अब वह अप्राप्य है। यह अशुद्ध भी काफी छपा है। अतः इसका शुद्ध और सुन्दर आधुनिक संस्करण अपेक्षित है।

(छ) हिन्दी अनुवाद

युक्त्यनुशासनके मर्मको हिन्दी भाषामें प्रकट करनेके उद्देश्यसे स्वामी समन्त-भद्रके अनन्य भक्त और उनके प्रायः सभी ग्रन्थोंके हिन्दी-अनुवादक, प्रसिद्ध साहित्य और इतिहासकार पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने इसपर सर्वप्रथम हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह अनुवाद उन्होंने विद्यानन्दकी उक्त संस्कृत-टीकाके आधारसे किया है। अनुवाद विशद, सुन्दर और ग्रन्थानुरूप है। दुरूह और क्लिष्ट पदोंका अच्छा अर्थ एवं आशय व्यक्त किया है। मूल ग्रन्थका अनुगम करनेके लिए यह अनुवाद बहुत उपयोगी और सहायक है। यह वीर-सेवा-मन्दिर दिल्लीसे सन् १९५१ में प्रकाशित हो चुका है।

इसकी एक हिन्दी व्याख्या पं. मूलचन्द्रजी शास्त्री श्रीमहावीरजीने भी लिखी है। व्याख्या विशद और उपादेय है।



रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनतापर अभिनव प्रकाश

उपलब्ध श्रावकाचारोंमें रत्नकरण्डकश्रावकाचार सबसे प्राचीन और प्रामाणिक श्रावकाचार है। इसका विषय-विवेचन मौलिक, सुसम्बद्ध और सुव्यवस्थित है। इसके कर्त्ता आचार्य समन्तभद्र स्वामी हैं, जिनके आसमीमांसा (देवागम), युक्त्यनुशासन (वीर-स्तोत्र), स्वयम्भू (चतुर्विंशतिजिन-स्तोत्र) और जिनशतक (चतुर्विंशतिजिन-स्तुति) ये चार अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। जैन वाङ्मयमें आचार्य समन्तभद्रकी कृतियोंका गौरवपूर्ण एवं महनीय स्थान है। इनकी प्रामाणिकता और उपादेयतामें किसीको भी सन्देह नहीं है। इसका एकमात्र कारण यह है कि वे सन्तुलित, सूत्रात्मक और यथार्थ प्रतिपादिका हैं। उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके लिए वे पथ-प्रदर्शिका हुई हैं तथा उनकी रचनाओंके लिए आधार बनी हैं। अनेक प्रौढ़ विद्वानोंने उनपर अपनी महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय व्याख्याएँ भी लिखी हैं। इससे हम समन्तभद्र स्वामीकी रचनाओंका मूल्यांकन कर सकते हैं।

कुछ विद्वान् रत्नकरण्डकश्रावकाचारके कर्तृत्व और प्राचीनताके विषयमें सन्देह प्रकट करते हैं। परन्तु ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण एवं अनुसन्धान करनेपर उनका वह सन्देह निराधार एवं निर्मूल सिद्ध होता है। ग्रन्थके कर्तृत्व-विषयमें हम विस्तारसे सप्रमाण अन्यत्र विचार कर आये हैं, जिसके आधारपर उसके कर्त्ता स्वामी समन्तभद्र ही सिद्ध होते हैं।

अब हम उसकी प्राचीनतापर भी यहाँ प्रकाश डालेंगे। इस नये प्रकाशसे रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनताके विषयमें भी सन्देह नहीं रहेगा।

१. आचार्य वादिराज और प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डकका उल्लेख :

आचार्य वादिराज (ई. १०२५) और प्रभाचन्द्र (ई. १०१०-१०८०) ने रत्नकरण्डकका क्रमशः अपने पार्श्वनाथचरित^१ श्लोक १९ और रत्नकरण्डकटीका^२ पृष्ठ १ (मुद्रित) में नामोल्लेख किया है और उसे समन्तभद्र स्वामीकी कृति बतलाया है। प्रभाचन्द्रने तो स्वयं उसपर अत्यन्त सुगम टीका भी लिखी है। अतः रत्नकरण्डक-श्रावकाचार इन दो प्रसिद्ध विद्वान् ग्रन्थकारोंसे पूर्ववर्ती रचना है। अर्थात् वह १०वीं शताब्दीसे पूर्वकी कृति है।

२. यशस्तिलकमें रत्नकरण्डकका अनुसरण :

यशस्तिलक आचार्य सोमदेवकी गद्य-पद्यात्मिका चम्पू-काव्यरचना है। इसे

१. 'रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति है' शीर्षक निबन्ध, अनेकान्त, वर्ष ७, किरण ९, १० तथा यही ग्रन्थ।

२. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई (अब भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली) प्रकाशन।

३. वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी प्रकाशन, ई. १९७२।

उन्होंने शक सं. ८८१, (ई. ९५९, वि. सं. १०१६) में बनाया है। इसमें यशोधर महाराजका चरित निबद्ध है। यह उच्चकोष्ठिकी काव्यकृति है और विद्वत्संसारमें बहुमान्य है। इसमें एक अध्याय उपासकाध्ययन है। इस उपासकाध्ययनमें रत्न-करण्डकश्रावकाचारका खूब उपयोग किया गया है। उदाहरणार्थ यहां दोनों ग्रन्थोंके कुछ तुलनात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

(१) विद्यावृत्तस्य सम्भूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः ।

न हि सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥

—रत्नकरण्ड., श्लोक ३२ ।

विद्याविभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः ।

न हि बीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरंगिनि ॥

—यशस्ति., पृ. ३२४ ।

(२) गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।

—रत्नकर., श्लोक ३३ ।

अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ।

—यशस्तिरत्नकर., पृ. ३२४ ।

(३) ज्ञानं पूजां कुलं जार्ति बलमृद्धिं तपो वपुः ।

अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गन्तस्मयाः ॥

—रत्नकर., श्लो. २५ ।

जाति-पूजा-कुल-ज्ञान-रूप-सम्पत्तपोबले ।

उशन्त्यहंयुत्तोद्रेकं मदमस्मयमानसाः ॥

—यशस्ति., पृ. ४१४ ।

(४) जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।

द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥

—रत्नकर., श्लो. ४६ ।

जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्माविबोधनम् ।

बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥

—यशस्ति., पृ. ४१५ ।

(५) भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः ।

उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपांचेन्द्रियो विषयः ॥

—रत्नकर., श्लो. ८३ ।

यः सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः ।

भूषादिः परिभोगः स्यात्पोनःपुन्येन सेवनात् ॥

—यशस्ति., पृ. ४०२ ।

(६) नियमो यमश्च विहितो द्वेधा भोगोपभोगसंहारे ।

नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

—रत्नकर., श्लो. ८७ ।

यमश्च नियमश्चेति द्वे त्याज्ये वस्तुनि स्मृते ।

यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिनियमः स्मृतः ॥

—यशस्ति., पृ. ४०३ ।

(७) स्मयेन योऽन्यान्त्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः ।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

—रत्नकर., श्लो. २६ ।

यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन मोदते ।

स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

—यशस्ति., पृ. ४१४ ।

रत्नकरण्डक और यशस्तिरत्नकरण्डकके इन थोड़ेसे तुलनात्मक उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि रत्नकरण्डकश्रावकाचारका यशस्तिरत्नकरण्डकमें पर्याप्त अनुसरण किया गया है। सोमदेवने उसे सामने रखकर यशस्तिरत्नकरण्डकका यह उपासकाध्ययन लिखा हो, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः रत्नकरण्डकश्रावकाचार सोमदेव (शक सं. ८८१, ई. ९५९) से भी पूर्वका ग्रन्थ है ।

३. सिद्धसेनके न्यायावतारमें रत्नकरण्डकका पद्य :

न्यायावतारकार सिद्धसेनका समय यद्यपि एकमतसे अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। कुछ विद्वान् उन्हें विक्रमके नवरत्नोंमें आगत 'क्षपणक' बतलाते हैं। कोई पाँचवीं शताब्दीका कहते हैं और कतिपय उन्हें सातवीं शताब्दीका प्रकट करते हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि न्यायावतारका अन्तःपरीक्षण करनेपर उसमें सातवीं शताब्दीके पात्रस्वामी, कुमारिल और धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंके प्रचुर पद-वाक्यों और मान्यताओंके अनुसरण पाये जानेसे न्यायावतारकार सिद्धसेन उनके परवर्ती हैं तथा सिद्धर्षि (९वीं शताब्दी) के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि सिद्धर्षिने उनके न्यायावतारपर टीका लिखी है। इस प्रकार न्यायावतारकार सिद्धसेनका समय ७वीं और ९वीं शताब्दीका मध्य अर्थात् ८वीं शती है ।

इनके न्यायावतारमें रत्नकरण्डकश्रावकाचारका 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य' आदि ९वां पद्य ज्यों-का-त्यों उसके ९वें पद्यके रूपमें पाया जाता है, जिसे न्यायावतारकारने अपने द्वारा कथित आगमलक्षण (८वें पद्य) के समर्थनमें वहाँसे लिया है और उसे अपने ग्रन्थका अंग उसी प्रकार बना लिया है, जिस प्रकार अकलंकदेव (८वीं शती) ने अपने न्यायविनिश्चय (का. ४१५ तथा का. ३२३) में स्वामी समन्तभद्रकी आस-मीमांसाकी 'सूक्ष्मान्तरितद्वार्याः' आदि कारिका ५ और पात्रस्वामीकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्' आदि कारिकाको वहाँसे लेकर अपने ग्रन्थका अंग बना लिया है। अतः रत्नकरण्डक न्यायावतारकार (वि. सं. ८वीं शती) से पूर्ववर्ती रचना है ।

४. रत्नकरण्डकमें अपने समयकी एक सांस्कृतिक प्राचीन परम्पराका समुल्लेख :

रत्नकरण्डकमें एक ऐसी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक प्राचीन परम्परा अनुसृत है, जो ग्रन्थकारकी दूसरी रचना स्वयम्भूस्तोत्रमें भी पायी जाती है। रत्नकरण्डकमें ११वीं प्रतिमाका स्वरूप निम्न प्रकार किया गया है—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।

भैक्ष्याशनस्तपस्यन्तुकृष्टश्चैलखण्डधरः ॥

—श्लो. १४७ ।

११वीं प्रतिमाके धारकका ऐसा स्वरूप अन्य किसी भी श्रावकाचारमें उपलब्ध नहीं होता । इस पद्यमें कहा गया है कि 'जो घरसे मुनिवनमें जाकर और वहाँ गुरुके निकट व्रतोंको ग्रहण करके भिक्षावृत्तिपूर्वक रहता है तथा तपोंको तपता है और खण्ड-वस्त्र धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् ११वीं प्रतिमावाला कहा जाता है ।'

यहाँ ध्यान देने योग्य 'मुनिवन' शब्द है, जिसका अर्थ है 'मुनियोंका निवास-स्थान वन' और जिससे यह प्रकट है कि रत्नकरण्डकके रचयिताके समयमें मुनि वनमें ही रहते थे—वे वसतिका, मन्दिर-मठादिमें नहीं रहते थे । अतः उत्कृष्ट प्रतिमाधारी-को व्रतग्रहणके लिए वहीं जानेका विधान किया गया है । यदि उस समय वसतिका या मन्दिर-मठादिमें मुनिगण रहते होते, तो उसे 'मुनिवन' में ही जानेका वे विधान न करते । मन्दिर या वसतिकामें भी गुरुके पास व्रतोंको ग्रहण करनेके लिए उसे जाने का वे निर्देश करते । जैसा कि लाटीसंहिताकार पं. राजमल्लजीने लिखा है—

सर्वतोऽस्य गृहत्यागो विद्यते सन्मुनेरिव ।

तिष्ठेद्देवालये यद्वा वने च मुनिसन्निधौ ॥

उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा ।

एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तौ द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥

—सर्ग ७, पद्य ५४, ५५ ।

श्रावकाचारके दूसरे प्राप्त ग्रन्थोंके भी ११वीं प्रतिमाधारकके लक्षणोंको देखें । इनमें कोई भी रत्नकरण्डक जैसा न संक्षिप्त एवं विशुद्ध लक्षण है और न मुनिवनमें ही उसे जानेका इनमें निर्देश है—

(क) ११वीं शताब्दीके विद्वान् चामुण्डरायने ११वीं प्रतिमाधारकका निम्न प्रकार लक्षण किया है—

'उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवसनार्देविरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेनोपविश्य भोजी रात्रिप्रतिमादितपःसमुद्यत आतापनादियोग-रहितो भवति ।'—चारित्रसार, पृष्ठ १९ ।

(ख) १२वीं शतीके विद्वान् वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवने इस प्रतिमाधारीका १२ गाथाओंमें वर्णन किया है । उन्होंने उसके दो भेद बतलाकर आहारादिमें उसकी प्रवृत्तिका प्रकार भी वर्णित किया है, मुनिवनमें उसे व्रतोंके लिए जानेका उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया । उदाहरणके लिए उसकी एक गाथा यहाँ उद्धृत है—

एयारसम्मि ठाणे उक्किहो सावओ हवे दुविहो ।

वत्थेकधरो पढमो कोवीण-परिगहो विदियो ॥

—वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा ३०१ ।

(ग) ईस्वी सन् १०१४ (वि. सं. १०७१) के विद्वान् अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें इस प्रतिमाधारीका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् ।
उद्दिष्टवर्जो गुणिभिः स गीतो विभोलुकः संसृतिमातुधान्याः ॥

—अमित. श्रा. ७-७७ ।

यहाँ भी मुनिवनमें जाकर व्रतोंको ग्रहण करनेका इस प्रतिमाधारीके लिए कोई विधान निर्दिष्ट नहीं है ।

(घ) पं. राजमल्लजीके दो पद्योंको ऊपर उद्धृत किया गया है । ऐलकके निवास-स्थानके विषयमें वे लिखते हैं—

तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ ।

निरवघ्ने तथा स्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥

इस तरह इन श्रावकाचारोंमें कथित ११वीं प्रतिमाधारीके लक्षणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नकरण्डमें वह परम्परा पायी जाती है, जो उस समय पहलेसे चली आ रही थी और उसमें उस समय तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ था । अर्थात् रत्नकरण्डक उस समयकी रचना है जब मुनिगण वनमें ही रहा करते थे, मठों, चैत्यालयों आदिमें नहीं । दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि वह तबकी रचना है जब मुनियोंमें केवल वनवास था, चैत्यवास प्रचलित नहीं हुआ था—

अब विचारणीय है कि मुनि अपने प्राचीन निवासस्थान वनको छोड़कर चैत्यालयों आदिमें कबसे रहने लगे ?

(१) जटासिंहनन्दिने, जिनका समय डॉक्टर ए. एन. उपाध्येने ऊहापोहपूर्वक ईस्वी ६५० से ७५० निर्धारित किया है, अपने वरांगवरितमें मुनियोंके निवासस्थानके सम्बन्धमें निम्न प्रकार लिखा है—

शून्यालये देवगृहे इमशाने महादवीनां गिरिगह्वरेषु ।

उद्यानवेशे द्रुमकोटरे वा निवास आसीद्वृषिसत्तमानाम् ॥

रात्रिचरा भीमरवाः शकुन्ताः शार्दूलसिंहद्विपजम्बुकर्क्षाः ।

यत्राकुला भीमभुजंगमाश्च तत्रास वासो यतिपुंगवानाम् ॥

—वरांगच. अ. ३०—२६, २७, २८, २९, ३० आदि पद्य ।

यहाँ जटासिंहनन्दिने मुनियोंका निवास गिरिगुफाओं एवं वनोंके साथ देव-गृहादिमें भी बतलाया है । इससे यह जान पड़ता है कि उनके समयमें मुनि गिरिगुफाओं और वनोंके अलावा देवगृहादिमें भी रहने लगे थे ।

(२) ९वीं शताब्दीके विद्वान् और आदिपुराणकार जिनसेनके प्रधान शिष्य उत्तरपुराणकार गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें क्या लिखते हैं उसे भी देखें :—

इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्या यथा मृगाः ।

वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥

—आत्मानु. श्लो. १९७ ।

‘जैसे रात्रिमें मृग इधर-उधर डरते हुए वनसे गाँवके पास आ जाते हैं वैसे ही इस कलिकालमें तपस्वी (मुनि) वनसे गाँवके समीप आकर ठहर रहे हैं, यह दुःखकी बात है ।’

इससे ज्ञात होता है कि आचार्य गुणभद्रके समय (९वीं शती) में मुनियोंका निवास गाँवके निकट (उद्यान, वसतिका आदिमें) होने लगा था और वनमें रहनेकी उनकी प्रवृत्ति छूटने लगी थी । इस स्थितिपर उन्हें दुःख भी है और उसे वे कलिकालका प्रभाव बतलाते हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुनियोंमें देवगृहादिका निवास जटासिंहनन्दि (ई. ७वीं-८वीं शती) से कुछ पूर्वसे आरम्भ हो चुका था । पर उस समय उनकी अपनी वनवासकी प्रवृत्ति सर्वथा छूटी नहीं थी—वे पहाड़ोंकी गुफाओं, भयंकर स्थानों और महाद्वियोंमें भी रहते थे । किन्तु धीरे-धीरे वनवासकी उनकी प्रवृत्तिमें ह्रास होता गया और गुणभद्राचार्य (९वीं शती) तक वह प्रायः छूट गया, जिसपर उन्होंने बहुत खेद प्रकट किया है ।

अब यह अनुसन्धेय है कि देवगृहादिमें मुनियोंका निवास कबसे आरम्भ हुआ ? जैन साहित्य और इतिहासके विशिष्ट विद्वान् पं. नाथूराम प्रेमीने सन् १९२० में 'जैन हितैषी' मासिक पत्रमें 'वनवासी और चैत्यवासी सम्प्रदाय' शीर्षकसे एक खोजपूर्ण लेख लिखा था, जो अब 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक उनके प्रकाशित निबन्ध-संग्रहमें निबद्ध है । आपने मर्कराके एक दानपत्रके, जो शक सं. ३८८ (वि. सं. ५२३) का है, आधारसे यह बतलाया है कि उसमें महाराजा अविनीत द्वारा चन्दनन्दि मुनिको जैनमन्दिरके लिए एक गाँव दिये जानेका उल्लेख है । इसका निष्कर्ष निकालते हुए आपने लिखा है कि 'इसका (चैत्यवासका) प्रारम्भ सम्भवतः विक्रमकी छठी शताब्दी के लगभग हो गया था ।' आपने यह भी बतलाया है कि 'द्राविड़ संघके स्थापक वज्रनन्दि, जो पूज्यपादके शिष्य थे, उनको आदि लेकर पुराने चैत्यवासी थे ।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि चैत्यवास लगभग विक्रमकी छठी शताब्दीसे प्रारम्भ हो गया था । यद्यपि गुणभद्राचार्यके समय तक अथवा उनके कुछ पूर्व तक वनवास भी चैत्यवासके साथ चलता रहा । पर प्रेमीजीके अनुसार यह निश्चित है कि विक्रमकी पाँचवीं शती तक चैत्यवास नहीं आया था—उस समय एकमात्र मुनियोंमें वनवास था ।

(४) वनवासका समर्थक ग्रन्थकारका एक दूसरा उल्लेख :

इसका समर्थन ग्रन्थकारके एक दूसरे ग्रन्थ स्वयम्भूस्तोत्रसे भी होता है । स्वयम्भूस्तोत्रमें यों तो अनेक महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक पद्य और पद-वाक्यादि पाये जाते हैं जिनमें ग्रन्थकारने बड़ा सांस्कृतिक इतिहास एवं परम्परा दी है और जो जैन इतिहासके लिए बहुमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री है । उदाहरणके लिए भगवान् ऋषभदेव और पार्श्वनाथके स्तोत्र, जिनमें उनके जीवन-चरितसे सम्बन्धित पौराणिक घटनाओंका स्पष्ट चित्रण है । यहाँ हम प्रकृतसे सम्बन्ध रखनेवाला स्वयम्भूस्तोत्रका एक पद्य उपस्थित करते हैं, जो इस प्रकार है :—

बहुतीति तीर्थमृषिभिश्च सततमभिगम्यतेऽद्य च ।

प्रोतिविततहृदयैः परितो भृशमूर्ज्जयन्त इति विश्रुतोऽचलः ॥

—स्वयम्भू., अरिष्टनेमिस्तोत्र, श्लो. १२८ ।

२२वें तीर्थकर अरिष्टनेमिजिनका स्तवन करते हुए इस पद्यमें उनके तपोगिरि

और निर्वाणगिरि 'ऊर्ज्यन्त' (गिरनार) पर्वतको 'तीर्थ' तथा 'विशाल हृदय ऋषियोसे निरन्तर आसेवित' बतलाया गया है और कहा गया है कि 'लोकमें विश्रुत 'ऊर्ज्यन्त' पर्वत तीर्थकर नेमिनाथका तपोगिरि तथा निर्वाण-गिरि होनेसे 'तीर्थ' संज्ञा (नाम) को वहन करता है, अर्थात् 'तीर्थ' कहा जाता है और जो चारों ओर बहुत परिमाणमें प्रीतिपूर्ण विशाल हृदयवाले ऋषियों (मुनियों) से निरन्तर आसेवित है तथा आज भी वह उनसे भरा हुआ है ।'

यह पद्य ग्रन्थकारके समयके मुनियोंके निवास, आचार और तपस्वी जीवन-पर बहुत प्रकाश डालता है। इस पद्यके सभी पद महत्त्वपूर्ण और सांस्कृतिक इतिहासको दृष्टिसे मूल्यवान् हैं। 'अद्य' पद तो विशेष रूपसे बड़े महत्त्वका ऐतिहासिक पद है, जिसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि उनके (स्वयम्भूस्तोत्रकार स्वामी समन्तभद्रके) समयमें ऋषिगण बड़े परिमाणमें ऊर्ज्यन्तगिरि (गिरनार पर्वत) के चारों ओर निरन्तर वास करते थे। और वह भी स्वेच्छापूर्वक विशाल हृदयको लेकर। वहाँ रहनेमें उन्हें किसी प्रकारके भय, त्रास या कष्टका अनुभव नहीं होता था। गाँवके समीप अथवा वसतिकाओं, मठों या देवगृहोंमें रहना तो दूर रहा, उनमें रहनेकी उनकी न इच्छा रहती थी और न प्रवृत्ति ही थी—वे ऊर्ज्यन्त जैसे गिरिपर्वतों—वनोमें ही रहनेकी अपनी प्राचीन परम्पराके प्रिय थे और उसे हृदयसे पालन किये हुए थे।

अब रत्नकरण्डके, 'मुनिवनमित्रा' और स्वयम्भूस्तोत्रके 'ऋषिभिश्च सतत-मभिगम्यतेऽद्य च' इन दोनों पद्योंकी तुलना करें और अत्यन्त बारीकीसे देखें। उससे मालूम हो जायेगा कि स्वयम्भूस्तोत्र और रत्नकरण्डकश्रावकाचार दोनों वनवासकालकी रचनाएँ हैं। अर्थात् ये दोनों ग्रन्थ उस समयके हैं जब मुनियोंमें चैत्यवास नहीं था—वनवास ही उनमें प्रचलित था। यदि रत्नकरण्ड गुणभद्राचार्यके आत्मानुशासनके बाद लिखा गया होता, तो उसमें ११वीं प्रतिमावालेके लिए 'गृहतो मुनिवनमित्रा'—घरसे 'मुनिवनमें' जानेका निर्देश न आता, क्योंकि उस समय चैत्यवास होने लगा था और वनवास प्रायः छूटने लगा था। इसलिए ११वीं प्रतिमाको धारण करनेके लिए मुनियोंका सान्निध्य उस समय गाँवके पास वसतिकाओं, चैत्यालयों और मठोंमें मिल सकता था। वहीं जानेका उसे रत्नकरण्डककार निर्देश करते—वनमें निवास करनेवाले मुनियोंके पास नहीं अथवा कुछ भी न कहते या चैत्यवासको भी साथमें कहते।

अतएव इस विवेचनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि रत्नकरण्डकश्रावकाचार जटासिंहनन्दि और गुणभद्राचार्यके बादकी रचना नहीं है। अपितु वह वनवासकाल (५वीं शताब्दीसे पहले—२री-३री शती) की रचना है।

उपसंहार :

इन तुलनात्मक उद्धरणों एवं अन्य प्रमाणोंसे रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी अति प्राचीनतापर निश्चय ही अभिनव प्रकाश पड़ता है। वह सिद्धसेन, सोमदेव, वादिराज और प्रभाचन्द्रसे पूर्वकी तथा मुनियोंके वनवासके समयकी प्रौढ़ रचना है।

अर्थात् रत्नकरण्ड विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीसे बहुत पहलेकी—२री-३री शतीकी रचना है।

निष्कर्ष यह कि रत्नकरण्डमें ११वीं प्रतिमाके स्वरूपमें उत्कृष्ट श्रावककी तीन शतें बतलायी गयी हैं। पहली शतें यह है कि वह मुनिवनमें जाकर गुरुके समीप व्रतोंको ग्रहण कर भिक्षावृत्तिपूर्वक आहार ले, दूसरी शतें यह कि तपोंको तपे और तीसरी यह कि खण्डवस्त्र (एकवस्त्र) धारण करे, यह उसकी चर्या है। यहाँ उसे व्रत ग्रहणके लिए वनमें जानेका स्पष्ट आदेश है। पर वह वहाँ रहे या न रहे, इस सम्बन्धमें अवश्य कुछ नहीं कहा, जैसा कि उत्तरवर्ती श्रावकाचारकारोंने उसके लिए शून्य मठ, चैत्यालय आदिमें रहनेका विशेष तौरसे उल्लेख किया है, इसलिए वह तो मुनिवनके अलावा दूसरी जगह भी रह सकता है। किन्तु मुनियोंके लिए वहाँ दो मार्ग नहीं हैं—उनके लिए एक ही मार्गका निर्देश है और वह 'वनमें रहना'—वनमें ही उन्हें 'ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी' होना चाहिए। यह भी ध्यातव्य है कि इस ग्रन्थमें 'रत्नमाला' आदि ग्रन्थों जैसी शिथिलाचारप्रवर्त्तक या पोषक मान्यता भी कोई नहीं है। अतः रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वयम्भूस्तोत्रके रचनाकाल (दूसरी-तीसरी शती) का ग्रन्थ है, यह स्पष्ट है।



रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति है

प्रो. होरालालजीने 'जैन इतिहासका एक विलुप्त अध्याय' नामक निबन्धमें 'रत्नकरण्डश्रावकाचारको आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी कृति माननेमें सन्देह व्यक्त किया है और एक दूसरे समन्तभद्रकी कृति बतलायी है, जिन्हें आचार्य कुन्दकुन्द-के उपदेशोंका समर्थक तथा रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिका गुरु सम्भावित किया है। जैसा कि उनके उक्त निबन्धकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है—

“रत्नकरण्डश्रावकाचारको उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करनेके लिए जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि वह उन्हीं ग्रन्थकारकी रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता। मैं समझता हूँ कि रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्यके उपदेशोंके पश्चात् उन्हींके समर्थनमें लिखा गया है। इस ग्रन्थका कर्ता उस रत्नमालाके कर्ता शिवकोटिका गुरु भी हो सकता है, जो आराधनाके कर्ता शिवभूति या शिवार्यकी रचना कदापि नहीं हो सकती।”

यहाँ मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो. साहबने आजसे कुछ समय पहले 'सिद्धान्त और उनके अध्ययनका अधिकार' शीर्षक लेखमें, जो बादको धवलाकी चतुर्थ पुस्तकमें भी सम्बद्ध किया गया है, रत्नकरण्डश्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्र-कृत स्वीकार किया है और उसे गृहस्थोंके लिए सिद्धान्तग्रन्थोंके अध्ययनविषयक नियन्त्रण त करनेमें प्रधान और पुष्ट प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया है। यथा—

“श्रावकाचारका सबसे प्रधान, प्राचीन, उत्तम और सुप्रसिद्ध ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डश्रावकाचार है, जिसे वादिराजसूरिने 'अक्षयसुखावह' और प्रभाचन्द्रने अखिल सागारधर्मको प्रकाशित करनेवाला 'सूर्य' कहा है। इस ग्रन्थमें श्रावकोंके अध्ययनपर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया गया, किन्तु इसके विपरीत”

—क्षेत्र स्पर्शन०, प्रस्ता० पृ. १२।

किन्तु अब मालूम होता है कि प्रो. साहबने अपनी वह पूर्व मान्यता छोड़ दी है और इसीलिए रत्नकरण्डको स्वामी समन्तभद्रकी कृति नहीं मान रहे हैं। अस्तु।

प्रो. साहबने अपने निबन्धकी उक्त पंक्तियोंमें रत्नकरण्डश्रावकाचारको स्वामी समन्तभद्रकृत सिद्ध करनेवाले जिन प्रस्तुत प्रमाणोंकी ओर संकेत किया है वे प्रमाण

१. काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें सन् १९४२में हुए प्राच्य-विद्या-सम्मेलनके जैन विद्या-विभागके अध्यक्षपदसे पठित निबन्ध।

२. क्षुत्पिपासाजरातद्भजन्मान्तकभयस्मयाः।

न रागद्वेषमोहादृच यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥

वे हैं, जिन्हें परीक्षाद्वारा अनेक ग्रन्थोंको जाली सिद्ध करनेवाले मुख्तार श्री पं. जुगल-किशोरजीने माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनामें विस्तारके साथ प्रस्तुत किया है। मैं चाहता था कि उन प्रमाणोंको यहाँ उद्धृत करके अपने पाठकोंको यह बतलाऊँ कि वे कितने प्रबल तथा पुष्ट प्रमाण हैं। किन्तु विस्तारभयके कारण यहाँ उन्हें उद्धृत न कर वहाँसे ही उन्हें देखनेका पाठकोंसे अनुरोध करूँगा। फिर भी यहाँ इतना अवश्य प्रकट कर देना चाहता हूँ कि प्रो. साहबने उक्त निबन्धमें उन प्रमाणोंका कोई खण्डन नहीं किया—वे उन्हें मानकर ही आगे चले हैं, जैसा कि 'उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह दृढ़ मत हो गया है' इन शब्दोंसे प्रकट है। जान पड़ता है कि मुख्तार साहबने अपने प्रमाणोंको प्रस्तुत करनेके बाद जो यह लिखा था कि 'ग्रन्थ (रत्नकरण्डश्रा.) भरमें ऐसा कोई कथन भी नहीं है जो आचार्य महोदयके दूसरे किसी ग्रन्थके विरुद्ध पड़ता हो।' सम्भवतः इसे लेकर ही प्रो. साहबने 'दोष'के स्वरूपमें विरोध-प्रदर्शनका यत्न किया है, जो ठीक नहीं है और जिसका स्पष्टीकरण आगे चलकर किया जायगा।

आपने रत्नकरण्डको जिन रत्नमालाकारके गुरुकी कृति होनेकी सम्भावना की है, यहाँ उन्हीं रत्नमालाकार और उनकी रत्नमालाके सम्बन्धमें सबसे पहले विचार किया जाता है। यह रत्नमाला रत्नकरण्ड-निर्माताके शिष्यकी तो कृति मालूम नहीं पड़ती, क्योंकि दोनों ही कृतियोंमें शताब्दियोंका अन्तराल है, जिससे दोनोंके कर्ताओंमें साक्षात् गुरु-शिष्य सम्बन्ध अत्यन्त दुर्घट हो नहीं, असम्भव है। साथ ही इसका साहित्य बहुत ही घटिया तथा अक्रम है। इतना ही नहीं, इसमें रत्नकरण्डश्रावका-चारसे कितने ही ऐसे सैद्धान्तिक मतभेद पाये जाते हैं, जो साक्षात् गुरु और शिष्यके बीचमें सम्भव नहीं हैं। उदाहरणार्थ यहाँ दो तुलनात्मक उद्धरण प्रस्तुत हैं—

१. रत्नकरण्डमें शिक्षा-व्रतोंके चार भेद बतालाये हैं—(१) देशावकाशिक, (२) सामायिक (३) प्रोषधोपवास और (४) वैयावृत्य। लेकिन रत्नमालामें देशावकाशिकको छोड़ दिया गया है—यहाँ तक कि उसको व्रतोंमें परिगणित ही नहीं किया और मारणान्तिक सल्लेखनाको शिक्षाव्रतोंमें गिनाया है। यथा—

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा ।

वैयावृत्यं शिक्षा-व्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥

—रत्नकरण्ड. श्लो. ९१ ।

सामायिकं प्रोषधोपवासोऽतिथिसु पूजनम् ।

मारणान्तिकसल्लेख इत्येवं तच्चतुष्टयम् ॥

—रत्नमाला श्लो. १७, १८ ।

२. रत्नकरण्डमें उत्कृष्ट श्रावकके लिए मुनियोंके निवासस्थान वनमें जाकर व्रतोंको ग्रहण करनेका विधान किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि दि. मुनि उस समय वनमें ही रहा करते थे। किन्तु रत्नमालामें मुनियोंके लिए वनवासका निषेध किया गया है। और जिनमन्दिर तथा ग्रामादिमें ही रहनेका स्पष्ट आदेश दिया गया है। यथा—

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य ।

भैक्षयाशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टद्विचेलखण्डधरः ॥

—रत्नकरण्ड श्लो. १४७ ।

कलौ काले वने वासो वज्र्यते मुनिसत्तमैः ।

स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥

—रत्नमाला श्लो. २२ ।

इन बातोंसे स्पष्ट है कि रत्नमाला रत्नकरण्ड श्रावकाचारके कर्ताके शिष्यकी कृति नहीं हो सकती। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि रत्नमालाकी रचना उस समय हुई, जब मुनियोंमें काफी शिथिलाचार आ गया था और इसीसे पं. आशाधरजी जैसे विद्वानोंको “पंडितैर्भ्रष्टचारित्रैः वठरैश्च तपोधनैः । शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनोक्तम् ॥” कहना पड़ा । पर रत्नकरण्डपरसे रत्नकरण्डकारके समयमें ऐसे किसी शिथिलाचारका संकेत नहीं मिलता और इसलिए वह रत्नमालासे बहुत प्राचीन रचना है। रत्नमालाका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे यह भी ज्ञात होता है कि वह यशस्तिलक-चम्पूके कर्ता सोमदेवसे, जो वि. सं. ११वीं शताब्दीके विद्वान् हैं, बहुत बादकी रचना है, क्योंकि उसमें आ. सोमदेवका^१ अनुसरण है। और जिनमन्दिरके लिए गाय, जमीन और खेत आदिके दानका उपदेश पाया जानेसे^२ वह भट्टारकीय युगकी रचना स्पष्ट जान पड़ती है। अतः रत्नमालाका समय वि. सं. ११वीं शताब्दीसे पूर्व सिद्ध नहीं होता, जबकि रत्नकरण्डश्रावकाचार और उसके कर्ताका समय विक्रमकी छठी शताब्दीसे पूर्वका ही प्रसिद्ध होता है। जैसा कि नीचेके कुछ प्रमाणोंसे प्रकट है—

(१) विक्रमकी ११वीं शताब्दी (१०२५ ई.) के विद्वान् आ. वादिराजने अपने पार्श्वनाथचरितमें रत्नकरण्डका स्पष्ट नामोल्लेख किया^३ है। साथ ही उसे ‘अक्षयसुखावह’ बतलाया है और ‘दिष्टः’ कहकर तो उसे आगम होनेका भी संकेत किया है।

(२) ११वीं शताब्दीके ही विद्वान् और वादिराजके कुछ पूर्ववर्ती आ. प्रभाचन्द्रने^४ रत्नकरण्डपर एक सरल और सुन्दर टीका लिखी है, जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें मूल रत्नकरण्डके साथ प्रकाशित हो चुकी है। इससे भी प्रकट है कि रत्नकरण्ड ११वीं सदीसे पूर्वकी रचना है। प्रभाचन्द्रने इस ग्रन्थको स्वामी समन्तभद्र कृत स्पष्ट लिखा है। यथा—

१. सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको निधिः ।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ —यशस्तिलक ।

सर्वमेव विधिर्जनः प्रमाणं लौकिकः सताम् ।

यत्र न व्रतहानिः स्यात्सम्यक्त्वस्य च खंडनम् ॥ —रत्नमाला ६५ ।

२. गोभूमिस्वर्णकच्छादिदानं वसतयेऽर्हताम् ॥ —रत्नमाला ।

३. त्यागी स एव योगीन्द्रः येनाक्षयसुखावहः ।

अर्थिने भव्यतार्थ्या दिष्टः रत्नकरण्डकः ॥—पा. च. श्लोक १९ ।

४. इनका समय पं. महेन्द्रकुमारजीने ई. ९८० से १०६५ दिया है—न्यायकुमुद. द्वि. भाग, प्रस्तावना ।

‘श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादि-
रत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो.....’—रत्न० टी० पृ. १।

(३) आचार्यं सोमदेव (वि. सं. १०१६) के यशस्तिलकमें रत्नकरण्डश्रावका-
चारका कितना ही उपयोग हुआ है, जिसके दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

(क) “स्मयेन योऽन्यान्त्येति धर्मस्थान् गविताशयः।

सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

—रत्नकर. श्लो. २६।

यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन मोदते।

स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥

—यशस्तिलक, पृ. ४१४।

(ख) नियमो यमश्च विहितौ द्वेषा भोगोपभोगसंहारे।

नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥

—रत्न. ८०।

यमश्च नियमश्चेति द्वे त्याज्ये वस्तुनी स्मृते।

यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावर्धिनियमः स्मृतः ॥

—यशस्ति., पृ. ४०३।

अतः रत्नकरण्ड और उसके कर्ताका अस्तित्व सोमदेव (वि. १०१६) से
पूर्वका है।

(४) विक्रमकी ७-८वीं शताब्दीके ग्रन्थकार सिद्धसेनके न्यायावतारमें रत्न-
करण्डश्रावकाचारका ‘आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य’ श्लोक ज्यों-का-त्यों पाया जाता है, जो
दोनों ही ग्रन्थोंके संदर्भोंका ध्यानसे समीक्षण करनेपर निःसन्देह रत्नकरण्डका ही
पद्य स्पष्ट प्रतीत होता है। रत्नकरण्डमें जहाँ वह स्थित है वहाँ उसका मूलरूपसे होना
अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यह स्थिति न्यायावतारके लिए नहीं है, वहाँ यह श्लोक
मूलरूपमें न भी रहे तो भी ग्रन्थका कथन भंग नहीं होता, क्योंकि वहाँ परोक्ष
प्रमाणके ‘अनुमान’ और ‘शाब्द’ ऐसे दो भेदोंको बतलाकर स्वार्थानुमानके कथनके
बाद स्वार्थ शाब्दका कथन करनेके लिए श्लोक ८ रचा गया है और इसके बाद
उपर्युक्त ‘आप्तोपज्ञ’ श्लोक दिया गया है। परार्थ शाब्द और परार्थ अनुमानको
बतलानेके लिए भी आगे स्वतन्त्र-स्वतन्त्र श्लोक हैं। अतः यह पद्य श्लोक ८ में उक्त
विषयके समर्थनार्थ ही रत्नकरण्डसे लिया गया है^१ और उसे लेकर ग्रन्थकारने अपने
ग्रन्थका उसी प्रकार अंग बना लिया है जिस प्रकार अकलंकदेवने आप्तमीमांसाकी
‘सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः’ कारिकाको अपनाकर अपने न्यायविनिश्चयमें कारिका ४१५के
रूपमें ग्रन्थका अंग बना लिया है। इससे रत्नकरण्डका समय निश्चय ही ७वीं
शताब्दीसे पूर्व पहुँच जाता है।

(५) ईसाकी पाँचवीं (विक्रमकी छठी) शताब्दीके विद्वान् आ. पूज्यपादने
सर्वार्थसिद्धिमें रत्नकरण्डश्रावकाचारके कितने ही पद, वाक्यों और विचारोंका

१. विशेषके लिए देखो, ‘स्वामी समन्तभद्र’ पृ. १२७ से १३२।

शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है, जिसका मुख्तार श्री पं. जुगलकिशोरजीने अपने 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक लेखमें अच्छा प्रदर्शन किया है^१। यहाँ उसके दो उदाहरण दिये जाते हैं।

(क) तिर्यक्क्लेशवाणिज्याहिसारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।

कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥ —रत्नक. श्लो० ७६ ।

तिर्यक्क्लेशवाणिज्यप्राणिवधकारम्भकादिषु पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः ।

—सर्वार्थ. ७-२१ ।

(ख) अभिसंधिकृता विरतिः....व्रतं भवति' —रत्नक. श्लो० ८६ ।

व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः ।'—सर्वार्थ. ७-१ ।

ऐसी स्थितिमें छठी शताब्दीसे पूर्व रचित रत्नकरण्डके कर्ता (समन्तभद्र) ११वीं. शताब्दीके उत्तरवर्ती रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु कदापि नहीं हो सकते।

इस विवेचनसे जहाँ यह स्पष्ट है कि रत्नकरण्डके कर्ता रत्नमालाकार शिवकोटिके साक्षात् गुरु नहीं हैं वहाँ यह भी स्पष्ट है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार सर्वार्थसिद्धिके कर्त्ता पूज्यपाद (ई० ४५०) से पूर्वकी कृति है।

अब हम प्रो. सा. के उस मतपर भी विचार करते हैं, जिसमें उन्होंने दोषके स्वरूपको लेकर रत्नकरण्डकश्रावकाचार और आसमीमांसाकारके अभिप्रायोंको भिन्न बतलाया है और कहा है कि 'रत्नकरण्डकमें जो दोषका स्वरूप समझाया गया है वह आसमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।' इसका आधार आपने यह बतलाया है कि समन्तभद्रने आसमीमांसा (कारिका^२ ९३)में वीतराग मुनि (केवली) में सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है। इसपर हम कहना चाहते हैं कि दोषके स्वरूपसम्बन्धमें रत्नकरण्डकार और आप्तमीमांसाकारका अभिप्राय भिन्न नहीं है—एक ही है, और न स्वामी समन्तभद्रने केवली भगवान्में सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है। इसका खुलासा निम्न प्रकार है :—

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लो० ५)में आसके लक्षणमें एक खास विशेषण 'उच्छिन्नदोष' दिया गया है और उसके द्वारा आसको दोषरहित बतलाया गया है। आगे दोषका स्वरूप समझानेके लिए निम्न श्लोक रचा गया है—

क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।

न राग-द्वेष-मोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

इस श्लोकमें प्रायः उसी प्रकार क्षुधादि दोषोंको गिनाकर दोषका स्वरूप समझाया गया है, जिस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य (ईसाको पहली शताब्दी) ने^३ नियमसारकी गाथा^४ नं. ६ में वर्णित किया है।

१. अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११ ।

२. पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखो यदि । वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥

३. डा. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसारकी भूमिका ।

४. छुहत्तण्हीररोसो रागो मोहो विता जराहजामिच्चू ।

स्वेदं खेदो मदो रद्द विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥

अब देखना है कि आप्तमीमांसाकारको भी ये क्षुधादिक दोष अभिमत हैं या नहीं ? इसके लिए हमें आप्तमीमांसाकारकी दूसरी कृतियोंका भी सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए, तभी हम आप्तमीमांसाकारके पूरे और ठीक अभिप्रायको समझ सकेंगे। यह प्रसन्नताकी बात है कि प्रो. साहबने स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासनको आप्तमीमांसाकारकी ही कृतियाँ स्वीकार किया है। स्वयम्भूस्तोत्रमें स्वामी समन्त-भद्रने दोषका स्वरूप वही समझाया है जो रत्नकरण्डमें दिया है। यथा—

क्षुधाविदुःखप्रतिकारतः स्थितिनंचेन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः ।

ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोरितीदमित्थं भगवान् व्यजिज्ञपत् ॥

—स्वयं. श्लो. १८ ।

यहाँ समन्तभद्रने आप्त (केवली) में आहारादिक और क्षुधादि सुख-दुःख वेदनाओंके अभावका प्रतिपादन किया है। वे कहते हैं कि आहारादिसे आत्माका उपकार होना तो दूर रहा, शरीरका भी उपकार नहीं होता, जब उनसे कोई उपकार नहीं होता, तो उनका ग्रहण क्यों होगा ? अर्थात् नहीं होगा। 'क्षुधाविदुःखप्रतिकारतः न स्थितिः', 'इन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः न स्थितिः' और 'ततो गुणो नास्ति च देहदेहिनोः' ये तीन पद विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जिनके द्वारा जहाँ आप्तमें क्षुधादि दुःखों (दोषों) और इन्द्रियविषयसुखोंका अभाव बतलाया गया है, वहाँ प्रतिकार-स्वरूप भोजनादिसे शरीर-शरीरीके उपकारका अभाव भी प्रतिपादन किया गया है। दूसरी बात यह है कि भोजनादि करना और इन्द्रियविषयसुखोंका अनुभव करना तो संसारस्थ मनुष्यका स्वभाव है, मनुष्य-स्वभावसे रहित केवली भगवान्का नहीं। वे उस स्वभावसे सर्वथा छूट चुके हैं और परमोच्च अलौकिक अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं। स्वामी समन्तभद्र स्वयं कहते हैं :—

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः ।

तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः ॥

—स्वयम्भू. श्लो. ७५ ।

इससे यह प्रकट है कि समन्तभद्र स्वामी आपको क्षुधादिदोषरहित मानते हैं और जिसका प्रतिपादन (सामान्य विधान) रत्नकरण्डके उक्त पद्यमें किया है और युक्तिसे समर्थन स्वयम्भूस्तोत्रके प्रस्तुत पद्यमें किया है। यहाँ ध्यातव्य है कि 'क्षुधादि' पदमें प्रयुक्त आदि शब्दसे शेष तृषादि दोषोंका भी ग्रहण किया गया है और उन सबका केवलीमें अभाव स्वीकृत है। महत्त्वकी बात तो यह है कि समन्तभद्रने केवलीमें शेष जन्मादि दोषोंके अभावको भी बतलाया है। यथा—

अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वरसखा सदा ।

त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृतः कामकारतः ॥९३॥

‘ध्वंसि कृतान्तचक्रम्’ —स्वयं. श्लो. ७९ ।

यहाँ अन्तक—मरण और उसके साथी जन्म और ज्वर (रोग) इन तीन दोषोंका अभाव बतलाया गया है।

‘जन्म-जराजिहासया’ (४९), ‘ज्वर-जरा-मरणोपशान्त्यै’ (८१) इन दोनों स्थलोंमें जन्म, ज्वर और मरणके साथ जराका भी स्पष्ट उल्लेख करके उनका केवलीमें

अभाव बतलाया गया है। यहाँ 'जिहासा' और 'उपशान्ति' शब्दोंका अर्थ अभाव विवक्षित है, यह स्पष्ट है।

'विरजो निजं वपुः' (११३), 'निर्मोहः' (१२०), 'त्वं जिन गतमद-मायः' (१४१), 'वीतरागे', 'विवान्तवैरे' (५७), 'स्नेहो वृथात्रेति' (३२), 'भयकामवश्यो' (३४), भूयाद्भवक्लेशभयोपशान्त्यैः' (८०) इन विभिन्न पद्योंमें प्रयुक्त पदोंके द्वारा कहीं शब्दतः और कहीं अर्थतः क्रमसे मल, मोह, मद, राग, वैर (द्वेष), स्नेह, क्लेश और भय इन दोषोंका केवलीमें अभाव प्रतिपादन किया है।

स्मरण रहे कि इन सब स्थलोंमें समन्तभद्रने दिगम्बर परम्परासम्मत दोषोंका ही उल्लेख किया है, श्वे. परम्परासम्मत नहीं। श्वेताम्बर परम्परामें क्षुधा, तृषा, जन्म, ज्वर और जराको दोष नहीं माना है। अतः रत्नकरण्डश्रावकाचारकारको, जो दोषका स्वरूप क्षुधादि अभिमत है—वही आप्तमीमांसाकारको भी अभिमत है—उससे भिन्न उनका अभिप्राय नहीं है। इसलिए विद्यानन्दके व्याख्यानका भी, जो उन्होंने आप्तमीमांसा (कारिका ४ और ६) में किया है और जिसे फुटनोटमें प्रो. साहबने प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है, यही आशय लेना चाहिए। यह भी ध्यान रहे कि वहाँ उनका दृष्टिकोण दार्शनिक है। अतः उसको लेकर उन्होंने दोषका विश्लेषण किया है, और दर्शनान्तरोंमें भी मान्य अज्ञान, राग, द्वेषको कण्ठोक्त कहकर 'आदि' शब्द द्वारा अन्योका ग्रहण किया है। यदि ऐसा न हो, तो उन्हींके श्लोकवार्तिक (पृ. ४९२) गत व्याख्यानसे, जहाँ सबलतासे क्षुधादि वेदनाओंका अभाव सिद्ध किया है, विरोध आवेगा, जो विद्यानन्दके लिए किसी प्रकार इष्ट नहीं कहा जा सकता।

समन्तभद्रका रत्नकरण्डसे भिन्न अभिप्राय बतलानेके लिए, जो यह कहा गया था कि केवलीमें उन्होंने सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार की है, उसका भी उपर्युक्त विवेचनसे समाधान हो जाता है, क्योंकि समन्तभद्रने स्पष्टतः स्वयम्भूस्तोत्र का. १८ के द्वारा सुख-दुःखका केवलीमें स्वयं अभाव घोषित किया है और 'शर्म शाश्वतमवाप शंकरः' (७१), विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत्' (८२) कहकर तो उनके अभावको बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। यहाँ उन्होंने असन्दिग्ध रूपमें प्रतिपादन किया है कि जिनेन्द्रमें शाश्वत सुख है, विषयजन्य अल्पकालिक सुखसे वे पराङ्मुख (रहित) हैं। दो सुख एक साथ रह नहीं सकते, क्योंकि सजातीय दो गुण एकसाथ नहीं रहते, और दुःख तो सुतरात् निषिद्ध है। ऐसी स्थितिमें सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार करनेपर केवलीमें 'शाश्वत सुख' कदापि नहीं बन सकता। इसकी पुष्टि आ. विद्यानन्दके निम्न प्रतिपादनसे भी हो जाती है, जिसमें उन्होंने केवलीमें क्षुधादिकी वेदना होनेपर उनके अनन्तसुखके अभावका प्रसंग दिया है।

‘क्षुधादिवेदनोद्भूतो नार्हतोऽनन्तशर्मता’ —(श्लोकवार्तिक पृ. ४९२)।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आप्तमी. का. ९३ में जो वीतरागमुनिमें सुख-दुःख स्वीकार किया गया है वह छोटे गुणस्थानवर्ती वीतरागमुनियोंके ही बतलाया है, तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती वीतरागमुनि—केवलियोंके नहीं, क्योंकि यहाँ समन्तभद्रको 'वीतरागमुनि' शब्दसे केवली या अरहत नहीं विवक्षित है। यह हम उनके पूर्वोपर कथनों, वर्णनों और सन्दर्भोंके आधारपर अवगत कर

सकते हैं। वस्तुतः 'वीतरागमुनि' शब्दसे वहाँ समन्तभद्रको वह मुनि विवक्षित है, जिसके केशलुंचनादि कायक्लेश सम्भव है, और यह निश्चित है कि वह केवलीके नहीं होता। वीतरागमुनिशब्दका प्रयोग केवलीके अतिरिक्त छोटे आदि गुणस्थानवर्तियोंके लिए भी साहित्यमें हुआ है। वर्तमानमें भी दि. जैन साधुओंके लिए इसका प्रयोग होता है। स्वयं स्वामी समन्तभद्रने 'वीतराग' जैसा ही 'वीतमोह' शब्दका प्रयोग केवलीसे भिन्नोंके लिए आप्तमो. का. ९८ में किया है। इस विवेचनसे स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एक ही अभिप्राय है, भिन्न नहीं और इसलिए वे एक ही ग्रन्थकारकी कृति हैं।

आप्तमीमांसाकार ही रत्नकरण्डके कर्ता हैं, यह अतःपरीक्षण द्वारा भी प्रकट किया जाता है—

(१) रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक ९) में शास्त्रके लक्षणमें उसकी विशेषताकी बतलाने वाला एक महत्त्वपूर्ण पद दिया गया है, जो इस प्रकार है:—

...‘अदृष्टेष्टविरोधकम् । ...शास्त्रं ...’ ।—रत्नक. ९।

युक्त्यनुशासन, आप्तमीमांसा और स्वयम्भूस्तोत्रमें भी यही कहा गया है। यथा—

(क) दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।

—युक्त्यनुशासन श्लो० ४९।

(ख) युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।—आप्तमी० श्लो० ६।

(ग) दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।—स्वयंभू. १२८।

यहाँ तीनों स्थलोंमें रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसा ही कथन किया है।

(२) रत्नकरण्डमें ब्रह्मचर्यप्रतिमाका लक्षण देते हुए लिखा है—

‘पूतिगन्धिबोभत्सम्...अङ्गम्’ (रत्नक. १४३) और यही स्वयंभूस्तोत्रमें सुपार्श्वजिनकी स्तुतिमें कहा है...‘जीवधृतं शरीरम् बोभत्सु पूति क्षयि’ (श्लोक ३२)। ये दोनों वाक्य एक व्यक्तिके ही अभिप्रायको बतलाते हैं।

(३) रत्नकरण्डश्रावकाचारमें आप्तका लक्षण निम्नलिखित किया गया है—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

इसकी तुलना आप्तमीमांसाकी निम्न कारिकाओंके साथ करें—

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

दोषावरणयोर्हानिनिशेषाऽस्त्यतिशयनात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

सूक्ष्मान्तरितद्वारार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थिति ॥५॥

१. (क) सुविदिदपदस्यमुक्तो संजम-तवसंजुदो विगदरागो ।

समणो समसुह-दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥—प्रवच. १-१४।

(ख) ‘सूक्ष्मसाम्परायच्छस्यवीतरागयोश्चतुर्दश’—तत्त्वार्थसूत्र ९-१०।

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।

आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

—आप्तमी. का. ३ से ७ तक ।

यहाँ रत्नकरण्डकमें आपका जो स्वरूप बताया गया है उसे ही आपसीमांसाकी इन कारिकाओंमें विस्तारके साथ सयुक्तिक सिद्ध किया गया है । आपके लिए सबसे पहले उच्छिन्नदोष होना आवश्यक एवं अनिवार्य है । इसके पश्चात् 'सर्वज्ञ' और उसके बाद 'शास्ता' । जो इन तीन गुणोंसे विशिष्ट है वही सच्चा आप्त है । इसके बिना 'आप्तता' सम्भव नहीं है । समन्तभद्र आपसीमांसामें इसे ही युक्तिसे सिद्ध करते हैं । 'दोषावरणयोः' कारिकाके द्वारा 'उच्छिन्नदोष', सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः के द्वारा 'सर्वज्ञ' और 'स त्वमेवासि निर्दोषो' तथा 'त्वन्मतामृत' इन दो कारिकाओंके द्वारा 'शास्ता'—'अविरोधिवाक्' प्रकट किया है । महत्त्वका बात यह है कि रत्नकरण्डमें 'आप्तत्व' के प्रयोजक जिन क्रमविकसित तीन गुणोंका एक ही श्लोकमें जिस क्रमसे प्रतिपादन किया है उन्हें ही आपसीमांसामें अपनाया और उनका उसी क्रमसे विवेचन किया है । विशेषता यह है कि यहाँ उनका प्रतिपादन युक्तिपुरस्सर किया और एक-एक गुण (विशेषण) का एक-एक कारिका द्वारा किया है । 'ह्यन्यथा आप्तता न भवेत्' और 'सर्वेषामाप्तता नास्ति' ये दोनों पद तो प्रायः एक हैं और एक दूसरेका ऐक्य बतलाने के लिए विशेष महत्त्वके हैं, जो किसी भी प्रकार उपेक्षणीय नहीं हैं । अन्यथा आप्तता क्यों नहीं बन सकती ? इसका युक्तिपूर्ण उत्तर रत्नकरण्डश्रावकाचारमें नहीं मिलता और जिसका न मिलना स्वाभाविक है; क्योंकि रत्नकरण्ड धार्मिक रचना है, जिसमें गृहस्थ-धर्मका संक्षिप्त व मौलिक प्रतिपादन है । सुकुमारमति गृहस्थोंको युक्तियाँ दुरधिगम्य होनेसे वे वहाँ विधेय नहीं हैं । इसके लिए उपयुक्त स्थल दर्शनशास्त्र है और इसलिए आपका सयुक्तिक स्पष्टीकरण आपसीमांसाके 'त्वन्मतामृतबाह्यानां' आदि कारिकाओं द्वारा किया गया है । उच्छिन्नदोष आदि तीनों गुणोंके न होनेपर सदोषता, असर्वज्ञता और अहितोपदेशकता आयेगी और उस स्थितिमें आप्तता नहीं बन सकती है । अतः स्पष्ट है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार और आपसीमांसामें आपका स्वरूप एक-सा वर्णित होनेसे उनका कर्ता एक है ।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि रत्नकरण्डश्रावकाचार और आपसीमांसादिका भाषा-साहित्य और प्रतिपादन-शैली भिन्न-भिन्न है । रत्नकरण्डश्रावकाचारकी भाषा अत्यन्त सरल और स्पष्ट है—प्रतिपादनशैली भी प्रसन्न है, पर गहरी नहीं है, जबकि आपसीमांसादि कृतियोंकी भाषा अत्यन्त गूढ़ और जटिल है, प्रतिपादनशैली गम्भीर और सूत्रात्मक है । अतः इन सबका एक कर्ता नहीं हो सकता ? यह शंका उक्त ग्रन्थोंकी एककर्तृकतामें बाधक नहीं है क्योंकि रत्नकरण्डश्रावकाचार धार्मिक दृष्टिसे लिखा गया है और उसके द्वारा सामान्य लोगोंकी धर्मका ज्ञान कराना इष्ट है । आपसीमांसादि दार्शनिक कृतियाँ हैं और इसलिए वे दार्शनिक ढंगसे लिखी गयी हैं । उनके द्वारा विशिष्ट लोगों—विभिन्न दार्शनिकोंकी युक्तिपूर्वक जैनधर्म व दर्शनके

सिद्धान्तोंका रहस्य समझाना अभीष्ट है।

दूर न जाइए, अकलंकको ही लीजिए। अकलंकदेव जब तत्त्वार्थसूत्रपर अपना तत्त्वार्थभाष्य रचते हैं तो वहाँ उनका भाषा-साहित्य कितना सरल और विशद हो जाता है, प्रतिपादनशैली न गम्भीर है और न गूढ़ है। किन्तु वही अकलंक जब लघुयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय और अष्टशती इन दार्शनिक कृतियोंकी रचना करते हैं तो उनकी प्रतिपादनशैली कितनी अधिक सूत्रात्मक, दुरवगाह और गम्भीर हो जाती है। वाक्योंका विन्यास कितना गूढ़ और जटिल हो जाता है कि उनके टीकाकार बरबस कह उठते हैं कि अकलंकदेवके गूढ़ पदोंका अर्थ व्यक्त करनेकी हममें सामर्थ्य नहीं है। अतः जिस प्रकार अकलंकदेवका तत्त्वार्थ-वार्तिकभाष्य आगमिकदृष्टिसे लिखा होनेसे सरल और विशद है और प्रमाणसंग्रहादि दार्शनिकदृष्टिसे लिखे होनेसे जटिल और दुरवगाह हैं, फिर भी इनका कर्त्ता एक है और वे अकलंकदेव हैं, उसी प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचार आगमिकदृष्टिकोणसे लिखा गया है और आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयंभूस्तोत्र दार्शनिकदृष्टिकोणसे। अतः इन सबका कर्त्ता एक ही है और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।

[द्वितीय लेख]^१

‘अनेकान्त’ वर्ष ७, किरण ९-१० और ११-१२ में ‘रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्रकी कृति है’ शीर्षक मेरा दूसरा लेख प्रकाशित हुआ है। उसके उत्तरमें प्रो. हीरालालजीने ‘अनेकान्त’ वर्ष ८, किरण १, २ और ३ में ‘रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाका एककर्तृत्व अभी तक सिद्ध नहीं’ शीर्षक लेख लिखा है। आज उसीपर यहाँ विचार किया जाता है।

केवलीमें १२ दोषोंके अभावका स्वीकार

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें आप्तके लक्षणमें दिये ‘उच्छिन्न-दोष’ विशेषणका स्वरूप क्षुधादि १८ दोष-रहित बतलाया गया है। उसीपरसे प्रो. साहबने रत्नकरण्ड-को आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी रचना न होनेका मत प्रकट किया है और लिखा है कि ‘रत्नकरण्डश्रावकाचारको उक्त समन्तभद्र प्रथम (स्वामी समन्तभद्र) की ही रचना सिद्ध करनेके लिए जो कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उन सबके होते हुए भी मेरा अब यह मत दृढ़ हो गया है कि वह इन्हीं ग्रन्थकारकी रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसमें दोषका जो स्वरूप समझाया गया है वह आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।’

इसपर हमने अपने प्रथम लेखमें आप्तमीमांसाकारकी ही दूसरी रचना स्वयंभू-स्तोत्रके उल्लेखोंके आधारपर यह सिद्ध किया था कि आप्तमीमांसाकारको भी आप्तमें क्षुधादि १८ दोषोंका अभाव इष्ट है। हमारे इस कथनकी आलोचना करते हुए प्रो. सा. ने लिखा था कि ‘पण्डितजीने जिस प्रकारके उल्लेख प्रस्तुत किये हैं उनको देखते हुए मुझे इस बातकी अब भी आवश्यकता प्रतीत होती है कि यहाँ सबसे पहले मैं

१. ‘अनेकान्त’ वर्ष ८, किरण ४-५।

अपने दृष्टिकोणको स्पष्ट कर दूँ। केवलीमें चार घातिया कर्मोंका नाश हो चुका है, अतएव इन कर्मोंसे उत्पन्न दोषोंका केवलीमें अभाव माननेमें कहीं कोई मतभेद नहीं है। रत्नकरण्डके छठे श्लोकमें उल्लिखित दोषोंमें इस प्रकारके पाँच दोष हैं—भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह। अतएव इन दोषोंके केवलीमें अभावके उल्लेख प्रस्तुत करना अनावश्यक है।'

स्मरण रहे कि विलुप्त अध्यायमें प्रो. सा. ने अष्टसहस्री-टीका (आ. मी. श्लो. ४ और ६) का उद्धरण देकर केवलीमें राग, द्वेष और मोह (अज्ञान) इन तीन दोषोंके अभावको ही आप्तमीमांसाकारका अभिप्राय बतलाकर दोषका स्वरूप प्रकट किया था—उनमें भय और स्मय ये दो दोष नहीं कहे थे। अतएव मैंने द्वितीय लेखमें लिखा था कि 'प्रसन्नताकी बात है कि 'राग, द्वेष, मोहके साथ भय और स्मयके अभावको भी केवलीमें प्रो. सा. ने मान लिया है और इस तरह उन्होंने रत्नकरण्डमें उक्त १८ दोषोंमेंसे पाँच दोषोंके अभावको तो स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है। और चिन्ता, खेद, रति, विस्मय और विषाद ये प्रायः मोहकी पर्यायविशेष हैं, यह प्रकट है। अतः मोहके अभावको स्वीकार कर लेने पर इन दोषोंका अभाव भी प्रो. सा. अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। निद्रा दर्शनावरणकर्मके उदयसे होती है, इसलिए केवलीमें दर्शनावरणकर्मका नाश हो जानेसे निद्राका अभाव भी प्रो. साहबको अमान्य नहीं हो सकता। विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत उल्लेखानुसार स्वेदके अभाव—निःस्वेदत्वको भी स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार अस्पष्टतः ७ दोषोंके अभावको और भी आप मान लेते हैं। इस तरह आप्तमें ५ + ७ = १२ दोषोंका अभाव माननेमें प्रो. सा. को कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती।' इस मेरे विशद विवेचनके किये जानेपर अब आप मुझसे पूछते हैं कि 'मैं पण्डितजीसे पूछता हूँ कि उन बारह दोषोंका केवलीमें अभाव माननेमें मुझे आपत्ति थी कब ?'

हमें प्रसन्नता है कि प्रो. साहबने अब प्रस्तुत लेखमें अवश्य उन १२ दोषोंका केवलीमें अभाव माननेमें अनापत्ति स्वीकार कर ली है। पहले तो आपने विलुप्त अध्यायमें तीन ही दोष बतलाये थे, फिर पाँच दोष स्वीकार किये और अब बारह दोष मान लिये हैं। और आशा है कि अगले लेखमें पूरे १८ दोष मान लिये जायेंगे और उनका केवलीमें अभाव स्वीकार कर लिया जायगा। आगे यही ऊहापोह प्रस्तुत है।

आप्तमीमांसां भी रत्नकरण्डोक्त दोषका स्वरूप :

हमने स्वयम्भूस्तोत्रके प्रमाणोल्लेखोंसे यह सिद्ध किया था कि आप्तमीमांसाकारको भी रत्नकरण्डोक्त दोषका स्वरूप स्वीकृत है। इसपर प्रो. सा. ने लिखा था कि 'न्यायाचार्यजी आप्तमीमांसा तथा युक्त्यनुशासनमेंसे तो कोई एक भी ऐसा उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सके, जिसमें उक्त मान्यताका विधान पाया जाता हो। यथार्थतः यदि आप्तमीमांसाकारको आप्तमें उन प्रवृत्तियोंका अभाव मानना अभीष्ट था, तो उसके प्रतिपादनके लिए सबसे उपर्युक्त स्थल वही ग्रन्थ था, जहाँ उन्होंने आप्तके ही स्वरूपकी मीमांसा की है।' इसपर मैंने उनसे प्रश्न किया था कि 'क्या किसी ग्रन्थकारके पूरे और ठीक अभिप्रायको एकान्ततः उसके एक ही ग्रन्थपरसे जाना जा सकता है? यदि नहीं तो आप्तमीमांसापरसे ही आप्तमीमांसाकार स्वामी

समन्तभद्रके पूरे अभिप्रायको जाननेके लिए क्यों आग्रह किया जाता है ? और उनके ही दूसरे ग्रन्थपरसे वैसे उल्लेख उपस्थित किये जानेपर क्यों अश्रद्धा की जाती है ?

इसके साथ ही पाँच हेतु-प्रमाणोंसे आप्तमीमांसा में उसकी कारिका दोमें रत्नकरण्डोक्त दोषका स्वरूप प्रमाणित किया था। अब उन्होंने लिखा है कि 'जो ग्रन्थकार अपने एक ग्रन्थमें आप्तके सुस्पष्ट लक्षण स्थापित करे और आप्तमीमांसा-पर ही एक पूरा स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे, उससे स्वभावतः यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस ग्रन्थमें उन्हीं लक्षणोंकी व्यवस्थित मीमांसा करेगा।' मालूम होता है कि उन्होंने मेरे उन पाँच हेतु-प्रमाणोंपर सर्वथा ही ध्यान नहीं दिया, जिनके द्वारा यह बतलाया गया है कि आप्तमीमांसा का २ में दोषका लक्षण वही किया है जो रत्न-करण्डमें है। थोड़ी देरको यह मान भी लें कि आप्तमीमांसा में वह लक्षण कण्ठतः नहीं, है, तो यह जोर देना अनुचित है कि वह लक्षण भी उसमें कण्ठतः ही होना चाहिए। इसके बारेमें आप्तपरीक्षा और उसकी आप्तपरीक्षालंकृति टीकाका हवाला भी दिया गया था, जहाँ मुख्यतः उक्त क्षुधादि दोषोंके अभावरूपसे आप्तका स्वरूप वर्णित नहीं किया गया है। फिर भी उससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि उसके कर्ताको उक्त लक्षण इष्ट न होगा या उसे बाधित समझा होगा। किन्तु वह लक्षण फलित हो जानेसे वर्णनीय नहीं रहा। यही स्थिति आप्तमीमांसाके लिए है और इसलिए उन तीन विकल्पोंका कोई महत्त्व नहीं रहता, जो इस प्रसंगमें प्रस्तुत किये हैं क्योंकि आप्तमीमांसा और आप्तपरीक्षा दोनोंकी स्थिति एक है और दोनों ही में दार्शनिक दृष्टिकोण मुख्यतः विवेचनीय है और आगमिक गौणतः। अतएव इस सम्बन्धमें और अधिक विवेचन अनावश्यक है। पूर्व लेखमें वह विस्तृत रूपसे किया जा चुका है।

क्षुधादिवेदनाएँ मोहनीयसहकृत वेदनीयजन्य कही गयी हैं :

पिछले लेखमें हमने क्षुधादि वेदनाओंको शास्त्रीय प्रमाणपूर्वक मोहनीयजन्य बतलाया है। यह हमने कहीं नहीं लिखा कि 'क्षुधादि वेदनाएँ सर्वथा मोहनीय-कर्मोत्पन्न हैं।' किन्तु प्रो. साहबको कुछ ऐसा भ्रम हुआ है कि मैं उन्हें सर्वथा मोहनीयकर्मोत्पन्न मानता हूँ। इसके लिए उन्होंने मेरे लेखके दो स्थलोंको कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जो अधूरे रूपमें उपस्थित की गयी हैं। वे पंक्तियाँ अपने पूरे रूपमें निम्न प्रकार हैं:—

'वास्तवमें आप्तमीमांसा में आप्तके राग, द्वेषादि दोष और आवरणोंका अभाव बतला देनेसे ही तज्जन्य क्षुधादि प्रवृत्तियों—लोकसाधारण दोषोंका अभाव सुतराँ सिद्ध हो जाता है। उनके अभावको आप्तमें अलग बतलाना अमुख्य एवं अनावश्यक है।'

'तात्पर्य यह कि समन्तभद्रको आप्तमीमांसा में यथार्थ वक्तृत्व और उसके जनक वीतरागत्व तथा सर्वज्ञत्व रूपसे ही आप्तके स्वरूपका स्पष्टतः निर्वचन करना इष्ट है। क्षुधादि तुच्छ प्रवृत्तियोंके अभावकी सिद्धि तो आप्तमें मोहका अभाव हो जानेसे आनुषंगिक रूपमें स्वतः हो जाती है। अतः उसके साधनके लिए सीधा प्रयत्न या उपक्रम करना आवश्यक नहीं है। क्षुधादि प्रवृत्तियाँ वस्तुतः मोहनीय सहकृत

वेदनीयजन्य हैं। अतएव मोहनीयके बिना केवलीमें वेदनीय उन प्रवृत्तियोंको पैदा करनेमें सर्वथा असमर्थ है।'

मेरे इन पूरे वाक्योंपरसे प्रकट है कि मेरी मान्यता क्षुधादि वेदनाओंको केवल मोहनीय कर्मोत्पन्न माननेकी नहीं है। अपितु उन्हें मोहनीयसहकृत वेदनीयजन्य माननेकी है। वहाँ मोहनीयपर जो जोर दिया गया है, वह शास्त्रसम्मत है। यहाँ उसके समर्थक एक-दो शास्त्रीय प्रमाण भी प्रस्तुत हैं :—

मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोषाश्च विद्रुताः ।
छिन्नमूलतरोर्यद्वद् ध्वस्तं सैन्यमराजवत् ॥
नष्टं छद्मस्थविज्ञानं नष्टं केशादिवर्धनम् ।
नष्टं देहमलं कृत्स्नं नष्टे घातिचतुष्टये ॥
नष्टाः क्षुतृङ्भयस्वेदा नष्टं प्रत्येकबोधनम् ।
नष्टं भूमिगतस्पर्शो नष्टं चेन्द्रियजं सुखम् ॥

—आप्तस्वरूप ।

‘यस्य हि क्षुधादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात्परीषहजयो भवति । न च मोहोदयवशाधानाभावे वेदनाप्रभवोऽस्ति, तदभावात्सहनवचनं भक्तिमात्रकृतम् ।’

—तत्त्वार्थवार्तिक ९-१० ।

इन उद्धरणोंमें मुख्यतः मोहनीयपर जोर दिया गया है, जो उसकी वेदनीयके लिये अनिवार्य सहायकताके रूपमें ही है और यही मेरा वहाँ अभिप्राय है। जहाँ क्षुधादिप्रवृत्तियोंके अभावको अतिशय बतलाया है और उन्हें घातिकर्मक्षयजन्य प्रतिपादित किया गया है वहाँ भी घातिकर्मोंकी वेदनीयमें अनिवार्य सहायकता वर्णित है। यथा—

‘असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायतः ।

त्वय्यर्थाकिंचित्करो नाथ ! सामग्र्या हि फलोदयः ॥

—आदिपुराण २५ वाँ पर्व, श्लो. ४२ ।

‘घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् ।’

—तत्त्वार्थवार्तिक ९-११ ।

अतएव हमने जो क्षुधादिवेदनाओंको मोहनीय या घातिकर्म सहकृत वेदनीय-जन्य बतलाया है वह संगत है।

केवल वेदनीयकर्म क्षुधादिवेदनाओंका जनक नहीं है :—

इस सन्दर्भमें प्रो. सा. ने दो बातोंपर विशेष जोर दिया है। एक तो यह कि वेदनीयकर्म फल देनेमें मोहनीय या घातिकर्मके अधीन नहीं है वह उनसे निरपेक्ष स्वतन्त्र फलदाता है। दूसरी यह कि शास्त्रज्ञोंने इन दोनों कर्मोंको विरोधी बतलाया है, अतः मोहनीय वेदनीयका सहकारी नहीं हो सकता ? पहली बातके समर्थनमें आपने पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (९-१६) और वीरसेन स्वामीकी धवला टीका (१, ९-१, ७। १, ९-१, १८) गत कुछ पंक्तियोंको उद्धृत किया है। पर प्रो. सा. यह भूल जाते हैं कि ये दोनों ही आचार्य वेदनीयको फल देनेमें मोहनीय या घातिकर्माधीन ही मानते हैं। जैसा कि उनके निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट है :—

‘निरस्तघातिकर्मचतुष्टये जिने वेदनीयसद्भावात्तदाश्रया एकादशपरीषहाः सन्ति । ननु च मोहनीयोदयसहायाभावात्क्षुधादिवेदनाऽभावे परीषहव्यपदेशो न युक्तः; सत्यमेवमेतत्; वेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषहोपचारः क्रियते ।’

—सर्वार्थसि. ९-११ ।

‘ण च वेयणीयं तत्कारणं; असहेज्जत्तादो । घाइचउक्कसहेज्जं संतं वेयणीयं दुक्खुप्पाययं । ण च तं घाइचउक्कमत्थि केवलमिम्, तदो ण सकज्जजणं वेयणीयं जलमट्टियादिविरहियबीजं वेत्ति । वेयणीयस्स दुक्खमुप्पाएंतस्स घाइचउक्कं सहेज्ज - मिदि कधं णव्वदे ? तिरयण-पउत्तिअण्णहाणुववत्तीदो ।

घाइकम्मे णट्ठे संते वि जइ वेयणीयं दुक्खमुप्पायइ तो सतिसो सभुक्खो केवली होज्ज ? ण च एवं; भुक्खातिसासु कूर-जलविसयतण्हासु संतीसु केवलस्स समोहवावत्तीदो । तण्हाए ण भुंजइ, किंतु तिरयणट्ठमिदि ण वोत्तुं जुत्तं; तत्थ पत्तासेससरुवमि तदसंभवादो । तं जहा, ण ताव णाणट्ठं भुंजइ; पत्तकेवलणाणभावादो । ण च केवलणाणादो अहियमण्णं पत्थणिज्जं णाणमत्थि जेण तवट्ठं केवली भुंजेज्ज । ण संजमट्ठं; पत्तजहाक्खादसंजमादो । ण ज्झाणट्ठं; विसईकयासेसतिहुव-णस्स ज्झेयाभावादो । ण भुंजइ केवली भुत्तिकारणाभावादो ति सिद्धं ।

अह जइ सो भुंजइ तो बलाउ-सादु-सरीखवचय-तेजसुहट्ठं चेव भुंजइ संसारि-जीवो व्व; ण च एवं समोहस्स केवलणाणाणुवत्तीदो । ण च अकेवलिवयणमागमो, रागदोसमोहकलंकंकिए हरि-हर-हिरणगम्भेसु व सच्चाभावादो । आगमाभावे ण तिरयणपउ ति तित्थवोच्छेदो चेव होज्ज, ण च एवं, तित्थस्स णिब्बाहबोह-विसयी-कयस्स उवलंभादो । तदो ण वेयणीयं घाइकम्मणिरवेक्खं फलं देदि ति सिद्धं ।’

—जयधवला. १-१, पृ. ६८-७१ ।

पहले उद्धरणमें पूज्यपाद स्पष्टतया कहते हैं कि वेदनीयकर्म मोहनीयोदयकी सहायताके बिना क्षुधादि वेदनाओंको उत्पन्न नहीं करता । दूसरे उद्धरणमें वीरसेन स्वामी सबलताके साथ वेदनीयमें मोहनीय एवं घातिकर्मकी सहायकताका समर्थन करते हैं और घातिनिरपेक्ष उसके फल देनेका सख्त विरोध करते हैं । उनके इस उद्धरणका पूरा भाव हिन्दो-टीकाकारोंके शब्दोंमें नीचे उद्धृत है—

‘वेदनीय कर्म केवली भगवान्में अवगुण (दोष) पैदा नहीं करता, क्योंकि असहाय है । चार घातिया कर्मोंकी सहायतासे ही वेदनीय कर्म दुःख उत्पन्न करता है । और चार घातियाकर्म केवली भगवान्में नहीं हैं । इसलिए जल और मिट्टीके बिना जिस प्रकार बीज अपना अंकुरोत्पादन कार्य करनेमें समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार वेदनीय भी घातिचतुष्कके बिना अपना कार्य नहीं कर सकता है ।

शंका—घातिचतुष्क दुःखोत्पादक वेदनीय कर्मका सहायक है, यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—यदि चार घातिया कर्मोंकी सहायताके बिना भी वेदनीय कर्म दुःख देनेमें समर्थ हो, तो केवलीजिनके रत्नत्रयकी निर्बाध प्रवृत्ति नहीं बन सकती है, इससे प्रतीत होता है कि घातिचतुष्ककी सहायतासे ही वेदनीय अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है ।

यदि घातिकर्मके नष्ट हो जानेपर भी वेदनीय कर्म दुःख उत्पन्न करता है तो केवलीको भूख और प्यासकी बाधा होनी चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि भूख और प्यासमें भातविषयक और जलविषयक तृष्णाके होनेपर केवली भगवान्‌को मोहीपनेको आपत्ति प्राप्त होती है।

यदि कहा जाय कि केवली तृष्णासे भोजन नहीं करते हैं किन्तु रत्नत्रयके लिये भोजन करते हैं, तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वे पर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर चुके हैं, अतएव यह कहना कि वे रत्नत्रय (ज्ञान, संयम और ध्यान) के लिये भोजन करते हैं, सम्भव नहीं है। वह इस प्रकारसे है—केवली जिन ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तो भोजन करते नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने केवलज्ञानको प्राप्त कर लिया है और केवलज्ञानसे बड़ा कोई दूसरा ज्ञान प्राप्त करने योग्य है नहीं, जिसके प्राप्त करनेके लिये वे भोजन करें। संयमके लिये भी वे भोजन नहीं करते, क्योंकि यथाख्यात संयम, जो सबसे बड़ा और अन्तिम है, उन्हें प्राप्त है। ध्यानके लिए वे भोजन करते हैं, यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उन्होंने सब पदार्थोंको जान लिया है, इसलिए उनके ध्यान करने योग्य कोई पदार्थ ही नहीं रहा है। अतएव भोजन करनेका कोई कारण नहीं रहनेसे केवली जिन भोजन नहीं करते हैं, यह सिद्ध हो जाता है।

दूसरी बात यह है कि यदि केवली भोजन करते हैं तो वे संसारी जीवोंके समान ही बल, आयु, स्वाद, शरीरकी वृद्धि, तेज और सुखके लिए ही भोजन करते हैं, ऐसा समझा जायगा, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वे मोहयुक्त हो जायेंगे और ऐसी हालतमें उनके केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

यदि कहा जाय कि अकेवली पुरुषोंके वचन ही आगम हैं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर राग, द्वेष और मोहसे कलंकित उनमें हरिहरादिकको तरह सत्यताका अभाव हो जायगा और सत्यताके अभाव हो जानेपर आगमका अभाव हो जायगा और आगमका अभाव हो जानेपर रत्नत्रयकी प्रवृत्ति नहीं बन सकेगी, जिससे तीर्थका विच्छेद ही हो जायगा। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि निर्बाध बोधके द्वारा ज्ञात तीर्थकी उपलब्धि बराबर होती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि घातिकर्मोंकी अपेक्षाके बिना वेदनीय कर्म अपने फलको नहीं देता है।'

वीरसेन स्वामीके इस युक्तिपूर्ण विशद विवेचनसे प्रकट है कि वेदनीयको मोहनीय एवं घातिकर्म निरपेक्ष फल देनेवाला जो वीरसेन स्वामीके वचनोंसे प्रमाणित करनेका प्रयत्न किया गया है वह सर्वथा भ्रान्त है और उनकी विभिन्न स्थलीय विवक्षाओंको न समझने एवं उनका समन्वय न कर सकनेका ही वह परिणाम है।

इसी प्रकारकी भूल उन्होंने अपनी दूसरी बात (वेदनीय और मोहनीयके पारस्परिक विरोध) के समर्थनमें की है। आप लिखते हैं—'परन्तु कर्मसिद्धान्तके शास्त्रज्ञोंको वेसा इष्ट नहीं है, और वे मोहनीयको वेदनीयका सहचारी न मानकर उसका विरोधी ही बतलाते हैं। उदाहरणार्थ, तत्त्वार्थसूत्र ८, ४ की टीकामें कर्मोंके नामनिर्देशक्रमकी सार्थकता बतलाते हुए राजवार्तिककार ज्ञानावरण और दर्शनावरणका साहचर्य प्रकट करके कहते हैं।' आगे राजवार्तिककी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत

करनेके पश्चात् वे कहते हैं कि 'इसी प्रकार श्लोकवार्तिककार स्वयं विद्यानन्दजीने भी स्वीकार किया है।' विद्यानन्दके श्लोकवार्तिककी भी दो पंक्तियाँ प्रस्तुत की हैं।

आश्चर्य है कि यहाँ प्रो. सा. ने वेदनीय और मोहनीयमें विरोध प्रमाणित करनेके लिए उन दो सुप्रसिद्ध आचार्योंके ग्रन्थोंके वाक्योंको उपस्थित किया है जो मोहनीयको वेदनीयका सबलताके साथ सहायक मानते हैं और जो उनके मन्तव्यका जरा भी समर्थन नहीं करते हैं। यथा—

‘यस्य हि क्षुदादिवेदनाप्रकर्षोदयस्तस्य तत्सहनात्परीषहजयो भवति । न च मोहोदयबलाधानाभावे वेदनाप्रभवोऽस्ति तदभावात्सहनवचनं भक्तिमात्रकृतम् ।

घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । यथा विषद्रव्यं मंत्रौषधिबला-
दुपक्षीणमारणशक्तिरुपपुज्यमानं न मारणाय कल्प्यते तथा ध्यानानलनिर्दग्धघाति-
कर्मन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायाभावान्निर्न्तरमुपचीयमानशुभपुद्-
गलसन्ततेवेदनीयाख्यं कर्म सदपि प्रक्षीणसहायबलं स्वयोग्यप्रयोजनोत्पादनं प्रत्य-
समर्थमिति क्षुदाद्यभावः ।’

—त. वार्तिक ९-११ ।

‘न हि सार्द्धेन्धनादिसहायस्याग्नेर्धूमः कार्यमिति केवलस्यापि स्यात् । तथा मोहसहायस्य वेदनीयस्य यत्फलं क्षुदादि तदेकाकिनोऽपि न पुज्यत एव, तस्य सर्वदा मोहानपेक्षत्वप्रसंगात् । तथा च समाध्यवस्थायामपि कस्यचिदुद्भूतिप्रसंगः ।’

‘वेदनीयोदयभावात् क्षुदादिप्रसंग इति चेन्न, घातिकर्मोदयसहायाभावात् तत्सामर्थ्यविरहात् । तद्भावाद्युपचाराद् ध्यानकल्पनवच्छक्तितः एव केवलिन्येकादश-
परीषहाः सन्ति न पुनर्व्यक्तितः, केवलाद्वेदनीयाद्व्यक्तक्षुदाद्यसम्भवादित्युपचारतस्ते
तत्र परिज्ञातव्याः । कुतस्ते तत्रोपचर्यन्ते इत्याह—

लेश्यैकदेशयोगस्य सद्भावादुपचर्यते ।

यथा लेश्या जिने तद्वद्वेदनीयस्य तत्त्वतः ॥

घातिहृत्युपचर्यन्ते सत्तामात्रात् परीषहाः ।

छन्नस्थवीतरागस्य यथेति परिनिश्चितम् ॥

न क्षुदादेरभिव्यक्तिस्तत्र तद्वेत्वभावतः ।

योगशून्ये जिने यद्वदन्यथातिप्रसंगतः ॥

नैकं हेतुः क्षुदादीनां व्यक्तौ चेदं प्रतीयते ।

तस्य मोहोदयाद् व्यक्तेरसद्वेद्योदयेऽपि च ॥

क्षामोदरत्वसम्पत्तौ मोहापाये न सेक्ष्यते ।

सत्याहाराभिलाषेऽपि नासद्वेद्योदयादृते ॥

न भोजनोपयोगस्यासत्त्वेनाऽप्यनुदीरणा ।

असातावेदनीयस्य न चाहारेक्षणाद्विना ॥

क्षुदित्यशेषसामग्रीजन्याऽभिव्यज्यते कथम् ।

तद्वैकल्ये सयोगस्य पिपासादेरयोगतः ॥

क्षुदादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनन्तशर्मता ।

निराहारस्य चाशक्तौ स्थातुं नानन्तशक्तिता ॥

नित्योपयुक्तबोधस्य न च संज्ञाऽस्ति भोजने ।

पाने चेति क्षुधादीनां नाभिव्यक्तिर्जिनाधिपे ॥'

—श्लोकवार्तिक पृ. ४९२ ।

अकलंक और विद्यानन्दके इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि वे मोहनीय एवं घातिकर्मको वेदनीयका सहकारी मानते हैं—विरोधी नहीं ।

हम प्रो. सा. से नम्रतापूर्वक कहना चाहते हैं कि वे उन्हीं स्थलोंको प्रस्तुत करें, जो उनके समर्थक हों ।

तत्त्वार्थवार्तिककार और श्लोकवार्तिककारने मोहनीयको वेदनीयका विरोधी कहकर उनका मात्र पार्थक्य सिद्ध किया है । पर उसको सहायकताका निषेध नहीं किया ।

अतः ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि वेदनीय फल देनेमें मोहनीय या घातिकर्मकी अपेक्षा करता है और इसलिए इन दोनोंमें फलदानमें सहायकताका विरोध नहीं है । इस सम्बन्धमें गो. क. गाथा १९, न्यायकुमुद पृ. ८५९, चामुण्डरायकृत चारित्रसार पृ. ५७-५८, अनगारधर्माभूत पृ. ४६५, शतक, प्रव. टी. पृ. २८, रत्नकरण्डटी. पृ. ६, और भावसं. श्लोक २१६ आदि शास्त्रीय प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं, जहाँ मोहनीय या घातिकर्मकी सापेक्षताका सयुक्तिक वर्णन है ।

[चतुर्थ लेख]

सरागी और वीतरागी देवोंको समानता-असमानतापर विचार—

हमने आपसीमांसाके 'अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः' इस द्वितीय कारिका-वाक्य और उसके आचार्य विद्यानन्द तथा वसुनन्दिकृत टीकागत व्याख्यान-से यह प्रमाणित एवं प्रतिपादित किया था कि आपसीमांसाकारने क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको केवलीमें आभ्यन्तर विग्रहादि-महोदय (शारीरिक अतिशय) के रूपमें स्वीकार किया है—उसे छोड़ा नहीं है । किन्तु वह रागादिमान् स्वर्गवासी देवताओंमें भी पाया जानेसे लक्षण नहीं है—उपलक्षणमात्र है ।

इसपर प्रो. सा. ने यह आपत्ति उपस्थित की है कि यदि क्षुधादि-प्रवृत्तियोंका अभाव सरागी देवोंमें भी हो, तो सरागी और वीतरागी देवोंमें कोई भेद नहीं रहेगा । साथमें क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको घातिकर्मक्षय-जन्य या मोहनीयकर्मक्षय-जन्य नहीं माना जा सकेगा; क्योंकि सरागी देवोंके घातिकर्म और मोहनीयकर्म मौजूद हैं ?

इसका उत्तर यह है कि सरागी और वीतरागी देवोंमें जो भेद है वह क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको लेकर नहीं है, किन्तु सरागता और वीतरागताको लेकर है, जैसा कि उनके नामोंसे और स्वयं आपसीमांसाकारके 'रागादिमत्सु सः' इस प्रतिपादनसे ही प्रकट है । अर्थात् जो स्वर्गवासी देव हैं वे तो राग, द्वेष, मोह आदि दोषोंसे विशिष्ट हैं और जो वीतरागी देव हैं वे उन दोषोंसे सर्वथा रहित हैं—निर्दोष हैं । अतएव क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव दोनोंमें रहनेपर भी सरागता और वीतरागता-कृत भेद उनमें स्पष्ट है । कितनी ही बातोंमें समानता और कितनी ही में असमानता

दोनों हर एकमें रहती हैं। इतना ही है कि जो उनका असाधारण—उसी मात्रमें रहनेवाला और तदतिरिक्तमें न रहनेवाला—धर्म होता है वही उनका व्यावर्त्तक लक्षण (भेदक) माना जाता है। पर जो धर्म उभयत्र दोनोंमें पाया जाता है वह लक्षण नहीं होता—उपलक्षण हो सकता है। अतः मानवीय क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव किसी अपेक्षासे समानता रखनेवाले सरागी और वीतरागी देवोंमें बतलाने-से वे अभिन्न नहीं हो जाते—सकषाय और अकषायका भेद उनमें स्पष्टतः मौजूद है।

अब प्रश्न सिर्फ यह रह जाता है कि फिर उसे (क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको) घातिकर्म-क्षय-जन्य या मोहनीयकर्म-क्षय-जन्य कैसे माना जासकता है क्योंकि इन कर्मोंसे विशिष्ट सरागी देवोंमें भी वह पाया जाता है ?

वास्तवमें हम यहीं भूल करते हैं कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावको सर्वथा घातिकर्म-क्षय-जन्य अथवा मोहनीयकर्म-क्षय-जन्य ही समझ लेते हैं। पर बात यह नहीं है। क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव घातिका कर्मोंके अथवा मोहनीयकर्मके सर्वथा क्षयसे भी होता है और उनके विशिष्ट क्षयोपशमसे भी होता है। कोई भी गुण अथवा दोषाभाव हो वह दो तरहसे होता है—कर्मोंके क्षयसे अथवा कर्मोंके क्षयोपशमसे। कर्मोंके सर्वथा क्षयसे जो दोषाभाव अथवा गुण होता है वह अपने परिपूर्ण रूपमें और सदाके लिये होता है। उस नष्ट दोषके अथवा उत्पन्न गुणके अभावके पुनः होनेकी किसी भी काल, किसी भी क्षेत्र और किसी भी पर्यायमें सम्भावना नहीं रहती। एक बार जहाँ उत्पन्न हुआ, फिर वह सदैव अनन्तकालतक वैसा ही बना रहता है—उसकी प्रच्युति फिर नहीं होती। पर कर्मोंके क्षयोपशमसे जो दोषाभाव अथवा गुण होता है वह न्यूनाधिक और किसी निश्चित काल तकके लिए ही होता है और इसीलिये क्षायोपशमिक गुण अथवा दोषाभाव तरतमता—न्यूनाधिकताको लिये हुए पाये जाते हैं और असंख्यात रूपसे वे घटते-बढ़ते रहते हैं—एक बार उत्पन्न हुआ क्षायोपशमिक गुण अथवा दोषाभाव कालान्तर, देशान्तर और पर्यायान्तरमें नष्ट होकर पुनः भी उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणस्वरूप एक वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमको ही लोजिये, वह सर्वतो न्यून सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तके होता है और सर्वतो अधिक तेरहवें गुणस्थानके उन्मुख हुए बारहवें गुणस्थानवर्ती महायोगी निर्ग्रन्थके और सर्वार्थसिद्धिके देवके है। उसके मध्यवर्ती असंख्यात भेद दूसरे अनन्त प्राणियोंके हैं।

१. 'तद्वितरावृत्तिवे सति तन्मात्रवृत्तिवमसाधारणत्वम्'।—त. सं. ।

२. ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिकर्म कहलाते हैं। इनमें मोहनीयका तो अभाव तीन तरहसे होता है—उपशमसे, क्षयोपशमसे और क्षयसे। शेष तीन कर्मोंका अभाव दो ही तरहसे होता है—क्षयोपशमसे और क्षयसे। उपशम, क्षयोपशम और क्षय तीनों हालतोंमें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव होता है। उपशमकी हालतमें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव अन्तर्मुहूर्त जितने कालके लिए ही होता है। अतः वह यहाँ गौण है। क्षयोपशम अवस्थामें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव कुछ अधिक ६६ सागर तक बना रहता है। और क्षय-अवस्थामें दोषाभाव और गुणका आविर्भाव सादि होता हुआ अनन्तकाल तक अर्थात् सदैव रहता है—फिर उसकी प्रच्युति नहीं होती। इन दोनोंपर ही प्रकृतमें विचार किया गया है।

एक ही जीवके विभिन्न कालोंमें वह संख्यातीत प्रकारसे हो सकता है। इस वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमका ही प्रभाव है कि दो-दो छह-छह महीने और यहाँ तक कि बारह वर्ष तक भी मानवशरीरमें भूख-प्यासादिकी वेदना नहीं हो पाती। यह बात तो आज भी अनुभव सिद्ध है कि वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमकी न्यूनाधिकतासे कोई एक ही उपवास कर पाता है या मामूली ही परिश्रम कर पाता है और दूसरा दस-दस बीस-बीस उपवास कर लेता है या बड़े-से-बड़ा परिश्रम करके भी थकानको प्राप्त नहीं होता। अकलंकदेवने राजवार्तिकमें एक कायबलऋद्धिधारी योगी मुनिका वर्णन किया है, जिसमें कहा गया है कि उन्हें वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे असाधारण काय-बल प्राप्त होता है, जिससे वे एक-एक महीने, चार-चार महीने और एक-एक वर्ष तक प्रतिमायोग धारण करनेपर भी कभी थकते नहीं हैं और न उन्हें पसीना ही आता है। राजवार्तिकका वह उद्धरण इस प्रकार है—

“वीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणकायबलत्वान्मासिकचातुर्मासिकसांव - त्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रम-बलमविरहिताः कायबलिनः” —पृ. १४४।

देवोंके आयुर्कर्म और घातिकर्मका उदय मौजूद है और आयुर्कर्म तो प्रतिक्षण गलता भी रहता है फिर भी उनके जरा नहीं आती—उसका अभाव है और इसीलिए उन्हें ‘निर्जर’^१ कहा गया है। यदि पूछा जाय कि उनके जराका अभाव किस कर्मके क्षयसे है या किस तरहसे है ? तो इसका उत्तर यही दिया जायेगा कि यद्यपि उनके वीर्यान्तरायकर्मका उदय है—क्षय नहीं है, फिर भी उसका उनके भवनिमित्तक विशिष्ट क्षयोपशम है और उससे उन्हें ऐसा बल प्राप्त रहता है कि जिसकी वजहसे वे बुढ़ापाको प्राप्त नहीं होते। इसी क्षयोपशमके प्रभावसे पसीनाका भी उनके अभाव है। तात्पर्य यह कि इस कर्मके क्षयोपशमका बड़ा अचिन्त्य प्रभाव है। इसी प्रकार मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरणके क्षयोपशमको भी समझना चाहिए। निद्रादर्शनाचरण कर्मका उदय उनके विद्यमान है—उसका उनके क्षय नहीं है फिर भी जो उनके निद्राका अभाव है और वे सदैव ‘निर्निमेष’ अथवा ‘अस्वप्न’^२ बने रहते हैं वह उस कर्मके भवनिमित्तक विशिष्ट क्षयोपशमकी ही कृपा है। अन्तर्मुहूर्तमें समग्र द्वादशांग श्रुतका पारायण करनेवाले श्रुतकेवलीको कौन नहीं जानता ? अतः यही बात प्रकृतमें समझिये। केवली भगवान्के चूँकि घातिकर्मोंका सर्वथा क्षय हो चुका है, इसलिये उनके क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव उन कर्मोंके सर्वथा क्षयजन्य है और सरागी देवोंके चूँकि घातिकर्मोंका एक खास तरहका क्षयोपशम है और इसलिए उनके उन प्रवृत्तियोंका खास तरहका अभाव है और वह क्षयोपशमजन्य है, जो क्षयोपशम उनकी आयुपर्यन्त ही रहता है तथा आयुके समाप्त होनेपर पर्यायान्तर—मानव या तिर्यचकी पर्याय—ग्रहण करते ही उस पर्यायानुकूल भूख-प्यासादिकी प्रवृत्ति होने लगती है। अपनी पर्यायमें तो उन मानवसाधारण प्रवृत्तियोंका अभाव ही है। तात्पर्य यह कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव घातिकात्मिक क्षय और उनके क्षयोपशम दोनोंसे होता है। उनका सर्वथा आत्यन्तिक अभाव तो केवलीके होता है, जो घातिकर्मोंके क्षय-जन्य है और देशिक,

१. “अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विवृषाः।” —अमरकोष १-७।

२. “आदित्या ऋभयोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः।” —अमरकोष १-८।

कालिक और पार्यायिक उनका अभाव सरागी देवोंके या विशिष्ट योगियोंके होता है जो घातिकर्मोंके क्षयोपशम-जन्य है। और इसलिए घातियाकर्मोंके क्षय तथा क्षयोपशम और क्षुधादि प्रवृत्तियोंके अभावमें कारण-कार्यभाव सोपपन्न है—इसमें कोई बाधादि-दोष नहीं हैं।

हमारे इस विवेचनका समर्थन आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्रोगत उस महत्वपूर्ण शंका-समाधानसे भी हो जाता है, जो इस प्रकार है—

“अथ यादृशो घातिकक्षयजः स (विप्रहादिमहोदयः) भगवति न तादृशो देवेषु, येनानैकान्तिकः स्यात्। दिवौकस्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते। तथाप्यगमाश्रयत्वाद्देतुः पूर्ववत्।” —पृ. ४।

यहाँ विद्यानन्द पहले शंकाकारके रूपमें कहते हैं कि जैसा घातियाकर्मक्षयजन्य वह निःस्वेदत्वादि महोदय भगवान्में पाया जाता है वैसा देवोंमें नहीं है, उनके तो घातियाकर्म मौजूद हैं—मात्र उनका क्षयोपशम है और इसलिए उनका महोदय घातियाकर्मोंके क्षयजन्य नहीं है—क्षयोपशपजन्य ही है। अतः हेतु अनैकान्तिक नहीं है और इसलिए यह महोदय (घातिकर्मक्षय-जन्य) आप्तपनेका निर्णायक हो सकता है? इसका वे फिर उत्तरकार बनकर उत्तर देते हैं कि फिर भी (उक्त प्रकारसे हेतुमें व्यभिचार वारित हो जानेपर भी) हेतु आगमाश्रय है, पहलेकी तरह। अर्थात् वह आगमपर निर्भर है—आगमकी अपेक्षा लेकर ही साध्यसिद्धि कर सकेगा; क्योंकि आगममें ही भगवान्के निःस्वेदत्वादि महोदयको घातियाकर्मक्षय-जन्य बतलाया गया है और इसलिए यहाँ हेतुवादसे आप्तका निर्णय करनेमें वह अविवक्षित है।

विद्यानन्दके इस शंका-समाधानसे स्पष्ट है कि केवलीके क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभावरूप महोदय घातिकर्मक्षय-जन्य है और सरागी देवोंके वह घातियाकर्मक्षय-जन्य न होकर उनके क्षयोपशम-जन्य है। यही कारण है कि उक्त महोदयको अतिशयमात्र ही बतलाया गया है—उसे लक्षणकोटिमें नहीं रखा गया और इसलिए वह उपलक्षण हो सकता है। यहाँ हम यह भी प्रकट कर देना चाहते हैं कि क्षुधादि प्रवृत्तियोंमें यथासम्भव प्रवृत्तियोंका ही अभाव देवोंमें है, जैसे पसीनाका अभाव, जराका अभाव मानवीय क्षुधा-पिपासाका अभाव, आतंक (रोग) का अभाव, अकालमृत्युका अभाव आदि। और इनकी अपेक्षा सरागी तथा वीतरागी देवोंमें समानता है। पर राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, भय आदिके अभावकी अपेक्षा उनमें असमानता है। आप्तमीमांसा-में चूँकि हेतुवादसे आप्तका निर्णय अभीष्ट है, इसलिए वहाँ वह केवल असमानता (वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता) ही विवक्षित हुई है और इसीके द्वारा अरहन्तको कपिलादिसे व्यवच्छेद करके आप्त सिद्ध किया गया है। पर, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार चूँकि श्रद्धाप्रधान श्रावकोंके धर्मका प्रतिपादक ग्रंथ है, अतः वहाँ हेतुवाद और अहेतुवाद (आज्ञावाद—आगमवाद) दोनों द्वारा स्वीकृत वीतरागतादि एवं अतिशयादियुक्त आप्तका स्वरूप वर्णित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि आप्त-मीमांसा में क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव भी केवलीमें विवक्षित है। पर, लक्षणरूपसे नहीं, किन्तु उपलक्षण अथवा अतिशयरूपसे।

लक्षण और उपलक्षणका विवेक :

मैंने अपने इसी लेखमें आगे चलकर यह बतलाया था कि 'रत्नकरण्ड (श्लोक ५) में आप्तका स्वरूप तो सामान्यतः आप्तमीमांसाकी ही तरह 'आप्तेनोत्सन्न-दोषेण' इत्यादि किया है। हाँ, आप्तके उक्त स्वरूपमें आये 'उत्सन्नदोष' के स्पष्टो-करणार्थ जो वहाँ 'क्षुत्पिपासा' आदि पद्य दिया है उसमें लक्षण राग-द्वेषादिका अभाव और उपलक्षण—क्षुधादिका अभाव दोनोंको 'उत्सन्नदोष' के स्वरूपकोटिमें प्रविष्ट किया गया है।' और फुटनोटमें न्यायकोष तथा संक्षिप्त हिन्दी-शब्दसागरके आधारसे लक्षण और उपलक्षणमें भेद दिखाया था। इसपर प्रो. सा. ने उपलक्षणके दो-तीन और लक्षण अपने मूल लेखमें ही—फुटनोटमें नहीं—उपस्थित किये हैं, मानो वे मेरी दृष्टिमें न हों और अन्तमें मुझसे पूछा है कि 'मेरे मतानुसार क्षुधादि वेदनाओंका अभाव आप्तका किस प्रकारका उपलक्षण है और रत्नकरण्डकार उसके द्वारा आप्तकी क्या विशेषता बतलाना चाहता है? उसके द्वारा आप्तको सरागी देवोंके सदृश बतलाना उन्हें अभीष्ट है या उनसे पृथक्।' मेरे द्वारा लक्षण और उपलक्षणमें सप्रमाण दिखाये गये अन्तरमें आपने कोई दोष नहीं बतलाया और जब उसमें कोई दोष नहीं है तो उपलक्षणके लांगूलपुच्छकी तरह अन्यथासिद्ध और लक्षणोंको प्रस्तुत करना सर्वथा अनावश्यक है। उनसे सिद्ध-असिद्ध कुछ भी नहीं होता। शब्दस्तोममहानिधिगत उपलक्षणके स्वरूपको प्रस्तुत करते हुए तो वे उपलक्षण और अजहत्स्वार्था लक्षणांमें भेद ही नहीं समझ सके। अस्तु, हम पुनः दोहराते हैं कि हमने जो लक्षण और उपलक्षणाके मध्यमें न्यायकोष और हिन्दी शब्दसागरके आधारसे अन्तर दिखाया है वह निर्दोष है और इसलिए वही हमारे लिए वहाँ विवक्षित है। वास्तवमें उपलक्षण कहीं तो शब्दपरक होता है, जैसे "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" में काकपद उपलक्षण है और कहीं अर्थपरक होता है, जैसे आत्माके ५३ भावोंमें जीवत्व-भावके अलावा ५२ भाव उपलक्षण हैं। प्रकृतमें क्षुधादि प्रवृत्तियोंका अभाव आप्तमें अर्थपरक उपलक्षण है और उससे रत्नकरण्डश्रावकाचारका कर्ता आप्तको मानवप्रकृतिसे भी अतीत बतलाना चाहता है। अर्थात् 'वे (केवली भगवान्) लोकोत्तर परम-आत्मा हैं' यह उसके द्वारा प्रकट करना उन्हें अभीष्ट है। सरागी देव मानवप्रकृतिसे अतीत (अमानव) होते हुए भी वे आपसे पृथक् हैं, आप तो मानवप्रकृतिरहित और देवाधिदेव हैं एवं धातिकर्मक्षयजन्य अपरिमित विशेषताओंसे युक्त हैं, पर सरागी देव केवल मानवप्रकृतिरहित ही हैं एवं कर्मोंके विशिष्ट क्षयोपशमजन्य सीमित और अल्पकालिक विशेषताओं—महोदयोंसे ही युक्त हैं—वे देवाधिदेव वीतरागदेव नहीं हैं, यह रत्नकरण्डश्रावकाचारके छठे पद्यमें उसके कर्ताने बतलाया है और यह स्वयं आप्तमीमांसाकारकी ही द्वितीय रचना स्वयम्भूस्तोत्रके 'मानुषीं प्रकृतिसम्भ्यतीतवान्' आदि ७५वें पद्यके सर्वथा अनुकूल है। अतः सरागी और वीतरागी देवोंके कुछ सादृश्यको लेकर उन्हें सर्वथा एक समझना या बतलाना भारी भूल है। इस सम्बन्धमें पहले पर्याप्त विचार किया जा चुका है, अतः और अधिक विस्तार अनावश्यक है।

[पंचम लेख]

क्या रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंका समावेश है ?

मैंने आगे चलकर यह कहा था कि रत्नकरण्डके पांचवें पद्यमें कथित आप्त-लक्षणमें दिये गये 'उत्सन्नदोष' या 'उच्छिन्नदोष' विशेषणका स्पष्टीकरण अथवा स्वरूप-प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकारने अगला 'क्षुप्तिपासा' आदि छठा पद्य रचा है और उसमें उन्होंने लक्षण तथा उपलक्षण दोनों रूपसे 'उत्सन्नदोष'का स्वरूप दिया है।

इसपर प्रो. सा. ने अब यह कहा है कि वहाँ दो विचारधाराओंका समावेश है—पांचवें पद्यमें तो समन्तभद्रस्वामीका आप्तमीमांसा-सम्मत लक्षण है और छठे पद्यमें कुन्दकुन्दाचार्यप्रतिपादित लक्षण। अपने इस कथनका आधार आप यह बतलाते हैं कि एक पद्यके अन्तमें 'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' और दूसरेके अन्तमें 'यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते' वाक्य दिये गये हैं। अतएव वहाँ किसी मेल-जोल या लक्षण-उपलक्षणकी बात नहीं है।

निःसन्देह उल्लिखित पद्योंके अन्तिम वाक्योंके यथास्थित प्रयोगसे वैसा कथन किया जा सकता है, क्योंकि जब हम यह समझते हैं कि दोनों पद्य अपने आपमें परिपूर्ण हैं और वे किसी एक दूसरेकी आकांक्षा नहीं रखते। पर ऐसा समझना बड़ा भ्रम है। इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ विस्तारसे विचार प्रस्तुत किया जाता है।

(क) यदि हम यह मान भी लें कि रत्नकरण्डमें आप्त-लक्षण सम्बन्धी दो विचारधाराओं अथवा मान्यताओंका समावेश है, तो उससे रत्नकरण्ड और आप्त-मीमांसाका भिन्न-कर्तृत्व, जो प्रो. साहबको अभीष्ट है, सिद्ध नहीं होता। एक ग्रन्थकार अपने अन्य ग्रन्थके प्रतिपादनको अपने दूसरे ग्रन्थमें भी दे सकता है—कोई बाधा नहीं है। अतएव आप्तमीमांसाकार आप्तमीमांसाक्त आप्तलक्षणसम्बन्धी प्रतिपादनको रत्नकरण्डमें दे सकते हैं। और कुन्दकुन्दाचार्य तो आप्तमीमांसाकारके पूर्ववर्ती हैं ही, जो अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है^१, और इसलिए आप्तमीमांसाकार उनके द्वारा प्रतिपादित आप्तलक्षणको भी इसमें उपस्थित कर सकते हैं, क्योंकि रत्नकरण्ड आज्ञाप्रधान आगमिक रचना है और कुन्दकुन्दाचार्यका आप्तलक्षण भी आगमिक सर्व-प्रसिद्ध है। अतः रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंका समावेश मान लेनेपर भी उससे रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसाके एककर्तृत्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती है।

(ख) दूसरे, जिन दो विचारधाराओंका यहाँ कथन किया जा रहा है वे दो हैं ही नहीं, क्योंकि समग्र जैन साहित्यमें एक ही आप्तलक्षण किया गया है और वह है अठारह दोषोंका अभावरूप। इसे ही किसीने पूरे रूपमें, किसीने आंशिकरूपमें, या किसीने परिवर्तितरूपमें अपनाया है। वास्तवमें विश्वसनीय—प्रामाणिक व्यक्तिको आप्त कहा जाता है और उसके प्रामाण्यका कारण दोषाभाव माना जाता है। जहाँ यह दोषाभाव पूर्णतः अशेषरूपमें है वहीं पूर्णतः प्रामाणिकता—आप्तता है। सर्वज्ञता और हितोपदेशकता तो दोषाभावके ही फलित रूप हैं। इस बातको स्वयं स्वामी समन्तभद्रने 'स त्वमेवास्ति निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्' इस आप्तमीमांसाकी छठी

कारिकामें स्वीकार किया है। उन्होंने यहाँ सर्वज्ञता और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्व (हिनोपदेशकता) को 'निर्दोषत्व' प्रयुक्त ही बतलाया है। सर्वज्ञताका 'निर्दोषत्व' साधन (कारणहेतु) है और युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वका साध्य (कारणात्मक) है, पर कारण दोनोंके लिए ही है। तात्पर्य यह कि जहाँ आसके लक्षणमें तीनों विशेषण दिये गये हैं वहाँ फलितको भी ग्रहण कर लिया गया है और जहाँ केवल आसके लक्षणमें एक 'उत्सन्नदोष' ही विशेषण कहा गया है वहाँ फलितको गौण कर दिया गया है और यह केवल ग्रन्थकारोंका विवक्षा-भेद है—मान्यता-भेद नहीं। जैसे प्रतिज्ञा और हेतु इन दोको अथवा धर्म, धर्मी और हेतु इन तीनको अनुमानांग प्रतिपादन करना मात्र विवक्षा-भेद है—मान्यता-भेद नहीं।

(ग) तीसरे, पाँचवें पद्यमें कहे गये आसलक्षणमें जो उत्सन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशी ये तीन विशेषण दिये गये हैं उनमें अन्तिम दो विशेषण अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट हैं—सर्वज्ञविशेषणपर तो ग्रन्थकार आसमीमांसा लिख चुके थे और वहाँ उसपर तथा आगमेशीपर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके थे—उत्सन्नदोषपर प्रकाश डालना शेष था और उसपर यहाँ संक्षेपमें प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः 'उत्सन्नदोष' अन्य शेष दो विशेषणोंकी अपेक्षा कुछ अस्पष्ट और सविवाद है। अतः ग्रन्थकारको उसका स्वरूपोद्घाटन अथवा स्पष्टीकरण करना आवश्यक था और इसलिए उसका खुलासा उन्होंने एक स्वतन्त्र (छठे) पद्य द्वारा यहाँ उसके उपयुक्त स्थानपर किया है। यह नहीं कि वहाँ दूसरा आसलक्षण उपस्थित किया गया है। हमारे इस कथनकी पुष्टि इसी ग्रन्थ (रत्नकरण्ड) पर लिखी गयी प्रभाचन्द्राचार्यकृत टीकाके इन पद्योंके उत्थानिकावाक्योंसे भी हो जाती है, जो मूल पद्यों सहित इस प्रकार हैं—

“तत्र सद्दर्शनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूपं व्याचिख्यासुराह—

आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

अथ के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना इत्याशंक्याह—

क्षुत्पिपासाजरातङ्गजन्मान्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥”

यहाँ टीकाकारके 'के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्नाः' इस छठे पद्यके उत्थानिका-वाक्यसे स्पष्टतया प्रकट है कि पाँचवें पद्यगत 'उत्सन्नदोष' का स्वरूप बतलाने अथवा उसका स्पष्टीकरण करनेके लिए ही छठा पद्य रचा गया है और इसलिए वह स्वतन्त्र

१. जान पड़ता है कि जैमिनि आदि पूर्वमीमांसकोंने जब पुरुषमें दोषाभावकी असम्भवता बतलाकर उसमें सर्वज्ञता और धर्माद्युपदेशकताका अभाव प्रतिपादन किया तथा वेदको ही सर्वज्ञ एवं धर्मज्ञ और धर्माद्युपदेशक 'धर्मे चोदनेव प्रमाणं (आस)' बतलाया, तब विशिष्ट पुरुषकी मुक्ति सम्भव प्रतिपादन करनेवाले स्याद्वादियों—जैनोंके लिए 'पुरुषविशेष' को उत्सन्नदोष, सर्वज्ञ और धर्माद्युपदेशक सिद्ध करना आवश्यक हो गया। उसीका यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि उक्त तीनों विशेषणोंसे विशिष्ट आप्तका स्वरूप बतलानेके लिए आप्तमीमांसा जैसे ग्रन्थोंका निर्माण हुआ।

आप्तलक्षणका प्रतिपादक नहीं है, किन्तु पाँचवें पद्यके एक विशेषणका उद्घाटक होने-से उसीका पूरक अथवा अंग है। यदि ऐसा न होता—स्वतन्त्र ही अन्य आप्तलक्षण वहाँ प्रतिपादित होता, तो टीकाकार निश्चय ही उक्त प्रकारसे टीकामें उत्थानिका-वाक्य न बनाकर 'आप्तस्यैव लक्षणान्तरमाह'—आप्तका ही दूसरा लक्षण कहते हैं—जैसा उत्थानिकावाक्य बनाते। पर उन्होंने वैसा उत्थानिकावाक्य न बनाकर और 'के पुनस्ते दोषा ये तत्रोत्सन्ना' इत्यादि रूपसे ही उसे बनाया तथा पूर्व (पाँचवें) पद्यके साथ ही इस छठे पद्यका सम्बन्ध जोड़ा है। ऐसी हालतमें रत्नकरण्डमें दो विचारधाराओंकी कल्पनाके लिए कोई स्थान नहीं रहता। अतः इससे निर्विवाद है कि रत्नकरण्डमें आप्तलक्षणसम्बन्धी दो परिभाषाएँ या मान्यताएँ नहीं हैं।

(घ) चौथे, यद्यपि छठे पद्यके अन्तमें 'यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते' पुनः कहा गया है और वहाँ आप्तशब्दकी स्थिति सामान्य है तथापि वहाँ वह 'उत्सन्नदोष'के अर्थमें प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि 'जिसके क्षुधा आदि अठारह दोष नहीं हैं वह आप्त अर्थात् उत्सन्नदोष (वोतराग) कहा जाता है।' यहाँ प्रश्न हो सकता है कि सामान्यतः प्रयुक्त 'आप्त' शब्दसे 'उत्सन्नदोष' रूप विशेष अर्थका बोध कैसे हो सकता है? सामान्यशब्दसे तो सामान्य अर्थका ही बोध होता है—विशेषका नहीं? विशेषका बोध तो विशेषशब्दसे ही होता है और इसलिए यदि वहाँ 'आप्त' शब्दसे उत्सन्नदोष विवक्षित हो, तो उसी शब्दका प्रयोग होना चाहिए—आप्तशब्दका नहीं? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि सामान्यशब्दका प्रयोग भी विशेष अर्थके बोध करनेमें प्रयुक्त होता है। यह न्याय सर्वप्रसिद्ध है कि 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते'—अर्थात् सामान्यतः प्रयुक्त पद विशेषोंमें अवस्थित होते हैं। अतः इस न्यायसे छठे पद्यमें प्रयुक्त 'आप्त' सामान्यशब्द विशेष 'उत्सन्नदोष' के अर्थमें ग्रहण करना चाहिए। इसके लिए मैं निम्न दो उद्गाहरण उपस्थित करता हूँ, जहाँ सामान्यशब्दको विशेषार्थका बोधक माना गया है—

“मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तते। 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इत्यु-
क्तेर्विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते। परिग्रहप्रकरणात्।” —सर्वार्थ. ७-१७, पृष्ठ ३५५।

“मूर्च्छिरयं मोहसामान्ये वर्तमानः बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिविषयः परि-
गृहीत इति विशेषितत्वात् इष्टार्थसम्प्रत्ययो भवति। सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्व-
वतिष्ठन्ते इति।” —तत्त्वार्थवा. ७-१७, पृ. ५४५।

यहाँ आचार्य पूज्यपाद और भट्टकलंकदेव दोनोंने 'मूर्च्छा परिग्रहः' इस तत्त्वार्थसूत्रोक्त सूत्रमें आचार्य उमास्वामिद्वारा सामान्यतः प्रयुक्त 'मूर्च्छा' शब्दको 'परिग्रह' रूप विशेष अर्थका बोधक बतलाया है और उसके लिए प्रसिद्ध उक्त न्याय-को प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। इसी तरह अष्टसहस्री (पृ. २८१) में आचार्य विद्यानन्दने भी इस न्यायका उल्लेख किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. ४६३) में तो विना विकल्प किये 'मूर्च्छा' शब्द बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहके अर्थमें स्पष्टतः प्रयुक्त किया गया है। इससे यह प्रकट है कि सामान्यशब्दका प्रयोग ग्रन्थकार विशेष अर्थमें भी प्रयुक्त करते हुए पाये जाते हैं और इसलिए रत्नकरण्डके छठे पद्यमें जो सामान्यतः 'आप्त' शब्दका प्रयोग है वह 'उत्सन्नदोष' (वोतराग) के अर्थमें आया

है। ईसाकी पाँचवीं शतीसे पूर्व रचित 'आप्तस्वरूप' ग्रन्थमें 'आप्तं दोषक्षयं विदुः' कहकर उसके रचयिताने दोषक्षय (वीतराग) के लिए सामान्य आप्तशब्दका प्रयोग किया है और जिससे भी हमारे उक्त कथनकी पुष्टि होती है।

अतः इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि रत्नकरण्डमें आप्तके लक्षणविषयमें दो विचारधाराओंका समावेश नहीं है और इसलिए उसकी कल्पना सर्वथा भ्रमपूर्ण है। किन्तु यह संगत है कि आप्तमें जिन अठारह दोषोंका अभाव आवश्यक है उनमें क्षुधादि कुछ दोषोंका अभाव तो उपलक्षणात्मक है और राग, द्वेष, मोह आदि कुछ दोषोंका अभाव लक्षणात्मक है। लक्षण तथा उपलक्षणका अन्तर मैं पहले बतला आया हूँ कि लक्षण तो लक्ष्यवृत्ति ही होता है और उपलक्षण तत्सदृशमें भी रहता है। स्मरण रहे कि यदि क्षुधादि दोषोंका अभाव घातिकर्मक्षयजन्यरूपसे ही कथित हो, तो वह भी लक्षण ही है—उस हालतमें वह उपलक्षण नहीं है। जैसा कि आ. विद्यानन्दने 'घातिकर्मक्षयजः' पदद्वारा स्पष्ट संकेत किया है।

केवलीमें जन्मादि ६ दोषोंके अभावका निर्णय :

केवलीमें १८ दोषोंमेंसे १२ दोषोंके अभावका निर्णय हो चुका है और जिसे प्रो. सा. ने भी स्वीकार कर लिया है। अब संक्षेपमें शेष ६ दोषोंके अभावका निर्णय और किया जाता है।

पाठकोंको ज्ञात है कि मैंने केवलीमें इन दोषोंका अभाव प्रमाणित करनेके लिए स्वयम्भूस्तोत्रके प्रमाणोल्लेखोंको उपस्थित किया था। यहाँ उन्हें पुनः दिया जाता है—

(क) 'अन्तकः क्रन्दको नृणां जन्म-ज्वरसखा सदा।

त्वामन्तकान्तकं प्राप्य व्यावृत्तः कामकारतः ॥९३॥'

(ख) 'तस्माद् भवन्तमजमप्रतिमेयमार्याः' ॥८५॥

(ग) 'त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निवृत्तः' ॥५०॥

(घ) 'त्वया धीमन् ब्रह्मप्रणिधिमनसा जन्मनिगलं,

समूलं निर्भ्रं त्वमसि विदुषां मोक्षपदवीः।' ॥११७॥

(ङ) 'शीलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमि जिनकुञ्जरोऽजरः' ॥१२३॥

इनमें पहले उल्लेखमें केवलीमें जन्म, ज्वर और अन्तक इन तीन दोषोंको स्पष्ट व्यावृत्ति सूचित की गयी है। दूसरे, तीसरे और चौथे इन तीन उल्लेखोंमें जन्मका अभाव और पाँचवें उल्लेखमें जराका अभाव प्रतिपादित किया है और इस तरह इन प्रमाणोल्लेखोंसे केवलीमें जन्म, ज्वर, अन्तक और जरा इन चार दोषोंके अभावकी आप्तमीमांसाकारकी मान्यता सिद्ध हो जाती है। प्रो. साहबने इन उल्लेखोंमेंसे तीसरे उल्लेखके बारेमें तो कुछ लिखनेका कष्ट किया है। पर अन्य चार उल्लेखोंको छोड़ दिया है। यह उन्होंने क्यों किया, यह पाठकोंपर प्रकट हो जाता है; क्योंकि वास्तवमें वे उल्लेख दिनकरके प्रकाशकी तरह स्पष्ट हैं और उनमें जन्म, ज्वर, अन्तक, जरा इन चार दोषोंका केवलीमें अभाव बिना किसी सन्देहके वर्णित है और इसलिए वे उल्लेख उनके अभीष्टके बाधक होनेसे छोड़ दिये गये हैं। हमें इस सम्बन्धमें इतना ही कहना है कि विद्वान्को तभी तक अपना पक्षाग्रह रखना उचित है जब तक उसे समझमें न आये। समझनेके बाद भी यदि वह अपना पक्षाग्रह बनाये

रखता है तो उसे वीतरागचर्चाकी बात छोड़ देना चाहिए। तीसरे उल्लेखके बारेमें प्रो. साहूबने क्या लिखा, उसे भी पाठकोंको देख लेना चाहिए। आपने लिखा है:— 'किन्तु पण्डितजी अपनी विवक्षा मिल जानेसे 'अजः' पर ही रुक गये, उन्होंने आगे दृष्टि डालकर नहीं देखा, जहाँ 'निर्वृतः' विशेषण लगा हुआ है और अर्थको उनकी विवक्षासे परे ले जाता है, क्योंकि उससे स्पष्ट है कि यह वर्णन भगवान्की सिद्ध अवस्थाका है।'

प्रो. साहूबसे हम पूछते हैं कि यहाँ तो 'निर्वृतः' विशेषण लगा हुआ है और इसलिए इस वर्णनको वे भगवान्की सिद्ध अवस्थाका वर्णन बतलाते हैं। पर अन्य चार उल्लेखोंमें क्या कहेंगे; क्योंकि उनमें 'निर्वृतः' अथवा उस जैसा कोई विशेषण नहीं है? इसका उत्तर उनके पास नहीं है और इसीलिए उन उल्लेखोंकी उन्होंने उपेक्षा की है, यह स्पष्ट हो जाता है। आपने मेरी विवक्षा मिल जानेकी बातका उल्लेख करते हुए 'निर्वृतः' विशेषणपर दृष्टि डालकर न देखनेका दोषारोपण किया है। पर वे यह भूल जाते हैं कि यह स्वयम्भूस्तोत्र अरहन्त अवस्थाका स्तवन है, सिद्ध अवस्थाका नहीं और इसीलिए उसे अरहन्तस्तवन, चतुर्विंशतिजिनस्तुति, चतुर्विंशतितीर्थकरस्तवन आदि नामोंसे कहा जाता है, सिद्धस्तवन आदि नामोंसे नहीं। स्वयम्भू-शब्द भी जिनका ही वाची है—सिद्धका नहीं। यदि हम दोनोंका भी उसमें स्तवन मान लें, तो 'निर्वृतः' का केवल सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करना ही अर्थ नहीं है। जैन सिद्धान्तका साधारण अभिज्ञ भी यह जानता है कि निर्वृति जैन सिद्धान्तमें दो प्रकारकी कही गयी है—१. 'परनिर्वृति' और २. 'अपरनिर्वृति'। परनिर्वृति सिद्ध अवस्थाका और अपरनिर्वृति अरहन्त अवस्थाका नाम है। कर्मोंके नाश और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिसे निर्वृति (मोक्ष) कहा गया है। अरहन्त चूँकि चार घातिया-कर्मोंको नाश करते हैं और अनन्तचतुष्टयरूप आत्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं, इसलिए उन्हें परमात्मा, मुक्त, निर्वृत, अरहन्त आदि विशेषणों द्वारा स्मरण किया जाता है और इसलिए यहाँ ('त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः'—५०) 'निर्वृतः' विशेषणसे अरहन्त अवस्थाका ही वर्णन किया गया है, न कि सिद्ध अवस्थाका। दूसरे, इस अन्तिम पद्यमें 'जिन' को सम्बोधन बनाया गया है, सिद्धको नहीं और इसलिए उससे भी स्पष्ट है कि यहाँ जिनावस्था—केवली अवस्थाका प्रतिपादन है और यह प्रकट है कि जिन और सिद्ध एक नहीं हैं—दोनों भिन्न हैं। तीसरे, इस पद्यमें शीतल जिनकी उन हरि, हर, हिरण्यगर्भादि लोकप्रसिद्ध अन्य आत्माओं—देवोंसे तुलना करते हुए उत्कृष्टता बतलायी गयी है, जिन्हें ही अधिकांश जनता आस (यथार्थ देव) समझती है। और इसलिए भी इस पद्यमें सिद्ध अवस्थाका वर्णन नहीं माना जा सकता है। वास्तवमें बात यह है कि जब बच्चों आदिको शीतला आदिकी बीमारी हो जाती है तो लोग उसकी निवृत्तिके लिए शीतलामाता आदि खोटे देवोंकी, जो न पूर्ण ज्ञानी हैं और न पूर्ण निर्वृत (मुखी) हैं किन्तु थोड़ेसे ज्ञानमें ही मदान्ध हैं—उस रोग-निवृत्तिका अपनेमें

१. 'निःश्रेयसं परमपरं च । तत्र परं सकलकर्मविप्रमोक्षलक्षणम्, बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति वचनात् । ततोऽपरमार्हन्त्यलक्षणम्, घातिकर्मक्षयादनन्त-चतुष्टयस्वरूपलाभस्यापरनिःश्रेयसत्वात् ।' —आप्तपरीक्षा, पृष्ठ १ ।

पूरा ज्ञान मान बैठे हैं तथा स्वयं रागद्वेषादिसे पीड़ित हैं, पूजादि करते हैं और इस प्रकार समस्त संसारमें—अज्ञजनोंमें जो एक बड़ी भारी मूढ़ता—लोकमूढ़ता अथवा देवमूढ़ता फैली हुई चली आ रही है उसको दूर करनेका इस पद्यमें प्रयत्न किया गया है और सहेतुक यह सिद्ध किया गया है कि 'शीतल जिनकी ही पूजादि करना श्रेष्ठ है, क्योंकि वे उत्तमज्योति हैं, परिपूर्ण ज्ञानी हैं और स्वयं अज (पुनर्जन्मरहित) एवं पूर्ण सुखी हैं—रागद्वेषादि किसी भी बीमारीसे स्वयं पीड़ित नहीं हैं और इसलिए सच्चे रोगनिवर्तक कहो, सच्चा वैद्य कहो शीतल जिन हैं, उन्हींकी विज्ञजनों—समझदारोंको पूजादि करना चाहिए और मैं भी उन्हींकी पूजा करता हूँ।' उस पूरे पद्यको नीचे दिया जाता है। उसके प्रत्येक पद ध्यातव्य हैं—

‘त्वमुत्तमज्योतिरजः क्व निर्वृतः क्व ते परे बुद्धिलबोद्धवक्षताः ।

ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिन ! शीतलेड्यसे’ ॥५०॥

इस पद्यपरसे एक ऐतिहासिक रहस्यका भी उद्घाटन होता है। वह यह कि जो आज शीतला (चैचक) आदिकी निवृत्तिके लिए शीतला माताकी या अन्य हरिहरादिकी पूजा लोकमें प्रचलित चली आ रही है वह समन्तभद्रके समयमें भी प्रचलित थी और जोरोंपर थी। इसीलिए उन्होंने इस देवमूढ़ता व लोक-मूढ़ताको शीतलजिनकी पूजाके विधान द्वारा हटानेका उसी प्रकार जोरदार प्रयत्न किया है, जिस प्रकार रत्नकरण्डश्रावकाचारमें देवमूढ़तादिको हटानेका किया है^२। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि इस पद्यमें केवली अवस्थाका ही वर्णन है, जब उन्हें जिन कहा जाता है और मोक्षमार्गका उपदेश करते हैं। यहाँ सिद्ध अवस्थाका वर्णन बिल्कुल भी नहीं है। यदि सिद्धोंको भी कहीं जिन कहा गया हो, तो कृपा कर प्रो. सा. बतलायें ? अतएव वहाँ सिद्ध अवस्थाका वर्णन बतलाना असंगत है।

प्रो. सा. अपने कथनको संगत-असंगत न समझते हुए केवल पक्षाग्रहवश आगे और भी लिखते हैं—‘४८वें पद्यमें भगवान्‌के अप्रमत्त संयमका उल्लेख है। उसके पश्चात् ४९वें पद्यमें उनके सयोगि अवस्थासे अयोगि बननेका प्रयत्न वर्णित है। और ५०वें पद्यमें अयोगिसे ऊपर निर्वृत अवस्थामें ‘उत्तमज्योति’ और ‘अज’ गुणोंका निरूपण पाया जाता है। इसी ज्योतिके प्रकाशमें यदि पण्डितजी उन सब उल्लेखोंको देखेंगे, जिन्हें वे आपमें जन्म, जरादि दोषोंके अभावके पक्षमें पेश करते हैं, तो उनका घुन्धलापन दूर हो जायगा।’

इस सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ ? इस समय मुझे सिर्फ हरिभद्रका निम्न पद्य याद आ जाता है—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र, यत्र मतिरस्य निविष्टा ।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र, तत्र मतिरेति निवेशम ॥

१. अरहन्तकी वैद्य भी स्वयं ग्रन्थकारने इसी स्वयम्भूस्तोत्रके निम्न ११वें पद्यमें स्वीकार किया है:—

‘त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।

आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथाऽनाथरुजां प्रशान्त्यै ॥’

२. रत्नक०, २२ और २३वाँ पद्य ।

अर्थात् आग्रही पुरुषकी युक्ति वहीं जाती है जहाँ उसकी बुद्धि स्थिर हो चुकी है। जबकि निष्पक्ष पुरुषकी बुद्धि उसकी युक्तिके पीछे-पीछे दौड़ती है।

प्रो. सा. हरिभद्रकी इस उक्तिका अनुसरण कर रहे हैं। जो हो, मैं तो युक्ति और आगमके प्रकाशमें यही जान सका हूँ कि स्वयम्भूस्तोत्रमें केवलीमें जन्मादि दोषोंका अभाव स्पष्टतः अभिहित है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है।

यहाँ मैं दो बातोंका उल्लेख और कर देना चाहता हूँ। पहली बात तो यह कि पूर्वोक्त चौथे उल्लेखमें कहा गया है कि 'हे जिन ! तुमने जन्मके निगलको समूल निर्भेदन (नाश) कर दिया है और इसलिए आप विद्वानोंके मोक्षपदवी हैं अर्थात् विद्वान् तुम्हें मुक्त कहते हैं।' यहाँ जन्म-निगलको समूल निर्भेदन करनेका उल्लेख एवं प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रो. सा. बतलायें, जन्मका मूल क्या है ? आयुको तो उसका मूल कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह केवली अवस्थामें विद्यमान रहती है। मोहको ही उसका मूल मानना होगा, जिससे जन्म-निगल होता है और जिसके नाशसे वह नष्ट हो जाता है और चूँकि केवलीने मोहका निःशेषण भेदन कर दिया है, इसलिए यहाँ उनके जन्म-निगलका नाश हो जानेका कथन किया गया है। दूसरी बात यह है कि पाँचवें उल्लेखमें अरिष्टनेमिको 'जिनकुंजर' और 'अजर' कहा गया है। साथमें 'शीलजलधि' और 'अभव' ये दो विशेषण और दिये हैं। अतएव यहाँ ध्यान देने योग्य है कि जराका सम्बन्ध वीर्यान्तरायकर्मके साथ है। उसका जिसके जैसा क्षयोपशम होता है उसको वैसी देर या जल्दी जरा आती है—तब तक उसका सामयिकाभाव रहता है। केवलीने वीर्यान्तरायकर्मका सर्वथा क्षय कर दिया है और इसलिए उनके जराका सर्वथा अभाव कहा जाता है। यही वजह है कि 'शीलजलधि', 'जिनकुंजर', 'अभव' जैसे विशेषण भी साथमें और लगाये हैं।

केवलीमें क्षुधा और तृषा इन दो दोषोंका अभाव बतलानेके लिये स्वयम्भूस्तोत्र, पूज्यपादीय नन्दोश्वरभक्ति, पात्रकेसरोस्तोत्र, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और योगदर्शनके प्रमाणोल्लेखोंके उल्लेखपूर्वक हमने कहा था कि—

(१) 'क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः स्थितिर्न' इत्यादि स्वयम्भूस्तोत्रके पद्यसे सिद्ध है कि केवलीमें भूख-प्यासकी वेदना नहीं होती और न उसके दूर करनेके लिये वे भोजन-पानादिको ग्रहण करते हैं। अन्यथा सामान्य जनोके लिये दिया गया उनका यह उपदेश कि क्षुधादि वेदनाओंके प्रतिकारसे न शरीरकी स्थिति है और न आत्माकी—दोनोंके लिये वह प्रतिकार अनुपयोगी है, 'परोपदेशे पाण्डित्य' कहलायेगा। अतः इस पद्यसे फलित है कि केवलीके क्षुधा और तृषाकी बाधा नहीं होती।

(२) जब आसमीमांसकार 'शर्म शाश्वतमवाप शंकरः' कहकर केवलीमें शाश्वत सुख स्वीकार करते हैं तो क्षुधा और तृषाकी वेदना उनमें कदापि सम्भव नहीं है, न भोजनादिजन्य तृप्ति-सुख भी सम्भव है; क्योंकि सुख व्याप्यवृत्ति गुण है और इसलिये शाश्वत सुखको स्वीकार करनेकी हालतमें इन्द्रियसुख नहीं बन सकता है—सजातीय दो गुण एकसाथ एक जगह नहीं रह सकते हैं। अतः जब आसमीमांसकार स्वयं केवलीमें शाश्वत सुख मानते हैं तो उनमें वेदनीयजन्य ऐन्द्रिय सुख-दुःख व क्षुधा-तृषाकी वेदना नहीं है, यह स्पष्ट है। अन्यथा उनके ही कथनमें परस्पर विरोध आवेगा, जो समन्तभद्र जैसे आचार्य द्वारा सम्भव नहीं है।

(३) आसमीमांसाकारके अलावा अन्य आचार्योंने भी केवलीमें क्षुधा और तृषाकी निवृत्ति मानी है, जैसे कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, भद्रबाहु, पात्रकेसरी, अकलंक, विद्यानन्द आदि । इससे प्रकट है कि यह मान्यता प्राचीनतम और मौलिक है । योग-दर्शनके प्रवर्तक पतंजलि भी विशिष्ट आत्मा (योगी) में क्षुधा और तृषाकी निवृत्ति स्वीकार करते हैं—यथा ‘कण्डकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।’—योगद. ३-३० ।

इनमें प्रो. सा. ने पहली और तीसरी बातपर तो कुछ लिखा है; किन्तु दूसरी बातपर कुछ नहीं लिखा, जो खास थी । वस्तुतः उसका उनके पास न कोई समाधान ही है और न उसमें कुतर्कोंका प्रवेश ही सम्भव है, क्योंकि आप्तमीमांसाकारने केवलीमें स्पष्ट शब्दों द्वारा शाश्वत—सदाकालीन सुख स्वीकार किया है, तब ऐन्द्रिय सुख-दुःख, भूख-प्यासकी बाधा उन्हें केवलीमें स्वीकार्य कैसे हो सकती थी ? पहली बातके सम्बन्धमें आपने लिखा है कि “वहाँ (‘क्षुधादिदुःखप्रतिकारतः’ पद्यमें) यथार्थतः क्षुधादि बाईस परीषहोंका संकेत है, जिनको सहन करना प्रत्येक साधुका धर्म है । और यही भगवान्का उपदेश है ।” प्रश्न है कि यदि इस पद्यमें बाईस परीषहोंके सहनेका संकेत है तो ‘इन्द्रियार्थप्रभवाल्पसौख्यतः’ इत्यादि फिर किस लिये कहा गया ? और शरीर तथा शरीरी (आत्मा) के लिये उनको अनुपयोगिता क्यों बतलाई गई ? साधु तो भोजन भी करते हैं और पानी भी पीते हैं ? बात यह है कि भूख-प्यासकी बाधा होनेपर लोग जो उसके प्रतिकारके लिये भोजनादि ग्रहण करते हैं और इन्द्रिय-विषयोंसे सुख मानते हैं उनकी यहां शरीर और शरीरीके लिये अनुपयोगिता बतलाई है, जिससे लोग उनमें आसक्त न रहें । यदि केवली इन्हें ग्रहण करते रहें, तो वे उसकी बुराई, निन्दा और हेयता कदापि नहीं बतला सकते । हमारे और उनके उपदेशमें यही तो अन्तर है कि हमारा तो केवल शुष्क उपदेश है—आवरण नहीं और केवलोका ज्ञान और आवरण दोनों हैं । अतः यहाँ परीषहोंका संकेत न होकर क्षुधा और पिपासा इन दो दोषोंका अभाव केवलीमें प्रतिपादित समझना चाहिए । तीसरी बातके सम्बन्धमें आप अप्रासंगिक भी कह गये हैं । वहाँ हमें यही बतलाना इष्ट है कि केवलीकी बात तो दूर है, एक विशिष्ट संयमका अभ्यास करनेवाले योगीमें भी क्षुधा और पिपासाकी निवृत्ति हो जाती है, जैसे कायबलऋद्धि-धारी योगी मुनिके महीनों, वर्षों तक भूख-प्यासका अभाव हो जाता है । वास्तवमें भूख-प्यासके अभावमें मोहनीय और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशम और क्षयका बड़ा असर होता है और जिससे वेदनीय हतप्रभ हो जाता है । जैन सिद्धान्तमें ये दोनों दोष मोहनीय या घातियाकर्म सहकृत वेदनीयसे उत्पन्न होते माने गये हैं, जैसा कि पहले कहा जा चुका है । अतएव केवलीमें निःसहाय वेदनीय उन दोषोंको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है, यह हम बार-बार कह चुके हैं ।

यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि मूलाचार और भगवती आराधनामें जो अयोगि-केवलीमें पण्डित-पण्डितमरण कहा गया है वह गृहीत शरीरको बिना किसी मोह या पीड़ाके छोड़नेको अपेक्षासे है और इसीलिये उसके साथ पण्डित-पण्डित विशेषण लगा हुआ है । सामान्यमनुष्य जैसा उसका मोह या दुःखजनक मरण नहीं है और न पुनर्जन्मवाला मरण है । इस मरणका ही अभाव केवलीमें प्रति-

पादित किया गया है। यही मरण मोहनिमित्तक है और मनुष्योंको रलानेवाला है। वास्तवमें केवलीके शरीर-त्यागको मरण ही नहीं कहना चाहिए, उसे तो परिनिर्वृति कहना चाहिए, क्योंकि अयोगावस्थामें केवलीके नाम और आयु अपनी स्थितिके पूर्ण हो जानेसे स्वयं हट जाते हैं, उन्हें उससे मोह नहीं रहता, इसीसे शास्त्रकारोंने उनके शरीर-त्यागको परिनिर्वृतिके नामसे उल्लेखित किया है, जो अनेकान्तवादियोंके लिए कोई दोषावह नहीं है।

अब हम यह प्रकट कर देना चाहते हैं कि यदि प्रो. सा. को स्वयम्भूस्तोत्र आदिके उल्लेख मान्य नहीं हों और उनपरसे केवलीमें उपर्युक्त दोषोंका अभाव भी अस्वीकार हो तो वे निर्युक्तिकार भद्रबाहुके प्रतिपादनको तो अवश्य प्रमाण मानेंगे, क्योंकि वे उन्हें तथा स्वामी समन्तभद्रको एक स्वीकार करते हैं। और मैं यह द्वितीय लेखमें निर्युक्तियोंके विविध प्रमाणोल्लेखोंसे बतला आया हूँ कि निर्युक्तिकार भद्रबाहुने केवलीमें जन्म, जरा, मरण, क्षुधा, पिपासा इन दोषोंका अभाव प्रतिपादित किया है और असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंको केवलीमें अपना अशुभ फल न देनेका कथन किया है। इस सम्बन्धमें प्रो. सा. सर्वथा मौन हो गये और इसलिए 'मौनं सम्मतिलक्षणम्' समझना चाहिए। अन्यथा उन्हें समन्तभद्रस्वामी और भद्रबाहु निर्युक्तिकारको दो व्यक्ति स्वीकार कर लेना चाहिए अथवा दोनोंको एक सिद्ध करना चाहिए और उस हालतमें उन्हें केवलीमें उपर्युक्त भद्रबाहु प्रतिपादित जन्मादि दोषोंके अभावको स्वीकार करना अनिवार्य है। अतः प्रो. सा. को दोनों तरफसे 'इतो व्याघ्र इतस्तदी' न्यायका अनुसरण करना होगा। अतः इस विवेचनसे केवलीमें जन्मादि ६ दोषोंके अभावका भी सुस्पष्ट निर्णय हो जाता है।

९३वीं कारिकामें आप्तमीमांसाकारकी विवक्षा :

प्रो. सा. ने केवलीमें सुख-दुःखकी वेदना प्रमाणित करनेके लिए आप्तमीमांसा-की ९३वीं कारिका प्रस्तुत की थी और उसमें प्रयुक्त हुए 'वीतराग' तथा 'विद्वान्' पदोंसे आप्तमीमांसाकारका यह अभिप्राय प्रकट किया था कि वे उसमें केवलीमें सुख-दुःखकी वेदना स्वीकार करते हैं। इसपर हमने बतलाया था कि वहाँ उक्त पदोंसे आप्तमीमांसाकारको केवलीका ग्रहण अभिप्रेत नहीं है, छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण अभिप्रेत है, जो कायक्लेशादि दुःखको और तत्त्वज्ञानजन्य सन्तोषलक्षण—सुखको प्राप्त करते हैं। इसपर आपने बादको लिखा था कि 'यदि उक्त कारिकामें छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया जाय, तो फिर प्रतिपाद्य विषयकी युक्ति ही बिगड़ जाती है और विपरीत होनेसे जो बात असिद्ध करना चाहते हैं वही सिद्ध होती है, क्योंकि छठे गुणस्थानमें सुख-दुःखकी वेदनाके साथ प्रमाद और कषाय इन दो बन्धके कारणोंसे कर्मबन्ध अवश्य होगा।' इसका हमने उत्तर दिया था कि 'पूर्वपक्षी प्रमाद और कषायको बन्धका कारण नहीं मानना चाहता, वह तो केवल एकान्ततः दुःखोत्पत्ति और सुखोत्पत्तिको ही बन्धकारण कहना चाहता है, और उसके इस कथनमें ही उपर्युक्त (कारिकागत) दोष दिये गये हैं। जब उसने अपने एकान्त पक्षको छोड़कर यह कहा कि 'अभिसन्धि' (प्रमाद और कषाय) भी उसमें कारण है, तब उससे कहा गया कि यह तो (हमारी) अनेकान्त सिद्धि आ गयी—आपका

‘परत्र सुख-दुःखोत्पादनं पुण्य-पापबन्धहेतुः’ इत्यादि एकान्त नहीं रहा। इससे यह साफ है कि यहां (९३वीं कारिकामें) छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिकी—(साधु और उपाध्याय परमेश्वरी) ही विवक्षा है। अपने इस कथनका हमने आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत विशद व्याख्यानसे सप्रमाण समर्थन भी किया था।

अब प्रस्तुत लेखमें प्रो. सा. लिखते हैं कि ‘यहां प्रश्न यह है कि आचार्यने पूर्वपक्षीका वह एकान्त पक्ष छोड़ाया कैसे, और उसे यह कैसे विश्वास कराया कि बन्धका कारण केवल सुख-दुःख नहीं होता?’ अपने इस प्रश्नके आगे आप एक गीली और सूखी लकड़ीका उदाहरण देते हुए और लिखते हैं कि ‘ठीक इसी प्रकार आप्त-मीमांसाकी उस कारिकामें पूर्वपक्षीकी जो शंका है कि अपने दुःखसे पुण्य और अपने सुखसे पापका बन्ध होता है उसके निराकरणके लिए आचार्य उसे एक ऐसा व्यक्ति दिखलाते हैं जिसके सुख-दुःख तो हैं किन्तु फिर भी पुण्य-पापका बन्ध नहीं है। ऐसा व्यक्ति वेदनीयोदयसे युक्त किन्तु अबन्धक जीव ही हो सकता है। छठे आदि गुणस्थानवर्ती बन्धक जीवोंके उदाहरण पेश करनेसे पूर्वपक्षीकी बातका खण्डन कदापि नहीं हो सकता, बल्कि उससे तो उसकी शंकाकी ही पुष्टि होगी, क्योंकि उन साधुओं-के सुख-दुःख कषाययुक्त होनेसे कर्मबन्धक हैं ही। अतएव पण्डितजीके समाधानसे उनके पक्षका समर्थन नहीं होता, बल्कि उससे और भी सुस्पष्ट हो जाता है कि आप्तमीमांसाकी ९३वीं कारिकामें छठे गुणस्थानवर्ती मुनिका नहीं, किन्तु अबन्धक गुणस्थानवर्ती संयमीका ग्रहण किया गया है और यदि विद्वान् विशेषण वहां कोई सार्थकता रखता है तो उससे केवलीका ही बोध होता है।’

यहां हमें देखना है कि कि प्रो. सा. का यह कथन सैद्धान्तिक स्थितिके अनुकूल भी है क्या? यह प्रकट है कि उल्लिखित कारिकामें ‘बीतरागो मुनिर्विद्वान्’ शब्दोंसे प्रो. सा. को छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण इसलिए इष्ट नहीं है कि उनके प्रमाद और कषाय इन दो बन्धके कारणोंका सद्भाव होनेसे वे कर्मबन्धक ही हैं और चूँकि कारिकामें अबन्धक व्यक्तिको दिखाना है, जो सुख-दुःखकी वेदनासे युक्त भी हो, इसलिए वहां विद्वान् विशेषणके सामर्थ्यसे अबन्धक—केवलीका वे बोध करते हैं। यह भी ध्यान रहे कि केवलीसे सयोगकेवली जिनका ग्रहण ही उन्हें इष्ट है, अयोगकेवली जिनका नहीं, क्योंकि भूख-प्यास आदिकी वेदना और कवलाहार उन्हीं-के बतलाना उन्हें अभीष्ट है। अब सैद्धान्तिक स्थिति देखें। सिद्धान्तमें कर्मबन्धके पाँच कारण बतलाये गये हैं—१. मिथ्यादर्शन, २. अविरति, ३. प्रमाद, ४. कषाय और ५. योग। जैसा कि ‘तत्त्वार्थसूत्र’ के निम्न सूत्रसे स्पष्ट है :—

“मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः”—त. सू. ८-१।

मिथ्यादृष्टिके पाँचोंसे बन्ध होता है। सासादनसे लेकर चौथे गुणस्थान तकके जीवोंके मिथ्यादर्शनको छोड़कर शेष चारसे बन्ध होता है। पाँचवें संयतासंयत गुणस्थानवालेके मिली हुई अविरति तथा विरति और प्रमाद, कषाय एवं योग इनसे बन्ध होता है। प्रमत्तसंयतके प्रमाद, कषाय और योग इन तीनसे बन्ध होता है। अप्रमत्त आदि सूक्ष्मसाम्पराय तकके जीवोंके कषाय और योगसे बन्ध होता है।

उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके केवल एक योगसे बन्ध होता है। अयोगकेवलीके बन्ध नहीं है। जैसा कि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिसे भी प्रकट है :—

“ते एते पञ्च बन्धहेतवः समस्ता व्यस्ताश्च भवन्ति। तद्यथा—मिथ्यादृष्टेः पञ्चापि समुदिता बन्धहेतवो भवन्ति। सासादनसम्यग्दृष्टि-सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयत-सम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वारः। संयतासंयतस्याविरतिविरतिमिश्रा प्रमादकषाय-योगाश्च। प्रमत्तसंयतस्य प्रमादकषाययोगः। अप्रमत्तादीनां चतुर्णां योगकषायौ। उपशान्तकषाय-क्षीणकषाय-सयोगकेवलिनामेक एक एव योगः। अयोगकेवलिनो न बन्धहेतुः।” —सर्वा. ८-१, पृ. ३७६।

तात्पर्य यह हुआ कि सयोगकेवलीके योगका सद्भाव होनेसे वे भी उसी प्रकार बन्धक हैं जिस प्रकार छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिके प्रमाद और कषायके सद्भावसे वे बन्धक हैं और इसलिए प्रो. सा. ने जो बड़े बौद्धिक व्यायामसे उक्त कारिकामें ‘वीतरागो मुनिर्विद्वान्’ शब्दोंसे केवली अर्थ फलित करनेके लिए सयोगीजिन केवली-को अबन्धक बतलाया है वह एकदम सैद्धान्तिक स्थितिके प्रतिकूल है। कामिक ग्रन्थोंमें स्पष्टतया बतलाया गया है कि सयोगकेवलीके भी योगके सद्भावसे साता-वेदनोपका बन्ध होता है^१ और इसलिए उन्हें अबन्धक कैसे कहा जा सकता है? वास्तवमें बात यह है कि पूर्वपक्षोकी उल्लिखित एकान्त-मान्यता—अपनेमें केवल दुःख उत्पन्न करनेसे पुण्य-बन्ध और केवल सुख उत्पन्न करनेसे पापबन्धका कथन—संगत है या असंगत, यह दिखाना ही आसमीमांसाकारको अभिप्रेत है। अतः उसमें उन्होंने दूषणोद्भावन करके अनेकान्तमान्यताको प्रश्रय दिया है। अब उसे एकान्ती माने या न माने, उसके अधीन है। प्रकाशका काम अन्धकारमें वस्तुको दिखा देना है। देखने-वाला उसे देखकर ग्रहण करे या न करे, यह उसका काम है। अतएव यदि वह आग्रही नहीं है तो अपने एकान्त पक्षको छोड़कर अनेकान्तपक्षको मान लेगा और यदि वह आग्रही है, तो समझकर भी कुतर्क करता रहेगा। सिर्फ जानना यह है कि मात्र दुःखोत्पत्ति और मात्र सुखोत्पत्तिसे क्रमशः पुण्य-पापबन्ध होता है क्या? एक निर्मम तपस्वी साधु घोर तपस्या द्वारा शरीरमें कष्ट और दुःख पहुँचाता है, पर यदि उसका यह कष्ट अथवा दुःख तद्विषयक संक्लेश (कषाय) युक्त नहीं है तो उससे उसके बन्ध कदापि नहीं होगा—अन्य कारणोंसे भले ही होता रहे। और यदि वह संक्लेश-युक्त है तो नियमसे कर्मबन्ध होगा। इसका मतलब यह हुआ कि मात्र दुःखोत्पत्ति और मात्र सुखोत्पत्ति पुण्य-पापकर्मबन्धका कारण नहीं है किन्तु संक्लेशरूप कषाय-मिश्रित दुःखोत्पत्ति और सुखोत्पत्ति पुण्य-पापकर्मबन्धका कारण है। वास्तवमें यदि ऐसा न हो तो अन्तःकृत केवली हो ही नहीं सकते।

यथार्थतः यहाँ उस सांस्कृतिक समस्याको हल किया गया है, जो बौद्ध साधुओंकी ओरसे जैन साधुओंके ऊपर आक्षेपके रूपमें उपस्थित की जाती थी। जैन साधु केशोत्पाटन आदि कठोर तपों द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाते थे। इसपर बौद्ध साधु जैन साधुओंपर यह आक्षेप करते थे कि जैन लोग केशोत्पाटन आदिको पुण्य-

१. “उवसंत-खीणमोहे जोगिम्हि य समयट्ठिदी सादं।

पायव्वो पयडीणं बंधस्संतो अणंतो य।” —गो. क. गाथा १०२।

बन्धका कारण मानते हैं और अपने शरीरको आराम पहुँचानेमें पापबन्ध मानते हैं। उनको कहा गया है कि केवल दुःखसे पुण्य और केवल सुखसे पापका बन्ध नहीं होता, अन्यथा वीतराग एवं विद्वान् मुनि भी पुण्य-पापसे युक्त माने जायेंगे, पर ऐसा नहीं है। जैन सिद्धान्तमें संक्लेशादि युक्त दुःख-सुखको ही पुण्य-पापबन्धका कारण स्वीकार किया गया है और इसलिए केशोत्पाटनादिमें वे संक्लेशादिका अनुभव नहीं करते हैं। जैसा कि स्वयं आप्तमीमांसाकारकी निम्न ९५वीं कारिकासे स्पष्ट है।

विशुद्धि-संक्लेशांगं चेत् स्वपरस्थं सुखसुखम् ।
पुण्य-पापालवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तर्वाहृतः ॥

आप्तमीमांसाकारके अनुसर्ता आचार्य पूज्यपादके उस सर्वार्थसिद्धिगत महत्त्वपूर्ण प्रतिपादनसे भी हमारे उक्त कथनका समर्थन होता है, जो उन्होंने असद्वेद्यकमस्त्रिवर्णनके प्रसंगमें किया है और जो निम्न प्रकार है:—

“अत्र चोद्यते—यदि दुःखादीन्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यालवनिमित्तानि, किमर्थमाहृतैः केशलुञ्चनानशनातपस्थानादीनि दुःखनिमित्तान्यास्थीयन्ते परेषु च प्रतिपाद्यन्ते इति; नैष दोषः; अन्तरंगक्रोधाद्यावेशपूर्वकाणि दुःखादीन्यसद्वेद्यालवनिमित्तानि, इति त्रिशिष्योक्तत्वात्। यथा कस्यचिद्भिषजः परमकरुणाशयस्य निःशल्यस्य संपतस्योपरि गण्डं पाटयतो दुःखहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति। एवं संसार-विषयमहादुःखादुद्विग्नस्य भिक्षोस्तन्निवृत्त्युपायं प्रति समाहितमनस्कस्य शास्त्रविहिते कर्मणि प्रवर्तमानस्य संक्लेशपरिणामाभावात् दुःखनिमित्तत्वे सत्यपि न पापबन्धः।

उक्तञ्च—न दुःखं न सुखं यद्वद्वेतुर्दृष्टश्चिकित्सिते ।

चिकित्सायां तु युक्तस्य स्यात् दुःखमथवा सुखम् ॥

न दुःखं न सुखं तद्वद्वेतुर्नोक्षस्य साधने ।

मोक्षोपाये तु युक्तस्य स्यात् दुःखमथवा सुखम् ॥२॥”

अतः आप्तमीमांसाकारको आप्तमीमांसाकी उक्त कारिकामें केवल दुःख-सुखसे पुण्य-पापका बन्ध नहीं होता, यह दिखाना है और उसे दिखाकर पूर्वपक्षीके एकान्त पक्षको छुड़ाना है तथा छुड़ाया भी गया है। जिस आपत्ति (बन्धकत्व) के कारण प्रो. सा. ‘वीतरागो मुनिर्विद्वान्’से छठे आदि गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण नहीं कर रहे—उसके ग्रहण करनेमें हिचकिचा रहे हैं वही आपत्ति (बन्धकत्व) उसका केवली अर्थ करनेमें भी मौजूद है। इसलिए पहले जो हम कह आये हैं कि पूर्वपक्षी प्रमाद और कषाय (अथवा योग) को बन्धका कारण न मानकर केवल एकान्ततः दुःखोत्पत्ति और सुखोत्पत्तिको ही कर्म-बन्धका कारण कहना चाहता है और उसके इस कथनमें ही उक्त दोष दिये गये हैं, वही युक्त है—उसमें कोई भी बाधा नहीं है। अतः कारिकागत ‘वीतरागो मुनिर्विद्वान्’ पदोंसे छठे गुणस्थानवर्ती मुनि (साधु और उपाध्याय परमेश्वर) का ही ग्रहण करना आप्तमीमांसाकारको इष्ट है। जैसा कि विद्यानन्दके अष्टसहस्रीगत व्याख्यानसे स्पष्ट है।

अज्ञान स्वयं मल है, मलजनक नहीं :

हमने प्रो. सा. की एक सैद्धान्तिक भूल उन्हींके वाक्योंको उद्धृत करके बतलायी थी। उनके वे वाक्य निम्न प्रकार हैं—

‘ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानोंमें भी वीतरागता होते हुए भी अज्ञानके सद्भावसे कुछ मलोत्पत्तिकी आशंका हो सकती है।’ इसपर हमने लिखा था कि ‘परन्तु सिद्धान्तमें बिना मोहके अज्ञानको बन्धका कारण या मलोत्पत्तिका जनक नहीं माना है।’ इसके साथ ही स्वयं आप्तमीमांसाकार तथा अष्टसहस्रीकारके कथनोंसे उसका सप्रमाण समर्थन किया था। अब प्रो. सा. लिखते हैं कि ‘इस सिलसिलेमें पण्डितजीने मेरे सिर एक सैद्धान्तिक भूल जबर्दस्ती मढ़ दी है कि मैंने अज्ञानको भी बन्धका कारण बतालाया है और फिर आपने उसपर एक लम्बा व्याख्यान भी झाड़ा है।’ आगे अपने लेखका पूरा उद्धरण उपस्थित करके पाठकोंसे इसे देखनेकी प्रेरणा करते हुए लिखा है कि ‘कृपया पाठक देखें कि मैंने यहां कहाँ अज्ञानको बन्धका कारण कहा है? मैंने तो उससे मलोत्पत्तिकी बात कही है और वह ठीक भी है क्योंकि आप्तमीमांसाकारने उसे दोष कहा है और उसे मलकी उपमा दी है और अकलंक तथा विद्यानन्द जैसे टीकाकारोंने भी उसे आत्माका मल ही कहा है।’ इसके आगे मेरे कथनको ‘हीन प्रवृत्ति’ बतलाते हुए आपने इन आचार्यों तथा ध्वलाकारके कुछ अज्ञानको मल कहनेवाले वाक्योंको दिया है।

यहां निम्न तीन बातें विचारणीय हैं। प्रथम तो यह कि प्रो. सा. ने उक्त वक्तव्यमें क्या अज्ञानसे मलोत्पत्ति नहीं कही? दूसरी यह कि यदि अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है तो सैद्धान्तिक भूल क्यों नहीं हुई? तीसरी यह कि यदि सैद्धान्तिक भूल है तो उसके बतलानेपर वह क्या हीन प्रवृत्ति है?

(१) प्रथम बातके सम्बन्धमें मेरा कहना है कि जब आप यह कहते हैं कि ‘मैंने तो उससे मलोत्पत्तिकी बात कही है।’ तब स्पष्ट है कि आप अज्ञानको मलोत्पत्तिका जनक या बन्धका कारण कह रहे हैं। कोई यह कहे कि अग्निसे धूमोत्पत्ति होती है और फिर वह कहने लगे कि हमने अग्नि को धूमका कारण कहाँ कहा? तो क्या उसे विक्षिप्त नहीं कहा जायगा? स्पष्ट है कि उसका वह कथन अयुक्त और विरुद्ध समझा जायगा। अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी बात कहना या अज्ञानको मलोत्पत्ति जनक बतलाना एक ही बात है। न्यायका साधारण अभिज्ञ भी यह जानता और मानता है कि पंचम्यन्त प्रयोग हेतुपरक होता है। प्रकृतमें जब अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी बात कही जाती है तो स्पष्टतः पंचम्यन्त प्रयोग है। और यह प्रकट है कि मलोत्पत्ति जनक और बन्धका कारण दोनों एक हैं—उनमें जरा भी भेद नहीं है। प्रो. सा. जब अज्ञानसे अपनी मलोत्पत्तिकी बातको ठीक बतलानेके लिए यह कहते हैं कि ‘क्योंकि स्वयं आप्तमीमांसाकारने उसे दोष कहा है और उसे मलकी उपमा दी है आदि’ तो हमें उस व्यक्तिकी याद आ जाती है जो कहता है कि पानीसे पेय होता है क्योंकि सभीने पानीको पेय कहा है। विवाद पानीको पेय होनेमें नहीं है, विवाद है पानीसे पेय होनेमें। अतएव उसके वैसे कथनको सुनकर किसे हँसी नहीं आवेगी। ठीक उस व्यक्ति जैसा कथन हमारे प्रो. सा. का है, क्योंकि प्रश्न तो यह है,

क्या आपने अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है ? यह प्रश्न नहीं है कि अज्ञान स्वयं मल है क्या ? क्योंकि उसे मल होनेमें विवाद ही नहीं है और इसलिए उसे मल सिद्ध करनेके लिए जो आप्तमीमांसाकार आदिके वाक्योंको उपस्थित किया गया है वह सर्वथा निरर्थक है। आपको तो अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी अपनी बातको साबित करनेवाले प्रमाण उपस्थित करना चाहिए था, पर उन्हें उपस्थित न कर इधर-उधर दौड़ना बुद्धिमानी नहीं है। बुद्धिमानी तो इसमें है कि जो अज्ञानसे मलोत्पत्तिकी बात कही गयी है वह भूलसे कही गयी है, इस प्रकारसे अपनी भूल स्वीकार कर ली जाय, न कि एक भूलकी पुष्टिके लिए नई और अनेकों भूलों की जायें। इससे यह पाठकोंपर बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रो. सा. ने अज्ञानसे मलोत्पत्ति स्पष्टतः कही है।

(२) जब अज्ञानसे मलोत्पत्ति कही है तो उससे प्रकट है कि उन्होंने सैद्धान्तिक भूल की है क्योंकि सिद्धान्तमें बिना मोहके अज्ञानको मलोत्पत्तिका जनक नहीं माना है और इसलिए यह भूल मैंने उसके सिर जबर्दस्ती नहीं मढ़ी—उन्होंने उसे स्वयं की, इसलिए वह उनके सिर मढ़ी गयी।

(३) और जब उनकी यह सैद्धान्तिक भूल है; तो उसे बतलाना क्या अनुचित या होन प्रवृत्ति है ? महापुरुषोंका लक्षण यह है कि वे प्रायः भूल नहीं करते और यदि कदाचित् हो जाये, तो मालूम पड़ने पर उसे तुरन्त स्वीकार करके, प्रायश्चित्त ले लेते हैं।

कारिकाके वीतराग और विद्वान् पद :

हमने यह कहा था कि 'कारिकामें जो वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दका प्रयोग है वह एक पद नहीं है और न एक व्यक्ति उसका वाच्य है किन्तु ९२वीं कारिकामें आये हुए 'अचेतनाकषायौ' की तरह इसका प्रयोग है और उसके द्वारा 'वीतरागमुनि' तथा 'विद्वान्मुनि' इन दोका बोध कराया गया है। आचार्य विद्यानन्दने तो 'वीतरागो विद्वान्श्च मुनिः' कहकर और 'च' शब्दका साथमें प्रयोग करके इस बातको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। इसपर प्रो. सा. का कहना है कि 'वीतराग और विद्वान् गुण परस्पर विरोधी भी नहीं हैं जो एक व्यक्तिमें न पाये जाते हों। इस कारिकामें क्रिया भी एकवचन है। तब फिर यहाँ वीतराग और विद्वान् दोनोंके विशेष्य दो अलग-अलग मुनि माननेकी क्या सार्थकता है और उसके लिए कारिकामें क्या आधार है ?'

इसपर हमारा निवेदन है कि यद्यपि वीतरागता और विद्वत्ता ये दो गुण परस्पर विरोधी नहीं हैं, पर यदि वक्ताकी उन दो गुणोंसे दो व्यक्तियोंका बोध करानेकी विवक्षा हो, तो उसे कौन रोक सकता है ? आचार्य, उपाध्याय और साधु इन तीन परमेश्वरोंमें भी तो कोई मौलिक भेद नहीं है। साधुके अट्टाईस मूलगुण क्या उपाध्याय और आचार्य नहीं पालते ? अथवा उपाध्यायके स्वाध्यायका काम आचार्य और साधु नहीं करते ? या आचार्यके पंचाचारादिका पालन उपाध्याय और साधु नहीं करते ? यदि करते हैं, तो ये जुदे-जुदे तीन परमेश्वर फिर क्यों कहे गये ? अरहन्त और सिद्ध इन दोके सिवाय एक साधु परमेश्वर ही सिद्धान्तमें बतलाना उचित था और इस तरह पाँच परमेश्वर न कहे जाकर तीन ही परमेश्वर कहे जाना उपयुक्त था; लेकिन ऐसा नहीं है। वास्तवमें बात यह है कि ये तीन परमेश्वर अपनी-अपनी मुख्य

विशेषताओंसे प्रतिपादित हैं। आचार्यका काम अपने संघको उचित मार्गपर चलाना, नवोंको दीक्षा देना आदि है। उपाध्यायका कार्य स्वयं पढ़ना और संघके साधुओंको पढ़ाना है और साधुका कार्य आचार्यद्वारा विहित मार्गपर चलना और उपाध्याय-द्वारा दी गयी शिक्षाको प्राप्त करना है। अर्थात् 'साधोः कार्यं तपःश्रुते'—साधुका कार्य तप और श्रुत है और इन्हीं विशेषताओंसे ये तीन परमेष्ठियोंके पद रखे गये हैं। इसी तरह प्रकृतमें आप्तमीमांसाकारको उन दो मुनियोंका ग्रहण बतलाना है जिनमें एक तो तपकी मुख्यतासे तपस्वी एवं वीतरागी है—अनशनादि और कायक्लेशादि तपोंको करते हुए भी उसे राग-द्वेष या संक्लेश नहीं होता और दूसरा तत्त्वज्ञानकी मुख्यतासे विद्वान् है—तत्त्वज्ञानजन्य सन्तोष सुखको प्राप्त करता हुआ भी उत्सेकादि-भाव रहित है। इन्हीं दो पृथक् विशेषताओंसे यहाँ वीतरागमुनि और विद्वान्मुनि अर्थात् साधु परमेष्ठी और उपाध्याय परमेष्ठी ये दो मुनिविशेष विवक्षित हुए हैं।

अब प्रश्न सिर्फ यह रह जाता है कि कारिकामें 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' यह सविभक्तिक असमस्त प्रयोग क्यों हुआ है? यदि एक ही मुनि व्यक्तिकी यहाँ विवक्षा होती, तो 'वीतरागविद्वान्मुनि' जैसा अविभक्तिक समस्त प्रयोग किया जाता। साथमें टीकाकार आचार्य विद्यानन्द 'वीतरागो विद्वान्च मुनिः' ऐसा प्रयोग कदापि न करते और न साथमें 'च' शब्द देते। विद्यानन्दने भी कारिकामें जब सविभक्तिक असमस्त प्रयोग देखा और ग्रन्थकारकी उसपर यह विवक्षा मालूम की कि वहाँ दो मुनि व्यक्ति ही उन्हें विवक्षित हैं—एक वीतरागमुनि और दूसरा विद्वान् मुनि—तो उन्होंने वैसा व्याख्यान किया तथा भ्रान्ति-वारणके लिए 'च' शब्द भी लगा दिया।

अतएव हमने लिखा था कि 'जान पड़ता है प्रो. सा. को कुछ भ्रान्ति हुई है और उनकी दृष्टि 'च' शब्दपर नहीं गयी है। इसीसे उन्होंने बहुत बड़ी गलती खाई है और वे 'वीतरागविद्वान्मुनि' जैसा एक ही पद मानकर उसका केवली अर्थ करनेमें प्रवृत्त हुए हैं?' इसपर प्रो. सा. मुझसे पूछते हुए कहते हैं कि 'मैं पण्डितजीसे पूछता हूँ कि 'च' शब्दपर मेरी ही दृष्टि नहीं गयी या स्वयं आप्तमीमांसाकारकी भी नहीं गयी, क्योंकि उनकी कारिकामें भी 'च' कहीं दिखाई नहीं देता।' प्रो. सा. के इस हेतुरूप कथनको पढ़कर हमें हँसी आती है, क्योंकि आप्तमीमांसाकी इस कारिकाको जिसने पढ़ा अथवा पढ़ाया है वह जानता है कि आप्तमीमांसा अनुष्टुप-पद्यात्मक और सूत्रात्मक रचना है। उसमें जितने शब्दोंको देनेकी गुंजाइश थी उतने शब्द दे दिये हैं। दूसरे, उन्होंने 'वीतरागो मुनिः विद्वान्' ऐसा सविभक्तिक प्रयोग किया ही है और इसलिए मूलकारको 'च' शब्द देनेकी आवश्यकता नहीं थी। यह कौन नहीं जानता कि टीकाकार मूलके व्याख्यानमें ऊपरसे अपनी तरफसे कितने ही 'भवति, वर्तते, अपि च, एव' आदि शब्दोंको 'वाक्यशेष' के रूपमें जोड़ते हैं और जो मूलकी विवक्षाको खोलते हैं?

अब आपका एक तर्क और रह जाता है वह यह कि कारिकामें एक वचनकी क्रिया है, इसलिए उसका एक मुनि व्यक्ति ही कर्ता है, दो नहीं? क्यों साहब, एक वचनकी क्रिया सविभक्तिक अनेक कर्ताओंके लिये नहीं आसकती? और उसका प्रत्येक कर्ताके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता? यदि आसकती और हो सकता है तो

प्रकृतने क्या अपराध किया ? 'देवदत्तः, जिनदत्तः, गुरुदत्तः भोज्यताम्' अथवा 'चैत्रः मैत्रश्च स्वकार्यं कुर्यात्' इत्यादि वाक्योंको किसने पढ़ा और सुना नहीं है ?

इससे साफ है कि एकवचनकी क्रिया सविभक्तिक अनेक कर्ताओंके लिए भी आती है। दूसरे, यदि उक्त पदसे केवल एक केवली व्यक्ति ही ग्रन्थकारको विवक्षित होता, तो उसी केवली पदके रखनेमें उन्हें क्या बाधा थी ? केवली अर्थके बोधक गुरुभूत 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' पदकी अपेक्षा 'केवली' पद तो लघु ही था। अतः इन सब बातों तथा उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि कारिकामें 'वीतरागो मुनिर्विद्वान्' शब्दोंसे अलग-अलग साधु और उपाध्याय मुनिरूप दो व्यक्ति ही विवक्षित हैं।

केवलीमें सुख-दुःखकी वेदनाएँ सिद्धान्तसम्मत नहीं हैं :

केवलीमें सुख-दुःखकी वेदनाएँ माननेपर मैंने आपत्ति दी थी और लिखा था कि 'केवलीके सुख-दुःखकी वेदना माननेपर उनके अनन्त सुख नहीं बन सकता, जिसे स्वयं आसमीमांसाकारने भी 'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः' शब्दों द्वारा स्वीकार किया है; क्योंकि सजातीय-व्याप्यवृत्ति दो गुण एक साथ एक जगह नहीं रह सकते।'।

प्रो. सा. ने मेरी इस आपत्तिको 'आशंका' कहकर उसमेंसे पहली पंक्तिको ही उद्धृत किया है और उसका कुछ उत्तर दिया है। पर मेरे उक्त हेतुका उन्होंने न खण्डन किया है और न उसका उत्तर ही दिया है, क्योंकि उक्त हेतुका उनके पास कोई खण्डन ही नहीं है और इसीलिए वे मेरे द्वारा उसका समाधान करनेकी बार-बार प्रेरणा करनेपर भी उसे छोड़ते आ रहे हैं। वास्तवमें सुख व्याप्यवृत्ति गुण है—प्रादेशिक नहीं है, इसलिए केवलीमें जब शाश्वत 'अकर्मज अतीन्द्रिय' सुख हो चुका है तो फिर उसके साथ साता-असाताजन्य सुख-दुःख कदापि नहीं हो सकते, यह एक निर्णीत तथ्य है, जिसे प्रो. सा. नहीं मान रहे और उसकी उपेक्षा करते जा रहे हैं।

अब हम उनके उत्तरको भी देखें, जो उन्होंने मेरी पहली साध्यरूप पंक्तिका दिया है। आप लिखते हैं कि 'यदि ऐसा होता तो फिर कर्मसिद्धान्तमें केवलीके साता और असाता वेदनीयकर्मका उदय माना ही क्यों जाता ? और यदि सुख-दुःखकी वेदनामात्रसे किसी जीवके गुणका घात होता, तो वेदनीयकर्म अघातिया क्यों माना जाता ?' क्यों सा., यदि अग्निसे कभी धूम उत्पन्न नहीं होता और कोई अग्निसे सदैव धूम माननेपर यह आपत्ति करे कि यदि अग्निसे सदैव धूमोत्पत्ति मानी जायेगी तो अग्निसे कादाचित्क धूमोत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तो क्या उसका परिहार यह किया जायेगा कि यदि ऐसा न होता तो अग्निको धूमका कारण माना ही क्यों जाता ? नहीं, क्योंकि यद्यपि अग्नि धूमका कारण है, पर आर्द्रेन्धनसंयुक्त होकर ही वह धूमको उत्पन्न करती है। दूसरे, कारणके लिए यह आवश्यक ही नहीं है कि वह कार्योत्पत्ति नियमसे करे ही—करे, न करे। हाँ, कार्य कारणपूर्वक ही होता है। अतएव यह कहा भी

१. आपत्ति और आशंकाको एक कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपत्ति दोषापादनको और आशंका प्रश्नको कहते हैं, जो दोनों अलग-अलग हैं।

गया है कि 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति।' यही बात वेदनीयोदयमें है कि वह मोहसंयुक्त होकर सुख-दुःख पैदा करता है, बिना मोहके सुख-दुःख पैदा नहीं करता, यह सभी जैन शास्त्र और जैन विद्वान् कहते चले आ रहे हैं। वेदनीय कर्म अघातिया क्यों है ? इसके सम्बन्धमें शास्त्रकारोंने स्पष्टतया कहा है कि वह जीवके गुणोंका घातक नहीं है, सुख-दुःखकी वेदना वह मोहनीयकी सहायतासे करता है, इसलिए वह मोहनीयसे पहले और घातियोंके मध्यमें अभिहित है।

आगे चलकर प्रो. सा. ने अरहन्तों और सिद्धोंमें भेद दिखलाने और अरहन्त केवलीमें सुख और दुःखकी वेदना सिद्ध करनेके लिए ध्वलाकारके एक अधूरे उद्धरणको अपने अर्थके साथ उपस्थित किया है और अन्तमें लिखा है कि 'वीरसेन स्वामीके इन प्रश्नोत्तरोंसे सूर्यप्रकाशवत् सुस्पष्ट हो जाता है कि अरहन्तावस्थामें भी वेदनीय कर्म अपने उदयानुसार सुखमें बाधा करता ही है, जिससे अरहन्त केवली भगवान्का सुख सिद्धोंके समान अव्याबाध नहीं है।'

वीरसेन स्वामीने क्या प्रश्नोत्तर दिये हैं, उन्हें उनके पूरे उद्धरणके साथ नीचे दिया जाता है—

“सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्मणः सिद्धाः नष्टघातिकर्मणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः। नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघातिकर्मोदय-सत्त्वोपलम्भात्। तानि शुक्लध्यानाग्नि-नार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तिः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्वसिद्धेः। तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोऽन्यात्मकस्य जाति-जरा-मरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषामात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतभेद इति चेन्न, आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमन-सुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्।

नोर्ध्वगमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसंगात्। सुखमपि न गुणस्तत एव। न वेदनीयोदयो दुःखजनकः केवलनि, केवलित्वान्यथानुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव, न्यायप्राप्तत्वात्। किन्तु सलेपनिर्लेपत्वाम्नां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम्।”

—ध्वला, पहली पु., पृ. ४६-४७।

इस उद्धरणमेंसे प्रो. सा. ने अपने लेखमें ‘“सुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्” तकका ही अधूरा हिस्सा दिया है—उससे आगेका ‘नोर्ध्वगमन’ आदि शेष भाग नहीं दिया, जो ही वीरसेनस्वामीके हार्दको प्रकट करता है और सैद्धान्तिक स्थितिको प्रस्तुत करता है; क्योंकि वास्तवमें सिद्धान्तपक्ष पूरे प्रश्नोत्तरोंके अन्तमें ही स्थित होता है। स्पष्टताके लिए इस पूरे उद्धरणका हिन्दी अर्थ भी नीचे दिया जाता है—

प्रश्न—अरहन्तों और सिद्धोंमें क्या भेद है ?

उत्तर—जिनके आठों कर्म नष्ट हो चुके हैं वे तो सिद्ध हैं और जिनके चार घातियाकर्म ही नाश हुए हैं—शेष अघातिया चार कर्म मौजूद हैं वे अरहन्त हैं, यही उनमें भेद है।

प्रश्न—घातियाकर्मोंके नाश हो जानेसे अरहन्तोंके समस्त गुण प्रकट हो चुके हैं और इसलिए उनमें गुणकृत भेद नहीं है ?

उत्तर—नहीं, अरहन्तोंके अघातिया कर्मोंका उदय और सत्त्व दोनों मौजूद हैं।

प्रश्न—वे अघातियाकर्म शुक्लध्यानरूपी अग्निसे अधजलेसे ही जानेके कारण मौजूद रहनेपर भी अपने कार्यको नहीं करते हैं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि शरीरका निपात नहीं होता, इसलिए आयु आदि शेष कर्मोंका उदय और सत्त्व दोनोंका अस्तित्व सिद्ध है।

प्रश्न—आयु आदि कर्मोंका, जो चौरासी लाख योनिरूप और जन्म, जरा, मरण विशिष्ट संसाररूप कार्य है वह नहीं होता तथा उनमें आत्माके गुणोंको घातनेका सामर्थ्य नहीं है। अतः अरहन्तों और सिद्धोंमें गुणकृत भेद नहीं है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि आयु और वेदनीयका उदय, जो क्रमशः जीवके ऊर्ध्वगमन और सुखका प्रतिबन्धक है, अरहन्तोंके विद्यमान है।

प्रश्न—ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है; क्योंकि उसके अभावसे आत्माके विनाशका प्रसंग आवेगा। इसी प्रकार सुख भी आत्माका गुण नहीं है; क्योंकि सुखके अभावमें आत्माके विनाशका प्रसंग आवेगा। तथा वेदनीयका उदय केवलीमें दुःखकी वेदना नहीं करता, अन्यथा वे केवली नहीं बन सकेंगे—उनमें केवलीपना नहीं हो सकेगा ?

उत्तर—ऐसा ही हो, क्योंकि वह न्यायप्राप्त है—युक्तिसंगत है। अर्थात् न ऊर्ध्वगमन तथा न सुख आत्मगुण है और न वेदनीयका उदय केवलीमें दुःखकी वेदना करता है; क्योंकि वह न्यायसंगत है और इसलिए अरहन्तों तथा सिद्धोंमें गुणकृत भेद नहीं है—गुणोंकी अपेक्षासे दोनोंमें समानता है। किन्तु सलेपता और निर्लेपता तथा देशभेदसे उनमें भेद है—अरहन्त सलेप हैं और सिद्ध निर्लेप तथा अरहन्त भवस्थ हैं और सिद्ध मुक्तिस्थ, इस प्रकार उनमें भेद सिद्ध है।

अब यहाँ देखें कि वीरसेनस्वामीने कहाँ 'सूर्यप्रकाशवत् स्पष्ट' अरहन्तावस्थामें सुख-दुःखकी वेदना बतलायी है ? प्रत्युत उन्होंने तो उसका निराकरण ही किया है। हमें आश्चर्य है कि वीरसेनस्वामीकी धवला और जयधवला टीका और यहाँ तक कि समस्त दिगम्बर जैन शास्त्र भी उनके पक्षके जरा भी समर्थक नहीं हैं, फिर भी प्रो. सा. उनके वाक्योंको उद्धृत करनेका मोह त्याग नहीं कर रहे हैं। वीरसेनस्वामी जब यह स्पष्टतया स्वीकार कर रहे हैं कि यह प्रमाणयुक्त है कि ऊर्ध्वगमन तथा सुख आत्माके गुण नहीं हैं, क्योंकि उनके अभावमें (जिस समय आत्मामें ऊर्ध्वगमन नहीं है अथवा सुख नहीं है उस समयमें) आत्माके अभावका प्रसंग आवेगा। तथा वेदनीय केवलीमें दुःखकी वेदना नहीं करता है; क्योंकि दुःखकी वेदना माननेपर उनमें केवलीपना नहीं बन सकेगा। और इसलिए अरहन्तों तथा सिद्धोंमें गुणकृत भेद न होकर सलेप-निर्लेप और देशभेद कृत भेद है। तब उनका विपरीत आशय प्रकट करना क्या न्याययुक्त है ? इस उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि सिद्धान्तमें केवलीमें सुख-दुःखकी वेदना कहीं भी नहीं मानी गयी और न वीरसेनस्वामीने ही बतलायी है।

[षष्ठ लेख]

प्रो. सा. का विक्षोभ :

हमने अपने पिछले लेखोंमें वादिराजके पार्श्वनाथचरितका रत्नकरण्डक-सम्बन्धी उल्लेख विवेचन-सहित उपस्थित किया था और उसके द्वारा यह प्रमाणित किया था कि रत्नकरण्डक पार्श्वनाथचरितके रचनाकाल (वि. सं. १०८२) से बहुत पहलेकी रचना है और उसका कर्त्ता उसमें 'योगीन्द्र' उपाधि द्वारा स्वामी समन्तभद्र (आत्मोमांसाकार) को बतलाया है। इसपर प्रो. सा. अपने उत्तर-लेखमें बहुत ही विक्षुब्ध हो उठे हैं। मेरे प्रमाण-युक्त कथनका उत्तर न देकर मात्र अपना रोष व्यक्त किया है। पर हम उसका विचार न करके उनके लेखकी शेष बातोंपर विमर्श करेंगे और इसके बाद अपनी प्रस्तुत चर्चाको समाप्त कर देंगे।

पार्श्वनाथचरितके उल्लेखपर विस्तृत विचार :

आचार्य वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें अपने पूर्ववर्ती गृध्रपिच्छादि अनेक प्रसिद्ध आचार्यों और उनकी कुछ खास कृतियोंका पद्य नं. १६ से ३० तक उल्लेख किया है। इन पद्योंमें 'देव' और 'योगीन्द्र' के उल्लेखोंको छोड़कर शेष उल्लेख तो प्रायः स्पष्ट हैं और इसलिए उनमें कोई विवाद नहीं है। परन्तु 'देव' और 'योगीन्द्र' के दो उल्लेख ऐसे हैं, जिनके वाच्यार्थमें विवाद है। जैन साहित्य और इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार उनका वाच्यार्थ स्वामी समन्तभद्र (देवागमकार) को मानते हैं और अपनी इस मान्यताके समर्थनमें वे प्रमाण देते हुए कहते हैं कि 'समन्तभद्रके साथ 'देव' उपपद भी जुड़ा हुआ पाया जाता है, जिसका एक उदाहरण देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिके अन्त्यमङ्गलका निम्न पद्य है :—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पने।

समन्तभद्रदेवाय नमोऽतु परमात्मने ॥

और इसलिये उक्त (पार्श्वनाथचरितके) मध्यवर्ती (१८वें) श्लोकमें आये हुए 'देव' पदके वाच्य समन्तभद्र भी हो सकते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं है।

ब्रह्म नेमिदत्तने अपने 'आराधनाकथाकोश' में समन्तभद्रको कथाका वर्णन करते हुए, जब योगि-चमत्कारके अनन्तर समन्तभद्रके मुखसे उनके परिचयके दो पद्य कहलाये हैं तब उन्हें स्पष्ट शब्दोंमें 'योगीन्द्र' लिखा है^१, जैसा कि निम्न वाक्यसे प्रकट है—

'स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः ।'

ब्रह्मनेमिदत्तका यह कथाकोश आचार्य प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशके आधारपर निर्मित हुआ है, और इसलिए स्वामी समन्तभद्रका इतिहास लिखते समय मैंने प्रेमीजी-को उक्त गद्यकथाकोशपरसे ब्रह्म नेमिदत्त वर्णित कथाका मिलान करके विशेषताओंको

१. अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १०-११ (संयुक्तांक) ।

२. इसके अलावा इस ग्रन्थमें और भी अनेक जगह 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग हुआ है।

नोटकर भेजनेकी प्रेरणा की थी। तदनुसार उन्होंने मिलान करके मुझे जो पत्र लिखा था उसका तुलनात्मक वाक्योंके साथ उल्लेख मैंने एक फुटनोटमें उक्त इतिहासके पृ. १०५, १०६ पर कर दिया था। उसपरसे मालूम होता है कि—“दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।” और जो साधारण-सा फर्क है वह उक्त फुटनोटमें पत्रकी पंक्तियोंके उद्धरण द्वारा व्यक्त है। अतः उसपरसे यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको ‘योगीन्द्र’ रूपमें उल्लेखित किया है। चूँकि प्रेमीजीके कथनानुसार ये गद्यकथाकोशके कर्ता प्रभाचन्द्र भी वे ही प्रभाचन्द्र हैं जो प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और ‘रत्नकरण्डकश्रावकाचार’ की टीकाके कर्ता हैं। अतः स्वामी समन्तभद्रके लिये ‘योगीन्द्र’ विशेषणके प्रयोगका अनुसंधान प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी रचनाके समय अथवा वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितकी रचनासे कुछ पहले तक पहुँच जाता है^१।

मुख्तार सा. के इस सप्रमाण कथनसे अपनी सहमति प्रकट करते हुए हमने पिछले (द्वितीय) लेखमें लिखा था—

‘मुख्तार साहबका यह प्रमाणसहित किया गया कथन जो कि लगता है और अब यदि इन तीनों श्लोकोंके^२ यथास्थित आधारसे भी यह कहा जाय कि वादिराज देवागम और रत्नकरण्डकका एक ही कर्ता—स्वामी समन्तभद्रको मानते थे, तो कोई बाधा नहीं है—दो श्लोकोंके मध्यका व्यवधान भी अब नहीं रहता।’

इसपर प्रो. सा. लिखते हैं—‘किन्तु मेरा पण्डितजीसे कहना है कि उक्त बात उनके जी को भले ही लगे, परन्तु बुद्धि और विवेकसे काम लेनेपर आपका निर्णय बहुत कच्चा सिद्ध होता है। पार्श्वनाथचरितके जिस मध्यवर्ती श्लोकमें देवकृत शब्दशास्त्रका उल्लेख आया है उसे समन्तभद्रपरक मान लेनेमें केवल वसुनन्दि-वृत्तिका ‘समन्तभद्रदेव’ मात्र उल्लेख पर्याप्त प्रमाण नहीं है। एक तो यह उल्लेख अपेक्षाकृत बहुत पीछेका है। दूसरे, उक्त वृत्तिके अन्त्य मंगलमें जो वह पद दो बार आ गया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्वामी समन्तभद्र ‘देव’ उपनामसे भी साहित्यिकोंमें प्रसिद्ध थे। वहाँ तो उस पदको दो बार प्रयुक्त कर यमक और परमात्मदेवके साथ श्लेषका कुछ चमत्कार दिखलानेका प्रयत्न किया गया है। तीसरे, समन्तभद्रको उक्त ‘देव’ का वाच्य बना लेनेपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस श्लोकमें वादिराजने उनके कौनसे शब्दशास्त्रका संकेत किया है?’

आगे चलकर ‘योगीन्द्र’ के सम्बन्धमें आप कहते हैं—“मुख्तार सा. तथा न्यायाचार्यजीने जिस आधारपर ‘योगीन्द्र’ शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत स्वीकार कर लिया है वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिए प्रमाण दिये हैं उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोश स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना कि

१. अनेकान्त, वर्ष ७, किरण ५-६।

२. पार्श्वनाथचरित, सर्ग १, श्लोक १७, १८, १९।

प्रभाचन्द्रकृत कथाकोशमें समन्तभद्रके लिए 'योगीन्द्र' शब्द आया है। केवल प्रेमीजीने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि 'दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।' उसीके आधारपर आज उक्त दोनों विद्वानोंको यह कहनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्रने भी अपने गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रको 'योगीन्द्र' रूपमें उल्लेखित किया है।"

'देव' और 'योगीन्द्र' पदपर विचार :

प्रो. सा. की उक्त दोनों बातोंपर हम यहां कुछ विस्तारसे विचार करते हैं—

(क) सबसे पहले हम उनकी 'देव' शब्दवाली पहली बातको लेते हैं—'देव' शब्दका 'समन्तभद्रदेव' अर्थ करनेमें आप केवल वसुनन्दिवृत्तिके 'समन्तभद्रदेव' उल्लेखको पर्याप्त प्रमाण नहीं मानते। इसमें आपने जो तीन हेतु दिये हैं उनमें पहला हेतु तो बहुत ही कमजोर और बेदम है, क्योंकि किसी उल्लेखके केवल पश्चाद्वर्ती होनेसे ही उसकी प्रामाणिकता नष्ट नहीं होती और पूर्ववर्ती होनेसे ही उसकी प्रामाणिकता नहीं आती। प्रामाणिकताके लिए तो विरोधादि दोषोंका अभाव होना ही आवश्यक है और वसुनन्दिके उक्त उल्लेखमें विरोधादि कोई दोष नहीं है। तब उनके उस उल्लेखपर अस्वरस एवं सन्देह व्यक्त करना उचित नहीं है। दूसरे, वसुनन्दिके उक्त उल्लेखको वादिराजके पार्श्वनाथचरितसे पीछेका बतलाना एक बड़ा भ्रम है। जैन साहित्य और इतिहासके दो महान् विद्वानों—प्रेमीजी^१ और मुख्तार सा.^२—ने वसुनन्दिका समय विक्रमकी ११वीं शताब्दी अनुमानित किया है; क्योंकि वि. सं. १०५० (सुभाषितरत्नसं.) के आचार्य अमितगतिने अपनी संस्कृत भगवती आराधनाके अन्त (श्लोक २२७१) में अपनी आराधनाको वसुनन्दि योगीसे महित (सत्कृत) बतलाया है और इन वसुनन्दि योगी तथा देवागमवृत्तिके कर्ता वसुनन्दिको प्रेमीजी और मुख्तार सा. ने अभिन्न सम्भावित किया है और इसलिए देवागमवृत्तिकार वसुनन्दि अमितगति (वि. सं. १०५०, ई. ९९३) के समकालीन सिद्ध होते हैं। ऐसी हालतमें वसुनन्दि (वि. सं. १०५०) के उक्त उल्लेखको, जो वादिराजके पार्श्वनाथचरित (वि. सं. १०८२) से पूर्वका है, वादिराज (वि. १०८२) के पीछे ढकेलना अतिसाहस है।

(ख) दूसरा हेतु भी सर्वथा अयुक्त एवं असिद्ध है, क्योंकि स्वामी समन्तभद्र साहित्यिकोंमें 'देव' उपनामसे भी प्रसिद्ध रहे हैं। इसके लिए मैं वसुनन्दिके उक्त उल्लेखके अलावा पाँच उल्लेखोंको और यहाँ उपस्थित करता हूँ :—

(१) पं. आशाधरजीने सागारधर्मामृत-टीका (पृ. ८२) में समन्तभद्रके लिए 'देव' पदका उल्लेख निम्न प्रकार किया है:—

“एतेन यदुक्तं स्वामिसमन्तभद्रदेवैः—‘दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः’ इति दर्शन-प्रतिमालक्षणं तदपि संगृहीतम्...”

१. 'जैन साहित्य और इतिहास'—पृष्ठ ४६३।

२. पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना, पृ. ९९-१००।

(२) आचार्य जयसेनने 'समयसार' की अपनी तात्पर्यवृत्तिमें स्याद्वादका स्वरूप बतलानेके लिए 'समन्तभद्राचार्यदेवैः' पदके साथ समन्तभद्रके तीन पद्योंको उद्धृत करते हुए लिखा है—

“तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु समन्तभद्राचार्यदेवैरपि भणितमास्ते ।”

—पृष्ठ २११ ।

(३) आचार्य श्रीनरेन्द्रसेनने भी अपने सिद्धान्तसारसंग्रहमें स्वामी समन्तभद्रका 'देव' उपनामके साथ निम्न प्रकार स्मरण किया है—

“श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् ।

प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥”

(४) डॉ. ए. एन. उपाध्ये कोल्हापुरके अनुग्रहसे मुझे Bhandarkar Oriental Research Institute पूनासे 'आप्तमीमांसा' मूलकी कुछ प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं । इनमें (वि. सं. १७५२, ई. सन् १६९५) की लिखी हुई एक अढ़ाई सौ वर्ष प्राचीन प्रति भी है । इस प्रतिके अन्तिम पुष्पिकावाक्यमें भी 'समन्तभद्र'के साथ 'देव' उपपद जुड़ा हुआ है । वह पुष्पिकावाक्य निम्न प्रकार है—

“इति फेणामंडलालंकारस्योरुगपुरस्याधिपसूनोश्च स्वामिसमन्तभद्रदेवस्य मुनेः कृतावाप्तमीमांसालंकृतौ दशमः परिच्छेदः ॥१०॥”

(५) चामुण्डराय (वि. सं. १०३५) ने अपने कन्नड भाषामें लिखित त्रिषष्टि-लक्षण महापुराणमें समन्तभद्रका 'समन्तभद्रदेव' नामसे उल्लेख किया है और उनके तर्कशास्त्रपर लिखे तत्त्वार्थभाष्यका निर्देश किया है । यह उल्लेख हम इसी पुस्तक (पृ. १४०-१४१) में दे आये हैं ।

इन उल्लेखोंसे प्रकट है कि स्वामी समन्तभद्र साहित्यकारोंमें 'देव' उपनामसे भी प्रसिद्ध थे और इसलिए साहित्यकार उन्हें 'समन्तभद्रदेव', 'समन्तभद्राचार्यदेव' और केवल 'देव' रूपमें उल्लेखित करते पाये जाते हैं । ऐसी हालतमें प्रो. सा. का यह कहना कि 'स्वामी समन्तभद्र साहित्यिकोंमें 'देव' उपनामसे प्रसिद्ध नहीं हैं' सर्वथा भ्रान्त और निराधार है—उसका अनुसन्धान एवं खोजसे कोई सम्बन्ध नहीं है । वसुनन्दिनी की उक्त देवागमवृत्तिमें आया हुआ 'समन्तभद्रदेव' शब्द भी प्रो. सा. के मतानुसार जब यमक और परमात्मदेवके साथ श्लेषका सूचक है तो वह स्वामी समन्तभद्रका भी बोधक है—उसका निराकरण नहीं हो सकता है । हाँ, यदि देवागम-वृत्तिसे भिन्न दूसरे ग्रन्थमें उक्त पद आता और वहाँ केवल 'देव' पद ही होता—'समन्तभद्रदेव' नहीं, तो सम्भव था कि उससे समन्तभद्रस्वामीका बोध न किया जाता । चूँकि उक्त 'समन्तभद्रदेव' पद स्वामीसमन्तभद्रके 'देवागम' पर लिखी गयी टीकामें उसके टीकाकारने दिया है, इसलिए यह पूर्णतः निश्चय है कि उसके द्वारा उन्हें परमात्मदेवकी तरह स्वामी समन्तभद्रदेवके लिए भी नमन करना इष्ट है । वास्तवमें 'देव' शब्द पूज्य अर्थका वाची है और उसका स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् पूज्याचार्यके लिए साहित्यिकों द्वारा प्रयुक्त होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।

१. यह पुष्पिकावाक्य ज्यों-का-त्यों दिया गया है ।

अकलंक, विद्यानन्द जैसे महान् आचार्योंने भी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि अपनी टीकाओंमें 'येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना । तस्मै नमः सन्ततम्' आदि शब्दों द्वारा स्वामी समन्तभद्रको सश्रद्ध नमस्कार करके उनकी पूज्यता व्यक्त की है । अतः प्रो. सा. का दूसरा हेतु भी असिद्ध और युक्तिहीन है ।

(ग) तीसरे हेतुके सम्बन्धमें हम भी यह प्रश्न उठा सकते हैं कि वादिराजने अपने उक्त पार्श्वनाथचरितमें ही उसके २९वें पद्यमें विशेषवादीके कौनसे विशेषाभ्युदय ग्रन्थका संकेत किया है ? यदि आप कहें कि वह आज अनुपलब्ध है तो हम भी कह सकते हैं कि वादिराजने स्वामी समन्तभद्रके जिस शब्दशास्त्रका उल्लेख किया है वह आज अनुपलब्ध है । पूज्यपाद-देवनन्दिने तो अपने जैनेन्द्रव्याकरणमें 'लङः शाकटायनस्य' इस सूत्रकी तरह 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' इस सूत्रद्वारा उनके शब्दशास्त्रका उल्लेख भी किया है । वादीभसिंहकी गद्यचिन्तामणिमें उन्हें 'सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि' और समन्तभद्रके एक परिचय-पद्यमें 'सिद्धसारस्वत' भी कहा गया है, जिनके प्रकाशमें यदि हम वादिराजसूरिके 'अचिन्त्यमहिमा देवः शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति' पद्यको पढ़ें, तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि अचिन्त्यप्रभावी स्वामी समन्तभद्र अलौकिक शब्दशास्त्री भी थे और उनका कोई शब्दशास्त्र जरूर रहा है । वादिराजकी यह एक चमत्कारपूर्ण कला भी हो सकती है कि उन्होंने 'स्वामिनश्चरितं' और 'त्यागी स एव योगीन्द्रो' पद्योंके मध्यमें उक्त पद्यको रखकर उसमें 'देव' पद द्वारा स्वामी समन्तभद्रकी सूचना की है, जिसके द्वारा प्रकारान्तरसे देवनन्दिका भी सूचन हो जाता है । इसके सिवाय, स्वामी समन्तभद्रके द्वारा कोई व्याकरणशास्त्र (प्राकृत अथवा संस्कृत) के बनाये जानेकी अनुश्रुति भी विद्वानोंमें प्रचलित है । यदि आप कहें कि फिर उन्हें साहित्यिकोंने तार्किक, वादी, कवि और वाग्मीरूपसे ही क्यों उल्लेखित किया—वैयाकरणरूपसे भी क्यों उल्लेखित नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि यदि आपने खोज की होती तो आपको वह उल्लेख भी मिल जाता, जहाँ साहित्यिकोंने स्वामी समन्तभद्रको 'वैयाकरण' भी बतलाया है । नीचे मैं आचार्य प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशका वह उद्धरण उपस्थित करता हूँ जहाँ उन्होंने स्वामी समन्तभद्रको 'व्याकरणशास्त्रव्याख्याता' रूपसे भी स्पष्टतः उल्लेखित किया है—

“दक्षिणकाञ्च्यां तर्क-व्याकरणादि-समस्तशास्त्रव्याख्याता दुर्द्धरानेकानुष्ठा-
नानुष्ठाता श्रीसमन्तभद्रस्वामिनाममहामुनिस्तोन्नतरदुःखप्रदप्रबलासद्वेष्टकर्मोदयात्समु-
त्पन्नभस्मकव्याधिना अर्हनिशं सम्प्रीड्यमानश्चिन्तयति.....”

यह ध्यान रहे कि इस उल्लेखमें तर्कशास्त्रव्याख्याताके 'तर्कशास्त्र-निर्माता' अर्थकी तरह व्याकरणशास्त्रव्याख्याताका भी 'व्याकरणशास्त्र-निर्माता' अर्थ है । प्रभाचन्द्रके अनुसर्ता ब्रह्म नेमिदत्तने भी उन्हें वैयाकरण प्रकट किया है । और इसलिए इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि साहित्यिकोंने स्वामी समन्तभद्रको वैयाकरणरूपसे भी अभिहित किया है ।

अतः वादिराजकृत पार्श्वनाथचरितमें 'देव' पदका वाच्य स्वामी समन्तभद्रको माननेमें तीसरा हेतु भी बाधक नहीं है और इसलिए मेरा और मुख्तार साहबका उक्त निर्णय न तो कच्चा है और न केवल वसुनन्दिवृत्तिका 'समन्तभद्रदेव' उल्लेख

ही उसमें प्रमाण है; अपितु उपर्युक्त विवेचन तथा पं० आशाधरजी, आचार्य जयसेन, नरेन्द्रसेन, चामुण्डराय आदिके सुस्पष्ट अन्य उल्लेख भी उसमें प्रमाण हैं।

यह दूसरी बात है कि जैन साहित्यमें 'देव' पद से देवनन्दि पूज्यपादका भी एक दो जगह उल्लेख किया गया है, परन्तु 'जैनेन्द्र' व्याकरणका स्पष्ट नामोल्लेख साथमें न होनेके कारण यह कहना कि वादिराजने 'देव' पदसे उन्हींका उल्लेख पार्श्वनाथचरितमें किया है, निर्बाध प्रतीत नहीं होता; क्योंकि वादिराजने प्रमाण-निर्णय और न्यायविनिश्चयविवरणमें 'देव' पदका प्रयोग अकलंकदेवके लिए भी अनेक जगह किया है और इसलिए विनिगमनाविरहसे उक्त 'देव' पदका वाच्य देवनन्दि (पूज्यपाद) को नहीं बतलाया जा सकता है। हाँ, यह प्रश्न हो सकता है कि फिर पार्श्वनाथचरितमें देवनन्दिका उल्लेख किस पद द्वारा ज्ञात किया जाय? इसका उत्तर यह है कि किसी ग्रन्थकारके लिए यह जरूरी नहीं है कि उसे अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्योंका उल्लेख करना ही चाहिए। यह तो ग्रन्थकारकी रुचिपर निर्भर है। अतः वादिराजने 'देव' पदके द्वारा स्वामी समन्तभद्रका ही उल्लेख किया है; क्योंकि आगे पीछेके दोनों पद्य उन्हींसे सम्बन्धित हैं और यह अन्य प्रमाणोंसे सिद्ध है तथा एकसे ज्यादा—दो और तीन आदि पद्योंमें किसी आचार्यविशेषका स्मरण करना अयुक्त एवं असंगत भी नहीं है। आचार्य जिनसेनने आदिपुराणमें वीरसेनका, कवि हस्तिमल्लने विक्रान्तकौरवमें और अप्यार्यने अपने जैनेन्द्रकल्याणभ्युदयमें स्वामी समन्तभद्रका एकसे अधिक पद्योंमें स्मरण तथा यशोगान किया है। अतः प्रो. सा. का 'देव' पद-सम्बन्धी उक्त कथन बहुत ही शिथिल और गम्भीर विचारसे शून्य प्रमाणित होता है।

(२) अब हम उनकी 'योगोन्द्र' पदवालो दूसरी बातको भी लेते हैं। उसमें निम्न दो बातें विचारणीय हैं—

(क) एक तो यह कि हमने और मुख्तार सा. ने जिस आधारसे 'योगोन्द्र' शब्दका उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत गद्य-कथाकोश-गत स्वोकार किया है वह आधार प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय है अथवा नहीं?

(ख) दूसरी यह कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें उक्त उल्लेख वस्तुतः मौजूद है या नहीं?

(क) पहली बातके सम्बन्धमें मेरा निवेदन है कि प्रेमीजी जब ब्रह्म नेमिदत्त-की कथाको प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशपरसे स्वयं—दूसरोंके द्वारा भी नहीं—मिलान करके पूर्ण असन्दिग्ध शब्दोंमें यह लिखें कि—“दोनों कथाओंमें कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण अनुवाद है।” तो उनके कथनको प्रमाणभूत एवं विश्वसनीय कैसे नहीं माना जा सकता है? हम नहीं समझते कि प्रो. सा. बिना किसी विरोध-प्रदर्शनके प्रेमीजीके उक्त लेखको क्यों अप्रमाण, अविश्वसनीय अथवा सन्दिग्ध प्रकट कर रहे हैं? केवल वह लेख बीस वर्ष पुराना हो जानेसे ही अप्रमाण एवं अविश्वसनीय और सन्देहका कारण नहीं बन सकता है। अन्यथा कोई भी पुराना लेख अथवा ग्रन्थ प्रमाण और विश्वसनीय नहीं हो सकेगा। मान लीजिये कि उक्त प्रभाचन्द्रका गद्यकथाकोश हमने अथवा मुख्तार सा. ने स्वयं

नहीं देखा। पर उसे एक प्रामाणिक व्यक्तिने स्वयं अच्छी तरह देखा, जाँचा, पढ़ा और पारायण किया है और वह हमें लिखे कि नेमिदत्तका कथाकोश प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशका प्रायः पूर्ण अनुवाद है और हम इस आधारसे यह निष्कर्ष निकालें कि 'जब प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशपरसे पूर्णतः (शब्दशः और अर्थशः) अनुवादित नेमिदत्तके कथाकोशमें स्वामो समन्तभद्रके लिए 'योगीन्द्र' पद उपलब्ध होता है तो वह प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें भी उनके लिए आया है, यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है' तो इसमें क्या अनहोनी और कच्चापन है? ऐसी हालतमें स्वयं प्रो. सा. का यह लिखना कि 'उक्त दोनों विद्वानोंमेंसे किसी एकने भी अभी तक न प्रभाचन्द्रका कथाकोश स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसीसे सुना आदि' गम्भीरता एवं विचारकताका प्रकाशक नहीं है। भले ही हम दोनोंमेंसे उसे किसीने न देखा हो और न पढ़ा हो। किन्तु प्रेमीजी जैसे प्रतिष्ठित एवं प्रामाणिक व्यक्तिने तो उसे देखा और पढ़ा है। उनकी बात पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

(ख) यद्यपि प्रेमीजीके उक्त लेखपर हमारा दृढ़ विश्वास था, परन्तु प्रो. सा. के आग्रह और वहमको देखते हुए हमने उनके सन्तोषार्थ जनवरी सन् १९४६ में ही श्रद्धेय प्रेमीजीसे प्रभाचन्द्रके उक्त गद्यकथाकोशको भेजनेकी प्रार्थना की और उन्होंने उसे उसी समय हमारे पास भेज दिया। उसके प्राप्त होते ही हम दोनोंने उसे देखा, पढ़ा और पाया कि इस ग्रन्थमें प्रभाचन्द्रने स्वामो समन्तभद्रके लिए स्पष्टतः 'योगीन्द्र' शब्दका प्रयोग किया है। वह भी एक ही जगह नहीं, बल्कि दो जगह और १४ जगह तो उनके लिए 'योगी' शब्दका भी प्रयोग किया है। यथा—

'योगी' पदके उल्लेख :

- (१) 'योगिर्लिंगं धृत्वा वाणारस्यां.....'—प. ९।
- (२) 'योगिना चोक्तमस्त्येव.....'—पत्र १०, पं. ४।
- (३) 'ततस्तत्रत्यलोके राज्ञः कथितं देव ! योगिनैकेन भवदीय.....' पत्र १०।
- (४) 'ततो योगी भणितो.....'—पत्र १०, पं. ८।
- (५) 'योगी न किञ्चिद्देवमतीर्य भोजयति.....'—प. १० उ. पं. ७।
- (६) 'योगिनोक्तं मदीयनमस्कारमसौ सोढुं न शक्नोति.....'—प. १०, उ. पं. ९।
- (७) 'ततो योगिनोक्तं प्रभाते सामर्थ्य.....'—पत्र ११ पू. पं. २।
- (८) 'योगिनं देवग्रहमध्ये प्रक्षिप्य.....'—प. ११, पू. पं. ३।
- (९) 'योगिनश्च....'—पत्र ११, पू. पं. ४।
- (१०) 'योगी बहिराकारितः ...'—पत्र ११, उ. पं. १।
- (११) 'योगिनोऽद्यापूर्वा मूर्तिर्वर्तते'—पत्र ११, उ. पं. २।
- (१२) 'भो योगिन्....'—पत्र ११, उ. पं. ८।
- (१३) 'योगी द्वारं दत्त्वा स्वयमेव भुंजानो....'—पत्र १०, उ. पं. ६।
- (१४) 'भो योगिन् मृषावादी त्वं'—पत्र १०, उ. पं. ७।

'योगीन्द्र' पदके उल्लेख :

- (१) 'भो योगीन्द्र ! किमिति रसवती तथैवोद्ध्रियते...—पत्र १०, उ. पं. ३।

(२) 'भो योगीन्द्र ! कुरु देवस्य नमस्कारं...'—पत्र ११ उ. पं. ४ ।

ऐसी दशामें प्रो. सा. के उक्त कथनका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता । अतः यह भलीभाँति प्रमाणित है कि प्रभाचन्द्रके गद्यकथाकोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिए 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग हुआ है और इसलिए मुख्तार सा. के पूर्वोक्त प्रतिपादन और हमारे उसके समर्थनमें जरा भी सन्देहके लिए स्थान नहीं है ।

वादिराज और प्रभाचन्द्र प्रायः समकालीन हैं :

प्रो. सा. ने आगे चलकर अपने इसी लेखमें वादिराजसे प्रभाचन्द्रको उत्तर-कालीन बतलाया है और पार्श्वनाथचरित तथा रत्नकरण्डकटीकामें तीस-पैंतीस वर्षका अन्तर प्रकट किया है । जहाँ तक इन रचनाओंके पौर्वापर्यका प्रश्न है उसे हम मान सकते हैं, पर यह तथ्य भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग करने वाले ये दोनों ही आचार्य प्रायः समकालीन हैं—आचार्य वादिराज प्रो. सा. के मतानुसार ही धारानरेश भोजदेव (वि. सं. १०७५-१११०) को पराजित करने वाले चालुक्यवंशी जयसिंह (वि. सं. १०८०) के समयमें हुए हैं और उन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित वि. सं. १०८२ में रचा है तथा शेष रचनाएँ आगे पोछे रची होंगी । और प्रभाचन्द्र उक्त धारानरेश भोजदेव एवं उनके उत्तराधिकारी परमारवंशी जयसिंह (वि. सं. १११२) दोनों के राज्यकालमें हुए हैं तथा अपनी रचनाएँ इन्हींके राज्य-समयमें बनायी हैं । अतः ये दोनों आचार्य प्रायः समकालिक हैं—यदि दस-बीस वर्षका अन्तर भी हो, तो उससे दोनोंके 'योगीन्द्र' पदके उल्लेखोंपर कोई असर नहीं पड़ता । और इसलिए प्रभाचन्द्र जिन पूर्व-आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर उक्त 'योगीन्द्र' पदका उल्लेख अपने गद्यकथा-कोशमें स्वामी समन्तभद्रके लिए करते हैं और रत्नकरण्डकको, उसकी अपनी रत्नकरण्डक-टीकामें, 'योगीन्द्र' उपनाम विशिष्ट स्वामी समन्तभद्रकी रचना बतलाते हैं, तो उनके समकालीन वादिराज भी अपने पार्श्वनाथचरितमें उन्हीं पूर्व आचार्य-अनुश्रुति आदि प्रमाणोंके आधारपर 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिए करें और उसके द्वारा रत्नकरण्डकको उनकी कृति बतलायें, तो कोई आश्चर्य नहीं है । इससे स्पष्ट है कि प्रभाचन्द्रकी तरह वादिराजने भी 'योगीन्द्र' पदका प्रयोग स्वामी समन्तभद्रके लिए ही किया है—अन्यके लिए नहीं ।

यदि प्रो. सा. का यही आग्रह अथवा मत हो कि वादिराजको उक्त 'योगीन्द्र' पदसे आसमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न दूसरा ही व्यक्ति रत्नकरण्डकका कर्ता विवक्षित है, जिनकी 'योगीन्द्र' उपाधि थी और समन्तभद्र कहलाते थे तथा जो रत्नमालाकार शिवकोटिके गुरु थे, तो मेरा उनसे अनुरोध है कि वे ऐसे व्यक्तिका जैन साहित्यमें अस्तित्व दिखलावें । मैं इस बारेमें पहले भी उनसे अनुरोध कर चुका हूँ और 'योगीन्द्र' उपनामके धारक कतिपय विद्वानोंको प्रदर्शित भी कर चुका हूँ, जिनमेंसे एक भी रत्नकरण्डकका कर्ता सिद्ध नहीं होता । परन्तु प्रो. सा. ने उसपर कोई

१. न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने भी न्यायकुमुद द्वितीय भागकी अपनी प्रस्तावना (पृ. ५७) में इन दोनों आचार्योंको समकालीन और समव्यक्तित्वशाली बतलाया है ।

ध्यान नहीं दिया। मजेकी बात तो यह है कि वे विद्यानन्द और बादिराजके मध्यमें उक्त व्यक्तिके होनेकी सीमा तो निर्धारित करते हैं, परन्तु उसके अस्तित्वका साधक एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं करते। ऐसी स्थितिमें स्वपक्षस्थापनाविहीन और परपक्षालोचनमात्र चर्चा (वितण्डा) से किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

रत्नकरण्ड-टीकाके कर्तृत्वपर सन्देह और भ्रान्त उल्लेख :

इसी सिलसिलेमें प्रो. सा. ने रत्नकरण्ड-टीकाके प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत होनेमें सन्देह प्रकट करते हुए एक भ्रान्त उल्लेख भी किया है। आप लिखते हैं कि 'इसीसे न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीके मतानुसार तो रत्नकरण्ड-टीकाके उन्हीं (प्रमेय-कमलमार्तण्ड, गद्यकथाकोश आदिके रचयिता) प्रभाचन्द्रकृत होनेकी सम्भावना अभी भी खासतौरसे विचारणीय है (न्या. कु. भा. २ प्रस्ता पृ. ६७) ।' परन्तु जब हमने उनके निर्दिष्ट न्यायाचार्यजीके ग्रन्थको खोलकर उनके वक्तव्यके साथ उसका मिलान किया तो हमें आश्चर्य हुआ कि उन्होंने इतना भ्रमोत्पादक अधूरा उल्लेख क्यों किया और किसीके अपूर्ण मतको प्रकट करके पाठकोंको धोखेमें क्यों डाला ? पण्डितजीने वहाँ अपना क्या मत दिया है, उसे देखनेके लिए मैं पाठकोंसे प्रेरणा करता हूँ। उन्होंने उक्त प्रस्तावनाके पृ. ६६ के नीचे नं. २ की टिप्पणीमें 'रत्नकरण्ड' पर जो विस्तृत फुटनोट दिया है और जिसकी ओर प्रो. सा. ने बिलकुल ध्यान नहीं दिया, उसीमें पण्डितजीने अपना स्पष्ट मत प्रकट किया है। मुस्तार साहबकी आलोचना करते हुए वहाँ उन्होंने लिखा है कि 'मुस्तार सा. ने इन टीकाओं (समाधितन्त्र और रत्नकरण्डकी टीकाओं) को प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत न होनेमें जो प्रमाण दिये हैं वे दृढ़ नहीं हैं। रत्नकरण्ड-टीका तथा समाधितन्त्र-टीकामें प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रका एक साथ विशिष्ट शैलीसे उल्लेख होना इसकी सूचना करता है कि ये टीकाएँ भी प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकी ही होनी चाहिए।' आगे ग्रन्थोल्लेखोंको उपस्थित करके उन्होंने और लिखा है कि 'इन दोनों अवतरणोंकी प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्करके निम्नलिखित अवतरणसे तुलना करनेपर स्पष्ट मालूम हो जाता है कि शब्दाम्भोजभास्करके कर्त्तानि ही उक्त टीकाओंको बनाया है।' इसके आगे शब्दाम्भोजभास्करका अवतरण देकर पण्डितजीने पुनः लिखा है कि 'प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोशमें पायी जानेवाली अंजनचोर आदिकी कथाओंसे रत्नकरण्डटीकागत कथाओंका अक्षरशः सादृश्य है।' इन उद्धरणोंसे प्रकट है कि न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीका रत्नकरण्डटीकाको उन्हीं प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत माननेका स्पष्ट मत है।

गद्यकथाकोश और रत्नकरण्ड-टीकामें दी गयी अंजनचोर आदिकी कथाएँ तो अक्षरशः एक-सी हैं ही, पर दोनोंकी साहित्यिक रचना भी एक-सी है —वही सरलता

१. नमूनेके तौरपर इन ग्रन्थोंके निम्न मंगलाचरण-पद्योंकी परस्पर तुलना कीजिये—

‘प्रणम्य मोक्षप्रदमस्त-दोषं प्रकृष्ट-पुण्य-प्रभवं जिनेन्द्रम् ।

वक्ष्येऽत्र भव्य-प्रतिबोधनार्थमाराधनासत्सुकथाप्रबन्धम् ॥१॥

—गद्यकथाकोश लि. प. १ ।

और वही विशदता दोनोंमें है। अतएव जब गद्यकथाकोशको प्रो. सा. प्रसिद्ध प्रभा-
चन्द्रकी कृति मानते हैं तो रत्नकरण्डटीकाको भी उन्हींकी कृति उन्हें मानना चाहिए।
मैंने इन ग्रन्थोंको प्रसिद्ध प्रभाचन्द्रकृत हो अन्य लेखमें 'सिद्ध किया है।

प्रभाचन्द्रका उल्लेख सर्वथा असन्दिग्ध है :

प्रभाचन्द्रने रत्नकरण्डककी अपनी टीकाके प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें जो
पुष्पिकावाक्य दिये हैं उन सबमें उन्होंने रत्नकरण्डकको स्वामीसमन्तभद्रकृत बतलाया
है। इसके सिवाय, उन्होंने ग्रन्थारम्भमें भी प्रथम पद्यकी उत्थानिकामें 'श्रीसमन्तभद्र-
स्वामी....रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो.....' इत्यादि शब्दों द्वारा
रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रकी रचना बतलायी है। अतएव हमने पिछले
लेखमें लिखा था कि 'प्रो. सा. ने वादिराजके उल्लेखपर जहाँ जोर दिया है वहाँ
प्रभाचन्द्रके सुस्पष्ट एवं अभ्रान्त ऐतिहासिक उल्लेखकी सर्वथा उपेक्षा की है।'।
इसपर अब आप लिखते हैं कि 'प्रभाचन्द्रका उल्लेख केवल इतना ही तो है कि
रत्नकरण्डके कर्ता स्वामी समन्तभद्र हैं, उन्होंने यह तो कहीं प्रकट किया ही नहीं कि
ये ही रत्नकरण्डके कर्ता आपसीमांसाके भी कर्ता हैं।'।

इस सम्बन्धमें ज्यादा कुछ न कहकर इतना ही कह देना पर्याप्त है कि स्वामी
समन्तभद्र और आपसीमांसाकार दोनों अभिन्न हैं। इस बातको स्वयं प्रो. सा. भी
अपने विलुप्त अध्यायमें स्वीकार कर चुके हैं और जैन-साहित्यमें स्वामी समन्तभद्रसे
आपसीमांसाकारका ही सर्वत्र ग्रहण किया गया है। ऐसा एक भी उदाहरण जैन-साहित्यमें
नहीं मिलता अथवा प्रो. सा. ने उपस्थित किया है जहाँ 'स्वामी समन्तभद्र' से दूसरे
(आपसीमांसाकारसे भिन्न) ग्रन्थकारका ग्रहण किया गया हो अथवा दूसरेका भी
वह नाम हो। अतएव स्वामी समन्तभद्रके नामोल्लेखसे ग्रन्थकारोंका अभिप्राय
आपसीमांसाकारका ही स्पष्टतः रहा है और इसलिए प्रभाचन्द्र जब रत्नकरण्डका
कर्ता स्वामी समन्तभद्रको बतला रहे हैं तब स्पष्ट है कि वे उसे आपसीमांसाकारकी ही
कृति स्वीकार करते हैं क्योंकि वे दोनों एक हैं—अलग-अलग नहीं।

आगे चलकर आप कहते हैं कि 'वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उसका रचना-
काल दिया हुआ है, इसलिए उसका रत्नकरण्डको योगीन्द्रकृत बतलानेवाला उल्लेख
तो स्पष्ट और अभ्रान्त है। परन्तु रत्नकरण्डटीकामें उसका रचनाकाल दिया हुआ
नहीं है, अतः उसका उल्लेख 'न तो सुस्पष्ट है, न अभ्रान्त है और न उसका कोई
ऐतिहासिक महत्त्व है।' मुझे उनके इस अतथ्य एवं पक्षपातपूर्ण कथनपर कोई आश्चर्य
नहीं है। परन्तु खेद है कि उन्होंने अपने पक्षकी पुष्टिमें सचाई और न्यायको भी
तिलांजलि दे दी है। पार्श्वनाथचरितमें जहाँ रत्नकरण्डको अप्रसिद्ध और अज्ञात
योगीन्द्रकृत कहा है वहाँ रत्नकरण्ड-टीकामें उसे अनेक जगह (प्रारम्भमें, मध्यमें और

'समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम्।

निबन्धनं रत्नकरण्डके परं करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥१॥

—रत्नकरण्ड-टीका पृ. १।

१. 'रत्नकरण्ड-टीका और उसके कर्ता' शीर्षक लेख, यही ग्रन्थ, पृ. २४४।

अन्तमें) स्पष्ट शब्दोंमें प्रसिद्ध और सुज्ञात स्वामी समन्तभद्रकी रचना कही है। ऐसी हालतमें पाठक जान सकते हैं कि वादिराजका उल्लेख स्पष्ट और अभ्रान्त है या प्रभाचन्द्रका ? और मैं यह पहले कह आया हूँ कि ये दोनों विद्वान् प्रायः समकालिक हैं और इसलिए पार्श्वनाथ-चरितमें उसका रचनाकाल होनेसे उसका उल्लेख स्पष्ट और अभ्रान्त तथा रत्नकरण्ड टीकामें रचनाकाल न होनेसे उसके उल्लेख अस्पष्ट और भ्रान्त नहीं कहे अथवा बतलाये जा सकते हैं। अन्यथा ९० प्रतिशत ग्रन्थ बिना रचनाकालके हैं और तब उनके उल्लेख भी अस्पष्ट और भ्रान्त कहे जायेंगे। दूसरी बात यह है कि प्रभाचन्द्रके उल्लेखोंके पोषक और समर्थक तो उत्तरवर्ती बीसियों उल्लेख प्रमाण मौजूद हैं और जिनमें भी रत्नकरण्डकी स्वामी समन्तभद्रकी कृति बतलायी है। परन्तु वादिराजके उल्लेखका पोषक एवं समर्थक एक भी उत्तर-कालीन प्रमाण उपलब्ध नहीं है जिसमें रत्नकरण्डको योगीन्द्रकृत बतलाया गया हो। इससे प्रकट है कि प्रभाचन्द्रका उल्लेख अभ्रान्त, स्पष्ट और ऐतिहासिक महत्त्वयुक्त है। अतः प्रो. सा. का यह लिखना कि 'प्रभाचन्द्रके जिस उल्लेखपर पण्डितजीने जोर दिया है वह न तो सुस्पष्ट है, न अभ्रान्त है और न उसका कोई ऐतिहासिक महत्त्व है।' सर्वथा असंगत है।

रत्नकरण्डके उपान्त्य पद्यके श्लेषार्थपर विचार :

रत्नकरण्डके अन्तिम (१५०वें) पद्यके पूर्व एक निम्न पद्य आया है, जिसमें उपसंहाररूपमें आत्माको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप इन तीन रत्नोंकी पिटारी बना लेनेकी प्रेरणा की है और उसका फल तीनों लोकोंमें सब अर्थोंकी सिद्धि बतलाया है। वह पद्य इस प्रकार है—

येन स्वयं वीतकलंक-विद्या-दृष्टि-क्रिया-रत्नकरण्डभावम् ।

नीतस्तमायाति पतोच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥

इस पद्यको लेकर प्रो. सा. ने अपने पिछले लेखमें यह कल्पना की थी कि यहाँ श्लेषरूपसे अकलंक, विद्यानन्द और पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिका उल्लेख है। आपने लिखा था कि 'यहाँ निःसन्देहतः रत्नकरण्डकारने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी तीनों टीकाओंका उल्लेख किया है। आदि।'।

इसपर हमने आपत्ति की थी कि उक्त श्लेषार्थ किसी भी शास्त्रसे प्रमाणित नहीं है। दूसरे, उक्त श्लोकमें आये हुए 'त्रिषु' पदका श्लेषार्थ यदि 'तीन टीकाएँ' हों, तो उनमें एक तो स्वयं सर्वार्थसिद्धि ही है, जिसका ग्रहण तीन स्थलोंके अन्तर्गत किसी भी प्रकार नहीं आ सकता है; क्योंकि उसका श्लोकमें अलग ही उल्लेख है। तब तत्त्वार्थसूत्रकी दो ही टीकाएँ रहती हैं—एक तत्त्वार्थवातिक और दूसरी विद्यनन्दकी श्लोकवातिक। लेकिन फिर श्लोकमें 'त्रिषु' और 'विष्टपेषु' पद नहीं होने चाहिए—'द्वयोः' और 'विष्टपयोः' ये पद ही होने चाहिए थे, जो न छन्ददृष्टिसे संगत हैं और न ग्रन्थकारके आशयके अनुकूल हैं।

अब आप मेरी उक्त दोनों आपत्तियोंके परिहारका प्रयत्न करते हुए लिखते हैं कि 'मेरी उक्त कल्पनामें कौनसे शास्त्राधार व शास्त्रप्रमाणकी आवश्यकता

पण्डितजीको प्रतीत होती है ? वीतकलंक और अकलंक सर्वथा पर्यायवाची शब्द बहुधा और विशेषतः श्लेषकाव्यमें प्रयुक्त किये जाते हैं। 'विद्यानन्दको 'विद्या' शब्दसे व्यक्त किये जानेमें तो कोई आपत्ति ही नहीं है। 'सर्वार्थसिद्धि' में तन्नामक ग्रन्थके उल्लेखको पहचाननेमें कौनसी विचित्रता है और उसके लिए किस शास्त्रका आधार अपेक्षित है।'

यह मेरी प्रथम आपत्तिका परिहार नहीं है। मेरी आपत्तिका परिहार तो तब होता जब अपने कल्पित उक्त श्लेषार्थको अन्य किसी शास्त्रमें भी दिखाते और उससे उसे प्रमाणित करते। सो ऐसा कुछ न करके केवल पर्यायशब्दों द्वारा उसका परिहार करना कदापि संगत नहीं है। यों तो 'विद्या' और 'वीतकलंक' शब्द स्वामी समन्तभद्र-के स्वयम्भूस्तोत्रमें और 'सर्वार्थसिद्धि' पद तत्त्वार्थसूत्रमें भी उपलब्ध होते हैं तो क्या वहाँ 'विद्या'से विद्यानन्द और 'वीतकलंक' से अकलंक तथा 'सर्वार्थसिद्धि' से तन्नामक ग्रन्थका ग्रहण हो जायेगा ? यदि नहीं तो इन शब्दोंसे रत्नकरण्डमें भी उक्त विद्यानन्दादिका ग्रहण कैसे किया जा सकता है। अतः यह दिखाना चाहिए कि अमुक पूर्वाचार्यने भी इस पद्यमें 'विद्या' से विद्यानन्द, 'वीतकलंक' से अकलंकदेव और 'सर्वार्थसिद्धि' से तन्नामक पूज्यवादका ग्रन्थ अर्थ किया है। परन्तु उसे न दिखाकर अपनी कल्पनाओंसे ही उसका समर्थन करना विद्वद्ग्राह्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि उक्त पद्यका आपका कल्पित अर्थ होता, तो टीकाकार प्रभाचन्द्र उसे भी प्रदर्शित करते अथवा अन्य दूसरे आचार्य भी वैसा लिखते। लेकिन ऐसा किसीने नहीं लिखा है।

दूसरी आपत्तिका परिहार करते हुए प्रो. सा. लिखते हैं कि 'मेरा ख्याल था कि वहाँ तो किसी नये कल्पनाकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वहाँ उन्हीं तीन स्थलोंकी संगति सुस्पष्ट है जो टीकाकारने बतला दिये हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र।'।

यह ध्यान रहे कि प्रो. सा. 'त्रिषु विष्टपेषु'का अर्थ तीन टीकाएँ करते थे। जब तीन टीकाओंरूप अर्थ मेरे द्वारा उक्त प्रकारसे बाधित कर दिया गया तो अब उसका अर्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र किया गया है। अब उनके इस अर्थकी भी परीक्षा कर लेना चाहिए। वे इस अर्थको टीकाकार प्रभाचन्द्रका बतलाते हैं। पर उसमें उन्होंने 'त्रिषु विष्टपेषु' का अर्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र नहीं किया ? टीकागत 'त्रिषु विष्टपेषु' के अर्थ वाला अंश इस प्रकार है—

‘क्व ? त्रिषु विष्टपेषु त्रिभुवनेषु।’

इसके अतिरिक्त टीकाकारने कुछ नहीं लिखा। हमें आश्चर्य है कि प्रो. सा. अपनी भूल व गलतीको स्वीकार करनेके बजाय अपने आग्रहका ही समर्थन करते जा रहे हैं, यह प्रवृत्ति प्रशस्य नहीं कही जा सकती है।

दूसरे, यदि 'त्रिषु विष्टपेषु' का श्लेषार्थ दर्शन, ज्ञान और चारित्र हो, तो 'विद्या-दृष्टि-क्रियारत्नकरण्डभाव' का उनके साथ कैसे सम्बन्ध बैठेगा ? क्योंकि यहाँ भी तो वे ही तीन दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्रतिपादित हैं। और ऐसी हालतमें न तो विभिन्न विभक्ति (सप्तमी और प्रथमा) बन सकेगी और न आधारार्थभाव बन

सकेगा। इसके सिवाय, वहाँ पुनरुक्ति भी होती है। 'वीतकलंक' से अकलंक और 'विद्या' से विद्यानन्द श्लेषार्थ करनेपर दृष्टि और क्रियाका भी श्लेषार्थ बताना चाहिए, जो नहीं बतलाया गया है। इस तरह प्रो. सा. का उक्त श्लेषार्थ सर्वथा बाधित, पूर्वापर विरुद्ध और अशास्त्रीय होनेसे विद्वद्ग्राह्य नहीं है।

शेष बातोंपर विचार :

पिछले लेखमें मैंने प्रो. सा. की उन तीन बातोंपर युक्तिपूर्वक विचार करके उनमें दूषण दिये थे जिन्हें उन्होंने अपने लेखके अन्तमें चलती-सी लेखनीमें प्रस्तुत की थीं। अब वे अपने दूषणोंको स्वीकार न करके उन्हें (तीन बातोंको) विस्तारसे प्रकट करनेकी मेरी इच्छा बतलाते हुए लिखते हैं कि 'न्यायाचार्यजीकी इच्छा यह जान पड़ती है कि इस विषयपर मैं अपने विचार और भी कुछ विस्तारसे प्रकट करूँ तभी वे उनपर अपना लक्ष्य देना उचित समझेंगे।' आगे आपने आसमीमांसासम्मत आसका लक्षण बतलानेके लिए अपनी दृष्टिसे आसमीमांसाकी प्रथम छह कारिकाओंका तात्पर्य देकर उनपरसे आसके सम्बन्धमें आसमीमांसाकारकी निम्न मान्यताएँ फलित की हैं—

(१) देवागम आदि विभूतियाँ, विग्रहादिमहोदय तथा तीर्थस्थापना ये आसके लक्षण नहीं, क्योंकि ये बातें मायावियों आदिमें भी पायी जाती हैं। चूँकि मेरे मतानुसार क्षुत्पिपासादिका अभाव विग्रहादिमहोदयमें ही सम्मिलित है अतएव आसमीमांसाकार उसे भी आसका लक्षण स्वीकार नहीं करते।

(२) आसका लक्षण निर्दोष है, जिससे उनके वचन युक्ति-शास्त्राविरोधी होते हैं। ऐसी निर्दोषता सर्वज्ञके ही हो सकती है जो सूक्ष्मादि पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है और वह सर्वज्ञ दोष और आवरण इन दोनोंके आत्यन्तिक क्षयसे होता है।

(३) आचार्यने 'दोषावरणयोः हानिः' यहाँ द्विवचनका प्रयोग किया है—बहुवचनका नहीं। अतः उनकी दृष्टिमें एक ही दोष और एक ही आवरण प्रधान है। वह दोष कौनसा और आवरण कौनसा है? जो हमारी समझदारीमें बाधक होता है वह दोष है अज्ञान और इसको उत्पन्न करनेवाला आवरण है ज्ञानावरण कर्म। इन्हीं दोका अभाव होनेसे सर्वज्ञताकी सिद्धि होती है और आसता उत्पन्न होती है।

(४) ज्ञानावरणके साथ दर्शनावरण व अन्तराय कर्म क्षय हो ही जाते हैं और मोहनीयका उससे पूर्व ही क्षय हो जाता है। अतएव आसमीमांसाकारने उनका पृथक् निर्देश नहीं किया।

(५) अघातिया कर्मोंका सद्भाव रहनेसे उनसे होनेवाली वृत्तियों—वचन, शरीर, क्षुधा, तृषा, शीत-उष्ण, दुःख-सुख, जीवन-मरण आदि—का आप्तमें आसमीमांसाकारने सद्भाव माना है। यह उन्होंने कारिका ९३में वीतराग केवलीमें सुख-दुःखकी बाधाके निर्देशसे स्वीकार कर ली है।

अपनी ओरसे फलित की गयीं आसमीमांसाकारकी इन मान्यताओंको देकर प्रो. सा. आगे लिखते हैं कि 'आसमीमांसाकारका यह मत है और वह सर्वथा जैन सिद्धान्तसम्मत है। अकलंक, विद्यानन्द आदि टीकाकार जहाँ तक इन मर्यादाओंके भीतर अर्थका स्पष्टीकरण करते हैं वहाँ तक तो वह सर्वथा निरापद है। किन्तु यदि

वे कहीं आप्तमीमांसाकारके निर्देशसे बाहर व कर्म-सिद्धान्तकी सुस्पष्ट व्यवस्थाओंके विपरीत प्रतिपादन करते पाये जाते हैं तो हमें मानना ही पड़ेगा कि वे एक दूसरी ही विचारधारासे प्रभावित हैं जिसका पूर्णतः समीकरण उक्त व्यवस्थाओंसे नहीं होता ।'

प्रो. सा. के द्वारा फलित की गयीं उक्त मान्यताएँ आप्तमीमांसाकारका मत हैं या नहीं, इसपर विचार करनेके पहले हम उनकी अन्तिम पंक्तियोंके सम्बन्धमें कुछ कह देना उचित समझते हैं । आपने अपने पिछले एक लेखमें आप्तमीमांसाकारका तात्त्विक अभिप्राय समझनेके लिए दो उपायोंकी सूचना करते हुए लिखा था कि 'आप्तमीमांसाकारके पदोंका तात्त्विक अर्थ समझनेके हमें दो उपाय उपलब्ध हैं— एक तो स्वयं उसी ग्रन्थका सन्दर्भ और दूसरे उनका टीकाकारों द्वारा स्पष्टीकरण ।' परन्तु उक्त पंक्तियोंसे जान पड़ता है कि अब उनका टीकाकारोंके स्पष्टीकरणपर भी विश्वास नहीं रहा; क्योंकि वे उनके पक्षका समर्थन नहीं करते और इसलिए अब वे यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि वे जो अर्थ कर रहे हैं वही आप्तमीमांसाकारका मत है और उसीको जैन सिद्धान्त बतलाते हैं । परन्तु यह सब स्वग्रहमान्य है और वे किन्हीं मर्यादाओंसे बंधे हुए नहीं हैं । अतएव आज वे अकलंक, विद्यानन्द जैसे प्रामाणिक महान् टीकाकारोंके स्पष्टीकरणको सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगे हैं और कल स्वयं आप्तमीमांसाकारके कथनको भी विपरीत बतला सकते हैं । अस्तु ।

अब हम उनकी मान्यताओंपर क्रमशः विचार करते हैं:—

(१) यह ठीक है कि देवागमन आदि विभूतियाँ और विग्रहादिमहोदय आदि आप्तके लक्षण नहीं हैं, परन्तु उसका मतलब यह नहीं कि वे आप्तमें नहीं हैं, आप्तमें वे बातें जरूर हैं—आप्तमीमांसाकरने उन्हें स्वयम्भूस्तोत्रगत 'प्राति-हार्यविभवैः परिष्कृतो' इत्यादि पद्य नं. ७३ द्वारा भी स्पष्टतः स्वीकार किया है । लेकिन वे साधारण होनेसे लक्षण नहीं हैं क्योंकि लक्षण असाधारण होता है । हमें खुशी है कि मेरे मतानुसार प्रो. सा. ने क्षुत्पिपासादिके अभावको विग्रहादिमहोदय (अतिशयों) के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया है । और यह विग्रहादिमहोदय लक्षण न होनेपर भी उपलक्षण रूपसे आप्तमें विद्यमान है । अतः इस मान्यतासे प्रो. सा. को जो आप्तमें क्षुधा-तृषाकी वेदनाका सद्भाव सिद्ध करना इष्ट था वह अब सिद्ध नहीं हो सकता ।

(२) आप्तका लक्षण निर्दोषता है, इसमें कोई विवाद नहीं, उसके वचन युक्ति-शास्त्राविरोधी होते हैं और वह सर्वज्ञ होता है तथा उसकी सर्वज्ञता दोषों और आवरणोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिसे होती है, ये सब बातें भी ठीक हैं । आप्तमीमांसाकारके इस अभिप्रायको हम भी पिछले लेखोंमें प्रकट कर चुके हैं ।

(३-४) जहाँ तक आपकी समझ है उस समझसे आपने 'दोषावरणयोः हानिः' का अर्थ दिया है और इसलिए द्विवचनके प्रयोगसे यह कल्पना भी कर ली है कि वहाँ आप्तमीमांसाकारकी दृष्टिमें एक ही दोष—अज्ञान और एक ही आवरण—ज्ञानावरण प्रधान है—अन्य तो उन्हींके साथ अविनाभूत हैं । अतः उन्हीं दोका अभाव आप आप्तमें बतलाते हैं । परन्तु इस कथनका आपके पूर्व कथनके साथ ही विरोध आता

है। आप पहले 'दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादय उक्ताः' आदि उद्धरणप्रमाणके साथ लिख आये हैं कि 'यहाँ सर्वत्र उन्हीं ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों व तज्जन्य दोषोंका ग्रहण किया गया है।' यहाँ आपने न एक दोषका ग्रहण और न एक आवरणका ग्रहण बतलाया है किन्तु अज्ञान, राग, द्वेष आदि बहुत दोषों और ज्ञानावरण आदि बहुत कर्मोंका निर्देश किया है। वास्तवमें जिस प्रकार 'मनुष्य' पदसे मनुष्यजाति—यावत् मनुष्यों और 'पशु' पदसे पशुजाति—समस्त पशुओंका ग्रहण विवक्षित होता है उसी प्रकार 'दोष' पद और 'आवरण' पद दोषजाति—यावत् दोषों और आवरणजाति—समस्त आवरणों (घातियाकर्मों) के बोधक हैं। यह टीकाकारों, अन्य सिद्धान्त-ग्रन्थों और स्वयं आपसीमांसाकारके अन्य ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित है। जैसा कि पहले अनेक जगह स्वयम्भूस्तोत्रके उल्लेखों द्वारा अठारह दोषोंका आपसीमांसाकार-सम्मत अभाव आपमें बतला आया है और जिनमें १२ दोषोंका अभाव केवलीमें प्रो. सा. ने भी स्वीकार किया है। इसके सिवाय, 'हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतोश्चतस्रो' (स्वयं. ८४) द्वारा आपसीमांसाकारने चार आवरणों (घातियाकर्मों) और 'अनन्तदोषाशय-विग्रहो ग्रहो' (स्वयं. ६६) द्वारा अनन्त दोषोंका स्पष्ट उल्लेख किया है। तब एक ही दोष और एक ही आवरण कहाँ रहा? यदि हम आपके फलितको आपसीमांसाकारका मत मान लें, तो उसका उन्हींके आपसीमांसा (का. ९६, ९८) गत प्रतिपादनसे विरोध आवेगा। अतः आपको टीकाकारोंका अवलम्बन और आपसीमांसाकारके दूसरे ग्रन्थोंका सहारा लेकर ही उनके अभिप्रायको समझने-समझानेका प्रयत्न करना चाहिए।

(५) आपमें अघातिया कर्मोंका सद्भाव रहनेसे वचन, शरीर आदि वृत्तियोंका होना संगत है, पर क्षुधा-तृषा, शीत-उष्ण और सुख-दुख व जीवन-मरणका सद्भाव आपसीमांसाकारने कहीं भी नहीं माना—उनका उसे मत बतलाना भ्रममात्र है। कारिका ९३वें में 'बीतरागो मुनिर्विद्वान्' का केवली अर्थ करना एक बड़ी भूल है, उसका साधु परमेश्वर और उपाध्याय परमेश्वर अर्थ है और उनके सुख-दुःख होना ठीक है। इस सम्बन्धमें मैं विस्तारके साथ पहले खुलासा कर आया हूँ। आपमें शरीर, वचन आदिकी वृत्तियोंके स्वीकार करनेमें आपसीमांसाकारके लिए कोई बाधा नहीं है। इसके लिए उनकी दूसरी रचना स्वयम्भूस्तोत्रसे निम्न दो कारिकाएँ उद्धृत हैं, जिनसे प्रो. सा. का समाधान हो जायेगा—

प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत् ।

मोक्षमार्गमशिष्यन्नरामरान्नापि शासनफलैषणातुरः ॥७३॥

काय-वाक्य-मनसां प्रवृत्तयो नाभवन्स्तव मुनेश्चकीर्षया ।

नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर ! तावकमचिन्त्यमीहितम् ॥७४॥

उपसंहार :

उपर्युक्त विवेचनसे निम्न बातें सामने आती हैं—

(१) रत्नकरण्डश्रावकाचारके छठे पद्यमें आपमें जिन क्षुधादि अठारह दोषोंका अभाव बतलाया गया है उनका अभाव स्वयम्भूस्तोत्रमें भी वर्णित है। अतः

रत्नकरण्डकमें दोषका स्वरूप 'आप्तमीमांसाकारके अभिप्रायसे भिन्न नहीं है और इसलिए वह उन्हींकी कृति है।

(२) साहित्यकारोंने समन्तभद्रके लिए 'देव' और 'योगीन्द्र' पदके प्रयोग किये हैं और इसलिए देव और योगीन्द्र पदके वाच्य पार्श्वनाथचरितमें स्वामी समन्तभद्र विवक्षित हैं। वादिराजके पूर्व अन्य 'योगीन्द्र' समन्तभद्रका साहित्यमें अस्तित्व नहीं है।

(३) आ. प्रभाचन्द्र वादिराजके प्रायः समकालीन हैं। अतः जहाँ प्रभाचन्द्र द्वारा रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया गया है और अपने आराधना-कथाकोषमें उन्होंने उनका 'योगीन्द्र' पदसे उल्लेख किया है वहाँ उनके ही प्रायः समकालीन वादिराजने रत्नकरण्डकको 'योगीन्द्र' कृत बतलाया है। इसलिए वादिराजको भी प्रभाचन्द्रकी तरह 'योगीन्द्र' पदसे स्वामी समन्तभद्र ही विवक्षित हैं; क्योंकि रत्नकरण्डकको स्वामी समन्तभद्रसे भिन्न योगीन्द्र-कृत बतलानेवाला वादिराजका पोषक एक भी प्रमाण नहीं है और प्रभाचन्द्रके स्वामी समन्तभद्रकृत बतलानेवाले उल्लेखोंके पोषक एवं समर्थक बीसियों प्रमाण हैं।

(४) रत्नकरण्डकके उपान्त्य पद्यमें अकलंक, विद्यानन्द और सर्वार्थसिद्धिकी कल्पना अशास्त्रीय और असंगत है और इसलिए उक्त कल्पना रत्नकरण्डकको विद्यानन्दके बादकी रचना सिद्ध नहीं कर सकती है। विद्यानन्दसे पूर्व ७-८ वीं शताब्दीके न्यायावतारमें रत्नकरण्डका 'आप्तोपज्ञ' पद्य पाया जाता है। अतः वह विद्यानन्दके बादकी रचना कदापि नहीं है।

अतः रत्नकरण्डक अपने मौलिक एवं प्रौढ़ साहित्य, विभिन्न उल्लेख-प्रमाणों और प्रामाणिक साहित्यिक अनुश्रुतियों व स्रोतों आदिसे आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी ही कृति प्रमाणित होती है।



रत्नकरण्डक-टीका और उसके कर्ताका समय

स्वामी समन्तभद्र विरचित रत्नकरण्डकश्रावकाचारपर एक संस्कृतटीका पायी जाती है,^१ जो माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना एवं 'स्वामी समन्तभद्र' इतिहासके साथ प्रकाशित हो चुकी है^२। इस टीकामें उसके कर्त्ताने अपना नाम प्रभाचन्द्र व प्रभेन्दु दिया है। इससे यह टीका प्रभाचन्द्रकर्तृक मानी जाती है। विचारणीय है कि ये कौन-से प्रभाचन्द्र हैं और उनका समय क्या है, क्योंकि प्रभाचन्द्रनामके अनेक विद्वान् हुए हैं ?

इस सम्बन्धमें मुख्तार साहबने अपनी उक्त ग्रन्थकी प्रस्तावना (पृ. ५३-८२) में यह विचार प्रकट किया है कि 'यह टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि प्रसिद्ध तर्क-ग्रन्थोंके कर्ताकी कृति मालूम नहीं होती, किन्तु पं. आशाधरजीकी सागारधर्माभूत-टीकाके, जिसका रचनाकाल उसमें वि. सं. १२९६ दिया हुआ है, बादकी जान पड़ती है और वह रत्नकीर्तिके पट्ट शिष्य प्रभाचन्द्रकी बनायी हुई हो सकती है, जिनका पट्टारोहणसमय पट्टावलीमें वि. सं. १३१० दिया है और इसलिए रत्नकरण्डक-टीकाकार प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी १३वीं शताब्दीसे पूर्व नहीं हैं।' परन्तु यह विचार उनका उस समयका था, जबकि आमतौरपर भगवज्जिनसेनाचार्यके आदि-पुराणमें उल्लिखित 'चन्द्रोदय' के कर्त्ता प्रभाचन्द्रको ही न्यायकुमुदचन्द्रोदय अथवा न्यायकुमुदचन्द्रका कर्त्ता समझा जाता था। बादकी न्यायकुमुदचन्द्रके प्रकाशित होनेपर जब उसकी प्रस्तावनाद्वारा नये प्रमाण प्रकाशमें आये तथा मेरे द्वारा यह बात भी मुख्तार सा. को सुझायी गयी कि रत्नकरण्डककी टीका वि. सं. १३०० में निर्मित हुई अनगरधर्माभूतकी टीकाके समय ही नहीं, किन्तु वि. सं. १२९६ में रची गयी सागारधर्माभूतकी टीकाके समय भी पं. आशाधरजीके सामने मौजूद थी; क्योंकि पं. आशाधरने सागारधर्माभूतटीका (पृ. १३७) में रत्नकरण्डके 'विषयविषतोऽनुपेक्षा' नामक पद्यको उद्धृत करके उसके उस समस्त पद-व्याख्यानको भी थोड़ेसे शब्दभेदके साथ ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है, जो इस टीकामें उक्त पद्यके व्याख्यानावसरपर प्रभाचन्द्रके द्वारा उपस्थित किया गया है, तब उन्हें अपनी पुरानी मान्यताका आग्रह नहीं रहा। अतः मुख्तार साहबकी उन युक्तियोंको यहाँ देकर उनपर विचार करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, जिनके आधारसे उन्होंने अपना उक्त विचार प्रस्तुत किया था।

पं. नाथूरामजी प्रेमी पहले ही यह मान चुके हैं कि रत्नकरण्डकी यह टीका

१. 'रत्नकरण्डकविषमपदव्याख्यान' नामका एक संस्कृत-टिप्पण भी इस ग्रन्थपर उपलब्ध होता है, जो आराके जैन सिद्धान्त भवनमें मौजूद है।
२. इसका नया संस्करण भी सन् १९७२ में बीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट द्वारा पं. पन्नालालजी साहित्याचार्यके हिन्दी अनुवादके साथ प्रकट हो चुका है।

उन्हीं प्रभाचन्द्रकी कृति है, जो प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रादिके कर्ता हैं। पं. महेन्द्रकुमारजीकी भी यही मान्यता है। जैसा कि हमने अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०-११ (पृष्ठ ४२२) में रत्नकरण्ड और आत्मोमांसाके एककर्तृत्वविषयक अपने लेखमें 'रत्नकरण्डकटीकाके कर्तृत्वपर सन्देह और भ्रान्त उल्लेख' उपशीर्षकके नीचे स्पष्ट करके बतलाया है।

यद्यपि अब इस विषयमें दूसरे किसी विद्वान्का कोई मतभेद मालूम नहीं होता, फिर भी हम यहाँ पर कुछ ऐसे साधक प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिनसे यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् रत्नकरण्डकी यह टीका प्रमेयकमल-मार्तण्डकारकी कृति ही प्रसिद्ध होती है और उसपरसे उनका समय निश्चित हो जाता है :—

(१) तार्किक प्रभाचन्द्राचार्यने अपना प्रमेयकमलमार्तण्ड धारानरेश भोजदेव- (वि. सं. १०७५-१११०) के राज्यकालमें बनाया है और न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थ भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंह नरेश (वि. सं. १११२) के राज्यकालमें रचे हैं। जैसा कि उनकी प्रशस्तियोंमें दिये गये निम्न समाप्ति-पुष्पिका-वाक्योंसे सिद्ध है—

‘श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामल-पुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपो-द्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।’

—प्र. क. मा. द्वि. आ. पृ. ६९४।

‘इति श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामो-पार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन न्यायकुमुदचन्द्रो-लघोयस्त्रयालंकारः कृत इति मंगलम् ।’

—न्यायकुमुदचन्द्र द्वि. भा. पृ. ८८०।

ठीक इसी तरह (न्यायकुमुदचन्द्र जैसा) गद्यकथाकोशमें भी ८९वीं कथाके बाद समाप्ति-पुष्पिका-वाक्य पाया जाता है। यथा—

‘श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामल-पुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेनाराधनासत्कथाप्रबन्धः ‘कृत’ इति’ ।

इन समान समाप्ति-पुष्पिका-वाक्योंसे सिद्ध होता है कि ये तीनों ग्रन्थ धारा-निवासी श्रीप्रभाचन्द्रपण्डितकी रचनाएँ हैं, जो धारामें भोजदेव और जयसिंहदेवके

१. इस ग्रन्थका प्रभाचन्द्रोक्त सही नाम ‘आराधना-सत्कथाप्रबन्ध’ प्रतीत होता है। गद्यकथाकोश नाम तो पीछेसे इसलिए प्रसिद्ध हो गया मालूम होता है कि वह गद्यमें लिखा गया है और उनके बाद ब्रह्म नेमिदत्तने अपना कथाकोश पद्योंमें लिखा है। प्रभाचन्द्रके कथाकोश-से ऐसा भी मालूम होता है कि उनके पहले संस्कृत अथवा प्राकृत या दोनोंमें रचित कोई पद्यमय भी कथाकोश रहा है और जिसके पद्योंके प्रतीक-वाक्यांश इसमें देकर कथाएँ लिखी गयी हैं। जो हो, उसकी पूरी जाँच करनेपर ही कुछ निश्चित रूपमें कहा जा सकता है।—लेखक।

राज्य-समयमें हुए है। गद्य-कथाकोशकी रचना इन्होंने सर्वसुखावबोधो एवं अत्यन्त सरल पदों द्वारा की हैं, जिसकी सूचना उन्होंने 'सुकोमलैः सर्वसुखावबोधैः पदैः प्रभाचन्द्र-कृतः प्रबन्धः' इत्यादि समाप्तिपद्यके द्वारा स्वयं की है।

हमारा मत है कि गद्य-कथाकोशके रचयिता प्रभाचन्द्रपण्डितने ही रत्न-करण्डकटीकाको भी बनाया है। इसके आधार निम्न हैं—

(क) गद्य-कथाकोश और रत्नकरण्डक दोनोंकी साहित्यिक रचना एक-सी है। दोनोंके निम्न मंगलाचरण-पद्योंकी तुलना कीजिए :—

प्रणम्य मोक्षप्रदमस्तदोषं प्रकृष्टपुण्यप्रभवं जिनेन्द्रम् ।

वक्ष्येऽत्र भव्यप्रतिबोधनार्थमारोधनासत्सुकथाप्रबन्धम् ॥

—गद्य-कथाकोश, लि. प्र., पत्र १।

समन्तभद्रं निखिलात्मबोधनं, जिनं प्रणम्याखिलकर्मशोधनम् ।

निबन्धनं रत्नकरण्डके परं, करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥१॥

—रत्नक. टी. पृ. १।

(ख) गद्य-कथाकोशमें अंजनचोर आदिकी जो कथाएँ दो गयी हैं वे प्रायः शब्दशः रत्नकरण्डक-टीकामें भी उसी प्रकार पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ एक स्थल यहाँ दिया जाता है, जो दोनोंमें एक-सा है :—

“धन्वन्तरि-विश्वानुलोमौ स्वकृतकर्मवशात् अमितप्रभविद्युत्प्रभौ देवौ सञ्जातौ। तौ चान्योन्यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायातौ। ततो यमदग्निस्ताम्यां तप-सश्चालितः। मगधदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठो स्वीकृतोपवासः कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ इमशाने कायोत्सर्गेण स्थितो दृष्टः। ततो अमितप्रभदेवेनोक्तं दूरे तिष्ठन्तु मवीया मुनयोऽमुं गृहस्थं ध्यानाच्चाचालयेति। ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा कृतोपसर्गोऽपि न चालितो ध्यानात्। ततः प्रभाते मायामुपसंहृत्य प्रशस्य चाकाशगामिनो विद्या दत्ता। तस्मै कथितं च तवेयं सिद्धाज्यस्य च पञ्चनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति।”

—रत्नक. टी., १-१९ पृ. ३५।

(२) टीका पृष्ठ ११-१२में आप्तलक्षणके प्रसंगमें केवलीमें कवलाहारकी मान्यता-का उसी प्रकार संक्षेपमें युक्तिपुरस्सर निराकरण किया गया है जिस प्रकार प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड (पृ. ३००) और न्यायकुमुदचन्द्र (पृ. ८५६) में किया है। इसके साथ ही यह सूचना भी की गयी है कि विस्तारसे प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें प्ररूपण करनेसे यहाँ इतना ही संक्षिप्त कथन पर्याप्त है। यथा—

“तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्रपञ्चतः प्ररूपणात्”

यहाँ ध्यातव्य है कि टीकाकारने अपनी इस टीकामें दूसरे विद्वात्के एक भी ग्रन्थका नामोल्लेख नहीं किया। अतः उपर्युक्त उल्लेखसे प्रतीत होता है कि टीका-कारने अपने ही पूर्व-रचित उक्त ग्रन्थोंका निर्देश किया है। इसी प्रकारके उल्लेख समाधितन्त्रकी टीका और शब्दाम्भोजभास्करमें भी पाये जाते हैं^१, जिन्हें पं. महेन्द्र-

१. वे ये हैं—

(क) यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुद-चन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।—समाधितन्त्रटीका, पृ. १५।

कुमारजीने प्रमेयकमलमार्तण्डकारकी कृतियाँ सिद्ध की हैं^१।

(३) टीकामें यत्र तत्र शैली और तर्कका प्रायः उसी प्रकारसे आश्रय लिया गया है जिस प्रकार प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें दृष्टिगोचर होता है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि वे दोनों (शैली और तर्क) यहाँ ग्रन्थानुरूप और अति संक्षिप्त हैं। उदाहरणके लिए दोनोंके तीन उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) अविघ्नने शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं हि फलमुद्दिश्येष्टदेवतानमस्कारं कुर्वाणाः शास्त्रकृतः शास्त्रादौ प्रतीयन्ते । —प्रमेय. पृ. ७।

निविघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह । —रत्नकरण्ड-टी., पृ. १।

(ख) ननु व्याप्तिप्रतीत्यर्थं तर्कलक्षणप्रमाणाभ्युपगमोऽनुपपन्नः प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा तस्याः प्रतीतिसिद्धेः इत्याशङ्क्यं निराकुर्वन्नाह ।

—न्यायकुमुद., पृ. ४२६।

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरङ्गैः प्ररूपितैः किं प्रयोजनम् ? तद्विकल्पाप्यस्य संसारोच्छेदनसामर्थ्यसंभवात् इत्याशङ्क्याह ।

—रत्नकरण्ड-टीका १-२१, पृ. ५६।

(ग) तथाहि—“भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका, देहस्थितित्वात्, अस्मदादि-देहस्थितिवत्” इत्यत्र प्रयोगे किम् आहारमात्रपूर्वकत्वं तस्थितेः प्रसाध्येत, कवलाहार-पूर्वकत्वं वा ? प्रथमपक्षे ‘सिद्धसाध्यता’ इत्युक्तम् । (आ सयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः इत्युभ्युपगमात् ।

द्वितीयविकल्पे तु त्रिदशादिभिर्यभिचारः, तेषां कवलाहाराभावेऽपि देहस्थिति-संभवात् । —न्यायकुमुद. पृ. ८५७।

तथाहि । भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विका, देहस्थितित्वात्, अस्मदादि-देहस्थितिवत् । जैनोच्यते—अत्र किमाहारमात्रं साध्यते कवलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता, आ सयोगकेवलिन आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या व्यभिचारः । देवानां सर्वदा कवलाहाराभावेऽपि अस्याः संभवात् ।

—रत्नकरण्डकटी. पृ. ११, १२।

न्यायकुमुद और रत्नकरण्डटीका दोनोंके इन अवतरणोंसे स्पष्ट है कि यह टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्राचार्यकी रचना है—रत्नकीर्तिके पट्ट शिष्य प्रभाचन्द्रकी, जिनका समय वि. की १३वीं-१४वीं शताब्दी बतलाया जाता है, नहीं हैं। स्मरण रहे, रत्नकीर्तिके पट्ट शिष्य प्रभाचन्द्रका पूर्वोल्लिखित पट्टारोहण समय (वि. सं. १३१०) अभ्रान्त नहीं मालूम होता, क्योंकि इन प्रभाचन्द्रके एक शिष्य ब्रह्म नाथूरामने वि. सं. १४१६ में आराधना-पंजिकाकी लिपि कराई थी^२ और इससे इन प्रभाचन्द्रका समय १४ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध

(ख) तदात्मकत्वञ्चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेशच यथा सिध्यति तथा प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम् । —शन्दाभोजभास्कर ।

१. न्यायकुमुदचन्द्र द्वि. भा., प्रस्तावना, पृ. ५९।

२. जैनसाहित्यका इतिहास, पृ. ३२।

ज्ञात होता है और इसलिए पं. आशाधरजीकी सागारधर्मामृतटीका (वि. सं. १२९६) से बहुत पूर्व रची गयी रत्नकरण्डक-टीकाके रचयिता ये प्रभाचन्द्र कदापि सम्भव नहीं हैं।

(४) पं. महेन्द्रकुमारजीने 'प्रवचनसारसरोजभास्कर' को भी प्रमेयकमल-मार्तण्डकारकी ही रचना सिद्ध किया है।^१ इस ग्रन्थकी और रत्नकरण्डकटीकाकी प्रारम्भिक उत्थानिकाएँ समाधितन्त्रटीकाकी तरह बिल्कुल एक-सी हैं। यथा—

“श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः सकललोकोपकारकं मोक्षमार्गमध्ययनरुचिविनेयाशय-
वशेनोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवता-
विशेषं शास्त्रस्यादौ नमस्कुर्वन्नाह।”

—प्रवचनसारसरोजभास्कर।

“श्रीसमन्तभद्रस्वामी, रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्श-
नादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्र-
परिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।”

—रत्नकरण्डकटीका पृ. १।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि रत्नकरण्डकटीका उन्हीं प्रमेयकमल-मार्तण्ड आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके कर्ता प्रभाचन्द्राचार्यकी बनाई हुई है, जिनका समय वि. सं. १०६७ से वि. सं ११३७ (ई. सन् १०१० से १०८०) है और इस लिए इस टीकाके कर्ताका समय यही है।

•

१. न्यायकुमुदचन्द्र, द्वि. भाग, प्रस्ता. पृ. ६३-६४।

२. 'आ. माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश' नामका मेरा लेख, अनेकान्त, वर्ष ८, कि ८-९। तथा आस-परीक्षाकी प्रस्तावना और यही ग्रन्थ।

आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी सिद्धिविनिश्चय-टीका

अनन्तवीर्य नामके दो विद्वान् और उनका समय :

उपलब्ध जैन साहित्यमें अनन्तवीर्य नामके दो विद्वान् आचार्योंका पता चलता है। एक अनन्तवीर्य तो वे हैं, जिन्होंने माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' न्यायसूत्रपर परीक्षामुख-पञ्चिका नामक वृत्ति लिखी है, जिसे 'परीक्षामुख-लघुवृत्ति' और 'प्रमेयरत्नमाला' भी कहा जाता है^१। ये अनन्तवीर्य प्रमेयकमलमार्तण्डकार आचार्य प्रभाचन्द्रके उत्तरकालीन हैं, क्योंकि इन्होंने अपनी प्रमेयरत्नमालाके आरम्भमें प्रभाचन्द्र और उनके प्रमेयकमलमार्तण्डका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

प्रभेन्दु-वचनोदार-चन्द्रिका-प्रसरे सति ।

मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गण-सन्निभाः ॥

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि प्रभेन्दु—प्रभाचन्द्र और उनके वचनोदारचन्द्रिका—प्रमेयकमलमार्तण्डकी जिस समय सर्वत्र प्रतिष्ठा और ख्याति हो रही थी, उस समय प्रमेयरत्नमाला लिखी गयी है। उधर १२वीं शताब्दीके विद्वान् हेमचन्द्रने प्रमाणनीमांसा-में अनेक जगह प्रमेयरत्नमालाका शब्दशः और अर्थशः अनुसरण किया है। अतः प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य हेमचन्द्रके पूर्ववर्ती और ११वीं शतके तार्किक विद्वान् प्रभाचन्द्रके उत्तरवर्ती अथवा समकालीन हैं। अर्थात् ये अनन्तवीर्य ११वीं शताब्दीके विद्वान् हैं।

दूसरे अनन्तवीर्य प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चय-टीकाकार अनन्तवीर्य हैं, जो अकलंक-देवके प्रौढ़ और सम्भवतः आद्य व्याख्याकार एवं उनके गूढ़ पदोंके मर्मोद्घाटक हैं और प्रभाचन्द्र तथा वादिराज द्वारा बड़े सम्मान एवं आदरके साथ अपने पथप्रदर्शकके रूपमें स्मरण किये गये हैं।

आ. प्रभाचन्द्र लिखते हैं:—

त्रैलोक्योदरवर्तिवस्तुविषयज्ञानप्रभावोदयो,

दुष्प्राप्त्योऽप्यकलङ्कदेवसरणिः प्राप्तोऽत्र पुण्योदयात् ।

स्वभ्यस्तश्च विवेचितश्च शतशः सोऽनन्तवीर्योक्तितः,

भूयान्मे नयनीतिदत्तमनसस्तद्बोधसिद्धिप्रदः ॥

—न्यायकु. द्वि. भा. ५-३०, पृ. ६०५।

अर्थात् अकलंकदेवकी संक्षिप्त एवं गहन और दुर्गम पद्धतिको अनन्तवीर्यके व्याख्यानोपरसे सैकड़ों बार अच्छी तरह अभ्यास करके और विवेचन करके बड़े-

१. वैजयप्रियपुत्रस्य हीरपस्योपरोधतः ।

शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्चिका ॥ —प्रमेयर. पृ. ५।

२. इति प्रमेयरत्नमालाऽारनामधेया परीक्षामुखलघुवृत्तिः समाप्ता ।

—प्रमेयर., प्रशस्ति, पृ. ३५४।

पुण्योदयसे प्राप्त (ज्ञात) कर पाया है। इससे यह प्रकट है कि ये अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती हैं और जिन्हें वे अकलंकदेवकी दुर्गम कथन-शैलीका अच्छा मर्मोद्घाटक मानते हैं। आ. प्रभाचन्द्रका समय १०वीं-११वीं शताब्दी (९८० से १०६५ ई.) है^१। अतः ये अनन्तवीर्य प्रभाचन्द्रसे पूर्ववर्ती हैं।

आ. वादिराज अपने न्यायविनिश्चय-विवरणके प्रारम्भमें कहते हैं:—

गूढमर्थमकलङ्कुवाङ्मयागाधभूमिनिहितं तदर्थिनाम् ।

व्यञ्जयत्यमलमनन्तवीर्यवाक्-दीपवतिरनिशं पदे पदे ॥

—न्या. वि. वि. भाग १, १-३ ।

अर्थात् अकलंकदेवके गूढ पदोंका अर्थ अनन्तवीर्यके वचन-प्रदीप द्वारा ही मैंने अवलोकित किया है।

इन्हीं वादिराजने उक्त विवरणके अन्त और पार्श्वनाथ-चरितमें भी अनन्तवीर्य-को वन्दनारूपसे स्मृत किया है। यथा—

विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दया-

यालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमम्बुद्यमी ।

शुद्धचक्षोतिनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमनुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥

—न्यायवि. वि. द्वि. भा., प्रशस्ति, श्लो. २ ।

वन्दान्मनन्तवीर्याब्दं यद्वागमृतवृष्टिभिः ।

जगज्जिघत्सुर्निर्वाणः शून्यवादहृताशनः ॥ —पा. च. ।

वादिराजके इन उल्लेखोंसे प्रकट है कि अनन्तवीर्य उनके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें अपना समय शक सं. ९४७ (ई. १०२५) दिया है। अतः अनन्तवीर्य वादिराज (११वीं शताब्दी) के पहलेके हैं। चूँकि प्रभाचन्द्र और वादिराज दोनों ही विद्वानोंने उन्हें अकलंकके वाङ्मयके पदोंका अर्थ-स्फोटक बतलाया है और इसलिए इन दोनों ग्रन्थकारों द्वारा स्मृत अनन्तवीर्य सिद्धिविनिश्चयटीकाके रचयिता अनन्तवीर्य ही हैं। इन्हीं अनन्तवीर्यने अकलंकके अत्यन्त दुरूह प्रमाणसंग्रहपर भी टीका (भाष्य) लिखी है और जो सिद्धिविनिश्चयटीकासे पूर्वकी उनकी रचना है। सिद्धिविनिश्चयटीकामें उसे देखनेके लिए अनेक जगह प्रेरणा की गयी है, जो उनका विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय जैसा ही महत्त्वका विशिष्ट ग्रन्थ जान पड़ता है और जो आज अनुपलब्ध है तथा उनकी सिद्धिविनिश्चयटीकामें ही उसके उल्लेख हैं। अतएव प्रभाचन्द्र और वादिराजके विवक्षित अनन्तवीर्य अकलंक-

१. न्यायकुमुद, द्वि. भा., प्रस्ता., पृ. ५८ ।

२. 'इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये' पृ. १२, 'इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालंकारे' पृ. १९, 'शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात् प्रत्येयं' पृ. ३९२, 'प्रपञ्चस्तु नेहोक्तो ग्रन्थगौरवात् प्रमाणसंग्रह-भाष्याज्जेयः' पृ. ८२१, 'प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्' पृ. ११०३, 'दोषो रागादिव्याख्यातः प्रमाणसंग्रहभाष्ये' पृ. १२२२ ।

प्रकरणोंके मर्मज्ञ और सिद्धिविनिश्चयटीका तथा प्रमाणसंग्रहभाष्यके रचयिता प्रस्तुत अनन्तवीर्य ही हैं ।

विद्यानन्द भी अकलंकके व्याख्याकार हैं और प्रभावचन्द्र तथा वादिराज द्वारा स्मृत होनेसे उनके पूर्ववर्ती हैं । लेकिन अनन्तवीर्य और विद्यानन्दमें पूर्ववर्ती कौन है ? इसका पता अभी तक न तो अन्य साधनोंसे चला है और न इन दोनों विद्वानोंके ग्रन्थोंपर-से ही चलता है, क्योंकि एक दूसरेके साहित्यका एक दूसरेपर कोई प्रभाव नहीं जान पड़ता । अनन्तवीर्यने सिद्धिविनिश्चयटीकामें अनेक पूर्ववर्ती आचार्य और विद्वानों एवं ग्रन्थकारोंका नामोल्लेख किया है और जहाँ-तहाँ उनके ग्रन्थवाक्योंको भी उद्धृत किया है । स्वामी समन्तभद्र, तत्त्वार्थसूत्रकार, पूज्यपाद, पात्रकेसरी, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णक (कर्णकगोमि), अर्चट, शान्तभद्र, कुमारिल, प्रभाकर, गांगलकीर्ति, पाणिनि, तत्त्वोपप्लवकार आदिके नामोल्लेखपूर्वक वाक्य उद्धृत किये हैं । सिद्धसेनका भी नामोल्लेख है और उनके सन्मत्तिसूत्र ग्रन्थकी तीसरे काण्डगत ५०वीं गाथा भी उद्धृत हुई है । एक अनन्तकीर्ति नामके विद्वानाचार्य और उनकी 'स्वतः प्रामाण्यभङ्ग' नामकी कृतिके भी उल्लेख हैं । आश्चर्य नहीं कि ये अनन्तकीर्ति वे ही अनन्तकीर्ति हों, जिनका उल्लेख वादिराजने पार्श्वनाथचरितमें किया है और जिन्होंने जीवसिद्धि, लघु और बृहद् सर्वज्ञसिद्धियोंकी रचना की है । जीवसिद्धिकी तरह उनकी यह सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित 'स्वतः प्रामाण्यभङ्ग' कृति भी अनुपलब्ध जान पड़ती है । इन सबके उल्लेख होते हुए भी विद्यानन्दका या उनके किसी ग्रन्थवाक्यका कोई उल्लेख नहीं है । उधर विद्यानन्दने भी इनका कोई उल्लेख किसी भी ग्रन्थमें नहीं किया । अतएव यह सम्भव है कि ये दोनों विद्वान् समकालीन हों और भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें अपना प्रकाश कर रहे हों । विद्यानन्दका समय ९वीं शताब्दी सुनिश्चित है । धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, कर्णकगोमी, अर्चट, तत्त्वोपप्लवकार

१. सिद्धिवि. टी. (पृ. ३१ मु.) में निम्न प्रकारसे एक उल्लेख आया है—'इममेवार्थं समर्थयमानः प्राह—आधत्तमित्यादि । नन्वयमर्थोऽनन्तरकारिकावृत्तावृत्तो न च पुनस्तस्यैवाभिधाने स एव समर्थितो नामातिप्रसङ्गात् । किन्त्वयस्माद्धेतोः, स चात्र नोक्तस्तस्मादुक्तार्थोऽनन्तरश्लोकोऽयमित्यनन्तवीर्यः । अस्यायमर्थ आधत्तमादव्यक्ता क्षणिकैकान्तस्वार्थसंविदिति... । —सि. वि. टी., पृ. ३१ मु. ।

इस उल्लेखमें 'इत्यनन्तवीर्यः' पदका प्रयोग आया है । यदि वह अशुद्ध नहीं है और वह किसी व्यक्तिविशेषका बोधक है तो मालूम होता है कि इन अनन्तवीर्यके पहले भी कोई अन्य तीसरे अनन्तवीर्य हो गये हैं और जिनके मतको टीकामें टीकाकार अनन्तवीर्यने नामोल्लेखपूर्वक उद्धृत किया है ।

२. स्वयूथोऽप्याह—सिद्धसेनेन क्वचित्तस्यासिद्धस्यावचनादयुक्तमेतदिति; तेन कदाचिदेतत् श्रुतम् ?—

जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं ।

संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा ॥ —सिद्धिवि. टी., मु. पृ. ४०४ ।

३. 'अनन्तकीर्तिकृतेः स्वतः प्रामाण्यभङ्गादवसेयमेतत् ।'—सि. वि. टी. मु. पृ. २३४ ।

[४. पार्श्वना. १-२४ ।

(जयरशि), कुमारिल और प्रभाकर ये सब ईसाकी ७वीं से ९वीं शताब्दी तक के विद्वान् हैं। अकलंकदेवका समय प्रायः ८वीं शताब्दी अनुमानित है और अनन्तवीर्य उनके व्याख्याकार हैं। इसलिए इनका समय ९वीं और १०वीं शताब्दी मालूम होता है। यदि इन्हें अकलंकके आद्य व्याख्याकार होनेका सौभाग्य भी प्राप्त है, तो ये ९वीं श. के ही विद्वान् हैं। लेकिन इस समयको माननेमें एक विचारणीय बात यह उपस्थित होती है कि अनन्तवीर्यने सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामके छठे प्रस्तावके आरम्भमें अकलंकदेवके 'स्वामिनः' पदको लेकर जो चर्चा प्रस्तुत की है उससे प्रतीत होता है कि वे अकलंकके इतने बाद हुए हैं कि उनके 'स्वामिनः' पदका वास्तविक अर्थ करनेमें वे संदिग्ध थे—उसका वे असन्दिग्ध अर्थ नहीं जानते थे और इसलिए 'आचार्यप्रसिद्धि' के आधारपर उसका अर्थ 'सीमन्धर भट्टारक तीर्थंकर' करनेके लिए बाध्य हुए, जो आचार्य उस पदका अर्थ आचार्यप्रसिद्धि-के अनुसार ही 'पात्रकेशरी स्वामी' करते थे उसका उन्होंने विरोध किया। यदि अनन्तवीर्य अकलंकके १००-५० वर्ष बाद ही हुए होते, तो वे उस ऐतिहासिक पदके अर्थमें इतने सन्दिग्ध न होते और जो 'पात्रकेशरी स्वामी' अर्थ किया जाता था उसे वे बिना ननु-नच किये अदृश्य स्वीकार करते। अतएव उनकी इस चर्चासे यह जान पड़ता है कि वे अकलंकके बहुत बाद हुए हैं, जब 'स्वामिनः' पदके अर्थमें अनेक किन्नदन्तियाँ और मतभेद प्रचलित हो चुके थे। अतएव यह चिन्तनीय है कि वे ९वीं शताब्दीके विद्वान् हैं? राहुलसांकृत्यायनने^१ अर्चटका समय ८वीं और कर्णकगोमीका ९वीं सदी दिया है और अनन्तवीर्यने अर्चट तथा कर्णकगोमी दोनोंका समालोचन किया है। अतः अधिक सम्भव यही है कि ये १०वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। फिर एक प्रश्न यह जरूर बना रहता है कि विद्यानन्द (९वीं सदी) का उन्होंने कोई उल्लेख क्यों नहीं किया, जो बहुत अधिक सम्भव था? अतः यह विचारणीय है।

अकलंकके व्याख्याकारोंमें अनन्तवीर्यका स्थान :

अकलंकका वाङ्मय—पद-वाक्यादिसमूह कितना गहन, दुर्बोध, संक्षिप्त और अर्थबहुल है, इसका पता इनके न्यायविषयक प्रकरणोंका अध्ययन करनेवालोंको सहजमें ही मालूम हो जाता है। आचार्य वादिराज पद-पदपर इसका अनुभव करते हैं और अनन्तवीर्यकी सहायता लेकर ही उन्हें समझ पाते हैं। आचार्य प्रभाचन्द्र जब सैकड़ों बार अभ्यास करते हैं तब उन्हें जान पाते हैं, सो भी अनन्तवीर्यकी अकल्प्य सहायतासे ही। बगैर उनकी सहायता लिये अपनेको वे भी असमर्थ पाते हैं। अनन्त-वीर्य भी स्वयं अकलंक-पदोंके सम्बन्धमें क्या कहते हैं, सो भी सुनिये—

१. 'कस्य तदित्यत्राह—स्वामिनः पात्रकेशरिण इत्येके । कुत एतत् तेन तद्विषयत्रिलक्षणक-दर्शनमुत्तरभाष्यं यतः कृतमिति चेत्, नन्वेवं सीमन्धरभट्टारकस्याशेषार्थसाक्षात्कारिणस्तीर्थ-करस्य स्यात् । तेन हि प्रथमं 'अन्यथाऽनुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् । नान्यथानुप-पन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥' इत्येतत्कृतम् । कथमिदमवगम्यते ? इति चेत्, पात्रकेशरिणा त्रिलक्षणकदर्शनं कृतमिति कथमवगम्यत इति समानम् । आचार्यप्रसिद्धेरित्यपि समान-मुभयत्र । कथा च महती सुप्रसिद्धा....' सि. वि. टी. मु. पृ. ३७१, ३७२ ।

२. भारतीय विद्या, वर्ष ३, अंक १, 'प्रज्ञाकरगुप्त और उनका भाष्य' शीर्षक लेख ।

देवस्यानन्तवीर्योऽपि पदं व्यक्तुं तु सर्वतः ।

न जानीतेऽकलङ्कस्य चित्रमेतत्परं भुवि ॥३॥

अर्थात्—मैं अनन्तवीर्य होकर भी अकलंकदेवके पदोंको पूर्णतः व्यक्त करना नहीं जानता, यह आश्चर्यकी बात है ।

उस समय ऐसे संक्षिप्त और अर्थबहुल प्रकरणोंका रचयिता धर्मकीर्तिको ही मुख्यतया माना जाता था । अनन्तवीर्य उनकी अकलंकके साथ तुलना करते हुए लिखते हैं—

सर्वधर्मस्य नैरात्म्यं कथयन्नपि सर्वथा ।

धर्मकीर्तिः कथं गच्छेदाकलङ्कं पदं ननु ॥५॥

अर्थात्—सर्व धर्मकी निरात्मकताका कथन करता हुआ भी धर्मकीर्ति अकलंक-पदको—अकलंककी बराबरीको कैसे पा सकता है ? अर्थात् नहीं ।

वास्तवमें अकलंकदेव भारतीय वाङ्मयके तेजस्वी, अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् हैं । यद्यपि अकलंकदेवको 'अकलंकदेव' बनानेमें प्रधानतया धर्मकीर्तिकी समालोचना-पद्धति और विचार-क्रान्ति ही मुख्य कारण हैं । धर्मकीर्ति न हुए होते और वे न्यायशास्त्रपर अपने विविध निबन्ध (ग्रन्थ) न लिखते, तो अकलंकदेवकी बहुमुखी विद्वन्मनःतोषकारिणी प्रतिभा जाग्रत होती और वे धर्मकीर्तिके निबन्धोंको भी मात कर देनेवाले न्यायशास्त्रपर अपने विविध गहन निबन्ध लिखते, इसमें कुछ सन्देह ही था । इसलिए मौलिकता, संक्षेपमें बहुवक्तव्यता आदिकी अपेक्षा अकलंककी तुलना धर्मकीर्तिके साथ कर सकते हैं और उनके न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, तत्त्वार्थवार्तिकको धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चय, प्रमाणवार्तिक आदिके साथ मिला सकते हैं तथा जिस प्रकार धर्मकीर्तिके प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, अर्चट, कर्णकगोमी, शान्तरक्षित आदि समर्थ टीकाकार हुए हैं उसी प्रकार अकलंकदेवके भी अनन्त-वीर्य, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, वादिराज, अभयचन्द्र आदि प्रौढ़ मर्मोद्घाटक टीकाकार हुए हैं । किन्तु तथ्यपूर्ण और अस्खलित समालोचना एवं कुछ अधिक गहन विचारणामें अकलंकदेवको हम धर्मकीर्तिसे कहीं आगे पाते हैं^१ । अकलंकदेवका प्रमाणसंग्रह तो अतुलनीय है—उसकी गहराई, जटिलता और अतिसंक्षिप्तता धर्मकीर्तिके प्राप्त किसी भी निबन्धमें देखनेको नहीं मिलती । इसीसे अकलंक और धर्मकीर्तिके साहित्यका सूक्ष्म अध्ययन करनेवाले आ. अनन्तवीर्यको 'धर्मकीर्तिः कथं गच्छेदाकलङ्कं पदं ननु' यह कहना पड़ा है । और यह अनन्तवीर्यका प्रघोषमात्र या श्रद्धापूर्ण ही कथन नहीं है किन्तु वह तात्त्विक है । जो भी निष्पक्ष विद्वान् अकलंकके साहित्यका—न्यायविषयक प्रकरणोंका धर्मकीर्तिके न्यायग्रन्थोंके साथ सूक्ष्मता और गहराईसे तुलनात्मक अध्ययन करेंगे, उन्हें

१. धर्मकीर्तिके निम्न ७ निबन्ध प्रसिद्ध हैं—

न्यायबिन्दुः, हेतुबिन्दुः, सम्बन्धपरीक्षा (सवृत्ति), वादन्याय, सन्तानान्तरसिद्धि, प्रमाण-विनिश्चय और प्रमाणवार्तिक (तू. परि. सवृत्ति) ।

२. न्यायविनिश्चय का. ९०, ९२, ९३, १६९३, ३७२, ३७३, ३७४, ३७८, ३७९ आदि कारिकाएँ द्रष्टव्य हैं ।

यह स्पष्ट हुए बिना न रहेगा और अनन्तवीर्यके उक्त कथनकी स्वाभाविकता भी प्रतीत हो जायगी ।

अकलंकदेवके दो तरहके ग्रन्थ हैं—(१) टीकाग्रन्थ और (२) मूलग्रन्थ । टीकाग्रन्थ उनके दो हैं—(१) तत्त्वार्थवार्तिक (स्वोपज्ञभाष्यसहित) और (२) अष्टशती (देवागम-भाष्य—देवागमविवृति) । तत्त्वार्थवार्तिक आ. उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत व्याख्या है और अष्टशती स्वामी समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) की आठसौ श्लोक प्रमाण गूढ़ और सूत्रात्मक संक्षिप्त टीका—भाष्य है ।

(१) लघ्वीयस्त्रय (तीन प्रकरण), (२) न्यायविनिश्चय, (३) सिद्धिविनिश्चय और (४) प्रमाणसंग्रह ये चार मौलिक ग्रन्थ हैं और इन चारोंपर ही उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियाँ हैं । ये सब ही सूत्ररूप और अर्थबहुल हैं ।

अष्टशतीको वेष्टित करके विद्यानन्दने देवागमपर अपनी विद्वत्तापूर्ण अष्ट-सहस्री (देवागमालंकारटीका) लिखी है । लघ्वीयस्त्रय और उसकी स्वोपज्ञवृत्तिपर आचार्य प्रभाचन्द्रने 'लघ्वीयस्त्रयालंकार' अपरनाम 'न्यायकुमुदचन्द्र' नामकी विशाल व्याख्या रची है । 'न्यायविनिश्चय'पर मात्र उसकी कारिकाओंको लेकर वादिराजने 'न्यायविनिश्चयविवरण' अथवा 'न्यायविनिश्चयालंकार' नामक वैदुष्यपूर्ण बृहद् व्याख्या लिखी है । उसकी स्वोपज्ञ वृत्तिको उन्होंने छोड़ दिया है,^१ जो आज अनुपलब्ध है । 'सिद्धिविनिश्चय' और 'प्रमाणसंग्रह' तथा उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियोंपर आ. अनन्तवीर्यने अपनी महान् व्याख्याएँ—सिद्धिविनिश्चयटीका और प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखी हैं । अकलंकके इन सब व्याख्याकारोंमें अनन्तवीर्यका उन्नत स्थान है और सम्भवतः वे ही अकलंकके प्रथम व्याख्याकार हैं । आचार्य विद्यानन्द यद्यपि उनसे पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं, लेकिन एक तो उनके साहित्यका अनन्तवीर्यके साहित्यपर कोई प्रभाव नहीं मालूम होता । दूसरे, वे अष्टशतीके व्याख्याकार न होकर मुख्यतः स्वामी समन्तभद्रके देवागमके व्याख्याकार हैं । अतः अनन्तवीर्य अकलंकके प्रथम व्याख्याकार कहे जाने योग्य हैं । अनन्तवीर्यने प्रभाचन्द्र और वादिराजकी तरह प्रायः विस्तृत दार्शनिक और शास्त्रोप चर्चाओंको न देकर अकलंकके पदोंके साकांक्ष हार्दिको ही पूर्णतः व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है और वे इस प्रयत्नमें सफल भी हुए हैं । वे अकलंकके प्रत्येक पद, वाक्यादिका समासादि द्वारा योग्यतापूर्ण व्याख्यान करते हैं । कहीं-कहीं तो वे दो-दो, तीन-तीन भी व्याख्यान करते हुए पाये जाते हैं और इन व्याख्यानों द्वारा उन्होंने अकलंकके गूढ़ पदोंको बहुत सुगम बना दिया है । अनन्तवीर्यको हम प्रज्ञाकर गुप्तकी तरह परपक्ष-निराकरणमें मुख्य पाते हैं, स्वपक्षसाधन तो उनके लिए उतना ही है जितना मूलसे ध्वनित होता हो । अकलंकको चोट यदि धर्मकीर्तिपर है तो अनन्तवीर्यकी उनके प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्तपर है । अपनी इस टीकामें उन्होंने प्रज्ञाकर गुप्तका बीसियों जगह नामोल्लेख करके उनके मतका कदर्थन किया है । उनके

१. इसीसे उन्होंने 'न्यायविनिश्चयविवरण'के सन्धिवाक्योंमें 'कारिका-विवरण' शब्दका प्रयोग किया है, जिसका एक नमूना यह है—

'इत्याचार्यस्याद्वादविद्यापतिविरचिते न्यायविनिश्चयकारिकाविवरणे प्रत्यक्षप्रस्तावः

प्रथमः ।' — न्या. वि. वि. मुद्रि. पृ. ५४५ ।

प्रमाणवार्तिकालंकारके तो अनेक स्थलोंको उद्धृत करके उसका सर्वाधिक समालोचन किया है। हमारा तो ख्याल है कि अनन्तवीर्यने सर्वप्रथम जो प्रमाणसंग्रहालंकार या प्रमाणसंग्रहभाष्य लिखा था वह प्रज्ञाकर गुप्तके प्रमाणवार्तिकालंकार या प्रमाणवार्तिकभाष्यके जवाबमें ही लिखा होगा। दोनोंका नामसाम्य भी यही प्रकट करता है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि अनन्तवीर्यने सबसे ज्यादा प्रज्ञाकर गुप्तका ही खण्डन किया है, जैसे अकलंकने धर्मकीर्तिका। अतः जैनसाहित्यमें अकलंकके टीकाकारोंमें अनन्तवीर्यका वही गौरवपूर्ण स्थान है जो बौद्ध न्याय-साहित्यमें धर्मकीर्तिके टीकाकारोंमें प्रधान टीकाकार प्रज्ञाकर गुप्तको प्राप्त है और इसलिए उन्हें (अनन्तवीर्यको) जैनसाहित्यका 'प्रज्ञाकर' कहा जा सकता है।

व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा और ग्रन्थरचना :

जैन साहित्यमें प्रस्तुत टीकाके कर्ता अनन्तवीर्यका जो सम्मान और व्यक्तित्व है वह इसीसे जाना जा सकता है कि उनके उत्तरवर्ती आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य वादिराज जैसे महान् ग्रन्थकारोंने उनके प्रति अपनी अनन्य श्रद्धा व्यक्त की है और अपने मार्गप्रदर्शकके रूपमें उनका सबहुमान अपने ग्रन्थोंमें नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया है तथा अकलंकपदोंका उन्हें मर्मज्ञ व्याख्याकार बतलाया है। वास्तवमें उन्होंने जिस योग्यता और बुद्धिमत्तासे अकलंकके पदोंका मर्म खोला है वह स्तुत्य है। अकलंकके वाङ्मयमें सबसे अधिक क्लिष्ट और दुर्बोध उनका प्रमाणसंग्रह है। सिद्धिविनिश्चय-टीकाके अध्ययनसे उनका सिद्धिविनिश्चय भी प्रमाणसंग्रह जैसा ही क्लिष्ट और दुर्बोध प्रतीत होता है। अनन्तवीर्यने इन्हीं दोनोंपर अपनी व्याख्याएँ—भाष्य-ग्रन्थ लिखे हैं। लघुयस्त्रय और न्यायविनिश्चय यद्यपि उनके सामने थे और दोनों ही अटीक थे, परन्तु अपेक्षाकृत सुगम जानकर उन्हें उन्होंने छोड़ दिया और उनपर व्याख्या नहीं लिखी। इससे अनन्तवीर्यके बुद्धिवैभव, विद्वत्ता, अदम्य साहस और कर्मण्यताका पता लगाया जा सकता है। अतः उनका जैन साहित्यमें सम्मानपूर्ण व्यक्तित्व है और वे 'बड़े अनन्तवीर्य' कहे जाते हैं।

टीकाकारने टीकामें अपनी विस्तृत गुरुपरम्परा तो कुछ नहीं दी, किन्तु केवल अपने साक्षात् गुरुका टीकाके प्रायः प्रत्येक प्रस्तावके अन्तमें सन्धिवाक्योंमें 'रविभद्र' नाम दिया है और अपनेको उनका पादोपजीवी—शिष्य बतलाया है। इससे इतना ही प्रकट होता है कि आचार्य अनन्तवीर्य आचार्य रविभद्रके शिष्य थे। ये रविभद्र कौन थे? इसका परिचय न टीकाकारने कराया और न अन्य साधनसे प्राप्त होता है। इतना ही मालूम होता है कि वे उस समयके अच्छे ख्यातिनामा आचार्य थे और अनन्तवीर्य उनके शिष्य माने और कहे जाते थे। अर्थात् प्रस्तुत अनन्तवीर्य 'रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्य' के नामसे प्रसिद्ध थे। इससे एक बात यह भी मालूम होती है कि इन अनन्तवीर्यके पहले या समसमयमें कोई दूसरे अनन्तवीर्य भी हो गये या रहे, जिनसे वे अपनेको व्यावृत्त करते हुए 'रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्य' बतलाते हैं। पहले हम एक

१. 'इति श्रीरविभद्रपादोपजीव्यनन्तवीर्यविरचितायां सिद्धिविनिश्चयटीकायां प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः।' छ। —सि. वि. टी. मु. पृ. ११९।

फुटनोटमें सिद्धिविनिश्चयटीकामें उल्लिखित 'अनन्तवीर्य' की सम्भावना कर आये हैं। हो सकता है वे ही कोई विश्रुत अनन्तवीर्य हों और व्याख्याकार या ग्रन्थकार भी माने जाते हों। जो हो, इतना निश्चित है कि प्रस्तुत टीकाके कर्त्ता अनन्तवीर्यके गुरु 'रविभद्र' थे और वे उनके शिष्य कहलाते थे।

आ. अनन्तवीर्यने जो ग्रन्थ रचे हैं वे व्याख्याग्रन्थ हैं। उन्होंने मौलिक ग्रन्थ भी कोई रचा या नहीं, इसका कोई पता नहीं। आ. प्रभाचन्द्र और आ. वादिराजके तो व्याख्या और मौलिक दोनों तरहके ग्रन्थ पाये जाते हैं। सम्भव है उन्होंने भी कोई मौलिक ग्रन्थ रचा हो और जो आज प्राप्त नहीं है। व्याख्याग्रन्थ उनके दो हैं— (१) प्रमाणसंग्रहभाष्य और (२) सिद्धिविनिश्चयटीका। प्रमाणसंग्रहभाष्यके सिद्धिविनिश्चयटीकामें केवल उल्लेख मिलते हैं। उन उल्लेखोंसे इस ग्रन्थकी विशालता और महत्ता जानी जाती है, क्योंकि सिद्धिविनिश्चयटीका जैसे विस्तृत ग्रन्थमें भी उसको देखनेकी प्रेरणा की गयी है और यह कहा गया है कि प्रपंच प्रमाणसंग्रहभाष्यसे जानना चाहिए। इससे प्रमाणसंग्रहभाष्यकी महत्ता और अपूर्वता प्रकट होती है। अन्वेषकोंको इस अपूर्व ग्रन्थका पता लगाना चाहिए।

सिद्धिविनिश्चयटीका :

अनन्तवीर्यका दूसरा टीकाग्रन्थ प्रस्तुत सिद्धिविनिश्चयटीका है, जिसका यहाँ कुछ परिचय कराना इष्ट है।

यह टीका अकलंकदेवके उसी महत्त्वपूर्ण स्वोपज्ञवृत्ति सहित सिद्धिविनिश्चयग्रन्थपर लिखी गयी है, जिसके माहात्म्यको जिनदासगणि महत्तरने^१ 'निशोथचूर्णि' और श्रीचन्द्रसूरिने 'जीतकल्पचूर्णि' में प्रकट किया है और उसे दर्शनप्रभावक शास्त्र बतलाया है^२।

इस टीकाकी उपलब्धिका दिलचस्प और दुःखपूर्ण इतिहास—परिचय श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षक लेखमें^३ दिया है। पहले यह कहा जा चुका है कि अकलंकदेवने अपने सभी न्यायग्रन्थोंपर स्वोपज्ञ

१. नन्दिचूर्णि भी इन्हीं जिनदासगणि महत्तरकी रची मानी जाती है। और उसमें उन्होंने उसका रचनासमय शक सं. ५९८ (ई. ६७६) दिया है। न्यायाचार्य पं. महेन्द्र-कुमारजी (अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्ता. पृ. १५) इसके एक कर्तृत्वमें और मुनि जिनविजयजी (अकलंकग्रन्थ; प्रास्ताविक, फुटनोट पृ. ४-५) के उल्लेखानुसार 'कुछ विद्वान्' इस चूर्णिके प्रान्तमें पायी जानेवाली रचनाकालनिर्देशक पंक्तिको लेकर इसके रचनाकालमें सन्देह प्रकट करते हैं, किन्तु जिनविजयजीका यह कथन कि 'हमने जितनी प्रतियाँ इस (नन्दिचूर्ण) ग्रन्थकी जहाँ कहीं भण्डारोंमें देखी हैं, उन सबमें यह (रचनाकालनिर्देशक) पंक्ति बराबर लिखी हुई मिली है।' उपेक्षार्ह नहीं है और इसलिए नन्दिचूर्णके समयको सहसा अयुक्त अथवा उस पंक्तिको 'प्रक्षिप्त' नहीं कहा जा सकता। इससे एक महत्त्वकी बात यह निकलती है कि अकलंकका समय विक्रमकी ७वीं शताब्दी ही माना जाना कई ऐतिहासिक उल्लेखोंसे युक्त प्रतीत होता है।

वृत्तियाँ लिखी हैं। कुछ विद्वान् पहले सिद्धिविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमें सन्देह करते थे। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि उनकी सिद्धिविनिश्चयपर भी स्वोपज्ञवृत्ति है। इसके लिए एक अतिस्पष्ट प्रमाण नीचे दिया जाता है:—

“ननु कारिकायां ‘अस्ति प्रधानम्’ इत्यन्यत्साध्यं निर्विष्टं वृत्तौ तु ‘भेदानामेक-कारणपूर्वकत्वम्’ अन्यदिति कथं वृत्तिसूत्रयोः साङ्गत्यम्, सूत्रानुरूपया च वृत्त्या भवितव्यमिति चेदत्र केचित्परिहारमाहुः”—पृ. ७०९।

यहां स्पष्ट है कि सिद्धिविनिश्चयपर स्वयं अकलंकदेवकी स्वोपज्ञवृत्ति है, क्योंकि टीकामें कारिका तथा वृत्तिकी एक असंगतिकी आशंका करके ‘केचित्’ शब्दोंके साथ उसका परिहार किया गया है। टीकाकारने कितनी ही जगह मूल कारिकाओंको ‘सूत्र’ और उनके विवरणको ‘वृत्ति’ कहा है। अतः सिद्धिविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमें अब कोई सन्देह नहीं रहता।

टीकाके प्रारम्भमें मंगलाचरणके बाद अकलंकके वचनोंकी इस कलिकालमें दुर्लभता प्रकट करते हुए और उन्हींमें अपनी मति—श्रद्धाको स्थिर होनेकी भावना व्यक्त करते हुए टीकाकारने बड़े ही महत्त्वका एक निम्न पद्य दिया है—

अकलंकवचः काले कलौ न कलयाऽपि यत्।

नृषु लभ्यं ववचित्त्वद्ध्वा तत्रैवास्तु मतिर्मम ॥२॥

इसके आगे एक अन्य पद्य द्वारा अकलंकके वाङ्मयको सद्वर्त्तनाकर—समुद्र बतलाया है और उसके सूक्त-रत्नोंको अनेकों द्वारा यथेच्छ ग्रहण किये जानेपर भी कम न होनेका कारण उसे सद्वर्त्तनाकर ही प्रकट किया है। वह सुन्दर पद्य इस प्रकार है—

अकलंक-वचोभोधेः सूक्तरत्नानि यद्यपि।

गृह्यन्ते बहुभिः स्वैरं सद्वर्त्तनाकर एव सः ॥४॥

इस ग्रन्थमें बारह प्रस्ताव हैं और ये स्वयं अकलंकदेवकृत ही जान पड़ते हैं, क्योंकि उनके दूसरे ग्रन्थोंमें भी उन्होंने इसी प्रकारसे प्रस्ताव-विभाजन किया है। प्रस्ताव परिच्छेदको कहते हैं। धर्मकीर्तिने प्रमाणवार्तिकमें परिच्छेद नाम चुना है और अकलंकदेवने परिच्छेदार्थक ‘प्रस्ताव’ नाम पसन्द किया है। वे बारह प्रस्ताव निम्न प्रकार हैं—

(१) प्रत्यक्षसिद्धि, (२) सविकल्पकसिद्धि, (३) प्रमाणान्तरसिद्धि, (४) जीव-सिद्धि, (५) जल्पसिद्धि, (६) हेतुलक्षणसिद्धि, (७) शास्त्रसिद्धि, (८) सर्वज्ञसिद्धि, (९) शब्दसिद्धि, (१०) अर्थनयसिद्धि, (११) शब्दनयसिद्धि और (१२) निक्षेपसिद्धि। इन प्रस्तावोंमें विषयका वर्णन उनके नामोंसे ही अवगत हो जाता है।

टीकामें मूलभाग उस प्रकारसे अन्तर्निहित नहीं है जिस प्रकार प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें लघ्वीयस्त्रय और उसकी वृत्ति है। किन्तु कारिका और वृत्तिके आदि अक्षरोंके प्रतीकमात्र दिये गये हैं, जिससे यह जानना बड़ा कठिन है कि यह मूलभाग है और वह ससम्बद्ध इतना है। टीकासे अलग दूसरी जगह मूलभाग उपलब्ध भी अभी तक नहीं हुआ, जिसकी सहायतासे वह मूल भाग टीकापरसे पृथक् किया जा सके। और ऐसी हालतमें मूलभागको टीकापरसे पृथक् उद्धृत कर सकना

बड़ा दुष्कर है। इसमें सन्देह नहीं कि उसके लिए बड़े परिश्रमकी जरूरत होगी। मुस्तार साहबने बड़े परिश्रमके साथ निम्न मंगलाचरणपद्य उद्धृत किया था—

सर्वज्ञं सर्वतत्त्वार्थस्याद्वादन्यायदेशिनम् ।

श्रीवर्द्धमानमभ्यर्च्य वक्ष्ये सिद्धिविनिश्चयम् ॥

हमने भी एक कारिकाको उद्धृत करनेका प्रयत्न किया है, जो इस प्रकार मालूम होती है—

समर्थवचनं जल्पं चतुरङ्गं विदुर्वुधाः ।

पक्षनिर्णयपर्यन्तं फलं मार्गप्रभावना ॥ —पृ. ७३५ (५वां प्रस्ताव) ।

टीकामें मूलका उल्लेख 'कारिकां विवृण्वन्नाह—स्वार्थेत्यादि—', 'संग्रहवृत्तार्थ-मुद्धृत्य विवृण्वन्नाह', 'तद्द्वयमाचार्यः स्वयं वृषयन्नाह—युक्तमित्यादि', 'एतद् वृषयितुं सूत्रार्थमाह—तथैवेत्यादि', 'कारिकासूत्रं व्याचष्टे', 'सूरिराह' आदि रूपसे किया गया है। कहीं-कहीं तो आधी और पूरी-की-पूरी कारिकाको ही सुगम कहकर छोड़ दिया गया है। यथा—'पूर्वाद्धंस्य सुगमत्वाद् व्याख्यानमकृत्वा परमाद्धं व्याचष्टे', 'द्वितीयां विवृण्वन्नाह—परस्परेत्यादि', 'सर्वं सुगमं, कारिकायाः सुगमत्वात्' आदि। जिन कारिकाओं अथवा वृत्तिको अव्यख्यात छोड़ दिया गया है उनका उद्धार कैसे होगा? रचना-शैली और भाषा :

समग्र टीका गद्यमें लिखी गयी है। प्रारम्भमें ५ और मध्यमें 'शास्त्रसिद्धि' नामक ७वें तथा 'शब्दसिद्धि' संज्ञक ९वें प्रस्तावमें क्रमशः १६ और ७ अनुष्टुप् पद्य अवश्य पाये जाते हैं, जो खुद टीकाकारके ही रचे हुए होना चाहिए। प्रत्येक प्रस्ताव और टीकाके अन्तमें समाप्तिसूचक कोई पद्य नहीं है। ग्रन्थान्तमें तो उसका न होना खटकता भी है क्योंकि प्रारम्भमें भी पद्य थे और प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जिस ग्रन्थके आरम्भमें पद्य होते हैं उसके अन्तमें भी एकाध पद्य जरूर रहा करता है। जैसे परिक्षामुख, न्यायदोषिका और न्यायकुमुदचन्द्र आदि। प्रत्येक प्रस्ताव और टीकाके अन्तमें सिर्फ निम्न प्रकार पुष्पिकावाक्य हैं—

आदि—'इति श्रीरविभद्रपादोपजीव्यनन्तवीर्यविरचितायां सिद्धिविनिश्चय-टीकायां प्रत्यक्षसिद्धिः प्रथमः प्रस्तावः।' अन्तिम—'इति सिद्धिविनिश्चयटीकायाम-नन्तवीर्यविरचितायां निक्षेपसिद्धिर्द्वादशमः प्रस्तावः।—समाप्तमिति।'।

भाषा सर्वत्र प्रसन्न और प्रायः सरल है। व्याख्यापद्धति यह है कि मूल ग्रन्थके पद-वाक्योंका समास-विग्रहादि करके अर्थ बतलाया गया है। तात्पर्य यह कि टीकाकी व्याख्या अधिकांश खण्डान्वय शैलीकी है। यथा—

तज्ज्ञानहेतुः कुतः ? इत्याह—शब्दार्थप्रत्याङ्गमिति, शब्दानुकरणादर्थस्य घटा-देर्ग्राहको यः प्रत्ययस्तस्याङ्गं निमित्तम्। एतदपि कुतः ? इत्याह—विवेचयति यतः। कं भेदम्। कथं यथाशक्ति। केषां वाच्यानामभिधेयानाम्। वक्ष्ये वाचकेषु। यत एवं ततः प्रतिपत्तुः पुरुषस्य श्रुतविषयविकल्पोपलब्धेरुपयोगो निक्षेप इति।'—पृ. १५४९।

आचार्य विद्यानन्द और उनकी अपूर्व देन

विद्यानन्द-संस्मरण

ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः ।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति ॥

—वादिराज, पार्श्वनाथचरित श्लो. २८ ।

× × ×

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥

—विद्यानन्द, अष्टस. पृ. १५७ ।

× × ×

विद्यानन्द-हिमाचल-मुखपद्म-विनिर्गता सुगम्भीरा ।
आप्तपरीक्षाटोका गङ्गावच्चिरतरं जयतु ॥१॥
भास्वद्भासिरदोषा कुमतमल-ध्वान्त-भेदनपटिष्टा ।
आप्तपरीक्षालङ्कृतिराचन्द्रार्कं चिरं जयतु ॥२॥
स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम् ।
तत्त्वार्थार्णवतरणे सद्गुपायः प्रकटितो येन ॥३॥

—विद्यानन्द, आप्तपरीक्षालङ्कृति, पृ. २६५, २६६ ।

आचार्य विद्यानन्द

तार्किकचूडामणि आचार्य विद्यानन्दका यहाँ परिचय दिया जाता है। यद्यपि उनका परिचय देना दुष्कर कार्य है, क्योंकि उसके लिए जिस विपुल सामग्री की जरूरत है वह नहीं के बराबर है। उनकी न कोई गुर्वावली प्राप्त है और न उनके अथवा उत्तरवर्ती दूसरे विद्वान् द्वारा लिखा गया उनका कोई जीवनवृत्तान्त उपलब्ध है। उनके माता-पिता कौन थे? वे किस कुलमें पैदा हुए थे? उनके कौन गुरु थे? उन्होंने कब और किससे मुनिदीक्षा ग्रहण की थी? आदि बातोंका ज्ञान करनेके लिए हमारे पास कोई साधन नहीं हैं। फिर भी विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख करनेवाले उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके समुल्लेखों, विद्यानन्दके स्वयंके ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षणों और प्राप्त विश्वसनीय इतर सामग्रीसे उनके सम्बन्धमें जो भी हम जान सके हैं उसे प्रस्तुत करनेका प्रयास करेंगे।

विद्यानन्द नामके अनेक विद्वान् :

प्राप्त जैन-साहित्यपरसे पता चलता है कि जैनपरम्परामें विद्यानन्द नामके एकसे अधिक विद्वानाचार्य हो गये हैं। एक विद्यानन्द वे हैं जिनका और जिनके जैनधर्मकी प्रभावना सम्बन्धी अनेक कार्योंका उल्लेख शक सं. १४५२, ई. १५३० में उत्कीर्ण हुम्बुच्चके, जो मैसूर राज्यके अन्तर्गत नगरताल्लुकेमें है, एक शिलालेख (नं. ४६) में^१ विस्तारके साथ पाया जाता है और वर्द्धमान मुनीन्द्रने^२, जो इन्हीं विद्यानन्दके प्रशिष्य और बन्धु थे, अपने शक सं. १४६४ में समाप्त हुए 'दशभक्त्यादि-महाशास्त्र' में^३ खूब विरुद्ध और स्तवन किया है तथा जिनके स्वर्गवासका समय शक सं. १४६३, ई. १५४१ इसी ग्रन्थमें^४ दिया है। ये विद्यानन्द विजयनगर साम्राज्यके

१. 'राजावलीकथे' में, जो शक सं. १७६१ (वि. सं. १८९६ और ई. सन् १८३९) में देवचन्द्र द्वारा रचा गया एक कनडी कथा-ग्रन्थ है, विद्यानन्दके सम्बन्धमें एक कथा पायी जाती है। परन्तु इस कथाका ग्रन्थकार विद्यानन्दके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।
२. यह शिलालेख कनडी और संस्कृत भाषाका एक बहुत बड़ा शिलालेख है। इस शिलालेखका परिचय प्राप्त करनेके लिए देखिए, मुख्तारसाका 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १, किरण २ पृ. ७०।
३. प्रशस्तिसं. (पृ. १२०) में परिचय प्राप्त 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र'।
४. 'शाके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे श्रीप्लवे, सिंहश्रावणिके प्रभाकरशिखे कृष्णाष्ट-मीवासरे। रोहिण्यां दशभक्तिपूर्वकमहाशास्त्रं पदार्थोज्ज्वलम्, विद्यानन्दमुनिस्तुतं व्यरचयत् सद्बर्द्धमानो मुनिः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १४३ से उद्धृत।
५. 'शाके बल्लिखराब्धिचन्द्रकलिते संवत्सरे शार्वरे, शुद्धश्रावणभाक्कृतान्तधरणीतुम्भैत्रमेषे रवौ। कर्कस्थे सगुरौ जिनस्मरणतो वादीन्द्रवृन्दाचितः विद्यानन्दमुनीश्वरः स गतवान् स्वर्गं चिदानन्दकः ॥'—प्रशस्तिसं. पृ. १२८ से उद्धृत।

समकालीन हैं । इन्होंने नन्जराज, देवराज, कृष्णराज आदि अनेक राजाओंकी सभाओंमें जा-जाकर इतर विद्वान्वादियोंसे शास्त्रार्थ किये थे और उनमें विजय तथा यश दोनों प्राप्त किये थे । ये वादी होनेके साथ तार्किक, कवि, समालोचक और जैनधर्मके प्रभावशाली प्रचारक भी थे । इन्होंने गेरुसोप्पे, कोपण, श्रवणबेलगोल आदि स्थानोंमें अनेक धार्मिक कार्य किये हैं । इनके देवेन्द्रकीर्ति, वर्द्धमानमुनीन्द्र, अकलंक, विद्यानन्दमुनीश्वर आदि अनेक शिष्य हुए हैं और इन सभी गुरु-शिष्योंने विजयनगर-के राजाओंको खूब प्रभावित किया है तथा जैनधर्मकी उनमें अतिशय प्रभावना की है । श्री. पं. के. भूजबलीजी शास्त्रीके उल्लेखानुसार^२ स्वर्गीय आर. नरसिंहाचार्यका अनुमान है कि ये विद्यानन्द भल्लातकीपुर अर्थात् गेरुसोप्पेके रहनेवाले थे और इन्होंने कन्नडभाषामें 'काव्यसार'के अतिरिक्त एक और ग्रन्थ रचा था । शास्त्रीजीने^३ इनके बारेमें यह भी लिखा है कि 'गेरुसोप्पेमें इन (विद्यानन्द)का एक-छत्र आधिपत्य था।' उपर्युक्त शिलालेखमें इन्हीं विद्यानन्दको 'बुधेशभवनव्याख्यान' का कर्ता बतलाया है^४ ।

दूसरे विद्यानन्द वे हैं जिनका उल्लेख उपर्युक्त हुम्बुचके शिलालेख और 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' दोनोंमें हुआ है और जिन्हें उक्त विद्यानन्दका ही शिष्य बतलाया गया है^५ । आश्चर्य नहीं, ये वही विद्यानन्द हों जिन्हें श्रुतसागरसूरि (वि. सं. १६वीं शती) ने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें गुरुरूपसे स्मरण किया है और उन्हें देवेन्द्रकीर्तिका शिष्य बतलाया है^६ । परन्तु इसमें दो बाधाएँ आती हैं । एक तो यह कि श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्दिका भट्टारक-पट्ट गुजरातमें ही किसी स्थान (सम्भवतः सूरत) में बतलाया जाता है^७ जबकि इन दूसरे विद्यानन्दका अस्तित्व विजयनगर (कर्णाटकदेश) में पाया जाता है । दूसरी बाधा यह है कि श्रुतसागरसूरिने अपने गुरु विद्यानन्दिको देवेन्द्रकीर्तिका और देवेन्द्रकीर्तिको पद्मनन्दिका शिष्य और

१. इनके विशेष परिचयके लिये देखिए, डा. सालेतोर 'Vadi Vidyananda Aernowned Jain Guru of Karnataka' नामक महत्त्वपूर्ण लेख, जो 'जैनएन्टिक्वेरी' भाग ४, नं. १ में प्रकट हुआ है, तथा देखिए, प्रशस्ति सं. पृ. १२५-१४९ ।

२. प्रशस्ति सं. पृ. १२८ ।

३. वही पृष्ठ १४४ ।

४. 'अनेकान्त' वर्ष १, किरण २, पृ. ७१ ।

५. 'विद्यानन्दार्यतनयो भाति शास्त्रधुरन्धरः ।

बादिराजशिरोरत्नं विद्यानन्दमुनीश्वरः ॥'—प्रशस्ति सं. पृ. १२७ ।

६. 'सूरिदेवेन्द्रकीर्तिविबुधजननुतस्तस्य पट्टाब्धिचन्द्रो,
रुन्द्रो विद्यादिनन्दी गुरुरमलतया भूरिभग्याब्जभानुः ।

तत्पादाम्भोजभृङ्गः कमलदललसल्लोचनश्चन्द्रवक्रः,

कर्तामुष्य व्रतस्य श्रुतसमुपपदः सागरः शं क्रियाद्वः ॥४७॥' —अनन्तव्रतकथा ।

७. 'जैन साहित्य और इतिहास' पृष्ठ ४०६ ।

उत्तराधिकारी प्रकट किया है^१ जबकि वर्द्धमान मुनीन्द्रके 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' और हुम्बुच्चके शिलालेख (नं. ४६) में दूसरे विद्यानन्दको प्रथम वादिविद्यानन्दका तनय—शिष्य तथा इन्हींका शिष्य देवेन्द्रकीर्तिको बतलाया है। इन दो बाधाओंसे सम्भव है कि उक्त दूसरे विद्यानन्द श्रुतसागरसूरिके गुरु न हों और श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्द उनसे अलग ही हों। यदि यह सम्भावना ठीक हो^२ तो कहना होगा कि तीन विद्यानन्दोंके अलावा चौथे विद्यानन्द भी हुए हैं, जो श्रुतसागरसूरिके गुरु, देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य और पद्मनन्दिके प्रशिष्य थे और गुजरातके किसी स्थानपर भट्टारकपट्टपर प्रतिष्ठित थे। हमें यह भी सन्देह होता है कि दूसरे विद्यानन्दका उल्लेख भ्रान्त न हो, क्योंकि प्रथम विद्यानन्दकी तरह दूसरे विद्यानन्द मुनीश्वरका दशभक्त्यादिमहाशास्त्र और हुम्बुच्चके शिलालेखमें नामोल्लेखके सिवाय विशेष कथन कुछ भी नहीं किया गया है और इसलिये आश्चर्य नहीं कि प्रथम और दूसरे विद्यानन्द एक हों। जो हो^३।

तीसरे विद्यानन्द प्रस्तुत ग्रन्थके कर्ता प्रसिद्ध और पुरातनाचार्य तार्किक शिरोमणि विद्यानन्दस्वामी हैं जो तत्त्वार्थश्लोकवातिक आदि सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थों के निर्माता हैं और जिनके सम्बन्धमें ही यहाँ विचार प्रस्तुत है।

१. 'स्वस्ति श्रीमूलसंघे भवदमरनुतः पद्मनन्दी मुनीन्द्रः,

शिष्यो देवेन्द्रकीर्तिलंसदमलतया भूरिभट्टारकेज्यः।

श्रीविद्यानन्दिदेवस्तदनु मनुजराजाचर्यपत्न्ययुग्म-

स्तच्छिष्येणारचीदं श्रुतजलधिना शास्त्रमानन्दहेतुः' ॥९६॥—चन्दनषष्टिकथा।

२. ठीक होनेका एक पुष्ट प्रमाण भी है। वह यह कि श्रुतसागरसूरिके गुरु विद्यानन्दिने, जिन्हें मुमुक्षु विद्यानन्दि भी कहा जाता है, अपने सुदर्शनचरितकी रचना गांधारपुरी (गुजरात) में वहाँके जिनमन्दिरमें की है। जैसाकि उनके सुदर्शनचरितके निम्न दो प्रशस्तिपद्योंसे प्रकट है—

गान्धारपुर्यां जिननाथचैत्ये छत्रध्वजाभूषितरम्यदेशे।

कृतं चरित्रं स्वपरोपकार-कृते पवित्रं हि सुदर्शनस्य ॥१०६॥

—उद्धृत जैनप्रशस्तिसंग्रह पृ. १२।

इससे ज्ञात होता है कि श्रुतसागरसूरिके गुरु और देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दि गुजरातमें सम्भवतः सूरत या गान्धारपुरीके, जिसे गांधारमहानगर भी कहा गया है (श्रीप्रशस्तिसंग्रह द्वि. भा. पृ. १८, प्रति ७३), पट्टाधीश होंगे और इसलिए ये विद्यानन्दि उक्त दूसरे विद्यानन्दसे, जिनका अस्तित्व विजयनगर (कर्नाटक देश) में पाया जाता है, भिन्न सम्भव हैं।

—सम्पादक।

३. मुख्तारसाहबके पुस्तकभण्डारमें 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' की एक प्रति मौजूद है, जो हमें उनसे देखनेको प्राप्त हुई है। यह प्रति आराकी प्रतिपरसे तैयार की गई है। इसमें बहुत ही घुटाला, पुनरुक्तियाँ और स्खलन हैं। इसमें उल्लिखित विद्वानोंका क्रमबद्ध निर्णय करनेके लिए बड़े परिश्रम और समयकी अपेक्षा है।

—सम्पादक।

विद्यानन्द और पात्रकेसरी (पात्रस्वामी) की एकताका भ्रम :

आजसे कोई सोलह-सतरह वर्ष पहले तक यह समझा जाता था कि आ. विद्यानन्दस्वामी और पात्रकेसरी अथवा पात्रस्वामी एक हैं—एक ही विद्वान्के ये दो नाम हैं^१ परन्तु यह एक भारी भ्रम था। इस भ्रमको श्री पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द' शीर्षक एक खोजपूर्ण लेखद्वारा दूर कर दिया है।^२ इस लेखमें आपने अनेक प्रबल और दृढ़ प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि "स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द दो भिन्न आचार्य हुए हैं—दोनोंका व्यक्तित्व भिन्न है, ग्रन्थसमूह भिन्न है और समय भी भिन्न है।" स्वामी पात्रकेसरी अकलंकदेव (वि. की ७वीं-८वीं शती) से बहुत पहले हो चुके हैं और विद्यानन्द उनके बाद हुए हैं। और इसलिये इन दोनों आचार्योंके समयमें शताब्दियोंका—कम-से-कम दो-सौ वर्षका—अन्तर है। मुख्तारसा. ने 'सम्यक्त्वप्रकाश' आदि अर्वाचीन ग्रन्थोंके भ्रामक उल्लेखोंका, जो उक्त दोनों आचार्योंकी अभिन्नताको सूचित करते थे और जिनपरसे दोनों विद्वानाचार्योंकी अभिन्नताकी भ्रान्ति फैल गई थी, सयुक्तिक निरसन किया है और उनकी भूलें दिखलाई हैं। हम ऊपर कह आये हैं कि हुम्बुचके शिलालेख नं. ४६ (ई० १५३०) में जिन विद्यानन्दके शास्त्रार्थी और विजयोंका उल्लेख किया गया है वे प्रथम नं. के वादि विद्यानन्द हैं, जिनका समय १६ वीं शती है—ग्रन्थकार विद्यानन्दका उन शिलालेखगत शास्त्रार्थी और विजयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है और इसलिये जो विद्वान् उक्त शिलालेखको ग्रन्थकार विद्यानन्दके परिचयमें प्रस्तुत करके दोनों विद्यानन्दोंकी अभिन्न समझते थे, वह भी एक भ्रम था और वह भी मुख्तारसा० के उक्त लेख तथा इस स्पष्टीकरणद्वारा दूर हो जाता है। और इस तरह अब सभी विद्वान्^३ एक मत हैं कि स्वामी पात्रकेसरी और विद्यानन्द जुदे-जुदे दो आचार्य हैं और दोनों भिन्न-भिन्न समयमें हुए हैं। तथा वादी विद्यानन्द भी उनसे पृथक् हैं और विभिन्नकालीन हैं।

जीवन-वृत्त :

कुमारजीवन और जैनधर्मग्रहण :

आ० विद्यानन्दके ब्राह्मणोचित प्रखर पाण्डित्य और महती विद्वत्तासे प्रतीत होता है कि वे ब्राह्मण और जैन विद्वानोंकी प्रसवभूमि दक्षिणके किसी प्रदेश (मैसूर अथवा उसके आस-पास) में ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए होंगे और इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि वे बाल्यकालमें प्रतिभाशाली होनहार विद्यार्थी थे। उनके

१. पं. नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित 'स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्दि' नामक लेख, जैन-हितैषी वर्ष ९, अंक ९।

२. अनेकान्त वर्ष १, किरण २।

३. बा. कामताप्रसादजीका जैनशि. भा. वर्ष ३, किरण ३ गत लेख। तथा न्यायकुमुदचन्द्र, प्रथमभाग, प्रस्तावना पृ. ७५१।

४. मुझे लगता है कि आ. विद्यानन्द 'तोलव' देशके रहने वाले थे।

साहित्यसे ज्ञात है^१ कि उनकी वाणीमें माधुर्य और ओजका मिश्रण था, व्यक्तित्वमें निर्भयता और तेजका समावेश था, दृष्टिमें नम्रता और आकर्षण था। धार्मिक जनसेवा और विनय उनके सहचर थे। ज्ञान-पिपासा और जिज्ञासा तो उन्हें सतत बनी रहती थी, जो भी विशिष्ट विद्वान्, चाहे बौद्ध हो, चाहे जैन, अथवा ब्राह्मण, मिलता उसीसे कुछ-न-कुछ ज्ञान प्राप्त करनेकी उनकी अभिलाषा रहती थी। ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेके कारण वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि वैदिक दर्शनोंका कुमार अवस्थामें ही उन्होंने अभ्यास कर लिया था। इसके अलावा, वे बौद्धदर्शनके मन्तव्योंसे विशेषतया दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि बौद्ध विद्वानोंके ग्रन्थोंसे भी परिचित हो चुके थे। इसी बीचमें समय-समयपर होनेवाले ब्राह्मण, बौद्ध और जैन विद्वानोंके शास्त्रार्थोंको देखने और उनमें भाग लेनेसे उन्हें यह भी जान पड़ा कि अनेकान्त और स्याद्वादसम्बन्धी जैन विद्वानोंकी युक्तियाँ एवं तर्क अत्यन्त सबल और अकाट्य हैं और इसलिए स्याद्वाददर्शन ही वस्तुदर्शन है। फिर क्या था, उन्हें जैनदर्शनको विशेष जाननेकी भी तीव्र आकांक्षा हुई और स्वामी समन्तभद्रका देवागम, अकलंकदेवकी अष्टशती, आचार्य उमास्वाति (श्रीगृद्धपिच्छाचार्य) का तत्त्वार्थसूत्र और कुमारनन्दिका वादन्याय आदि जैनदार्शनिक ग्रन्थ उनके हाथ लग गये। परिणामस्वरूप विद्यानन्दने जैनदर्शन अंगोकार कर लिया और नन्दिसंघके किसी अज्ञातनाम जैनमुनिद्वारा जैनधर्म तथा जैनसाधुकी दीक्षा ग्रहण कर ली। प्रतीत होता है कि विद्यानन्द अब तक गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट नहीं हुए थे और ब्रह्मचर्य-पूर्वक रह रहे थे, क्योंकि प्रथम तो वे अभी तक लगभग अठारह-बीस वर्षके ही हो पाये थे और विद्याध्ययनमें ही लगे हुए थे। दूसरे, उन्होंने जिन नव (९) महान् दार्शनिक ग्रन्थोंकी रचना की है उनको देखकर हम ही नहीं, कोई भी विचारसिक यह अनुमान कर सकता है कि वे अखण्ड ब्रह्मचारी थे, अखण्ड क्योंकि ब्राह्म तेजके बिना इतने विशाल और सूक्ष्म पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रखर विद्वत्तासे भरपूर ग्रन्थोंका प्रणयन सम्भव नहीं है। स्वामी वीरसेन और जिनसेन अखण्ड ब्रह्मचारी रहकर ही धवला, जय-धवला जैसे विशाल और महान् ग्रन्थ बना सके हैं। दक्षिणी ब्राह्मणोंमें यह अब भी प्रथा मौजूद है कि बच्चेके उपनयन और विद्याभ्यास संस्कारके बाद जब तक उसका विद्याभ्यास पूरा नहीं हो लेता तब तक वे उसका विवाह—पाणिग्रहण नहीं करते हैं। इस तथ्यको अथवा सम्प्रदायविशेषके रीति-रिवाजको जब हम सामने रखते हैं तो यह

१. विद्यानन्दके अष्टसहस्रो, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थोंको देखिये उन सबमें उनकी वाणीमें, व्यक्तित्वमें और शैलीमें ये सभी गुण देखनेको मिलते हैं। उनके श्लोकवार्तिक (पृ. ४५३) गत निम्न स्वोपज्ञ पद्यमें भी इन गुणोंका कुछ आभास मिलता है—

अर्हत्पूजापरता बैयावृत्त्योद्यमो विनीतत्वम् ।

आर्जव-मार्दव-धार्मिक-जनसेवा-मित्रभावाद्याः ॥

२. शकसं. १३२० के उत्कीर्ण एक शिलालेख (नं. १०५) में, नन्दिसंघके मुनियोंमें विद्यानन्दको भी गिनाया है और उनका वहाँ नन्द्यन्त नामोंवाले आचार्योंमें प्रथम स्थान है। इससे जान पड़ता है कि विद्यानन्द नन्दिसंघमें दीक्षित हुए थे।

मालूम होता है कि कुमार विद्यानन्दका भी उस समय जब वे लगभग बीस वर्षके थे और विद्याभ्यास चल रहा था, विवाह नहीं हुआ था और जब वे जैनधर्ममें दीक्षित हो गये तथा जैनसाधु बन गये तब उनके विवाह होनेका प्रसंग ही नहीं आता। अतः यदि यह कल्पना ठीक हो तो कहना होगा कि विद्यानन्दने गृहस्थाश्रममें प्रवेश नहीं किया और वे जीवनपर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे।

यहाँ कहा जा सकता है कि विद्यानन्दने जिस तीक्ष्णतासे वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंका निरसन किया है और जैनदर्शनका बारीकी तथा मर्मज्ञतासे समर्थन किया है उससे यह जान पड़ता है कि विद्यानन्द वैदिक ब्राह्मण न होंगे, जैनकुलोत्पन्न होंगे ? इसका समाधान यह है कि यदि नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध विद्वान् वैदिक ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर कट्टरता और तीक्ष्णतासे वैशेषिक आदि वैदिक दर्शनोंके मन्तव्योंका खण्डन और बौद्धदर्शनका अत्यन्त सूक्ष्मतासे समर्थन कर सकते हैं, तथा इसी तरह यदि सिद्धसेन दिवाकर प्रभृति विद्वान् ब्राह्मणकुलमें पैदा होकर तीक्ष्णतासे ब्राह्मण दर्शनोंकी मान्यताओंकी आलोचना और जैनदर्शनका सूक्ष्मतासे प्रतिपादन कर सकते हैं तो विद्यानन्दके ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर ब्राह्मणदर्शनोंका निरसन करने और जैनदर्शनका सूक्ष्म विवेचन एवं समर्थन करनेमें कोई आश्चर्य अथवा सन्देहकी बात नहीं है। यह तो विश्वासपरिवर्तनकी चीज है, जो प्रत्येक विचारवान् व्यक्तिको सम्प्राप्त हो सकता है। दूसरे, 'विद्यानन्द' नामपरसे भी ज्ञात होता है कि उन्हें ब्राह्मण होना चाहिए, क्योंकि ऐसा नामकरण अक्सर ब्राह्मणों विशेषतया वेदान्तियोंमें होता है। आजकल भी प्रायः उन्हींमें विवेकानन्द, विद्यानन्द जैसे नाम पाये जाते हैं जब कि जैनोंमें उनका अभाव-सा है।

मुनिजीवन और जैनाचारपरिपालन तथा आचार्यपद

विद्यानन्दके मुनिजीवनपर भी एक दृष्टि डाल लेना चाहिए। जान पड़ता है, सूक्ष्मविवेकी विद्यानन्द जैन-मुनि हो जानेके बाद लगातार कई वर्षों (कम-से-कम चार पाँच वर्ष) तक जैन-मुनिचर्या और जैनतत्त्वज्ञानके आकण्ठपान अभ्यासमें लगे रहे और यह ठीक भी है क्योंकि पहलेके संस्कारोंको एकदम परिवर्तित करना और जैनसाधुकी कठिनतम चर्याको निर्दोष शास्त्रविहित पालन करना नवदीक्षितके लिए पहले-पहल बड़ा कठिन प्रतीत होता है। अतएव यदि वे अपने दार्शनिक ग्रन्थोंके रचनारम्भके पूर्व कुछ वर्षों तक मुनिचर्या और विभिन्न शास्त्रोंके अध्ययन (पठन-पाठन-व्याख्यान) आदिमें रत रहे हों तो कोई असम्भव नहीं है। यद्यपि उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थोंके सिवाय चारित्र सम्बन्धी कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं रचा, जिसपरसे उनके साधुजीवनके बारेमें कुछ विशेष जाना जाता, फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें प्रदर्शित व्याख्यानोपरसे उनके साधुजीवन अथवा साधुचर्याके बारेमें उनके कितने ही विशद और प्रामाणिक विचार जाननेको मिलते हैं। यहाँ हम उनके दो विचारोंको ही प्रस्तुत करते हैं जिनसे उनकी चर्याका पाठक कुछ अनुमान कर सकते हैं।

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक^१ (पृष्ठ ४५२) में तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके ग्यारहवें सूत्रका व्याख्यान करते हुए जब उन्होंने दुःख, शोक आदि असातावेदनीयरूप पापास्रवके कारणोंका समर्थन किया, तब उनसे कहा गया कि जैन मुनि कायक्लेशादि दुश्चर तपोंको तपते हैं और उस हालतमें उन्हें उनसे दुःखादि होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामें उनके भी पापास्रव होगा। अतः कायक्लेशादि तपोंका उपदेश युक्त नहीं है और यदि युक्त है तो दुःखादिको पापास्रवका कारण बतलाना असंगत है? इसका विद्यानन्द अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलंकदेव आदिकी तरह ही आर्षसम्मत उत्तर देते हैं कि जैन मुनियोंको कायक्लेशादि तपश्चरण करनेमें द्वेषादि कषायरूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते, बल्कि उसमें उन्हें प्रसन्नता होती है। जिन्हें उसमें द्वेषादि संक्लेश-भाव होता है और प्रसन्नता नहीं होती—उसे भार और आपद मानते हैं उन्हींके वे दुःखादिक पापास्रवके कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग और मोक्षके जितने भी साधन हैं वे सब ही दुःखरूप हैं और इसलिए सभीके उनसे पापास्रवका प्रसंग आवेगा। तात्पर्य यह कि सभी दर्शनकारोंने यम, नियमादि विभिन्न साधनोंको स्वर्ग-मोक्षका कारण बतलाया है और वे यम, नियमादि दुःखरूप ही हैं तब जेनेतर साधुओंके भी उनके आचरणसे पापबन्ध प्रसक्त होगा। अतः केवल दुःखादि पापास्रवके कारण नहीं हैं, अपितु संक्लेशपरिणामयुक्त दुःखादिक ही पापास्रवके कारण हैं। दूसरे, तपश्चरण करनेमें जैन मुनिके मनोरति—आनन्दात्मक परम समता रहती है, बिना उस मनोरतिके वे तप नहीं करते और मनोरति सुख है। अतः जैनमुनिके लिए कायक्लेशादिक तपश्चरणका उपदेश अयुक्त नहीं है।

विद्यानन्दके इस सुदृढ़ और शास्त्रानुसारी विवेचनसे प्रकट है कि वे जैन-मुनियोंके लिए उपदिष्ट अनशनादि व कायक्लेशादि बाह्य तपोंको कितना महत्व देते थे और उनके परिपालनमें कितने सावधान और विवेकयुक्त तथा जागृत रहते थे।

२. विद्यानन्दका दूसरा विचार यह है कि जैन साधु वस्त्रादि ग्रहण^२ नहीं

१. 'तत एव न तीर्थकरोपदेशविरोधात् दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वायुक्तिः, सर्वेषां स्वर्गापवर्ग-साधनानां दुःखजातीयानां पापास्रवत्वप्रसङ्गात्। तपश्चरणाद्यनुष्ठायिनो द्वेषाद्यभावाच्च, आसादितप्रसादत्वाच्च। द्विष्टाप्रसन्नमनसामेव स्वपरोभयदुःखाद्युत्पादने पापास्रवत्वसिद्धेः।। न च मनोरत्यभावे बुद्धिपूर्वः स्वतन्त्रः क्वचित्तपःक्लेशमारभते, विरोधात्। ततो न प्रकृतहेतोः तपश्चरणादिभिर्व्यभिचारः सर्वसम्प्रतिपत्तेः।'।

२. 'तदेवं वस्त्रपात्रदण्डाजिनादिपरिग्रहाणां न परिग्रहो मूर्च्छारहितत्वात् तत्प्रज्ञानादिस्वीकरण-वदिति वदन्तं प्रत्याह—

मूर्च्छा परिग्रहः सोऽपि नाप्रमत्तस्य युज्यते।

तथा विना न वस्त्रादिग्रहणं कस्यचित्ततः॥

लज्जापनयनार्थं कर्पटखण्डादिमात्रग्रहणं मूर्च्छाविरहेऽपि सम्भवतीति चेत्; न; कामवेदना-पनयनार्थं स्त्रीमात्रग्रहणेऽपि मूर्च्छाविरहप्रसङ्गात् तत्र योषिदभिषङ्ग एव मूर्च्छा, इति चेत्, अन्यत्रापि वस्त्राभिलाषा साऽस्तु, केवलमेकं तु कामवेदना योषिदभिलाषहेतुः परत्र लज्जा कर्पटाभिलाषकारणम्, इति न तत्कारणनियमोऽस्ति, मोहोदयस्यैवान्तरङ्गकारणस्य नियतत्वात्।

करता, क्योंकि वह निर्ग्रन्थ और मूर्छारहित होता है। यद्यपि यह विचार सैद्धान्तिक शास्त्रोंमें प्राचीनतम कालसे निबद्ध है, पर तर्क और दर्शनके ग्रन्थोंमें वह अधिक स्पष्टताके साथ विद्यानन्दसे ही शुरू हुआ जान पड़ता है। उनका कहना है कि जैन सिद्धान्तमें जैन मुनि उसीको कहा गया है जो अप्रमत्त और मूर्छारहित है। अतः यदि जैनमुनि वस्त्रादिको ग्रहण करता है तो वह अप्रमत्त और मूर्छारहित नहीं हो सकता; क्योंकि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण किसीके सम्भव नहीं है। इस सम्बन्धमें जो उन्होंने महत्त्वपूर्ण चर्चा प्रस्तुत की है उसे हम पाठकोंके ज्ञानार्थ 'शंका-समाधान' के रूपमें नीचे देते हैं—

शंका—लज्जानिवारणके लिए मात्र खण्ड वस्त्र (कौपीन) आदिका ग्रहण तो मूर्छाके बिना भी सम्भव है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि कामकी पीड़ाको दूर करनेके लिए केवल स्त्रीका ग्रहण करनेपर भी मूर्छाके अभावका प्रसंग आवेगा और यह प्रकट है कि स्त्रीग्रहणमें मूर्छा है।

शंका—स्त्रीग्रहणमें जो स्त्रीके साथ आलिंगन है वही मूर्छा है ?

समाधान—तो खण्डवस्त्रादिके ग्रहणमें जो वस्त्राभिलाषा है वह वहां मूर्छा

एतेन लिङ्गदर्शनात् कामिनीजनदुरभिसन्धिः स्यादिति तन्निवारणार्थं पटखण्डग्रहणमिति प्रत्युक्तम्, तन्निवारणस्यैव तदभिलाषकारणत्वात् । नयनादिमनोहराङ्गानां दर्शनेऽपि वनिताजनदुरभिप्रायसम्भवात् तत्प्रच्छादनकर्पटस्यापि ग्रहणप्रसक्तिश्च तत एव तद्वत् ।

सोऽयं स्वहस्तेन बुद्धिपूर्वकपटखण्डादिकमादाय परिदधानोऽपि तन्मूर्छारहित इति कोशपानं विधेयम्, तन्वीमादिलष्यतोऽपि तन्मूर्छारहितत्वमेवं स्यात् । ततो न मूर्छामन्तरेण पटादिस्वीकरणं सम्भवति, तस्य तद्धेतुकत्वात् । सा तु तदभावेऽपि सम्भाव्यते, कार्यापायेऽपि कारणस्य दर्शनात् । धूमाभावेऽपि मुर्मुराद्यवस्थपावकवत् ।

नन्वेवं पिच्छादिग्रहणेऽपि मूर्छा स्यात्, इति चेत्, तत एव परमनैर्ग्रन्थसिद्धौ परिहार-विशुद्धिसंयमभूतां तत्त्यागः सूक्ष्मसाम्प्रदाययथाख्यातसंयमभून्मुनिवत् । सामायिकछेदोपस्थापनसंयमभूतां तु यतीनां संयमोपकरणत्वात् प्रतिलेखनस्य ग्रहणं सूक्ष्ममूर्छासिद्धावेऽपि युक्तमेव, मार्गाविरोधित्वाच्च । नन्वेवं सुवर्णा (वस्त्रा ?) दिग्रहणप्रसङ्गः, तस्य नाग्न्य-संयमोपकरणत्वाभावात् । सकलोपभोगसम्पन्नबन्धनत्वाच्च । न च त्रिचतुरपिच्छमात्रमलाबूफलमात्रं वा किञ्चिन्मूल्यं लभते यतस्तदप्युपभोगसम्पत्तिनिमित्तं स्यात् । न हि मूल्यदानक्रययोग्यस्य पिच्छादेरपि ग्रहणं न्याय्यम्, सिद्धान्तविरोधात् । ननु मूर्छाविरहे क्षीणमोहानां शरीर-परिग्रहोपगमान्न तद्धेतुः सर्वः परिग्रहः इति चेत्, न, तेषां पूर्वभवमोहोदयापादितकर्म-बन्धनिबन्धनशरीरपरिग्रहाभ्युपगमात् । मोहक्षयात्तत्त्यागार्थं परमचारित्रस्य विधानात् । अन्यथा तत्त्यागस्यात्यन्तिकस्य करणायोगात् । तर्हि तनुस्थित्यर्थमाहारग्रहणं यतस्तन्मूर्छा-कारणक्षमं युक्तमेवेति चेन्न, रत्नत्रयाराधननिबन्धनस्यैवोपगमात् । तद्विराधनहेतोस्तस्याप्य-निष्टेः । न हि नवकोटिविशुद्धमाहारं भैक्षशुद्धचनुसारितया गृह्णन् मुनिर्जातुचिद्व्रतत्रय-विराधनविधायो । ततो न किञ्चित्पदार्थग्रहणं कस्यचिन्मूर्छाविरहे सम्भवतीति सर्वः परिग्रहः प्रमत्तस्यैवाब्रह्मवत् । —तत्त्वार्थश्लो., पृ. ४६४ ।

हो। केवल अकेली कामकी पीड़ा तो स्त्रीग्रहणमें स्त्रीकी अभिलाषाका कारण हो और वस्त्रादि ग्रहणमें लज्जा कपड़ेकी अभिलाषाका कारण न हो, इसमें नियामक कारण नहीं है। नियामक कारण तो मोहोदयरूप ही अन्तरंग कारण है जो वस्त्रग्रहण और स्त्रीग्रहण दोनोंमें समान है। अतः यदि स्त्रीग्रहणमें मूर्छा मानी जाती है तो वस्त्रग्रहणमें भी मूर्छा अनिवार्य है, क्योंकि बिना मूर्छाके वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता।

शंका—यदि मुनि खण्डवस्त्रादि ग्रहण न करें—वे नग्न रहें तो उनके लिंगको देखनेसे कामिनियोंके हृदयमें विकारभाव पैदा होगा। अतः उस विकारभावको दूर करनेके लिए खण्डवस्त्रका ग्रहण उचित है ?

समाधान—यह कथन भी उपरोक्त विवेचनसे खण्डित हो जाता है, क्योंकि विकारभावको दूर करनारूप चेष्टा ही वस्त्राभिलाषाका कारण है। तात्पर्य यह कि यदि विकारभावको दूर करनेके लिए वस्त्रग्रहण होता है तो वस्त्राभिलाषाका होना अनिवार्य है। दूसरे, नेत्रादि सुन्दर अंगोंके देखनेमें भी कामिनियोंको विकारभाव उत्पन्न होना सम्भव है, अतः उनको ढकनेके लिए भी कपड़ेके ग्रहणका प्रसंग आवेगा, जैसे लिंगको ढकनेके लिए कपड़ेका ग्रहण किया जाता है। आश्चर्य है कि मुनि अपने हाथसे बुद्धिपूर्वक खण्डवस्त्रादिको लेकर धारण करता हुआ भी वस्त्रखण्डादिकी मूर्छारहित बना रहता है ? और जब यह प्रत्येय एवं सम्भव माना जाता है तो स्त्रीका आलिंगन करता हुआ भी वह मूर्छारहित बना रहे, यह भी प्रत्येय और सम्भव मानना चाहिए। यदि इसे प्रत्येय और सम्भव नहीं माना जाता तो उसे (वस्त्रग्रहण करनेपर भी मूर्छा नहीं होती, इस बातको) भी प्रत्येय एवं सम्भव नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। अतः सिद्ध हुआ कि मूर्छाके बिना वस्त्रादिका ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि वस्त्रादिग्रहण मूर्छाजन्य है—वस्त्रादिका ग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और कार्य, कारणके बिना नहीं होता। पर, कारण कार्यके अभावमें भी रह सकता है और इसलिए मूर्छा तो वस्त्रादिग्रहणके अभावमें भी सम्भव है, जैसे भस्माच्छन्न अग्नि धूमके अभावमें।

शंका—यदि ऐसा है तो पिच्छी आदिके ग्रहणमें भी मूर्छा होना चाहिए ?

समाधान—इसीलिए परमनिग्रन्थता हो जानेपर परिहारविशुद्धिसंयमवालोंके उसका (पिच्छी आदिका) त्याग हो जाता है, जैसे सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात-संयमवाले मुनियोंके हो जाता है। किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापनासंयमवाले मुनियोंके संयमका उपकरण होनेसे प्रतिलेखन (पिच्छी आदि) का ग्रहण सूक्ष्म मूर्छाके सद्भावमें भी युक्त ही है। दूसरे, उसमें जैनमार्गका विरोध नहीं है। तात्पर्य यह कि जिन सामायिक और छेदोपस्थापना संयमवाले मुनियोंके पिच्छी आदिका ग्रहण है उनके सूक्ष्म मूर्छाका सद्भाव है और शेष तीन संयमवाले मुनियोंके पिच्छी आदिका त्याग हो जानेसे उनके मूर्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि मुनिके लिए पिच्छी आदिका ग्रहण जैनमार्गके अविरुद्ध है, अतः उसके ग्रहणमें कोई दोष नहीं है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि मुनि वस्त्र आदि भी ग्रहण करने लगें; क्योंकि वस्त्र आदि नाग्न्य और संयमके उपकरण नहीं हैं। दूसरे, वे जैनमार्गके विरोधी हैं। तीसरे, वे सभीके उपभोगके साधन हैं। इसके अलावा, केवल तीन-चार पिच्छ व केवल

अलाबूफल—तूमरी (कमण्डलु) प्रायः मूल्यमें नहीं मिलते, जिससे उन्हें भी उपभोग-का साधन कहा जाय । निःसन्देह मूल्य देकर यदि पिच्छादिका भी ग्रहण किया जाय तो वह न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि उसमें सिद्धान्तविरोध है । मतलब यह कि पिच्छो आदि न तो मूल्यवान् वस्तुएँ हैं और न दूसरोंके उपभोगकी चीजें हैं । अतः मुनिके लिए उनके ग्रहणमें मूर्छा नहीं है । लेकिन वस्त्रादि तो मूल्यवाली चीजें हैं और दूसरे-के उपभोगमें भी वे आती हैं, अतः उनके ग्रहणमें ममत्वरूप मूर्छा होती है ।

शंका—क्षीणमोही बारहवें आदि तीन गुणस्थानवालोंके शरीरका ग्रहण सिद्धान्तमें स्वीकृत है, अतः समस्त परिग्रह मोह—मूर्छाजन्य नहीं है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि उनके पूर्वभव सम्बन्धी मोहोदयसे प्राप्त आयु आदि कर्म-बन्धके निमित्तसे शरीरका ग्रहण है—वे उस समय उसे बुद्धिपूर्वक ग्रहण नहीं किये हैं । और यही कारण है कि मोहनीयकर्मके नाश हो जानेके बाद उसको छोड़नेके लिए परमचारित्रका विधान है । अन्यथा उसका आत्यन्तिक त्याग सम्भव नहीं है । मतलब यह कि बारहवें आदि गुणस्थानवाले मुनियोंके शरीरका ग्रहण आयु आदि कर्मबन्धके निमित्तसे है—इच्छापूर्वक नहीं है ।

शंका—शरीरकी स्थितिके लिए जो आहार ग्रहण किया जाता है उससे मुनिके अल्प मूर्छा होना युक्त ही है ?

समाधान—नहीं; क्योंकि वह आहार ग्रहण रत्नत्रयकी आराधनाका कारण स्वीकार किया गया है । यदि उससे रत्नत्रयकी विराधना होती है तो वह भी मुनिके लिए अनिष्ट है । स्पष्ट है कि भिक्षाशुद्धिके अनुसार नवकोटि विशुद्ध आहारको ग्रहण करनेवाला मुनि कभी भी रत्नत्रयकी विराधना नहीं करता । अतः किसी पदार्थका ग्रहण मूर्छाके अभावमें किसोके सम्भव नहीं है और इसलिए तमाम परिग्रह प्रमत्तके ही होता है, जैसे अब्रह्म ।

विद्यानन्द इसी ग्रन्थमें एक दूसरी जगह और भी लिखते हैं^१ कि “जो वस्त्रादि ग्रन्थ रहित हैं वे निर्ग्रन्थ हैं और जो वस्त्रादि ग्रन्थसे सम्पन्न हैं वे निर्ग्रन्थ नहीं हैं—सग्रन्थ हैं, क्योंकि प्रकट है कि बाह्य ग्रन्थके सद्भावमें अन्तर्ग्रन्थ (मूर्छा) नाश नहीं होता । जो वस्त्रादिकके ग्रहणमें भी निर्ग्रन्थता बतलाते हैं उनके स्त्री आदिके ग्रहणमें

१. ‘वस्त्रादिग्रन्थसम्पन्नास्ततोऽन्ये नेति गम्यते

बाह्यग्रन्थस्य सद्भावे ह्यन्तर्ग्रन्थो न नश्यति ॥

ये वस्त्रादिग्रहेऽप्याहुर्निर्ग्रन्थत्वं यथोदितम् ।

मूर्च्छानुद्भूतिस्तेषां स्त्र्याद्यादानेऽपि किं न तत् ॥

विषयग्रहणं कार्यं मूर्छा स्यात्तस्य कारणम् ।

न च कारणविध्वंसे जातु कार्यस्य सम्भवः ॥

त्रिषयः कारणं मूर्छा तत्कार्यमिति यो वदेत् ।

तस्य मूर्छोदयोऽसत्त्वे विषयस्य न सिद्ध्यति ॥

तस्मान्माहोदयान्मूर्छा स्वार्थे तस्य ग्रहस्ततः ।

स, यस्यास्ति स्वयं तस्य न निर्ग्रन्थ्यं कदाचन ॥”—तत्त्वार्थं श्लो., पृ. ५०७ ।

मूर्छाके अभावका प्रसंग आवेगा। विषयग्रहण कार्य है और मूर्छा उसका कारण है और इसलिए मूर्छारूप कारणके नाश हो जानेपर विषयग्रहणरूप कार्य कदापि सम्भव नहीं है। जो कहते हैं कि 'विषय कारण है और मूर्छा उसका कार्य है' तो उनके विषयके अभावमें मूर्छाकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी। पर ऐसा नहीं है, विषयोंसे दूर बनमें रहनेवालेके भी मूर्छा देखी जाती है, अतः मोहोदयसे अपने अभीष्ट अर्थमें मूर्छा होती है और मूर्छासे अभीष्ट अर्थका ग्रहण होता है। अतएव वह जिसके है स्वयं उसके निर्ग्रन्थता कभी नहीं बन सकती। अतः जैनमुनि वस्त्रादि ग्रन्थ रहित ही होते हैं।^१

सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्दके इन युक्तिपूर्ण सुविशद विचारोंसे प्रकट है कि उनकी चर्या कितनी विवेकपूर्ण और जैनमार्गाविरुद्ध रहती थी और वे नाग्न्यको कितना अधिक महत्त्व प्रदान करते थे तथा मुनिमात्रके लिए उसका युक्ति और शास्त्रसे निष्पक्ष समर्थन करते थे। वे यह सदैव अनुभव करते थे कि यदि साधु लज्जा अथवा अन्य किसी कारणसे नाग्न्यपरीषद्को नहीं जोत सकते हैं और इसलिए वस्त्रादि ग्रहण करते हैं तो वे कदापि निर्ग्रन्थ और अप्रमत्त नहीं हो सकते हैं; क्योंकि वस्त्रादिग्रहण तभी होता है जब मूर्छा होती है। मूर्छाके अभावमें वस्त्रग्रहण हो ही नहीं सकता। अतः जैनमार्ग तो पूर्ण नग्नताके आचरण और धारण करनेमें है। जब वे आहार (भिक्षा) के लिए जाते तो वे उसे रत्नत्रयकी आराधनाके लिए ही ग्रहण करते थे और इस बातका ध्यान रखते थे कि वह भिक्षाशुद्धिपूर्वक नवकोटि विशुद्ध हो और इस तरह वे रत्नत्रयकी विराधनासे बचे रहते थे। कदाचित् रत्नत्रयकी विराधना हो जाती तो उसका वे शास्त्रानुसार प्रायश्चित्त भी ले लेते थे। इस तरह मुनि विद्यानन्द रत्नत्रयरूपी भूरि भूषणोंसे सतत आभूषित रहते थे^२ और अपनी चर्याको बड़ी ही निर्दोष तथा उच्चरूपसे पालते थे। ईसाकी ११वीं शताब्दीके विद्वान् आ. वादिराजने भी इन्हें न्यायविनिश्चयविवरणमें^३ एक जगह 'अनवद्यचरण' विशेषणके साथ समुल्लेखित किया है। यही कारण है कि मुनि-संघमें उन्हें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था और आचार्य जैसे महान् उच्चपदपर भी वे प्रतिष्ठित थे।

गुणपरिचय-दिग्दर्शन

दर्शनान्तरीय अभ्यास—यहां विद्यानन्दके कपितय गुणोंका भी कुछ परिचय दिया जाता है। सबसे पहले उनके दर्शनान्तरीय अभ्यासको लेते हैं। आ. विद्यानन्द केवल उच्च चारित्र्याराधक तपस्वी आचार्य ही नहीं थे, बल्कि वे समग्र दर्शनोंके विशिष्ट अभ्यासी भी थे। वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्धदर्शनोंके मन्तव्योंको जब वे अपने ग्रन्थोंमें पूर्वपक्षके रूपमें जिस विद्वत्ता और प्रामाणिकतासे रखते हैं तब उससे लगने लगता है कि अमुक दर्शनकार ही अपना पक्ष उपस्थित कर रहा है। वे उसकी ओरसे ऐसी व्यवस्थित कोटि-उपकोटियाँ रखते हैं कि पढ़नेवाला कभी उकताता नहीं है और वह अपने आप आगे खिंचता हुआ चला जाता है तथा

१. 'स जयतु विद्यानन्दो रत्नत्रयभूरिभूषणः सततम्'—आप्तप. टीका, प्रश्न. पद्य ३।

२. न्यायवि. वि. लि. पत्र ३८२।

फल जाननेके लिए उत्सुक रहता है। उदाहरणार्थ हम प्रस्तुत ग्रन्थके ही एक स्थल-को उपस्थित करते हैं। प्रकट है कि वैशेषिकदर्शन ईश्वरको अनादि, सदा मुक्त और सृष्टिकर्ता मानता है। विद्यानन्द उसकी ओरसे लिखते हैं :—

‘नन्वीश्वरस्यानुपायसिद्धत्वमनादित्वात्साध्यते। तदनादित्वं च तनुकरणभुव-
नादौ निमित्तकारणत्वादीश्वरस्य। न चैतदसिद्धम्। तथा हि—तनुकरणभुवनादिकं
विवादापन्नं बुद्धिमन्निमित्तकम्, कार्यत्वात्। यत्कार्यं तद्बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टम्,
यथा वस्त्रादि। कार्यं चेदं प्रकृतम्, तस्माद् बुद्धिमन्निमित्तकम्। योऽसौ बुद्धिमां-
स्तद्वेतुः स ईश्वर इति प्रसिद्धं साधनं तदनादित्वं साधयत्येव। इति वैशेषिकाः
समभ्यमंसत।’

अब उनका उत्तरपक्ष देखिए—

‘तेऽपि न समञ्जसवाचः, तनुकरणभुवनादयो बुद्धिमन्निमित्तका इति पक्षस्य
व्यापकानुपलम्भेन बाधितत्वात् कार्यत्वादिहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। तथा
हि—तन्वादयो न बुद्धिमन्निमित्तकाः तदन्वयव्यतिरेकानुपलम्भात्। यत्र यदन्वयव्य-
तिरेकानुपलम्भस्तत्र न तन्निमित्तकत्वं दृष्टम्, यथा घटघटोशरावोदञ्चनादिषु
कुविन्दाद्यन्वयव्यतिरेकाननुविधायिषु न कुविन्दादिनिमित्तकत्वम्, बुद्धिमदन्वयव्य-
तिरेकानुपलम्भश्च तन्वादिषु, तस्मान्न बुद्धिमन्निमित्तकत्वमिति व्यापकानुपलम्भः
तत्कारणकत्वस्य तदन्वयव्यतिरेकोपलम्भेन व्याप्तत्वात्, कुलालकारणकस्य घटादेः
कुलालान्वयव्यतिरेकोपलम्भप्रसिद्धेः सर्वत्र बाधकाभावात्तस्य तद्व्यापकत्वव्यव-
स्थानात्। न चायमसिद्धः, तन्वादीनामीश्वरव्यतिरेकानुपलम्भस्य प्रमाणसिद्धत्वात्।
स हि न तावत्कालव्यतिरेकः, शाश्वतिकत्वादीश्वरस्य कदाचिदभावासम्भवात्। नापि
देशव्यतिरेकः, तस्य विभुत्वेन क्वचिदभावानुपपत्तेरीश्वराभावे कदाचित्क्वचित्तन्वा-
दिकार्याभावानिश्चयात्।’

उत्तर पक्षमें पूर्वपक्षकी तरह वही शैली और वही पंचावयववाक्यप्रयोग सर्वत्र मिलेंगे। हाँ, बौद्धों आदिके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षमें उनकी मान्यतानुसार द्वयवयव आदि वाक्यप्रयोग मिलेंगे। विद्यानन्दका वैशेषिक दर्शनका अभ्यास वस्तुतः विशेष प्रतीत होता है और उसकी विशदतम छटा उनके सभी ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है। वे जब मीमांसादर्शनकी भावना-नियोग और वेदान्तदर्शनकी विधिसम्बन्धी दुरुह चर्चाको अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीमें विस्तारसे करते हैं तो उनका मीमांसा और वेदान्तदर्शनोंका गहरा और सूक्ष्म पाण्डित्य भी विदित हुए बिना नहीं रहता। जहाँ तक हम जानते हैं, जैनवाङ्मयमें यह भावना-नियोग-विधिकी दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्णबुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही लाई गयी है और इसलिए जैनसाहित्यके लिए यह उनकी एक अपूर्व देन है। मीमांसादर्शनका जैसा और जितना सबल खण्डन तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें पाया जाता है वैसा और उतना जैनवाङ्मयकी अन्य किसी भी उपलब्ध कृतिमें नहीं है। इससे हम विद्यानन्दके मीमांसादर्शन और वेदान्तदर्शन-के अभ्यासको जान सकते हैं। न्याय, सांख्य और चार्वाक दर्शनकी विवेचना और उनकी समालोचनासे विद्यानन्दकी उन दर्शनोंकी विद्वत्ता भी भलीभाँति अवगत हो जाती है। उनका बौद्धशास्त्रोंका अभ्यास तो इसीसे मालूम हो जाता है कि उनके

ग्रन्थोंका प्रायः बहुभाग बौद्धदर्शनके मन्तव्योंकी विशद आलोचनाओंसे भरा हुआ है और इसलिए हम कह सकते हैं कि उनका बौद्धशास्त्र सम्बन्धी भी विशाल ज्ञान था। इस तरह विद्यानन्द भारतीय समग्र दर्शनोंके गहरे और विशिष्ट अध्येता थे। संक्षेपमें यों समझिये कि आचार्य विद्यानन्दने कणाद, प्रशस्तकर, व्योमशिव, शंकर इन वैशेषिक ग्रन्थकारोंके, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्योतकर इन नैयायिक विद्वानोंके जैमिनि, शबर, कुमारिलभट्ट, प्रभाकर इन मीमांसक दार्शनिकोंके, ईश्वरकृष्ण, माठर, पतंजलि, व्यास इन सांख्ययोग विद्वानोंके, मण्डनमिश्र, सुरेश्वरमिश्र इन वेदान्त विद्वानोंके और नागाजुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, धर्मोत्तर, जयसिंह-राशि इन बौद्ध तर्कग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंको विशेषतया अभ्यस्त और आत्मसात् किया था। इससे स्पष्ट है कि उनका दर्शनान्तरीय अभ्यास महान् और विशाल था।

जैनशास्त्राभ्यास—आ. विद्यानन्दको अपने पूर्ववर्ती जैनग्रन्थकारोंसे उत्तराधिकारके रूपमें जैनदर्शनकी भी पर्याप्त ग्रन्थराशि प्राप्त थी। आचार्य गृद्धपिच्छाचार्यकालघु, पर महागम्भीर और जैनवाङ्मयके समग्र सिद्धान्तोंका प्रतिपादक तत्त्वार्थसूत्र, उसकी पूज्यपादीय तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक और श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य ये तीन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाएँ, आचार्य समन्तभद्रस्वामीके देवागमआप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन ये तीन दार्शनिक ग्रन्थ और रत्नकरण्डश्रावकाचार यह उपासकग्रन्थ उन्हें प्राप्त थे। इसके अतिरिक्त, सिद्धसेनका सन्मत्तिसूत्र, अकलंकदेवके अष्टशती, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघोयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय ये जैनतर्कग्रन्थ, पात्रस्वामीका त्रिलक्षणकदर्थन, श्रीदत्तका जल्पनिर्णय और वादन्यायविचक्षण, कुमारनन्दिका वादन्याय ये जैनन्यायग्रन्थ उन्हें उपलब्ध थे। इसके अलावा, आ. भूतबलि तथा पुष्पदन्तकृत षट्खण्डागम, गुगधराचार्यकृत कषायपाहुड, यतिवृषभाचार्यकृत 'तिलोयपण्णत्ति', कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि आगमग्रन्थ और पर्याप्त श्वेताम्बर ग्रन्थ उन्हें सुलभ थे। सैकड़ों ऐसे भी जैनआचार्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थ उन्हें प्राप्त थे, जिनका अथवा जिनके ग्रन्थोंका कोई नामाल्लेख न करके केवल उनके वाक्योंको 'उक्तं च' जैसे शब्दों द्वारा अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें उन्होंने उद्धृत किया है। उदाहरणार्थ पत्रपरीक्षामें किन्हीं पूर्वाचार्योंकी कुछ कारिकाएँ उन्होंने 'तदुक्तं' करके उद्धृत की हैं। और प्रमाणपरीक्षामें 'अत्र संग्रहश्लोकाः' रूपसे सात कारिकाएँ उपस्थित की हैं जो पूर्वाचार्योंकी हेतुभेदोंका प्रतिपादन करनेवाली हैं। तात्पर्य यह कि जैनदार्शनिक, जैन आगमिक और जैनतार्किक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रामें प्राप्त

१. माघवके 'सर्वदर्शनसंग्रह' में जिन सोलह दर्शनोंका वर्णन किया गया है उनमें प्रसिद्ध छह दर्शनोंको छोड़कर शेष दर्शन आ. विद्यानन्दके बहुत पीछे प्रचलित हुए हैं और इसलिए उन दर्शनोंकी चर्चा उनके ग्रन्थोंमें नहीं है। दूसरे, उन शेष दर्शनोंका प्रसिद्ध वैदिक दर्शनोंमें ही समावेश है। यही कारण है कि आ. हरिभद्र आदिने प्रसिद्ध छह दर्शनोंका ही 'षड्दर्शन-समुच्चय' आदिमें संकलन किया है। अतः प्राचीन समयमें प्रसिद्ध छह दर्शन ही भारतीय समग्र दर्शन कहलाते थे। —सम्पा.।

था और उसका उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें खूब उपयोग किया है तथा अपने जैनदार्शनिक ज्ञानभण्डारको समृद्ध बनाया है।

सूक्ष्मप्रज्ञतादिगुण-परिचय—अब हम विद्यानन्दके सूक्ष्मप्रज्ञता, स्वतन्त्र विचारणा आदि दो-एक गुणोंका दिग्दर्शन और कराते हैं।

जैनदर्शनमें गुण और पर्याययुक्तको द्रव्य कहा गया है^१। इसपर शंका की गयी कि 'गुण' संज्ञा तो जैनेतरोंकी है, जैनोंकी नहीं है। जैनोंके यहां तो द्रव्य और पर्यायरूप ही तत्त्व वर्णित किया गया है और इसीलिए द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो ही नयोंका उपदेश दिया गया है। यदि गुण भी कोई वस्तु है तो तद्विषयक तीसरा गुणार्थिक मूल नय भी होना चाहिए। परन्तु जैनदर्शनमें उसका उपदेश नहीं है?

इस शंकाका उत्तर सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्द इन तीनों विद्वान् तात्त्विकोंने दिया है। सिद्धसेन कहते हैं^२ कि गुण पर्यायसे भिन्न नहीं है—पर्यायमें ही 'गुण' शब्दका प्रयोग जैनागममें किया गया है और इसलिए गुण और पर्याय एकार्थक होनेसे पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक इन दो ही नयोंका उपदेश है, गुणार्थिक नयका नहीं, अतः उक्त शंका युक्त नहीं है।

अकलंकका कहना है^३ कि द्रव्यका स्वरूप सामान्य और विशेष है। और सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये सब पर्यायवाची हैं। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये एकार्थक शब्द हैं। उनमें सामान्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय है और विशेषको विषय करनेवाला नय पर्यायार्थिक नय है। सामान्य और विशेष इन दोनोंका अपृथक् सिद्धरूप समुदाय द्रव्य है। इसलिए गुणविषयक भिन्न तीसरा नय नहीं है, क्योंकि नय अंशग्राही है और प्रमाण समुदायग्राही। अथवा, गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं—गुणोंका नाम ही पर्याय है। अतः उक्त दोष नहीं है।

सिद्धसेन और अकलंकके इस समाधानके बाद फिर प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि गुण और पर्याय दोनों एक हैं—भिन्न नहीं हैं तो द्रव्यलक्षणमें उन दोनोंका निवेश किस लिये किया जाता है? इस प्रश्नका सूक्ष्मप्रज्ञतासे भरा हुआ उत्तर देते हुए विद्यानन्द कहते हैं^४ कि सहानेकान्तकी सिद्धिके लिए तो गुणयुक्तको द्रव्य कहा गया है और क्रमानेकान्तके ज्ञानके लिए पर्याययुक्तको द्रव्य बतलाया गया है और इसलिए गुण तथा पर्याय दोनोंका द्रव्यलक्षणमें निवेश युक्त है।

विद्यानन्दके इस युक्तिपूर्ण उत्तरसे उनकी सूक्ष्मप्रज्ञता और तीक्ष्ण बुद्धिका पता चलता है। उनके स्वतन्त्र और उदार विचारोंका भी हमें कितना ही परिचय मिलता है। प्रकट है कि अकलंकदेव^५ और उनके अनुगामी आ. माणिक्यनन्दि^६ तथा

१. 'गुणपर्यायवद्द्रव्यम्।' —तत्त्वार्थसू. ५-३७।

२. सन्मतिसूत्र ३-९, १०, ११, १२, नं. की गाथाएँ।

३. तत्त्वार्थवा. ५-३७, पृ. २४३।

४. 'गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।

तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥२॥'—तत्त्वार्थश्लोक., पृ. ४३८।

५. लघीय., का. २१।

६. परीक्षामुख ३-५ से ३-१०।

लघु अनन्तवीर्य^१ आदि ने प्रत्यभिज्ञानके अनेक भेद बतलाये हैं। परन्तु आ. विद्यानन्द अपने ग्रन्थोंमें प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ये दो ही भेद बतलाते हैं।^२

आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ. ४८२-४८७) और न्यायकुमुदचन्द्र (पृ. ७६८-७७२) में जो ब्राह्मणत्व जातिका विस्तृत और विशद खण्डन किया है तथा जाति-वर्णकी व्यवस्था गुणकर्मसे की है उनका प्रारम्भ जैनपरम्पराके तर्कग्रन्थोंमें आ. विद्यानन्दसे ही हुआ जान पड़ता है। आ. विद्यानन्दने श्लोकवार्तिक (पृ. ३५८) में सयुक्तिक बतलाया है कि गुणों और दोषोंके आधारसे ही आर्यत्व, म्लेच्छत्व आदि जातियाँ व्यवस्थित हैं, नित्य जाति कोई नहीं है। ब्राह्मणत्व, चण्डालत्व आदिको जो नित्य सर्वगत और अमूर्तस्वभाव मानते हैं वह प्रमाणबाधित है। इस तरह उन्होंने अपने उदार विचारोंको भी प्रस्तुत किया है। इससे हम सहजमें जान सकते हैं कि विद्यानन्द एक उच्च तार्किक होनेके साथ स्वतन्त्र और उदार विचारक भी थे।

इसके अलावा वे श्रेष्ठ और प्रामाणिक व्याख्याकार भी थे। आ. गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्तभद्र और अकलंकदेवके वचनों—पदवाक्यादिकोंका अपने ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं व्याख्यान करनेका उन्हें प्रसंग आया है उनका उन्होंने बड़ी प्रामाणिकतासे व्याख्यान किया है।^३ इसके सिवाय आ. विद्यानन्द उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि, अद्वितीय वादी, महान् सैद्धान्तिक और सच्चे जिनशासनभक्त भी थे। उनके बाद उन जैसा महान् तार्किक और सूक्ष्मप्रज्ञ भारतीय क्षिजितपर—क्रमसे-क्रम जैनपरम्परामें तो—कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। वे अद्वितीय थे और उनकी कृतियाँ भी आज अद्वितीय बनी हुई हैं।

विद्यानन्द पर पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थकारोंका प्रभाव :

आ. विद्यानन्दपर जिन पूर्ववर्ती ग्रन्थकार जैनाचार्योंका विशेष प्रभाव पड़ा है उनमें उल्लेखनीय निम्न आचार्य हैं :—

१ गृद्धपिच्छाचार्य (उमास्वाति), २ समन्तभद्रस्वामी, ३ श्रीदत्त, ४ सिद्धसेन, ५ पात्रस्वामी, ६ भट्टाकलंकदेव और ७ कुमारनन्दि भट्टारक।

१. गृद्धपिच्छाचार्य—यह विक्रमकी पहली शतीके प्रभावशाली विद्वान् हैं।^४ तत्त्वार्थसूत्र इनकी अमर रचना है। इसमें जैन तत्त्वों (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात) का और उनके अधिगमोपाय प्रमाण, नय तथा प्रमाणके प्रत्यक्ष-परोक्षरूप दो भेदों और नयोंके नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन सात भेदोंका सैद्धान्तिक और दार्शनिक प्रतिपादन किया गया है। विभिन्न स्थलोंमें 'धर्मास्तिकायाभावात्,' 'तन्निर्गमिदधिगमाद्वा'

१. प्रमेयर. ३-१०।

२. तत्त्वार्थश्लो., पृ. १९०, अष्टस., पृ. २७९, प्रमाणप., पृ. ६९।

३. तत्त्वार्थश्लो., पृ. २४०, २४२, २५४ आदि।

४. मुख्तारसाहबका 'स्वामी समन्तभद्र'। पं. सुखलालजी इन्हें भाष्यको स्वोपज्ञ माननेके कारण विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शतीका अनुमानित करते हैं (ज्ञानविन्दुकी प्रस्तावना)।

जैसे सूत्रोंद्वारा तर्कका भी समावेश हुआ है। यह दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंमें कुछ पाठभेदके साथ समानरूपसे मान्य है और दोनों ही सम्प्रदायके विद्वानोंने इसपर अनेक टोकाएँ लिखी हैं। उनमें आ. पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक, प्रस्तुत आसपरीक्षाकार आ. विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सभाष्य), श्रुतसागरसूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति और श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य ये पाँच टोकाएँ तत्त्वार्थसूत्रकी विशाल, विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। विद्यानन्दने अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें इसके सूत्रोंको बड़े आदरके साथ उद्धृत किया है। और प्रस्तुत 'आसपरीक्षा' का भव्य प्रासाद तो इसीके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलाचरण पद्यपर खड़ा किया गया है। ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थोंमें सिर्फ एक ही जगह (तत्त्वार्थश्लोकवा., पृ. ६ पर) इन आचार्यका 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामसे उल्लेख किया है और सर्वत्र 'सूत्रकार' जैसे आदरवाची नामसे ही उनका उल्लेख हुआ है।

२. समन्तभद्र स्वामी—ये विक्रमको दूसरी-तीसरी शतीके महान् आचार्य हैं।^१ ये वीरशासनके प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युगके प्रवर्तक हुए हैं। अकलंकदेवने इन्हें कलिकालमें स्याद्वादरूपी पुण्योदधिके तीर्थका प्रभावक बतलाया है।^२ आचार्य जिनसेनने इनके वचनोंको भ. वीरके वचनतुल्य प्रकट किया है^३ और एक शिलालेखमें^४ तो भ. वीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करनेवाला भी उन्हें कहा है। वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रने वीरशासनकी जो महान् सेवा की है वह जैनवाङ्मयके इतिहासमें सदा स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आ. विद्यानन्दने इनकी आसमीमांसा (देवागम) पर अकलंकदेवकी अष्टशतीको समाविष्ट करते हुए आठ हजार प्रमाण 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है जिसे आसमीमांसालंकार और देवागमालंकार भी कहा जाता है। इनके दूसरे ग्रन्थ युक्त्यनुशासनपर भी इन्होंने 'युक्त्यनुशासनालंकार' नामक मध्यमपरिमाणकी अत्यन्त विशद टीका रची है। विद्यानन्दने अपने सभी ग्रन्थोंमें इनकी देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र इन दार्शनिक कृतियोंके उद्धरण दिये हैं। श्लोकवार्तिक (पृ. ४६७) में इनके उपासक ग्रन्थ रत्नकरण्डश्रावकाचारका भी अनुसरण किया है।^५

१. स्वामिसमन्तभद्र और न्यायदी., प्रस्तावना, पृ. ८५।

२. अष्टश., पृ. २।

३. हरि., पृ. १-३०।

४. वेलूरताल्लुकेका शि. नं. १७।

५. तुलना कीजिए—

“त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षीद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये ।

मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥

अल्पफलबहुविघातान्मूलकमाद्राणि शृङ्गवेराणि ।

नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥

यदनिष्टं तद्गतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् ।

अभिसन्धिकृता विरतिविषयाद्योऽप्युद्वर्तं भवति ॥”—रत्न. श्राव., श्लो., ८४, ८५, ८६।

३. श्रीदत्त—इनका आ. विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. २८०) में निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

“पूर्वाचार्योऽपि भगवानमुमेव द्विविधं जल्पमावेदितवानित्याह—

द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्व-प्रातिभगोचरम् ।

त्रिषष्टेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४५॥”

इसके पहले विद्यानन्दने यह प्रतिपादन किया है^१ कि वादके दो भेद हैं—
१. वीतरागवाद और २. आभिमानिकवाद । वीतरागवाद तत्त्वजिज्ञासुओंमें होता है और उसके वाद तथा प्रतिवादो दो अंग हैं । तथा आभिमानिक वाद जिगीषुओंमें होता है और उसके वादो, प्रतिवादो, सभापति और प्राश्निक ये चार अंग हैं । इस आभिमानिकवादके भी दो भेद हैं—१. तात्त्विकवाद और २. प्रातिभवाद । अपने इस प्रतिपादनको प्रमाणित करनेके लिए उन्होंने उक्त उल्लेख किया है । उसमें कहा गया है कि पूर्वाचार्य भगवान् श्रीदत्तने भी अपने जल्पनिर्णयमें वही दो प्रकारका जल्प-वाद बतलाया है—१. तात्त्विक और २. प्रातिभ । उक्त उल्लेखमें विद्यानन्दने इन्हें ‘६३ वादियोंका जेता’ भी कहा है । इससे प्रतीत होता है कि ‘जल्पनिर्णय’ नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके कर्ता और ६३ वादियोंके जेता श्रीदत्ताचार्य बहुत प्रभावशाली वादी और तार्किक हुए हैं तथा वे विद्यानन्दके बहुत पहले हो चुके हैं । आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन (वि. की ९वीं शताब्दि) ने^२ भी आदिपुराणके आरम्भमें इनका सश्रद्ध स्मरण किया है और उन्हें वादिगजोंका प्रभेदन करनेवाला सिंह लिखा है । आचार्य पूज्यपादने अपने जेनेन्द्रव्याकरणके ‘गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम् + १-४-३४’ सूत्रद्वारा एक श्रीदत्तका समुल्लेख किया है^३ । यदि ये श्रीदत्त प्रस्तुत श्रीदत्त हों तो ये पूज्यपाद (वि. की छठी शताब्दी) से भी पूर्ववर्ती ज्ञात होते हैं । चार आरातीय आचार्योंमें भी एक श्रीदत्तका नाम है जिनका समय वीरनिर्वाण सं. ७०० (वि. सं. २३०) के लगभग बतलाया जाता है^४ । श्रद्धेय पं. नाथूरामजी प्रेमोकी^५ सम्भावना है कि ये आरातीय श्रीदत्त जल्पनिर्णयके कर्ता श्रीदत्तसे भिन्न होंगे । आ. अकलंकदेवने अपने ‘सिद्धिविनिश्चय’में एक ‘जल्पसिद्धि’ नामका प्रस्ताव रखा है और उसमें छलादिदूषण

“भोगपरिभोगसंख्यानं पंचविधम्, त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । तत्र मधु-मांसं त्रसघातजं तद्विषयं सर्वदा विरमणं विशुद्धिदम् । मद्यं प्रमादनिमित्तं तद्विषयं च विरमणं संविधेयम्, अन्यथा तदुपसेवनकृतः प्रमादात्सकलव्रतविलोपप्रसङ्गः । केतव्यजुन-पुष्पादिमाल्यं जन्तुप्रायं शृङ्गवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादिकमुपदेशकमनन्तकाव्यपदेशं च बहुविधं तद्विषयं विरमणं नित्यं श्रेयः, श्रावकत्वविशुद्धिहेतुत्वात् । यानवाहनादि यद्यस्यानिष्टं तद्विषयं परिभोगविरमणं यावज्जीवं विधेयम् । चित्रवस्त्राद्यनुपसेव्यमसत्यशिष्टसेव्यत्वात्, तदिष्टमपि परित्याज्यं शश्वदेव ।” —तत्त्वार्थश्लो., पृ., ४६७ ।

१. तत्त्वार्थश्लो., पृ. २८० ।

२. ‘श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदिने ॥’ १-४५ ।

३-४-५. ‘जैनसाहित्य और इतिहास’, पृ. ११७, १२० ।

रहित जल्पको वाद बतलाकर दोनोंको एक प्रकट किया है तथा विद्यानन्दके^१ उल्लेखानुसार उसमें उन्होंने तात्त्विक वादमें जय कही है। अतः सम्भव है कि श्रीदत्तके जल्पनिर्णयका अकलंकके 'जल्पसिद्धि' प्रस्तावपर प्रभाव हो। इस तरह आचार्य श्रीदत्तका समय वि. की तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीका मध्यकाल जान पड़ता है।

४. सिद्धसेन—स्वामी समन्तभद्रके बाद और अकलंकदेवके पूर्व इनका उदय हुआ है। ये जैन परम्पराके प्रभावशाली जैन तार्किक हैं। ये जैनवाङ्मयमें सिद्धसेन दिवाकरके नामसे विशेष विश्रुत हैं^२। इनका 'सन्मतिसूत्र' नामका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ स्वामी समन्तभद्रकी आसमोमांसाकी तरह बहुत प्रसिद्ध है। इसमें उन्होंने स्वामी समन्तभद्र द्वारा प्रतिष्ठित स्याद्वाद और अनेकान्तवादका नयोंके विशद और विस्तृत विवेचन पूर्वक विभिन्न नयोंमें विभिन्न दर्शनोंका समावेश करके समर्थन किया है अर्थात् स्वामी समन्तभद्रने जो आसमोमांसामें निरपेक्ष नयोंको मिथ्या और सापेक्ष नयोंको सम्यक् बतलाकर अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा की है उसीका समर्थन आ. सिद्धसेन दिवाकरने अपने हेतुवाद द्वारा इसमें किया है और एक-एक नयको लेकर खड़े हुए विभिन्न दर्शनोंके समन्वयकी अद्भुत प्रक्रिया प्रस्तुत की है। वास्तवमें जैनवाङ्मयमें जो उल्लेखनीय कृतियाँ हैं उनमें एक यह भी है। स्वामी वीरसेनने अपनी विशाल टीका धवलामें इसके वाक्योंको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है^३ और उसे 'सूत्र' रूपसे उल्लेखित किया है। अकलंकदेवने इनके इसी ग्रन्थगत केवलीके ज्ञान-दर्शन-अभेदवादकी, जो इन्हीं आ. सिद्धसेन द्वारा प्रतिष्ठित हुआ है, अपने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ. २५७) में आलोचना की है। आ. विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. ३) में इनके इसी सन्मतिसूत्रके तीसरे काण्डगत "जो हेउवायपवखम्मि" आदि ४५वीं गाथा उद्धृत की है। एक दूसरी जगह (तत्त्वार्थश्लो., पृ. ११४) 'जावदिया वयणवहा तावदिया होति णयवाया' (सन्म. ३-४७) गाथाका संस्कृत रूपान्तर भी दिया है। न्यायावतार और द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका ये दो ग्रन्थ भी इन्हीं सिद्धसेनके समझे जाते हैं। परन्तु ये दोनों ग्रन्थ एक-कर्तृक प्रतीत नहीं होते। न्यायावतारमें धर्मकीर्ति (ई. ६३५) के प्रमाणवार्तिक और न्यायबिन्दुगत शब्द और अर्थका अनुसरण पाया जाता है^४। इसके अलावा,

१. "तत्रेह तात्त्विके वादेऽकलङ्कः कथितो जयः।

स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहेऽन्यस्य वादिनः ॥४६॥" —तत्त्वार्थश्लो., पृ. २८१।

२. हरिभद्र (८वीं, ९वीं शती) कृत तत्त्वार्थवृत्ति, पृ. २३।

३. धवला, पहली जिल्द, पृ. १५, ८०, १४६।

४. (क) 'न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।

तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥' —प्रमाणवा. ३-६३।

'प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधा मेयविनिश्चयात्। —न्यायाव., श्लो. १।

(ख) 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' —न्यायबिन्दु, पृ. ११।

'अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत्।' —न्यायाव., श्लो. ५।

कुमारिल^१ और पात्रस्वामी^२ का भी अनुसरण किया गया है। और ये तीनों विद्वान् ईसाकी सातवीं शताब्दीके माने जाते हैं। अतः न्यायावतार और उसके कर्ताको उनके बादका अर्थात् ८वीं शतीका होना चाहिए। अकलंकदेवने सन्मतिसूत्रगत केवलीके ज्ञानदर्शनोपयोगके अभेदवादका खण्डन किया है और पूज्यपादने केवल पूर्वागत केवलीके ज्ञानदर्शनोपयोगके युगपत्वादका समर्थन किया है—उन्होंने अभेदवादका खण्डन नहीं किया। यदि अभेदवाद पूज्यपादके पहले प्रचलित हो गया होता तो उनके द्वारा उसका आलोचन सम्भव था। अतः सन्मतिसूत्र और उसके कर्ताका समय अकलंक (७वीं शती) और पूज्यपाद (६वीं शती) का मध्यवर्ती होना चाहिए अर्थात् ६ठी का उत्तरार्ध और ७वींका पूर्वार्ध (ई. ५७५ से ६५०) उनका समय मानना चाहिए। तीसरी द्वात्रिंशतिकाके १६वें पद्यका पहला चरण पूज्यपाद (६वीं शती) को सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। दूसरे, सन्मतिसूत्रमें केवलदर्शन तथा केवलज्ञानके अभेदवादका प्रतिपादन है और द्वात्रिंशतिकाओंमें उनके युगपत्वादका समर्थन है^३ जो पूर्वागत है। अतः इन दोनों कृतियोंमें विरोध तथा विभिन्न काल है—सन्मतिसूत्र पूज्यपादके उत्तरवर्ती रचना है और द्वात्रिंशतिकाएँ (सब नहीं—प्रायः कुछ) उनके पूर्ववर्ती कृतियाँ हैं। इसके सिवाय न्यायावतार और सन्मतिसूत्र इन दोनोंका भी द्वात्रिंशतिकाओंके साथ विरोध है। प्रकट है कि न्यायावतार और सन्मतिसूत्रमें मति और श्रुत दोनोंको अभिन्न नहीं बतलाया—दोनों वहाँ भिन्नरूपमें ही निर्दिष्ट हैं। परन्तु निश्चयद्वा. (१९) में मति और श्रुत दोनोंको अभिन्न प्रतिपादन किया गया है^४। यदि ये तीनों कृतियाँ एक व्यक्तिकी होतीं तो उनमें परस्पर विरुद्ध प्रतिपादन न होता। मालूम होता है कि यह बात प्रज्ञानयन पं. सुखलालजीकी दृष्टिमें भी आयी है और इसलिए उन्होंने उसके समन्वयका प्रयास करते हुए लिखा है कि 'यद्यपि दिवाकरश्रीने अपनी बत्तीसी (निश्चय. १९) में मति और श्रुतके अभेदको स्थापित किया है फिर भी उन्होंने चिरप्रचलित मति-श्रुतके भेदकी सर्वथा अवगणना नहीं की है। उन्होंने न्यायावतारमें आगम प्रमाणको स्वतन्त्ररूपसे निर्दिष्ट किया है। जान पड़ता है इस जगह दिवाकरश्रीने प्राचीन परम्पराका अनुसरण किया है और उक्त बत्तीसीमें अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया है^५।' परन्तु उनका यह समन्वय बुद्धिको नहीं लगता। कोई भी स्वतन्त्र विचारक अपने स्वतन्त्र विचारको प्राचीन परम्पराकी अवगणनाके भयसे एक जगह उसका त्याग और दूसरी जगह अत्याग नहीं कर सकता। आ. विद्यानन्दने श्लोकवार्तिकमें प्रत्यभिज्ञानके दो भेद प्रतिपादन किये हैं और यह उनका स्वतन्त्र विचार है—अकलंकदेव आदिसे उनका यह भिन्न मत है। परन्तु उन्होंने प्राचीन परम्पराकी अवगणनाके भयसे किसी कृतिमें अपने इस स्वतन्त्र विचारको नहीं

१. कुमारिलका और न्यायावतारका प्रमाणलक्षणगत 'बाधवर्जित' विशेषण।

२. पात्रस्वामीकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं' इत्यादि कारिका और न्यायावतारकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोलक्षणमीरितम्' कारिकाकी तुलना।

३. बत्तीसी २-२७, २-३०, १-३२।

४. 'वैयर्थ्यातिप्रसङ्गाभ्यां न मत्यम्यविकं श्रुतम्'-१९-१२।

५. ज्ञानवि, प्रस्ता., पृ. २४ का फुटनोट।

छोड़ा है—उनके अपने दूसरे ग्रन्थों (अष्टसहस्री आदि) में भी प्रत्यभिज्ञानके दो ही भेद प्रतिपादित हैं। अतः दिवाकरश्री अपने स्वतन्त्र विचारको सब जगह एकरूपमें ही रखनेके लिए स्वतन्त्र थे। अतः उक्त तीनों ग्रन्थ एक सिद्धसेनकृत मालूम नहीं होते—उन्हें विभिन्नकालवर्ती तीन सिद्धसेनोक्त अथवा तीन विद्वानोक्त होने चाहिए। इससे 'न्यायावतार'को सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेनकी रचना माननेमें जो असंगति और बेमेलपना आता है वह नहीं आवेगा। विद्वानोंको इसपर सूक्ष्म और निष्पक्ष विचार करना चाहिए।

५. पात्रस्वामी—इनका दूसरा नाम पात्रकेसरी भी है। ये बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग (३४५-४२५ ई.) के उत्तरवर्ती और अकलंकदेव (७वीं शती)के पूर्ववर्ती अर्थात् छठी, सातवीं शताब्दीके प्रौढ़ विद्वानाचार्य हैं। इन्होंने दिङ्नागके त्रिलक्षण हेतुका खण्डन करनेके लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामका महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थ रचा है, जो आज अनुपलब्ध है और जिसके उद्धरण तत्त्वसंग्रहादि विविध ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। त्रिलक्षण हेतुका खण्डन करनेवाली 'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्'।^१ आदि सुप्रसिद्ध कारिका इन्हींकी है। अकलंकदेवने इस कारिकाको न्यायविनिश्चय (का. ३२३ के रूप) में दिया है और सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षणसिद्धि' नामके छठवें प्रस्तावके आरम्भमें उसे स्वामी (पात्रस्वामी) का 'अमलालीढ पद' कहा है। बौद्धविद्वान् शान्तरक्षितने भी अपने तत्त्वसंग्रहमें उसे तथा उनकी कितनी ही दूसरी कारिकाओंको 'पात्रस्वामी' के मतरूपसे दी हैं।^२ आ. विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. २०३ पर 'तथाह' और पृ. २०५ में 'हेतुलक्षणं वार्तिककारेणैवमुक्तं' तथा प्रमाणपरीक्षा, पृ. ७२ में 'तथोक्तं' शब्दोंके साथ उक्त कारिकाको दिया है। अन्य कितने ही ग्रन्थकारोंने भी इस कारिकाको अपने ग्रन्थोंमें उद्धृत किया है।^३ न्यायावतारकार आ. सिद्धसेनने तो उक्त कारिकाको सामने रखकर अपने न्यायावतारकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोलक्षणमीरितम्' आदि २२वीं कारिकाके पूर्वाद्धका निर्माण ही नहीं किया, बल्कि 'ईरितम्' शब्दके प्रयोगद्वारा उसकी प्रसिद्धि एवं अनुसरण भी स्थापित किया है। इस तरह पात्रस्वामीकी उक्त कारिका समग्र जैनवाङ्मयमें सुप्रतिष्ठित हुई है। पात्रस्वामीकी दूसरी रचना पात्रकेसरीस्तोत्र (जिनेन्द्रगुणस्तुति) है जो एक स्तोत्रग्रन्थ है और जिसमें आसस्तुतिके बहाने सिद्धान्तमतका प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल ५० पद्य हैं जो अत्यन्त गम्भीर और मनोहर हैं। इसपर एक संस्कृत टीका भी है। इस टीकाके साथ यह स्तोत्र माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें प्रकाशित हो चुका है और केवल मूल प्रथमगुच्छकमें तथा मराठी अनुवाद सहित 'श्रीपुरपाश्वर्नाथ-

१. का. १३६४ से १३७९ तककी १६ कारिकाएँ। तत्त्वसंग्रहकारने जिस शैलीसे इन १६ कारिकाओंको, जिनके मध्यमें 'नान्यथानुपपन्नत्वं' (१३६९) प्रसिद्ध कारिका भी है, वहाँ दिया है उससे ये सोलह कारिकाएँ 'त्रिलक्षणकदर्थन' से उद्धृत हुईं प्रतीत होती हैं और इसलिये ये सब पात्रस्वामीकी ही कृति जान पड़ती हैं।—सम्भा. ।

२. अनन्तवीर्यकृत सिद्धिवि. टी. । षवला दे. प. १८५३, जैनतर्कवा., पृ. १३५, सूत्रकृ. टी. २२५, प्रमाणमी., पृ. ४०, सन्मतिसूत्रटी., पृ. ६९ और ५६९, स्या. रत्नाव., पृ. ५२१ ।

स्तोत्र' के साथ प्रकट हो गया है। संस्कृतटीकाकारने इस स्तोत्रका दूसरा नाम 'बृहत्पंचनमस्कारस्तोत्र' भी दिया है।

६. भट्टकलंकदेव—ये विक्रमकी सातवीं शतीके महान् प्रभावशाली और जैनवाङ्मयके अतिप्रकाशमान् उज्ज्वल नक्षत्र हैं। जैनसाहित्यमें इनका वही स्थान है जो बौद्धसाहित्यमें धर्मकीर्तिका है। जैनपरम्परामें ये 'जैनन्यायके प्रस्थापक' के रूपमें स्मृत किये जाते हैं। इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही उत्तरवर्ती समग्र जैन तार्किक चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह न्यायमार्ग 'अकलंकन्याय' के नामसे ही प्रसिद्ध हो गया। तत्त्वार्थवार्त्तिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्य और प्रमाण-संग्रह आदि इनकी अपूर्व और महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी दार्शनिक कृतियाँ हैं और तत्त्वार्थवार्त्तिकभाष्यको छोड़कर सभी गूढ़ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारोंने इनके पदोंकी व्याख्या करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलंकदेवका वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलताके कारण विद्वानोंके लिए आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है, जबकि उनपर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। विद्यानन्दने पद-पदपर इनका अनुसरण किया है। अकलंकदेवकी अष्टशतीके गहरे प्रकाशमें ही उन्होंने अष्टसहस्री निर्मित की है और उसके द्वारा अष्टशतीके पद-वाक्यों और सिद्धान्तोंका सबल समर्थन किया है। विद्यानन्दको यदि अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्त्तिक न मिलता तो उनके श्लोकवार्त्तिकमें वह विशिष्टता न आती जो उसमें है। अकलंकदेवको उन्होंने एक जगह 'महान् न्यायवेत्ता' तक कहा है।^१ वस्तुतः अकलंकदेवके प्रति उनकी श्रद्धा और पूज्यबुद्धिके उनके ग्रन्थोंमें जगह-जगह दर्शन होते हैं और सर्वत्र अकलंकदेवके सूत्रात्मक कथनपर किया गया उनका विशद भाष्य मिलता है। इस तरह आ. भट्टकलंकदेवका उनपर असाधारण प्रभाव है और इस प्रभावमें ही उन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभाको जागृत किया है।

७. कुमारनन्दि भट्टारक^२—ये अकलंकदेवके उत्तरवर्ती और आ. विद्यानन्दके पूर्ववर्ती अर्थात् ८वीं, ९वीं शताब्दीके विद्वान् हैं। विद्यानन्दने इनका और इनके 'वादन्याय' का अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा और पत्रपरीक्षामें नामोल्लेख किया है तथा वादन्यायसे कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। एक जगह तो विद्यानन्दने इन्हें 'वादन्यायविचक्षण' भी कहा है।^३ इससे उनका वादन्यायवैशारद्य जाना जाता है। इनका 'वादन्याय' नामका महत्त्वपूर्ण तर्कग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, जिसके केवल उल्लेख ही मिलते हैं। बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिने भी 'वादन्याय' नामका एक तर्कग्रन्थ बनाया है और जो उपलब्ध भी है। आश्चर्य नहीं, कुमारनन्दिके वादन्यायपर धर्मकीर्तिके वादन्यायके नामकरणका असर हो और उसीसे उन्हें अपना वादन्याय बनानेकी प्रेरणा मिली हो।

१. तत्त्वार्थश्लो., पृ. २७७।

२. 'न्यायदीपिका' प्रस्तावना, पृ. ८७।

३. 'कुमारनन्दिनश्चाहुर्वादन्यायविचक्षणाः।'—तत्त्वार्थश्लो., पृ. २८०।

विद्यानन्दका उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंपर प्रभाव :

अब हम आ. विद्यानन्दके उत्तरवर्ती उन ग्रन्थकार जैनाचार्योंका भी थोड़ा-सा परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं जिनपर विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंका स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। वे ये हैं :—

१. माणिक्यनन्दि, २. वादिराज, ३. प्रभाचन्द्र, ४. अभयदेव, ५. देवसूरि, ६. हेमचन्द्र, ७. अभिनव धर्मभूषण और ८. उपाध्याय यशोविजय आदि।

१. माणिक्यनन्दि—ये नन्दिसंघके प्रमुख आचार्योंमें हैं। विन्ध्यगिरिके शिलालेखोंमें-से सिद्धरवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर जो विस्तृत शिलालेख^१ उत्कीर्ण है और जो शक सं. १३२०, ई-सन् १३९८ का है उसमें नन्दिसंघके जिन आठ आचार्योंका उल्लेख है उनमें आ. माणिक्यनन्दिका भी नाम है।^२ ये अकलंकदेवकी कृतियोंके मर्मज्ञ और अध्येता थे। इनकी एकमात्र कृति 'परीक्षामुख' है। यह परीक्षामुख अकलंकदेवके जैनन्यायग्रन्थोंका दोहन है और जैनन्यायका अपूर्व तथा प्रथम गद्यसूत्र-ग्रन्थ है। यद्यपि अकलंकदेव जैनन्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और कारिकात्मक अनेक महत्त्वपूर्ण न्यायविषयक स्फुट प्रकरण भी लिख चुके थे। परन्तु गौतमके न्याय-सूत्र, दिङ्नागके न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदिकी तरह जैनन्यायको सूत्रबद्ध करनेवाला 'जैनन्यायसूत्र' ग्रन्थ जैनपरम्परामें अबतक नहीं बन पाया था। इस कमीकी पूर्ति सर्व-प्रथम आ. माणिक्यनन्दिने अपना 'परीक्षामुखसूत्र' लिखकर की जान पड़ती है। उनकी यह अपूर्व अमर रचना भारतीय न्यायग्रन्थोंमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्य (वि. ११वीं, १२वीं शती) ने तो इसे अकलंकके वचनरूप समुद्रको मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत'—न्यायविद्यारूप अमृत बतलाया है^३। वस्तुतः इसमें अकलंकदेवके द्वारा प्रस्थापित जैनन्याय, जो उनके विभिन्न न्यायग्रन्थोंमें विप्रकीर्ण था, बहुत ही सुन्दर ढंगसे ग्रथित किया गया है। उत्तरवर्ती आ. वादिदेवसूरिके प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और आ. हेमचन्द्रकी प्रमाणमीमांसापर इसका अमिट प्रभाव है^४। वादिदेवसूरिने तो इसका शब्दशः और अर्थशः पर्याप्त अनुसरण किया है। इस ग्रन्थपर आ. प्रभाचन्द्रने १२ हजार प्रमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका लिखी है। इनके कुछ ही पीछे आ. लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्न रचनाशैलीवाली 'प्रमेयरत्नमाला' नामकी मध्यम परिमाण-युक्त सुविशद टीका लिखी है। इस प्रमेयरत्नमालापर भी अजितसेनाचार्यकी न्याय-

१. शि. नं. १०५ (२५४), शिलालेखसं., पृ. २००।

२. यथा—'विद्या-दामेन्द्र-पद्मामर-वसु-गुण-माणिक्यनन्दि'। ह्ययाश्च ।'

३. "अकलंकवचोभोघेरुद्धे येन धीमता ।

न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥"—प्रमेयर. पृ. २।

अकलंकके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिए मेरा 'परीक्षा-मुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक लेख देखें, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ३-४ पृ. ११९-१२८।

४. इन ग्रन्थोंकी तुलना कीजिए।

मणिदोषिका^१, पण्डिताचार्य चारुकीर्ति नामके एक अथवा दो विद्वानोंकी अर्थ-प्रकाशिका^२ और प्रमेयरत्नमालालंकार^३ ये तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं और जो अभी अमुद्रित हैं। परीक्षामुखसूत्रके प्रथम सूत्रपर शान्तिवर्णोंकी भी एक प्रमेय-कण्ठिका^४ नामक अति लघु टीका पायी जाती है, यह भी अभी अप्रकाशित है।

आ. माणिक्यनन्दिका समय

यहाँ हमें आ. माणिक्यनन्दिके समय-सम्बन्धमें कुछ विशेष विचार करना इष्ट है। आ. माणिक्यनन्दि लघु अनन्तवीर्यके उल्लेखानुसार अकलंकदेव (७वीं शती) के वाङ्मयके मन्थनकर्ता हैं। अतः ये उनके उत्तरवर्ती और परीक्षामुखटीका (प्रमेय-कमलमार्तण्ड) कार प्रभाचन्द्र (११वीं शती) के पूर्ववर्ती विद्वान् सुनिश्चित हैं। अब प्रश्न यह है कि इन तीन-सौ वर्षकी लम्बी अवधिका क्या कुछ संकोच हो सकता है ? इस प्रश्नपर विचार करते हुए न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने लिखा है^५ कि 'इस लम्बी अवधिको संकुचित करनेका कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमें नहीं आया। अधिक सम्भव यही है कि ये विद्यानन्दके समकालीन हों और इसलिए इनका समय ई. ९वीं शताब्दी होना चाहिए।' लगभग यही विचार अन्य विद्वानोंका भी है^६।

मेरी विचारणा

१. अकलंक, विद्यानन्द और माणिक्यनन्दिके ग्रन्थोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने केवल अकलंकदेवके न्यायग्रन्थोंका ही दोहन कर अपना परीक्षामुख नहीं बनाया, किन्तु विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक आदि तर्कग्रन्थोंका भी दोहन करके उसकी रचना की है। नीचे हम दोनों आचार्योंके ग्रन्थोंके कुछ तुलनात्मक वाक्य उपस्थित करते हैं—

(क) आ. विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणसे इष्टसंसिद्धि और प्रमाणभाससे इष्टसंसिद्धिका अभाव बतलाते हुए लिखते हैं :—

‘प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथाऽतिप्रसंगतः :’—पृ. ६३।

आ. माणिक्यनन्दि भी अपने परीक्षामुखमें यही कहते हैं :—

‘प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।’—पृ. १।

(ख) विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें ही प्रामाण्यकी ज्ञप्तिको लेकर निम्न प्रतिपादन करते हैं :—

‘प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा।’—पृ. ६३।

माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कथन करते हैं :—

‘तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।’—१-१३।

१.-४. प्रश. सं., पृ. १, ६६, ६८, ७२।

५. प्रमेयक. मा. प्रस्ता., पृ. ५।

६. न्यायकुमु. प्र. भा. प्रस्ता. (पृ. ११३) आदि।

(ग) विद्यानन्द 'योग्यता' की परिभाषा निम्न प्रकार करते हैं :—

'योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्यैव स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशम-
विशेष एव ।'—प्रमाणप., पृ. ६७ ।

'स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमभेदः स्वार्थप्रमितौ
शक्त्योग्यतेति च स्याद्वादिभिरभिधीयते ।'—प्रमाणप., पृ. ५२ ।

'योग्यता पुनर्वेदनस्य स्वावरणविच्छेदविशेष एव'—तत्त्वार्थश्लोक., पृ. २४९ ।

माणिक्यनन्दि भी योग्यताकी उक्त परिभाषाकी अपनाते हुए लिखते हैं :—

'स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।'

—परीक्षामु. २-३ ।

(घ) ऊहाज्ञानके सम्बन्धमें विद्यानन्द कहते हैं:—

"तथोहस्यापि समुद्भूतौ भूयःप्रत्यक्षानुपलम्भसामग्री बहिरंगनिमित्तभूता-
ऽनुमन्यते तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्बुद्ध्यस्य ।"

—प्रमाणप., पृ. ६७ ।

माणिक्यनन्दि भी यही कहते हैं :—

"उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।

इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।

यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।"

—परीक्षा. ३-११, १२, १३ ।

(ङ) विद्यानन्दने अकलंक आदिके द्वारा प्रमाणसंग्रहादिमें प्रतिपादित हेतुभेदों-
के संक्षिप्त और गम्भीर कथनका प्रमाणपरीक्षामें जो विशद भाष्य किया है उसका
परीक्षामुखमें प्रायः अधिकांश शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है ।

इससे ज्ञात होता है कि माणिक्यनन्दि विद्यानन्दके उत्तरकालीन हैं और
उन्होंने विद्यानन्दके ग्रन्थोंका भी खूब उपयोग किया है ।

२. वादिराजसूरि (ई. स. १०२५) ने न्यायविनिश्चय विवरण और प्रमाण-
निर्णय ये दो न्यायके ग्रन्थ बनाये हैं और भी सुनिश्चित है कि न्यायविनिश्चयविवरण-
के समाप्त होनेके तुरन्त बाद ही उन्होंने प्रमाणनिर्णय बनाया है^१ । परन्तु जहाँ
आ. विद्यानन्दके ग्रन्थवाक्योंके उद्धरण इनमें पाये जाते हैं^२ वहाँ माणिक्यनन्दके
परीक्षामुखके किसी भी सूत्रका उद्धरण नहीं है । यदि माणिक्यनन्दि विद्यानन्दके
समकालीन अथवा वादिराजके बहुत पूर्ववर्ती होते तो वादिराज विद्यानन्दकी तरह
माणिक्यनन्दके वाक्योंका भी अवश्य उद्धरण देते । इससे यह कहा जा सकता है कि
आ. माणिक्यनन्दि आ. वादिराजके बहुत पूर्ववर्ती नहीं हैं—सम्भवतः वे उनके आस-
पास समसमयवर्ती हैं और इसलिए उनके ग्रन्थोंमें परीक्षामुखका कोई प्रभाव दृष्टि-
गोचर नहीं होता ।

१. 'तन्निर्णयानुपयोगिनः स्मरणादेः पश्चादपि किमर्थं निरूपणमिति चेदनुमानमेवेति ब्रूमः ।...

निवेदयिष्यते चैतत् पश्चादेव शास्त्रान्तरे (प्रमाणनिर्णये) ।'—न्यायवि. वि. लि. प. ३०६ ।

२. न्यायवि. वि. लि. प. ३१ ।

३. मुनि नयनन्दिने अपभ्रंशमें एक 'सुदंसणचरिउ' लिखा है, जिसे उन्होंने धारामें रहते हुए भोजदेवके राज्यमें वि. सं. ११००, ई. सन् १०४३ में बनाकर समाप्त किया है। इसकी प्रशस्तिमें उन्होंने अपनी गुर्वावली भी दी है और उसमें अपना विद्यागुरु माणिक्यनन्दको बतलाया है तथा उन्हें महापण्डित और अपनेको उनका विद्याशिष्य प्रकट किया है। प्रशस्तिमें उन्होंने यह भी बतलाया है कि धारानगरी उस समय विद्वानोंके लिए प्रिय थी अर्थात् विद्याभ्यासके लिए विद्वान् दूर-दूरसे आकर वहां रहते थे और इसलिए वह विद्वानोंकी केन्द्र बनी हुई थी। प्रशस्तिगत वह गुर्वावली इस प्रकार है—

आ. कुन्दकुन्दकी आम्नायमें

पद्मनन्दि

वृषभनन्दि (सम्भवतः चतुर्मुखदेव)

रामनन्दि

माणिक्यनन्दि (महापण्डित)

नयनन्दि (सुदंसणचरिउके कर्ता)

आ. प्रभाचन्द्र इन नयनन्दि (ई. १०४३) के समकालीन हैं, क्योंकि उन्होंने भी धारा (मालवा)में रहते हुए राजा भोजदेवके राज्यमें आ. माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख-

१. इस प्रशस्तिकी ओर मेरा ध्यान मिश्रवर पं. परमानन्दजी शास्त्रीने खींचा है और वह मुझे अपने पास से दी है। मैं उसे साभार यहाँ दे रहा हूँ—

प्रशस्ति—जिणंदस्स वीरस्स तित्थे महंते । महाकुंदकुंदंनए एतं संते ।

सुणरकाहिहाणो तहा पोमणंदि । खमाजुत्त सिद्धंतउ विसहणंदी ।

जिणिदागमाहासणो एयचित्तो । तवारणट्ठीए लद्धीयजुत्तो ।

णरिदामरिदेहि सोणंदवंतो । हुऊ तस्स सीसो गणी रामणंदी ॥

महापंडऊ तस्स माणिककणंदी । भुजंगप्पहाऊ हमो णाम छंदी ।

धत्ता—पढमसीसु तहो जायउ जगविक्खायउ मुणि णयणंदि अणंदउ ।

चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ बुहअहिणंदिउ ।

आरामगामपुरवरणिवेसे । सुपसिद्ध अवंतो णामदेसे ।

सुरवइपुरि व्व विबुहयणइट्ठ । तहि अत्थि धारणयरी गरिट्ठ ।

रणउद्धवर अरिवरसेवज्ज । रिद्धि देवासुर जणि चोल रज्ज ।

तिहुवणणारायण सिरिणिकेउ । तहि णरवइपुंगम, भोयदेउ ।

माणिगणयहइसियरविगमच्छि । तहि जिणहस पडपि विहार अत्थि ।

णिवविककमकालहो ववगएसु । एयारह (११००) संवच्छरसएसु ।

'एत्थ सुदंसणवरिए पंचणमोक्कारफलपयासयरे माणिककणंदितइविज्जसीसुणयणंदिणा रइए....! संधि १२ ।'

पर प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक विस्तृत टीका लिखी है^१ और प्रायः शेष कृतियाँ भोजदेव^२ (वि. सं. १०७५ से १११०, ई. सन् १०१८ से १०५३) के उत्तराधिकारी धारानरेश जयसिंहदेव^३ के राज्यमें बनायी हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—अनुमानतः वि. सं. ११०० से ११०७, ई. १०४३ से १०५०—की रचना होनी चाहिए। और यह प्रकट है कि प्रभाचन्द्र इस समय तक राजा भोजदेवद्वारा अच्छा सम्मान और यश प्राप्त कर चुके थे^४ और इसलिए उस समय ये लगभग ४० वर्षके अवश्य होंगे। यदि शेष रचनाओंके लिए उन्हें ३० वर्ष भी लगे हों तो उनका अस्तित्व वि. सं. ११३७ (ई. सन् १०८०) तक पाया जा सकता है। अतः प्रभाचन्द्रका समय वि. सं. १०६७ से ११३७ (ई. सन् १०१० से १०८०) अनुमानित होता है।^५

विभिन्न शिलालेखोंमें प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सेद्धान्त^६ और चतुर्मुखदेव^७ ये दो गुरु बतलाये गये हैं और प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदकी अन्तिम प्रशस्तियोंमें पद्मनन्दि सेद्धान्तका ही गुरुरूपसे उल्लेख है। हाँ, प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी प्रशस्तिमें परीक्षामुखसूत्रकार माणिक्यनन्दिका भी उन्होंने गुरुरूपसे उल्लेख किया है।^८ कोई आश्चर्य नहीं, नयनन्दिके द्वारा उल्लिखित और अपने विद्यागुरुरूपसे स्मृत माणिक्यनन्दि ही परीक्षामुखके कर्ता और प्रभाचन्द्रके न्यायविद्यागुरु हों। नयनन्दिने अपनेको उनका विद्या-शिष्य और उन्हें महापण्डित घोषित किया है, जिससे प्रतीत होता है कि वे न्याय-शास्त्र आदिके महा विद्वान् होंगे और उनके कई शिष्य रहे होंगे। अतः सम्भव है प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दिकी प्रख्याति सुनकर दक्षिणसे धारानगरीमें, जो उस समय आजकी काशीकी तरह समस्त विद्याओं और विद्वानोंकी केन्द्र बनी हुई

१. प्रमेयक. मा. का समाप्ति-पुष्पिकावाक्य।
२. श्रीचन्द्रने महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणका टिप्पण भोजदेवके राज्य में वि. सं. १०८० में रचा है। तथा भोजदेवके वि. सं. १०७६ और वि. सं. १०७९ के दो दानपत्र भी मिले हैं। अतः भोजदेवकी पूर्वावधि वि. सं. १०७५ होना चाहिए और उनकी मृत्यु वि. सं. १११० के लगभग सम्भावना की जाती है, क्योंकि भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंहदेवका वि. सं. १११२ का एक दानपत्र मिला है। विश्वेश्वरनाथ रेडकृत 'राजा भोज' पृ. १०२-१०३। इसलिए उनकी उत्तरावधि वि. सं. १११० है और इस तरह राजा भोजदेव का समय वि. सं. १०७५ से १११० (ई. सन् १०१८ से ई. १०५३) माना जाता है।
३. ये वि. सं. १११२ (ई. १०५५) के आसपास राजगद्दीपर बैठे थे। रेडकृत 'राजा भोज' पृ. १०३।
४. शि. नं. ५५ (६९)।
५. इस समयको माननेसे वि. सं. १०७३ में रचे गये अमितगतिके संस्कृत पंचसंग्रहके पद्यका तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरणमें उल्लेख होना भी असंगत नहीं है।
६. शि. नं. ४० (६४)।
७. शि. नं. ५५ (६९)।
८. प्रशस्तिपद्य नं. ३।

थी और राजा भोजदेवका विद्या-प्रेम सर्वत्र प्रसिद्धि पा रहा था, उनसे न्याय-शास्त्र पढ़नेके लिए आये हों और पीछे वहाँके विद्याव्यासंगमय वातावरणसे प्रभावित होकर वहीं रहने लगे हों अथवा वहाँके वाशिन्दा हों तथा बादमें गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षा-मुखकी टीका लिखनेके लिए प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त हुए हों। जब हम अपनी इस सम्भावनाको लेकर आगे बढ़ते हैं तो उसके प्रायः सब आधार भी मिल जाते हैं।

पहला आधार तो यह है कि प्रभाचन्द्रने परीक्षामुख-टीका (प्रमेयकमलमार्तण्ड) को आरम्भ करते हुए लिखा है कि 'मैं अल्पज्ञ माणिक्यनन्दिके चरणकमलोंके प्रसाद-से इस शास्त्रको बनाता हूँ। क्या छोटा-सा क्षरोत्सा सूर्यकी किरणोंद्वारा प्रकाशित हो जानेसे लोगोंके इष्ट अर्थका प्रकाशन नहीं करता? अर्थात् अवश्य करता है।' इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने गुरु माणिक्यनन्दिके चरणोंमें बैठकर परीक्षामुख और समस्त इतर दर्शनोंको, जिनके माणिक्यनन्दि-प्रभाचन्द्रके शब्दोंमें 'अर्णव' थे पढ़ा होगा और उससे उनके हृदयमें तद्गत अर्थका प्रकाशन हो गया होगा और इसलिये उनके चरणप्रसादसे उसकी टीका करनेका उन्होंने साहस किया होगा। गुरुकी कृतिपर शिष्य द्वारा टीका लिखना वस्तुतः साहसका कार्य है और उनके इस साहसको देखकर सम्भवतः उनके कितने ही साथी स्पर्धा और उपहास भी करते होंगे और जिसकी प्रतिध्वनि प्रारम्भके तोसरे^१, चौथे^२ और पाँचवें^३ पद्योंसे भी स्पष्टतः प्रकट होती है।

दूसरा आधार यह है कि प्रभाचन्द्रने टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है उसमें माणिक्यनन्दिका गुरुरूपसे ही स्पष्टतया उल्लेख किया है और उनके आनन्द एवं प्रसन्नताकी वृद्धि-कामना की है।^४

तीसरा आधार यह है कि टीकाके मध्यमें एक स्थलपर प्रभाचन्द्रने इत्यभि-प्रायो गुरुणाम् शब्दोंद्वारा माणिक्यनन्दिको अपना गुरु स्पष्टतः प्रकट किया है और उनके अभिप्रायको प्रदर्शित किया है।^५

चौथा आधार यह है कि नयनन्दि, उनके गुरु महापण्डित माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र इन तीनों विद्वानोंका एक काल और एक स्थान है।

पाँचवाँ आधार यह है कि प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सैद्धान्त और चतुर्मुखदेव, जिन्हें वृषभनन्दि भी कहा जाता है, ये दो गुरु बतलाये जाते हैं और ये दोनों ही नयनन्दि (ई. १०४३) के सुदर्शनचरित्रमें भी माणिक्यनन्दिके पूर्व उल्लिखित हैं।

१. 'शास्त्रं करोमि वरमत्यन्तरावबोधो माणिक्यनन्दिपदपङ्कजसत्प्रसादात् ।'

अर्थ न कि स्फुटयति प्रकृतं लघीयाँल्लोकस्य भानुकरविस्फुरिताद्गवाक्षः ॥—श्लोक २ ।

२. 'ये नूनं प्रययन्ति नोऽसमगुणः' इत्यादि ।

३. 'त्यजति न विदधानः कार्यमुद्विज्य घीमान्' इत्यादि ।

४. 'अजडमदोषं दृष्ट्वा' आदि ।

५. यथा—गुरुः श्रीनन्दि-माणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः ।

नन्दताद्गुरुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥—प्रमेयक. प्रश., श्लो. ३ ।

६. प्रमेयकमलमार्तण्ड (नयी आवृत्ति, पृ. ३४८) ३-११ सूत्रकी व्याख्या । इसकी ओर मेरा ध्यान प्रो. दलसुख मालवणियाने आकर्षित किया है जिसके लिए उनका आभारी हूँ ।

अतः नयनन्दिके विद्यागुरु माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्रके भी न्यायविद्यागुरु रहे होंगे और वे ही परीक्षामुखके कर्त्ता होंगे। एक व्यक्तिके अनेक गुरु होना कोई असंगत भी नहीं है। वादिराज सूरिके भी मतिसागर, हेमसेन और दयापाल ये तीन गुरु थे।

छठा आधार यह है कि परीक्षामुखकार माणिक्यनन्दि वादिराज (ई. १०२५) से पूर्ववर्ती प्रतीत नहीं होते, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष सामने आता है कि माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र साक्षात् गुरु-शिष्य थे और प्रभाचन्द्रने अपने साक्षात् गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षा-मुखपर उसी प्रकार टीका लिखी है जिस प्रकार बौद्ध विद्वान् कमलशील (ई. ८५०) ने अपने साक्षात् गुरु शान्तरक्षित (ई. ८३५) के 'तत्त्वसंग्रह' पर 'पञ्जिका' व्याख्या रची है। अतः इन सब आधारों—प्रमाणों और संगतियोंसे परीक्षामुखकार आचार्य माणिक्यनन्दि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदि प्रसिद्ध तर्क-ग्रन्थोंके कर्त्ता आ. प्रभाचन्द्रके समकालीन अर्थात् वि. सं. १०५० से वि. सं. १११० (ई. स. ९९३ से ई. १०५३) के विद्वान् अनुमानित होते हैं और उनके परीक्षामुखका रचनाकाल वि. सं. १०८५, ई. स. १०२८ (ई. सन् १०२५ में रचे गये वादिराजके पार्श्वनाथचरितके बाद) के करीब जान पड़ता है। इस समयके स्वीकारसे आ. विद्यानन्द (९वीं शती) के ग्रन्थवाक्योंका परीक्षामुखमें अनुसरण, आ. वादिराज (ई. १०२५) द्वारा अपने ग्रन्थोंमें परीक्षामुख और आ. माणिक्यनन्दिका अनुल्लेख, मुनि-नयनन्दि (ई. १०४३) और आ. प्रभाचन्द्र (ई. १०१० से ई. १०८०) के गुरु-शिष्यादि उल्लेखों आदिकी संगति बन जाती है। अस्तु।

१. 'यैरेकान्तैकपालुभिर्मम मनोनेत्रं समुन्मीलितं,

शिक्षारत्नशालाकया हितपदं पश्यत्यदृश्यं परेः।

ते श्रीमन्मतिसागरो मुनिपतिः श्रीहेमसेनो दया-

पालश्चेति दिविस्पृशोऽपि गुरवः स्मृत्याऽभिरक्षन्तु माम् ॥२॥'

—न्यायवि. वि. लि. द्वि. प्रस्ताव।

२-३. वादन्यायका परिशिष्ट।

४. ऊपर नयनन्दिकी 'सुदण्वणवरिउ' गत प्रशस्तिपरसे यह सम्भावना की गयी है कि 'नयनन्दिने माणिक्यनन्दिको महापण्डित घोषित किया है जिससे प्रतीत होता है कि वे न्यायशास्त्र आदिके महाविद्वान् होंगे।' इस सम्भावनाका पुष्ट प्रमाण भी मिल गया है। नयनन्दिने अपभ्रंश में 'सकलविधिविधान' नामक एक ग्रन्थ और बनाया है। उसकी विस्तृत प्रशस्तिमें, जो हालमें पं. परमानन्दजीसे देखनेकी मिली है, नयनन्दिने माणिक्यनन्दिको 'महापण्डित' बतलानेके साथ ही साथ उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाणरूप जलसे भरे, नयरूपी तरंगों से गम्भीर और उत्तम सातभङ्गरूप कल्लोलोंसे उच्छलित जिनशासनरूपी निर्मल महासरोवरमें अवगाहन करनेवाला भी लिखा है। यथा—

'पचक्ख-परोक्खपमाणणीरे, णयतरलतरंगावलिगहीरे।

वरसत्तभंगिकल्लोलमाल, जिणसासणसरिणिम्मलमुसाल ॥

पंडियचूडामणि विबुहचंडु, माणिककण्ठदिउ उप्पण्णु कंडु।'

—सकलविधिविधान प. ६, छन्द १० के बाद।

२. आ. वादिराज—इन्होंने अपना 'पार्श्वनाथचरित' नामका काव्यग्रन्थ शक सं. ९४७, ई. १०२५ में समाप्त किया है। अतः इनका समय ई. १०२५ सुनिश्चित है। ये कवि और तार्किक दोनों थे। न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमाणनिर्णय ये दो तर्कग्रन्थ और पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित ये दो काव्यग्रन्थ तथा एकीभावस्तोत्र आदि इनकी रचनाएँ हैं। इन्होंने आ. विद्यानन्दका पार्श्वनाथचरित और न्यायविनिश्चयविवरण (अन्तिम प्रशस्ति) में स्मरण किया है और उनके तत्त्वार्थालंकार (तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक) तथा देवागमालंकार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'आश्चर्य है विद्यानन्दके इन दीप्तिमान् अलंकारोंको सुननेवालोंके भी अंगोंमें दीप्ति (आभा) आ जाती है—उन्हें धारण करनेवालोंकी तो बात ही क्या है।' न्यायविनिश्चयविवरणमें ये एक जगह लिखते हैं^३ कि यदि गुणचन्द्रमुनि^४ (?),

इससे स्पष्ट है कि नयनन्दको यहाँ महापण्डित माणिक्यनन्दके लिए न्यायशास्त्रका धुरन्धर विद्वान् बतलाना अभीष्ट है और ये माणिक्यनन्द वे ही माणिक्यनन्द होने चाहिए जो प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणप्रतिपादक परीक्षामुखके कर्ता हैं।

पण्डित परमानन्दजीसे 'सुदंशणचरित' की एक दूसरी प्रशस्ति भी प्राप्त हुई है। इस प्रशस्तिमें माणिक्यनन्दकी जो गुरु-परम्परा दी है वह इस प्रकार है—कुन्दकुन्दकी आग्नायमे पद्मनन्द, पद्मनन्दके बाद विष्णुनन्द, विष्णुनन्दके बाद नन्दनन्द, नन्दनन्दके बाद विश्वनन्द और विश्वनन्दके बाद वृषभनन्द हुए। इन वृषभनन्दका शिष्य रामनन्द हुए, जो अशेष ग्रन्थोंके पारगामी थे। इनका शिष्य त्रैलोक्यनन्द हुए, जो गुणोंके आवास थे। इन त्रैलोक्यनन्द के शिष्य ही प्रस्तुतमें 'महापण्डित' माणिक्यनन्द थे, जो सुदर्शनचरितकार नयनन्द (वि. सं. ११००) के गुरु थे और न्यायशास्त्रके बड़े विद्वान् थे।

१. "ऋजुसूत्रं स्फुरद्भूतं विद्यानन्दस्य विस्मयः।

शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरङ्गेषु रङ्गति ॥श्लोक २८॥"

२. "विद्यानन्दमनन्तवीर्यमुखदं श्रीपूज्यपादं दया-

पालं सन्मत्तिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी।

शुद्ध्यन्नीतिनरेन्द्रसेनमकलङ्कं वादिराजं सदा

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥२॥"

३. "देवस्य शासनमतोवगभीरभेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीवदक्षः।

विद्वान्न चेद् सद्गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोजनवद्य चरणः सदनन्तवीर्यः ॥

—न्यायवि. वि. लिखित पत्र ३८२।

४. मालूम नहीं, ये गुणचन्द्रमुनि कौन हैं और उन्होंने अकलङ्कदेवके कौन-से ग्रन्थकी व्याख्यादि की है? शायद यह पद अशुद्ध हो। फिर भी उक्त उल्लेखसे अकलंकके शासनके व्याख्यातारूपमें उन्हें पृथक् व्यक्ति जरूर होना चाहिए। विद्यानन्दने अष्टशतीका अष्टसहस्री द्वारा, अनन्तवीर्यने सिद्धिविनिश्चयका सिद्धिविनिश्चयटीका द्वारा, वादिराजने न्यायविनिश्चयका न्यायविनिश्चयविवरण द्वारा और प्रभाचन्द्रने लघोयस्त्रयका लघोयस्त्रयालंकार (न्यायकुमुदचन्द्र) द्वारा अकलंकदेवके शासन (वाङ्मय) का तात्पर्य स्फोट किया है। प्रभाचन्द्र वादिराजके उत्तरवर्ती हैं और इसलिए 'सद्गुणचन्द्रमुनि' पदसे प्रभाचन्द्रका तो

अनवद्यचरण विद्यानन्द और सज्जन अनन्तवीर्य (रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य) ये तीनों विद्वान् देव (अकलंकदेव) के गम्भीर शासनके तात्पर्यका स्फोट न करते तो उसे कौन समझनेमें समर्थ था ?' प्रकट है कि आ. विद्यानन्दने अकलंकदेवकी अष्टशतीके तात्पर्यको अपनी अष्टसहस्रीद्वारा प्रकट किया है। इससे ज्ञात होता है कि वादिराजसूरि आचार्य विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंसे काफी प्रभावित थे।

३. आ. प्रभाचन्द्र—ये जैनसाहित्यमें तर्कग्रन्थकार प्रभाचन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं। पहले कहा जा चुका है कि ये धारा (मालवा) में रहते थे और राजा भोजदेव तथा जयसिंहदेवके समकालीन हैं। अतः इनका समय ई. १०१० से ई० १०८० अनुमानित है। शिलालेखादिमें इनके पद्मनन्दि सैद्धान्त, चतुर्मुखदेव और माणिक्यनन्दि ये तीन गुरु कहे गये हैं। इन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोजभास्कर, प्रवचनसारसरोजभास्कर, गद्यआराधनाकथाकोष, रत्नकरण्डश्रावकाचारटीका, महाकवि पुष्पदन्तकृत महापुराणका टिप्पण, और समाधितन्त्रटीका आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें गद्यआराधनाकथाकोष स्वतन्त्र कृति है और शेष टीकाकृतियाँ हैं। विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिक, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका इनके प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें सर्वत्र प्रभाव व्याप्त है और उनके स्थल-के-स्थल इनमें पाये जाते हैं। यहाँ हम दोनों आचार्योंके एक-दो ग्रन्थोंके दो स्थलोंको नमूनेके तौरपर नीचे देते हैं :—

‘ननु वादे सतामपि निग्रहस्थानानां निग्रहबुद्ध्योद्भावनभावान्न जिगीषास्ति। तदुक्तं—तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावननियमो लभ्यते तेन सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयोः समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणाथत्वादेव प्रमाणबुद्ध्यया परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्योद्भावन्यन्ते किन्तु निवारणबुद्ध्यया तत्त्वज्ञानायावयवः प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभावे वा तत्त्वज्ञानहेतुरतो न तत्प्रयोगो युक्तः इति तदेतदसंगतं। जल्पवितंडयोरपि तथोद्भावननियमप्रसङ्गात्तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। तस्य छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुमशक्त्वात्। परस्य तूष्णीभावाथं जल्पवितंडयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेन्न, तथा परस्य तूष्णीभावासम्भवादसदुत्तराणामानन्त्यात्।’—तत्त्वार्थश्लो०, पृ. २७९।

‘ननु वादे सतामप्येषां निग्रहबुद्ध्योद्भावनभावान्न विजिगीषास्ति। तदुक्तम्—‘तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावननियमोपलभ्यते।’ [] तेन सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः इति चोत्तरपदयोः समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणाथत्वाद्वादेऽप्रमाणबुद्ध्यया परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि

ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अतः इस पदका वाच्य कोई उनसे पूर्ववर्ती अन्य आचार्य होना चाहिए। परन्तु अब तक जैन साहित्यमें विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र इन चार विद्वानाचार्योंके सिवाय अकलंकके व्याख्यातारूपमें उनसे पूर्व कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। विद्वानोंको इस पदपर विचार करना चाहिए।—सम्पा।

१. यह गद्य बिना संशोधन के दिया गया है।—सम्पा.।

प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्ध्योद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्ध्यः । तत्त्वज्ञानायावयोः प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभासो वा तद्धेतुः । अतो न तत्प्रयोगो युक्त इति । तदप्यसांप्रतम्; जल्पवितण्डयोरपि तथोद्भावननियमप्रसंगात् । तयोस्तत्त्वाध्यवसाय-संरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात् । तस्य च छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्तुं मशक्यत्वात् । परस्य तूष्णीभावार्थं जल्पवितण्डयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेत्, न; तथा परस्य तूष्णी-भावाभावादसदुत्तराणामानन्त्यात् ।—प्रमेयक., पृ. ६४७ ।

‘परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, कामोद्रेकपरतन्त्रवेश्याग्रहपरिग्रह-वच्छोत्रियब्राह्मणवत् । हीनस्थानं हि शरीरं तत्परिग्रहवाञ्छं संसारो प्रसिद्ध एव । कथं पुनः शरीरं हीनस्थानमात्मनः^१ इति, उच्यते; हीनस्थानं शरीरम् आत्मनो दुःखहेतुत्वात्, कस्यचित्काराग्रहवत् । ननु देवशरीरस्य दुःखहेतुत्वाभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेत्, न; तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः पक्षव्यापकत्वव्यवस्थानात् ।’—आप्तपरीक्षा, पृष्ठ ३ ।

‘तथा हि—परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात्, मद्योद्रेकपरतन्त्राशुचिस्थान-परिग्रहवद्विशिष्टपुरुषवत् । हीनस्थानं हि शरीरं आत्मनो दुःखहेतुत्वात्कारागारवत् । तत्परिग्रहवश्च संसारो प्रसिद्ध एव । न च देवशरीरे तदभावात्पक्षाव्याप्तिः, तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः ।’—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ २४३ ।

निःसन्देह प्रभाचन्द्रको विद्यानन्दके ग्रन्थोंका खूब अभ्यास था और वे उनसे पर्याप्त प्रभावित थे । प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथम परिच्छेदके अन्तमें उन्होंने विद्यानन्दका श्लेषरूपमें निम्नप्रकार नामोल्लेख भी किया है :—

‘विद्यानन्द-समन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम् ।’

४. आ. अभयदेव—इन्होंने सिद्धसेनके सन्मतिसूत्रपर तत्त्वबोधिनी नामकी सुविस्तृत टीका लिखी है । इसमें विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । सन्मतिसूत्रटीका (पृष्ठ ७४७, ७४९) में विद्यानन्द-के तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृष्ठ ४६४) गत वस्त्रादिग्रहणको ग्रन्थ और मूर्छाका कार्य बतलाने रूप मतका समालोचन भी किया गया प्रतीत होता है । इनका समय विक्रमकी १०वीं शताब्दीका उत्तरार्ध और ११वींका पूर्वार्ध बतलाया जाता है^१ । परन्तु न्याया-चार्य पं. महेन्द्रकुमारजी इन्हें विक्रमकी ग्यारहवींके उत्तरार्धका विद्वान् माननेमें भी बाधा नहीं समझते^२ । हमारा विचार है कि यदि इनकी सन्मतिसूत्रटीकापर आ. प्रभा-चन्द्रके प्रमेयकमलमार्तण्डका ‘अकल्पित सादृश्य’ है जैसा कि समझा जाता है^३ तो अभयदेवको प्रभाचन्द्र (ई. १०१० से १०८०) का समकालीन अथवा कुछ उत्तरवर्ती होना ही चाहिए । और उस हालतमें आ. अभयदेवका समय विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका अन्तिम पाद और बारहवीं शतीका पूर्वार्ध (वि. सं. १०७५ से ११५०) अनुमानित होता है; क्योंकि पहले हम प्रमाणित कर आये हैं कि आ. प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्तण्ड धारानरेश भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—वि. सं. ११०० से ११०७ (ई. १०४३ से १०५०) के लगभगकी रचना है । पर ये दोनों

१. सन्मतितर्ककी गुजराती प्रस्तावना, पृ. ८३ । २-३ प्रमेयक. मा. की प्रस्ता., पृ. ४६ ।

आचार्य एक-दूसरेके ग्रन्थोंसे अपरिचित प्रतीत होते हैं; क्योंकि इन ग्रन्थोंमें वर्णित केवलिकवलाहार, सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति जैसे साम्प्रदायिक विषयोंके खण्डन-मण्डनमें जो उनकी ओरसे युक्तियां प्रतियुक्तियां दी गयी हैं उनका एक-दूसरेके ग्रन्थोंमें कोई प्रभाव नहीं देख पड़ता। आ. अभयदेवने तो प्रतिमाभूषण जैसे एक और नये साम्प्रदायिक विषयकी चर्चा की है और उसका कट्टर साम्प्रदायिकताको लिए हुए समर्थन भी किया है^१। यदि सन्मतिसूत्रटीकाकार आ. अभयदेव आ. प्रभाचन्द्रके पूर्ववर्ती होते और प्रभाचन्द्रको उनकी सन्मतिसूत्रटीका मिली होती तो वे अभयदेवका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें खण्डन अवश्य करते। कम-से-कम इस नये (प्रतिमाभूषण) साम्प्रदायिक विषयकी तो आलोचना अथवा चर्चा जरूर ही करते। पर प्रभाचन्द्रने न उसकी आलोचना की और न चर्चा ही की है। आ. अभयदेवने भी आ. प्रभाचन्द्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्डगत उक्त विषयोंकी खण्डन-युक्तियों एवं मुद्दोंका कोई जवाब नहीं दिया और न उनका खण्डन ही किया है। यह असम्भव था कि अभयदेवको प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्त्तण्ड मिलता और वे उनके अपने विरुद्ध साम्प्रदायिक मन्तव्योंका खण्डन न करते। अतः प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थकारोंको एक-दूसरेके ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुए। और इसका कारण यह जान पड़ता है कि ये दोनों ग्रन्थकार सम्भवतः समकालीन हैं और उनके ग्रन्थ एक कालमें रचे गये हैं। इन ग्रन्थोंमें उपलब्ध 'अकल्पित सादृश्य' तो अन्य ग्रन्थों—'भट्टजयसिंहराशिका तत्त्वोपप्लवसिंह, व्योमशिवकी व्योमवती, जयन्तकी न्यायमंजरी, शान्तरक्षित और कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह और उसकी पंजिका तथा विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि'—का भी हो सकता है, जैसा कि उक्त पण्डितजी स्वयं स्वीकार भी करते हैं। हमारा कहना सिर्फ इतना और है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्डका सन्मतिसूत्र टीकामें और सन्मतिसूत्रटीकाका प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें कोई ऐसा सादृश्य एवं प्रभाव नहीं देख पड़ता जो उन्हींका अपना हो। अतः सम्भव है ये दोनों आचार्य समकालीन हों।

५. आ. वादिदेवसूरि—ये जैन तार्किकोंमें प्रमुख तार्किक गिने जाते हैं। विक्रम सं. ११४३ (ई. स. १०८६) में इनका जन्म और वि. सं. १२२६ (ई. स. ११६९) में स्वर्गवास कहा जाता है। इन्होंने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामका न्यायसूत्रग्रन्थ और उसपर स्वयं स्याद्वादरत्नाकर नामकी विशाल टीका लिखी है। हम पहले कह आये हैं कि इनका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार आ. माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखा शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है। इसके ६ परिच्छेद तो परीक्षामुखके ६ परिच्छेदोंकी

१. "यद्यपि 'भगवत्प्रतिमाया न भूषा आभरणादिभिर्विधेया' इति स्वाग्रहावष्टब्धचेतो-भिदिगम्बरैरुच्यते तदपि अर्हत्प्रणीतागमापरिज्ञानस्य विज्ञूम्भितमुपलक्ष्यते, तत्करणस्य शुभभावनिमित्ततया कर्मक्षयाऽबन्ध्यकारणत्वात् । तथा हि—भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्यारोपणं कर्मक्षयकारणम्, कर्तुर्मनःप्रसादजनकत्वात् ।..... एवमन्यदपि आगमबाह्यं स्वमनीषिकया परपरिकल्पितमागम-युक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेद्धव्यम्, न्यायदिशः प्रदर्शितत्वात् । तदेवम् अनधीताऽश्रुतयथावदपरिभाषितागमतात्पर्या दिग्वासस इव (एव) आसाक्षां विनोपयन्तीति व्यवस्थितम् ।"—सन्मति. टी., पृ. ७५४-७५५

तरह ही हैं और दो परिच्छेद (नयपरिच्छेद तथा वादपरिच्छेद) परीक्षामुखसे ज्यादा हैं। इस तरह यह ८ परिच्छेदोंका सूत्रग्रन्थ है। सूत्ररचनामें इन्होंने आ. विद्यानन्दके भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंकी सहायता ली है। टीकामें एक जगह विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और विद्यानन्द-महोदयगत धारणालक्षणकी आलोचनाका भी प्रयास किया है^१। आ. विद्यानन्द और अनन्त-वीर्यने अपने पूर्वज अकलंकदेव (लघीय. का. ५ तथा वृत्ति^२) का अनुसरण करते हुए धारणाका लक्षण यह बतलाया है कि जो ज्ञान स्मृतिमें कारण होता है वह धारणा है, इसी धारणाको संस्कार कहते हैं और इस तरह उन्होंने अकलंककी तरह धारणा और संस्कारको पर्यायवाची शब्द बतलाया है। इसपर वादि-देवसूरिने यह आपत्ति की है कि धारणाको स्मृतिका कारण साक्षात् बतलाते हैं अथवा परम्परा? परम्परा कारण बतलानेमें कोई दोष नहीं है। किन्तु साक्षात् कारण बतलानेमें दोष है वह यह कि धारणा प्रत्यक्षरूप ज्ञान है और इसलिए वह स्मृतिकाल तक नहीं ठहर सकता है—वह वस्तुनिर्णयके बाद तुरन्त नष्ट हो जाता है। अतः धारणारूप पर्यायसे परिणत आत्माकी शक्तिविशेष ही, जिसका दूसरा नाम संस्कार है, स्मृतिका साक्षात् कारण है, धारणा नहीं। परन्तु उनकी यह आपत्ति कुछ समझमें नहीं आती; क्योंकि जब वे यह स्वीकार करते हैं कि धारण पर्यायसे परिणत आत्माकी शक्तिविशेष संस्कारसंज्ञक स्मृतिका साक्षात् कारण है तब वे स्वयं भी उस आपत्तिसे मुक्त नहीं रहते। आत्माकी जिस शक्तिविशेषको स्मृतिका कारण मानकर उक्त आपत्तिका वे परिहार

१. “यत्तुविद्यानन्दः प्रत्यपादयत् ।.....स्मृतिहेतुः स धारणा” इति तत्र स्मृतिहेतुत्वं धारणायाः साक्षात्पारम्पर्येण वा विवक्षितम् ।.....ततो धारणारूपपर्यायोपढौकितः पुरुषशक्तिविशेष एव संस्कारपर्यायः स्मृतेरानन्तर्येण हेतुर्न धारणेति । अथ किमिदमसमञ्जसमुच्यते । न खलु संस्कारादन्या धारणाऽस्य मता । तथा चायमेव श्लोकवार्तिके, ‘अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येहितस्य वा । ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव साऽस्ति च ॥१॥’ इत्यत्र संस्कारशब्देन धारणामेवाभ्यधात् । महोदये च ‘कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कार प्रतीयते’ इति वदन् संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचक्षयत् । अनन्तवीर्योऽपि ‘तथानिर्णीतस्य कालान्तरे तथैव स्मरणहेतुसंस्कारो धारणा इति तदेवावदत् ।.....किमेवं वदतोरनयोर्यः स्मृतिकालानुयायी धर्मविशेषः संस्कार इति सर्ववादिनामविवादेन सिद्धः स धारणात्वेन सम्मतः । तथा चेत्, तर्हि यस्य पदार्थस्य कालान्तरे स्मृतिस्सा प्रत्यक्षात्मिका धारणा तावत्कालं यावदनुवर्तते इति स्यात् । एतच्चानुपपन्नम् । एवं तर्हि यावत्पटपदार्थसंस्काररूपं प्रत्यक्षं पुरुषे भवेत्तावत्पदार्थान्तरस्य संवेदनमेव न स्यात् । क्षायोपशमिकोपयोगानां युगपद्भावविरोधस्याभ्यामपि प्रतिपन्नत्वात् ।.....तस्मादात्मशक्तिविशेष एव संस्कारापरपर्यायः स्मृतेरानन्तर्येण हेतुः न धारणा । पारम्पर्येण तु तस्यास्तद्धेतुताभिधाने न किञ्चिद्दूषणम् ।’—स्या. रत्ना., पृ. ३४९-३५० ।

२. “धारणा स्मृतिहेतुस्तन्मतिज्ञानं चतुर्विधम् ।

स्मृतिहेतुर्धारणा संस्कार इति यावत्”—अकलङ्कप्र., पृ. २, ३ ।

करते हैं उस (शक्तिविशेष) का वे संस्कार और धारणा इन शब्दों द्वारा ही कथन करते हैं, इसके अलावा वे उसका कोई निर्वचन नहीं कर सके। इस द्राविड़ी प्राणायामसे तो यही ठीक और संगत है कि धारणा अपरनाम संस्कार स्मृतिका कारण है और यह स्पष्ट है कि आत्मा प्रत्येक पर्यायमें अनुस्यूत रहता है। यह नियम नहीं है कि जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है वह सब तुरन्त नष्ट हो जाता है, क्योंकि अवधि और मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्षात्मक होते हुए भी आत्माका अन्वय रहनेसे नियत स्थिति तक स्थिर रहते हैं। यही बात धारणाकी है। वह अपने कारणभूत ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमविशेषकी अपेक्षासे न्यूनाधिक काल तक आत्मामें बनी रहती है^१। जैनवाङ्मयमें जिसे स्मृतिजनकरूपसे धारणा कहा गया है उसे ही वैशेषिक दर्शनमें^२ स्मृतिजनकरूपसे भावनाख्य संस्कार कहा गया है। 'संस्कार' शब्द दूसरे दर्शनका पारिभाषिक शब्द है और धारणा जैनदर्शनका पारिभाषिक शब्द है उसका सर्वसाधारणपर अर्थ प्रकट करनेके लिए 'संस्कार इति यावत्' जैसे शब्दोंद्वारा उसे उसका पर्यायवाची सूचित किया जाता है। इतनी विशेषता है कि जैनदर्शनमें उसे ज्ञानात्मक बतलाया गया है क्योंकि उसका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। यदि वह ज्ञानात्मक न हो तो ज्ञानात्मक स्मृति आदिको वह उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः वादिदेवसूरिकी आलोचना संगत प्रतीत नहीं होती।

६. हेमचन्द्र—ये व्याकरण, साहित्य, सिद्धान्त, योग और न्यायके प्रखर विद्वान् थे। इन्होंने इन सभी विषयोंपर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। प्रमाणमीमांसा इनकी न्यायविषयक विशद रचना है। इसके सूत्र और उनकी स्वोपज्ञटीका दोनों ही सुन्दर और बोधप्रद हैं। न्यायके प्राथमिक अभ्यासोंके लिए परीक्षामुख और न्यायदीपिकाकी तरह इसका भी अभ्यास उपयोगी है। यह प्रमेयरत्नमालाकी कोटिका न्यायग्रन्थ है। इसमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और प्रमेयरत्नमालाका शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है ही किन्तु साथमें विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि ग्रन्थोंका भी प्रभाव है। ये वि. की १२वीं, १३वीं (वि. सं. ११४५ से वि. सं. १२२९, ई. सन् १०८९ से ई. सन् ११७३) शतीके विद्वान् माने जाते हैं^३।

७. लघुसमन्तभद्र—ये विक्रमकी १३वीं शतीके विद्वान् हैं। इन्होंने विद्यानन्दकी अष्टसहस्रीपर 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्य टीका' लिखी है। टीका बिलकुल साधारण और संक्षिप्त है। यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें विद्यानन्दके पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंके भी उद्धरण हैं। इससे मालूम होता है कि लघुसमन्तभद्र विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंसे काफी प्रभावित थे।

८. अभिनव धर्मभूषण—ये विक्रमकी १५वीं शताब्दी (वि. सं. १४१५ से वि.

१. ज्ञानको अमुक काल तक स्थिर रखना वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषका कार्य है, यह स्पष्ट है।

२. "भावनासंज्ञक (संस्कार) स्त्वात्मगुणो दृष्टश्रुतानुभूतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानहेतुर्भवति.....।"—प्रशस्त. भा., पृ. १३६।

३. प्रमाणमीमांसाकी प्रस्तावना।

४. लेखककी न्यायदीपिकाकी प्रस्तावना।

सं. १४७५, ई. सन् १३५८ से १४१८) के प्रौढ़ विद्वान् हैं। इनकी न्यायविषयक उच्चकोटिकी संक्षिप्त एवं विशद रचना न्यायदीपिका सुप्रसिद्ध है। इसमें धर्मभूषणने अनेक जगह तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि ग्रन्थोंके नामो-ल्लेखपूर्वक उद्धरण दिये हैं, इससे प्रकट है कि अभिनव धर्मभूषण विद्यानन्दके ग्रन्थों-के अच्छे अध्येता थे और वे उनसे प्रभावित थे।

९. उपाध्याय यशोविजय—ये विक्रमकी १८वीं शताब्दीके प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। इन्होंने सिद्धान्त, न्याय, योग आदि विषयोंपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनके ज्ञानबिन्दु, जैनतर्कभाषा ये दो तर्कग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। जैनतर्कभाषामें अभिनव धर्मभूषण यतिकी न्यायदीपिकाका विशेष प्रभाव है। इसके अनेक स्थलोंको उन्होंने उसमें अपनाकर अपनी संग्राहक और उदार बुद्धिको प्रकट किया है। आ. विद्यानन्दके अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंका इन्हें अच्छा अभ्यास ही नहीं था, बल्कि अष्टसहस्रीपर उन्होंने अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण नामकी नव्यन्यायशैलीप्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी है जो वस्तुतः अपने ढंगकी अनोखी है। इससे प्रतीत होता है कि उपाध्याय यशोविजयजी भी विद्यानन्दके ग्रन्थोंसे प्रभावित थे और उनके प्रति उनका विशेष समादर था।

समय

आचार्य विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना समय नहीं दिया। अतः उनके समयपर प्रमाणपूर्वक विचार किया जाता है। न्यायसूत्रपर लिखे गये वात्स्यायनके न्यायभाष्य और न्यायसूत्र तथा न्यायभाष्यपर रचे गये उद्योतकरके न्यायवार्त्तिक, इन तीनोंका तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृष्ठ २०५, २०६, २८३, ३०९) आदिमें नामोल्लेखपूर्वक और बिना नामोल्लेखके भी सुविस्तृत समालोचन किया है। उद्योतकरका समय ६०० ई० माना जाता है। अतः विद्यानन्द ई० सन् ६०० के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

२. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ. १००, ४२७) और अष्टसहस्री (पृ. २८४) आदि ग्रन्थोंमें विद्यानन्दने प्रसिद्ध वैयाकरण एवं शब्दाद्वैतप्रतिष्ठाता भर्तृहरिका नाम लेकर और बिना नाम लिये उनके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थकी अनेक कारिकाओंको उद्धृत करके खण्डन किया है। भर्तृहरिका अस्तित्वसमय ई० सन् ६०० से ई० ६५० तक सुनिर्णीत है^२। अतः विद्यानन्द ई. सन् ६५० के पूर्वकालीन नहीं हैं।

३. जैमिनि, शबर, कुमारिलभट्ट और प्रभाकर इन मीमांसक विद्वानोंके सिद्धान्तोंका विद्यानन्दने नामोल्लेख और बिना नामोल्लेखके अपने प्रायः सभी ग्रन्थोंमें निरसन किया है। कुमारिलभट्ट और प्रभाकरका समय ईसाकी सातवीं शताब्दी (ई. ६२५ से ३८०) है। अतः विद्यानन्द ई. सन् ६८० के पश्चाद्वर्ती हैं।

१. इनका समय प्रायः ईसाकी तीसरी, चौथी शताब्दी माना जाता है।

२. चोनी यात्रो इतिसंगने अपनी भारतयात्राका विवरण ई. सन् ६९१-९२ में लिखा है और उसमें उसने यह समुल्लेख किया है कि 'भर्तृहरिकी मृत्यु हुए ४० वर्ष हो गये'। अतः भर्तृहरिका समय ई. सन् ६५० तक निश्चित है। अकलंकग्र. की प्रस्तावना।

४. कणादके वैशेषिकसूत्र, और वैशेषिकसूत्रपर लिखे गये प्रशस्तपादके^१ प्रशस्त-पादभाष्य तथा प्रशस्तपादभाष्यपर भी रची गयी व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीका-का ग्रन्थकारने प्रस्तुत आसपरीक्षा^२ आदिमें आलोचन किया है। व्योमशिवाचार्यका समय ई. सन्की सातवीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध^३ (ई. ६५० से ७०० तक) बतलाया जाता है^४। अतः विद्यानन्द ई० सन् ७०० के पूर्ववर्ती नहीं हैं।

५. धर्मकीर्त्ति और उनके अनुगामी प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तरका अष्टसहस्री पृ० ८१, १२२, २७८), प्रमाणपरीक्षा (पृ. ५३) आदिमें नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया गया है। धर्मकीर्त्तिका ई. ६२५, प्रज्ञाकरका ई. ७०० और धर्मोत्तरका ई. ७२५ अस्तित्वकाल माना जाता है^५। अतः आ. विद्यानन्द ई. सन् ७२५ के पश्चात्कालीन हैं।

६. अष्टसहस्री (पृ. १८) में मण्डनमिश्रका नामोल्लेखपूर्वक आलोचन किया गया है और श्लोकवार्त्तिक (पृ. ९४) में मण्डनमिश्रके 'ब्रह्मसिद्धि' ग्रन्थके 'आहु-विधातृप्रत्यक्षं' पद्यवाक्यको उद्धृत करके कदर्थन किया गया है। शंकराचार्यके प्रधान शिष्य सुरेश्वरके बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्त्तिक (३-५) से 'यथा विशुद्धमाकाशं' 'तथेदममलं ब्रह्म' ये दो (४३, ४४वें) पद्य अष्टसहस्री (पृ. ९३) में बिना नामोल्लेखके और अष्टसहस्री (पृ. १६१) में 'यदुषत्' बृहदारण्यकवार्त्तिके^६ शब्दोंके उल्लेखपूर्वक उक्त वार्त्तिकग्रन्थसे ही 'आत्मापि सदिदं ब्रह्म', 'आत्मा ब्रह्मेति परोक्ष्य-' ये दो पद्य उद्धृत किये हैं। मण्डनमिश्रका^७ ई. ६७० से ७२० और सुरेश्वरमिश्रका^८ ई. ७८८ से ८२० समय समझा जाता है। अतः आ. विद्यानन्द इनके पूर्ववर्ती नहीं हैं—सुरेश्वरमिश्रके प्रायः समकालीन हैं, जैसा कि आगे सिद्ध किया जायेगा। विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें सुरेश्वरमिश्र (ई. ७८८-८२०) के उत्तरवर्ती किसी भी ग्रन्थकारका खण्डन न होनेसे सुरेश्वरमिश्रका समय विद्यानन्दकी पूर्वावधि समझना चाहिए।

अब हम आ. विद्यानन्दकी उत्तरावधिपर विचार करते हैं :—

१. वादिराजसूरिने अपने पार्श्वनाथचरित (श्लोक २८) और न्यायविनिश्चयविवरण (प्रशस्ति श्लोक २) में आ. विद्यानन्दकी स्तुति की है। वादिराजसूरिका समय ई. सन् १०२५ सुनिश्चित है। अतः विद्यानन्द ई. सन् १०२५ के पूर्ववर्ती हैं—पश्चाद्वर्ती नहीं।

१. ये ईसाकी चौथी शतीके विद्वान् माने जाते हैं।

२. पृ. २४, २५ में व्योमवती, पृ. १४९ के 'द्रव्यत्वोपलक्षित समवायको द्रव्यलक्षण' माननेके विचारका खंडन किया गया है। तथा इसी ग्रन्थ के पृ. १०६, १०७ पर व्योमवती, पृ. १०७ से समवायलक्षणका समस्त पदकृत्य दिया गया है।

३. प्रमेयक. मा. प्रस्ता., पृ. १३।

४. वादन्यायका परिशष्ट नं. १।

५. बृहती द्वितीय भागकी प्रस्ता.।

६. गोपीनाथकविराज—'अच्युत' वर्ष ३, अङ्क ४, पृ. २५-२६।

७. न्यायविनिश्चयविवरणके मध्यमें भी वादिराजसूरिने विद्यानन्दका स्मरण किया है, इसी प्रस्तावनाके पृ. ३४ का फुटनोट।

२. प्रशस्तपादभाष्यपर क्रमशः चार प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी गयी हैं—पहली व्योमशिवकी व्योमवती, दूसरी श्रीधरकी न्यायकन्दली, तीसरी उदयनकी किरणावली और चौथी श्रीवत्साचार्यकी न्यायलीलावती। आ. विद्यानन्दने इन चार टीकाओंमें पहली व्योमशिवकी व्योमवती टीकाका तो निरसन किया है, परन्तु अन्तिम तीन टीकाओंका उन्होंने निरसन नहीं किया। श्रीधरने अपनी न्यायकन्दली टीका शक-सं. ९१३, ई. सन् ९९१ में बनायी है^१। अतः श्रीधरका समय ई. सन् ९९१ है और उदयनने अपनी लक्षणावली शकसं. ९०६ ई. सन् ९८४ में समाप्त की है^२। इसलिये उदयनका समय ई. सन् ९८४ है अतएव विद्यानन्द ई. सन् ९८४ के बादके नहीं हैं।

३. उद्योतकर (ई. ६००) के न्यायवार्तिकपर वाचस्पति मिश्र (ई. ८४१) ने तात्पर्यटीका लिखी है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. २०६, २८३, २८४ आदि) में न्यायभाष्यकार और न्यायवार्तिककारका तो दशों जगह नामोल्लेख करके खण्डन किया है, परन्तु तात्पर्यटीकाकारके किसी भी पदवाक्यादिका कहीं भी खण्डन नहीं किया। हाँ, एक जगह (तत्त्वार्थश्लोक. पृ. २०६ में) 'न्यायवार्तिकटीकाकार' के नामसे उनके व्याख्यानका प्रत्याख्यान हो जानेका उल्लेख जरूर मिलता है और जिसपरसे मुझे यह भ्रान्ति^३ हुई थी कि विद्यानन्दने वाचस्पति मिश्रकी तात्पर्यटीकाका भी खण्डन किया है। परन्तु उक्त उल्लेखपर जब मैंने गहराई और सूक्ष्मतासे एक-से अधिक बार विचार किया और ग्रन्थोंके सन्दर्भोंका बारीकीसे मिलान किया तो मुझे वह उल्लेख अभ्रान्त प्रतीत नहीं हुआ। वह उल्लेख निम्न प्रकार है :—

‘तदनेन न्यायवार्तिकटीकाकारव्याख्यानमनुमानसूत्रस्य त्रिसूत्रीकरणेन प्रत्याख्यातं प्रतिपत्तव्यमिति, लिङ्गलक्षणानामन्वयित्वादीनां त्रयेण पक्षधर्मत्वादीनामिव न प्रयोजनम् ।’

इस उल्लेखमें ‘टीका’ शब्द अधिक है और वह लेखककी भूलसे ज्यादा लिखा गया जान पड़ता है—ग्रन्थकारका स्वयंका दिया हुआ वह प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यदि ग्रन्थकारको ‘टीका’ शब्दके प्रदानसे वाचस्पतिमिश्रकी तात्पर्यटीका विवक्षित हो तो उनका आगेका हेतुरूप कथन संगत नहीं बैठता। कारण, अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन हेतुओंका कथन पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षादव्यावृत्ति इन तीन हेतुओंके कथनकी तरह न्यायवार्तिककार उद्योतकरका अपना मत है—उद्योतकरने ही ‘पूर्वच्छेषवत्’ आदि अनुमानसूत्रका त्रिसूत्रीकरणरूपसे व्याख्यान किया है अर्थात् उन्होंने उक्त अनुमानसूत्रके तीन व्याख्यान प्रदर्शित किये हैं,^४ तात्पर्यटीका-

१. ‘अधिकदशोत्तरनवशतशाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता श्रीपाण्डुदासयाचित-भट्ट-श्री-श्रीधरेण्यम् ॥’—न्यायकन्द. ।

२. न्यायदीपिका प्रस्ता., पृ. ६९ ।

३. ‘विद्यानन्दका समय’ अनेकान्त वर्ष ६, किरण ६-७ ।

४. यथा—(क) ‘त्रिविधमिति । अन्वयी व्यतिरेकी अन्वयव्यतिरेकी च । तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः, यथा अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्म-दादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वात्, घटवदिति ।.....’—पृष्ठ ४६ ।

कार वाचस्पति मिश्रने नहीं, बल्कि वाचस्पति मिश्र स्वयं उन व्याख्यानोको उद्योतकरका मत बतलाते हैं^१। विद्यानन्दने दो-एक जगह^२ और भी 'पूर्ववत्' आदि अनुमानसूत्रके त्रिसूत्रीकरणरूप व्याख्यानका उल्लेख किया है और उसका समालोचन किया है। उसपरसे भी विद्यानन्दको न्यायवार्त्तिककारका ही मत-निरसन-अभिप्रेत मालूम होता है। अतः उक्त उल्लेखमें ग्रन्थकारके द्वारा दिया गया 'टीका'शब्द नहीं होना चाहिए—प्रतिलेखके द्वारा ही वह भ्रान्तिसे अधिक लिखा गया जान पड़ता है। प्रतिलेखक न्यूनाधिक लिख जाना जैसी भूलें बहुधा कर जाते हैं।

अथवा ग्रन्थकारका भी यदि दिया हुआ 'टीका' शब्द हो तो उससे उन्हें तात्पर्यटीका विवक्षित रही हो, सो बात नहीं मालूम होती; क्योंकि उनके उत्तरग्रन्थका सम्बन्ध न्यायवार्त्तिकसे ही है—तात्पर्यटीकासे नहीं। अतः 'न्यायवार्त्तिकटीका' शब्दका 'न्यायवार्त्तिककी टीका' ऐसा अर्थ न करके 'न्यायवार्त्तिकरूप टीका' ऐसा अर्थ करना चाहिए, क्योंकि न्यायवार्त्तिक भी न्यायसूत्र और न्यायभाष्यकी टीका (व्याख्या) है। इस तरह कोई असंगति अथवा असम्बद्धता नहीं रहती। अतएव विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें वाचस्पति मिश्रका खण्डन न होनेसे वे उनके पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। वाचस्पति मिश्रका समय ई. सन् ८४१ निश्चित है। अतः विद्यानन्दकी उत्तरावधि ई. सन् ८४० होना चाहिए। वाचस्पति मिश्रके समकालीन न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट भी हुए हैं। उनका भी विद्यानन्दके ग्रन्थोंमें कोई समालोचन उपलब्ध नहीं होता। यदि विद्यानन्द उनके उत्तरकालीन होते तो वे न्यायदर्शनके इन (वाचस्पतिमिश्र और जयन्तभट्ट जैसे प्रमुख) विद्वानोंका भी प्रभावचन्द्रकी तरह आलोचन करते।

इस तरह पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंके समालोचन और उत्तरवर्ती ग्रन्थकर्ताओंके असमालोचनके आधारसे विद्यानन्दका समय ई. सन् ७७५ से ई. सन् ८४० निर्धारित होता है।

इस समयकी पुष्टि दूसरे अन्य प्रमाणोंसे भी होती है और जो इस प्रकार हैं :—

१. सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलंकदेवकी अष्टशतीपर विद्यानन्दने अष्टसहस्री टीका लिखी है। यद्यपि यह टीका आत्ममीमांसापर रची गयी है तथापि विद्यानन्दने अष्टसहस्री में अकलंकदेवकी अष्टशतीको आत्मसात् करके उसके प्रत्येक पदवाक्यादिका व्याख्यान किया है। अकलंकदेवके ग्रन्थवाक्योंका व्याख्यान करनेवाले सर्व प्रथम व्यक्ति आ. विद्यानन्द हैं। विद्यानन्दकी अकलंकदेवके प्रति अगाध श्रद्धा थी और वे उन्हें अपना आदर्श मानते थे। इसपरसे डा. सतीशचन्द्र विद्याभूषण, म. म. गोपीनाथ

(ख) 'अथवा त्रिविधमिति । लिङ्गस्य प्रसिद्ध-सदसन्दिग्धतामाह । प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकम्, सदिति सजातीयोऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि ।'—पृ. ४९ ।

(ग) 'अथवा त्रिविधमिति नियमार्थम्, अनेकषा भिन्नस्यानुमानस्य त्रिविधेन पूर्ववदादिना संग्रह इति नियमं दर्शयति ।'—पृष्ठ ४९ ।

१. यथा—'तदेवं स्वमतेन सूत्रं व्याख्याय भाष्यकृन्मतेन व्याचष्टे ।'—पृ. १७४, 'स्वमतेन व्याख्यान्तरमाह अथवा'—पृ. १७८, 'त्रिविधपदस्य तात्पर्यान्तरमाह अथवेति ।'

—पृ. १७९ ।

२. तत्त्वार्थश्लो., पृष्ठ २०५, प्रमाणपरी., पृष्ठ ७५ ।

कविराज जैसे कुछ विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है कि अकलंकदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु थे। परन्तु ऐतिहासिक अनुसन्धानसे प्रकट है कि अकलंकदेव अष्टसहस्रीकारके गुरु नहीं थे और न अष्टसहस्रीकारने उन्हें अपना गुरु बतलाया है। पर हाँ, इतना जरूर है कि वे अकलंकदेवके पद-चिह्नोंपर चले हैं और उनके द्वारा प्रदर्शित दिशापर जैनन्यायको उन्होंने सम्पुष्ट और समृद्ध किया है। अकलंकदेवका समय श्रीयुत पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने विभिन्न विप्रतिपत्तियोंके निरसनपूर्वक अनेक प्रमाणोंसे ई. सन् ६२० से ६८० निर्णीत किया है।^१ अतः विद्यानन्द ई. सन् ६८० के उत्तरवर्ती हैं, यह निश्चित है।

२. अष्टसहस्रीको अन्तिम प्रशस्तिमें विद्यानन्दने दो पद्य दिये हैं^३। दूसरे पद्यमें उन्होंने अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमानार्थ बतलाया है अर्थात् कुमारसेन नामके पूर्ववर्ती विद्वानाचार्यके सम्भवतः आसमीमांसापर लिखे गये किसी महत्त्वपूर्ण विवरणसे अष्टसहस्रीके अर्थको प्रवृद्ध किया प्रकट किया है। विद्यानन्दके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि वे कुमारसेनके उत्तरकालीन हैं। कुमारसेनका समय ई. सन् ७८३ के कुछ वर्ष पूर्व माना जाता है^४। क्योंकि शकसं. ७०५, ई. सन् ७८३ में अपने हरिवंशपुराणको बनानेवाले पुन्नाटसंधी द्वितीय जिनसेनने इनका स्मरण किया है^५। अतः विद्यानन्द ई. सन् ७५० (कुमारसेनके अनुमानित समय) के बाद हुए हैं।

३. चूँकि विद्यानन्दसे सुपरिचित कुमारसेनका हरिवंशपुराणकार (ई. ७८३) ने स्मरण किया है, किन्तु आ. विद्यानन्दका उन्होंने स्मरण नहीं किया, इससे प्रतीत होता है कि उस समय कुमारसेन तो यशस्वी वृद्ध ग्रन्थकार रहे होंगे और उनका यश सर्वत्र फैल रहा होगा। परन्तु विद्यानन्द उस समय बाल होंगे तथा वे ग्रन्थकार नहीं बन सके होंगे। अतः इससे भी विद्यानन्दका उपर्युक्त निर्धारित समय—ई. सन् ७७५ से ई. सन् ८४०—प्रमाणित होता है।

४. आ. विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकके अन्तमें प्रशस्तिरूपमें एक उल्लेखनीय निम्न पद्य दिया है—

१. अच्युत (मासिक पत्र, पृष्ठ २८) वर्ष ३, अंक ४।

२. न्यायकुमुद प्र. भा. प्रस्तावना।

३. “श्रीमदकलङ्कशशधरकुलविद्यानन्दसम्भवा भूयात्।

गुरुमीमांसाङ्कुरिष्ठसहस्री सतामृद्ध्यै ॥१॥

कष्ट-सहस्री सिद्धा साऽष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।

शश्वदभीष्ट-सहस्रीं कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥२॥”

इन दो पद्योंके मध्यमें जो कनडी पद्य मुद्रित अष्टसहस्रीमें पाया जाता है वह अनावश्यक और असंगत प्रतीत होता है और इसलिए वह अष्टसहस्रीकारका पद्य मालूम नहीं होता।—सम्पा.।

४. न्यायकुमुद प्र. प्र., पृष्ठ ११३।

५. ‘आकूपारं यशो लोके प्रभाचन्द्रोदयोऽज्ज्वलम्। गुरोः कुमारसेनस्य विचरत्यजितात्मकम् ॥’

—हरिवंश १-३८।

६. ‘गुरोः कुमारसेनस्य यशो अजितात्मकं विचरति’ शब्दोंसे भी यही प्रतीत होता है।

‘जीयात्सज्जनताऽऽश्रयः शिव-मुधा धारावधान-प्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र-प्रतापान्वितः ।
प्रोर्ज्ज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल-मल-प्रज्वालन-प्रक्षमः ॥’

इस प्रशस्तिपद्यमें विद्यानन्दने ‘शिव-मार्ग’—मोक्षमार्गका जयकार तो किया ही है किन्तु जान पड़ता है उन्होंने अपने समयके गंगनरेश शिवमार द्वितीयका भी जयकार एवं यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गंगवंशी श्रीपुरुष नरेशका उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था, जो ई. सन् ८१० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था। इसने श्रवणबेलगोलकी छोटी पहाड़ीपर एक वसति बनवायी थी, जिसका नाम ‘शिवमारनवसति’ था। चन्द्रनाथस्वामीवसतिके निकट एक चट्टानपर कनडीमें मात्र इतना लेख अंकित है—‘शिवमारनवसति’^१। इस अभिलेखका समय भाषा-लिपि-विज्ञानकी दृष्टिसे लगभग ८१० ई. माना जाता है^२। राइस सा. का कथन है^३ कि इस नरेशने कुम्मडवाडमें भी एक वसति निर्माण करायी थी। इससे ज्ञात होता है कि शिवमार द्वितीय अपने पिता श्रीपुरुषकी तरह ही जैनधर्मका उत्कट समर्थक एवं प्रभावक था। अतः अधिक सम्भव है कि विद्यानन्दने अपने श्लोकवार्तिककी रचना इसी शिवमार द्वितीय गंगनरेशके राज्यकालमें की होगी और इसलिए उन्होंने अपने समयके इस राजाका ‘शिव-मुधा-धारावधान-प्रभुः’ शब्दों द्वारा उल्लेख किया है तथा ‘सज्जनताऽऽश्रयः’, ‘तीव्रप्रतापान्वितः’ आदि पदों द्वारा उसके गुणोंका वर्णन किया है। उक्त पद्य अन्तिम प्रशस्तिरूप है, इसलिए उसमें ग्रन्थकार द्वारा अपना समय सूचित करनेके लिए तत्कालीन राजाका नाम देना उचित ही है। यद्यपि उक्त पद्यमें ‘शिवमार’ राजाका पूरा नाम नहीं है—केवल ‘शिव’ पदका ही प्रयोग है तथापि नामैकदेशग्रहणसे भी पूरे नामका ग्रहण कर लिया जाता है, जैसे पार्श्वसे पार्श्वनाथ, रामसे रामचन्द्र आदि। दूसरे, ‘शिव’ के आगे ‘प्रभु’ पद भी दिया हुआ है, जो राजाका भी प्रकारान्तरसे बोधक है। तीसरे, ‘तीव्रप्रतापान्वितः’ आदि पदप्रयोगोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वहाँ ग्रन्थकारको अपने समयके राजाका उल्लेख करना अभीष्ट है और इसलिए ‘शिवप्रभु’, ‘शिवमारप्रभु’ एक ही बात है।

डफ सा. ने भी विद्यानन्दका समय ई. सन् ८१० बतलाया है^४। सम्भव है उन्होंने श्लोकवार्तिकके इस प्रशस्तिपद्यपरसे, जिसमें शिवमारका उल्लेख सम्भाव्य है, विद्यानन्दका उक्त समय बतलाया हो। क्योंकि गंगवंशी शिवमार नरेशका समय ई. ८१० के लगभग माना जाता है जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

इस शिवमारका भतीजा और विजयादित्यका लड़का राचमल्ल सत्यवाक्य

१. शि. नं. २५६ (४१५) ।

२. मेडिवल जैनज्म, पृष्ठ २४, २५ ।

३. मैसूर और कुर्ग, पृष्ठ ४१ ।

४. जैन सि. भा., वर्ष ३, किरण ३ गत बा. कामताप्रसादजीका लेख ।

प्रथम^१ शिवमारके राज्यका उत्तराधिकारी हुआ था तथा ई. सन् ८१६ के आसपास राजगद्दीपर बैठा था। विद्यानन्दने अपने उत्तर ग्रन्थोंमें 'सत्यवाक्य' के नामसे इसका भी उल्लेख किया प्रतीत होता है। यथा—

(क) स्थेयाज्जातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिल-दुर्नय-द्विषदिभिः सन्नोति-सामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमारगमथनोऽर्हन् वीरनाथः श्रिये,
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥१॥

×

×

×

(ख) प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानु-
विद्यानन्दबुधैरलङ्कृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥२॥

—युक्त्यनुशासनालंकार-प्रशस्ति।

(ग) जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः। सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा
जिनेश्वराः। —प्रमाणपरीक्षा मंगलपद्य।

(घ) विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै।

—आप्तपरी. श्लो. १२३।

विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालंकारके प्रशस्ति-उल्लेखोंपरसे बा. कामताप्रसादजी भी यही लिखते हैं^२। इससे मालूम होता है कि विद्यानन्द गंग-नरेश शिवमार द्वितीय (ई. ८१०) और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई. ८१६) के समकालीन हैं। और उन्होंने अपनी कृतियाँ प्रायः इन्हींके राज्य-समयमें बनायी हैं। विद्यानन्द-महोदय और तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक तो शिवमार द्वितीयके और आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा तथा युक्त्यनुशासनालङ्कृति ये तीन कृतियाँ राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई. ८१६-८३०) के राज्य-कालमें बनी जान पड़ती हैं। अष्टसहस्री, जो श्लोकवार्त्तिकके बादकी और आप्तपरीक्षा आदिके पूर्वकी रचना है, करीब ई. ८१०-८१५ में रची गयी प्रतीत होती है। तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुरपाश्वर्नाथस्तोत्र और सत्यशासनपरीक्षा ये तीन रचनाएँ ई. सन् ८३०-८४० में रची ज्ञात होती हैं। इससे भी आ. विद्यानन्दका समय पूर्वोक्त ई. सन् ७७५ से ई. सन् ८४० प्रमाणित होता है।

यहाँ एक खास बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि शिवमारके पूर्वाधिकारी पश्चिमी गंगवंशी राजा श्रीपुरुषका शकसं. ६९८, ई. सन् ७७६ का लिखा हुआ एक दानपत्र मिला है जिसमें उसके द्वारा श्रीपुरके जैन मन्दिरके लिए दान दिये

१. गंगवंशमें होनेवाले कुछ राजाओं की 'सत्यवाक्य' उपाधि थी। इस उपाधिको धारण करनेवाले चार राजा हुए हैं—प्रथम सत्यवाक्य ई. सन् ८१५ के बाद, द्वितीय सत्यवाक्य ई. सन् ८७० से ९०७, तृतीय सत्यवाक्य ई. ९२० और चौथे सत्यवाक्य ई. ९७७। यह मुझे बा. ज्योतिप्रसादजी एम. ए. एल-एल. बी. ने बतलाया है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

२. जैन सिद्धान्तभास्कर भाग ३, किरण ३।

जानेका उल्लेख है^१। यह श्रीपुरका जैनमन्दिर सम्भवतः वही प्रसिद्ध जैनमन्दिर है जहाँ भगवान् पार्श्वनाथकी अतिशयपूर्ण प्रतिमा अधर रहती थी और जिसे लक्ष्य करके ही विद्यानन्दने श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र रचा था। श्रीपुरुषका राज्य-समय ई. सन् ७२६ से ई. सन् ७७६ तक बतलाया जाता है^२। विद्यानन्दने अपनी रचनाओंमें श्रीपुरुष राजा (शिवमारके पिता एवं पूर्वाधिकारी) का उत्तरवर्ती राजाओं (शिवमार द्वि., उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम और इसके पिता विजयादित्य) की तरह कोई उल्लेख नहीं किया। इससे यह महत्वपूर्ण बात प्रकट होती है कि श्रीपुरुषके राज्य-काल (ई. सन् ७२६ ई. ७७६) में विद्यानन्द ग्रन्थकार नहीं बन सके होंगे और यदि यह भी कहा जाय कि वे उस समय कुमारावस्थाको भी प्राप्त नहीं हो सके होंगे तो कोई आश्चर्य नहीं है। अतः इन सब प्रमाणोंसे आचार्य विद्यानन्दका समय ई. सन् ७७५ से ई. सन् ८४० निर्णीत होता है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जिस प्रकार हरिवंशपुराणकार जिनसेन द्वितीय (ई. ७८३) ने अपने समकालीन वीरसेनस्वामी (ई. ८१६) और जिनसेन स्वामी प्रथम (ई. ८३७) का स्मरण किया है उसी प्रकार इन आचार्योंने अपने समकालीन आचार्य विद्यानन्द (ई. ७७५-८४०) का स्मरण अथवा उनके ग्रन्थ-वाक्योंका उल्लेख क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है इन आचार्योंकी वृद्धावस्थाके समय ही आ. विद्यानन्दका ग्रन्थ-रचनाकार्य प्रारम्भ हुआ जान पड़ता है और इसलिए विद्यानन्द उनके द्वारा स्मृत नहीं हुए और न उनके ग्रन्थवाक्योंके उन्होंने उल्लेख किये हैं। इसके अतिरिक्त एक-दूसरेकी कार्यप्रवृत्तिसे अपरिचित होना अथवा ग्रन्थकाररूपसे प्रसिद्ध न हो पाना भी अनुल्लेखमें कारण सम्भव है। अस्तु।

आचार्य विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र

ऊपर यह कहा जा चुका है कि विद्यानन्दने अपनी ग्रन्थ-रचना गंगनरेश शिवमार द्वितीय और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथमके राज्य-समयमें की है। अतः आ. विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र मुख्यतः गंगवंशका गंगवाडि प्रदेश रहा मालूम होता है। गंगराजाओंका राज्य मैसूर प्रान्तमें था। वर्तमान मैसूरका बहुभाग उनके राज्यके अन्तर्गत था और जिसे ही गंगवाडि कहा जाता था। कहते हैं कि 'मैसूरमें जो आज-कल गंगडिकार (गंगवाडिकार) नामक किसानोंकी भारी जनसंख्या है वे गंगनरेशोंकी प्रजाके ही वंशज हैं'^३। और इसलिए यह प्रदेश उस समय 'गंगवाडि' के नामसे प्रसिद्ध था। गंगराजाओंका राज्य लगभग ईसाकी चौथी शताब्दीसे ग्यारहवीं शताब्दी तक रहा है। आठवीं शताब्दीमें श्रीपुरुषके राज्यकालमें गंगराज्य अपनी चरम उन्नतिको प्राप्त था। शिलालेखों और दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि इस राज्यके साथ

१. Guerinot no. 121. अथवा, जैन सि. भा. ४, किरण ३, पृष्ठ १५८ का ८ नं. का उद्धरण।

२. श्री उद्योतिप्रसाद जैन एम. ए. का लेख Gain Anti Quarry. VolXII, N. I. जुलाई १९४६।

३. डॉ. होरालाल एम. ए. द्वारा सम्पादित—जैनशिलालेख सं. प्र., पृ. ७१।

जैनधर्मका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनन्दिने इस राज्यकी स्थापनामें भारी सहायता की थी। पूज्यपाद देवनन्दि आचार्य इसी गंगराज्यके राजा दुर्विनीत (लगभग ई. ५००) के राजगुरु थे। आश्चर्य नहीं, ऐसे जैनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्यमें विद्यानन्दने अनेकों बार विहार किया हो और निर्विघ्नताके साथ वहाँ रहकर अपने विशाल ग्रन्थोंका प्रणयन किया हो। अतः आ. विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र गंगवाडि प्रदेश (आधुनिक मैसूरका बहुभाग) समझना चाहिए।

आ. विद्यानन्दकी कृतियाँ

आ. विद्यानन्दकी दो तरहकी कृतियाँ हैं—१. टीकात्मक और २. स्वतन्त्र।
टीकात्मक कृतियाँ निम्न हैं :—

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (सभाष्य), २. अष्टसहस्री-देवागमालंकार और ३. युक्त्यनुशासनालंकार।

स्वतन्त्र कृतियाँ ये हैं :—

१. विद्यानन्दमहोदय, २. आप्तपरीक्षा, ३. प्रमाणपरीक्षा, ४. पत्रपरीक्षा, ५. सत्यशासनपरीक्षा और ६. श्रीपुरपाश्वर्नाथस्तोत्र। इस तरह विद्यानन्दकी ये ९ कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनका परिचय नीचे दिया जाता है। इनमें आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाका हमने सम्पादन किया है। इनकी विस्तृत प्रस्तावनाओंमें इन दोनों ग्रन्थोंका विशेष परिचय दिया है। अतएव यहाँ दोनोंका अलग परिचय दिया गया है।

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और भाष्य—आ. गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध 'तत्त्वार्थसूत्र' पर कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्त्तिक और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्त्तिककी तरह विद्यानन्दने पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक रचा है और उसके पद्यवार्त्तिकोंपर उन्होंने स्वयं गद्यमें भाष्य अथवा व्याख्यान लिखा है। यह भाष्य तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकभाष्य, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकव्याख्यान, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार और श्लोकवार्त्तिकभाष्य इन नामोंसे कथित होता है। जैनदर्शनके प्राणभूत ग्रन्थोंमें यह प्रथम कोटिका ग्रन्थरत्न है। विद्यानन्दने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध इतर तार्किकोंके जैनदर्शनपर किये गये आक्षेपोंका सबल जवाब ही नहीं दिया, किन्तु जैनदर्शनका मस्तक भी उन्नत किया है। हमें तो भारतीय दर्शन साहित्यमें ऐसा एक भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जो श्लोकवार्त्तिककी समता कर सके। श्लोकवार्त्तिककी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कितनी ही चर्चाएँ अपूर्व हैं। यह ग्रन्थ सेठ रामचन्द्र नाथारंगजी द्वारा कोई २९ वर्ष पूर्व १९१८ में एक बार प्रकाशित हो चुका है। परन्तु अब वह अलभ्य है। दूसरे, वह बहुत ही अशुद्ध एवं त्रुटिपूर्ण छपा है। अतः इस ग्रन्थका शुद्ध एवं सुन्दर दूसरा संस्करण निकलना आवश्यक है।

२. अष्टसहस्री-देवागमालंकार—यह स्वामी समन्तभद्रविरचित 'आप्तमीमांसा' अपरनाम 'देवागम' पर लिखी गयी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीका है। इसमें अकलंक-देवके 'देवागम' पर ही रचे गये दुरूह और दुरवगाह 'अष्टशती-विवरण' (देवागम-भाष्य) को अन्तःप्रविष्ट करते हुए देवागमकी प्रत्येक कारिकाका व्याख्यान किया

गया है। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अष्टशतीको इस प्रकार आत्मसात् कर लिया है कि यदि उसे भेदनिदर्शक अलग टाइपमें न रखा जाय तो पाठक यह नहीं जान सकता कि यह अष्टशतीका अंश है और यह अष्टसहस्रीका। उन्होंने अपनी आगे-पीछे और मध्यकी सान्दर्भिक वाक्यरचनाद्वारा अष्टशतीको अनुस्यूत करके न केवल अपनी प्रतिभाका आश्चर्यजनक चमत्कार दिखाया है अपितु उसके गूढ़ रहस्यको भी अभिव्यक्त किया है। वास्तवमें यदि विद्यानन्द अष्टसहस्री न बनाते तो अष्टशतीका गूढ़ रहस्य उसमें ही छिपा रहता, क्योंकि अष्टशतीका प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक स्थल इतना दुरूह और जटिल है कि साधारण विद्वानोंकी तो उसमें गति ही नहीं हो सकती। अष्टसहस्रीको विद्यानन्दने जो 'कष्टसहस्री' कहा है वह इस अष्टशतीकी मुख्यतासे ही कहा है। यदि किसी तरह उसके पदवाक्यादिका ऊपरी अर्थ लगा भी लिया जाय तो भी उसके हार्दको समझना अत्यन्त कठिन है। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अपनी तलस्पर्शिनी सूक्ष्म बुद्धिसे उसके प्रत्येक पदवाक्यादिका विशद अर्थ खोला है और अकलंकदेवके हार्दको प्रकट किया है। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानके अलावा अष्टसहस्रीमें कितना ही नया विचार और विस्तृत चर्चाएँ भी उपस्थित की गयी हैं। विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके बारेमें लिखा है^१ कि 'हजार शास्त्रोंको सुननेसे क्या, अकेली इस अष्टसहस्रीको सुन लीजिए, उसीसे ही समस्त सिद्धान्तोंका ज्ञान हो जायेगा।' वस्तुतः विद्यानन्दका यह लिखना न अतिशयोक्तिपूर्ण है और न गर्वोक्तियुक्त है। अष्टसहस्री स्वयं ही इस बातकी साक्षी है। यह श्लोकवार्तिककी तुलनाका ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। चूँकि देवागममें दश परिच्छेद हैं, इसलिए उसकी टीका अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका प्रारम्भ और समाप्ति एक-एक सुन्दर पद्यद्वारा किये गये हैं। इसपर लघुसमन्तभद्र (वि. की १३वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका' और श्री यशोविजय (वि० की १७वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं। यह अष्टसहस्री सेठ नाथारंगजी गान्धीद्वारा कोई ३२ वर्ष पूर्व सन् १९१५ में एक बार मुद्रित हो चुकी है किन्तु अब वह अप्राप्य है। इसका भी दूसरा संस्करण निकालना चाहिए। श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री दोनों पाठ्यक्रममें भी निहित हैं।

३. युक्त्यनुशासनालंकार—आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकी बेजोड़ दूसरी रचना 'युक्त्यनुशासन' है। यह एक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर स्तोत्रग्रन्थ है। इसकी रचना उन्होंने आप्तमीमांसाके बाद की है।^२ आप्तमीमांसामें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरकी परीक्षा की गयी है और परीक्षाके बाद उनके आप्तसिद्ध हो जानेपर इस (युक्त्यनुशासन) में उनकी गुणस्तुति की गयी है। इसमें कुल पद्य केवल ६४ ही हैं, परन्तु एक-एक पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येकके व्याख्यानमें एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा जाना योग्य है। आ. विद्यानन्दने इस स्तोत्रग्रन्थको

१. अष्टसहस्री प्रशस्ति, पद्य नं. २।

२. 'श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।

विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥'—अष्टस., पृ. १५७।

३. प्रथम पद्यकी टीका, युक्त्यनुशा., पृ. १।

अपने 'युक्त्यनुशासनालंकार' नामक सुविशद व्याख्यानसे अलंकृत किया है। यह 'युक्त्यनुशासनालंकार' उनका मध्यम परिमाणका टीकाग्रन्थ है—न ज्यादा बड़ा है और न ज्यादा लघु है। इसे उन्होंने आपपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाके बाद रचा है क्योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं^१। यह टीका मूल ग्रन्थके साथ कोई २७ वर्ष पूर्व वि. सं. १९७७ में 'माणिकचन्द्र-दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला' से एक बार प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु अब यह भी अप्राप्य है। यह अशुद्ध भी काफी छपी हुई है। अतः इसका पुनः प्रकाशन आवश्यक है।

अब विद्यानन्दके मौलिक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका परिचय दिया जाता है—

१. विद्यानन्दमहोदय—यह आ. विद्यानन्दकी सर्व प्रथम रचना है।^२ इसके बाद ही उन्होंने श्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ बनाये हैं। श्लोकवार्त्तिक आदिमें उन्होंने अनेक जगह इस ग्रन्थके उल्लेख किये हैं और विस्तारसे उसमें जानने एवं प्ररूपण करनेकी सूचनाएँ की हैं।^३ इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ श्लोकवार्त्तिकसे भी विशाल और महत्त्वपूर्ण होगा। आज यह अनुपलब्ध है। मालूम नहीं, यह ग्रन्थ नष्ट हो चुका है अथवा किसी शास्त्रभण्डारमें दीमकोंका भक्ष्य बना हुआ अपने जीवनकी अन्तिम घड़ियाँ बिता रहा है? यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी शास्त्रभण्डारमें अभी विद्यमान है तो अन्वेषकोंको इस महत्त्वके ग्रन्थरत्नका शीघ्र पता लगाना चाहिए। सम्भव है अकलंकदेवके 'प्रमाणसंग्रह' की तरह यह ग्रन्थ भी किसी जैन अथवा जेनेतर लायब्रेरीमें मिल जाय। विक्रमकी १३वीं शताब्दी तक इसका पता चलता है। आ. विद्यानन्दने तो अपने उत्तरवर्ती प्रायः सभी ग्रन्थोंमें इसके उल्लेख किये हैं। किन्तु उनके तीन-चार सौ वर्ष बाद होनेवाले देवसूरिने भी अपनी विशाल टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसका नामोल्लेख किया है और साथमें उसकी एक पंक्ति भी दी है। वह पंक्ति इस प्रकार है :—

“महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् (विद्यानन्दः) संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत् ।”

—स्या. रत्ना., पृ. ३४९।

हमें आशा है यह ग्रन्थरत्न 'प्रमाणसंग्रह' और 'सिद्धिविनिश्चयटीका' की तरह श्वेताम्बर जैन शास्त्रभण्डारमें मिल जाय; क्योंकि उनके यहाँ शास्त्रोंकी सुरक्षा और सुव्यवस्था यति-मुनियोंके हाथमें रहनेसे अच्छी और सुपुष्कल रही है। उक्त दो ग्रन्थ भी उन्हींके भण्डारोंसे सम्प्राप्त हुए हैं। अन्वेषकोंको यह ध्यान रखना चाहिए कि इस ग्रन्थरत्नका उल्लेख 'विद्यानन्दमहोदय' और 'महोदय' दोनों नामोंसे हुआ है, जैसा कि

१. युक्त्यनुशास. टी., पृ. १०, ११।

२. 'न्याय-दीपिका' की प्रस्तावना, पृ. ८२।

३. 'इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्दमहोदये ।'—तत्त्वार्थश्लो. २७२ 'अवगम्यताम् ॥ यथागमं प्रपञ्चेन विद्यानन्दमहोदयात् ।'—तत्त्वार्थश्लो., पृ. ३८५, 'इति तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्द-महोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् ।' अष्टस.—पृ. २८९, २९०।

आ. विद्यानन्द और देवसूरिके उपर्युक्त उल्लेखोंसे प्रकट है। यह विद्यानन्दकी मौलिक और स्वतन्त्र रचना है, यह उसके नामसे ही स्पष्ट है।

२. आप्तपरीक्षा—इसका विशेष परिचय अलगसे आगे निबद्ध है।

३. प्रमाणपरीक्षा—इसका भी विशेष परिचय आगे अलगसे दिया गया है।

४. पत्रपरीक्षा—यह ग्रन्थकारकी चतुर्थ रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्र-लक्षणोंकी समालोचनापूर्वक जैनदृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण किया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंकी ही अनुमानांग बतलाया है। हाँ, प्रतिपाद्याशयानुरोधसे दशावयवोंका भी समर्थन किया है, परन्तु ये दशावयव न्यायदर्शन प्रसिद्ध दशावयवोंसे भिन्न हैं। यह रचना विद्यानन्दकी सर्व तर्करचनाओंमें अतिलघु रचना है।

५. सत्यशासनपरीक्षा—आचार्य विद्यानन्दकी पाँचवीं मौलिक स्वतन्त्र रचना सत्यशासनपरीक्षा है। यह आजसे कोई २७ वर्ष पूर्व बिल्कुल अप्रसिद्ध और अप्राप्य थी। जैनसाहित्य-अनुसन्धाता पं. जुगलकिशोरजी मुख्तारने जैनसिद्धान्तभवन आराकी सूचीपरसे इसका पता लगाया और अक्टूबर सन् १९२० में जैनहितैषी भाग १४, अंक १०-११ में 'दुष्प्राप्य और अलभ्य जैनग्रन्थ' के नीचे परिचय दिया था। इसके कोई बीस वर्ष बाद न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने इसका कुछ विशेष परिचय अनेकान्त वर्ष ३, किरण ११ में कराया था। इस परिचयसे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ आ. विद्यानन्दकी ही कृति है। इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है।^१ परन्तु १२ शासनोंमें ९ शासनोंकी पूरी और प्रभाकरशासनकी अधूरी परीक्षाएँ ही इसमें उपलब्ध होती हैं। प्रभाकर-शासनका शेषांश, तत्त्वोपप्लवशासनपरीक्षा और अनेकान्तशासनपरीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ विद्यानन्दकी अन्तिम रचना है और वे इसे पूरा नहीं कर सके। बम्बईके ऐ. पन्नालाल सरस्वतीभवनमें इसकी जो प्रति पायी जाती है वह भी आराप्रति जितनी है। यह भारतीय ज्ञानपीठसे मुद्रित हो चुका है। इस ग्रन्थकी प्रशंसा करते हुए न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने^२ लिखा है—

‘तर्कग्रन्थोंके अभ्यासी, विद्यानन्दके अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराईके साथ किये जानेवाले पदार्थोंके स्पष्टीकरण एवं प्रसन्नभूषणमें गूँथे गये युक्तिजालसे परिचित होंगे। उनके प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और आप्तपरीक्षा प्रकरण अपने-अपने विषयके बेजोड़ निबन्ध हैं। ये ही निबन्ध तथा विद्यानन्दके अन्य ग्रन्थ आगे बने हुए समस्त दि.-श्वे. न्यायग्रन्थोंके आधारभूत हैं। इनके ही विचार तथा शब्द उत्तरकालीन दि.-श्वे. न्यायग्रन्थोंपर अपनी अमिट छाप लगाये हुए हैं। यदि जैनन्यायके कोशागारसे विद्यानन्दके ग्रन्थोंको अलग कर दिया जाय तो वह एकदम निष्प्रभ-सा हो जायेगा। उनकी यह ‘सत्यशासन-परीक्षा’ ऐसा एक तेजोमय

१. ‘इह पुरुषाद्वैत-शब्दाद्वैत-विज्ञानाद्वैत-चित्राद्वैतशासनानि चार्वाक-बौद्ध-सेश्वर-निरीश्वर-सांख्य-नैयायिक-वैशेषिक-भाट्ट-प्रभाकर-शासनानि तत्त्वोपप्लवशासनमनेकान्तशासनञ्चेत्यनेक-शासनानि प्रवर्तन्ते।’—सत्यशासनपरीक्षाका प्रारम्भिक प्रतिज्ञावाक्य।

२. ‘अनेकान्त’ वर्ष ३, किरण ११।

रत्न है जिससे जैनन्यायका आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आये हुए पदार्थ फुटकरूपसे उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें खोजे जा सकते हैं। पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयोंका सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्दने ही किया है, अन्यत्र मिलना असम्भव है।'

वस्तुतः विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है।

४. श्रीपुरपाश्वर्चनाथस्तोत्र—यह स्तोत्रग्रन्थ भी ग्रन्थकारकी रचना है और स्वामीसमन्तभद्रके देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासनस्तोत्र आदिकी तरह तार्किक कृति है तथा उस जैसी ही जटिल एवं दुरूह है। इसकी रचना विद्यानन्दने 'देवागम' की शैलीसे की है, इसलिए इसके पद्योंमें देवागम तथा अष्टसहस्रीका कितना ही साम्य पाया जाता है। इसमें कुल पद्य ३० हैं। अन्तिम पद्य तो अन्तिम वक्तव्य एवं उप-संहारके रूपमें है और शेष २९ पद्य ग्रन्थ-विषयके प्रतिपादक हैं। ग्रन्थका विषय श्रीपुरस्थ भगवान् पाश्वर्चनाथ हैं। कपिलादिकमें अनासता बतलाकर उन्हें इसमें आस

१. यह लेखक द्वारा अनुवादित और सम्पादित होकर वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित हो चुका है। इसका विशेष परिचय वहाँ देखिए।

२. दक्षिणमें श्रीपुर नामका एक प्रसिद्ध अतिशय क्षेत्र है। इसे 'अन्तरीक्ष पाश्वर्चनाथ' भी कहते हैं। वहाँके भ. पाश्वर्नाथके सातिशय प्रतिबिम्बको लक्ष्य करके आ. विद्यानन्दने इस स्तोत्रकी रचना की है। श्रीमान् पं. नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' (पृ. २३७) में लिखा है कि 'पासं सिरपुरि वंदमि.....' इस पंक्तिके पूर्वाद्धका सिरपुर (श्रीपुर) भी इसी धारवाड़ जिलेका शिरूर गाँव है जहाँका शकसं. ७८७ का एक शिलालेख (इण्डियन ए. भाग १२, पृष्ठ २१६ में) प्रकाशित हुआ है। स्वामी विद्यानन्दका श्रीपुरपाश्वर्नाथस्तोत्र सम्भवतः इसी श्रीपुरके पाश्वर्नाथको लक्ष्य करके रचा गया होगा।' और यही आप मेरे पत्रके उत्तरमें अपने ११ अप्रैल १९४७ के पत्रमें भी लिखते हैं। अपने उक्त ग्रन्थ (पृष्ठ २२७) में, स्वताम्बर मुनि शीलविजयजीकी, (जिन्होंने वि. सं. १७३१-३२ में दक्षिणके तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना की थी और जिसका वर्णन उन्होंने अपनी 'तीर्थमाला' नामक पुस्तकमें किया है) 'तीर्थमाला' पुस्तकके आधारसे दक्षिणके तीर्थोंका परिचय देते हुए श्रीपुरनगरके अन्तरीक्ष पाश्वर्नाथके सम्बन्धमें मुनिजी द्वारा दी गयी एक प्रचलित कथाको भी दिया है। उस कथाका सारांश यह है कि 'प्राचीन कालमें श्रीपुरनगरके एक कुएँमें अतिशयवान् प्रतिमा डाल दी गयी थी। इस प्रतिमाके प्रभावसे उस कुएँके जलसे जब 'एलगराय' का रोग दूर हो गया, तब अन्तरीक्ष प्रभु प्रकट हुए और उनकी महिमा बढ़ने लगी। पहले वह प्रतिमा इतनी अधर थी कि उसके नीचेसे एक सवार निकल जाता था, परन्तु अब केवल एक घागा ही निकल सकता है।' प्रेमीजीने वहाँ 'एलगराय' पर एक टिप्पणी भी दी है और लिखा है कि 'जिसे राजा 'एल' कहा जाता है, शायद वही यह 'एलगराय' है। आकोलाके गजेटियरमें लिखा है कि 'एल' राजाको कोढ़ हो गया था, जो एक सरोवरमें नहानेसे अच्छा हो गया। उस सरोवरमें ही अन्तरीक्ष की प्रतिमा थी और उसीके प्रभावसे ऐसा हुआ था।' आश्चर्य नहीं कि आ. विद्यानन्दस्वामीका अभिमत श्रीपुर प्रेमीजीके उल्लेखानुसार धारवाड़ जिलेका शिरूर ग्राम ही श्रीपुर हो। वर्जेंस, कजन, हण्टर आदि अनेक पाश्चात्य लेखकोंने वेसिंग जिलेके 'सिरपुर' स्थानको एक

सिद्ध किया गया है और उनके वीतरागित्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्गप्रणेतृत्व इन असाधारण गुणोंकी स्तुति की गयी है।

यह श्रीपुरपाश्वर्चनाथस्तोत्र मराठी टीका सहित श्रीपात्रकेसरीस्तोत्रके साथ संयुक्तरूपमें आजसे ५१ वर्ष पूर्व वि. सं. १९७८ (ई० १९२१) में एक बार प्रकाशित हो चुका है। इसके अन्तमें एक समाप्ति-पुष्पिकावाक्य पाया जाता है और जो इस प्रकार है :—

‘इति श्रीमदमरकीर्त्तियतीश्वरप्रियशिष्यश्रीमद्विद्यानन्दस्वामि-विरचित-श्रीपुरपाश्वर्चनाथस्तोत्रं समाप्तम्।’

इस पुष्पिकावाक्यमें अमरकीर्त्तियतीश्वरके शिष्य विद्यानन्दस्वामीको इस स्तोत्रका कर्ता प्रकट किया गया है। परन्तु ग्रन्थकार विद्यानन्दने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपने गुरुका नाम अमरकीर्त्तियतीश्वर अथवा अन्य कोई नाम नहीं दिया और न उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंके उल्लेखों एवं शिलालेखों आदिमें उनके गुरुका नाम उपलब्ध होता है। १६वीं शतीमें होनेवाले वादी विद्यानन्दस्वामीके गुरुभाई—विशालकीर्तिके सधर्मा—अमरकीर्त्तिर्मान भट्टारकाग्रणीका उल्लेख जरूर आता है^१। हो सकता है वादी विद्यानन्दको इन्हीं गुरुभाई अमरकीर्त्तिका शिष्य बतलाकर उन्हें ही श्रीपुरपाश्वर्चनाथ-स्तोत्रका प्रतिलेखकोंने भ्रान्तिसे कर्ता लिख दिया हो। नामसाम्यकी हालतमें ऐसी भ्रान्ति होना कोई असम्भव नहीं है। अतः उक्त पुष्पिकावाक्य अभ्रान्त प्रतीत नहीं होता। इसके अलावा विद्यानन्दके अन्य तर्कग्रन्थोंकी तरह इसमें वही वाक्यविन्यास और प्रतिपादनशैली पायी जाती है। सूक्ष्मता और गहराई भी इसमें वैसा ही निहित है। अतएव यह ग्रन्थ भी ग्रन्थकारकी ही रचना होनी चाहिए।

पहले पात्रकेसरी स्तोत्र (जिनेन्द्रगुणस्तुति), प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय और बुद्धेशभवनव्याख्यान ये चार कृतियाँ भी इन्हींकी समझी जाती थीं।^१ परन्तु

प्रसिद्ध तीर्थ बतलाया है और वहाँ प्राचीन पार्श्वनाथका मन्दिर होनेकी सूचनाएँ की हैं। कोई असम्भव नहीं कि वेसिंग जिलेका ‘सिरपुर’ ही विद्यानन्दका अभिमत श्रीपुर हो। श्रीपुरका ‘शिरुर’ हो जानेकी अपेक्षा ‘सिरपुर’ हो जाना ज्यादा संगत प्रतीत होता है। शकसं. ६९८ (ई. ७७६) में पश्चिमी गंगवंशी राजा श्रीपुरुषके द्वारा श्रीपुरके जैनमन्दिरके लिए दान दिये जानेका उल्लेख करवेवाला एक ताम्रपत्र मिला है (जैन सि. भा. भा. ४, किरण ३, पृ. १५८)। हो सकता है यह श्रीपुर विद्यानन्दका इष्ट श्रीपुर हो। जो हो, इतना निश्चित है कि श्रीपुरके पार्श्वनाथका पहले बड़ा माहात्म्य रहा है और इसीसे विद्यानन्द जैसे तार्किक वहाँ उनकी वन्दनार्थ गये और उनका यह महत्त्वपूर्ण स्तवन रचा।

१. ‘विशालकीर्त्तिः श्रीविद्यानन्दस्वामीति शब्दतः। अभवत्तनयः साधुर्मल्लिरायनूपाचितः॥

×

×

×

जीयादमरकीर्त्याख्यभट्टारकशिरोमणिः। विशालकीर्तियोगीन्द्रसधर्मा शास्त्रकोविदः॥

—वर्धमान मुनीन्द्रकृत दशभक्त्यादि महाशा., प्रका. सं., पृष्ठ १२५-१२६।

२. जैनहितैषी भाग ९, अंक ९ में प्रकाशित प्रेमीजीका ‘स्याद्वादविद्यापति विद्यानन्द’ शीर्षक लेख तथा उन्हींकी ‘युक्त्यनुशासन’ (सटीक) की भूमिका (पृ. ५) और पं. गजाधरलालजी द्वारा सम्पादित ‘आप्त-परीक्षा’ की प्रस्तावना (पृ. ८) आदि ग्रन्थ।

अब इन ग्रन्थोंके प्रकाशमें आनेपर यह सुस्पष्ट हो गया है कि उक्त चारों कृतियाँ ग्रन्थकार आचार्य विद्यानन्दकी नहीं हैं—पात्रकेसरीस्तोत्र आ. पात्रकेसरी अथवा पात्रस्वामीकी, जो ग्रन्थकार विद्यानन्दसे भिन्न और पूर्ववर्ती आचार्य हैं, रचना है, प्रमाणमीमांसा आ. हेमचन्द्रकी, प्रमाणनिर्णय आ. वादिराजकी और बुद्धेशभवन-व्याख्यान वादी विद्यानन्द (१६वीं शती) की रचनाएँ हैं और ये तीनों विद्वान् आस-परीक्षाकार आ. विद्यानन्दसे उत्तरवर्ती हैं । अतः प्रामाणिक उल्लेखों आदिसे उक्त ९ कृतियाँ ही ग्रन्थकारकी रचनाएँ ज्ञात होती हैं ।

(ख) नया चिन्तन

इन कृतियोंसे कितना ही नया चिन्तन उपलब्ध है । यदि हम उस सबका संकलन करें तो उसकी एक लम्बी और बृहद् सूची बनायी जा सकती है । किन्तु यहाँ कतिपय ही नये चिन्तित विषयोंकी चर्चा की जायेगी ।

(१) भावना-विधि-नियोग—इसमें सन्देह नहीं कि आ. विद्यानन्दका दर्शान्तर्रीय अभ्यास अपूर्व था । वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, चार्वाक, सांख्य और बौद्ध दर्शनोंके वे निष्णात विद्वान् थे । उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें इन दर्शनोंके जो विशद पूर्वपक्ष प्रस्तुत किये हैं और उनकी जैसी मार्मिक समीक्षा की है, उससे स्पष्टतया विद्यानन्दका समग्र दर्शनोंका अत्यन्त सूक्ष्म और गहरा अध्ययन जाना जाता है । किन्तु मीमांसादर्शनकी भावना, नियोग और वेदान्तदर्शनकी विधि सम्बन्धी दुर्बल चर्चाको जब हम उन्हें अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक और अष्टसहस्रीमें विस्तारके साथ करते हुए देखते हैं तो उनकी अगाध विद्वत्ता, असाधारण प्रतिभा और सूक्ष्म प्रज्ञापर आश्चर्यचकित हो जाते हैं । उनका मीमांसा और वेदान्त दर्शनोंका कितना गहरा और तलस्पर्शी पाण्डित्य था, यह सहज ही उनका पाठक जान जाता है । जहाँ तक हम जानते हैं, जैनवाङ्मयमें यह भावना-नियोग-विधिकी दुरवगाह चर्चा सर्वप्रथम तीक्ष्ण-बुद्धि विद्यानन्द द्वारा ही की गयी है और इसलिए जैन दर्शनको यह उनकी अपूर्व देन है । मीमांसादर्शनकी जैसी और जितनी सबल मीमांसा तत्त्वार्थश्लोक-वार्त्तिकमें है वैसी और उतनी जैन वाङ्मयकी अन्य कृतियोंमें नहीं है ।

(२) जाति-समीक्षा—आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ. ४८२-४८७) और न्यायकुमुदचन्द्र (पृ. ७६८-७७२) में जो ब्राह्मणत्व जातिकी विस्तृत और विशद मीमांसा की है तथा जाति-वर्णकी व्यवस्था जन्मसे न होकर गुण-कर्मसे सिद्ध की है उसका आरम्भ जैनग्रन्थोंमें सर्वप्रथम आ. विद्यानन्दसे हुआ जान पड़ता है । विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ. ३५८) में ब्राह्मणत्व आदि जातियोंकी व्यवस्था गुण-कर्मसे बतलाते हुए लिखा है कि ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियाँ सम्यग्दर्शनादि गुणों तथा मिथ्यात्वादि दोषोंसे व्यवस्थित हैं, नित्य जाति कोई नहीं है । जो उन्हें अनादि, नित्य सर्वगत और अमूर्त स्वभाव मानते हैं वह प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनोंसे बाधित है । इस तरह विद्यानन्दने जातियोंके सम्बन्धमें नये चिन्तन-का सूत्रपात किया, जिसे प्रभाचन्द्र आदि उत्तरवर्ती तार्किकोंने पल्लवित एवं विस्तृत किया ।

(३) सह-क्रमानेकान्तकी परिकल्पना—आचार्यमूर्धन्य गृह्यपिच्छने द्रव्यका लक्षण गुण और पर्याययुक्त प्रतिपादित किया है। यद्यपि यही लक्षण आचार्य कुन्द-कुन्द भी प्रकट कर चुके हैं। इसपर शंका की गयी कि 'गुण' संज्ञा तो इतर दार्शनिकों (वैशेषिकों) की है, जैनोकी नहीं। उनके यहाँ तो द्रव्य और पर्यायरूप ही वस्तु वर्णित है और इसीसे उनके ग्राहक द्रव्याधिक तथा पर्यायाधिक इन दो ही नयोंका उपदेश है। यदि गुण भी उनके यहाँ मान्य हो तो उसको ग्रहण करनेके लिए एक और तीसरे गुणाधिक नयकी भी व्यवस्था होनी चाहिए? इस शंकाका समाधान सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्द इन तीनों प्रमुख तार्किकोंने किया है। सिद्धसेनने^१ बतलाया कि 'गुण' पर्यायसे भिन्न नहीं—पर्यायमें ही गुणसंज्ञा जेनागममें स्वीकृत है और इसलिए गुण तथा पर्याय एकार्थक हैं। अतएव पर्यायाधिक नय द्वारा ही गुणका ग्रहण होनेसे गुणाधिक नय पृथक् उपदिष्ट नहीं है। अकलंक कहते हैं कि द्रव्यका स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है तथा सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण ये सब उसके पर्याय शब्द हैं। तथा विशेष, भेद, पर्याय ये तीनों विशेषके पर्यायवाची हैं। अतः सामान्यको ग्रहण करनेवाला द्रव्याधिक और विशेषको विषय करनेवाला पर्यायाधिक नय है। अतः गुणका ग्राहक द्रव्याधिक नय ही है, उससे पृथक् गुणाधिक नय प्रतिपादित नहीं हुआ। अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं—पर्यायका ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलंकके इन समाधानोंके बाद भी शंका उठायी गयी कि यदि गुण, द्रव्य या पर्यायसे अतिरिक्त नहीं है तो द्रव्यलक्षणमें गुण और पर्याय दोनोंका निवेश क्यों किया? 'गुणवद् द्रव्यम्' या 'पर्यायवद् द्रव्यम्' इतना ही लक्षण पर्याप्त था? इसका उत्तर विद्यानन्दने^३ जो दिया वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं सूक्ष्मप्रज्ञतासे भरा हुआ है। वे कहते हैं कि वस्तु दो तरहके अनेकान्तोंका रूप (पिण्ड) है—१. सहानेकान्त और २. क्रमानेकान्त। सहानेकान्तका ज्ञान करानेके लिए गुणयुक्तको और क्रमानेकान्तका निश्चय करानेके लिए पर्याययुक्तको द्रव्य कहा है। अतः द्रव्यलक्षणमें गुण तथा पर्याय दोनों पदोंका निवेश युक्त एवं सार्थक है।

जहाँ तक हम जानते हैं, विद्यानन्दसे पूर्व अकलंकदेवने सम्यगनेकान्त और मिथ्यानेकान्तके भेदसे दो प्रकारके अनेकान्तोंका तो प्रतिपादन किया है। परन्तु सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो तरहके अनेकान्तोंका कथन विद्यानन्दसे पूर्व उपलब्ध नहीं होता। इन अनेकान्तोंके कथन और उनकी सिद्धिके लिए द्रव्यलक्षणमें गुण तथा पर्याय दोनों पदोंके निवेशका समाधान विद्यानन्दकी अद्भुत प्रतिभाका सुपरिणाम है। उनका यह समाधान और स्पष्ट शब्दोंमें सहानेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तोंकी परिकल्पना इतनी सजीव एवं सबल सिद्ध हुई कि स्याद्वाद-सिद्धिकार आ. वादीभिः सहने^४ उससे प्रेरणा पाकर उक्त अनेकान्तोंकी प्रतिष्ठाके लिए

१. सन्मत्तिसूत्र ३-९, १०, १२।

२. तत्त्वार्थवात्तिक ५-३७।

३. गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।

तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये ॥—तत्त्वा. श्लो., पृ. ४३८।

४. स्याद्वादसिद्धि ३-१ से ३-७४ तथा ४-१ से ४-८९।

सहानेकान्तसिद्धि और क्रमानेकान्तसिद्धि नामसे दो स्वतन्त्र प्रकरणोंकी सृष्टि स्याद्वादसिद्धिमें की है तथा उनका विस्तृत विवेचन किया है।

(४) व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुविवेचन—अध्यात्मके क्षेत्रमें तो व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तुका विवेचन किया ही जाता है, पर तर्कके क्षेत्रमें भी उनके द्वारा वस्तुविवेचन हो सकता है, यह दृष्टि हमें विद्यानन्दसे प्राप्त होती है। उन्होंने इन दोनों नयोंसे अनेक स्थलोंमें वस्तु-विवेचन किया है। 'निष्क्रियाणि च' (त. सू. ५-७) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए वे तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (पृ. ४०१) में लिखते हैं कि निश्चयनयसे सभी वस्तुएँ कथंचित् निष्क्रिय हैं और व्यवहारनयसे कथंचित् सक्रिय हैं। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्योंमें आधाराधेयताका विचार करते हुए वे कहते हैं^१ कि व्यवहारनयसे लोकाकाश तथा धर्मादि द्रव्योंमें आधाराधेयता है तथा निश्चयनयसे उनमें उसका अभाव है। उनका तर्क है कि निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य अपनेमें अवस्थित होता है। अन्य द्रव्यकी स्थिति अन्य द्रव्यमें नहीं होती, अन्यथा उनका अपना प्रातिस्विक रूप न रहकर उनमें स्वरूप-सांकर्य हो जायेगा। इसी तरह सब द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी व्यवस्था करते हुए वे त. सू. ५-१६ की टीकामें लिखते हैं^२ कि निश्चयनयसे सभी द्रव्योंकी उत्पादादि व्यवस्था विस्रसा (स्वभावतः) है। व्यवहारनयसे उनके उत्पादादिक सहेतुक हैं। अतः व्यवहार और निश्चयनयके स्वरूपको समझकर द्रव्योंकी आधाराधेयता तथा कार्यकारणभावकी व्यवस्था जहाँ जिस नयसे की गयी हो उसे उसी नयसे जानना चाहिए। इस तरह विद्यानन्दका व्यवहार और निश्चय द्वारा दर्शनके क्षेत्रमें वस्तु-विचार भी जैन दर्शनके लिए उनकी एक अन्यतम उपलब्धि है।

(५) उपादान और निमित्तका विचार—यों तो कारणोंका विचार सभी दर्शनोंमें है और उनकी विस्तारसे चर्चा की गयी है किन्तु जैन दर्शनमें उनका चिन्तन बहुत सूक्ष्म किया गया है। कार्यकी उत्पत्तिमें कितने कारणोंका व्यापार होता है, इस सम्बन्धमें न्याय तथा वैशेषिक दर्शनका मन्तव्य है कि समवायि, असमवायि और सहकारी इन तीन कारणोंका व्यापार कार्योत्पत्तिमें होता है। बौद्धदर्शनका मत है कि उपादान और सहकारी इन दो ही कारणोंसे कार्य उत्पन्न होता है। सांख्य दर्शन भी कारणोंका विचार करता है, लेकिन उसका दृष्टिकोण कार्यकी उत्पत्तिसे न होकर उसके आविर्भावसे और कारणसे तात्पर्य केवल उपादानसे है। जो भी सरूप अथवा विरूप कार्य उत्पन्न होता है वह एकमात्र प्रकृतिरूप उपादानसे होता है, उसका कोई प्रकृतिसे भिन्न सहकारी कारण नहीं है। जैन दर्शन यद्यपि बौद्ध दर्शनकी तरह प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त इन दो ही कारणोंको स्वीकार करता है। परन्तु बौद्ध दर्शनकी मान्यतासे जैन दर्शनकी मान्यतामें बड़ा अन्तर है। बौद्ध दर्शन पूर्व रूपादिक्षणको उत्तर रूपादिक्षणमें उपादान तथा रसादिक्षणको सहकारी मानता है। पर जैनदर्शन अव्यवहित पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्यको उपादान और कालादि सामग्रीको निमित्त स्वीकार करता है। यहाँ हम विद्यानन्दके सूक्ष्म चिन्तनके दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

प्रश्न है^१ कि उपादानके नाशसे उपादेयकी उत्पत्ति होती है। सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञानका उपादान है। अतः सम्यक्ज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर सम्यक्दर्शनका नाश हो जाना चाहिए? इसके उत्तरमें विद्यानन्द कहते हैं कि उपादेयकी उत्पत्तिमें उपादानका नाश कथंचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं, अन्यथा कार्यकी उत्पत्ति कभी भी न हो सकेगी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि दर्शनपरिणामसे परिणत आत्मा ही वस्तुतः दर्शन है और वह विशिष्ट ज्ञानपरिणामकी उत्पत्तिका उपादान है। अन्वयरहित केवल पर्याय या केवल जीवद्रव्य उसका उपादान नहीं हैं, क्योंकि केवल जीवादि द्रव्य कूर्मरोम आदिकी तरह अवस्तु हैं। इसी तरह दर्शन-ज्ञान परिणत जीव दर्शन-ज्ञान है और दर्शन-ज्ञान चारित्रका उपादान है, क्योंकि पर्यायविशेष परिणत द्रव्य उपादान है, जिस प्रकार घटपरिणमनमें समर्थ पर्यायरूप मिट्टीद्रव्य घटका उपादान होता है। विद्यानन्द^२ उपादानका स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—‘जो पूर्व रूपको छोड़ता हुआ तथा अपूर्व रूपको न छोड़ता हुआ तीनों कालोंमें भी विद्यमान रहता है उस द्रव्यको उपादान कहा गया है। किन्तु जो सर्वथा अपने रूपको छोड़ देता है अथवा जो बिल्कुल नहीं छोड़ता वह किसी भी वस्तुका उपादान नहीं है। जैसे सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य।’ विद्यानन्दने उपादानके इसी लक्षणको सामने रखकर सर्वत्र उपादानोपादेयकी व्यवस्था की है। यह तो हुआ उनके उपादानका विचार।

इसी प्रकार^३ उन्होंने निमित्त—सहकारि कारणका भी चिन्तन किया है। वे लिखते हैं कि बिना सहकारीसामग्रीके उपादान कार्यजननमें समर्थ नहीं है। जबतक अयोगकेवलिगूणस्थानका उपान्त्य और अन्त्य समय प्राप्त नहीं होता तबतक नामादिक कर्मोंके निर्जरणकी शक्ति प्रकट नहीं होती और न मुक्ति ही सम्भव है। अतः अयोगकेवलीका अन्त्य क्षण ही शेष कर्मोंके क्षयमें कारण है। इस तरह सहकारीसापेक्ष उपादान कार्यजनक है, अकेला नहीं। इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दका यह उपादान और निमित्त सम्बन्धी चिन्तन जैन दर्शनके अनेकान्तवादी दृष्टिकोणको पुष्ट करता है।

इस तरह आचार्य विद्यानन्दने कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया है जो उनकी जैन दर्शनको नयी देन है और जो उसे गौरवास्पद एवं सर्वादरणीय बनाता है।

१. तत्त्वार्थश्लोकवा., पृ. ६८-६९।

२. त्यक्तात्यक्ततात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते।

कालत्रयेऽपि तद् द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥१॥

यत्स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।

तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥२॥—अष्टस., पृ. २१०

३. स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्षते।

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुर्न केवलः, तथाऽप्रतीतेः।

क्षणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।

यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता ॥

ज्ञानावृत्त्यादिकर्मणि हन्तुं तद्वदयोगिनः।

पर्यन्तक्षणे एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ ॥—त. श्लो., पृ. ७०-७१।

आप्तपरीक्षा

(क) ग्रन्थ-परिचय

आ. विद्यानन्दने इस ग्रन्थ-रत्नकी रचना श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके^१, जो आचार्य 'उमास्वाति' अथवा 'उमास्वामी' के नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, 'तत्त्वार्थसूत्र'के मंगला-चरणपदयके व्याख्यान रूपमें^२ उसी प्रकार की है, जिस प्रकार आचार्य समन्तभद्र-

१. विन्ध्यगिरिपर सिद्धरबस्तीमें दक्षिणकी ओर एक स्तम्भपर एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जो शकसंवत् १३५५ का है। इस लेखमें इन आचार्यके 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामकी उपपत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि 'आचार्यने प्राणिसंरक्षणके लिए गृद्धके पंखोंकी पिच्छी धारण की थी तबसे उन्हें विद्वान् 'गृद्धपिच्छाचार्य' कहने लगे।' यथा—

स प्राणिसंरक्षण-सावधानी बभार योगी किल गृद्धपक्षान् ।

तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्यशब्दोत्तर-गृद्धपिच्छं ॥१२॥—शि. नं. १०८ (२५८) ।

—देखो, शिलालेखसं., पृ. २१०, २११ ।

षट्खण्डागमकी विशाल और प्रसिद्ध टीका श्रीधवला, तत्त्वार्थसूत्रकी विस्तृत टीका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि प्राचीन जैनसाहित्यमें 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामका ही उल्लेख हुआ है। इससे जान पड़ता है कि सुदूर कालमें इनकी उक्त नामसे ही अधिक प्रसिद्धि रही। मूल नाम उमास्वाति हो, पर विद्वानोंमें उन्हें उनकी विद्वत्ता, त्याग-तपस्या आदिके कारण गौरव प्रदान करनेके लिए गृद्धपिच्छाचार्य नामका व्यवहार ही मुख्य रहा।

२. जो इस प्रकार है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

यह पद्य प्रस्तुत ग्रन्थमें कारिका नं. तीनके रूपमें भी स्थित है और उसे ग्रन्थका आधार-अङ्ग बनाकर उसीकी व्याख्याके रूपमें यह ग्रन्थ लिखा गया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकारके दूसरे ग्रन्थ अष्टसहस्रीके मङ्गलपद्य और इसी ग्रन्थके उपान्त्य पद्य 'श्रीमत्तत्त्वार्थ' के आधारसे श्रीयुत् पण्डित मुखलालजी और न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्र-कुमारजीने अपना यह विचार बनाया था कि आचार्य विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि स्तोत्रको पूज्यपादाचार्यकी तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी गयी तत्त्वार्थवृत्ति अपरनाम सर्वार्थसिद्धिका मङ्गलाचरण बतलाया है और इसलिए वह तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण नहीं है, (देखो, अकलंकग्रन्थत्रय प्राक्कथन पृ. ८, न्याकुमुदचन्द्र प्राक्कथन पृ. १७ तथा इसी ग्रन्थकी प्रस्तावना पृ. २५-२६)। उनके इस विचारपर हमने अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६-७ और १०-११ में 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक दो लेखोंद्वारा विस्तृत चर्चा की थी और विद्यानन्दके ही सुस्पष्ट विभिन्न ग्रन्थोल्लेखोंपरसे यह सिद्ध किया था कि विद्यानन्दने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि स्तोत्रको आ. उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्रका

स्वामीने उसी पद्यके व्याख्यान रूपमें अपनी अमर कृति आसमीमांसा (देवागम-स्तोत्र) की रचना की है। इस बातको आ. विद्यानन्दने ग्रन्थके अन्त (का. १२३-१२४) में स्पष्टतया बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रके मंगलाचरणमें मोक्षमार्गनेतृत्व (हितोपदेशिता), कर्मभूभृद्भूतृत्व (वीतरागता) और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व (सर्वज्ञता) इन तीन गुणोंसे विशिष्ट आसका वन्दन और स्तवन किया गया है। आस-परीक्षामें आसमीमांसाकी तरह इन्हीं तीन गुणोंकी व्याख्या और इन तीन गुणोंसे युक्त आसका उपपादन और समर्थन करते हुए अन्ययोगव्यवच्छेदसे ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्मकी परीक्षापूर्वक अरहन्तजिनको आस सुनिर्णीत किया गया है। अतएव ग्रन्थकारने इसे पाँच प्रकरणोंमें विभक्त किया है। वे हैं—१. ईश्वर-परीक्षा, २. कपिल-परीक्षा, ३. सुगत-परीक्षा, ४. परम ब्रह्म-परीक्षा और ५. अर्हन्-परीक्षा।

इसमें कुल एक-सौ चौबीस (१२४) कारिकाएँ हैं और उनपर स्वयं विद्यानन्दस्वामीकी 'आसपरीक्षालङ्कृति' नामकी स्वोपज्ञटीका है, जो बहुत ही विशद

मङ्गलाचरण बतलाया है, पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति अपरनाम सर्वार्थसिद्धिका नहीं। इसे बादको न्यायाचार्य पण्डित महेन्द्रकुमारजीने अनेकान्त वर्ष ५, किरण ८-९ में स्पष्टतया स्वीकार कर लिया है और यह लिखकर कि 'इस मङ्गलश्लोकको सूत्रकार (उमास्वाति) कृत लिखनेवाले सर्वप्रथम आ. विद्यानन्द है' अपने विचारमें संशोधन भी कर लिया है। और अब यह असन्दिग्ध है कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि पद्य आ. विद्यानन्दके प्रामाणिक उल्लेखों आदिके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण सिद्ध है। इस चर्चाका परिणाम यह हुआ कि जो उक्त मङ्गलस्तोत्रके मीमांसाकार आचार्य समन्तभद्रस्वामीको पूज्यपादका उत्तरवर्ती बताया जाने लगा था वह बन्द हो गया और इसीसे 'अनेकान्त' सम्पादक विद्वद्भ्यः पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'सर्वार्थसिद्धिपर समन्तभद्रका प्रभाव' नामक सम्पादकीय लेखमें स्पष्टतया लिखा था कि—'प्रोत्थानारम्भकाले' पदके अर्थकी खींचतान उसी वज्रत तक चल सकती थी जब तक विद्यानन्दका कोई स्पष्ट उल्लेख इस विषयका न मिलता कि ये 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मङ्गलस्तोत्रको किसका बतला रहे हैं। चुनांचे न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलालजी कोठिया और पण्डित रामप्रसादजी शास्त्री आदि कुछ विद्वानोंने जब पण्डित महेन्द्रकुमारजीकी भूलों तथा गलतियोंको पकड़ते हुए, अपने उत्तरलेखोंद्वारा विद्यानन्दके कुछ अभ्रान्त उल्लेखोंको सामने रखा और यह स्पष्ट करके बतला दिया कि विद्यानन्दने उक्त मङ्गलस्तोत्रको सूत्रकार उमास्वातिकृत लिखा है और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण बतलाया है, तब उस खींचतानकी गति रुकी तथा मन्द पड़ी। और इसलिए उक्त मङ्गलस्तोत्रको पूज्यपादकृत मानकर तथा समन्तभद्रको उसीका मीमांसाकार बतलाकर निश्चितरूपमें समन्तभद्रको पूज्यपादके बादका (उत्तरवर्ती) विद्वान् बतलानेरूप कल्पनाकी जो इमारत खड़ी की गयी थी वह एकदम धराशायी हो गयी है। और इसीसे पण्डित महेन्द्रकुमारजीको यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य होना पड़ा है कि आ. विद्यानन्दने उक्त मङ्गलश्लोकको सूत्रकार उमास्वातिकृत बतलाया है।'—('अनेकान्त वर्ष ५, किरण १०-११) अतः 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' को विद्वानोंने तत्त्वार्थसूत्रका ही मङ्गलाचरण स्वीकार करके एक महत्त्वपूर्ण समस्याको हल कर लिया है।

और प्रसन्न है। उनमें प्रथमकी दो कारिकाएँ और उनकी टीका मंगलाचरण तथा मंगलाचरणप्रयोजनकी प्रतिपादक हैं। तीसरी कारिका तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरणपद्य है और उसे ग्रन्थकारने अपने इस ग्रन्थका उसी प्रकार अंग बना लिया है जिस प्रकार अकलंकदेवने आप्तमीमांसाकी 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' (का. ५) को न्यायविनिश्चय (का. ४१५) और पात्रस्वामीकी 'अन्यथानुपपन्नत्वं' इस कारिकाको न्यायविनिश्चय (का. ३२३) का तथा न्यायावतारकार सिद्धसेनने रत्नकरण्डश्रावकाचारके 'आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य-' (श्लोक ९) को न्यायावतार (का. ९) का अंग बनाया है। चौथी कारिका और उसकी टीकामें तीसरी कारिकामें आप्तके लिए प्रयुक्त हुए असाधारण विशेषणोंका प्रयोजन दिखाया गया है और कहा गया है कि इन विशेषणोंके द्वारा अन्य वादियों द्वारा स्वीकृत आप्तोंका व्यवच्छेद किया गया है, क्योंकि आप्तताके लिए आवश्यक ये तीन गुण उनमें नहीं पाये जाते। पाँचवींसे सतहत्तर (५-७७) तककी बहत्तर कारिकाओं और उनकी टीकामें वैशेषिकदर्शन सम्मत पदार्थों, मान्यताओं व उनके उपदेशक महेश्वरकी विस्तारसे परीक्षा की गयी है। अठहत्तरसे तेरासी (७८-८३) तककी छह कारिकाओं और उनकी टीकामें सांख्यदर्शन-अभिमत तत्त्वों व उनके उपदेशक कपिल अथवा प्रधानकी समीक्षा की गयी है। चौरासीसे छियासी (८४-८६) तक तीन कारिकाओं और उनकी टीकामें बौद्धदर्शन-सम्मत तत्त्वों व उनके उपदेशक बुद्धकी परीक्षा करते हुए वेदान्तदर्शनके मोक्षमार्गप्रणेता परमपुरुषकी आलोचना की गयी है। सतासीसे एक-सौ नव (८७-१०९) तक तेईस कारिकाओं और उनकी टीकामें सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकोंके सर्वज्ञाभावप्रदर्शक मतका समालोचन करते हुए सामान्यतः सर्वज्ञ सिद्ध करके अरहन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है। और इस तरह 'विश्वतत्त्वज्ञातृत्व' विशेषणकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। एक-सौ दससे एक-सौ पन्द्रह (११०-११५) तक छह कारिकाओं और उनकी टीकामें 'कर्मभूभृद्भेदतृत्व' विशेषणकी सिद्धि की गयी है। एक-सौ सोलहसे एक-सौ उन्नीस (११६-११९) तक चार कारिकाओं और उनकी टीकामें 'मोक्षमार्गनेतृत्व' विशेषणका प्रसाधन एवं व्याख्यान किया है। एक-सौ बीस (१२०) वीं कारिका तथा उसकी टीकामें कारिका तीसरीके वक्तव्यको दोहराते हुए अरहन्तको ही आप्त-वन्दनीय प्रसिद्ध किया है। एक-सौ इक्कीस (१२१) वीं कारिका व उसकी टीकामें अरहन्तके वन्दनीय होनेमें हेतु बतलाया गया है। एक-सौ बाईससे एक-सौ चौबीस (१२२-१२४) तक तीन कारिकाओंमें आप्तपरीक्षाके सम्बन्धका उपसंहारात्मक अन्तिम वक्तव्य उपस्थित किया गया है। इस तरह ग्रन्थका यह सामान्य परिचय है।

(ख) ग्रन्थका महत्त्व और श्रेष्ठता

यह जैनदर्शनका एक अपूर्व और श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें दर्शनान्तरीय पदार्थोंकी व्यवस्थित मीमांसा और उनके उपदेशकों (ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्मा) की परीक्षाका जैसा सरल, विशद, विस्तृत और युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है वैसा ग्रन्थकारकी अन्य कृतियोंमें प्रायः अलभ्य है। ग्रन्थकारके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्रीगत उनके अगाध पाण्डित्यको देखकर आश्चर्य लगता है कि उनकी उस पाण्डित्यगर्भ

लेखनीसे इतनी सरल और विशद रचना कैसे प्रसूत हुई ? वास्तवमें यह उनकी सुयोग्य विद्वत्ताकी यह विशेषता है कि उसके द्वारा जटिल और सरल दोनों तरहकी अपूर्व रचनाएँ रची गयी हैं। सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानन्दने जब देखा कि मीमांसादर्शनके प्रतिपादक जैमिनिके मीमांसासूत्रपर शबरके भाष्यके अलावा भट्ट कुमारिलका मीमांसाश्लोक-वार्तिक भी है तब उन्होंने जैनदर्शनके प्रतिपादक श्रीगुह्यपिच्छाचार्यरचित सुप्रसिद्ध तत्त्वार्थसूत्रपर अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकभाष्यसे अतिरिक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा उसका भाष्य बनाया और उनमें अपना अगाध पाण्डित्य एवं तार्किकता निविष्ट की, जिसे उच्चकोटिके विशिष्ट दार्शनिक विद्वान् ही अवगत कर सकते हैं। साधारण लोगोंका उसमें प्रवेश पाना बड़ा कठिन है। अतएव उन्होंने जैनदर्शनजिज्ञासु प्राथमिक जनोके बोधार्थ प्रमाण-परीक्षा, आप्त-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा जैसे परीक्षान्त सरल एवं विशद ग्रन्थोंकी रचना की। आश्चर्य नहीं कि इन ग्रन्थोंके नाम-करणमें आ. विद्यानन्दको दिग्नागकी आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, धर्मकीर्तिकी सम्बन्धपरीक्षा, धर्मोत्तरकी प्रमाणपरीक्षा व लघुप्रमाणपरीक्षा और कल्याणरक्षितकी श्रुतिपरीक्षा जैसे पूर्ववर्ती परीक्षान्त ग्रन्थोंसे प्रेरणा मिली हो।

इस प्रकार जटिल और सरल दोनों तरहकी रचनाएँ करके विद्यानन्दने व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न उभय प्रकारके तत्त्वजिज्ञासुओंकी ज्ञान-पिपासाको शान्त किया है। और वे इसमें पूर्णतः सफल हुए हैं। उनकी प्रसन्न रचनाशैली पाठकपर आश्चर्यजनक प्रभाव डालती है और निश्चय ही पाठक उसकी ओर आकर्षित होता है। निःसन्देह उनके ये परीक्षान्त ग्रन्थ अधिक लोकप्रिय रहे हैं और आप्तपरीक्षा तो विशेष लोकप्रिय रही है। यही कारण है कि वह आज भी पठनक्रम और परीक्षाक्रममें निहित है। इससे स्पष्ट है कि आप्तपरीक्षा एक महत्त्वपूर्ण एवं श्रेष्ठ ग्रन्थ है और वह जैन दार्शनिक साहित्यमें ही नहीं, समग्र भारतीय दार्शनिक साहित्यमें भी आप्तविषयपर लिखा गया अनुपम आद्य परीक्षाग्रन्थ है। यद्यपि ईसाकी दूसरी, तीसरी शतीके महान् तार्किक स्वामी समन्तभद्रने इससे पूर्व 'आप्त' पर आप्तमीमांसा रची है और जिसे ही आदर्श मानकर आ. विद्यानन्दने प्रस्तुत आप्तपरीक्षा लिखी है, पर आप्त विषयक परीक्षान्त (आप्त-

१. लघुसमन्तभद्र (१३वीं शती) ने अपने 'अष्टसहस्रीटिप्पण' (पृ. १० लि.) में 'पत्रपरीक्षाया-मुक्त्वात्' कहकर पत्रपरीक्षा तथा अभिनव धर्मभूषण (१५वीं शती) ने 'न्यायदीपिका' (पृ. १७, पृ. ८१) में 'प्रपञ्चः पुनरवयवविचारस्य पत्रपरीक्षायामीक्षणोयः' और 'तदुक्तं प्रमाणपरीक्षायां ज्ञप्तिं प्रति' कहकर पत्रपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षाके समुल्लेख किये हैं। इससे इन ग्रन्थोंकी लोकप्रियता प्रकट है।

२. गणधरकीर्ति (वि. सं. ११८९) जैसे प्रमुख विद्वानोंने अपनी अध्यात्मतरंगिणीटीका आदिमें आप्तपरीक्षाका निम्न प्रकार समुल्लेख किया है—

'यतःश्रेयः शब्देन मोक्षमभिधीयते । श्रेयः परमपरं च प्राप्तविचारावसरे आप्तपरीक्षायां तथाभिधानात् ।' —अध्या. टी. लि. प. ५ ।

परीक्षा) ग्रन्थ सर्वप्रथम उन्होंने रचा मालूम होती है^१ और यह भी ज्ञात होता है कि उनके परीक्षान्त ग्रन्थोंमें आप्त-परीक्षा सबसे पहली रचना है।^२



-
१. विविध परीक्षाओंके संग्रहरूप तत्त्वसंग्रहमें बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षित (ई. ७४०-८४०) ने भी, जो विद्यानन्द (ई. ७७५-८४०) के समकालीन हैं, ईश्वर-परीक्षा, पुरुष-परीक्षा जैसे प्रकरण लिखे हैं, परन्तु आप्तपरीक्षा नामका प्रकरण उन्होंने भी नहीं लिखा।
 २. युक्त्यनुशासन और प्रमाण-परीक्षामें आप्त-परीक्षाका उल्लेख है तथा पत्रपरीक्षा और सत्यशासनपरीक्षाके सूक्ष्म अध्ययनसे मालूम होता है कि ये दोनों परीक्षा ग्रन्थ भी आप्त-परीक्षाके बाद रचे गये हैं। सत्यशासन परीक्षा तो, जो अपूर्ण है, विद्यानन्दके अन्तिम जीवनकी रचना है।

प्रमाण-परीक्षा

ग्रन्थ-परिचय

नाम—प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रमाण-परीक्षा' है। इसका यह नाम ग्रन्थकारने ग्रन्थका आरम्भ करते हुए 'अथ प्रमाण-परीक्षा' शब्दों द्वारा स्वयं प्रकट किया है तथा ग्रन्थके अन्तमें दिये गये समाप्ति-पुष्पिकावाक्यमें भी वह पाया जाता है।^१ अतः ग्रन्थका उक्त नाम निःसन्देह ग्रन्थकार-प्रदत्त है और ग्रन्थके उद्देश्य एवं प्रयोजनको व्यक्त करता हुआ वह तत्कालीन दार्शनिक स्थितिको प्रदर्शित करता है।

बौद्ध विद्वान् दिङ्नागने 'आलम्बनपरीक्षा' और 'त्रिकालपरीक्षा,' धर्मकीर्तिने 'सम्बन्धपरीक्षा,' धर्मोत्तरने 'प्रमाणपरीक्षा व लघु प्रमाणपरीक्षा' और कल्याणरक्षितने 'श्रुतिपरीक्षा' जैसे परीक्षान्त ग्रन्थ रचे हैं। विविध परीक्षाओंके संग्रहरूप 'तत्त्वसंग्रह' में शान्तरक्षितने भी ईश्वरपरीक्षा, पुरुषपरीक्षा जैसे परीक्षान्त प्रकरण लिखे हैं। आश्चर्य नहीं कि ग्रन्थकार आचार्य विद्यानन्दको अपने इस ग्रन्थका परीक्षान्त नाम रखनेमें उनसे प्रेरणा मिली हो। विद्यानन्दने 'आप्तपरीक्षा,' 'पत्रपरीक्षा' और 'सत्य-शासनपरीक्षा' ये तीन महत्त्वपूर्ण अन्य परीक्षा-ग्रन्थ भी परीक्षान्त नामसे बनाये हैं, जो प्रकाशित हो चुके हैं।

भाषा व शैली—यद्यपि दार्शनिक ग्रन्थोंकी भाषा प्रायः जटिल और दुरूह होती है। समासबहुलता भी उनमें विद्यमान रहती है। पर इसकी भाषामें न जटिलता है और न दुरूहता। समासबहुलता भी इसमें नहीं है। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्यका प्रतिपादन है। शैली भी सरल, प्रसादपूर्ण, भव्य और आकर्षक है। ग्रन्थकारके 'अष्टसहस्रो' (देवागमालंकार) और 'तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक' (तत्त्वार्थालंकार) में जैसी गम्भीरता और विस्तार है वैसी गम्भीरता एवं विस्तार भी इसमें नहीं है। ऐसा संक्षेप भी नहीं है, जिससे विषय स्पष्ट और हृदयंगम न हो सके। किन्तु मध्यम शैलीका आलम्बन लेकर विषयका प्रतिपादन किया गया है।

उद्देश्य व प्रयोजन—इसमें सन्देह नहीं कि इसका प्रणयन उन जिज्ञासुओंकी दृष्टिसे किया गया है, जिनका जैन प्रमाणशास्त्रमें प्रवेश नहीं है और जो तदीय प्रमाण विवेचनसे सरलतासे अवगत होना चाहते हैं। प्रमाणका विचार वास्तवमें एक ऐसा विचार है, जिसका सीधा सम्बन्ध तत्त्वज्ञानसे है और तत्त्वज्ञान निःश्रेयसका प्रधान कारण माना है। इसके अतिरिक्त वह समस्याओंसे बहुल लोकव्यवहारमें भी बहुत उपयोगी और अनिवार्यरूपसे वांछनीय है। इसी उद्देश्य एवं प्रयोजनसे भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणपर अधिक चिन्तन हुआ है और छोटी-बड़ी अनेकों रचनाएँ लिखी

१. 'इति प्रमाणपरीक्षा समाप्ता—यही ग्रन्थ पृ. ६७। सनातन जैन ग्रन्थमाला काशीसे प्रकाशित प्रतिका समाप्ति-पुष्पिकावाक्य भी देखिए, यही ग्रन्थ पृ. ६७, टिप्पण ३।

गयी हैं। विद्यानन्दने भी उसी उद्देश्य और प्रयोजनसे प्रमाणशास्त्रके अभ्यासियोंके लिए इस मध्यम परिमाणकी कृतिकी रचना की और उसमें जैन दृष्टिसे प्रमाणपर विचार किया है।

विभाग—भारतीय दर्शनोंमें प्रमाणपर विचार करते समय चार बातें विचारणीय रही हैं—१. प्रमाणका स्वरूप, २. प्रमाणकी संख्या, ३. प्रमाणका विषय और ४. प्रमाणका फल। ग्रन्थकारने भी इन्हीं चार बातोंका इसमें ऊहापोह किया है। साथ ही विभिन्न दार्शनिकोंकी तत्सम्बन्धी मान्यताओंकी संक्षेपमें किन्तु विशदतासे मीमांसा भी की है। यद्यपि ग्रन्थमें परिच्छेद या अध्याय जैसा विभाग नहीं है तथापि उक्त चारों बातों (विषयों) के प्रतिपादक चार प्रकरण इसमें अवश्य पाये जाते हैं।

प्रथम प्रकरण 'प्रमाणलक्षणपरीक्षा' है, जो प्रस्तुत ग्रन्थमें पृष्ठ १, अनुच्छेद २ से आरम्भ होकर पृष्ठ २८, अनुच्छेद ६४ तक है। इसमें नैयायिकादि द्वारा स्वीकृत सन्निकर्षादिप्रमाणलक्षणोंकी परोक्षापूर्वक सम्यग्ज्ञानको प्रमाणका अनवद्य लक्षण प्रतिपादित किया है। द्वितीय प्रकरण 'प्रमाणसंख्यापरीक्षा' है। यह पृष्ठ २८, अनुच्छेद ६५ से लेकर पृष्ठ ६५, अनुच्छेद १७५ तक है। इसकी जहाँ (पृष्ठ ६५ पर) समाप्ति हुई है वहाँ ग्रन्थकारने 'इति संख्याविप्रतिपत्तिनिराकरणमनवद्यम्, लक्षणविप्रतिपत्तिनिराकरणवत्' शब्दोंका प्रयोग किया है। उससे ज्ञात होता है कि यहाँ उन्होंने उक्त शब्दों द्वारा प्रथम और द्वितीय दो प्रकरणोंका संकेत किया है। इसके बाद (पृष्ठ ६५ पर) दिये गये 'विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं पुनरिदमभिधीयते' वाक्य द्वारा तीसरे 'प्रमाणविषयपरीक्षा' प्रकरणकी सूचना की गयी है, जो पृष्ठ ६५, अनुच्छेद १७६ से आरम्भ है और पृष्ठ ६६, अनुच्छेद १७७ में समाप्त है। इसके पश्चात् (पृष्ठ ६६ पर) प्रयुक्त 'फलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थं प्रतिपाद्यते' शब्दोंसे 'प्रमाणफलपरीक्षा' नामके चौथे प्रकरणका भी स्पष्ट निर्देश है। यह पृष्ठ ६६, अनुच्छेद १७८ से पृष्ठ ६७, अनुच्छेद १८० तक है। पिछले तीन प्रकरणोंमें दूसरा 'प्रमाणसंख्यापरीक्षा' प्रकरण सबसे बड़ा है और वह ग्रन्थके आधे भागसे अधिक सैंतीस पृष्ठ जितना है। इसमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच परोक्ष प्रमाणोंका इतरमतकी मीमांसाके साथ विशद निरूपण है। इनमें अनुमान व उसके परिवारका सबसे अधिक वर्णन है। तीसरा और चौथा ये दो प्रकरण बहुत छोटे हैं। लगभग दोनों ही आधा-आधा पृष्ठके हैं। तीसरेमें प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु बताया गया है तथा चौथेमें प्रमाणका फल कथंचिद्विन्नाभिन्न प्रतिपादित किया है। इस प्रकार यह ज्ञात करना कठिन नहीं है कि ग्रन्थमें परिच्छेद या अध्यायका विभाग न होनेपर भी विषय-प्रतिपादक प्रकरण-विभाग तो है ही और वह चार प्रकरणोंमें स्पष्टतया प्राप्त है।

विषय-परिचय

यद्यपि उक्त ग्रन्थ-परिचयसे ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय सामान्यतया विदित हो जाता है, तथापि विषय-परिचय द्वारा ग्रन्थमें चर्चित विषयोंका यहाँ कुछ विस्तृत और विवेचनात्मक प्रतिपादन अभीष्ट है। इससे पाठकों, विशेषतया प्रमाणशास्त्रके प्राथमिक जिज्ञासुओंके लिए बोधवर्धक पर्याप्त सामग्री प्राप्त हो सकेगी।

मंगलाचरण

भारतीय वाङ्मयमें मंगलाचरणकी परम्परा बहुत प्राचीन है। मीमांसा-दिदर्शनोंमें 'अथातो धर्मजिज्ञासा' जैसे शब्दोंका प्रयोग करके ग्रन्थारम्भ किया गया है। 'अथ' और 'ओम्' शब्दोंको मंगलवाची माना गया है^२। जैन वाङ्मयमें तो मंगलाचरणकी प्रवृत्ति विशेष रही है। जैनागमके उपलब्ध प्रसिद्ध 'षट्खण्डागम'^३ में सुप्रसिद्ध 'णमो अरहंताणं' आदि गाथाद्वारा मंगल किया गया है। तिलोपपण्णत्ति'^४ में मंगलका प्रयोजन, उसकी आवश्यकता आदिपर विस्तृत और सांगोपांग प्रतिपादन उपलब्ध है। 'धवला'^५ टीकामें भी मंगलकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। आचार्य कुन्दकुन्दने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, समयसार आदि सभी ग्रन्थोंमें मंगलगान किया है। आद्य जैन संस्कृतगद्यसूत्र ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' में आचार्य गृद्ध-पिच्छने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मंगलश्लोकको निबद्ध कर उसका आरम्भ किया है।

मंगलके अनेक प्रयोजन बतलाये गये हैं। निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्ति, शिष्टाचार-परिपालन, नास्तिकता-परिहार, कृतज्ञता-प्रकाशन और शिष्यशिक्षा ये पाँच प्रयोजन अभिहित हैं। इनके अतिरिक्त 'पुण्यावाप्ति' भी एक प्रयोजन गिनाया गया है। 'आप्तपरोक्षा' में^६ ग्रन्थकार आचार्य विद्यानन्दने 'श्रेयोमार्गसंसिद्धि' को भी मंगलका सबसे बड़ा प्रयोजन कहा है। शास्त्रमें^७ तीन स्थानोंपर मंगल करनेका विधान किया गया है और तीनों स्थानोंके मंगलका फल बतलाते हुए कहा गया है कि आरम्भमें मंगल करनेसे शिष्य सरलतासे शास्त्र-पारंगत होते हैं, मध्यमें मंगलके करनेसे उन्हें निर्विघ्न विद्या-प्राप्ति होती है और अन्तमें मंगलके आचरणसे वे विद्या-फल (निःश्रेयस्) को प्राप्त होते हैं।

दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा. २), विशेषावश्यकभाष्य (गा. १२ से १४), बृहत्कल्पभाष्य (गा. २०) आदि श्वेताम्बर वाङ्मयमें भी मंगलका प्रतिपादन है।

मंगल तीन प्रकारका बतलाया गया है^८—१. मानसिक, २. वाचिक और ३.

१. मीमांसासूत्र १।१।

२. वैशेषि. सूत्रोप., पृ. २।

३. षट्ख. १।१।१, पुस्तक १, पृ. ८।

४. गाथा १-८ से १-३१।

५. धवला १।१।१, पुस्तक १, पृ. ८ से ४१।

६. नास्तिकत्व-परिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥—उद्धृत अन. घ., पृ. १।

७. आप्तप., का. २।

८. ति. प., १-२९, ३१।

९. न्यायदी., पृ. ३ का टिप्पण। तथा 'कतिविधं मंगलम्? मंगलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यभेदात्त्रिविधम्,.....'—धवला पुस्तक १, १।१।१, पृ. ३७।

कायिक । भगवत्स्मरणको मानसिक, भगवद्गुणसंस्तवनको वाचिक और शिरोनति आदिको कायिक मंगल कहा गया है । वाचिक मंगल दो प्रकारसे किया जाता है^१— १. निबद्ध और २. अनिबद्ध । जो मंगल श्लोकादिके रूपमें शास्त्रमें लिखा जाता है वह निबद्ध वाचिक और जो लिखा न जाकर केवल मुखसे उच्चारण किया जाता है वह अनिबद्ध वाचिक मंगल है । इसीसे कितने ही शास्त्रकार ग्रन्थ-प्रणयनकी शीघ्रताके कारण निबद्ध-वाचिक मंगल न करते हुए भी मानसिक, कायिक या अनिबद्ध वाचिक मंगल करनेवाले माने गये हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थमें ग्रन्थकारने 'जयन्ति निर्जिताशेष-' आदि पद्य द्वारा निबद्ध-वाचिक मंगल किया और मंगलाचरणकी पूर्व परम्पराका अनुसरण किया है । ध्यातव्य है कि इस मंगलपद्यको 'प्रमाणप्रमेयकालिका'^२ में उसके कर्ता श्रीनरेन्द्रसेनने भी अपना मंगलाचरण बनाया है और उसके वैशिष्ट्यको ख्यापित किया है ।

प्रमाण-लक्षण

भारतीय दर्शनोंमें सर्वप्रथम प्रमाणका लक्षण किसने किया, इसका अनुसन्धान करनेपर ज्ञात होता है कि वैशेषिक दर्शनकार मुनि कणादने स्वाभिमत सात पदार्थोंके अन्तर्गत गुणपदार्थके चौबीस भेदोंमें परिगणित बुद्धिको दो प्रकारकी कही है—१. विद्या और २. अविद्या । जो निर्दोष ज्ञान है वह विद्या है और जो निर्दोष ज्ञान नहीं है वह अविद्या है । कणादके इस प्रतिपादनानुसार निर्दोष ज्ञानरूप विद्या प्रमाण है^३ ।

न्यायसूत्रकार गौतमने प्रमाणका लक्षण नहीं कहा । किन्तु उनके न्यायसूत्रपर भाष्य लिखनेवाले वात्स्यायनने^४ अवश्य उपलब्धिसाधनको प्रमाण बतलाते हुए उसे 'प्रमाण' शब्दकी 'प्रमीयतेऽनेनेति' इस व्युत्पत्ति-द्वारा फलित किया है । उद्योतकरने^५ भाष्यकारका ही अनुसरण किया है । जयन्तभट्ट^६ भी भाष्यकार तथा वाक्तिकारकी तरह प्रमाणशब्दको करणार्थभिधायी मानकर उनके द्वारा प्रदर्शित प्रमाणशब्दकी उक्त व्युत्पत्तिसे सहमत हैं । किन्तु वे उस व्युत्पत्तिसे 'उपलब्धिसाधनं प्रमाणम्' ऐसा फलित न मानकर 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' इस प्रकार अवगम करते हैं । यद्यपि उपलब्धिसाधन और प्रमाकरण दोनोंमें सामान्यतः कोई अन्तर नहीं है, फिर भी सूक्ष्म ध्यान देनेपर उनका अन्तर अवगत हो जाता है । उपलब्धि शब्दसे यथार्थ और

१. 'तच्च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि । तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं । जो सुत्तस्सादीए....कय-देवदा-णमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं ।' —धवला पुस्तक १, १।१।१, पृ. ४१ ।

२. प्रमा. प्रमे. क., पृ. १, भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रकाशन ।

३. 'अदुष्टं विद्या', वैशेषिकसू., ९।२।१२ ।

४. न्यायभाष्य, पृष्ठ १८ ।

५. न्यायवा., पृ. ५ ।

६. 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते' न्यायमं., पृ. २५ ।

अय्यार्थ दोनों प्रकारके ज्ञानका बोध होता है। किन्तु प्रमा शब्दसे यथार्थ ज्ञानका ग्रहण होता है और इस दृष्टिसे जयन्तभट्टका उक्त फलित प्रमाणलक्षण विकसित और परिष्कृत है।

मीमांसादर्शनमें दो परम्पराएँ हैं—एक कुमारिलभट्टकी और दूसरी प्रभाकर की। कुमारिलने प्रमाणका लक्षण पाँच विशेषणोंसे युक्त बतलाया है। वह यह है—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥

यह श्लोक कुमारिलके नामसे प्रसिद्ध है। किन्तु उनके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें वह उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि वह कुछ प्रतियोंमें छूट गया हो। या उनके किसी दूसरे अनुपलब्ध ग्रन्थका हो।

प्रभाकर अनुभूतिको प्रमाण मानते हैं। उनके अनुयायी शालिकानाथ^३ आदिने उसका समर्थन किया है।

सांख्य^३ इन्द्रियवृत्तिको प्रमाणका लक्षण स्वीकार करते हैं। उनका मन्तव्य है कि इन्द्रियोंका उद्घाटनादि व्यापार होनेपर अर्थप्रमिति होती है, उसके अभावमें नहीं।

बौद्धदर्शनमें सर्वप्रथम दिङ्नागने^४ प्रमाणलक्षण किया जान पड़ता है। उन्होंने अज्ञातार्थके प्रकाशकको प्रमाण कहा है तथा विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्तिको फल बतलाकर उन्हें प्रमाणसे अभिन्न माना है,^५ क्योंकि बौद्ध दर्शनमें प्रमाण तथा प्रमाणफल दोनोंमें अभेद स्वीकार किया गया है। धर्मकीर्तिने^६ अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण प्रतिपादित किया है। और शान्तरक्षितने^७ दिङ्नागकी तरह विषयाधिगति अथवा स्ववित्तिको प्रमाणफल तथा साहचर्य अथवा योग्यताको प्रमाण कहकर उनमें भेदकी ओर संकेत किया है। पर वह अभेदमें ही पर्यवसित है।

जैन चिन्तकों द्वारा प्रमाणस्वरूप-विमर्श

जैन दर्शनमें भी प्रमाणके लक्षणपर चिन्तन किया गया है। आरम्भमें उसका क्या रूप रहा और उत्तर कालमें उसमें कितना व क्या विकास हुआ, इन बातोंपर यहाँ संक्षेपमें विचार किया जाता है।

१. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम् ।—बृहती., १।१।५ ।

२. प्रकरणपं. प्रमाणपा., पृ. ६४ ।

३. प्रमाणं वृत्तिरेव च ।—योगवा., पृ. ३० । रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः । सांख्यका., २८ । माठरवृ., ४७ । सांख्यप्र. भा. १-८७, पृ. ४७ । योगद. व्यासभा., पृ. २७ ।

४. अज्ञातार्थप्रकाशकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् ।—प्रमाणसमु., का. ३, पृ. ११ ।

५. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥ —वही, १।१० ।

६. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्—प्रमाणवा. ।—२।१ ।

७. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु साहचर्यं योग्यतापि वा ॥

—तत्त्वसं. का. १३४४ ।

आगमोंमें दर्शनशास्त्रीय पद्धतिसे प्रतिपादित प्रमाणकी विचारणा तो उपलब्ध नहीं है। पर उनमें आगमिक पद्धतिसे ज्ञान-मीमांसा विस्तारपूर्वक है। षट्खण्डागममें^१ ज्ञानमार्गणानुसार आठ ज्ञानोंका प्रतिपादन करते हुए तीन ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान और पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान निरूपित किया है।

कुन्दकुन्दने^२ उक्त आगमप्रतिपादित ज्ञानको प्रथमतः दो प्रकारका बतलाया है—१. स्वभावज्ञान और २. विभावज्ञान। स्वभावज्ञान एक ही तरहका है और वह है केवलज्ञान। विभावज्ञानके दो भेद हैं—१. सम्यग्ज्ञान और २. अज्ञान (मिथ्याज्ञान)। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान सत्यार्थग्राही और क्षयोपशमजन्य होनेसे सम्यग्ज्ञानविभावज्ञान हैं और कुमति, कुश्रुत एवं विभंगावधि ये तीन ज्ञान असत्यार्थग्राही और क्षयोपशमजन्य होनेसे अज्ञान (मिथ्याज्ञान) हैं। कुन्दकुन्दका यह निरूपण प्रायः आगमपरम्पराका ही अनुसरण करता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार गृद्धपिच्छने^३ अवश्य उक्त आगमपरम्पराको अपनाते हुए भी उसमें नया मोड़ दिया है। उन्होंने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच आगमोक्त ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहकर उन्हें स्पष्टतया प्रमाण प्रतिपादित किया है। अर्थात् उन्हें प्रमाणका लक्षण बतलाया है।

समन्तभद्रने^४ उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानको तत्त्वज्ञान कहा है और उसे प्रमाण वर्णित किया है। उसे उन्होंने दो भागोंमें विभक्त किया है—१. युगपत्सर्वभासि और २. क्रमभासि, जो स्याद्वादनयसे सुसंस्कृत होता है। ध्यान देनेपर गृद्धपिच्छ और समन्तभद्रके प्रमाणलक्षणोंमें शब्दभेदको छोड़कर कोई मौलिक अर्थभेद प्रतीत नहीं होता। सम्यक् और तत्त्व दोनोंका एक ही अर्थ है और वह है—सत्य—यथार्थ। अतएव सम्यग्ज्ञानको या तत्त्वज्ञानको प्रमाण कहना एक ही बात है।^५

समन्तभद्रने^६ एक और प्रमाणलक्षण दिया है, जिसमें उसे स्व और पर दोनोंका अवभासक कहा है। उनका यह 'स्वपरावभासकत्व' प्रमाणलक्षण बिलकुल नया और मौलिक है। उनसे पूर्व इस प्रकारका प्रमाणलक्षण उपलब्ध नहीं होता। विज्ञानाद्वैतवादी

१. षट्खण्डागम, १।१।१५।

२. णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं ति ॥१०॥

केवलमिदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।

सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं ॥११॥

सण्णाणं चउभेयं मदि-सुद-ओही तहेव मणपज्जं।

अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई-भेददो चेव ॥१२॥ —नियमसा., पृ. ११, १२।

३. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे।—त. सू. १।९, १०।

४. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥—आप्तमी., का. १०१।

५. विद्यानन्द, अष्टस., का. १०१, पृ. २७६।

६. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।—स्वयम्भूस्तो., का. ६३।

‘स्वरूपस्य स्वतो गतेः’,^१ ‘स्वरूपाधिगतेः परम्’^२ आदि प्रतिपादनो द्वारा प्रमाणको केवल स्वसंवेदी और सौत्रान्तिक ‘अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्’,^३ ‘अज्ञातार्थप्रकाशो वा’,^४ ‘प्रमाणमविसंवादि ज्ञानामर्थक्रियास्थितेः’^५ जैसे कथनों द्वारा उसे पर (अर्थ) संवेदी मानते हैं। परोक्षज्ञानवादी मोमांसक^६ तथा अस्वसंवेदिज्ञानवादी^७ नैयायिक-वैशेषिक एवं सांख्य प्रमाणको परसंवेदी ही स्वीकार करते हैं। परन्तु किसी भी तार्किकने प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एकसाथ संवेदी नहीं माना। जैन तार्किक समन्तभद्र ही ऐसे तार्किक हैं, जिन्होंने सर्वप्रथम प्रमाणको एकसाथ स्व-परपरिच्छेदी प्रतिपादन किया है। उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने उनका अनुगमन करते हुए उसे स्वपरावभासी सिद्ध किया है। उनका मन्तव्य है कि ज्ञान चमचमाता हीरा या ज्योतिपुंज दीपक है, जो अपनेको प्रकाशित करता हुआ उसी कालमें योग्य देशादिमें स्थित बाह्य पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। जो स्वपरपरिच्छेद यथार्थ होता है वही प्रमाण है। ‘प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्’—जिसके द्वारा प्रमा (अज्ञाननिवृत्ति) हो वह प्रमाण है। प्रमाणशब्दको इस व्युत्पत्तिके अनुसार नैयायिक-वैशेषिक वह प्रमा सन्निकर्षसे, सांख्य इन्द्रियवृत्तिसे, मोमांसक इन्द्रियसे और बौद्ध सांख्य एवं योग्यतासे स्वीकार करते हैं। अतः उनके यहाँ क्रमशः सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, इन्द्रिय और सांख्य एवं योग्यताको प्रमाण माना गया है। समन्तभद्रने स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमाण प्रतिपादन करके उक्त मतोंको अस्वीकार किया है। बात यह है कि उक्त सन्निकर्षादि अज्ञान (जड) रूप हैं और अज्ञानसे अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमा सम्भव नहीं है। अन्धकारकी निवृत्ति प्रकाशसे ही होती है, घटादिसे नहीं।

न्यायावतारकार सिद्धसेनने समन्तभद्रके उक्त प्रमाण-लक्षणको अपनाते हुए उसमें एक विशेषण और दिया है। वह है बाधविर्वजित। यह विशेषण कुमारिलके पूर्वोक्त प्रमाणलक्षणमें भी विद्यमान है। वास्तवमें यह विशेषण गृद्धपिच्छोक्त ‘सम्यक्’ विशेषण और समन्तभद्रोक्त ‘तत्त्व’ विशेषण द्वारा गतार्थ हो जाता है। अतः ‘बाध-विर्वजित’ विशेषणको देनेसे कोई विशेष फल उपलब्ध नहीं होता।

१. धर्मकीर्ति, प्रमाणवा. २।४।

२. वही, २।५।

३. दिङ्नाग, प्रमाणसमु. (स्वोपज्ञवृ.) १।

४. प्रमाणवा., २।५।

५. वही, २।१।

६. भाट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्। ज्ञानजन्या ज्ञातता तथा ज्ञानमनुमीयते।—सिद्धान्त-मु., पृ. ११९।

७. ‘...नापि च तयैव व्यक्त्या तस्या एव ग्रहणमुपेयते येनात्मनि वृत्तिविरोधो भवेत्, अपि तु प्रत्यक्षादिजातीयेन प्रत्यक्षादिजातीयस्य ग्रहणमातिष्ठामहे।....’—न्यायवा. ता. टी. पृ. ३७०। विवादाध्यासिताः (प्रत्ययाः) प्रत्ययान्तरैणैव वेद्याः प्रत्ययत्वात्,....तथा च न स्वसंवेदनं विज्ञानमिति सिद्धम्।’—विधिवि. न्यायकणि. पृ. २६७। प्रशस्तपा. व्योम. पृ. ५२९। प्रमे. क. मा. १-१० पृ. १३२।

८. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविर्वजितम्।—न्यायाव. का. १।

तत्त्वार्थसूत्रके आद्य टीकाकार पूज्यपादने^१ समन्तभद्रके अनुसरणके साथ सन्निकर्ष और इन्द्रियप्रमाण सम्बन्धी मान्यताओंकी समीक्षा भी की है। उनका कहना है^२ कि सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनके द्वारा उन पदार्थोंका ज्ञान असम्भव है। फलतः सर्वज्ञताका अभाव हो जायेगा। दूसरे, इन्द्रियाँ अल्प—केवल स्थूल, वर्तमान और आसन्न विषयक हैं और ज्ञेय (सूक्ष्म, व्यवहितादिरूप) अपरिमित है। ऐसी स्थितिमें इन्द्रियों और सन्निकर्षसे समस्त ज्ञेयों (अतीत-अनागतादिपदार्थों) का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। तीसरे, चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी होनेके कारण सभी इन्द्रियोंका पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष भी सम्भव नहीं है। चक्षु स्पृष्टका ग्रहण न करने और योग्य दूर स्थितका ग्रहण करनेसे अप्राप्यकारी है।^३ यदि चक्षु प्राप्यकारी हो, तो उसे स्वयंमें लगे अंजनको देख लेना चाहिए। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय स्पृष्टको ग्रहण कर लेती है। पर चक्षु स्पृष्ट अंजनको नहीं ग्रहण करती। अतः चक्षु मनकी तरह अप्राप्यकारी है। दूसरे, स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी तरह वह समीपवर्ती वृक्षकी शाखा और दूरवर्ती चन्द्रमाको एक साथ नहीं देख सकती। तीसरे, चक्षु अभ्रक, काँच और स्फटिक आदिसे आच्छादित पदार्थोंको भी देख लेती है, जबकि प्राप्यकारी स्पर्शनादि इन्द्रियाँ उन्हें नहीं जान पातीं। चौथे, यह आवश्यक नहीं कि जो कारण हो वह पदार्थसे संयुक्त होकर ही काम करे। चुम्बक लोहेसे असंयुक्त होकर दूरसे ही उसे खींच लेता है। पाँचवें, चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर पदार्थमें दूर और निकटका व्यवहार नहीं हो सकता। इन सब कारणोंसे चक्षु अप्राप्यकारी है।

पूज्यपादने^४ ज्ञानको प्रमाण माननेपर सन्निकर्ष और इन्द्रिय प्रमाणवादियों द्वारा उठायी गयी उस आपत्तिका भी परिहार किया है जिसमें कहा गया है कि यदि ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया जाता है तो प्रमाणके फलका अभाव हो जायेगा। सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर तो उसका 'अर्थज्ञान' फल बन जाता है? पूज्यपाद इस आपत्तिका परिहार करते हुए कहते हैं कि ज्ञानको प्रमाण माननेपर फलका अभाव नहीं होता, क्योंकि पदार्थका ज्ञान होनेके उपरान्त प्रमाताको उसमें प्रीति

१. सन्निकर्षः प्रमाणमिन्द्रियं प्रमाणमिति केचित् कल्पयन्ति तन्नित्युच्यते । तदेव मत्यादि प्रमाणं नान्यदिति....।—स. सि. १।१० ।
२. अथ सन्निकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः ? यदि सन्निकर्षः प्रमाणम्, सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टानामर्थानामग्रहणप्रसंगः ।...।—स. सि. १।१०, पृष्ठ ७६ ।
३. (क) अप्राप्यकारि चक्षुः स्पृष्टानवग्रहात् । यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमंजनं गृह्णीयात् न तु गृह्णाति मनोवदप्राप्यकारीति ।—स. सि. १।१९, 'पृ. ११९, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन । (ख) अकलंक, त. वा. १।१९, पृ. ६७, ६८, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन । (ग) डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, जैनदर्शन पृ. २७०, वर्णी-ग्रन्थमाला प्रकाशन ।
४. ननु चोक्तं ज्ञाने प्रमाणे सति फलाभाव इति, नैष दोषः, अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात् ।... उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम् ।...।—स. सि. १।१० । समन्तभद्र, आप्तमी. का. १०२ । माणिक्यनन्दि, परीक्षामु. ५।१ ।

होती है। प्रमाता ज्ञातास्वभाव है, किन्तु कर्मके कारण वह आच्छादित रहता है और इसलिए वह इन्द्रियोंको सहायतासे पदार्थ-निश्चय करता है और इस पदार्थ-निश्चयमें उसे प्रीति (अनुरक्ति) होती है। यह प्रीति उसका फल है। अथवा उपेक्षा या अज्ञाननिवृत्ति अर्थज्ञानरूप प्रमाणका फल है। राग या द्वेषका लगाव न होना उपेक्षा है और अन्धकारतुल्य अज्ञानका दूर हो जाना अज्ञाननाश है।

स्मरणीय है कि वात्स्यायन^१ और जयन्तभट्टने^२ भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया है तथा उस स्थितिमें प्रमाणका फल हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि बतलाया है। पर यह सत्य है कि न्यायदर्शनमें मुख्यतया उपलब्धिसाधन या प्रमाकरण रूपमें सन्निकर्ष या कारकसाकल्यको ही प्रमाण माना गया है और ज्ञानको समीने एक-मतसे अस्वसंवेदी प्रतिपादन किया है। ज्ञानको जो प्रमाण और उसके फलको हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप मान लिया गया है वह जैनदर्शनका प्रभाव प्रतीत होता है। जो हो, वह अनुसन्धेय है।

अकलंकदेवने^३ समन्तभद्रोपज्ञ उक्त प्रमाणलक्षण और पूज्यपादकी प्रमाण-मीमांसाको मान्य किया है। पर सिद्धसेन द्वारा प्रमाणलक्षणमें दत्त 'बाधविर्वर्जित' विशेषण उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उसके स्थानपर उन्होंने एक दूसरा ही विशेषण दिया है जो न्यायदर्शनके प्रत्यक्ष-लक्षणमें निहित है, पर प्रमाण-सामान्यलक्षणवादियों और जैनतार्किकोंके लिए वह नया है। वह विशेषण है—व्यवसायात्मक। अकलंकका मत है कि चाहे प्रत्यक्ष हो, और चाहे अन्य प्रमाण। प्रमाणमात्रको व्यवसायात्मक होना चाहिए। कोई भी ज्ञान हो वह निर्विकल्प, कल्पनापोढ़ या अव्यपदेश्य नहीं हो सकता। यह सम्भव नहीं कि अर्थका ज्ञान हो और विकल्प न उठे। ज्ञान तो विकल्पात्मक ही होता है। इस प्रकार इस विशेषण द्वारा अकलंकने जहाँ बौद्धदर्शनके निर्विकल्पक प्रत्यक्षकी मीमांसा की है वहाँ न्यायदर्शनमें मान्य अव्यपदेश्य^४ (अविकल्पक) प्रत्यक्षज्ञानकी भी समीक्षा की है। अकलंकने समन्तभद्रके प्रमाणलक्षणगत 'स्व' और 'पर' पदके स्थानमें क्रमशः 'आत्मा' और 'अर्थ' पदोंका समावेश किया तथा 'अव-भासक' पदकी जगह 'ग्राहक' पद रखा है। पर वास्तवमें अर्थको दृष्टिसे इस परिवर्तनमें कोई अन्तर नहीं—मात्र शब्दोंका हेर-फेर है। अकलंकदेवने प्रमाणके अन्य लक्षण भी भिन्न-भिन्न स्थानोंपर दिये हैं। इन लक्षणोंमें मूल आधार तो आत्मार्थग्राहकत्व एवं व्यवसायात्मकत्व ही है, पर उनमें अर्थके विशेषणरूपसे कहीं उन्होंने^५ 'अनधिगत'

१. यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यः फलम् ।—न्यायभा. १।१।३ ।

२. प्रमाणतायां सामग्र्यास्तज्ज्ञानं फलमिष्यते ।

तस्य प्रमाणभावे तु फलं हानादिबुद्ध्यः ॥—न्यायमं. पृष्ठ ६२ ।

३. अक्षपाद, न्यायसू. १।१।४ ।

४. दिङ्नाग, प्र. स. (प्र. परि.) का. ३ ।

५. इह हि द्वयी प्रत्यक्षजातिरविकल्पिका सविकल्पिका चेति ।—वाचस्पति, न्यायवा. ता. टी. १।१।४, पृ. १२५, चौखम्बा प्रकाशन ।

६. अष्टश. आसमी. का. ३६ तथा का. १०० ।

और कहीं 'अनिर्णीत' पदको दिया है। तथा कहीं ज्ञानके विशेषण रूपसे 'अविसंवादि'^१ पदको भी रखा है। ये पद कुमारिल^२ तथा धर्मकीर्तिसे^३ लिये गये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें ये पद पहलेसे निहित हैं। हां, 'अवि-संवादि' पद तो धर्मकीर्तिसे पूर्व भी जैन चिन्तक पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (१।१२) में उपलब्ध है।

विद्यानन्दने^४ यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है, जो आचार्य गृद्धपिच्छके^५ अनुसरणको व्यक्त करता है। पर पीछे उसे उन्होंने 'स्वार्थव्यवसायात्मक' भी सिद्ध किया है। इस प्रकार उनके प्रमाणलक्षणमें अकलंककी तरह 'अनधिगत' विशेषण प्राप्त नहीं है। फिर भी उन्हें सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना अनिष्ट नहीं है। अकलंककी भाँति उन्होंने भी स्मृत्यादि प्रमाणोंमें अपूर्वार्थविषयताका स्पष्टतया समर्थन किया है।^६ प्रमाणके सामान्यलक्षणमें जो उन्होंने 'अपूर्व' या 'अनधिगत' विशेषण नहीं दिया, उसका इतना ही तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है, अनुमानादि भी प्रत्यक्षादिसे अगृहीत देश-कालादिविशिष्ट वस्तुको विषय करनेसे अपूर्वार्थग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। विद्यानन्दने^७ जिस अपूर्वार्थका निरास किया है वह कुमारिलका अभिप्रेत सर्वथा अपूर्वार्थ है, कथंचिद् अपूर्वार्थ नहीं। कथंचिद् अपूर्वार्थ तो उन्हें इष्ट है।

विद्यानन्दके परवर्ती माणिक्यनन्दिने^८ अकलंक तथा विद्यानन्दद्वारा स्वीकृत और समर्थित समन्तभद्रोक्त लक्षणको ही अपनाया है। उन्होंने समन्तभद्रका 'स्व' पद ज्यों-कान्त्यों रहने दिया और 'अर्थ' तथा 'व्यवसायात्मक' पदोंको अकलंक और विद्यानन्दसे लेकर एवं 'अर्थ' के विशेषणरूपसे 'अपूर्व' पदको उसमें जोड़कर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' प्रमाणलक्षण सृजित किया है। यद्यपि 'अपूर्वार्थ' विशेषण कुमारिलके प्रमाणलक्षणमें हम देख चुके हैं तथापि वह अकलंक और विद्यानन्दद्वारा 'कथंचिद् अपूर्वार्थ' के रूपमें जैन परम्परामें प्रतिष्ठित हो चुका था। माणिक्यनन्दिने उसे ही अनुसृत किया है। माणिक्यनन्दिका यह प्रमाणलक्षण इतना लोकप्रिय हुआ कि उत्तरवर्ती अनेक जैन तार्किकोंने उसे ही कुछ आंशिक परिवर्तनके साथ अपने तर्कग्रन्थोंमें मूर्धन्य स्थान दिया है।

१. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।—वही, का. ३६, पृ. २२ ।
सनातनग्रन्थमाला प्रकाशन ।

२. 'तत्रापूर्वार्थविज्ञानं' कुमारिलका पूर्वोक्त श्लोक ।

३. प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्.....—प्रमाणवा. २।१ ।

४. प्रमाणप. पृ. १ ।

५. त. सू १।९, १० ।

६. किं पुनः सम्यग्ज्ञानम् । समभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात् ।
—प्रमाणप. पृ. ५ ।

७, ८. प्रमाणप., पृ. ४३, ४५ । त. श्लो. वा. १।१०।७७, ७८, ७९ ।

९. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।—परीक्षामु. १।१ ।

देवसूरि^१ ने अपना प्रमाणलक्षण प्रायः सिद्धसेनके न्यायावतारगत प्रमाणलक्षण और माणिक्यनन्दिके प्रमाणलक्षणके आधारपर लिखा है।

हेमचन्द्र^२ ने उक्त लक्षणोंसे भिन्न प्रमाणलक्षण रचा है। इसमें उन्होंने 'स्व' पदका समावेश नहीं किया। तत्त्वार्थसूत्रकारके 'सम्यक्' पदको ज्यों-का-त्यों लेकर और उनके 'ज्ञान' पदके स्थानमें 'निर्णय' पद देकर तथा उसके विशेषणके रूपमें 'अर्थ' पद लगाकर 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' लक्षण प्रस्तुत किया है। 'स्व' पद न देनेका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं^३ कि ज्ञान 'स्वनिर्णय' अवश्य करता है, किन्तु वह प्रमाण-अप्रमाणज्ञानका साधारणधर्म है—प्रमाणरूप ज्ञानका ही वह धर्म नहीं है और इसलिए वह प्रमाण (ज्ञानविशेष) का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि लक्षण असाधारण होता है। अतएव हमने स्वनिर्णयको प्रमाणका लक्षण नहीं कहा। वृद्धोंने जो उसे प्रमाणलक्षण माना है वह केवल परीक्षा या स्वरूपप्रदर्शनके लिए ही बतलाया है। हेमचन्द्रने प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' या 'अनधिगत' जैसे पदके देनेको भी अनावश्यक कहा है। उनका मन्तव्य है कि गृहीष्यमाण अर्थके ग्राहक ज्ञानकी तरह गृहीतार्थके ग्राही ज्ञानको भी प्रमाण माननेमें कोई बाधा नहीं है। ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर परम्पराके सभी जैन तार्किकोंको प्रमाणलक्षणमें 'अपूर्व' विशेषण अस्वीकृत है।

अभिनव धर्मभूषणने^४ तत्त्वार्थसूत्रकार और विद्यानन्दकी तरह 'सम्यग्ज्ञान' को ही प्रथमतः प्रमाणका लक्षण बतलाया है। बादको उन्होंने^५ उसका समर्थन एवं दोष-परिहार करते हुए उसे माणिक्यनन्दिके 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' इस प्रमाणलक्षणमें ही पर्यवसित किया है।

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जैन दर्शनमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाणलक्षण माना है और उसे 'स्वपरव्यवसायात्मक' बतलाया है। अनेक ग्रन्थकार उसमें 'पर' (अर्थ) पदके साथ 'अपूर्व' विशेषणका भी निवेश करके उसे 'अगृहीतग्राही' प्रतिपादन करते हैं। उनका मत है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रमाण अनिश्चित एवं समारोपित विषयको ग्रहण करके अपनी अपूर्वता (विशेषता) स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ अनुभव (प्रत्यक्ष) के पश्चात् होनेवाली स्मृति भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालोंमें व्याप्त वस्तुके केवल अतीत अंशको ग्रहण करती है, जबकि अनुभव मात्र वर्तमान वस्त्वंशको जानता है। यद्यपि अंशके साथ अंशो भी

१. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणमिति ।—प्रमाणनयतत्त्वा. १।२ ।

२. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।—प्र. मी. १।१२ ।

३. स्वनिर्णयः सन्नप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात्''''। न हि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम । ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुक्तोऽस्माभिः, वृद्धैस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्तः ।
—प्रमा. मी. १।१३ ।

४. गृहीष्यमाणग्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ।—प्र. मी., १।१४, पृ. ४, सिधो जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन ।

५. न्यायदी., पृ. ९, वीर-सेवा-मंदिर प्रकाशन ।

६. वही, पृ. १२, १८-२२ ।

अनुस्यूत रहनेसे गृहीत हो जाता है, पर उसका ग्रहण गौणरूपसे होता है, मुख्यतया उनके द्वारा अंशोंका ही ग्रहण होता है और अंश अंशीसे कथंचिद् भिन्न होनेके कारण प्रत्यक्ष और स्मृतिमें कथंचित् अपूर्वता रहती है। वास्तवमें प्रत्यक्ष तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँचों परोक्ष-प्रमाण वस्तुके उन अंशोंमें प्रवृत्त होते हैं, जो पूर्व ज्ञानोंसे अगृहीत होते हैं। अतएव भिन्न-भिन्न अंशोंको ग्रहण करनेकी अपेक्षा उक्त सभी प्रमाण अपूर्वार्थग्राही हैं और इसीसे प्रमाणके लक्षणमें स्पष्टताके बोधनार्थ 'अपूर्व', 'अनधिगत', 'अनिर्णीत' 'अगृहीत', 'अज्ञात' जैसा विशेषण 'अर्थ'के साथ समायोजित करना बतलाया है। इस मतके प्रतिपादक अकलंक, विद्यानन्द माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, धर्मभूषण प्रभृति विद्वान् हैं। पर न्यायावतारकार सिद्धसेन, देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजय उसे स्वीकार नहीं करते। इनका मन्तव्य है कि प्रमाण गृहीतग्राही भी हो, तो उससे उसका प्रामाण्य समाप्त नहीं होता। इस प्रकार जैन दार्शनिकोंने प्रमाणके सामान्य-स्वरूपपर विस्तृत विचार किया है।

१. प्रमाणलक्षण-परीक्षा

ऊपर प्रमाणका सामान्य स्वरूप दिया गया है। अब विद्यानन्द द्वारा किया गया उसका विशेष विचार यहाँ प्रस्तुत है।

विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणके सभी अंगों—स्वरूप, संख्या, विषय और फल—पर संक्षेपमें, किन्तु विशदताके साथ चिन्तन किया है।

स्वरूपका ऊहापोह करते हुए उन्होंने 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाणका स्वरूप निर्धारित किया है। उससे इतर सन्निकर्ष आदिको प्रमाण स्वीकार करनेमें जो बाधाएँ उपस्थित होती हैं उनका निर्देशपूर्वक उनकी उन्होंने विशद मोमांसा को है।

उनका मन्तव्य है कि 'सच्चा ज्ञान ही प्रमाण है, अज्ञान (जो ज्ञान नहीं है वह) प्रमाण नहीं हो सकता'। नैयायिकादिका मत है कि 'सन्निकर्ष आदि अज्ञानरूप होकर भी अपने तथा बाह्य अर्थके निश्चय करानेमें करण (साधकतम) हैं, अतः वे प्रमाण हैं' उनका यह मत युक्त नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष आदि अचेतन होनेसे स्वनिश्चय करानेमें करण नहीं हो सकते। स्पष्ट है कि कोई अचेतन पदार्थ स्वनिश्चयमें उसी प्रकार करण सम्भव नहीं, जिस प्रकार वस्त्रादि स्वनिश्चयमें करण नहीं हैं।

यहाँ नैयायिकोंका कहना है कि 'सन्निकर्ष स्वनिश्चयमें करण न होने पर भी अर्थनिश्चयमें करण है', तो उनका यह कथन भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि सन्निकर्ष जब स्वनिश्चयमें करण नहीं है, तो वह अर्थनिश्चयमें करण नहीं हो सकता। इसे अनुमानसे यों सिद्ध किया जा सकता है कि सन्निकर्षादि अर्थनिश्चयमें करण (साधकतम) नहीं हैं, क्योंकि वे स्वनिश्चयमें करण नहीं हैं, दृष्टान्त वही वस्त्रादिका है।

'प्रदोष आदि अचेतन पदार्थ स्वनिश्चयमें करण न होनेपर भी घटादि पदार्थोंके निश्चय (प्रकाशन) में करण हैं, अतः उपर्युक्त साधन (हेतु) प्रदीपादिके साथ व्यभिचारी है और साधनके व्यभिचारी होनेसे उक्त अनुमान सदोष है।' यह विचार भी ठीक नहीं, क्योंकि यथार्थमें प्रदीपादि घटादिपदार्थोंके निश्चयमें करण नहीं हैं। उनके

निश्चयमें नैयायिकोंने स्वयं चक्षु और मनको ही करणरूपमें स्वीकार किया है। प्रदीपादिको तो उनका सहकारी होनेसे उपचारसे करण कहा गया है। और यह मानना युक्त नहीं कि प्रदीपादि अर्थप्रकाशनमें ही उपचारसे करण हैं, स्वप्रकाशनमें नहीं, क्योंकि जिस प्रकार प्रदीपादि अर्थप्रकाशनमें चक्षु आदिके सहकारी होनेसे उपचारसे करण स्वीकृत हैं उसी प्रकार प्रदीपादिका ज्ञान उत्पन्न करनेमें भी वे (प्रदीपादि) चक्षु आदिके सहकारी होनेसे उपचारसे करण सिद्ध होते हैं।

‘चक्षु आदि स्वनिश्चयमें करण न होनेपर भी अर्थनिश्चयमें करण हैं, अतः उक्त साधन चक्षु आदिके साथ अनैकान्तिक है’, यह मन्तव्य भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि उपकरणरूप चक्षु आदि इन्द्रियां अचेतन होनेसे अर्थनिश्चयमें उपचारसे करण हैं। वास्तवमें अर्थग्रहणशक्तिरूप चक्षु आदि भावेन्द्रियां ही अर्थनिश्चयमें साधकतम होनेसे करण निर्णीत होती हैं। और यह असिद्ध नहीं है, जिनकी प्रतिभा निर्मल है उन्हें यह सहज हो अवगत हो सकता है। उसे अनुमानसे भी यहाँ सिद्ध किया जाता है—

‘जिसके न होनेपर तथा अन्य कारणोंके होनेपर भी जो उत्पन्न नहीं होता वह उसका करण (साधकतम) है, जैसे कुठारके न होनेपर तथा अन्य कारणोंके रहनेपर भी काष्ठच्छेदन नहीं होता, अतः काष्ठच्छेदनका साधकतम (करण) कुठारको माना जाता है उसी प्रकार भावेन्द्रियके न होने और द्रव्येन्द्रिय (उपकरणेन्द्रिय) एवं अन्य सहकारियोंके होनेपर भी घटादि पदार्थोंका निश्चय नहीं होता, अतः उसका साधकतम (करण) भावेन्द्रिय है।’ यह भावेन्द्रिय ज्ञानावरणक्षयोपशमशक्ति और उपयोग (ज्ञान) रूप है।

यदि अर्थनिश्चय बाह्य करण (सन्निकर्ष) से स्वीकार किया जाय, तो जिस प्रकार घटके साथ चक्षु-सन्निकर्ष होनेसे घटका चाक्षुष ज्ञान होता है उसी प्रकार आकाशके साथ भी बाह्य करण—उपकरणरूप चक्षुका सन्निकर्ष होनेसे आकाशका भी चाक्षुष ज्ञान क्यों नहीं होता ? यह नहीं कहा जा सकता कि चक्षु आकाशकी तरह अमूर्तिक है, क्योंकि नैयायिकोंने स्वयं उसे भौतिक (तैजस) और हमने पौद्गलिक स्वीकार किया है।

‘आकाशके साथ चक्षुका सन्निकर्ष रहते हुए भी योग्यता न होनेके कारण उसका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता’ यह उत्तर भी साधु नहीं है, क्योंकि तब योग्यता ही साधकतम सिद्ध होगी, सन्निकर्ष नहीं।

फिर प्रश्न है कि वह योग्यता क्या है ? यदि ‘सन्निकर्षकी विशिष्ट शक्ति’ का नाम योग्यता है, तो वह शक्ति ‘सहकारियोंका सन्निधान’ हो सकती है। उद्योतकरने ‘सहकारि-सन्निध्यको ही शक्ति’ कहा है। इसपर शंका होती है कि वह सहकारी क्या है, जिसके सन्निध्यको शक्ति या योग्यता कहा जाता है ? क्या द्रव्य है, गुण है या कर्मादि ? यदि द्रव्यको सहकारी कहा जाय, तो वह द्रव्य आत्मद्रव्य तो सहकारी हो नहीं सकता, क्योंकि उसका सन्निधान चक्षु और आकाशके सन्निकर्षमें भी विद्यमान रहता है, परन्तु आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। कालद्रव्य और दिग्द्रव्य ये दोनों द्रव्य भी सहकारी नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंका सन्निधान भी

उनके व्यापक होनेसे आत्मद्रव्यकी तरह चक्षु और आकाशके सन्निकर्षमें मौजूद है, पर आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता। मनोद्रव्यको भी सहकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आकाशमें उसका भी सन्निधान हो सकता है, कभी किसी पुरुषका क्रियावान् अणुरूप मन उसमें जानेसे आकाशके साथ चक्षुःसन्निकर्ष सम्भव है, परन्तु उसके रहते हुए भी आकाशका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

यहाँ सामग्री-प्रमाणवादी नैयायिक जयन्तभट्ट समाधान करते हैं कि 'आत्माका मनके साथ, मनका इन्द्रियके साथ और इन्द्रियका अर्थके साथ सम्बन्ध होता है और इस तरह चारका सन्निकर्ष अर्थनिश्चयमें साधकतम है', उनका यह समाधान भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त सामग्री आकाश और चक्षुःसन्निकर्षमें भी है, जैसे काल आदि सहकारी-सामग्री उसमें विद्यमान रहती है।

'तेजोद्रव्य (आलोक) सहकारी है, उसके सन्निधानसे चाक्षुष ज्ञान होता है', यह समाधान भी उक्त समाधानोंसे कुछ वैशिष्ट्य प्रकट नहीं करता, क्योंकि घटादिकी तरह आकाशमें भी चक्षुःसन्निकर्ष आलोक-सन्निधानमें होनेसे आकाशका चाक्षुष ज्ञान अनिवार्य है।

यदि कहा जाय कि 'अदृष्ट नामका विशेषगुण चाक्षुष ज्ञानमें सहकारी है, उसका सान्निध्य संयुक्तसमवाय है, क्योंकि चक्षुके साथ पुरुष (आत्मा) का संयोग और पुरुषमें अदृष्टनामक विशेषगुणका समवाय है, अतः आकाशमें चक्षुःसन्निकर्षका सहकारी—अदृष्टविशेषगुणका सन्निधान (संयुक्त-समवाय) न होनेसे आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता', तो यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि आकाशमें भी उसके कदाचित् रहनेकी सम्भावना होनेसे उसका चाक्षुषज्ञान क्यों नहीं होगा ?

'सब पुरुषोंके अदृष्ट-विशेषगुणरूप सहकारीका हमेशा आकाशमें सन्निधान सम्भव न होनेसे उसका चाक्षुषज्ञान नहीं हो सकता' ऐसा उत्तर भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर ईश्वरको अदृष्टविशेषगुणका अभाव होनेसे श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी तरह चक्षुद्वारा आकाश-विषयक ज्ञान कैसे हो सकेगा ?

यदि यह माना जाय कि 'समाधिविशेषसे ईश्वरके धर्मविशेष उत्पन्न होता है, उसकी सहायतासे मनके द्वारा उसे आकाश आदि समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है', तो महेश्वरके चक्षु आदि बाह्येन्द्रियां निरर्थक हो जायेंगी, क्योंकि उनकी उसे आवश्यकता नहीं है। तथा जब उसके बाह्यकरण निरर्थक होगा, तो उसके अन्तःकरण (मन) भी नहीं बन सकता, जैसे मुक्तात्माके न बाह्यकरण है और न अन्तःकरण। अतः 'महेश्वर मनके द्वारा आकाशादि समस्त पदार्थोंका ग्रहण करता है' यह मान्यता कैसे संगत कही जा सकती है। मनके अभावमें समाधिविशेष और उससे उत्पन्न धर्मविशेष ये दोनों भी ईश्वरके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि वे दोनों आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं।

यदि कहा जाय कि 'महेश्वरके समस्त पदार्थोंका ज्ञान अविच्छिन्नरूपसे विद्यमान रहता है और उनके इस अविच्छिन्न ज्ञानका कारण समाधिविशेषकी सन्तति तथा धर्मविशेषकी सन्तति है, जो अनादि-अनन्त है, क्योंकि वे पापमलोंसे सतत अस्पृष्ट हैं और इसका भी कारण यह है कि वे संसारी और मुक्त दोनोंसे विलक्षण

होनेसे सदाभुक्त हैं,' यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि इस प्रकारसे अनीश्वर (सामान्य पुरुष) को भी कदाचित् पापमलके नाश हो जानेसे पदार्थज्ञान हो सकता है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार सतत मलाभाव सतत अर्थज्ञानकी सन्ततिका कारण है उसी प्रकार अल्पकालीन मलाभाव अल्पकालीन अर्थज्ञानका कारण है, यह भी युक्तियुक्त है। अतः उसे—मलाभाव (ज्ञानावरण और अन्तरायकर्मके क्षयोपशम) को ही सन्निकर्षका सहकारी मानना उचित है। और वह मलाभाव-सान्निध्य ही सन्निकर्षकी शक्ति (योग्यता) है। उसके अभावसे ही चक्षुःसन्निकर्ष रहनेपर भी आकाशका चाक्षुष ज्ञान नहीं होता। महेश्वरमें जो विशिष्ट धर्मका सद्भाव माना जाता है वह भी पापमलके अभावके अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि अभाव दूसरे भावरूप होता है, तुच्छाभाव किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। अतः पापमलका अभाव पुरुषके गुण-विशेषका सद्भाव ही है। और वह आत्माकी विशुद्धिविशेषरूप है, जो ज्ञानावरोधक ज्ञानावरण तथा शक्त्यवरोधक अन्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषरूप है और जिसे ही स्याद्वादी शक्ति अथवा योग्यताका नाम देते तथा स्वार्थ-निश्चयमें करण मानते हैं। नैयायिकोंद्वारा स्वीकृत प्रमाताकी उपलब्धिलक्षणप्राप्तरूप योग्यता भी उपर्युक्त योग्यतासे भिन्न प्रतीत नहीं होती, क्योंकि ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायरूप पापमलके अभावके बिना पुरुष—प्रमाताकी किसी ज्ञेयमें उपलब्धिलक्षणप्राप्ति सम्भव नहीं है।

अब रह जाती है कर्मादिको सहकारी माननेकी बात। वह भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रमाताका नेत्रोद्घाटनादि कर्म दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकारके पदार्थोंमें समानरूपसे विद्यमान रहता है, जैसे प्रकाशादि कारण-सामग्री दृश्य और अदृश्य दोनोंमें रहती है। अतः अदृश्य आकाशमें भी प्रमाताका नेत्रोद्घाटनादि कर्मरूप सहकारी रहनेसे उसका चाक्षुष ज्ञान होना चाहिए। इसी तरह पदार्थकी उपलब्ध्यता-रूप सामान्य तथा प्रमाताका नेत्रोद्घाटनादि कर्म दोनों मिलकर भी सन्निकर्षके सहकारी नहीं हैं, क्योंकि दोनोंके रहनेपर भी उक्त योग्यताके अभावमें किसी पदार्थका किसीको ज्ञान नहीं होता, जैसे काल, आकाश आदिके रहते हुए भी उनका ज्ञान नहीं होता। आकाशकी अनुपलब्धताकी बात कही नहीं जा सकती, अन्यथा योगीको भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी।

अतः प्रत्येक आत्माका भेदक योग्यताविशेष ही स्व-परनिश्चयमें साधकतम स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि सन्निकर्ष आदिके रहनेपर भी उसके अभावमें किसी भी पदार्थका ज्ञान नहीं होता। वह योग्यताविशेष आत्माकी वह विशेष शक्ति है, जिसके द्वारा स्व और परका निश्चय किया जाता है और जो भाव (आभ्यन्तर) करण (ज्ञान) रूप है, क्योंकि वह फलात्मक स्वार्थनिश्चयसे कथंचिद् अभिन्न है। उसे उससे सर्वथा भिन्न माननेपर वह आत्माका स्वभाव नहीं बन सकती। और यह स्वीकार्य नहीं कि वह आत्माका स्वभाव नहीं है, क्योंकि आत्मा ही आभ्यन्तर और बाह्य निमित्तोंसे शक्ति (ज्ञानावरणक्षयोपशमात्मक भावकरण — लब्धि) और फल (स्वार्थनिश्चयात्मकक्रिया — उपयोग) रूप परिणत होता है। 'जानात्यनेनेति ज्ञानम्' अर्थात् आत्मा जिसके द्वारा जानता है वह ज्ञान है' इस व्याख्या द्वारा करणसाधन

करनेसे आत्मा और ज्ञानका भेद अभिहित होता है। यद्यपि ज्ञान आत्मासे कथंचिद् अभिन्न है फिर भी जिसका कर्ता अभिन्न है वह भी करण होता है। उदाहरणके लिए 'अग्निरौष्ण्येन दहतीन्धनम्' अर्थात् 'अग्नि अपनी उष्णताद्वारा ईंधनको जलाती है' यहाँ अग्निको लिया जा सकता है। अग्निसे उष्णता यद्यपि कथंचित् अभिन्न है तथापि उनमें कथंचित् परिणाम (उष्णता) और परिणामी (अग्नि) की भेदविवक्षा होनेसे उष्णताको अभिन्नकर्तृक करण स्वीकार किया जाता है। किन्तु 'जानातीति ज्ञानम्'—'जो जानता है वह ज्ञान है और वह ज्ञान जाननेवाला आत्माही है' ऐसी स्वतन्त्रताकी विवक्षा करनेपर ज्ञान कर्तासाधन होता है, क्योंकि आत्मा और ज्ञानमें कथंचित् अभेदकी मुख्यतासे आत्माको ही स्वार्थनिश्चयरूप परिणामको प्राप्त करनेपर 'ज्ञान' कहा जाता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार उष्णतारूप परिणामको प्राप्त अग्निको 'उष्णता' कह दिया जाता है। इसीसे यह अनुभवसिद्ध व्यवहार होता है कि 'ज्ञानात्मा ज्ञानात्मना ज्ञेयं (ज्ञानात्मानं) जानातीति' ज्ञानरूप आत्मा ज्ञानरूप आत्माके द्वारा ज्ञेय (ज्ञानरूप आत्मा) को जानता है। और जिस प्रकार ज्ञानात्मा ही प्रमाता होता है, अज्ञानात्मक आकाशादि प्रमाता नहीं हो सकते, उसी प्रकार ज्ञानात्मा ही प्रमाण है, क्योंकि वही ज्ञानात्मक स्वार्थनिश्चय (प्रमा) में करण है, अज्ञानात्मक सन्निकर्षादि उसमें साधकतम नहीं हो सकते। अतः अज्ञान (सन्निकर्षादि) प्रमाण नहीं है, वह केवल उपचारसे प्रमाण है। अतएव अज्ञानरूप इन्द्रिय, सन्निकर्ष, लिङ्ग, शब्द आदिके साथ पूर्वोक्त 'अज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता' साधन व्यभिचारी नहीं है। न उसका व्यतिरेक (साध्यके अभावमें साधनका अभाव) असिद्ध है, क्योंकि 'सच्चा ज्ञान' रूप साध्यके न होनेपर वस्त्रादिमें 'अज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता' रूप साधनका अभाव (व्यतिरेक) निश्चित है। अतः केवलव्यतिरेक-साधनका भी समर्थन होता है।

अतः ठीक कहा है कि 'सच्चा ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि अज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता, जैसे मिथ्याज्ञान'।

सम्यग्ज्ञानमें स्वार्थव्यवसायात्मकत्वकी सिद्धि :

उक्त सम्यग्ज्ञान क्या है, इसका विचार किया जाता है—

'जो अपना और परका व्यवसाय—निश्चय करता है वह सम्यक्ज्ञान है, क्योंकि वह सम्यक्ज्ञान है। जो अपना और परका निश्चय नहीं करता वह सम्यक्ज्ञान नहीं है, जैसे संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ज्ञान। और सम्यग्ज्ञान विचारप्राप्त ज्ञान है, इसलिए वह अपना और परका निश्चय अवश्य करता है,' इस प्रकार 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु साध्याविनाभावी होनेसे सभी सम्यग्ज्ञानवादियोंको सिद्ध (मान्य) है, क्योंकि वह साध्यधर्मी—पक्ष (सम्यग्ज्ञान) में विद्यमान रहता है।

यहाँ बौद्धोंका कहना है कि 'स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्षके भेदसे प्रत्यक्ष चार प्रकारका अभिमत है और चारों प्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान हैं। परन्तु वे अव्यवसायात्मक (अनिश्चयात्मक) स्वीकृत हैं। अतः उक्त 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु उनके साथ व्यभिचारी है।'

बौद्धोंका यह कथन उनके अभीष्टका साधक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रत्यक्षोंको अव्यवसायात्मक माननेपर उनमें सम्यग्ज्ञानपना नहीं बन सकता ।

हमारा मत है कि सम्यग्ज्ञानपनाकी व्याप्ति (अविनाभाव) अविसंवादीपनाके साथ है, क्योंकि जो अविसंवादी नहीं होता वह सम्यग्ज्ञान नहीं होता । अविसंवादीपनाकी भी व्याप्ति अर्थप्राप्तिके साथ है । जो ज्ञान अर्थप्राप्ति कराता है वही अविसंवादी होता है, जो अर्थप्राप्ति नहीं कराता वह अविसंवादी नहीं होता, जैसे निर्विषयज्ञान—भ्रान्त ज्ञान । वह अर्थप्राप्ति भी प्रवृत्तिके साथ अविनाभूत है । जो ज्ञान प्रवृत्ति-सक्षम है वही अर्थप्रापक होता है, जो प्रवर्त्तक नहीं है वह अर्थप्रापक नहीं होता, जैसे उक्त निर्विषय ज्ञान । प्रवृत्तिका भी अविनाभाव स्वविषयोपदर्शनके साथ है, क्योंकि जो ज्ञान अपने विषयका उपदर्शन (प्रकाशन) करता है उसीमें प्रवर्त्तकका व्यवहार होता है । सभी जानते हैं कि ज्ञान पुरुषको उसके हाथ पकड़कर प्रवृत्त नहीं कराता, अपितु अपने विषयको दिखलानेसे वह प्रवर्त्तक कहा जाता है और तभी उसे अर्थ-प्रापक तथा अर्थप्रापक होनेसे अविसंवादी कहते हैं और अविसंवादी होनेसे सम्यग्ज्ञान प्रमाण है, इससे विपरीत मिथ्याज्ञान है, जैसे संशय आदि, यह बौद्ध विद्वान् धर्मोत्तरकी मान्यता है ।

पर वह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि उक्त चारों प्रत्यक्ष यतः अव्यवसायात्मक (अनिश्चयात्मक) हैं, अतः वे अपने विषयका दर्शन (ग्रहण) नहीं कर सकते और अपने विषयका दर्शन न करनेपर वे सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते । यदि अव्यवसायात्मक होनेपर भी उन्हें अपने विषयका दर्शन करनेवाला माना जाय, तो जैसे वे नीलादि-स्वलक्षण (विशेष) वस्तुका दर्शन करते हैं, उसी तरह उसकी क्षणिकता आदिका भी उन्हें दर्शन करना चाहिए । किन्तु क्षणिकता आदिका वे दर्शन नहीं करते—व्यवसायात्मक अनुमान द्वारा ही उनका निश्चय माना जाता है ।

अतः सिद्ध करेंगे कि 'बौद्धाभिमत चारों प्रत्यक्ष अपने विषयका दर्शन (साक्षात्कार) नहीं करते, क्योंकि वे अव्यवसायात्मक हैं, जो ज्ञान अव्यवसायात्मक होता है वह अपने विषयका दर्शन नहीं करता, जैसे मार्गमें जाते हुए तृणादिका स्पर्श होनेपर होनेवाला तृणादिका अनध्यवसाय (अनिश्चयात्मक) ज्ञान (मिथ्याज्ञान) और बौद्धों द्वारा स्वीकृत उक्त चारों प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक हैं ।' यह व्यापकानुपलब्धिहेतुजनित सम्यक् अनुमान है । यहाँ व्यवसायात्मकता व्यापक है और स्वविषयदर्शन व्याप्य है । व्यापक—व्यवसायात्मकताके अभावमें उसके व्याप्य—स्वविषयदर्शनका सद्भाव किसी भी ज्ञानमें प्रतीत नहीं होता । अतः व्यापक (व्यवसायात्मकता) की अनुपलब्धिसे उक्त चारों प्रत्यक्षोंमें व्याप्य (स्वविषयदर्शन) का अभाव सिद्ध होता है ।

यदि कहा जाय कि 'व्यवसायात्मकताके साथ स्वविषयदर्शनकी व्याप्ति (अविनाभाव) सिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वविषयदर्शनकी व्याप्ति व्यवसायजनकताके साथ है । जो दर्शन व्यवसायजनक है वही स्वविषयका उपदर्शक है । नील, धवल आदि स्वलक्षणवस्तुमें दर्शन व्यवसायका जनक है, अतः वह उन (नीलादि) का दर्शन करता है । किन्तु क्षणिकता, स्वर्गप्रापकताशक्ति आदिमें वह व्यवसायको उत्पन्न

नहीं करता, इसलिए वह उनका दर्शन नहीं करता। मार्गमें जाते समय होनेवाला तृणादिका अनध्यवसायज्ञान भी इसी (तृणादिमें व्यवसायको उत्पन्न न करनेके) कारण अपने (तृणादि) विषयका दर्शन नहीं करता, क्योंकि उसमें मिथ्याज्ञानका व्यवहार प्रसिद्ध है। अन्यथा उसे अनध्यवसाय नहीं कहा जा सकता है।'

यह कथन विचार करनेपर युक्त प्रतीत नहीं होता, व्यवसायको दर्शनजन्य माननेपर यह प्रश्न उठता है कि वह (व्यवसाय) दर्शनके विषयका उपदर्शक है या नहीं? यदि उपदर्शक है तो वहो उन नील, धवल आदिमें प्रवर्त्तक एवं प्रापक होगा, क्योंकि वह संवादी है, जैसे सम्यक्ज्ञान। व्यवसाय जनक दर्शन न प्रवर्त्तक सम्भव है और न प्रापक; जैसे सन्निकर्ष आदि। यदि व्यवसाय दर्शनके विषयका उपदर्शक नहीं है, तो दर्शन भी व्यवसायको उत्पन्न करनेसे अपने विषयका उपदर्शक कैसे हो सकता? अन्यथा संशय एवं विपर्ययका जनक दर्शन भी अपने विषयका उपदर्शक होगा। तात्पर्य यह कि दर्शन (प्रत्यक्ष) को अव्यवसायात्मक माननेपर वह व्यवसायका जनक नहीं हो सकता। यह विचारनेकी बात है कि जो स्वयं व्यवसायरूप नहीं है वह व्यवसायको उत्पन्न कैसे कर सकता है?

यहाँ बौद्धोंका पुनः कहना है कि 'विकल्प (व्यवसाय) सामान्यका निश्चय करता है, जो दर्शनका विषय है, अतः दर्शन विकल्पका जनक माना जाता है और इसलिए वह (दर्शन) अपने विषय (नील, धवल आदि) का ही उपदर्शक है', यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि जिस सामान्यको दर्शनका विषय कहा गया है वह अन्यापोह (अन्यव्यावृत्ति) रूप होनेसे अवस्तु—मिथ्या है। उसे (अवस्तुको) विषय करनेवाले विकल्प (व्यवसाय) के जनक दर्शनको वस्तु (नीलादि) का उपदर्शक मानना स्पष्टतः विरुद्ध है।

यदि यह माना जाय कि 'दृश्य (नीलादिस्वलक्षण) और सामान्य (अन्यापोह—विकल्पविषय) में एकपनेका आरोप हो जानेसे व्यवसाय वस्तुका उपदर्शक है, तो यह मान्यता भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि दृश्य और सामान्य दोनोंके विभिन्न (वस्तु और अवस्तु रूप) होनेके कारण उनमें एकपनेका आरोप असम्भव है। फिर यह प्रश्न है कि 'उनमें एकपना हो जाता है' यह कौन ज्ञान जानता है? दर्शन या उसके पश्चात् होनेवाला व्यवसाय (विकल्प) या अन्य कोई ज्ञान? दर्शन (निर्विकल्प प्रत्यक्ष) तो उसे नहीं जान सकता, क्योंकि वह केवल दृश्यको जानता है, विकल्पके विषयभूत सामान्यको नहीं। और जब वह दोनोंको नहीं जानता, तो उन दोनोंमें रहनेवाले एकपनेको वह कैसे जान सकता है। उसके पीछे होनेवाला व्यवसाय भी दोनोंके एकत्वको नहीं जान सकता, क्योंकि वह मात्र सामान्यको विषय करता है, दृश्यको नहीं। और दोनोंको विषय न करनेके कारण वह भी उनके एकत्वको नहीं जान सकता। दोनोंको जाननेवाला यदि अन्य ज्ञान है, तो वह या तो दर्शन होगा या विकल्प, क्योंकि इन दो ज्ञानराशियोंके अतिरिक्त अन्य तीसरी ज्ञानराशि बौद्धों द्वारा स्वीकृत नहीं है। और ये दोनों ज्ञान दृश्य और सामान्यमेंसे केवल एक-एकको (दर्शन दृश्यको और विकल्प सामान्यको) जानने तथा दोनोंको न जाननेके कारण दोनों (दृश्य और सामान्य) के एकपनेको नहीं जान सकते। अतः दोनोंको विषय

करनेवाला कोई ज्ञान न होनेसे दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय नहीं हो सकता। और यह सम्भव नहीं कि कोई ज्ञान दोनोंको विषय न करनेपर भी दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय कर ले। अतएव हम सिद्ध करेंगे कि 'कोई ज्ञान दृश्य और सामान्य दोनोंके एकत्वका अध्यवसाय नहीं करता, क्योंकि वह दोनोंको नहीं जानता, जो दोनोंको नहीं जानता वह उनके एकत्वका अध्यवसाय नहीं कर सकता, जैसे रसज्ञान रूप और स्पर्श दोनोंको न जाननेके कारण उनके एकत्वको भी नहीं जानता, और कोई ज्ञान दृश्य तथा सामान्य दोनोंको जानता नहीं'। इस तरह दृश्य तथा सामान्य दोनोंके एकत्वका निश्चय किसी ज्ञानसे सिद्ध नहीं होता। अतः व्यवसाय वस्तुका दर्शन नहीं करता। और न दर्शन भी उसे उत्पन्न करनेसे वस्तुका दर्शन करता है। उक्त चार प्रत्यक्षोंमें योगिप्रत्यक्ष और स्वसंवेदन ये दो प्रत्यक्ष अवश्य समस्त विकल्पोंसे रहित होने तथा स्वरूपावगति करनेसे किसी तरह वस्तुका दर्शन करनेवाले हो सकते थे, किन्तु वे वस्तुमें विकल्प (व्यवसाय) को उत्पन्न न करनेके कारण वस्तुका दर्शन नहीं कर सकते।

एक बात और है। दर्शनके बाद जो विकल्पज्ञान उत्पन्न होता है उसकी सिद्धि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे स्वीकार करनेपर यह प्रश्न होता है कि उस विकल्पज्ञानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है, तो कैसे? यदि कहा जाय कि वह स्वरूपका दर्शन करनेसे ही प्रमाण है, तो स्वर्गप्रापकताशक्ति आदिमें भी उसे प्रमाण माना जाना चाहिए। यदि कहें कि विकल्पज्ञानके स्वसंवेदन प्रत्यक्षका स्वसंवेदनाकार ही प्रमाण है, क्योंकि वह उसीमें विकल्पको उत्पन्न करता है, अन्यमें नहीं, तो उस विकल्पके स्वसंवेदनका भी अन्य विकल्पको उत्पन्न करनेसे स्वरूपदर्शन होना चाहिए और इस तरह विकल्पकी उत्पत्ति तथा स्वरूपदर्शनकी और-और कल्पना होनेपर अनवस्थादोष आता है। ऐसी स्थितिमें (अनवस्थादोषसे ग्रस्त होनेके कारण) प्रथम विकल्पका जो स्वसंवेदन है वह प्रमाण नहीं हो सकता है। यदि विकल्पज्ञानका स्वसंवेदनप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तो उसके प्रमाण न होनेसे उससे व्यवसाय सिद्ध (उत्पन्न) नहीं हो सकता और उसके सिद्ध न होनेपर 'व्यवसायको उत्पन्न करनेसे दर्शन अपने विषयका दर्शन करता है' यह कथन असिद्ध हो जाता है। उसके असिद्ध होनेपर वह न प्रवर्त्तक हो सकता है और न अर्थप्रापक। तथा अर्थप्रापक न होनेपर वह अविशंवादी भी नहीं हो सकता। अविशंवादो न होनेपर उक्त चारों स्वसंवेदन, इन्द्रिय, मानस और योगिप्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकते। अतः उनके साथ 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु व्यभिचारी नहीं है।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि 'दर्शन अपने विषयका दर्शन करता है (उपदर्शक होता है), इसका तात्पर्य है कि दर्शनका अर्थसे उत्पन्न होना और अर्थके आकार होना। और ये दोनों (अर्थोत्पत्ति तथा अर्थाकारता) उक्त चारों प्रत्यक्षोंमें उनके अव्यवसायात्मक होनेपर भी विद्यमान हैं। उनके सद्भावसे ही सभी प्रत्यक्ष प्रवर्त्तक, अर्थप्रापक और अविशंवादी हैं और यही (अर्थोत्पत्ति और अर्थाकारता) सम्यग्ज्ञानका लक्षण है, व्यवसायात्मकता नहीं। अतः उक्त चारों प्रत्यक्षज्ञान अव्यवसायात्मक होनेपर भी सम्यग्ज्ञान हैं और इसलिए उनके साथ 'सम्यग्ज्ञानपना' हेतु व्यभिचारी है ही?

उक्त कथन भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उक्त प्रकारसे नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी दर्शनको स्वविषयोपदर्शन करनेसे रोका नहीं जा सकता। यहाँ यह समाधान उपस्थित किया जा सकता है कि 'जो अयोगी (अल्पज्ञ) ज्ञाता हैं उन्हें क्षणिकता आदिमें अक्षणिकता आदिका भ्रम होनेसे उनका दर्शन नहीं होता। परन्तु जो योगी ज्ञाता हैं उन्हें तो उनमें अक्षणिकता आदिका भ्रम न होनेसे क्षणिकता आदिमें क्षणिकता आदिका दर्शन होता ही है', यह समाधान भी बुद्धिमानोंको ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि अयोगियोंको नील, धवल आदिमें भी अनील, अधवल आदिका भ्रम हो सकता है और तब उन्हें क्षणिकता आदिकी तरह नीलादिका भी दर्शन नहीं हो सकेगा। अन्यथा नीलादिवस्तुमें नीलादित्व और क्षणिकतादि विरुद्ध धर्मोंका समावेश होनेसे दर्शनमें भेद (नीलादिको ग्रहण करनेसे ग्राहकत्व और क्षणिकतादिको ग्रहण न करनेसे अग्राहकत्व) क्यों नहीं होगा ? जब दर्शन एक और भेदरहित है, तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक जगह (नीलादिमें) भ्रमाक्रान्त है और दूसरी जगह (क्षणिकतादिमें) भ्रमाक्रान्त नहीं है। अतः युक्तिसे सिद्ध करेंगे कि 'दर्शन नीलादिवस्तुका निश्चायक है, क्योंकि विपरीतसमारोपके कारण विरोधको लिये हुए है, जो विपरीतसमारोपके कारण विरोधको लिये हुए होता है वह निश्चयात्मक होता है, जैसे अनुमेय अर्थ (क्षणिकतादि) में अनुमानज्ञान, और विपरीत समारोपके कारण विरोधको लिये हुए दर्शन नीलादिमें है'। इस प्रकार दर्शन व्यवसायात्मक ही सिद्ध होता है।

'निश्चयका जनक होनेसे दर्शन नीलादिमें विपरीतसमारोपविरोधी है, न कि स्वयं निश्चयात्मक होनेसे, अतः उक्त हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव अनिश्चित (असिद्ध) है', ऐसा विचार सम्यक् नहीं है, क्योंकि योगिप्रत्यक्षमें भी यह विपरीत-समारोप प्रसक्त होगा, कारण कि उसका योगिप्रत्यक्षके साथ विरोध नहीं है। हम तो योगिप्रत्यक्षको भी निश्चयात्मक स्वीकार करते हैं, अतः योगिप्रत्यक्षके साथ विपरीत-समारोपका विरोध सिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त निश्चयके जनक दर्शनके साथ समारोपका विरोध बतलानेपर स्वमतविरोध होता है, क्योंकि धर्मकीर्तिका मत है कि आरोप, जो निश्चयका ही नाम है, और मनःप्रत्यक्ष दोनोंमें बाध्य-बाधक भाव नहीं है और इसलिए दर्शन तथा आरोप (व्यवसाय—निश्चय) में विरोध नहीं है।

बौद्ध पुनः कहते हैं कि 'दर्शनको निश्चयात्मक सिद्ध करनेपर प्रत्यक्ष-विरोध है, क्योंकि जिस समय समस्त विकल्प रुक जाते हैं उस अवस्थामें ही नीलरूपादिदर्शन होता है और जो अनिश्चयात्मक अनुभवमें आता है। जैसा कि कहा है—

जब प्रतिपत्ता समस्त चिन्ताओं (विकल्पों) को रोककर स्थिर मनसे स्थित होता हुआ चक्षुद्वारा रूपको देखता है तब उसके उस निर्विल्पक रूपदर्शनको इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्षविरोधके अतिरिक्त अनुमानविरोध भी है, क्योंकि जब चित्तकी अचञ्चल अवस्था होती है उस समय चक्षु आदि इन्द्रियोंसे नीलादिवस्तुका ज्ञान करनेपर कोई कल्पना नहीं होती। उस समय यदि कल्पना हो तो पुनः उसकी स्मृति आनी चाहिए, जैसे विकल्पके बाद होनेवाली कल्पना। इसे भी कहा है—

जब कोई मुझे विकल्प होता है तो तदनुरूप कल्पना होती है। किन्तु निर्विकल्प अवस्थामें इन्द्रियसे अर्थ (नीलादि) का ज्ञान करनेपर कल्पनाका वेदन नहीं होता ।'

धर्मकीर्तिका यह प्रतिपादन विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे निर्विकल्पक दर्शन प्रसिद्ध नहीं है। स्पष्ट है कि जिस समय अश्वका विकल्प (स्मरण) और सामने खड़ी गायका दर्शन होता है वह अवस्था ही समस्त-विकल्प-रहित अवस्था है। किन्तु उस समय जो गायका दर्शन होता है वह अनिश्चयात्मक नहीं है, अन्यथा उससे निश्चयात्मक स्मरणका उद्भव नहीं हो सकता, क्योंकि निश्चयात्मक स्मरणका कारण निश्चयात्मक संस्कार है—उसका कारण अनिश्चयात्मक दर्शन नहीं हो सकता, जैसे क्षणिकता आदिमें दर्शन व्यवसायजनक नहीं है। यथार्थमें निश्चयात्मक दर्शनसे ही संस्कार और स्मरण सम्भव हैं, अनिश्चयात्मकसे नहीं। कहा भी है—

देखे अथवा देखेके समान अर्थमें निश्चयात्मक दर्शनसे संस्कार तथा स्मरण होते हैं, अनिश्चयात्मक दर्शनसे न संस्कार सम्भव है और न स्मृति, क्षणिकादिकी तरह।

यदि यह माना जाय कि 'अभ्यास (दर्शनका बार-बार होना), प्रकरण (प्रसंग), बुद्धिपाटव (इन्द्रियकुशलता) और अर्थित्व (प्रतिपत्ताकी जिज्ञासा या अभिलाषा) इन चारका नीलादिमें सद्भाव होनेसे उनमें निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) दर्शनसे भी संस्कार तथा स्मरण दोनों सम्भव हैं, क्षणिकता आदिमें अभ्यासादिके न होनेसे उनमें न संस्कार सम्भव है और न स्मरण। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षको निश्चयात्मक माननेपर भी अभ्यासादिके होनेसे ही उसमें संस्कार और स्मरण सम्भव हैं, उनके अभावमें नहीं। अतः प्रत्यक्षको व्यवसायात्मक स्वीकार करनेवालोंको भी अभ्यासादि चारों नियमसे मानने योग्य हैं,' तो यह मन्तव्य भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि उक्त अभ्यासादि चारों नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी सम्भव हैं, अतः संस्कार और स्मरण दोनों उनमें भी हो सकते हैं।

फिर प्रश्न है कि ये अभ्यासादि क्या हैं? यदि 'बार-बार दर्शनका होना अभ्यास है,' तो वह नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी पाया जाता है। और यदि 'पुनः पुनः विकल्पको उत्पन्न करना अभ्यास' है, तो वह स्याद्वादियोंके लिए असिद्ध है, क्योंकि मूल विवाद इसी बातमें है कि जो (दर्शन) स्वयं निर्विकल्प (अनिश्चयात्मक) है वह विकल्प (निश्चय) को कैसे उत्पन्न कर सकता है।

क्षणिक और अक्षणिकका विचार होनेपर क्षणिक-प्रकरण भी क्षणिकता आदिमें विद्यमान रहता है।

बुद्धिपाटवका अर्थ यदि 'इन्द्रियबुद्धिकी पटुता' है, तो वह नीलादिकी तरह क्षणिकता आदिमें भी मौजूद है, क्योंकि दर्शन (इन्द्रियबुद्धि) को बौद्धों द्वारा निरंश माना गया है। यह सम्भव नहीं कि नीलादिमें इन्द्रियबुद्धिकी पटुता हो और क्षणिकता आदिमें अपटुता, क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेपर इन्द्रियबुद्धिमें अंशभेद—पटुता-अपटुता दो अंश मानना पड़ेंगे। किन्तु इन्द्रियबुद्धिके निरंश होनेसे यह सम्भव नहीं है। 'वासनारूप कर्मके कारण इन्द्रियबुद्धिमें पटुता और अपटुता दोनों हो सकते हैं,' ऐसा विचार भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि वासनारूप कर्मका सद्भाव और असद्भाव दोनों विरुद्ध धर्म होनेसे वे एक निरंश इन्द्रियबुद्धिमें असम्भव हैं।

अब रह जाता है अर्थित्व; सो वह यदि जिज्ञासितत्व (प्रतिपत्ताकी जिज्ञासा) रूप है, तो वह नीलादिकी तरह ही क्षणिकता आदिमें भी है। और यदि वह (अर्थित्व) अभिलषितत्व (प्रतिपत्ताकी अभिलाषा) रूप विवक्षित है, तो वह व्यवसायका अनिवार्य कारण नहीं है, क्योंकि किसी उदासीन प्रतिपत्ताकी अनचाही वस्तुमें भी स्मरण (व्यवसाय) होता हुआ देखा जाता है। अतः अर्थित्व भी संस्कार एवं स्मरणका नियामक नहीं है।

इस प्रकार इन्द्रियबुद्धिको निरंश माननेवालोंके यहाँ अभ्यासादिके बलपर नीलादिमें संस्कार एवं स्मरण सम्भव नहीं हैं। किन्तु बाह्य (घटादि ज्ञेय) और आभ्यन्तर (ज्ञान) दोनों प्रकारकी वस्तुओंको अनेकान्तात्मक स्वीकार करनेवाले स्याद्वादियोंके यहाँ संस्कार, स्मरण आदि सभी सम्भव हैं। उन्होंने एक ज्ञानको सर्वथा व्यवसाय, जिसे अवाय कहा गया है और सर्वथा अव्यवसाय, जिसे अनवाय (अवग्रह-ईहा) प्रतिपादित किया है, रूप नहीं माना। इसी तरह उसे सर्वथा संस्कार, जिसे धारणा निरूपित किया है और सर्वथा असंस्कार, जिसे धारणेतर (अवग्रह-ईहा-अवायात्मक) बतलाया है, स्वीकार नहीं किया तथा उसे सर्वथा स्मरण और सर्वथा अस्मरण (प्रत्यक्षादि) रूप भी वर्णित नहीं किया। अर्थात् स्याद्वाददर्शनमें उस ज्ञानको कथंचित् एक और कथंचित् अनेक दोनों रूप माना गया है। इसी प्रकार ज्ञेय वस्तु भी कथंचित् एक और कथंचित् अनेक दोनों रूप प्रतिपादित है। अतः उपर्युक्त संस्कार, स्मरण आदिके अभावका प्रसंग स्याद्वाददर्शनमें नहीं आता। तात्पर्य यह कि आर्हत दर्शनमें ज्ञानमें कथंचित् भेद भी माना गया है। जो व्यवसायज्ञान है उसे अवायज्ञान, जो अव्यवसायज्ञान है उसे अनवाय—अवग्रह-ईहा ज्ञान, जो संस्कारज्ञान है उसे धारणाज्ञान, जो असंस्कारज्ञान है उसे अधारणाज्ञान—अवग्रह-ईहा-अवायज्ञान, जो स्मरणज्ञान है उसे स्मृति और जो अस्मरणज्ञान है उसे अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणाज्ञान कहा गया है। इस प्रकार जैनोंने बौद्धोंकी तरह एक निरंश ज्ञान स्वीकार नहीं किया है। पर बौद्धोंने निर्विकल्पक दर्शनको निरंश (एक) माना है, अतः उसमें अभ्यासादि और अनभ्यासादि दोनों न हो सकनेसे उसे अभ्यासादिकी अपेक्षा नीलादिमें व्यवसायका उत्पादक और अनभ्यासादिकी अपेक्षा क्षणिकतादिमें व्यवसायका अनुत्पादक दोनों नहीं माना जा सकता।

यहाँ बौद्धोंका पुनः कहना है कि 'दर्शनको भी हमने व्यावृत्तिभेदसे भिन्न (अनेक) स्वीकार किया है, अतः उक्त दोष नहीं है। वह इस प्रकारसे है—अनीलपनाकी व्यावृत्ति नीलपना है और अक्षणिकपनाकी व्यावृत्ति क्षणिकपना है। ध्यातव्य है कि अनीलव्यावृत्ति (नीलपना) में 'यह नील है' ऐसा नीलका व्यवसाय नीलकी वासनाके उद्भवसे होता है। किन्तु अक्षणिकव्यावृत्ति (क्षणिकपना) में क्षणिककी वासनाका उद्भव न होनेसे 'यह क्षणिक है' ऐसा क्षणिकका व्यवसाय नहीं होता। और ये दोनों व्यावृत्तियाँ एक नहीं हैं, अन्यथा उनसे व्यावृत्ति नीलपना और क्षणिकपना दोनों अभिन्न हो जायेंगे। यह भी स्मरणीय है कि व्यावृत्तियोंके भिन्न होनेसे वस्तुमें भेद नहीं होता, क्योंकि व्यावृत्तियाँ अन्यापोहरूप होनेसे अवस्तु

(संश्लेष—मिथ्या) हैं और वस्तु परमार्थसत् निरंश है। ऐसा न माननेपर अनवस्था—अव्यवस्था होगी।

बौद्धोंका यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जबतक वस्तुमें स्वाभाविक भेद न होगा, तबतक उसमें व्यावृत्तिकल्पित भी भेद सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि नीलस्वलक्षण जिस स्वभावसे अनोलसे व्यावृत्त है उसी स्वभावसे वह यदि अक्षणिकसे भी व्यावृत्त है, तो अनोल और अक्षणिक दोनों एक हो जायेंगे, क्योंकि नीलस्वलक्षणमें उन दोनों (अनोल और अक्षणिक) से व्यावृत्त होनेका एक ही स्वभाव है—अलग-अलग स्वभाव नहीं हैं और स्वभावभेद न होनेसे उन दोनोंकी व्यावृत्तियाँ भी एक हो जायेंगी। यदि नीलस्वलक्षण अनोलसे अन्य स्वभावसे व्यावृत्त है और अक्षणिकसे अन्य स्वभावसे, तो निश्चय ही नीलस्वलक्षणमें स्वभावभेद सिद्ध हो जाता है।

। यदि कहा जाय कि 'वह स्वभावभेद नीलस्वलक्षणमें अनोल-अस्वभावव्यावृत्ति और अक्षणिक-अस्वभावव्यावृत्तिसे कल्पित है, वास्तविक नहीं है, तो इस तरह अन्य-अन्यकल्पित स्वभावोंकी भी कल्पना होनेपर पूर्ववत् अव्यवस्था आयेगी, क्योंकि अनोल-स्वभावकी अन्यव्यावृत्तिको भी अन्य व्यावृत्तिरूप अन्य स्वभावसे कल्पित करना पड़ेगा और उस अन्य व्यावृत्तिको भी तदन्यव्यावृत्तिरूप अन्य स्वभावसे मानना होगा, फलतः किसी भी वस्तुकी व्यवस्था न हो सकेगी।

अगर माना जाय कि 'इसी कारण नीलादि स्वलक्षणरूप वस्तु किसी विकल्प अथवा शब्दका विषय (अभिधेय) नहीं हैं, क्योंकि विकल्पों और शब्दोंका विषय अन्यव्यावृत्ति हैं, जो अनादिकालीन विद्यमान अविद्या (अज्ञान) के कारण कल्पित होती है और कल्पित (मिथ्या) होनेसे वह विचारयोग्य नहीं है। यदि उसे विचारयोग्य माना जाय, तो वह अवस्तु न रहकर वस्तु हो जायेगी,' यह मान्यता भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उक्त न्यायसे दर्शनका विषय (नीलादि स्वलक्षण) भी अवस्तु सिद्ध होगा—वह भी शब्द और विकल्पके विषयकी तरह विचारयोग्य नहीं है।

प्रश्न उठता है कि नीलस्वलक्षण सुगतके प्रत्यक्षका भी विषय है और सुगतसे भिन्न अन्य संसारी जनोंके प्रत्यक्षका भी विषय है, सो वह दोनोंके प्रत्यक्षद्वारा एक-स्वभावसे जाना जाता है या भिन्न-भिन्न स्वभावसे? यदि एकस्वभावसे वह दोनोंके प्रत्यक्षद्वारा जाना जाय, तो जो नीलस्वलक्षण सुगतके प्रत्यक्षद्वारा ज्ञेय है वही अन्य संसारीजनोंके प्रत्यक्षका भी ज्ञेय है और इस तरह सारे संसारी सुगत और सुगत सारे संसारी हो जायेंगे। फलतः संसारमें कोई सुगत न रहेगा। इस महान् दोषसे बचनेके लिए यदि नीलस्वलक्षणको भिन्न-भिन्न स्वभावोंसे सुगतके प्रत्यक्ष और संसारीजनोंके प्रत्यक्षका ज्ञेय माना जाय, तो नीलस्वलक्षणमें स्वभावभेद अनिवार्य है। यह कहा नहीं जा सकता कि नीलस्वलक्षणमें जो नाना ज्ञेयस्वभाव हैं वे कल्पित हैं, क्योंकि उन्हें कल्पित मानने पर नीलस्वलक्षण भी कल्पित (मिथ्या) होनेसे न बचेगा, जबकि उसे वास्तविक—परमार्थसत् माना गया है।

विज्ञानाद्वैतवादी-बौद्धोंका मत है कि 'स्वलक्षणमें जो दर्शनविषयता है वह दर्शनको अपने आकारका अर्पण है और वह अर्पण अस्वाकारार्पण-व्यावृत्तिरूप है। वह अनेक द्रष्टाओंकी अपेक्षासे अनेक सिद्ध होता हो है। उसे अनेक न माननेपर वह

(स्वलक्षण) अनेक द्रष्टाओंके दर्शन (प्रत्यक्ष) का विषय नहीं हो सकेगा । वास्तवमें दर्शन दृश्य (बाह्य अर्थ) को विषय करता ही नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञाता (ज्ञान) अपने स्वरूपमात्रमें लीन रहते हैं । उपचारसे ही उन्हें बाह्यार्थका विषय करनेवाला व्यवहृत किया जाता है, यह मान्यता भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि दर्शनको अपने आकारका जो अर्पण है उसके विषयमें भी पूर्ववत् प्रश्न उठता है । बतलाइए, वह स्वलक्षण जिस स्वभावसे सुगतके दर्शनके लिए अपना आकार अर्पित करता है क्या उसी स्वभावसे अन्य लोगोंके दर्शनके लिए भी वह अपना आकार अर्पित करता है या अन्य स्वभावसे ? प्रथमपक्षमें सुगतके दर्शन और अन्य लोगोंके दर्शनमें कोई भेद न रहेगा,—दोनों एक हो जायेंगे । फलतः सभी लोग सुगत और सुगत सभी लोग हो जायेंगे । द्वितीय पक्षमें स्वलक्षणमें स्वभावभेद अनिवार्य है ।

यदि कहा जाय कि स्वलक्षणरूप वस्तुका दर्शनके लिए अपना आकार अर्पण करना भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि सभी ज्ञान स्वरूपको ही विषय करते—जानते हैं, तो यह कथन भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि ज्ञानोंको बाह्यार्थका प्रकाशक न माननेपर उनकी व्यर्थता सिद्ध होगी । स्पष्ट है कि ज्ञानकी आवश्यकता ज्ञेयको प्रकाशित करने—जाननेके लिए होती है, जैसे प्रकाशके लिए दीपक आवश्यक होता है । स्वरूपको जाननेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती—वह तो स्व-प्रकाशक ही होता है । दीपकको प्रकाशित करनेके लिए दीपककी आवश्यकता नहीं होती । अतः ज्ञानोंको बाह्यार्थज्ञापक न माननेपर उनकी अनावश्यकता सिद्ध होगी ही । इसके अतिरिक्त निर्विषयक स्वप्नादि ज्ञान भी सत्य माने जायेंगे, क्योंकि स्वरूपका प्रकाशन तो वे भी करते हैं ।

इस तरह तरह प्रत्यक्षज्ञान (प्रत्यक्षचतुष्टय) प्रत्यक्षसे अव्यवसायात्मक सिद्ध नहीं होता । अनुमानसे भी वह अव्यवसायात्मक अनुमित नहीं होता, क्योंकि गायके दर्शनके समय जैसे अश्वका विकल्प—व्यवसाय होता है, उसी तरह गायका दर्शन भी व्यवसायात्मक होता है । यदि गायका दर्शन व्यवसायात्मक न हो, तो उत्तरकालमें उससे गायका स्मरण, जो व्यवसायात्मक है, कदापि नहीं हो सकता । अतः प्रत्यक्षज्ञान अव्यवसायात्मक नहीं है । जैसा कि निम्न अनुमानसे सिद्ध होता है—

अनुमानसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी सिद्धि

‘गायका प्रत्यक्षज्ञान व्यवसायात्मक होता है, क्योंकि उत्तर कालमें उसका स्मरण—व्यवसायात्मकज्ञान होता है । जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह उत्तर कालमें स्मरणको उत्पन्न नहीं करता, जैसे स्वयं बौद्धों द्वारा स्वीकृत स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका दर्शन और गायका प्रत्यक्षज्ञान करनेवालेको उत्तर कालमें गायका स्मरण होता है, इसलिए प्रत्यक्षज्ञान व्यवसायात्मक है ।’ यह केवलव्यतिरेकि अनुमान है ।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञानको स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध करनेके लिए जो ‘सम्यक्-ज्ञानपना’ हेतु दिया गया है वह व्यभिचारी—अनैकान्तिक हेतुभास नहीं है, क्योंकि कोई भी सम्यग्ज्ञान ऐसा नहीं है, जो अव्यवसायात्मक हो, जैसा कि ऊपर प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा चुका है । (१३-२७)

विज्ञानाद्वैतवाद-परीक्षा :

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादियोंका कथन है कि उक्त हेतु व्यभिचारी न होनेपर भी अप्रयोजक है—अपने साध्य (स्वार्थव्यवसायात्मकपना) का साधक नहीं है, क्योंकि सभी सम्यग्ज्ञान अर्थनिश्चयके बिना ही स्वको जानने मात्रसे सम्यग्ज्ञान है। यह निम्न अनुमानसे भी सिद्ध है—

‘विवादापन्न सम्यग्ज्ञान अर्थव्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान है अथवा स्वव्यवसायात्मक है। जो ज्ञान है या स्वव्यवसायात्मक है वह अर्थव्यवसायात्मक नहीं है, जैसे स्वप्नादिज्ञान, और सम्यग्ज्ञान अथवा स्वव्यवसायात्मक जैनों द्वारा स्वीकृत प्रकृत ज्ञान है, इसलिए वह अर्थव्यवसायात्मक नहीं है।’

उनका भी यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि जागृत अवस्थामें होनेवाला यथार्थ ज्ञान स्पष्टतया अर्थव्यवसायात्मक प्रतीत होता है। यदि वह अर्थका निश्चय न करे तो प्रतिपत्ताओंकी उससे अर्थमें असन्दिग्ध प्रवृत्ति नहीं हो सकती, (किन्तु) उनकी उससे अर्थमें असन्दिग्ध प्रवृत्ति होती है, अतः अर्थनिश्चयात्मकताके बिना सम्यग्ज्ञानसे बाह्य वस्तुमें प्रवृत्ति न होनेके कारण सम्यग्ज्ञान अर्थव्यवसायात्मक है।

‘मिथ्याज्ञानसे भी अर्थमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः हेतु अनेकान्त है’ यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे जो प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति नहीं, प्रवृत्त्याभास (मिथ्या प्रवृत्ति) है। कारण कि वह प्रवृत्ति निश्चित किये अर्थकी प्राप्तिमें निमित्त नहीं है और सम्यक् प्रवृत्ति वही है जो निश्चित किये अर्थको प्राप्त करानेमें समर्थ है और वह सम्यक् प्रवृत्ति मिथ्याज्ञानसे सम्भव नहीं है, अतः हेतु अनेकान्त नहीं है।

इसके अतिरिक्त हमारा प्रश्न है कि अर्थव्यवसायात्मकताके निरासके लिए जो अनुमान उपस्थित किया गया है वह अपना व्यवसाय (निश्चय) करता है या नहीं? यदि करता है तो अनुमानगत हेतु उसीके साथ अनैकान्तिक हो जाता है, क्योंकि वह ज्ञान या स्वव्यवसायात्मक होकर अपने साधनीय अर्थका भी व्यवसायात्मक सिद्ध है। द्वितीय विकल्प स्वीकार करनेपर तो उस अनुमानसे अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती। कारण कि वह अपने साधनीय अर्थका वह व्यवसायात्मक नहीं है, जैसे अनुमानाभास स्वसाध्यका साधक नहीं होता। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय, कोई भी अनुमान हो, वह अपने साध्यको सिद्ध करने या असाध्यको दूषित करनेपर अर्थव्यवसायात्मक माना जायेगा। उसे अर्थव्यवसायात्मक न माननेपर वह अभीष्टका साधक और अनभीष्टका दूषक नहीं हो सकेगा। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि ‘इष्टका साधन और अनिष्टमें दूषण’ की व्यवस्था तो परप्रसिद्ध (जैनों आदि द्वारा अभिमत) अर्थव्यवसायी प्रमाणसे स्वीकार करनेसे हमें प्रमाणको अर्थव्यवसायात्मक माननेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि तब प्रश्न उठता है कि परकी मान्यताको आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं? यदि प्रामाणिक नहीं मानते, तो पराभिमत अर्थव्यवसायी प्रमाणसे स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणकी व्यवस्थाकी बात कैसे बन सकती है। उसे प्रामाणिक न मानना और उससे व्यवस्थाको स्वीकार करना परस्पर विरोधी कथन है। ऐसे कथनकी अविचारपूर्ण कहा जावेगा। अगर परकी मान्यताको प्रामाणिक माना जाता है तो जिस प्रमाणसे उसे प्रमाण मानते हैं उसी प्रमाणसे वह अर्थव्यवसायात्मक भी

सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उसे अर्थव्यवसायात्मक न माननेपर उससे परमान्यताकी यथार्थ जानकारी नहीं हो सकती। यदि परमान्यताकी यथार्थ जानकारी अन्य परमान्यतासे करें, तो पूर्व प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा रहता है और उसके लिए अन्य-अन्य परमान्यताओंकी स्वीकार करनेपर अनवस्था दोष आये बिना नहीं रहता।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध पुनः कहते हैं कि वास्तवमें बाह्य पदार्थ हैं ही नहीं, क्योंकि बाह्य पदार्थोंको लेकर जो ज्ञान होते हैं वे आलम्बन (विषय) रहित हैं, जैसे स्वप्नज्ञान। सन्ततिरूपसे होनेवाले ज्ञान भी नहीं हैं। केवल स्वरूपका निश्चय करनेवाला ज्ञान है; यह कथन भी निस्सार है, क्योंकि 'सभी ज्ञान आलम्बन रहित हैं' यह न प्रत्यक्षसे सिद्ध होता है और न अनुमानसे। इसका कारण यह है कि वे समस्त ज्ञान प्रत्यक्षका विषय नहीं हैं। 'विवादापन्न ज्ञान आलम्बन रहित हैं' क्योंकि वे ज्ञान हैं, स्वप्न या इन्द्रजालादि ज्ञानकी तरह' यह अनुमान भी सम्यक् न होनेके कारण उन्हें आलम्बनरहित सिद्ध करनेमें असमर्थ है, कारण कि उक्त हेतु स्वरूपावभासी ज्ञानसन्तानके साथ व्यभिचारी है। स्वरूपावभासी ज्ञानसन्तान प्रत्यय तो है, किन्तु आलम्बनरहित नहीं है—स्वरूप उसका आलम्बन है। यदि उसे भी सन्तानान्तरज्ञानोंकी तरह पक्षान्तर्गत माना जाय तो दो विकल्प उठते हैं—यह अनुमानज्ञान अपने साध्यरूप अर्थको विषय करता है या नहीं? यदि करता है तो अनुमानगत 'प्रत्ययत्व' हेतु उसीके साथ अनैकान्तिक है—साध्य (आलम्बनरहित) के अभावमें वह पाया जाता है। दूसरा पक्ष स्वीकार करनेपर अर्थात् उसे निरालम्बन माननेपर उससे निरालम्बनत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। (१४-३१)

परमब्रह्म-परीक्षा :

यहाँ केवल परमब्रह्मको स्वीकार करनेवाले वेदान्ती अपने मतकी उपस्थापना करते हैं—'समस्त ज्ञानोंको आलम्बन (बाह्य विषय) रहित प्रतिपादन करना हमें इष्ट है। वह परमब्रह्मके स्वरूपकी ही सिद्धि है। परमब्रह्मको छोड़कर बाह्य कोई पदार्थ नहीं है,' उनका भी यह मत सम्यक् नहीं है, क्योंकि प्रश्न है कि परमब्रह्म स्वतः सिद्ध है या किसी प्रमाणसे सिद्ध है? स्वतः सिद्ध तो उसे माना नहीं जा सकता, अन्यथा उसमें किसीको कोई विवाद न होता। प्रमाणसे उसे सिद्ध माननेपर दो विकल्प होते हैं—अनुमानसे वह सिद्ध है अथवा आगमसे? यदि अनुमानसे वह सिद्ध है तो वह अनुमान कहिए।

'विवादग्रस्त पदार्थ' प्रतिभासके अन्तर्गत ही हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान हैं, जो प्रतिभासमान हैं वे प्रतिभासके अन्तर्गत ही देखे गये हैं, जैसे प्रतिभासस्वरूप और प्रतिभासमान हैं चेतन-अचेतन समस्त विवादग्रस्त पदार्थ, इस कारण वे प्रतिभासके अन्तर्गत ही हैं' इस अनुमानसे परमब्रह्मकी सिद्धि होती है, यह अनुमान समोचीन नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमानमें जो धर्मी, हेतु और दृष्टान्त प्रयुक्त हैं उन्हें प्रतिभासके अन्तर्गत स्वीकार करनेपर साध्यकोटिमें आ जानेसे प्रकृत अनुमानका उदय ही नहीं हो सकता। और यदि उन्हें प्रतिभासके अन्तर्गत नहीं माना जाता तो उन्हींके साथ हेतु (प्रतिभासमानत्व) व्यभिचारी है।

यदि कहा जाय कि अनादिकालीन अविद्याकी वासनासे धर्मी, हेतु और

दृष्टान्त प्रतिभाससे बाह्य जैसे अवगत होते हैं, जैसे प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं सभ्य-सभापति प्रतीत होते हैं, अतः उपर्युक्त अनुमानका उदय सम्भव है ही। किन्तु जब समस्त अनादिकालीन अविद्याका विलास (कल्पनाजाल) विलीन हो जाता है तो समस्त जगत् प्रतिभासके अन्तर्गत आ जानेसे प्रतिभास ही है, उसमें कोई विवाद नहीं रहता। प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावका अभाव हो जानेपर साध्य-साधनभाव न बनेनेसे अनुमानप्रयोगकी फिर कोई सार्थकता नहीं है। देश, काल और आकारकी सीमाओंसे रहित, समस्त अवस्थाओंमें व्यापी, प्रतिभासस्वरूप, निर्दोष परब्रह्मका स्वयं अनुभव होनेपर अनुमानका प्रयोग नहीं होता, अतः उपर्युक्त दोष नहीं है, यह कथन भी युक्त नहीं है। प्रश्न है कि वह अनादिकालीन अविद्या प्रतिभासके अन्तर्गत है या प्रतिभाससे बाहर? यदि प्रतिभासके अन्तर्गत है तो वह विद्या ही है, वह अविद्यमान धर्मी, हेतु और दृष्टान्तका प्रदर्शन कैसे करा सकती है? अगर उसे प्रतिभाससे बाहर माना जाय, तो पुनः प्रश्न होता है कि वह प्रतिभासमान है या नहीं? यदि वह प्रतिभासमान नहीं है, तो उससे भेदोंका प्रतिभास कैसे होता है, और यदि वह प्रभासमान है, तो उसीके साथ उक्त प्रतिभासमानत्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि प्रतिभाससे बाहर होनेपर भी वह प्रतिभासमान है। (१५-३३)

यदि कहा जाय कि अविद्या न प्रतिभासमान है, न अप्रतिभासमान, न प्रतिभाससे बाह्य, न प्रतिभासान्तर्गत, न एक, न अनेक, न नित्य, न अनित्य, न व्यभिचारिणी और न अव्यभिचारिणी, क्योंकि वह विचारके योग्य ही नहीं है। उसका स्वरूप ही सकल विचारातिक्रान्त है, अन्य स्वरूप उसका नहीं है, नीरूपता ही उसका लक्षण है; यह कथन भी अज्ञानतापूर्ण ही है; क्योंकि अविद्याको उक्त प्रकारका माननेपर किसीके द्वारा किसी प्रकारसे प्रतिभास न होनेसे उसका कथन ही नहीं किया जा सकता। और यदि उसका प्रतिभास होता है तब वह नीरूप कैसे? जो जिस रूपसे प्रतिभासित होता है वही उसका स्वरूप है। तथा यह बतायें कि वह विचारातिक्रान्तरूपसे विचारका विषय है या विचारका विषय नहीं है? प्रथम पक्ष स्वीकार करनेपर सकलविचारातिक्रान्तरूपसे विचारानतिक्रान्त (विचारका विषय) होनेसे विरोध प्राप्त होता है। अविद्या जब सकलविचारातिक्रान्त है तो वह विचारका विषय कैसे हो सकती है—दोनों बातें विरुद्ध हैं। द्वितीय पक्ष माननेपर उसे 'सकलविचारातिक्रान्त' भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अविद्याकी विचारातिक्रान्तता किसी तरह सिद्ध करनेपर उसमें सर्वथा एकानेकादिरूपता भी उसी तरह सिद्ध होगी। अतः अविद्याको सत्स्वभाव ही मानना चाहिए, जैसे विद्याको सत्स्वभाव माना जाता है। फलतः विद्या और अविद्याके द्वैतकी सिद्धि होनेसे अद्वैतरूप परमब्रह्मकी सिद्धि किस अनुमानसे होगी? अर्थात् किसी भी अनुमानसे उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। उपनिषद्वाक्यसे भी उसकी सिद्धि सम्भव नहीं, यह पहले ही कहा जा चुका है। स्पष्ट है कि 'यह सब निश्चय ही ब्रह्म है' [] इत्यादि उपनिषद्वाक्योंको ब्रह्मसे भिन्न माननेपर द्वैतका प्रसंग आता है और अभिन्न माननेपर साध्य-साधकभाव नहीं बनेगा। उन्हें अविद्यात्मक कहनेपर भी पूर्वोक्त दोषोंका प्रसंग आता है। अतः परमपुरुषाद्वैतकी न स्वतः सिद्धि होती है और न परसे, जिससे 'सम्यग्ज्ञान स्वनिश्चा-

यक ही है, अर्थनिश्चायक नहीं, क्योंकि अर्थ नहीं है' यह कथन प्रामाणिक होता । तात्पर्य यह कि पुरुषाद्वैत सिद्ध नहीं है, जिससे बाह्य अर्थका अभाव होता । अतः अपने तथा बाह्य अर्थका व्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान प्रमाण है । [१५-३४]

शंका—जो स्वप्नज्ञान होता है वह स्वव्यवसायात्मक ही होता है, अर्थव्यवसायात्मक नहीं ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्नज्ञान भी साक्षात् अथवा परम्परासे अर्थका व्यवसायात्मक होता है । स्वप्न दो प्रकारका है—१. सत्य और २. असत्य । सत्य स्वप्न किसी देवके निमित्तसे अथवा स्वप्नद्रष्टाके धर्म एवं अधर्मके निमित्तसे होता है और वह साक्षात् किसी अर्थका निश्चायक होता है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें जिस स्थान, जिस काल और जिस आकारसे पदार्थ जाना जाता है, जागृत अवस्थामें भी वह उसी स्थान, उसी काल और उसी आकारसे निश्चित अवगत होता है । कोई सत्य स्वप्न परम्परासे अर्थनिश्चायक होता है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय' नामक ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार पदार्थका वह अवश्य प्रापक होता है । कहा भी है—

‘जो रात्रिके अन्तिम प्रहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बेल और गायको देखता है उसके कुटुम्बकी वृद्धि होती है ।’

ज्योतिषशास्त्रके इस कथनके अनुसार कुटुम्बवृद्धिके अविनाभावी राजा आदिका दर्शन अर्थका निश्चायक क्यों नहीं होगा, जैसे अग्निका अविनाभावी धूमका दर्शन अग्निका निश्चायक होता है ।

शंका—दृष्ट अर्थका निश्चायक न होनेसे स्वप्नज्ञान अर्थका निश्चायक नहीं है ?

समाधान—यह शंका संगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो अनुमान भी दृष्ट अर्थका व्यवसायात्मक न होनेसे अर्थका निश्चायक नहीं होगा, जैसे स्वप्नज्ञान ।

शंका—अनुमान तो अनुमेय अर्थका निश्चायक है, उसे अर्थका अनिश्चायक कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो स्वप्नज्ञान भी स्वप्नशास्त्र प्रतिपादित अर्थका निश्चायक क्यों नहीं माना जायेगा ।

शंका—उसमें कभी व्यभिचार (अर्थके अभावमें स्वप्नज्ञान) देखा जाता है, अतः वह अर्थनिश्चायक नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्य शास्त्र प्रतिपादित स्थान-विशेष, कालविशेष और आकारविशेषकी अपेक्षा लेकर होनेवाला स्वप्नज्ञान कहीं, कभी और किसी रूपसे व्यभिचारी नहीं होता । किन्तु स्थानविशेष आदिकी अपेक्षासे रहित होनेवाला स्वप्न सत्य नहीं है, वह स्वप्नाभास है । दूसरी बात यह है कि प्रतिपत्ता (स्वप्नद्रष्टा) के अपराध (गलत निर्देशन आदि) से व्यभिचार सम्भव है, उसके अनपराधसे नहीं । जैसे अधूमको धूम समझकर प्रवृत्त हुए अनुमाताका अग्नि-ज्ञान व्यभिचारी होता है, सो यह अपराध अनुमाताका ही है, धूमका नहीं, यह सभी मनीषी बतलाते हैं । उसी प्रकार अस्वप्न (स्वप्नाभास) को स्वप्न समझ कर अर्थ-

का निश्चय करनेवाले पुरुषका वह अर्थज्ञान व्यभिचारी है। सो यह स्वप्नद्रष्टाका अपराध है, स्वप्नशास्त्रका नहीं।

जो असत्य स्वप्न पित्तादिके विकारसे होता है वह क्या अर्थसामान्यका व्यभिचारी है या अर्थविशेषका ? वह अर्थसामान्यका तो व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि स्थानविशेष, कालविशेष और आकारविशेषोंमें ही व्यभिचार देखा जाता है, सब जगह, सब कालोंमें और सब प्रकारसे अर्थसामान्यका सद्भाव बना रहता है। यदि सामान्य अर्थ न हो तो विशेष अर्थोंमें संशय, विपर्यय, स्वप्न आदि अयथार्थज्ञान नहीं हो सकते हैं। निश्चय ही कोई ज्ञान सन्मात्रका व्यभिचारी नहीं होता, अन्यथा वह उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा। इसलिए असत्य स्वप्न भी अर्थसामान्यका निश्चायक होता है और इसलिए कोई भी ज्ञान, चाहे सत्य स्वप्नज्ञान हो, असत्य स्वप्नज्ञान हो और चाहे अन्य, सभी अर्थनिश्चायक होते हैं, अर्थके अनिश्चायक नहीं। चूँकि वह अर्थविशेषका व्यभिचारी होता है अतएव वह असत्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानोंमें सत्यासत्यकी व्यवस्था नहीं हो सकती, वह स्वार्थविशेषकी प्राप्ति तथा अप्राप्तिके निमित्तसे ही होती है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मककी तरह अर्थव्यवसायात्मक भी प्रसिद्ध होता है। [१६-३६]

अस्वसंवेदिज्ञान-परीक्षा :

नैयायिकोंका मत है कि सम्यग्ज्ञान केवल अर्थका निश्चायक है, स्वका निश्चायक नहीं है क्योंकि स्व (अपने) में स्वकी (अपनी) क्रिया (ज्ञप्ति) का विरोध है। इसका भी कारण यह है कि एक ज्ञानका एक ही आकार सम्भव है, अनेक (विषय—कर्मरूप और करणरूप दो) आकार नहीं। यहाँ यह कहना युक्त नहीं कि ज्ञान एक आकारको, जो कर्मरूप स्व है, करणरूप आकारके द्वारा जानता है, अतः उसमें विभिन्न दो आकार हो सकते हैं, क्योंकि तब प्रश्न उठता है कि उन (कर्माकार और करणाकार दोनों आकारों) से ज्ञान अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न है तो ज्ञानमें भेद आ जायेगा। निश्चय ही उन दोनों भिन्नोसे अभिन्न ज्ञान एक नहीं हो सकता—भिन्नोसे जो अभिन्न होता है वह भिन्न अर्थात् अनेक होता है। अथवा ज्ञानके एक होनेसे आकारोंको उससे अभिन्न माननेपर उनमें भेद नहीं बन सकेगा अर्थात् आकार भी ज्ञानकी तरह एक हो जायेंगे। स्पष्ट है कि अभिन्न (एक ज्ञान) से अभिन्न (आकारों) में भेद सम्भव नहीं है। इस दोषसे मुक्ति पानेके लिए यदि दोनों आकारोंसे ज्ञानको भिन्न माना जाय, तो 'ज्ञान अपनेको अपने द्वारा जानता है' यह सिद्धान्त समाप्त हो जाता है, क्योंकि पर (भिन्न) के द्वारा पर (भिन्न) का ही निश्चय हुआ है। फिर यह भी प्रश्न है कि वे दोनों आकार यदि ज्ञानके अपने स्वरूप हैं, तो ज्ञान उनका निश्चय करता है या नहीं ? यदि निश्चय करता है तो यह बतायें कि वह ज्ञान उनका निश्चय अन्य एक ही आकारसे करता है या अलग-अलग दो आकारोंसे ? यदि अन्य एक आकारसे हो वह उन दोनों आकारोंका निश्चय करता है तो विरोध आता है—एक आकारसे दो विरोधी आकारोंका निश्चय अशक्य है। यदि कहा जाय कि उन दो विरोधी आकारोंका निश्चय वह अलग-अलग दो आकारोंसे करता है, तो वे दोनों अन्य आकार ज्ञानसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यह प्रश्न बना

ही रहेगा और उस हालतमें अपरिहार्य अनवस्थादोष आयेगा। अगर उन्हें ज्ञानसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न इस प्रकार दोनों रूप कहें, तो दोनों पक्षोंमें जो ऊपर दोष दिये गये हैं वे इस पक्षमें भी आते हैं। इन तीन पक्षों (भेद, अभेद और कथंचिद्भेदाभेद) के अतिरिक्त चौथा कोई पक्ष भी सम्भव नहीं है। अतः सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं है, मात्र अर्थव्यवसायात्मक ही है ?

नैयायिकोंकी भी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वह अनुभवपर आधृत नहीं है। लोकका स्पष्ट अनुभव है कि ज्ञान स्वका निश्चय करता हुआ ही अर्थका निश्चय करता है। इस अनुभवको मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें प्रत्यक्षादिसे कोई बाधा नहीं आती। 'स्वमें स्वकी क्रिया नहीं हो सकती—उसका विरोध है और यह विरोध ही उक्त अनुभवमें सबसे बड़ी बाधा है' यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि हम पूछते हैं कि 'स्व' में 'स्व' की कौन-सी क्रियाका विरोध है ? उत्पत्ति क्रियाका या ज्ञप्ति क्रियाका ? यदि उत्पत्ति क्रियाका विरोध है, तो वह रहे—वह तो हम भी मानते हैं। हम यह कहाँ कहते हैं कि 'ज्ञान अपनेको उत्पन्न करता है'। स्वामी समन्तभद्रने स्पष्टतया कहा है कि, 'एक स्वयं अपनेसे उत्पन्न नहीं होता।' [आसमी. का. २४]

अगर कहा जाय कि ज्ञप्ति क्रियाका विरोध है, तो ज्ञानमें उसका कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान जानन क्रिया (ज्ञप्ति) रूपसे परिणत होता हुआ ही अपने कारणकलापसे, जिसमें उपादान आत्मा और निमित्त (सहकारी) इन्द्रियादि सम्मिलित हैं, उत्पन्न होता है। जैसे प्रदीप आदिका प्रकाश प्रकाशनरूप क्रियासे परिणत होता हुआ ही अपने तेल, बत्ती आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है। प्रदीपादिका प्रकाश अपनी कारणसामग्रीसे जब उत्पन्न होता है तो स्वप्रकाशनरूप क्रियासे परिणत नहीं होता, ऐसा अनुभव नहीं होता, अपितु वह स्वसामग्रीसे उत्पन्न होता हुआ अपना भी प्रकाश करनेवाला प्रतीत होता है, अन्यथा उसे अपना प्रकाश करनेके लिए प्रकाशान्तरकी अपेक्षा करनी पड़ेगी, जो कि अप्रातीतिक है। यह प्रदीपादिका प्रकाश घटादिके ज्ञान और स्वरूप (स्वप्रकाशके) ज्ञान करनेमें चक्षुरिन्द्रियकी सहायता न करता होता तो वह स्वप्रकाशक न होता, किन्तु वह सहायता करता है, अतः स्वप्रकाशक है। वास्तवमें चक्षुरिन्द्रियकी जो सहायता है वही प्रदीपादिकी प्रकाशकता है। वह प्रकाशकता जिस प्रकार घटादिका प्रकाश करते हुए प्रदीपादिमें विद्यमान है उसी प्रकार अपना प्रकाश करते हुए भी प्रदीपादिमें वह मौजूद रहती है। इस प्रकार प्रदीपादिके प्रकाशमें स्वप्रकाशन क्रिया सिद्ध है। उसी तरह ज्ञानमें अर्थप्रकाशन क्रियाकी तरह स्वप्रकाशन क्रिया भी समझना चाहिए—उसमें कोई विरोध नहीं है।

उपर्युक्त विवेचनसे नैयायिकोंका यह अनुमान निरस्त हो जाता है कि 'ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं है, क्योंकि वह अर्थप्रकाशक है, जैसे चक्षु आदि,' कारण कि हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रदीपादि अर्थप्रकाशक होते हुए स्वप्रकाशक भी हैं, अतः अनुमानगत हेतु प्रदीपादिके साथ अनेकान्तिक हेत्वाभास है। 'प्रदीपादि उपचारसे प्रकाशक हैं, यथार्थतः नहीं, यथार्थमें तो चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रकाशक हैं, अतः उक्त हेतु प्रदीपादिके साथ व्यभिचारी नहीं है' यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि यथार्थतः

चक्षु आदि इन्द्रियां भी अर्थप्रकाशक नहीं हैं। वास्तवमें अर्थप्रकाशक ज्ञान ही सिद्ध होता है। ऐसी दशामें उक्त अनुमानगत दृष्टान्त (चक्षु आदि) साधनविकल दृष्टान्ताभास है। इसके अतिरिक्त ज्ञान निम्न अनुमानसे स्वप्रकाशक सिद्ध है—‘ज्ञान स्वप्रकाशक है, क्योंकि वह अर्थप्रकाशक है, जो स्वप्रकाशक नहीं है वह अर्थप्रकाशक नहीं देखा जाता, जैसे दीवाल आदि, और अर्थप्रकाशक ज्ञान है, इसलिए वह स्वप्रकाशक है’ यह केवलव्यतिरेकिहेतुजनित अनुमान है, जो साध्याविनाभावी हेतुसे उत्पन्न होनेके कारण निर्दोष है। चक्षु आदि इन्द्रियां यथार्थमें अर्थप्रकाशक सिद्ध नहीं होतीं, अतः उनके साथ भी हेतु अनेकान्तिक नहीं है। ज्ञानमें सहायक होने मात्रसे उन्हें उपचारसे अर्थप्रकाशक माना गया है। ‘दीवाल आदि अपने अविनाभावी परभागादि पदार्थोंके प्रकाशक (अनुमापक) हैं, जैसे धूमादि अग्न्यादिके, और इसलिए उक्त अनुमानगत दीवाल आदिका दृष्टान्त साधनव्यतिरेकविकल दृष्टान्ताभास है’, यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि दीवाल आदिको धूम, शब्द, इन्द्रिय आदिकी तरह उपचारसे ही अर्थप्रकाशक माना जाता है। यदि ऐसा न हो तो उससे होनेवाला ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होगा।

ऊपर जो यह कहा गया है कि ‘ज्ञान अपनेको अपने द्वारा जानता है, यह स्वीकार करनेसे ज्ञानमें विषयाकार और करणाकार ये दो आकार कल्पित करने पड़ेंगे और उस स्थितिमें अनवस्था आदि दोष आयेंगे और यही दोष ज्ञानको स्वप्रकाशक माननेमें बाधक हैं,’ वह भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें उक्त दोनों आकार अनुभव सिद्ध हैं। जब ज्ञान स्वयं ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है तो वह कर्म (विषय) होनेसे विषयाकार है और करण होनेसे करणाकार है और ये दोनों आकार आकारवान् ज्ञानसे न सर्वथा भिन्न हैं और न सर्वथा अभिन्न, अपितु जात्यन्तर—सर्वथा भिन्न और सर्वथा अभिन्न दोनोंसे अतिरिक्त तृतीय पक्ष कथंचिद्भिन्नाभिन्न रूप होनेसे आकार और आकारवान्में भेदाभेदकी अपेक्षा अनेकान्त है। कर्माकार और करणाकार ज्ञानसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न हैं, अतएव सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद पक्षमें दिये गये दोष स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) दर्शनमें नहीं आते। स्मरण रहे कि ‘कथंचित्’ पद अन्धपद नहीं है, जो अन्धेकी तरह वस्तुबोध न करा सके। ज्ञानरूपसे दोनों आकार अभिन्न हैं, यह बोध ‘कथंचिदभेद’ शब्द द्वारा कराया जाता है और कर्म तथा करणरूपसे वे ज्ञानसे भिन्न हैं, यह ‘कथंचिदभेद’ शब्द द्वारा दिखाया जाता है। जब केवल ज्ञानकी ओर दृष्टि रहती है तो ज्ञान-ही-ज्ञान दिखाई देता है—आकारद्वय उसमें विलीन रहते हैं, ज्ञानसे भिन्न आकारात्मक कुछ प्रतीत ही नहीं होता। और जब ज्ञानके कर्माकार तथा करणाकार इन दो आकारोंकी ओर ही ध्यान रहता है तो वे आकार ही अलग-अलग दृष्टिगोचर होते हैं—ज्ञान उन्हीं दोनोंमें समाया रहता है—उन आकारोंसे भिन्न उसकी प्रतीति नहीं होती।

‘जिस स्वभावसे कर्माकार और करणाकारका ज्ञानसे अभेद है और जिस स्वभावसे भेद है वे दोनों स्वभाव ज्ञानसे क्या अभिन्न हैं या भिन्न’ इत्यादि प्रश्न और उनके आधारसे अनवस्था दोषका प्रसंग भी उक्त प्रकारसे निरस्त हो जाता है। ‘कर्म और करण दोनोंको कर्त्तसे भिन्न ही होना चाहिए’ ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि कर्म

और करण दोनों भिन्नकर्तृककी तरह अभिन्नकर्तृक भी देखे जाते हैं। यहाँ दोनोंके उदाहरण प्रस्तुत हैं—(१) 'देवदत्तः परशुना काष्ठं छिनत्ति—देवदत्त कुल्हाड़ीसे लकड़ीको काटता है, इस भिन्नकर्तृक करणके उदाहरणमें जिस प्रकार देवदत्त कर्तासे 'परशु' रूप करण भिन्न है उसी प्रकार (२) 'अग्निर्दहति दहनात्मना—अग्नि दहनपरिणामसे जलती है, इस अभिन्नकर्तृक करणके उदाहरणमें अग्नि कर्तासे दहनपरिणामरूप करण अभिन्न प्रतीत ही है। 'दहनपरिणाम उष्णत्वरूप गुण है और वह अग्नि—गुणीसे भिन्न ही है' यह मान्यता युक्त नहीं, क्योंकि अग्नि और दहन-परिणाममें सर्वथा भेद स्वीकार करनेपर गुण-गुणीभाव नहीं बन सकता, जैसे सद्य और विन्ध्यमें गुण-गुणीभाव नहीं है। 'गुणीमें गुणका समवाय होनेसे अग्नि और दहन-परिणाममें गुण-गुणीभाव बन सकता है, सद्यमें विन्ध्यका समवाय न होने और संयोग होनेसे उनमें गुण-गुणीभाव नहीं है', यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि कथंचिद् अविष्वग्भावरूप तादात्म्यसे अतिरिक्त समवाय सिद्ध नहीं होता। यथार्थमें जो सम—एकीभाव, एकरूपसे अवाय—निश्चय करना है वह समवाय है। वह कर्मस्थ और कर्तृस्थ दोनों प्रकारका होता है। समवायियों (गुण-गुणो आदिकों) में रहने-वाला समवेद्यमानत्वरूप समवाय (तादात्म्य) कर्मस्थ समवाय है और प्रमाताका तादात्म्यसे समवायियोंका ग्रहण करना रूप समवायकत्व कर्तृस्थ समवाय है। इन दोके अतिरिक्त अन्य प्रकार नहीं है, क्योंकि क्रियाको कर्मस्थ और कर्तृस्थ दो ही प्रकारकी कही है। 'कर्मस्था क्रिया कर्मणोऽनन्या कर्तृस्था कर्तृरनन्या'—कर्मस्थ क्रिया कर्मसे अभिन्न होती है और कर्तृस्थ क्रिया कर्तासे अभिन्न—ऐसा कहा गया है। अतः करण भिन्नकर्तृककी तरह अभिन्नकर्तृक भी सिद्ध होता है।

कर्म भी भिन्नकर्तृककी तरह अभिन्नकर्तृक होता है। उनके भी यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं—(१) 'कटं करोति'—देवदत्त चटाई बनाता है। यहाँ चटाई रूप कर्म कर्ता (देवदत्त) से भिन्न है। उसी तरह (२) 'प्रदीपः प्रकाशयत्यात्मानम्'—प्रदीप अपनेको प्रकाशित करता है। यहाँ प्रदीपका स्वरूप प्रकाशन (कर्म) प्रदीपसे अभिन्न प्रतीत ही है। स्पष्ट है कि प्रदीपका स्वरूप (प्रकाशन) प्रदीपसे भिन्न नहीं है, अन्यथा प्रदीप अप्रदीप हो जायेगा, जैसे घट। 'प्रदीपका स्वरूप प्रदीपसे यद्यपि भिन्न है तथापि उसका प्रदीपमें समवाय होनेसे उसमें प्रदीपपना सिद्ध है', यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो प्रदीप नहीं है, ऐसे घटादिमें भी उसका समवाय हो जाना चाहिए, कारण कि समवाय एक ही है। यदि कहा जाय कि 'सम्बन्धविशेषके कारण प्रदीपके स्वरूप-का प्रदीपमें ही समवाय है, अन्य घटादिमें नहीं', तो वह सम्बन्धविशेष कथंचित्ता-दात्म्यके सिवाय और क्या है। अतः प्रदीपका स्वरूप (प्रकाशनरूप कर्म) प्रदीपसे अभिन्न है और इस तरह अभिन्नकर्तृक भी कर्म सिद्ध है। उसी प्रकार 'ज्ञानमात्मानमात्मना जानाति'—ज्ञान अपनेको अपने द्वारा जानता है—यह भी सिद्ध हो जाता है। और चूँकि ज्ञानमें ज्ञप्ति (जानन-) क्रियाका विरोध सिद्ध नहीं होता, अतएव ज्ञान स्वका भी निश्चायक है। [१९-४२]

शंका—'पदार्थज्ञान किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा वेद्य (जानने योग्य) है, क्योंकि वह प्रमेय है, जैसे घट आदि पदार्थ', यह अनुमान ज्ञानको स्वार्थनिश्चायक माननेमें बाधक है ?

समाधान—यह शंका भी निःसार है, क्योंकि महेश्वरके अर्थज्ञानके साथ उक्त अनुमानगत हेतु अनैकान्तिक है। महेश्वरका ज्ञान किसी अन्य ज्ञानसे वेद्य नहीं है फिर भी वह प्रमेय है।

शंका—महेश्वरका अर्थज्ञान भी दूसरे ज्ञानका प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह स्वसंवेद्य नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी युक्त नहीं है, क्योंकि तब प्रश्न उठता है कि महेश्वरका वह दूसरा भी ज्ञान प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? यदि प्रत्यक्ष है तो स्वतः प्रत्यक्ष है या अन्य ज्ञानसे ? प्रथम पक्ष स्वीकार करनेपर पहले अर्थज्ञानको भी स्वतः प्रत्यक्ष मानिए, अन्य ज्ञानको माननेकी क्या जरूरत है। यदि अन्य ज्ञानसे उसका प्रत्यक्ष कहा जाय, तो ईश्वरका वह ज्ञान भी उसका प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? इस प्रकार वही प्रश्न उठेंगे और कहीं भी अवस्थान न होनेसे अनवस्था दोष भी आयेगा, जिसका परिहार दुःशक्य है। यदि ईश्वरका वह अर्थज्ञानज्ञान अप्रत्यक्ष ही है, ऐसा कहा जाय तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसे अपने अर्थज्ञानज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं है। इसके अतिरिक्त अर्थज्ञानज्ञानका प्रत्यक्ष न होनेपर प्रथम अर्थज्ञान भी उसके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि जब अर्थज्ञानज्ञान स्वयं अप्रत्यक्ष है तो उस अप्रत्यक्ष अर्थज्ञानज्ञानके द्वारा ईश्वरको अपने अर्थज्ञानका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। अन्यथा किसी दूसरे व्यक्तिके ज्ञानके द्वारा भी किसी अन्यके ज्ञानका प्रत्यक्ष क्यों न हो जाय ? फलतः अनोश्वर होते हुए भी समस्त प्राणी स्वयं अप्रत्यक्षभूत सर्वविषयक ईश्वरज्ञान द्वारा समस्त पदार्थोंके समूहके प्रत्यक्षज्ञाता हो जायेंगे और उस दशामें सभी प्राणी सर्वज्ञ हो जानेसे ईश्वर-अनोश्वरका विभाग नहीं रहेगा। और जब महेश्वरका प्रथम अर्थज्ञान भी अप्रत्यक्ष ही रहेगा तो उस अप्रत्यक्ष अर्थज्ञानके द्वारा महेश्वरके समस्त पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेका कैसे समर्थन किया जा सकता है। इस प्रकारसे तो समस्त प्राणियोंके भी सर्वज्ञ होनेका प्रसंग तदवस्थ रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि नैयायिकको महेश्वरकी असर्वज्ञता अथवा समस्त प्राणियोंकी सर्वज्ञता स्वीकार करना पड़ेगी, क्योंकि न्यायबलसे ऐसा सिद्ध होता है। और यदि वह ऐसा नहीं मानता है, तो वह नैयायिक (न्याय-पक्षावलम्बी) कैसे कहा जा सकता है।

यदि 'ईश्वरका ज्ञान समस्त पदार्थोंकी तरह अपनेको भी प्रत्यक्ष करता है, क्योंकि वह नित्य एवं एकरूप है। उसके क्रमसे होनेवाले अनेक अनित्य ज्ञान माननेपर तो महेश्वर युगपत् समस्त पदार्थोंका साक्षात्कारी नहीं हो सकेगा और उस दशामें वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता', ऐसा कहा जाय, तो पूर्वोक्त अनुमानमें दिया गया 'प्रेमयत्वं' हेतु इसी नित्य महेश्वरज्ञानके साथ अनैकान्तिक क्यों नहीं होगा।

शंका—बात यह है कि हम सामान्यजनोंके ज्ञानकी अपेक्षा अर्थज्ञानको 'प्रेमयत्वं' हेतुके द्वारा ज्ञानान्तरवेद्य सिद्ध करते हैं, महेश्वरके अर्थज्ञानको नहीं, अतः हेतु उसके साथ व्यभिचारी नहीं है, क्योंकि वह हम लोगोंके ज्ञानकी अपेक्षा विशिष्ट है। और जो धर्म विशिष्टमें देखा जाता है वह अविशिष्ट (सामान्य) में भी नहीं आरोपा जा सकता है, अन्यथा वह प्रेक्षावान् नहीं कहा जायगा ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि हम लोगोंका ज्ञानान्तर भी अन्य ज्ञानके द्वारा वेद्य माननेपर अनवस्था दोष आता है। यदि वह ज्ञानान्तर अन्य ज्ञानके द्वारा वेद्य नहीं है तो 'प्रमेयत्व' हेतु उसीके साथ अनैकान्तिक है। 'वह किसी ज्ञानका प्रमेय ही नहीं है' ऐसा कहा नहीं जा सकता, क्योंकि प्रतिपत्ताके उस ज्ञानकी फिर किसी प्रमाणसे व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि सर्वज्ञके ज्ञानका भी वह प्रमेय न हो, तो सर्वज्ञके सर्वज्ञता नहीं बन सकेगो। अतः हम लोगोंके ज्ञानकी अपेक्षा भी ज्ञानको, ज्ञानान्तरप्रत्यक्ष 'प्रमेयत्व' हेतुके द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। दूसरे, ज्ञान प्रत्यक्षसे ही स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध होनेसे उपर्युक्त अनुमानगत पक्ष प्रत्यक्षबाधित है और हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय) हेत्वाभास है। इसी प्रकार अर्थज्ञानको ज्ञानान्तरवेद्य सिद्ध करनेके लिए तीनों कालों तथा तीनों लोकोंके पुरुषसमूह द्वारा प्रयुक्त हेतुसमुदाय कालात्ययापदिष्ट जानना चाहिए। इसी कथनसे यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि एक आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहनेवाले उत्तरकालीन ज्ञानके द्वारा अर्थज्ञानका ग्रहण हो जाता है, क्योंकि उत्तरकालीन ज्ञान भी उत्तरोत्तर ज्ञानग्राह्य होनेपर अनवस्था आती है, यह कहा ही जा चुका है। अतः ज्ञानको अस्वसंविदित न मानकर स्वसंवेदो मानना चाहिए और तब सम्यग्ज्ञान स्वार्थव्यवसायात्मक सुसिद्ध होता है।

परोक्षज्ञान-परीक्षा :

मीमांसकोंका मत है कि ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि वह परोक्ष है। हमारे यहाँ बुद्धिको अप्रत्यक्ष और अर्थको प्रत्यक्ष कहा गया है। अर्थ बाह्य देशसे सम्बद्ध हो प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है और 'उसके प्रत्यक्ष होनेके बाद प्रतिपत्ता अनुमानसे उस अर्थको जाननेवाली बुद्धिको जानता है', ऐसा शावरभाष्यमें कहा है। इसके अतिरिक्त ज्ञानको अर्थकी तरह प्रत्यक्ष माननेपर वह कर्म (विषय) हो जायगा और तब उसके लिए एक अलग करणरूप अन्य ज्ञानका मानना आवश्यक होगा। उसे अप्रत्यक्ष स्वीकार करनेपर प्रथम ज्ञानको ही अप्रत्यक्ष माननेमें क्या असन्तोष है? और उसे भी प्रत्यक्ष कहनेपर वह करणरूप ज्ञान प्रथम ज्ञानकी तरह कर्म हो जायगा तथा उसके लिए करणरूप अन्य ज्ञानकी कल्पना करनेपर अनवस्था दोष अपरिहार्य है। इसके अलावा एक ज्ञानके कर्म और करणरूप दो आकार सम्भव नहीं है—दोनोंका विरोध है। इसलिए मनीषियोंको ज्ञानको प्रत्यक्ष नहीं मानना चाहिए—उसे परोक्ष स्वीकार करना चाहिए।

मीमांसकोंकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञान अप्रत्यक्ष हो, तो वह किसी भी तरह अर्थका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। अर्थात् जो स्वयं अपनेको नहीं जानता वह दूसरेको क्या जानेगा। अन्यथा सभी व्यक्ति अन्य व्यक्तिके ज्ञानसे भी अर्थका प्रत्यक्ष कर लेंगे। फलतः कोई भी पदार्थ कभी किसीको अप्रत्यक्ष नहीं रहेगा।

शंका—जिस व्यक्तिको पदार्थकी ज्ञप्ति होती है उसके ही ज्ञानके द्वारा वह पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, सबके ज्ञानके द्वारा सभी अर्थ प्रत्यक्ष नहीं होते, क्योंकि सभी प्रमाताओंको सभी पदार्थोंकी परिच्छिन्ति नहीं होती, अतः उक्त दोष नहीं है?

समाधान—यह मन्तव्य भी युक्त नहीं है, क्योंकि यह बतायें कि अर्थकी

परिच्छित्ति प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? प्रत्यक्ष तो उसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह ज्ञानका धर्म है, दूसरे उसकी कर्मरूपसे प्रतीति नहीं होती, जैसे करणरूप ज्ञान । यदि उसकी कर्मरूपसे प्रतीति न होनेपर भी क्रियारूपसे प्रतीति होनेसे वह प्रत्यक्ष है, तो करणरूप ज्ञान कर्मरूपसे प्रतीत न होनेपर भी करणरूपसे प्रतीत होनेसे प्रत्यक्ष हो । यदि कहें कि करणरूपसे प्रतीत करणज्ञान तो करण ही होगा, कर्मरूप प्रत्यक्ष नहीं, तो पदार्थपरिच्छित्ति भी क्रियारूपसे प्रतीत होनेसे क्रियारूप ही है, उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कर्मरूप नहीं है । यदि कहा जाय कि अर्थपरिच्छित्ति अर्थका धर्म होनेसे प्रत्यक्ष है, तो वह अर्थपरिच्छित्ति अर्थप्राकट्य (अर्थप्रकाशन) रूप कही जाती है और अर्थप्राकट्य अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें अर्थप्राकट्यको स्वीकार न करनेपर बन नहीं सकता, अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा । स्पष्ट है कि अर्थज्ञान अप्रकट (अप्रकाश) रूप रहे, जो समानान्तरवर्ती है, तो उससे किसी पदार्थका प्रकाशन नहीं हो सकता । प्रमाता आत्मा, जो स्वयं प्रकाशमान है, प्रत्यक्ष है और अर्थपरिच्छेदक है, जब प्रकाशरूप है, तभी वह अर्थपरिच्छित्तिरूप अर्थप्रकाशन करता हुआ देखा जाता है ।

‘परिच्छित्ति, जो परिच्छेदकरूप है, कर्तृस्थ क्रियारूप होनेसे कर्ताका धर्म है, उसे उपचारसे ही अर्थका धर्म कहा जाता है, क्योंकि वास्तवमें परिच्छिद्यमानतारूप परिच्छित्ति ही, जो कर्मस्थ क्रियारूप है, अर्थका धर्म है । परिच्छित्तिको करणरूप ज्ञानका धर्म हम स्वीकार करते ही नहीं हैं । ‘चक्षुसे देवदत्त रूपको देखता है’ इत्यादि स्थानोंमें चक्षुका प्रकाशन न होनेपर भी वह परोक्ष एवं अतीन्द्रिय चक्षु रूपका जैसे प्रकाशन कर देती है उसी प्रकार करणरूप परोक्षज्ञानका प्रकाशन न होनेपर भी वह अर्थका प्रकाशन अच्छी तरह कर सकता है । लोकमें अतीन्द्रियको भी करण माना गया है’, ऐसा हमारा (मीमांसकोंका) अभिप्राय है, पर उनका यह अभिप्राय अन्ध सर्पके बिलप्रवेशन्यायके अनुसार स्याद्वादियोंके मतका ही समर्थन करता है, क्योंकि स्याद्वादियोंने भी स्वार्थपरिच्छेदक प्रत्यक्ष आत्माको कर्तृसाधनरूप ज्ञानशब्दके द्वारा कहा है । स्वार्थज्ञानरूप परिणत स्वतन्त्र आत्मा ही ज्ञान है । ‘जानातीति ज्ञानमात्मा’— जो जानता है वह ज्ञान है—आत्मा है, इस व्युत्पत्तिके आधारसे कर्तृसाधनमें ज्ञान आत्मारूप ही होता है । मीमांसकोंने जो करणरूप ज्ञानको अतीन्द्रिय कहा है वह भी स्याद्वादियोंने भावेन्द्रियरूपसे, जो उपयोगरूप करण है, स्वीकार किया है । ‘लब्धि और उपयोग भावेन्द्रिय है’ [त. सू. २-१८] ऐसा तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रतिपादन किया है । अर्थग्रहणशक्तिका नाम लब्धि है और अर्थग्रहणव्यापारका नाम उपयोग है, ऐसा सूत्रका व्याख्यान है । सिर्फ इतना ध्यातव्य है कि वह उपयोग आत्मासे कथंचित् अभिन्न होनेसे आत्मारूप है, अतएव वह कथंचित् प्रत्यक्ष उपपन्न है । सर्वथा अप्रत्यक्षका हम निरास करते हैं । यही प्रतितिमें आता है, अतः परोक्षकोंको वैसा मानना चाहिए ।

प्रभाकरमतानुयायी मीमांसकोंका मन्तव्य है कि ‘आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह कर्मरूपसे प्रतीत नहीं होता, जैसे करणज्ञान’, उनका यह मन्तव्य भी सदोष है, क्योंकि फलज्ञान (परिच्छित्तिरूप क्रिया) के साथ हेतु व्यभिचारी है ।

फलज्ञान कर्मरूपसे प्रतीत न होनेपर भी प्राभाकरोंने उसका प्रत्यक्ष माना है। फल-ज्ञानको क्रियारूपसे प्रतीत होनेसे प्रत्यक्ष स्वीकार करनेपर प्रमाता आत्माको भी कर्तारूपसे प्रतीत होनेके कारण प्रत्यक्ष मानिए। फिर वह फलज्ञान आत्मासे भिन्न है या अभिन्न है या उभय है? ये तीन प्रश्न उठते हैं। प्रथम व द्वितीय पक्षमें क्रमशः नैयायिक एवं बौद्ध मतका प्रसंग आयेगा। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि पक्षद्वय-में जो दोष कहे गये हैं वे ही इस पक्षमें भी आते हैं। कथंचित् अभिन्न स्वीकार करने-पर तो आत्माको भी कथंचित् प्रत्यक्ष मानना अनिवार्य है, क्योंकि वह फलज्ञानसे कथंचित् अभिन्न है। अतः फलज्ञानको प्रत्यक्ष मानने पर उससे कथंचित् अभिन्न आत्माको भी प्रत्यक्ष मानना होगा, उसे सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। इस प्रकार 'आत्मा अप्रत्यक्ष ही है' यह प्रभाकरका मत निरस्त हो जाता है।

कुमारिल भट्टके अनुयायी मीमांसक करणज्ञानकी तरह फलज्ञानको भी परोक्ष मानते हैं और आत्माको प्रत्यक्ष। उनका भी यह मत युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आत्मासे कथंचित् अभिन्न फलज्ञान और करणज्ञानको भी प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा, उसका निरास कैसे किया जा सकता है। अतः कुमारिल भट्टका मत भी विचारसह नहीं है। अतएव 'सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मक है, क्योंकि वह अर्थपरिच्छित्तिमें निमित्त है, जैसे आत्मा,' यह व्यवस्था युक्त है। 'नेत्र, आलोक आदिके साथ हेतु व्यभिचारी है' यह मन्तव्य भी युक्त नहीं है, क्योंकि नेत्र आदिको उपचारसे ही अर्थ-परिच्छित्तिमें निमित्त कहा है, परमार्थसे प्रमाता और प्रमाण ही अर्थपरिच्छित्तिमें निमित्त होते हैं।

प्रधानपरिणाम ज्ञान-परीक्षा :

सांख्योंका मत है कि 'सम्यग्ज्ञान स्वव्यवसायात्मक नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है, जैसे घटादिक। वह चेतन नहीं है, क्योंकि वह अनित्य है, घटादिककी तरह ही। वह अनित्य है, क्योंकि उत्पन्न होता है, जैसे विद्युत् आदि। किन्तु जो स्वसंवेद्य होता है वह चेतन होता है, नित्य होता है और उत्पन्न नहीं होता, जैसे पुरुषतत्त्व।'

सांख्योंका यह मत न्याययुक्त नहीं है, क्योंकि हेतु व्यभिचारी है। 'क्योंकि उत्पन्न होता है' यह हेतु स्पष्टतया अनित्यताका व्यभिचारी है, निर्वाण (मोक्ष) उत्पन्न तो होता है, पर वह अनन्त (नित्य) होता है। इसी तरह 'क्योंकि वह उसे अनित्य है' यह हेतु भी अचेतनताका व्यभिचारी है, पुरुषभोग, जो बुद्धिके द्वारा अध्यवसित अर्थकी अपेक्षासे होनेके कारण कादाचित्क है, अचेतन न होनेपर भी उसे अनित्य माना गया है। सम्यग्ज्ञानको अचेतन कहना तो सर्वथा असिद्ध है, क्योंकि अचेतन ज्ञानसे विवेकरूपाति (पुरुष और प्रधानका भेदज्ञान) नहीं हो सकती। 'चेतनके संसर्गसे ज्ञान चेतन है' ऐसा मन्तव्य भी युक्त नहीं है, क्योंकि शरीरादि भी चेतनका संसर्ग होनेसे चेतन हो जायेंगे। 'ज्ञानके साथ जो चेतन-संसर्ग है वह विशिष्ट है' यह कथन भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि कथंचित्तादात्म्यको छोड़कर वह विशिष्ट और क्या हो सकता है। अतः ज्ञानको चेतनात्मक ही मानना चाहिए और उस हालतमें 'अचेतनत्व' हेतु असिद्ध ही है।

सांख्योंने जो यह कहा है कि 'ज्ञान अचेतन है, क्योंकि वह प्रधानका परिणाम है, जैसे पृथिवी आदि महाभूत' वह भी श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि अनुमानगत पक्ष स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे बाधित है और हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय) हेत्वाभास है। इसके अतिरिक्त प्रतिवादो (जैन) के लिए पक्ष अनुमानबाधित है। वह अनुमान इस प्रकार है—'ज्ञान चेतन है, क्योंकि वह स्वसंवेद्य है, जैसे पुरुष, जो चेतन नहीं है वह स्वसंवेद्य नहीं है, जैसे घट आदि' यह केवलव्यतिरेकी अनुमान है। इस अनुमानसे पक्ष बाधित होनेसे उक्त अनुमान गमक (साध्यसाधक) नहीं है। 'ज्ञानमें स्वसंवेद्यपना असिद्ध है' यह कथन भी सम्यक् नहीं, क्योंकि यदि ज्ञान स्वसंवेद्य न हो, तो अर्थका वह संवेदन नहीं कर सकता, यह हम ऊपर कह ही चुके हैं।

भूतचैतन्य-परीक्षा :

चर्वाकोंका मत है कि 'ज्ञान स्वसंवेद्य नहीं है, क्योंकि वह शरीराकार परिणत पृथिवी आदि भूतोंका परिणाम है, जैसे पित्त आदि,' उनका भी यह मत निरस्त हो जाता है, क्योंकि हेतु असिद्ध है और असिद्ध इसलिए है कि ज्ञान किसी भी प्रमाणसे भूतविशेषोंका परिणाम सिद्ध नहीं होता, अन्यथा उसका बाह्येन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष होनेका प्रसंग आयेगा, जैसे गन्ध आदि। 'सूक्ष्म भूतविशेषोंका परिणाम होनेसे ज्ञानका बाह्येन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता' यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि तब वह सूक्ष्म भूतविशेष, जो स्पर्शादिसे रहित है, ज्ञानका उपादान कारण है और सदैव बाह्येन्द्रियोंका अप्रत्यक्ष है, दूसरे शब्दोंमें आत्मा ही क्यों नहीं कहा जायेगा। यदि उसे उससे भिन्न माना जाय, तो वह भूतचतुष्टयसे विलक्षण होनेके कारण तत्त्वान्तर होगा। फलतः दृष्टकी हानि और अदृष्टकी कल्पना प्रसक्त होगी। इसके विपरीत आत्मा प्रमाणसिद्ध होनेसे ज्ञानको उसका परिणाम मानना युक्त है। अतः यह व्यवस्थित होता है कि 'सम्यग्ज्ञान स्वनिश्चायक है, क्योंकि वह चेतन आत्माका परिणाम होकर अर्थका परिच्छेदक है, जो स्वनिश्चायक नहीं है वह चेतनका परिणाम न होकर अर्थपरिच्छेदक नहीं है, जैसे घड़ा, और चेतनका परिणाम होकर अर्थपरिच्छेदक सम्यग्ज्ञान है, इसलिए वह स्वनिश्चायक है।' इस प्रकार 'सम्यग्ज्ञान प्रमाण है' यह सुसिद्ध है।

तत्त्वोपप्लव-परीक्षा :

यहाँ तत्त्वोपप्लववादियोंका कथन है कि प्रमेयतत्त्वकी तरह प्रमाणतत्त्व भी उपप्लुत (बाधित) होनेसे वास्तवमें कोई प्रमाण ही नहीं है, तब किसका लक्षण किया जाता है, क्योंकि लक्ष्यके सद्भावमें ही लक्षणका कथन होता है। 'प्रसिद्ध लक्ष्यका अनुवाद करके लक्षणका विधान किया जाता है' ऐसा लक्ष्यलक्षणभावको मानने-वालोंने स्वीकार किया है ?

उक्त कथन समीचीन नहीं, क्योंकि तत्त्वोपप्लववादी यदि 'तत्त्वोपप्लवमात्र' मानते हैं तो उसे सिद्ध करनेके लिए साधन अवश्य स्वीकार करना होगा और वह साधन प्रमाण ही हो सकता है। अतएव हम कह सकते हैं कि तत्त्वोपप्लववादीको भी प्रमाण मानना इष्ट है, क्योंकि इष्टका साधन उसके बिना सम्भव नहीं है। यदि प्रमाणके बिना भी इष्टकी सिद्धि मानी जाय तो सभीके अपने-अपने इष्टकी सिद्धि हो

जायेगी। फलतः अनुपप्लुततत्त्वकी भी सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि कोई विशेषता नहीं है।

शंका—हम अपने इष्टकी सिद्धि अस्तित्वमुखेन नहीं करते, जिससे तत्त्वोपप्लवकी सिद्धि करनेपर प्रमाणकी सिद्धिका प्रसंग आये। किन्तु प्रतिवादीके द्वारा स्वीकृत प्रमाणादि तत्त्वोंका निराकरण करनेसे परीक्षकोंका विचार तत्त्वोपप्लवकी ओर झुकता है, इसके सिवाय अन्य उपाय नहीं है। उसीको यहाँ स्पष्ट किया जाता है—

यह बतलाया जाय कि किसीको प्रमाण माननेका प्रयोजक तत्त्व क्या है? क्या अदुष्टकारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण उसे प्रमाण माना जाय या बाधाओंसे रहित होनेसे या प्रवृत्तिमें समर्थ होनेसे या अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होनेसे? प्रथम विकल्प तो युक्त नहीं है, क्योंकि उसके निर्दोष कारणोंका प्रत्यक्षसे ग्रहण सम्भव नहीं है, उन कारणोंमें इन्द्रियकी कुशलता आदि भी है, जिसे अतीन्द्रिय स्वीकार किया गया है। अनुमान भी उन निर्दोष कारणोंको जाननेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उनका अविनाभावो हेतु नहीं है। 'सत्यज्ञान हेतु है' यह कहना सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। ज्ञानकी सत्यता सिद्ध होनेपर उसके निर्दोष कारणोंका निश्चय हो और उनका निश्चय होनेपर ज्ञानकी सत्यता सिद्ध हो।

दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें दो पक्ष अवतरित होते हैं। प्रथम यह कि क्या कभी, कहीं, किसीके बाधक उत्पन्न न होनेसे ज्ञान प्रमाण होता है अथवा द्वितीय यह कि सब जगह, सब कालमें, सभी प्रतिपत्ताओंको बाधकोंकी उत्पत्ति न होनेके कारण ज्ञान प्रमाण सिद्ध होता है? प्रथम पक्षमें ग्रीष्ममें रेतके समूहमें होनेवाला जलका ज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा, क्योंकि दूरवर्ती पुरुषको उस ज्ञानकालमें बाधक उत्पन्न नहीं होते, द्वितीय पक्षमें समस्त देशों, समस्त कालों और समस्त पुरुषोंके बाधकोंका अभाव असर्वज्ञ कैसे जान सकता है, यदि कोई जानता है तो वही सर्वज्ञ हो जायेगा।

तीसरा विकल्प भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसमें इतरेतराश्रय दोष है। कारण कि प्रमाणसे अर्थको उपलब्ध कर उसके लिए होनेवाली प्रवृत्ति यदि उस देशमें पहुँचना है और उसकी सामर्थ्य फलसे सम्बन्धित होना है अथवा सजातीय ज्ञानको उत्पन्न करना है, तो स्पष्टतया आन्योन्याश्रय अनिवार्य है। ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होनेपर उसके द्वारा अर्थकी प्रतिपत्ति होगी और उसके होनेपर प्रवृत्ति तथा उसकी सामर्थ्य बन सकती है और प्रवृत्तिसामर्थ्यका निश्चय होनेपर उसके द्वारा अर्थज्ञानकी प्रमाणताका निर्णय होगा, अन्य उपाय नहीं है और इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होता है।

चौथा विकल्प भी सुसंगत नहीं है, क्योंकि अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होनेसे ज्ञानको प्रमाण माननेपर प्रश्न होता है कि ज्ञान अर्थ-क्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त है, इसका कैसे निश्चय होता है? यदि कहा जाय कि प्रतिपत्ताके अर्थक्रियाज्ञानसे उसका निश्चय होता है, तो अर्थक्रियाज्ञान प्रमाण है, यह कैसे सिद्ध होता है। यदि कहें कि अन्य अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें वह निमित्त है तो उसकी भी सिद्धि कैसे है? यदि पुनः

कहें कि दूसरे अर्थक्रियाज्ञानसे उसकी सिद्धि होती है तो अनवस्था क्यों नहीं होगी। अगर यह कहें कि प्रथम ज्ञानसे ही अर्थक्रियाज्ञानमें प्रमाणता आ जाती है तो परस्पराश्रय दोष होता है। अर्थक्रियाज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय होनेपर उसके बलसे प्रथम ज्ञानके अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होनेसे प्रमाणताका निश्चय हो और उसकी प्रमाणताके निश्चयसे अर्थक्रियाज्ञानकी प्रमाणताकी सिद्धि हो, अन्य कोई उपाय नहीं है।

अतः प्रमाणतत्त्वपर जब विचार करते हैं तो वह सिद्ध नहीं होता और जब प्रमाणतत्त्व सिद्ध नहीं होगा तब प्रमेयतत्त्वकी भी सिद्धि नहीं हो सकती, इसलिए तत्त्वोपप्लव ही युक्त है ?

समाधान—तत्त्वोपप्लववादियोंका उक्त समस्त कथन केवल प्रलाप (बकवास) है, क्योंकि प्रतिवादोके द्वारा स्वीकृत प्रमाणतत्त्वका निराकरण, जो उन्हें इष्ट है, बिना प्रमाणके सिद्ध नहीं होता। उसे इष्ट न माननेपर साधन नहीं बनता। अर्थात् साध्य जब इष्ट होता है तभी उसे सिद्ध करनेके लिए साधन माना जाता है। यदि कहा जाय कि दूसरेसे प्रश्न करना मात्र हमारा प्रयोजन है, क्योंकि 'आचार्य बृहस्पतिके जितने सूत्र हैं वे सब प्रश्नपरक ही हैं' ऐसा कहा गया है, किसी विषयमें स्वतन्त्रता नहीं है, तो यह कथन भी निस्सार ही है, क्योंकि ऊपर कहे गये चारों पक्षोंका कहीं निर्णय न होनेपर सन्देह सम्भव नहीं है और तब प्रश्न हो ही नहीं सकते। तात्पर्य यह कि प्रश्न तभी होता है जब सन्देह होता है और सन्देह वहाँ होता है जहाँ अनिश्चय होता है, किन्तु उक्त चारों पक्ष (निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होना आदि) कहीं निर्णीत नहीं हैं, तब अन्यत्र उनका अनिश्चय भी नहीं हो सकता।

शंका—प्रतिवादी द्वारा स्वीकृत होनेसे प्रमाणतत्त्व तथा प्रमेयतत्त्वका निश्चय है और इसलिए संशय उत्पन्न होनेसे प्रश्न हो सकता है। वह इस प्रकार है—मीमांसकोंकी अपेक्षा निर्दोषकारणोंसे उत्पन्न होना और बाधा रहित होना दोनों निर्णीत हैं, जैसे निश्चितपना, अपूर्वार्थपना और लोकसम्मतपना ये तीनों उनके यहाँ निर्णीत हैं। जैसा कि कहा है—

‘जो ज्ञान अपूर्वार्थ है, निश्चित है, बाधारहित है, निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है और लोकसम्मत है वह प्रमाण है।’

नैयायिकोंकी अपेक्षा प्रवृत्तिसामर्थ्य भी निर्णीत है। जैसा कि उनका वचन है कि ‘प्रमाणसे अर्थका ज्ञान होता है और अर्थका ज्ञान होनेपर वह प्रवृत्तिमें समर्थ होनेसे सार्थ प्रमाण है।

बौद्धोंकी अपेक्षा अर्थक्रियाकी प्राप्तिमें निमित्त होना रूप अविसंवादीपना भी निर्णीत ही है। जैसा कि प्रमाणवात्तिक (१-३) में धर्मकीर्तिने कहा है—

‘अर्थक्रियाकी प्राप्ति होनेसे अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है। वक्ताके अभिप्रायका प्रकाशन करनेसे शब्द (शास्त्र) में भी अविसंवाद होता है।’

अतः उक्त पक्ष एक-एक जगह निर्णीति होनेसे चार्वाक मतकी अपेक्षा उनमें सन्देह होता है और तब हम चार्वाकोंका प्रश्न उठाना तथा प्रमाणतत्त्व एवं प्रमेय-तत्त्वका निराकरण करना दोषावह नहीं।

समाधान—यह सब कथन भी व्यवस्थित नहीं होता, क्योंकि प्रतिवादियोंके स्वीकारको प्रमाणपूर्वक या अप्रमाणपूर्वक माननेपर संशय नहीं हो सकता। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—प्रतिवादियोंकी मान्यता यदि प्रमाणपूर्वक है तो उसमें सन्देह कैसे हो सकता है, क्योंकि प्रमाणपूर्वक स्वीकृत वस्तु निर्णीत होती है और निर्णीतमें सन्देह नहीं होता। यदि उनकी मान्यता अप्रमाणपूर्वक है तो भी उसमें सन्देह नहीं हो सकता, क्योंकि वह कहीं, कभी और किसी प्रकार निर्णयपूर्वक ही होता है। उसका निर्णय भी प्रमाणपूर्वक होता है, अप्रमाणपूर्वक नहीं, प्रमाणके अभावमें वह किसी भी तरह नहीं हो सकता। इस विषयमें और अधिक कथन अनावश्यक है। सभीके इष्ट तत्त्वकी संसिद्धि है और वह निर्बाध प्रमाणसे है। अन्यथा किसीके भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती, यह हम ऊपर कह आये हैं।

जो सर्वथा शून्य, संवेदनाद्वैत, पुरुषाद्वैत अथवा शब्दाद्वैतको मानकर प्रमाण और प्रमेयके भेदका निराकरण करते हैं वे भी उपर्युक्त विवेचनसे निरस्त हो जाते हैं, क्योंकि अपने स्वीकृत सर्वथा शून्य, संवेदनाद्वैत आदिको कथंचित् इष्ट माननेपर उसकी सिद्धिके लिए प्रमाणकी सिद्धि नितान्त आवश्यक है। यदि वे उन्हें इष्ट नहीं मानते तो वे अपने सिद्धान्तोंकी स्थापना नहीं कर सकेंगे और तब उनका कथन भी प्रलापमात्र कहा जायेगा और वे परीक्षक नहीं कहे जा सकेंगे। इस प्रकार प्रमाणका निर्णय हो जानेपर प्रमेयकी भी सिद्धि निर्बाध रूपसे हो जाती है।

प्रामाण्य-परीक्षा :

शंका—उक्त प्रकारसे प्रमाण सिद्ध हो जानेपर भी उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है या परतः ? स्वतः तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि सभी जगह, सभी कालों और सभीको उसमें विवाद नहीं होगा। परसे भी उसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अनवस्था आती है, प्रथम प्रमाणके प्रामाण्य-निर्णयके लिए द्वितीय प्रमाण और द्वितीय प्रमाणके प्रामाण्य-निश्चयके लिए तीसरे प्रमाण आदिकी परिकल्पना होनेसे कहीं भी अवस्थिति नहीं होगी। यदि प्रथम प्रमाणसे द्वितीय प्रमाणका प्रामाण्य निश्चय किया जाय तो अन्योन्याश्रय दोष होता है, क्योंकि प्रथमसे द्वितीयके और द्वितीयसे प्रथमका प्रामाण्य-निश्चय एक-दूसरेके आश्रित है ?

समाधान—उक्त प्रकारका विचार समीचीन नहीं है, क्योंकि अपने परिचित विषयमें प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय स्वतः हो जाता है, वहाँ हुए ज्ञानके प्रामाण्यके बारे में किसी अन्यसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती, वहाँ स्वयं ही प्रमाणात्मक ज्ञान होता है। इसमें प्रमाताको कोई भी विवाद नहीं होता। अन्यथा प्रमाताकी उस पदार्थमें असन्दिग्ध प्रवृत्ति नहीं हो सकती। तथा अपरिचित विषयमें प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय परसे होता है। और जो पर अर्थात् प्रमाणान्तर होता है वह परिचित विषयवाला होता है, उसके प्रामाण्यका निश्चय स्वतः होता है। अतः न अनवस्था दोष आता है और न अन्योन्याश्रय। और यदि प्रमाणान्तर अपरिचित विषयवाला होता है तो उसके प्रामाण्यका निश्चय ऐसे प्रमाणसे होता है, जो अभ्यस्त विषयवाला होता है और जिसकी प्रमाणता स्वतः सिद्ध होती है। कुछ दूर जा करके भी कोई-न-कोई अभ्यस्त विषयवाला प्रमाण अवश्य होता है। अन्यथा प्रमाण और प्रमाणाभास-

की व्यवस्था नहीं बन सकेगी, जैसे प्रमाण और प्रमाणाभासके अभावकी व्यवस्था उसके बिना नहीं बनती।

शंका—ऐसा क्यों होता है कि किसी विषयमें प्रतिपत्ताको अभ्यास (परिचय) और किसी विषयमें अनभ्यास (अपरिचय) हो ?

समाधान—उस विषयके ज्ञानके प्रतिबन्धक (अवरोधक) अदृष्टविशेष (कर्म) के सद्भावसे अनभ्यास तथा उसके विगम (अभाव—क्षयोपशम) से अभ्यास होते हैं। जहाँ दृष्टकारणोंमें व्यभिचार देखा जाता है वहाँ अदृष्ट कारण सिद्ध होता है। वह अदृष्ट कारण ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय नामक कर्म हैं, उनके क्षयोपशम (विगम) से किसीको किसी विषयमें कभी अभ्यास (परिचय) ज्ञान और उनके क्षयोपशमके अभावसे अनभ्यास (अपरिचय) ज्ञान होते हैं और इस तरह प्रमाणका प्रामाण्य सुव्यवस्थित होता है, क्योंकि उसमें बाधक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होता है, जैसे अपना इष्ट वस्तु। सर्वत्र इष्टको सिद्धि बाधकाभावके सुनिश्चयसे ही होती है, उसके बिना तत्त्वपरीक्षा नहीं हो सकती। अतः यह सिद्ध है कि—

‘प्रमाणसे इष्ट तत्त्वकी सम्यक् प्रकारसे सिद्धि (ज्ञप्ति और प्राप्ति) होती है, और उसके बिना नहीं होती। किन्तु उसका प्रामाण्य परिचित विषयमें स्वतः और अपरिचित विषयमें परतः सिद्ध (निश्चित) होता है।’

इस प्रकार ‘प्रमाणका लक्षण स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान है’, यह परीक्षा-द्वारा व्यवस्थित होता है। [१-६४]

२. प्रमाणसंख्या-परीक्षा

प्रमाणके स्वरूप और उसके प्रामाण्यका विचार करनेके पश्चात् अब उसकी संख्या (भेदों) का विमर्श किया जाता है।

उपर्युक्त प्रमाण संक्षेपमें दो ही प्रकारका है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष, क्योंकि अन्य समस्त प्रमाणोंका इन्हीं दोमें अन्तर्भाव हो जाता है और अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत प्रमाणके एक, दो, तीन आदि भेदोंमें उनका अन्तर्भाव असम्भव है। आगे यही स्पष्ट किया जाता है—

जो (चार्वाक) केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं उनके उस प्रत्यक्षमें अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंका समावेश सम्भव नहीं है, क्योंकि वे उससे बिलकुल भिन्न हैं। यदि कहा जाय कि अनुमान आदि प्रत्यक्षपूर्वक उत्पन्न होते हैं, अतः उसमें उनका अन्तर्भाव हो जाता है, तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि कोई प्रत्यक्ष भी अनुमानादिपूर्वक उत्पन्न होता है, तब उसका अनुमानादिमें अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। प्रकट है कि जिस प्रकार धर्मी और हेतुके प्रत्यक्ष होनेके बाद अनुमान होता है, शब्दके श्रावण प्रत्यक्ष होनेके पश्चात् शब्द (आगम प्रमाण) होता है और सादृश्य, अनन्यथा-भाव एवं निषेध्यके आधारभूत पदार्थके प्रत्यक्ष होनेके अनन्तर उपमान, अर्थापत्ति एवं अभाव प्रमाण होते हैं, उसी प्रकार अनुमानसे अग्निका निश्चय करके उसे प्रत्यक्षसे जाननेके लिए प्रवृत्त हुए पुरुषको होनेवाला अग्निका प्रत्यक्ष अनुमानपूर्वक होता है, रूपसे रसका अनुमान कर उसके पानमें प्रवृत्त हुए व्यक्तिको रसका रासनप्रत्यक्ष

अनुमानपूर्वक होता है। तथा इसी तरह शब्दसे स्वच्छ पेयकी बात सुनकर उसे पीनेपर हुआ रासनप्रत्यक्ष शब्दपूर्वक होता है। अर्थापत्तिसे दूधकी सम्पोषण-शक्तिको ज्ञातकर उसमें—दुग्धपानमें प्रवृत्त हुए पुरुषको होनेवाला रासन-प्रत्यक्ष अर्थापत्ति-पूर्वक होता है। गायकी सदृशतासे गवयका ज्ञान (उपमान) करके उसका व्यवहार करनेवाले अर्थात् देखनेवालेको जो गवयका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है वह उपमानपूर्वक होता है। अभावप्रमाणसे घरमें साँपका अभाव जानकर प्रवेश करनेवाले व्यक्तिको जो साँपके अभावका प्रत्यक्ष होता है वह अभावपूर्वक स्पष्टतया होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही गौण (अनुमानादिपूर्वक) होनेसे अप्रमाण सिद्ध होता है, अनुमानादिक नहीं, क्योंकि वे अगौण (प्रत्यक्षसे पूर्ववर्ती) हैं। पूर्ववर्ती प्रधान होता है और उत्तरवर्ती गौण। अतः चर्वाकके उपर्युक्त कथनसे उसकी वैसी ही दशा होती है जैसी उस व्यक्तिकी होती है जो कहता तो है कि 'सूखेमें गिरूँगा, पर गिर जाता है कोचड़में'। अर्थात् चर्वाक प्रत्यक्षको अनुमानादिकसे पूर्ववर्ती होनेसे प्रमाण सिद्ध करना चाहते थे, किन्तु वह अनुमानादिसे उक्त प्रकार उत्तरवर्ती भी सिद्ध होता है, तब उनकी युक्तिके अनुसार वह अप्रमाण सिद्ध होगा और अनुमानादि प्रमाण।

यदि चर्वाकोंका यह अभिप्राय हो कि अनुमान, आगम, अर्थापत्ति, उपमान और अभाव प्रमाणपूर्वक प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वह उनके अभावमें भी नेत्रेन्द्रिय आदि सामग्री मात्रसे उत्पन्न होता हुआ प्रसिद्ध है और उक्त सामग्रीके अभावमें वह नियमसे नहीं होता। अर्थात् नेत्रेन्द्रिय आदि सामग्रीके साथ प्रत्यक्षका अन्वय-व्यतिरेक है, अनुमानादि प्रमाणोंके साथ नहीं ?

उनका यह अभिप्राय सम्यक् नहीं है, क्योंकि उक्त रीतिसे तो अनुमान आदि प्रमाण भी प्रत्यक्षपूर्वक सिद्ध नहीं हो सकेंगे। लिंग, शब्द, अनन्यथाभाव, सादृश्य, प्रतियोगिस्मरण आदि अपनी-अपनी योग्य सामग्रीके होनेपर ही वे होते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्यक्षके होनेपर भी उनकी लिंगादि प्रतिनियत सामग्रीके न होनेपर वे नहीं होते। तात्पर्य यह है कि लिंगके साथ अनुमानका, शब्दके साथ शब्दका, अनन्यथाभावके साथ अर्थापत्तिका, सादृश्यके साथ उपमानका और प्रतियोगिस्मरणके साथ अभावका अन्वय-व्यतिरेक है अर्थात् लिंगादिके होनेपर ही अनुमानादि होते हैं और उनके न होनेपर वे नहीं होते। अतः उनके प्रत्यक्षपूर्वक होनेकी बात निःसार है। इस विषयमें अधिक कहना व्यर्थ है।

अपिच, जब चर्वाक प्रत्यक्षको प्रतिनियत सामग्रीसे उत्पन्न होनेके कारण अगौण मानते हैं तो उन्हें अनुमानादिको भी अपनी-अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होनेसे अगौण मानना चाहिए, क्योंकि वे अपने नियत विषयके निश्चय करनेमें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते। और यही (अपनी नियत सामग्रीसे उत्पन्न होना तथा अपने विषयके निर्णय करनेमें अन्य प्रमाणकी अपेक्षा न करना) प्रमाणभेदका कारण है। प्रकट है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष सीधे अपने और बाह्य पदार्थके निर्णयमें अनुमान आदि अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार अनुमान अपने विषय अनुमेय (साध्य) के निर्णयमें प्रत्यक्षकी अपेक्षा नहीं करता। केवल धर्मी, हेतु और दृष्टान्तका प्रत्यक्ष उनका ही निश्चय कराता है। इसी तरह शब्द प्रमाण भी शब्द द्वारा कहे जानेवाले

पदार्थके निश्चयमें प्रत्यक्ष या अनुमानकी अपेक्षा नहीं करता है। प्रत्यक्ष (श्रावण) केवल शब्दग्रहणमें और अनुमान केवल शब्द तथा अर्थके सम्बन्धकी अनुमितिके प्रवृत्त होते हैं। अर्थापत्ति भी अपने अनन्यथाभावरूप विषयके निश्चयमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी अपेक्षा नहीं करती। और न ही अभाव तथा उपमानकी वह अपेक्षा करती है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे अवगत पदार्थ (पीनत्वादि) के अविनाभावी अदृष्ट पदार्थ (रात्रिभोजनादि) के निश्चयमें अन्यकी अपेक्षा लिये बिना ही प्रवृत्त होती है। (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण तो मात्र अर्थापत्तिके उत्थापक पदार्थ (पीनत्वादि) के निश्चयमें व्यापार करते हैं। उपमान भी प्रत्यक्ष आदिकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वह अपने विषय उपमेयरूप पदार्थके निश्चय करनेमें प्रत्यक्षादिनिरपेक्ष ही प्रवृत्त होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल सादृश्यके ज्ञानमें अधिकृत हैं। इसी प्रकार अभावप्रमाण भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह निषेध्य (घटादि) की आधारभूत वस्तु (भूतलादि) के ग्रहणमें अकेला ही समर्थ है। इस प्रकार अनुमानादिमें प्रत्यक्षकी अपेक्षा नहीं है। यदि परम्परासे उनमें उसकी अपेक्षा कही जाय, तो प्रत्यक्षमें भी उनकी परम्परासे अपेक्षा अपरिहार्य है।

चार्वाकोंसे पुनः प्रश्न है कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण है' इसकी व्यवस्था वे किस प्रमाणसे करते हैं? यदि कहा जाय कि स्वतः (प्रत्यक्षसे) ही उसकी व्यवस्था है, तो यह बतायें कि उनका अपना प्रत्यक्ष उसका व्यवस्थापक है या समस्त जनोंका? प्रथम पक्ष माननेपर समस्त विश्व और समस्त कालोंके पुरुषोंका प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध नहीं होगा। द्वितीय पक्ष स्वीकार करनेपर भी दो विकल्प होते हैं। प्रथम यह कि उन पुरुषोंके वे प्रत्यक्ष आपके प्रत्यक्षसे प्रमाण हैं या उन पुरुषोंको वे स्वतः प्रमाण अनुभवमें आते हैं? पहला विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य पुरुषोंके वे प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय हैं और वादीके प्रत्यक्षके अविषय हैं, अतः वे आपके प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं हो सकते। द्वितीय विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'समस्त पुरुषोंके प्रत्यक्ष अपने-अपने विषयमें स्वयं प्रमाणभूत हैं' इसका साधक कोई प्रमाण नहीं है। यदि है तो कौन-सा प्रमाण है?

'विचारकोटिमें स्थित समस्त देशों और समस्त कालोंमें होनेवाले पुरुषोंके प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाण हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष हैं, जो-जो प्रत्यक्ष हैं वह स्वतः प्रमाण हैं, जैसे हमारा प्रत्यक्ष, और प्रत्यक्ष हैं विचारकोटिमें स्थित समस्त देशों तथा समस्त कालोंमें होनेवाले पुरुषोंके प्रत्यक्ष, इस कारण वे प्रमाण हैं' यह अनुमान प्रमाण है, जो समस्त पुरुषोंके प्रत्यक्षोंको प्रमाण सिद्ध करता है।

चार्वाकोंका यह कथन अनुमान प्रमाणको सिद्ध करता है, जिसका वे निराकरण करते हैं, क्योंकि 'प्रत्यक्ष है' रूप स्वभावहेतुसे 'पुरुषोंके प्रत्यक्ष स्वतः प्रमाणभूत हैं' रूप साध्यकी उन्होंने सिद्धि की है, जैसे शिशपा हेतुसे वनस्पति (पेड़ आदिमें) वृक्षपना सिद्ध किया जाता है।

अगर कहें कि प्रतिपाद्य (शिष्य) को समझानेकी अपेक्षा उक्त प्रकार अनुमानको कहनेमें कोई दोष नहीं है, तो प्रश्न उठता है कि शिष्यमें बुद्धिकी ज्ञात कर

उक्त अनुमानप्रयोग किया जाता है या ज्ञात न कर ? दूसरा पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि बिना जाने अनुमानप्रयोग करनेपर सदैव और सर्वत्र उसके प्रयोगका प्रसंग आयेगा । प्रथम पक्ष स्वीकार करनेपर यह बताना होगा कि उसका ज्ञान किससे होता है अर्थात् शिष्यमें बुद्धिको जाननेका क्या उपाय है । आप कहें कि वह बातचीत आदि विशेष कार्य करता है, उससे उसमें बुद्धिका निश्चय हो जायगा, तो 'कार्यसे कारणका अनुमान करना' रूप एक और अनुमान प्रमाण सिद्ध होता है, जैसे धूमसे अग्निका अनुमान किया जाता है ।

यदि माने कि हम लोक-व्यवहारकी अपेक्षा अनुमानको स्वीकार करते हो हैं, परलोक आदिके विषयमें अनुमानका निषेध किया है, क्योंकि परलोक आदिका अभाव है, तो यह मान्यता भी संगत नहीं है, क्योंकि तब प्रश्न होगा कि 'परलोक आदिका अभाव है,' यह आपने कैसे जाना ? प्रत्यक्षसे तो उनका ज्ञान सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षके वे (परलोकादि) विषय नहीं हैं । वर्तमान और इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थको ही प्रत्यक्ष जानता है । परलोक आदि न वर्तमान हैं और न इन्द्रिय-सम्बद्ध ।

अगर कहा जाय कि 'परलोक आदि उपलब्ध न होनेसे नहीं हैं, जैसे आकाशका फूल', तो अभावको सिद्ध करनेवाला यह अनुपलब्धिहेतुजनित एक अन्य अनुमान और सिद्ध हो जाता है । तात्पर्य यह चार्वाकोंको परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंका अभाव सिद्ध करनेके लिए अनुपलब्धिलक्षण अनुमानको स्वीकार करना अनिवार्य है । यहो बौद्ध दार्शनिक धर्मकीतिने कहा है—

प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः ।

प्रमाणान्तर-सद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥

'किसी ज्ञानमें प्रमाणता और किसी ज्ञानमें अप्रमाणताकी व्यवस्था होनेसे, दूसरे (शिष्यादि) में बुद्धिका अवगम करनेसे और किसी पदार्थका निषेध करनेसे प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान प्रमाणका सद्भाव सिद्ध होता है ।' तात्पर्य यह कि हेतु तीन प्रकारका है—१. स्वभावहेतु, २. कार्यहेतु और ३. अनुपलब्धिहेतु । इन हेतुओं से होनेवाली अनुमेयकी सिद्धि अनुमान है । प्रमाणता-अप्रमाणताका निर्णय स्वभावहेतु-जनित अनुमानसे, कार्यसे कारणका ज्ञान कार्यहेतुजनित अनुमानसे और अभावका ज्ञान अनुपलब्धिहेतुजनित अनुमानसे किया जाता है । इस प्रकार प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अनुमान प्रमाणको भी मानना चाहिए और उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्षमें असम्भव है ।

बौद्धमत-समीक्षा :

यहां बौद्ध कहते हैं कि इसीसे हमने दो प्रमाण माने हैं—१. प्रत्यक्ष और २. अनुमान, क्योंकि उनके द्वारा जाना जानेवाला प्रमेय ही दो प्रकारका है । इन दो प्रमाणोंसे घटादि एवं बल्ल्यादि पदार्थोंको जानकर उनमें प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोंको उससे निष्पन्न होनेवाली अर्थक्रिया (जलधारणादि) में कोई विसंवाद (भ्रमादि) नहीं होता । अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाणके भेद हैं ?

बौद्धोंका भी कथन युक्त नहीं है, क्योंकि आगम, उपमान आदि अन्य प्रमाणोंका उक्त प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा संग्रह नहीं होता और इसका कारण यह है कि उनका भिन्न विषय होनेसे इन दोमें अन्तर्भाव सम्भव नहीं है ।

यदि बौद्धोंका यह मत हो कि आगम, उपमान आदि प्रमाणोंके द्वारा ग्राह्य अर्थ दो ही प्रकारका होनेसे उनका उक्त दो ही प्रमाणोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट है कि अर्थ (पदार्थ) दो ही प्रकारका है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। जो साक्षात् रूपमें प्रत्यक्षसे जाना जाता है वह प्रत्यक्ष अर्थ है। और जो परम्परया (लिगादि द्वारा) अनुमेय होनेसे अनुमानगम्य है वह परोक्ष अर्थ है। परोक्ष अर्थ निश्चय हो साक्षात् जाने गये अन्य पदार्थसे जाना जाता है और वह अन्य पदार्थ उस परोक्ष अर्थके साथ सम्बद्ध (अविनाभावी) होता हुआ हो उस परोक्ष अर्थको जनवानेमें समर्थ होता है, असम्बद्ध नहीं, अन्यथा गाय आदिसे अश्व आदिकी भी प्रतीति होनेका प्रसंग आयेगा। तथा जो सम्बद्ध अन्य पदार्थ है वह शब्द, सादृश्य, अनन्यथाभाव आदि रूप लिंग ही है और लिङ्गसे उत्पन्न ज्ञान अनुमान ही है। अतः परोक्ष अर्थको जाननेके लिए अनुमानसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं हैं, शाब्द, उपमान आदि भी उक्त रीतिसे अनुमान ही सिद्ध होते हैं। यदि इन्हें अनुमान न माना जाये तो उनके प्रमाणता न होनेसे उनसे होने-वाला पदार्थोंका ज्ञान अप्रमाण ही सिद्ध होगा ?

उनका यह मत भी परोक्षासह नहीं है, क्योंकि उक्त रीतिसे प्रत्यक्ष भी अनुमान हो जायगा। प्रकट है कि प्रत्यक्ष भी अपने ग्राह्य अर्थके साथ सम्बद्ध होकर ही उसके ज्ञान करानेमें समर्थ है। यदि वह उसके साथ सम्बद्ध न होकर भी उसका ज्ञान करा सकता है तो सभी प्रत्यक्ष सभी पुरुषोंको सभी पदार्थोंका ज्ञान करानेमें भी समर्थ हो जायेंगे, इस अतिप्रसंगका निवारण कैसे होगा।

अगर यह कहा जाय कि सम्बद्ध होना प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारके ज्ञानोंमें सामान्य होनेपर भी साक्षात् जानने और असाक्षात् जाननेके भेदसे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण स्वीकृत हैं, तो इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष ये आपके चार प्रत्यक्ष भी पृथक् प्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि उनका भी प्रतिभास भिन्न-भिन्न है। स्पष्ट है कि जैसा अत्यन्त विशद प्रतिभास योगिप्रत्यक्षका है वैसा इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका नहीं है और न स्वसंवेदन तथा मानस-प्रत्यक्षका है। इसी प्रकार जैसा अन्तर्मुखाकार विशदतर प्रतिभास स्वसंवेदनप्रत्यक्षका है वैसा इन्द्रियप्रत्यक्षका नहीं है। और जैसा बाह्यमुखाकार विशद प्रतिभास इन्द्रिय-प्रत्यक्षका है वैसा मानसप्रत्यक्षका नहीं है। इस तरह प्रतिभासभेदके आधारसे इन चारों प्रत्यक्षोंमें भी पृथक्-पृथक् प्रमाणता क्यों सिद्ध नहीं होगी।

शंका—प्रतिभासभेद होनेपर भी चारों प्रकारका प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण है, वे अलग-अलग प्रमाण नहीं हैं ?

समाधान—प्रतिभासभेद होनेपर भी यदि उक्त चारों प्रत्यक्ष एक ही प्रमाण हैं, तो प्रत्यक्ष और अनुमान भी प्रतिभासभेद होनेपर भी अपने-अपने विषयके प्रति सम्बन्ध समान होनेसे पृथक्-पृथक् प्रमाण न हों।

शंका—अपने-अपने विषयके प्रति सम्बन्ध समान होनेपर भी प्रत्यक्ष और अनुमानकी सामग्री भिन्न-भिन्न होनेसे उन्हें पृथक् प्रमाण स्वीकार किया जाता है ?

समाधान—शाब्द, उपमान आदिकी भी सामग्री पृथक्-पृथक् होनेसे उन्हें भी अलग-अलग प्रमाण मानना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्यक्ष इन्द्रियादि सामग्रीसे और

अनुमान लिगादि सामग्रीसे उत्पन्न होनेसे उनकी सामग्री भिन्न मानी जाती है उसी प्रकार आगम शब्दसामग्रीसे, उपमान सादृश्यसामग्रीसे, अर्थापत्ति परोक्ष अर्थके अविनाभावी अर्थरूप सामग्रीसे और अभाव प्रतिषेध्यकी आधारभूत वस्तुके ग्रहण तथा प्रतिषेध्यके स्मरणरूप सामग्रीसे पैदा होनेसे आगम आदिकी भी सामग्री भिन्न-भिन्न है। इसी तरह इन्द्रियप्रत्यक्ष आदि चारों प्रत्यक्षोंकी भी भिन्न-भिन्न सामग्री प्रसिद्ध है। किन्तु चारों प्रत्यक्षोंका विषय साक्षात् अर्थ होनेसे उनमें अर्थभेद नहीं माना जाता। उसी प्रकार लिङ्ग, शब्द आदि सामग्रीका भेद होनेसे अनुमान, आगम आदिमें परोक्ष अर्थको समान रूपसे विषय करनेपर भी भेद प्रसिद्ध है, और इसलिए अनुमानमें उनका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। अतः बौद्धोंको उन्हें उससे अतिरिक्त प्रमाण मानना पड़ेगा।

तर्कप्रमाण-विमर्श :

तथा तर्क भी पृथक् प्रमाण है। साध्य और साधनमें विद्यमान सम्बन्धरूप व्याप्तिका ज्ञान करनेमें प्रत्यक्ष समर्थ नहीं है, क्योंकि वह 'जितना कोई धूम है वह सब अन्य काल और अन्य देशमें अग्निजन्य है, अग्निके अभावमें उत्पन्न नहीं होता' इस प्रकारका व्यापार करनेमें असमर्थ है। दूसरी बात यह है कि वह सन्निहित (वर्तमान और इन्द्रिय-सम्बद्ध) अर्थको ही विषय करता है। तीसरे, वह निर्विकल्पक है।

यदि कहा जाय कि योगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिका ज्ञान करनेमें समर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि देशयोगिप्रत्यक्ष उक्त व्याप्तिको जानता है या सकलयोगिप्रत्यक्ष? दोनों ही विकल्पोंमें अनुमान व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि देश-योगिप्रत्यक्ष और सकलयोगि-प्रत्यक्षसे सभी साध्यों और साधनोंका साक्षात्कार हो जानेपर अनुमानकी सार्थकता नहीं रहती।

यदि कहें कि दूसरोंके लिए अनुमान सार्थक है। अर्थात् जो अल्पज्ञ हैं उन्हें अनुमान आवश्यक है, तो यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि परार्थानुमान स्वार्थानुमानपूर्वक होता है। जिसे स्वार्थानुमान होता है उसे ही परार्थानुमान होता है और योगिके स्वार्थानुमान होता नहीं है, तब स्वार्थानुमानके अभावमें उसे परार्थानुमान कैसे हो सकता है।

यदि माना जाय कि सकलयोगी परका अनुग्रह करनेके लिए प्रवृत्ति करता है और परका अनुग्रह शब्दप्रयोगरूप परार्थानुमानके बिना हो नहीं सकता, अतः योगिके परार्थानुमान सिद्ध होता है और परार्थानुमान बिना स्वार्थानुमानके हो नहीं सकता, इसलिए परको उपदेश देनेके लिए प्रवृत्त योगिके स्वार्थानुमान भी सिद्ध ही है, यह मान्यता भी संगत नहीं है, क्योंकि यहाँ दो विकल्प उत्पन्न होते हैं। वह योगी स्वार्थानुमानसे जब चार आर्यसत्त्योंका निश्चय कर परार्थानुमानसे परके लिए उनका प्रतिपादन करता है, तो परने साध्य-साधनकी व्याप्ति ग्रहण की है या नहीं? यदि की है, तो यह बताना आवश्यक है कि उसने किससे व्याप्ति ग्रहण की है? इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष इन तीन प्रत्यक्षोंसे उसका ग्रहण असम्भव है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। अर्थात् समस्त देशों और समस्त कालोंके साध्य-साधनोंमें रहनेवाली व्याप्ति उन नियत देश और नियत काल विषयक प्रत्यक्षोंसे गृहीत

नहीं हो सकती। अगर कहें कि योगिप्रत्यक्षसे वह व्याप्तिका ग्रहण करता है, क्योंकि वह भी एकदेशयोगी है, तो यह कथन युक्त नहीं है, कारण कि देशयोगीको जितने साध्य-साधनोंका योगिप्रत्यक्ष होगा, उतने साध्य-साधनोंमें उसके लिए अनुमान व्यर्थ है। तात्पर्य यह कि जब योगि-प्रत्यक्षसे ही साध्य-साधनोंका ज्ञान हो जायेगा, तो परके लिए न व्याप्ति-ग्रहणकी आवश्यकता रहेगी और न अनुमानकी। यदि स्पष्ट ज्ञात पदार्थोंमें भी अनुमान स्वीकार किया जाय, तो सकलयोगीको भी सभी स्पष्ट ज्ञात पदार्थोंमें अनुमानका प्रसंग आयेगा। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि संशयादिके निराकरणके लिए उनमें अनुमान हो सकता है, क्योंकि योगिप्रत्यक्षसे अवगत पदार्थोंमें संशयादि नहीं होते, जैसे सुगतके प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात पदार्थोंमें संशयादि नहीं होते। अतः जिसने व्याप्ति ग्रहण की है उसे सकलयोगी उपदेश देता है, यह प्रथम विकल्प सिद्ध नहीं होता। दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिसने व्याप्ति ग्रहण नहीं की, उसके लिए अनुमान नहीं होता, अन्यथा जिस किसीके लिए भी अनुमानका प्रसंग आयेगा। इस प्रकार योगीके उपदेश असम्भव है और उसके अभावमें परार्थानुमान भी सम्भव नहीं है तथा परार्थानुमानके अभावमें स्वार्थानुमान उसके नहीं बन सकता है। और उसके न बननेपर सकलयोगिप्रत्यक्षके द्वारा व्याप्तिके ग्रहणकी बात युक्तिसे सिद्ध नहीं होती। तात्पर्य यह कि सकल देश और सकल कालवर्ती साध्य-साधनोंमें व्याप्तिका निश्चय प्रत्यक्षसे नहीं हो सकता।

शंका—प्रत्यक्ष (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) से साध्य-साधनोंकी व्याप्तिका निश्चय सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जब प्रत्यक्षसे व्याप्तिका ग्रहण उक्त प्रकारसे निराकृत हो जाता है तो प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे भी व्याप्तिका निर्णय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष तो प्रत्यक्ष है ही, अनुपलम्भ भी प्रत्यक्षका ही एक लक्षण है।

शंका—कारणानुपलम्भसे कार्यकारणभाव और व्यापकानुपलम्भसे व्याप्य-व्यापकभाव, जो दोनों ही व्याप्तिरूप हैं, अशेषरूपसे अवगत हो जाते हैं तथा कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ दोनों अनुमान हैं, अतः अनुमानसे साध्य और साधनगत व्याप्तिका निश्चय हो जायेगा। वह इस प्रकार है—‘जितना कोई धूम है वह सब अग्निजन्य है, तालाब आदिमें अग्निके अनुपलम्भसे धूमका भी अभाव पाया जाता है’, यह कारणानुपलम्भानुमान है। ‘जितनी शिशपाएँ हैं वे सब वृक्ष हैं, वृक्षके अभावमें शिशपाका भी अभाव देखा जाता है’, इस प्रकार यह व्यापकानुपलम्भ हेतु है। इस तरह साध्य और साधनमें रहनेवाली व्याप्तिका ज्ञान अनुमानसे सिद्ध है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनुमानसे व्याप्तिका ज्ञान माननेपर अनवस्था दोष आता है। कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ दोनों साधनोंकी अपने साध्योंके साथ रहनेवाली व्याप्तिका निश्चय पूर्वोक्त दोष आनेके कारण प्रत्यक्षसे तो सम्भव नहीं है। और अन्य अनुमानसे उसका निश्चय स्वीकार करनेपर निश्चय ही अनवस्था आयेगी। तात्पर्य यह है कि व्याप्तिज्ञानपूर्वक अनुमान होता है और जिस अनुमानसे प्रकृत अनुमानकी व्याप्तिका ज्ञान माना जायेगा, उस अनुमानगत व्याप्तिका ज्ञान करनेके लिए अन्य अनुमान स्वीकार करना पड़ेगा और इस तरह कहीं भी

विराम न मिलनेपर प्रकृत अनुमानका उदय ही नहीं हो सकेगा ।

शंका—प्रत्यक्ष और अनुपलम्भके पश्चात् उत्पन्न एवं अप्रमाणभूत विकल्पके द्वारा साध्य और साधनकी व्याप्तिका ज्ञान सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि यदि अप्रमाणभूत विकल्पसे व्याप्तिका निश्चय स्वीकार किया जाय, तो प्रत्यक्ष और अनुमानकी प्रमाण माननेकी क्या जरूरत है, मिथ्याज्ञानसे ही प्रत्यक्ष अर्थ और अनुमेय अर्थका निश्चय हो जायेगा, जैसे व्याप्तिका निश्चय अप्रमाणभूत विकल्पसे माना जाता है । अतः जिस प्रकार प्रत्यक्षकी प्रमाण सिद्ध करनेके लिए अनुमानका मानना आवश्यक है, उसके बिना उसकी प्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती, उसी प्रकार साध्य और साधनकी व्याप्तिके ज्ञानकी प्रमाण माने बिना अनुमानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, अतः उसे (व्याप्तिज्ञानकी) भी प्रमाण मानना जरूरी है और वह 'ऊहा' नामक विसंवादरहित उक्त दोनों प्रमाणोंसे अतिरिक्त प्रमाण सिद्ध है । अतएव जो (बौद्ध) कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं' उनकी वह प्रमाणसंख्या विघटित हो जाती है ।

वैशेषिकमत-समीक्षा और तर्कप्रमाणसिद्धि :

इस विवेचनसे वैशेषिकोंकी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणोंकी मान्यता भी खण्डित हो जाती है, क्योंकि व्याप्तिके निश्चयके लिए उन्हें भी 'ऊहा' प्रमाण मानना आवश्यक है ।

शंका—साध्यसामान्य और साधनसामान्यका किसी व्यक्तिविशेष—महानस (रसोईघर) आदिमें प्रत्यक्षसे ही सम्बन्ध (व्याप्ति—अविनाभाव) अवगत हो जाता है, अतः उसके ज्ञानके लिए पृथक् प्रमाण आवश्यक नहीं है । 'जितना कोई धूम है वह सभी अग्निजन्य है, बिना अग्निके वह उत्पन्न नहीं होता' इस प्रकारका ऊहापोह-रूप विकल्पज्ञान व्याप्तिग्राहक है, जो अलग प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह सम्बन्ध (व्याप्ति) को ग्रहण करनेवाला विकल्पज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणका फल है । जैसे 'सूर्यमें गमनशक्ति है, क्योंकि वह गतिवाला है तथा सूर्य गतिवाला है क्योंकि एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उसकी प्राप्ति है' इस अनुमितानुमानमें साध्य और साधनके सम्बन्ध-ज्ञानका कारण अनुमानफल दूसरा अनुमान है । अतः प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हम वैशेषिकोंके सिद्ध होते हैं ?

समाधान—उक्त कथन भी निःसार है, क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्षसे भी समस्त साध्यों और साधनोंके सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण सम्भव नहीं है । प्रश्न है कि साध्य क्या अग्निसामान्य है या अग्निविशेष या अग्निसामान्यविशेष ? अग्निसामान्य तो साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें सिद्धसाधन है—अग्निसामान्यमें विवाद न होनेसे उसे सिद्ध करना सिद्धको सिद्ध करना है, जो व्यर्थ है । अग्निविशेष (पर्वतीय अग्नि, चत्तरीय अग्नि आदि विशेष अग्नि) भी साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि अन्वय नहीं बनेगा । 'जहाँ धूम होता है वहाँ पर्वतीय वह्नि होती है' इस प्रकारके अन्वय प्रदर्शनका कोई स्थल नहीं है, जहाँ दोनों पाये जायें । अग्निसामान्य-विशेषकी साध्य बनानेपर उसके साथ धूमका सम्बन्ध (अविनाभाव), जो समस्त देश और समस्त कालवर्ती है, प्रत्यक्षसे कैसे जाना जा सकता है । तथा उसका ज्ञान

न होने पर 'जहाँ-जहाँ, जब-जब धूम उपलब्ध होता है वहाँ-वहाँ तब-तब अग्नि-सामान्यविशेष उपलब्ध होता है' इस प्रकारके सम्बन्धपूर्वक होनेवाले अनुमानका उदय नहीं हो सकता। और यह सम्भव नहीं कि सम्बन्धका ग्रहण अन्य प्रकारसे हो और अनुमानकी उत्पत्ति अन्य प्रकारसे, क्योंकि उसमें अतिप्रसंग आवेगा। अतः सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्राही जो ज्ञान है वह एक स्वतन्त्र प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमानसे सम्बन्धका ज्ञान नहीं हो सकता।

ऊपर जो यह कहा गया है कि 'ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान प्रत्यक्षका फल है, वह प्रमाण नहीं है, फल तो प्रमाणसे भिन्न होता है', वह ठीक नहीं है, क्योंकि विशेष्यज्ञान भी विशेषणज्ञानका फल होनेसे प्रमाण नहीं हो सकेगा। हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फलको उत्पन्न करनेसे विशेष्यज्ञानको प्रमाण स्वीकार करनेपर ऊहापोहविकल्पज्ञानको भी हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धिरूप फलको उत्पन्न करनेके कारण प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि दोनोंमें भेद नहीं है।

शंका—ऊहा प्रमाणके विषयका परिशोधक है, प्रमाण नहीं है ?

समाधान—यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो प्रमाणके विषयका परिशोधक होगा वह अप्रमाण नहीं हो सकता—अप्रमाणसे प्रमाणके विषयका परिशोधन सम्भव नहीं है। अतः हम कहेंगे कि 'तर्क प्रमाण है, क्योंकि वह प्रमाणके विषयका परिशोधक है। जो प्रमाण नहीं वह प्रमाणके विषयका परिशोधक नहीं देखा गया, जैसे प्रमेयरूप अर्थ। और प्रमाणके विषयका परिशोधक है तर्क, इस कारण वह प्रमाण है', इस केवलव्यतिरेकी अनुमानसे, जो अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चय-लक्षणरूप है, तर्कमें प्रमाणता सिद्ध होती है। अतः वैशेषिकोंकी भी दो (प्रत्यक्ष और अनुमान) प्रमाणोंकी मान्यता सिद्ध नहीं होती।

सांख्यादिमत-समीक्षा :

इसी प्रकार तीन, चार, पाँच और छह प्रमाण माननेवालोंकी प्रमाण-संख्याका भी नियम सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंको स्वीकार करनेवाले सांख्योंके आगमप्रमाणसे भी प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह साध्य और साधनके सम्बन्धका निश्चय न हो सकनेसे उसका निश्चय करनेवाले तर्कको उन्हें प्रमाण मानना पड़ता है। नैयायिकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी तरह उपमानसे भी लिंग और लिंगी (साधन और साध्य) के सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण सम्भव न होनेसे उसके ग्रहणके लिए उन्हें भी तर्क प्रमाणको स्वीकार करना अनिवार्य है। तथा प्राभाकरोंके प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमानकी तरह अर्थापत्तिसे साधन-साध्यके सम्बन्धका निश्चय सम्भव न होनेसे उसके निश्चयके लिए उन्हें भी तर्कप्रमाण मानना आवश्यक है। जो भाट्टमीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं, उनके प्रत्यक्ष आदिकी तरह अभाव प्रमाणसे भी व्याप्तिका निर्णय न हो सकनेसे उन्हें भी उसके निर्णयार्थ ऊहा प्रमाणको स्वीकार करना अपरिहार्य है।

शंका—ऊहा अपने विषय (साध्य-साधनसम्बन्ध) के साथ सम्बद्ध होकर सम्बन्धका ज्ञान कराता है या असम्बद्ध होकर ही ? यदि असम्बद्ध होकर ही वह

सम्बन्धका ज्ञान कराता है, तो अनुमान भी बिना व्याप्ति-सम्बन्धके ही अनुमेयका ज्ञान करा देगा। यदि सम्बद्ध होकर वह सम्बन्धका निश्चय कराता है, तो प्रश्न होता है कि उस सम्बन्धका ज्ञान किससे होता है। प्रत्यक्षसे तो सम्भव नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्षका विषय नहीं है। अनुमानसे भी उसके सम्बन्धका निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि अनवस्थाका प्रसंग आयेगा। यदि अन्य ऊहासे उस सम्बन्धका निश्चय माना जाय, तो वह ऊहा भी अपने विषयके साथ सम्बद्ध होकर ही सम्बन्धका निश्चय करायेगा और उस सम्बन्धका ज्ञान अन्य ऊहापूर्वक होनेसे अनवस्था आयेगी। अर्थात् एक दूसरे पृथक् ऊहा प्रमाणसे सम्बन्धका निश्चय माननेपर वही प्रश्न होगा और अन्य-अन्य प्रमाणोंकी परिकल्पना होनेसे प्रमाणकी नियत संख्या कहीं (जैनदर्शनमें) भी सिद्ध न हो सकेगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उक्त प्रकारकी आपत्ति प्रत्यक्षप्रमाणपर भी उठायी जा सकती है। अर्थात् प्रत्यक्ष अपने विषयका निश्चय उससे सम्बद्ध होकर कराता है या असम्बद्ध होकर ? द्वितीय पक्षमें पूर्ववत् अतिप्रसंग दोष आता है। प्रथम पक्षमें यह बताना आवश्यक है कि उसके सम्बन्धका ज्ञान किससे होता है ? अनुमान आदिसे तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है। दूसरे प्रत्यक्षसे उसका ज्ञान माननेपर वही प्रश्न उठनेसे अनवस्था आये बिना न रहेगी और उस हालतमें प्रत्यक्ष प्रमाणको भी स्वीकार करना अशक्य हो जायेगा।

शंका—प्रत्यक्षमें अपने विषयके सम्बन्धज्ञानके निमित्तसे प्रमाणता नहीं है, अपितु अपनी योग्यताके बलसे ही वह अपने विषयमें प्रमाण है। यदि ऐसा न हो, तो किसी विषयमें वह अपूर्वार्थग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकेगा ?

समाधान—उक्त कथन युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार ऊहा भी अपनी योग्यताके सामर्थ्यसे ही अपने विषयका निश्चय कराता है, उसके लिए अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। अतः ऊपर उद्धावित दूषण निरर्थक है। वह योग्यताविशेष अपने विषयके आवारक ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमविशेषरूप है और वह जिस प्रकार प्रत्यक्षमें है उसी प्रकार ऊहामें भी स्वीकार किया गया है, उसके सद्भावमें कोई बाधक नहीं है। तथा जिस प्रकार प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें मन, इन्द्रिय आदि सामग्री, योग्यताकी सहायक है, क्योंकि वह बाह्यनिमित्त है, उसी प्रकार ऊहाज्ञानकी भी उत्पत्तिमें भूयःप्रत्यक्ष (धूम और अग्नि का एक साथ अनेक बार दर्शन) और अनुपलम्भ (अग्नि और धूम का अदर्शन) आदि सामग्री योग्यताकी सहकारिणी है, क्योंकि वह बहिरंग निमित्त है। उसके होनेपर ऊहाज्ञान होता है और उसके अभावमें वह नहीं होता। तात्पर्य यह कि ऊहा अन्वय और व्यतिरेकपूर्वक होता है। होनेपर होना अन्वय है और न होनेपर न होना व्यतिरेक है। जैसे अग्नि के होनेपर ही धुआँ होता है, यह अन्वय है और अग्नि के अभावमें धुआँ नहीं होता, यह व्यतिरेक है। इन अन्वय और व्यतिरेक पुरस्सर व्याप्तिके निश्चयके लिए ऊहा प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है। और जबतक व्याप्तिका निश्चय नहीं होगा, तबतक अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होगा। अतः कहना होगा कि 'तर्क प्रमाण है, अन्यथा अनुमानप्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता।' इस प्रकार तर्क अपर नाम ऊहा प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदिसे पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

प्रत्यभिज्ञानप्रमाण-विमर्श :

प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है, क्योंकि उसे न माननेपर तर्क प्रमाण नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि जिस विषयमें प्रत्यभिज्ञान नहीं होता उसमें तर्क प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होती, अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा। अर्थात् बिना प्रत्यभिज्ञानके भी तर्क प्रमाण प्रवृत्त होगा।

शंका—प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह ग्रहण किये पदार्थको ही ग्रहण करता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानसे ग्रहण होनेवाला पदार्थ स्मृति और प्रत्यक्षकी विषयभूत अतीत एवं वर्तमान पर्यायोंमें व्याप्त एकद्रव्य है, जो न स्मरणका विषय है और न प्रत्यक्षका। अतएव वह अपूर्वार्थग्राही है। इसका न प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष वर्तमान पर्यायमात्रको विषय करता है। और न अनुमानमें उसका अन्तर्भाव सम्भव है, क्योंकि उसमें लिंग (साधन) की अपेक्षा नहीं होती। शाब्द प्रमाणमें भी उसका अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह शब्दकी अपेक्षा नहीं करता। उपमानमें भी उसका समावेश नहीं होता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान सादृश्यज्ञानके बिना भी होता है। अर्थापत्तिमें भी उसे अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्षादि छह प्रमाणोंसे ज्ञात पदार्थके ज्ञानके बिना भी उत्पन्न होता है। तथा अभाव प्रमाणमें भी उसका अनुप्रवेश शक्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान निषेध्य (घटादि) की आधार वस्तु (भूतलादि) के ग्रहण और निषेध्यके स्मरणके बिना ही होता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाणको सभी दार्शनिकोंको मानना अनिवार्य है, जो उनकी एक, दो, तीन, चार, पाँच और छह प्रमाणोंकी संख्याके नियमका विघटन करता है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षादिसे अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान पृथक् प्रमाण है।

स्मृतिप्रमाण-विमर्श :

स्मृतिको भी पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है, क्योंकि उसका भी प्रत्यक्ष आदि छह प्रमाणोंमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। और यह कहा नहीं जा सकता कि वह अप्रमाण है, क्योंकि उसमें किसी प्रकारका विसंवाद नहीं है—वह भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राही एवं बाधक रहित है, जैसे अनुमान आदि। जो स्मरणको अप्रमाण मानते हैं उनके यहाँ पूर्व ज्ञात साध्य-साधन सम्बन्ध और वाच्य-वाचक सम्बन्धकी अप्रमाण-भूत स्मरणसे व्यवस्था न होनेसे न अनुमान प्रमाण सिद्ध हो सकेगा और न शाब्द प्रमाण। और जब अनुमान तथा आगम प्रमाण सिद्ध न होंगे, तब उनसे सिद्ध संवाद और असंवादसे प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षाभासकी भी व्यवस्था नहीं होगी। फलतः सभी प्रमाणोंका विलोप हो जायेगा। अतएव जो प्रमाण-व्यवस्था स्वीकार करते हैं उन्हें स्मृतिको भी प्रमाण स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार स्मृति भी अलग प्रमाण सिद्ध होनेसे अन्य दार्शनिकोंकी स्वीकृत प्रमाण-संख्याका नियम सिद्ध नहीं होता। परन्तु स्याद्वादियों द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रमाणोंकी संख्याका नियम (दो ही प्रमाण हैं, तीन आदि नहीं) निश्चयतः सिद्ध होता है, क्योंकि उनमें

परोक्ष ऐसा व्यापक प्रमाणभेद है, जिसमें परसापेक्ष होनेवाले तर्क, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति जैसे सभी प्रमाणोंका संग्रह हो जाता है। अतः 'प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही संक्षेपमें प्रमाणके भेद हैं' यह जो प्रकरणके आरम्भमें कहा गया था वह सर्वथा युक्त है।

प्रत्यक्ष-विमर्श :

परोक्ष-प्रमाणका विमर्श करनेके उपरान्त अब प्रत्यक्षका विमर्श किया जाता है।

सर्व प्रथम प्रत्यक्षके सद्भावको सिद्ध किया जाता है। उसका सद्भाव अनुमान-से सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—प्रत्यक्ष विशद-ज्ञानस्वरूप है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है, जो विशदज्ञानस्वरूप नहीं है वह प्रत्यक्ष नहीं है, जैसे अनुमान आदि ज्ञान, और प्रत्यक्ष विचार-कोटिमें स्थित ज्ञान है, इसलिए वह विशदज्ञान-स्वरूप है। तात्पर्य यह कि जो ज्ञान विशद (स्पष्ट) होता है उसीका नाम प्रत्यक्ष है। उक्त अनुमानप्रयोगमें दत्त धर्मी, जो 'प्रत्यक्ष' है, अप्रसिद्ध नहीं है क्योंकि उसके विषयमें चार्वाक आदि सभी प्रमाणवादियोंको अविवाद है—सभी उसे स्वीकार करते हैं। यहां तक कि जो एकमात्र शून्याद्वैत, संवेदनाद्वैत, पुरुषाद्वैत आदिको स्वीकार करते हैं वे भी स्वरूप-प्रतिभासरूप प्रत्यक्षको मानते हैं। हेतु भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षको स्वीकार करनेवाले प्रत्यक्षके धर्म प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्षपना) को स्वयं स्वीकार करते हैं। तात्पर्य यह कि उक्त अनुमानमें प्रयुक्त 'क्योंकि वह प्रत्यक्ष है' हेतु सिद्ध है और सिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि अवश्य होती है।

शंका—यतः प्रतिज्ञा असिद्ध होती है, अतः उसके एक देशको—प्रत्यक्षपना धर्मको हेतु बनानेसे उपर्युक्त हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध है और असिद्ध हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यह बतायें कि प्रतिज्ञा क्या है और उसका एकदेश क्या है ? यदि कहें कि धर्म और धर्मोंके समुदायका नाम प्रतिज्ञा है और उसका एकदेश धर्मी है। जैसे 'शब्द नाशशील है क्योंकि वह शब्द है।' इसी प्रकार प्रतिज्ञाका एकदेश साध्यरूप धर्म है। जैसे 'शब्द विनश्वर है, क्योंकि वह नाश होता है।' क्या ये दोनों ही प्रकारके हेतु प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध हैं ? यदि हाँ, तो यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि धर्मी असिद्ध नहीं होता—वह सिद्ध होता है और उसे हेतु बनानेपर वह असिद्ध कैसे कहा जा सकता है अर्थात् नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि पक्षके प्रयोगके समय धर्मी वादी और प्रतिवादी दोनोंके लिए सिद्ध होता है उसी प्रकार उसे हेतु कहनेपर भी वह सिद्ध ही होता है। किन्तु साध्यरूप धर्मको हेतु बनानेपर वह प्रतिज्ञार्थका एकदेश होनेसे असिद्ध नहीं कहा जायेगा। अन्यथा प्रतिज्ञार्थका एक-देश होनेसे धर्मी भी असिद्ध कहा जायेगा। यथार्थमें वह (साध्यरूप धर्म) तो स्वरूपसे ही असिद्ध होता है। अतः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध नामका कोई हेतुभास सम्भव नहीं है। अतएव उपर्युक्त हेतु (क्योंकि वह प्रत्यक्ष है) को प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्ध कहनेवाला अनुमान-स्वरूपका ज्ञाता कैसे कहा जा सकता है। अर्थात् उक्त हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि धर्मोंको हेतु बनाया गया है और धर्मी सिद्ध होता है।

शंका—धर्मीको हेतु बनानेपर अनन्वय दोष प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, विशेषको धर्मी और सामान्यको हेतु कहनेपर उक्त दोष नहीं आता । प्रकट है प्रत्यक्षविशेष (प्रत्यक्षव्यक्ति) को धर्मी और प्रत्यक्षत्वसामान्य (प्रत्यक्षव्यक्तियोंमें व्यापक धर्म) को हेतु बनाया है, तब अनन्वय दोष कैसे हो सकता है, क्योंकि वह सभी प्रत्यक्षव्यक्तियोंमें व्याप्त रहता है ।

शंका—कदाचित् वह किसी दृष्टान्तमें न रहे, तब तो अनन्वय दोष होगा ?

समाधान—नहीं, इस तरह तो 'सभी पदार्थ क्षणभंगुर हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इत्यादि अनुमानोंमें भी हेतु अनन्वयी प्राप्त होता है, क्योंकि कोई सपक्ष नहीं है ।

शंका—उपर्युक्त 'सत्त्व' हेतु दृष्टान्तमें अनन्वयी होनेपर भी पक्षमें पूरे तौरसे अन्वयी सिद्ध है । इसके अतिरिक्त विपक्षमें उसके रहनेकी रंचमात्र भी सम्भावना नहीं है, अतएव 'सत्त्व' हेतु निर्दोष माना है ?

समाधान—यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस प्रकार तो 'प्रत्यक्षत्व' हेतु भी निर्दोष माना जायगा और हेतुको अन्वयी होना अनावश्यक कहा जायगा, क्योंकि दोनोंमें कोई फरक नहीं है—दोनोंकी स्थिति एक-सी है । वास्तवमें अनन्वय कोई दोष नहीं है, हेतुको अपने साध्यके साथ व्याप्त (अविनाभावी) होना ही आवश्यक है । यही कारण है कि केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें भी अविनाभावमात्रके निश्चयसे साध्यको सिद्ध करनेकी सामर्थ्य मानी गयी है । अतः अनन्वय नामका कोई दोष ही नहीं है । अतएव 'प्रत्यक्षत्व' हेतु निर्दोष है और वह अपने साध्य विशदज्ञान-स्वरूपको प्रत्यक्ष (पक्ष) में सिद्ध करता है ।

यह विशदज्ञानस्वरूप साध्य असम्भव भी नहीं है, क्योंकि आत्माको लेकर उत्पन्न हुए ज्ञानमें, जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता है और जो पदार्थोंका साक्षात्कर्ता है, सम्पूर्णतया अथवा एकांशसे विशदता रहती है, उसके रहनेमें कोई बाधा नहीं है । तात्पर्य यह कि आत्ममात्रकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न हुआ सकलप्रत्यक्ष (केवलज्ञान) और विकलप्रत्यक्ष (अवधि तथा मनःपर्यज्ञान) ये सभी ज्ञान विशद होते हैं । अतः यह कहा ही नहीं जा सकता कि कोई विशदज्ञान होता ही नहीं । उसकी सयुक्तिक सिद्धि आगे विस्तारपूर्वक की गयी है । प्रत्यक्षशब्दकी जो व्युत्पत्ति है उससे भी प्रत्यक्षज्ञान विशदात्मक सिद्ध है । 'प्रत्यक्ष' पदमें दो शब्द हैं—एक प्रति और दूसरा अक्ष । 'अक्ष' का अर्थ अक्षण—व्यापन—जानन करनेसे आत्मा है और उस ही क्षीणावरण अथवा क्षीणोपशान्तावरण आत्माको लेकर उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्षशब्दका वाच्य है, तब ऐसे ज्ञानमें विशदताकी असम्भवता कैसे कही जा सकती है । अतः ठीक ही कहा गया है कि जो ज्ञान विशद है वह प्रत्यक्ष है ।

अब प्रत्यक्षके भेदोंका कथन किया जाता है ।

उक्त प्रत्यक्ष तीन प्रकारका है—१. इन्द्रियप्रत्यक्ष, २. अनिन्द्रियप्रत्यक्ष और ३. अतीन्द्रियप्रत्यक्ष । इनमें इन्द्रियप्रत्यक्षको सांख्यवहारिक (लोकव्यवहार) प्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योंकि वह एकदेश ही विशद होता है, पूर्णतया नहीं । इन्द्रियप्रत्यक्षकी तरह अनिन्द्रियप्रत्यक्ष भी सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है, क्योंकि वह भी उसी तरह एकदेश ही विशद होता है । अन्तर इतना ही है कि अनिन्द्रियप्रत्यक्ष अन्तर्मुखाकार-

रूपसे होता है और इन्द्रियप्रत्यक्ष बहिर्मुखाकाररूपसे । अतीन्द्रियप्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. विकलप्रत्यक्ष और २. सकलप्रत्यक्ष । विकलप्रत्यक्ष भी दो तरहका है— १. अवधिज्ञान और २. मनःपर्ययज्ञान । सकलप्रत्यक्ष केवल एक ही प्रकारका है और वह है केवलज्ञान । ये तीनों प्रत्यक्ष मुख्य प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि इन तीनोंमें ही न मनकी और न इन्द्रियोंकी अपेक्षा होती है । इसके अलावा ये तीनों व्यभिचाररहित होते हैं— मिथ्या (संशयादिरूप) नहीं होते । इसके अतिरिक्त साकार वस्तु ग्राही (सविकल्पक) होते हैं और अपने विषयों (ज्ञातव्य पदार्थों—मूर्तिक-अमूर्तिकों) में पूर्णतया विशद (स्पष्ट) होते हैं । यही तत्त्वार्थवार्त्तिककार अकलंकदेवने कहा है—

‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्’

—त. वा. १-१२ ।

‘जो ज्ञान इन्द्रियों तथा मनकी सहायतासे उत्पन्न नहीं होता, निर्दोष है और साकार वस्तु ग्राही है वह प्रत्यक्ष है ।’

आगे उक्त वार्त्तिकके पदोंकी सार्थकता दिखाते हुए कहा गया है कि ‘इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्’—‘इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे रहित’ इस पदसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्षकी, जो इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है तथा एकांश-से विशद होता है, व्यावृत्ति की है । ‘अतीतव्यभिचारम्—‘व्यभिचाररहित’ पदसे विभंगज्ञानकी, जो अवधिप्रत्यक्षाभास है, निवृत्ति की है और ‘साकारग्रहणम्’—‘साकार वस्तु ग्राही’ विशेषणसे निराकार ग्रहणका, जिसे दर्शन कहा है, व्यवच्छेद किया है और इस तरह वार्त्तिकगत तीनों विशेषण सार्थक हैं । अतः जो मुख्यप्रत्यक्ष तीन प्रकारका कहा है वह ठीक है । [२-९२]

शंका—स्वसंवेदन नामका एक चौथा भी प्रत्यक्ष है, उसे भी कहना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि वह सभी ज्ञानोंका सामान्य स्वरूप है । इन्द्रियप्रत्यक्षका स्वरूपसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्ष ही है, अन्यथा वह अपना और पर (बाह्य) का संवेदन नहीं कर सकेगा । दूसरे, उसमें दो संवेदन मानने पड़ेंगे । एक स्वको जाननेवाला और दूसरा बाह्यको । अनिन्द्रियप्रत्यक्षका, जिसे मानसप्रत्यक्ष कहा जाता है और जो सुखादिज्ञानरूप है, स्वरूपसंवेदन भी उक्त प्रकारसे अनिन्द्रियप्रत्यक्ष ही है, वह उससे पृथक् नहीं है । इसी तरह तीनों अतीन्द्रियप्रत्यक्षोंका स्वरूपसंवेदन भी तीनों अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षरूप ही है, उनसे जुदा नहीं । अतः स्वसंवेदन नामका चौथा कोई प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता । इस विवेचनसे श्रुतज्ञानका भी स्वरूपसंवेदन अनिन्द्रियप्रत्यक्ष जानना चाहिए, क्योंकि वह (श्रुतज्ञान) अनिन्द्रिय (मन) पूर्वक होता है । भ्रमात्मक ज्ञानोंका स्वरूपसंवेदन भी भ्रमात्मकज्ञानस्वरूप है, यह भी समझ लेना चाहिए । अतएव सारे ज्ञान स्वरूपसंवेदनकी अपेक्षासे प्रमाण ही हैं और बाह्य प्रमेयकी अपेक्षासे वे प्रमाण तथा प्रमाणाभास कहे जाते हैं । स्वरूपको जाननेकी अपेक्षासे कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है । [२-९३]

१. भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभास-निवृत्तवः ।

बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निमित्तं च ते ॥

—आ. समन्तभद्र, आप्तमी. का. ८३ ।

इन्द्रियप्रत्यक्ष तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्ष-विमर्श :

प्रश्न—इन्द्रियप्रत्यक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर—इन्द्रियोंकी प्रधानता और मनकी गौणतासे उत्पन्न हुए ज्ञानको, जिसे मतिज्ञान कहा जाता है, इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। आचार्य गृद्धपिच्छने तत्त्वार्थसूत्र (१-१४) में प्रतिपादन भी किया है कि जो इन्द्रिय और अनिन्द्रियपूर्वक होता है वह मतिज्ञान है।

यह इन्द्रियप्रत्यक्ष चार प्रकारका है—१. अवग्रह, २. ईहा, ३. अवाय और ४. धारणा। पदार्थ और इन्द्रियोंके सम्बन्ध होनेके बाद उत्पन्न हुए आद्य ज्ञानका नाम अवग्रह है। अर्थात् 'क्या है' इस प्रकारके विशेष रहित वस्तुके सामान्यावलोकनरूप दर्शनपूर्वक उत्पन्न हुआ कुछ रूप, आकार आदिकी विशेषताओंको लिये हुए पदार्थका विशिष्ट ज्ञान अवग्रहज्ञान है। अवग्रहज्ञानसे ग्रहण की गयी वस्तुके विषयमें विशेष जाननेकी आकांक्षा करना ईहा है, जिसमें 'होना चाहिए' रूप ज्ञान होता है। ईहाज्ञानसे जानी हुई वस्तुके विशेषोंका निश्चय करना अवायज्ञान है। सुनिश्चित तथा कालान्तरमें भी अविस्मृतिके कारणभूत ज्ञानका नाम धारणाज्ञान है। ये चारों ही ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापारपूर्वक होते हैं, उनके अभावमें वे उत्पन्न नहीं होते। तथा चारों ज्ञान मनपूर्वक भी होते हैं क्योंकि जिनके मन नहीं होता उनके ये मनपूर्वक होनेवाले चारों ज्ञान नहीं होते। ये इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष दोनों एक-देशसे विशद और अविसंवादी होते हैं। स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियोंके निमित्तसे बहु, एक, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिःसृत, निःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंमें होनेसे इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रत्येक इन्द्रियकी अपेक्षासे ४८, ४८ भेदों तथा व्यंजनावग्रहके (चक्षुः और मनको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंसे होनेके कारण) ४८ भेदोंसे सहित होता है और इस प्रकार इन्द्रियप्रत्यक्षके $४ \times १२ \times ५ = २४० + १ \times १२ \times ४ = ४८ = २८८$ भेद हैं। तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्षके $४ \times १२ \times १ = ४८$ भेदोंको भी उनमें मिला देनेपर सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष (मतिज्ञान) के कुल भेद $२८८ + ४८ = ३३६$ हैं।

अतीन्द्रियप्रत्यक्ष-विमर्श :

अतीन्द्रियप्रत्यक्षके पहले विकल और सकल ये दो भेद कहे जा चुके हैं। अब उनका विशेष कथन किया जाता है। विकल अतीन्द्रियप्रत्यक्षका पहला भेद अवधिज्ञान है। यह ज्ञान इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना केवल आत्मामात्रकी अपेक्षासे होता है और मूर्तिक पदार्थोंको ही विषय करता है। तथा अपने विषयमें पूर्ण विशद होता है। इसके छह भेद हैं—१. अनुगामी, २. अननुगामी, ३. वर्धमान, ४. होयमान, ५. अवस्थित और ६. अनवस्थित। जो अवधिज्ञान सूर्यके प्रकाशकी तरह स्वामीके साथ एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें जाता है वह अनुगामी है। जो अवधिज्ञान विमुख पुरुषको दी गयी आशाकी तरह वही छूट जाता है, न क्षेत्रान्तरमें जाता है और न पर्यायान्तरमें, वह अननुगामी है। जो जंगलके बाँसोंकी रगड़से उत्पन्न अग्निकी भाँति निरन्तर बढ़ता जाता है वह वर्धमान है। जो अवधिज्ञान सीमित ईंधनवाली अग्निकी शिखाकी तरह धीरे-धीरे कम होता जाता है वह

हीयमान है। जो शरीरके मसा, तिल आदि चिह्नोंकी तरह हमेशा एक-सा बना रहता है वह अवस्थित है और जो हवाके वेगसे प्रेरित जलकी लहरोंकी तरह घटता-बढ़ता रहता है वह अनवस्थित है।

संक्षेपमें यह अवधिज्ञान तीन प्रकारका है—१. देशावधि, २. परमावधि और ३. सर्वावधि। देशावधिज्ञान उक्त छहों प्रकारका होता है। अर्थात् उसमें अनुगामी आदि छहों भेद पाये जाते हैं। परन्तु परमावधि-ज्ञान विशिष्ट संयमके धारकोंके होता है। पर्यायान्तरमें न जानेकी अपेक्षासे अननुगामी और प्रतिपात (छूट जाने) से सहित होता है और उसी पर्यायमें क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें जानेकी अपेक्षा अनुगामी ही होता है, अननुगामी नहीं, क्योंकि केवलज्ञान होने एवं पर्यायके अन्त तक वह स्वामीके साथरहता है। तथा वह वर्धमान ही होता है, हीयमान नहीं। अवस्थित ही होता है, अनवस्थित नहीं। अप्रतिपात ही होता है, सप्रतिपात नहीं, क्योंकि वह अत्यन्त विशुद्ध परिणामोंसे उत्पन्न होता है। यह उसी पर्याय या केवलज्ञानकी अपेक्षासे कहा गया है, क्योंकि परमावधिज्ञानी दूसरी पर्यायमें जाये या केवलज्ञान प्राप्त कर ले, तभी उसका वह परमावधिज्ञान छूटता है। इस प्रकार इस अवधिज्ञानमें वर्तमान पर्यायकी अपेक्षासे अनुगामी, वर्धमान और अवस्थित ये तीन ही भेद पाये जाते हैं, अन्य तीन भेद नहीं। तथा पर्यायान्तरकी अपेक्षासे अननुगामी और अनवस्थित ये दो भेद और एक सप्रतिपात भेद होता है। परमावधि-ज्ञानकी तरह सर्वावधिज्ञानके विषयमें भी जान लेना चाहिए। केवल वह वर्धमान भी नहीं होता, क्योंकि वह जब उत्पन्न होता है तो पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त होता है। अतः उसमें वर्धमानता नहीं है। दूसरी उसकी विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तरायकर्मके क्षयोपशमसे उद्भूत होता है।

अतिसंक्षेपमें अवधिज्ञान दो प्रकारका है—१. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकियोंके होता है, क्योंकि वह बाह्य देव भव और नारको भवके निमित्तसे होता है। इन पर्यायोंके होनेपर ही वह होता है और उनके अभावमें नहीं होता। अतः ऐसे अवधिज्ञानको भवनिमित्तक अवधिज्ञान कहा गया है। यह केवल देशावधि-रूप ही होता है, परमावधि या सर्वावधि-रूप नहीं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान असंयत-सम्यग्दृष्टिके सम्यग्दर्शनगुणके निमित्तसे और संयतासंयतके संयमासंयम (देशसंयम) गुणपूर्वक तथा संयतके संयमगुणके होनेसे होता है। यह दोनों अवधिज्ञानोंके बाह्य निमित्तोंका कथन है। उनका अन्तरंग कारण अवधि-ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मका यथासम्भव क्षयोपशम है। उसके सद्भावमें ही सम्यग्दर्शनादिके होनेपर होता है, अन्यथा नहीं।

मनःपर्ययज्ञान-विमर्श :

मनःपर्ययज्ञान, जो विकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है, दो तरहका है—१. ऋजुमति और २. विपुलमति। इनमें ऋजुमति सरल मन, सरल वाणी और सरल कायवालोंके मनोगत विषयको जानता है, अतः उसके सरल मन, सरल वाणी और सरल कायके निमित्तसे तीन भेद कहे गये हैं। किन्तु विपुलमति मनःपर्ययज्ञान सरल अथवा वक्र दोनों ही प्रकारके मन, वचन और कायवालोंके मनःस्थित चिन्तित, अर्धचिन्तित और

अचिन्तित विषयको ऋजुमतिसे भी अधिक स्पष्ट जानता है। अतएव उसके उक्त छह निमित्तोंकी अपेक्षा छह भेद बतलाये गये हैं। यह दोनों ही प्रकारका मनःपर्ययज्ञान यथाविध मनःपर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मके यथायोग्य क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है और संयमियोंके ही होता है।

केवलज्ञान-विमर्श :

तीसरा अतीन्द्रियप्रत्यक्ष केवलज्ञान है, जिसे सकलप्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योंकि वह समस्त मोहनीय, समस्त ज्ञानावरण और समस्त वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उद्भूत होता है। दूसरी बात यह है कि वह सम्पूर्णतया विशद होता है और तीसरे यह कि वह सब (मूर्तिक-अमूर्तिक) को विषय करता है। इस प्रकारके प्रत्यक्षवाला कोई विशेष पुरुष सम्भव है ही, क्योंकि उसमें किसी प्रकारका बाधक प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार कोई विशेष पुरुष शास्त्र (वेद) द्वारा समस्त पदार्थोंका ज्ञान कर सकता है और जिसे दोनों वादी तथा प्रतिवादी स्वीकार करते हैं। यहाँ हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि सकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्षवाले पुरुषका प्रत्यक्ष आदि कोई भी प्रमाण बाधक नहीं है, और बाधक इसलिए नहीं है, क्योंकि समस्त देशों और समस्त कालोंके पुरुषसमूहकी अपेक्षा उसमें अबाधा सिद्ध है। जैसे 'मैं सुखी हूँ', 'मैं जानवान् हूँ' इस प्रतीतिमें किसी भी व्यक्तिको विवाद नहीं हो सकता और इसलिए सुखादिका सद्भाव प्रमाणसिद्ध है। बाधकप्रमाणाभाव वस्तुकी सिद्धिमें एक ऐसा प्रमाण है, जिसे सभी स्वीकार करते हैं, अन्यथा किसीके भी अभिष्ट तत्त्वकी सिद्धि न हो सकेगी। इस प्रकार प्रत्यक्षका, जो विशदज्ञानरूप होता है और जिसके सांख्यव्यवहारिक और मुख्य ये दो भेद हैं, संक्षेपमें निरूपण किया।

परोक्षका विशेष विमर्श :

परोक्षका पहले संक्षेपमें विचार कर आये हैं। अब उसका कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है।

जो अविशद (अस्पष्ट) ज्ञान है वह परोक्ष है। इसे अनुमानप्रयोगके माध्यमसे यों भी कह सकते हैं कि 'परोक्ष अविशदज्ञानरूप है, क्योंकि वह परोक्ष है, जो अविशदज्ञानरूप नहीं है वह परोक्ष नहीं है, जैसे अतीन्द्रियप्रत्यक्ष, और परोक्ष विचारणीय ज्ञान है, इसलिए वह अविशदज्ञानरूप है। इस विचार प्राप्त परोक्षकी परोक्षता असिद्ध नहीं है, क्योंकि वह अक्षों अर्थात् इन्द्रियों (बाह्य और आन्तर दोनों) से उत्पन्न होता है। तत्त्वार्थवात्तिककार अकलंकदेवने परोक्षका लक्षण करते हुए स्पष्ट कहा है कि जो उपात्त तथा अनुपात्त कारणोंकी अपेक्षासे होता है वह परोक्ष है। यहाँ उपात्तसे तात्पर्य कर्मोदयसे आत्माके द्वारा गृहीत स्पर्शनादि इन्द्रियोंकी विवक्षासे है और अनुपात्तसे मतलब शब्द, लिङ्ग आदि बाह्य सहकारियोंसे है। इस तरह दोनों कारणोंकी अपेक्षासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है।

यह भी संक्षेपमें दो प्रकारका है—१. मतिज्ञान और २. श्रुतज्ञान। सूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छका भी वचन है—'आद्ये परोक्षम्' [त. सू. १-११]—आदिके दो ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। सूत्रकारने मति, श्रुत, अवधि,

मनःपर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान कहे हैं। अतः उनके इस सूत्र (त. सू. १-९) की अपेक्षासे 'आद्ये' पदके द्वारा मति और श्रुत ये दो ज्ञान गृहीत हैं। ये दोनों ज्ञान परकी अपेक्षासे होनेके कारण परोक्ष कहे गये हैं। और परकी अपेक्षासे न होनेके कारण अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष बतलाये हैं।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त मतिज्ञानको एकदेश विशद होनेसे इन्द्रियप्रत्यक्ष-अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा गया है और यहाँ उसे परोक्ष बतलाया गया है, यह विसंगति (विरोध) कैसे दूर होगी ? यह प्रश्न युक्त नहीं है, क्योंकि उसे सांख्यव्यवहारिक अर्थात् उपचार (लोकव्यवहार) से प्रत्यक्ष कहा है। वस्तुतः वह परापेक्ष होनेसे परोक्ष ही है, इसमें कोई विसंगति या विरोध समुपस्थित नहीं होता।

शेष मतिज्ञान, जो स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधरूप हैं, और श्रुत ये सब परोक्ष हैं। अकलंकदेवने स्पष्ट कहा है—

‘विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है और वह मुख्य तथा संख्यव्यवहारकी अपेक्षा दो प्रकारका है। शेष स्मृति आदि जितने भी परापेक्ष ज्ञान हैं वे सब परोक्ष हैं। इसी भावको सूत्रकार आचार्य गृह्यपिच्छने ‘प्रमाणे’ [‘तत्प्रमाणे’—त. सू. १-१०] इस सूत्रगत द्विवचनात्मक ‘प्रमाण’ पदके प्रयोग द्वारा सभी ज्ञानोंका संग्रह किया है।’—लघोय. १-३।

स्मृति-विमर्श :

‘वह’ इस प्रकारके आकारको स्पर्श करनेवाली तथा अनुभूत पदार्थको जाननेवाली प्रतीतिका नाम स्मृति है।

शंका—मनःपूर्वक होनेसे स्मृति अनिन्द्रियप्रत्यक्ष है, क्योंकि वह सुखादिसंवेदनकी तरह विशद है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिमें विशदता लेशमात्र भी नहीं है। पुनः-पुनः भावना (चिन्तन) करनेवालेको विशदताकी प्रतीति होती है, क्योंकि वह भावना ज्ञानात्मक है। परन्तु वह स्वप्नज्ञानकी तरह भ्रान्त है। वास्तवमें जो पूर्वानुभूत अतीत पदार्थ है उसमें विशदता सम्भव ही नहीं, तब उस अतीत अर्थको विषय करनेवाली स्मृति विशद कैसे हो सकती है, अतः वह परोक्ष ही है।

शंका—श्रुत अथवा अनुमित अर्थमें होनेवाली स्मृति विशद हो सकती है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि ‘वह’ इस प्रकारके उल्लेखसे सभी स्मृतियोंका संग्रह है। अर्थात् स्मृति चाहे अनुभूतविषयक हो, चाहे श्रुतविषयक और चाहे अनुमितविषयक, सभीमें ‘वह’ का उल्लेख रहता है, अनुभूतविषयकमें ही नहीं।

यह स्मृति अविसंवादिनी होनेसे प्रत्यक्षकी ही तरह प्रमाण है। यदि किसी स्मृतिमें विसंवाद पाया जाता है तो वह स्मृत्याभास है, जैसे प्रत्यक्षाभास।

प्रत्यभिज्ञान-विमर्श :

‘वही यह है’ इस प्रकारके ज्ञानका नाम संज्ञा है। उसीको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। अथवा ‘उसी तरहका यह है’ इस प्रकारके ज्ञानका नाम भी संज्ञा है। यह एकत्व और सादृश्यको विषय करनेकी अपेक्षा दो प्रकारकी है। निश्चय ही प्रत्यभिज्ञा या

प्रत्यभिज्ञानके दो भेद हैं—१. एकत्वप्रत्यभिज्ञान और २. सादृश्यप्रत्यभिज्ञान । 'वही यह है' इस प्रकारके एकत्वविषयक ज्ञानको एकत्वप्रत्यभिज्ञान और 'उसीके समान यह है' इस प्रकारके सादृश्य-विषयक बोधको सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं ।

शंका—'वही' यह अतीतको विषय करनेवाला ज्ञान स्मृति है और 'यह' इस प्रकार होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः प्रत्यभिज्ञा स्मृति और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानात्मक ही है । इसी प्रकार 'उसीके समान है' यह ज्ञान स्मरण है तथा 'यह' इस प्रकारका वर्तमानविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष है, अतः यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी स्मरण और प्रत्यक्ष इन दो ज्ञानरूप है । इसलिए प्रत्यभिज्ञान नामका कोई एक पृथक् ज्ञान (प्रमाण) नहीं है ?

समाधान—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेवाला तथा अतीत तथा वर्तमान इन दो अवस्थाओंमें रहनेवाले एक द्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान उनसे पृथक् एक ज्ञान अच्छी तरह अनुभवमें आता है । स्पष्ट है कि 'वह' इस प्रकारका स्मरण उक्त एकद्रव्यको विषय नहीं करता, वह तो मात्र अतीत अवस्थाको ही विषय करता है । इसी प्रकार 'यह' इस तरहका ज्ञान भी उस एक द्रव्यको नहीं जानता, वह मात्र वर्तमान पर्यायको ही जानता है । किन्तु स्मरण और प्रत्यक्ष दोनोंसे उत्पन्न होनेवाला, जोड़रूप, दोनों पर्यायोंको लिये हुए द्रव्यका निश्चायक, एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञान उन दोनों ज्ञानोंसे जुदा ही है । उसका अपलाप करनेपर कहीं भी एकत्वान्वयकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी, यहाँ तक कि पूर्वोत्तर क्षणोंमें रहनेवाले सन्तानकी एकता भी सिद्ध नहीं हो सकेगी ।

शंका—प्रत्यभिज्ञान गृहीत अर्थको ही ग्रहण करता है, अतः गृहीतग्राही होनेसे अप्रमाण है ?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह कथंचित् अपूर्वार्थ (अगृहीत अर्थ) को जानता है । प्रकट है कि प्रत्यभिज्ञानका विषय एकद्रव्य है, वह न स्मरण द्वारा गृहीत होता है और न प्रत्यक्ष द्वारा, तब एकद्रव्यको विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान गृहीतग्राही कैसे माना जा सकता है, अर्थात् नहीं माना जा सकता । स्मरण द्वारा गृहीत अतीत पर्याय और प्रत्यक्ष द्वारा अवगत वर्तमान पर्याय इन दोनोंसे द्रव्यका तादात्म्य है, अतः उसे ग्रहण करनेवाले प्रत्यभिज्ञानको कथंचित् अपूर्वार्थविषयक होनेसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता । अन्यथा अनुमान आदि भी अप्रमाण कहे जावेंगे, क्योंकि वे भी सर्वथा अपूर्वार्थविषयक सिद्ध नहीं होते । सम्बन्ध- (व्याप्ति) ग्राही ज्ञानके विषय साध्यादिसामान्यसे अनुमानगम्य देशविशिष्ट अथवा कालविशिष्ट साध्यादिविशेष कथंचित् अभिन्न हैं और उन्हें विषय करनेसे अनुमान भी कथंचित् पूर्वार्थविषयक सिद्ध होता है । अतः जिस प्रकार अनुमान कथंचित् अपूर्वार्थग्राही होनेसे प्रमाण है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राहक होनेसे प्रमाण है ।

शंका—बाधक प्रमाण मौजूद होनेसे प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण नहीं माना जा सकता ?

समाधान—यह शंका अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानका बाधक कोई प्रमाण

नहीं है। न प्रत्यक्ष उसका बाधक है, क्योंकि उसकी उसके विषय (एकद्रव्य) में प्रवृत्ति नहीं है, तब वह साधककी तरह बाधक भी नहीं हो सकता। इसे यों समझना चाहिए—जिसकी जिसमें प्रवृत्ति नहीं है वह उसका न साधक होता है और न बाधक, जैसे रसज्ञान रूपज्ञानका न साधक है और न बाधक, और प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए वह उसका बाधक नहीं है। निश्चय ही प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञानके विषय—पूर्वदृष्ट और वर्तमानमें देखी जा रही इन दोनों पर्यायोंमें व्याप्त—द्रव्यमें प्रवृत्त नहीं होता, वह तो मात्र दृश्यमान पर्यायको ही विषय करता है। अतः हेतु असिद्ध नहीं है। इसी प्रकार अनुमान भी प्रत्यभिज्ञानका बाधक नहीं है, क्योंकि वह भी प्रत्यभिज्ञानके विषय (पूर्वोत्तर-पर्यायोंमें व्याप्त एक द्रव्य) में प्रवृत्त नहीं होता, उसकी प्रवृत्ति केवल अनुमेयमें होती है। कदाचित् उसकी प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रवृत्ति हो, तो वह बाधक नहीं होगा, प्रत्युत साधक होगा। अतः एकत्व-प्रत्यभिज्ञान अपने विषय एकद्रव्यमें प्रमाण है, क्योंकि कोई भी उसका बाधक नहीं है, जैसे प्रत्यक्ष अथवा स्मृति।

इसी तरह सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है, क्योंकि वह भी अपने विषयमें बाधकोंसे रहित है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष अपने विषय साक्षात् हो रहे पदार्थमें बाधाओंसे रहित है तथा स्मरण भी अपने अतीत विषयमें बाधरहित है उसी प्रकार सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी अपने विषय सादृश्यमें बाधाओंकी सम्भावनासे रहित है। तब उसे अप्रमाण कैसे माना जा सकता है। हाँ, जो प्रत्यभिज्ञान अपने विषयमें बाधित होता है वह अप्रमाण—प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे प्रत्यक्षाभास अथवा स्मरणाभास। और इसे अप्रमाण होनेपर सभी प्रत्यभिज्ञानोंको अप्रमाण कहना उचित नहीं है। अन्यथा प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जावेगा। इसलिए जिस प्रकार शुक्ल शंखमें होनेवाला पीतज्ञान-प्रत्यक्ष ही शुक्ल शंखमें हुए शुक्लज्ञानप्रत्यक्षके द्वारा बाधित होनेसे अप्रमाण है, किन्तु पीले सुवर्णादिमें होनेवाला पीतज्ञानप्रत्यक्ष अप्रमाण नहीं है। इसी प्रकार अपने उसी पुत्रमें ही 'यह उसके समान है', इस प्रकारका होनेवाला सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान 'वही यह है', इस प्रकारके एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञानसे बाधित होनेसे अप्रमाण है, किन्तु अपने पुत्रके समान ही किसी दूसरेके पुत्रमें 'वैसा ही यह है' इस प्रकारका होनेवाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है, क्योंकि वह किसी अन्य ज्ञानसे बाधित नहीं है। इसी तरह जिन नख, केश आदिको काट दिया गया है, किन्तु पुनः वे उत्पन्न हो गये हैं उनमें 'वही ये नख, केश आदि हैं' इस प्रकारका होनेवाला एकत्वविषयक प्रत्यभिज्ञान 'पुनः उत्पन्न ये नख, केश आदि पूर्वमें काटे गये नख, केश आदिके समान हैं' इस प्रकारके सादृश्यनिमित्तक अन्य प्रत्यभिज्ञानसे बाधित होनेसे अप्रमाण स्पष्ट ज्ञात होता है। किन्तु उनमें होनेवाला सादृश्यविषयक प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें कोई बाधा न होनेसे वह प्रमाण ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार पहले किसी देश-विशेषमें रखे रूपसे देखे गये चांदी आदि पदार्थमें हुए स्मरणसे अन्य देशमें रखे रूपसे होनेवाले चांदी आदिका स्मरण बाधित है, अतएव वह उस विषयमें प्रमाण नहीं है। किन्तु जिस देशमें रखे रूपसे चांदी आदि अनुभव हुआ था, उसी देशमें रखे रूपसे होनेवाला चांदी आदिका स्मरण प्रमाण है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि जिस ज्ञानसे वस्तुको जानकर उस (वस्तु) में प्रवृत्त हुए व्यक्तिको अर्थक्रिया (जलावगहनादि) में किंचित् भी विसंवाद (भ्रमादि) नहीं होता वह ज्ञान प्रमाण है, जैसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान, और स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञानसे वस्तुको जानकर प्रवृत्त हुए पुरुषको विसंवाद नहीं होता, इसलिए स्मरण और प्रत्यभिज्ञान दोनों प्रमाण हैं तथा अविशद होनेसे वे परोक्ष हैं, जैसे अनुमान । अथवा साध्य-साधनके सम्बन्ध (व्याप्ति) को ग्रहण करनेवाला तर्क ।

तर्क-विमर्श :

‘जितना धूम है वह सब अग्निसे ही उत्पन्न होता है, बिना अग्निके वह नहीं होता’ इस प्रकार समस्त देशों और समस्त कालोंकी व्याप्ति (अविनाभावरूप साध्य-तथा साधनके सम्बन्ध) को ग्रहण करनेवाला जो ऊहापोहरूप ज्ञान होता है वह तर्क है और उसे भी प्रमाण माना जाना चाहिए, क्योंकि वह भी कथंचित् अपूर्वार्थग्राही है । वह प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किये गये प्रतिनियत देश और प्रतिनियत कालके साध्य तथा साधन विशेषोंको ग्रहण न करनेके कारण गृहीतग्राही नहीं है । इसके अतिरिक्त उसमें कोई बाधक भी नहीं है । निश्चय ही प्रत्यक्ष तर्कका बाधक नहीं है, क्योंकि उसकी उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती, जैसे अनुमान । कदाचित् उसमें उसकी प्रवृत्ति हो भी, तो वह उसका साधक ही होगा, बाधक तो वह किसी भी तरह नहीं हो सकता । यदि कहीं वह बाधक हो, तो जिसका बाधक होगा वह तर्कभास (अप्रमाण) कहा जायेगा, उसे प्रमाण स्वीकार नहीं किया जावेगा । जैसे स्मरणाभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, प्रत्यक्षाभास अथवा अनुमानाभासको प्रमाण नहीं माना जाता ।

तर्कको प्रमाण इसलिए भी मानना आवश्यक है, क्योंकि उससे जाने गये पदार्थ (व्यप्तिसम्बन्ध) में प्रवृत्त ज्ञाताको उसकी अर्थक्रियामें कोई विसंवाद (भ्रमादि) नहीं होता, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान । यह तर्कज्ञान चूँकि अविशद होता है, अतएव वह अनुमानकी तरह परोक्ष है ।

अनुमान-विमर्श :

अब अनुमानका विचार किया जाता है, जिसे चार्वाकको छोड़कर प्रायः सभी दर्शनिकोंने स्वीकार किया है ।

साधन (हेतु) से जो साध्य (अनुमेय) का विशेष ज्ञान होता है वह अनुमान है । यहाँ साधन उसे कहा गया है जिसका साध्यके साथ अविनाभाव सुनिश्चित है । साधनके त्रैरूप्य आदि लक्षण साधनाभासमें भी पाये जाते हैं, अतः वे लक्षण सद्दोष लक्षण हैं । यहाँ इसीका स्पष्टीकरण किया जाता है ।

सांख्यों और बौद्धोंका मत है कि साधन वह है जो त्रिरूप अर्थात् त्रिलक्षण है । वे तीन रूप इस प्रकार हैं—१. सपक्षमें रहना, २. पक्षका धर्म होना और विपक्षसे ३. व्यावृत्त होना । इन तीन रूपोंसे सम्पन्न साधन ही साध्यका साधक होता है । किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिलक्षणमें साधनपना सिद्ध नहीं होता । ‘वह श्याम है, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह’ यह

साधनाभासका उदाहरण है। पर यहाँ भी वे तीनों रूप विद्यमान हैं। हेतु सपक्ष—अन्य पुत्रोंमें श्यामपनाके साथ मौजूद है, पक्ष—गर्भस्थ पुत्रमें भी वह पाया जाता है तथा विपक्ष—किसी अन्यके गौर पुत्रोंमें वह अविद्यमान है। इस तरह सपक्षसत्त्व, पक्षधर्मत्व और विपक्षासत्त्व ये तीनों रूप साधनाभासमें भी पाये जानेसे साधनके लक्षण नहीं हो सकते।

शंका—साध्यके न रहनेपर पूर्णतया साधनका अभाव न होनेसे उदाहरणगत साधन सम्यक् साधन नहीं है, क्योंकि उसीके गर्भस्थ सम्भावित गौर पुत्रमें भी हेतुका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान—तब तो साध्यकी निवृत्ति होनेपर सम्पूर्णतया साधनकी निवृत्तिके निश्चयरूप विपक्षासत्त्व (एकलक्षण) को ही साधन मानना चाहिए, सपक्षसत्त्व और पक्षधर्मत्व इन दो रूपोंको और मानना निरर्थक है। उसी साध्य-साधनकी विपक्षमें सम्पूर्ण निवृत्तिको ही स्याद्वादो अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयके रूपमें साधनका लक्षण बतलाते हैं, क्योंकि उसके सद्भावमें और पक्षधर्मत्वादिके अभावमें भी साधन अपने साध्यका साधक होता है। 'एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है' इत्यादि साधन पक्षधर्मताके अभावमें भी साध्यके गमक देखे जाते हैं। इसलिए पक्षधर्मता साधनका लक्षण नहीं है।

शंका—उक्त अनुमानमें आकाश अथवा काल धर्मी (पक्ष) है और उसमें उदय होनेवाले शकटका सद्भावरूप साध्य तथा कृत्तिकाके उदयका सद्भावरूप साधन दोनों विद्यमान रहते हैं, अतः 'कृत्तिकाका उदय' हेतु पक्षधर्म ही है—पक्षधर्मताके सद्भावमें ही वह साध्यका अनुमापक है ?

समाधान—इस प्रकारसे तो पृथ्वीको पक्ष बनाकर समुद्रमें अग्निके सद्भावरूप साध्यको सिद्ध करनेके लिए रसोईघरके धूमके सद्भावरूप साधनको भी कहा जा सकता है, क्योंकि वह भी पक्षधर्म है। फलतः महानसके धूमसे समुद्रमें अग्निका अनुमान हो जाय और इस तरह कोई भी हेतु अपक्षधर्म नहीं रहेगा—सभी हेतु (अर्थात् हेत्वाभास भी) पक्षधर्म हो जायेंगे।

शंका—बात यह है कि इस तरह साधनमें पक्षधर्मता सिद्ध हो जानेपर भी साध्यको सिद्ध करनेकी सामर्थ्य सभीमें नहीं हो सकती, क्योंकि सभीमें अविनाभावके नियमका निश्चय नहीं है। जिसका जिसके साथ अविनाभावके नियमका निश्चय है वही उसका हेतु है, अन्य नहीं ?

समाधान—तो फिर उसी अविनाभावके नियमके निश्चयको ही साधनका लक्षण मानना युक्त है, पक्षधर्मता आदिको नहीं—वह अप्रयोजक है।

शंका—शकटका उदय कृत्तिकाके उदयका भावी कारण है, क्योंकि उसका उसके साथ अन्वय तथा व्यतिरेक है। भविष्यमें होनेवाले शकटोदयके अपने कालमें होनेपर ही कृत्तिकाका उदय होता है और न होनेपर नहीं होता। इस प्रकार भावि शकटोदय और कृत्तिकोदयमें अन्वय और व्यतिरेकसे कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। जैसे अतीत और वर्तमानमें कार्यकारणभाव होता है। 'भरणीका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है' इस अनुमानमें अतीत भरणीका उदय कारण है और

कृत्तिकाका उदय उसका स्पष्टतया कार्य है, क्योंकि अतीत भरणीका उदय अपने कालमें होनेपर ही कृत्तिकाका उदय होता है और न होनेपर नहीं होता है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे उनमें कार्यकारणभाव सिद्ध है। इसी प्रकार भविष्यत् शकटोदय और वर्तमान कृत्तिकोदयरूप साध्य-साधनोंमें कार्यकारणभाव सिद्ध होता है। न्याय (युक्ति) दोनोंमें समान है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि एक कृत्तिकोदय कार्यके भावि और अतीत दो कारणोंका होना विरुद्ध है, क्योंकि दो भिन्न देशोंकी तरह दो भिन्न कालोंमें भी सहकारिता हो सकती है। एक साथ एक कार्यका करना सहकारितापर ही आधृत है, एक काल अथवा एक देशपर नहीं। यहाँ यह भी नहीं कि अतीत भरणी-उदय और भावि शकटोदय कृत्तिकोदयके उपादान कारण हैं क्योंकि पूर्ववर्ती कृत्तिकाका क्षण, जो उदयको प्राप्त नहीं है, उसका उपादान कारण सुनिश्चित है ?

समाधान—प्रज्ञाकरकी उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकारकी प्रतीति नहीं होती। जो कार्यके कालमें नहीं है, ऐसे अतीत और भाविको उसका कारण माननेपर अतीततम और भावितमको भी कारण होनेसे रोका नहीं जा सकता। यदि कहा जाय कि उनका कार्यके साथ सम्बन्धविशेष न होनेसे उन्हें कारण नहीं माना जा सकता है, तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिन्हें कारण कहा जा रहा है उन अतीत और भविष्यत्को कारण होनेमें वह सम्बन्धविशेष हेतु है। इसपर प्रश्न उठता है कि वह सम्बन्धविशेष क्या है ? क्योंकि अतीतका वर्तमान कार्यमें व्यापार सम्भव नहीं, वह कार्यके समयमें ही ही नहीं, जैसे भाविष्यत्। यदि कहा जाय कि 'उसके होनेपर उसका होना' सम्बन्धविशेष है, तो यह कथन भी दमदार नहीं है, क्योंकि अतीत और अनागतके अभावमें ही कार्य होता है, उनके सद्भावमें कार्य नहीं होता। अन्यथा कार्य और कारण दोनोंका एक काल हो जायेगा। फलतः समस्त सन्तान एकक्षणवर्ती हो जायेंगे। और एकक्षणवर्ती सन्तान नहीं हैं। सन्तान तो उसे कहा गया है जो भेदरहित नाना कार्यकारणक्षण हैं।

शंका—अतीत और अनागत कारणके अपने कालमें रहनेपर कार्य होता है और उसके न रहनेपर नहीं होता, इस प्रकार होनेपर होना अन्वय और न होनेपर न होना व्यतिरेक है, यह अन्वय-व्यतिरेकरूप सम्बन्धविशेष अतीत-अनागत कारण और वर्तमान कार्यमें विद्यमान है ही। अतः अतीत और अनागत भी कारण हो सकते हैं, कोई बाधा नहीं है ?

समाधान—उक्त कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिन्हें कारण नहीं माना जाता, उन अतीततम और अनागततममें भी उक्त प्रकारका अन्वय-व्यतिरेक पाये जानेसे कारणता स्वीकार करना पड़ेगी। अतः भिन्न कालवर्ती अतीत या अनागत पदार्थ कार्यका कारण नहीं हो सकता। किन्तु भिन्न देशवर्तीको कारण माननेमें कोई दोष नहीं है। उसके होनेपर कार्य होता है और न होनेपर नहीं होता। उदाहरणके लिए घट और कुम्हार आदिको लिया जा सकता है। कुम्हार आदिके अपने देशमें रहनेपर भिन्न देशमें घट उत्पन्न होता है और उनके न रहनेपर वह नहीं होता, क्योंकि कुम्हार आदि अपने देशमें रहते हुए ही घट आदिको बनाते हैं। पर जिसे कारण नहीं माना

जाता, ऐसे भिन्न देशवर्ती पदार्थका कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक नहीं है, क्योंकि उसका उसमें व्यापार नहीं है, जैसे अतीत और अनागतका कार्यमें व्यापार सम्भव नहीं है। यथार्थमें किसी विद्यमानका ही किसीमें व्यापार हो सकता है, जो है ही नहीं उसका व्यापार नहीं हो सकता, जैसे खरविषाणका व्यापार असम्भव है। अतः भिन्नदेशवर्ती तो कारण किसी कार्यमें व्यापार कर सकता है और इसलिए वह सहकारी कारण हो सकता है, किन्तु भिन्नकालवर्ती नहीं, क्योंकि वैसी प्रतीति ही नहीं होती। अतएव कृत्तिकोदय और शक्रटोदयमें कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। और न उनमें व्याप्य-व्यापकभाव भी बनता है। किसी तरह उनमें कार्यकारणभाव बन भी जाय, तथापि हेतु (कृत्तिकोदय) में पक्षधर्मता नहीं है और वह पक्षधर्मताके बिना भी साध्यका साधक होता है। अतः पक्षधर्मता हेतुका लक्षण नहीं है। इसी तरह हेतुमें सपक्षसत्त्वका निश्चय भी हेतुलक्षण नहीं है, क्योंकि उसके अभावमें भी समस्त पदार्थोंको अनित्य सिद्ध करनेके लिए कहे जानेवाले सत्त्व आदि साधनोंको स्वयं प्रज्ञाकरने सम्यक् हेतु बतलाया है। विपक्षासत्त्व (विपक्षमें न रहना) का निश्चय तो साध्याविनाभावरूप नियमके निश्चयरूप ही है, अतः उसे ही हेतुका प्रधान लक्षण मानना चाहिए, अन्य लक्षणोंको माननेसे क्या लाभ।

शंका—बात यह है कि हेतुके तीन दोष हैं—१. असिद्ध, २. विरुद्ध और ३. अनैकान्तिक। असिद्ध दोषके निराकरणके लिए हेतुमें पक्षधर्मताका निश्चय किया जाता है। विरुद्ध हेत्वाभासको निवृत्तिके लिए सपक्षसत्त्व आवश्यक है और अनैकान्तिक दोषके निरासके लिए विपक्षासत्त्वका निश्चय अनिवार्य है। यदि हेतुमें इन तीन रूपोंका अनिश्चय रहे, तो हेतुके उक्त असिद्धादि तीन दोषोंका परिहार नहीं हो सकता। अतः हेतुका त्रैरूप्य लक्षण सार्थक है। कहा भी है—

‘हेतुके तीन रूपोंका निश्चय असिद्ध, विरुद्ध और व्यभिचारी इन तीन दोषोंका निराकरण करनेके लिए प्रतिपादित किया गया है।’

समाधान—उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उक्त तीनों दोषोंका परिहार तो हेतुमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके निश्चयसे ही हो जाता है। जो हेतु असिद्ध होगा, उसमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार जो हेतु विरुद्ध या अनैकान्तिक होगा उसमें भी अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय नहीं हो सकता। साध्यके होनेपर ही हेतुका होना और साध्यके अभावमें हेतुका न होना तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय है। वह असिद्धके सम्भव ही नहीं। विरुद्ध तो साध्यके अभावमें ही होता है और अनैकान्तिक साध्यके अभावमें भी होता है। अतः असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक हेतुओंमें अन्यथानुपपत्तिरूप नियमका निश्चय नहीं है।

यदि कहा जाय कि उक्त तीनों रूप अविनाभावरूप नियमका विस्तार होनेसे हेतुके लक्षण हो सकते हैं, तो उसी आधारपर पाँचरूप्यको भी हेतुका लक्षण मानना चाहिए। स्पष्ट है कि पक्षव्यापकत्व (पक्षमें हेतुका रहना), अन्वय (सपक्षमें हेतुका होना), व्यतिरेक (विपक्षमें हेतुका न रहना), अबाधितविषयत्व (साध्यका प्रत्यक्षादिसे बाधित न होना) और असत्पक्षत्व (विरोधी दूसरे हेतुका न होना) ये पाँचों रूप

अविनाभावरूप नियमका विस्तार ही हैं, क्योंकि जो हेतु असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारो, बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष होगा उसमें अविनाभावरूप नियमका निश्चय नहीं हो सकता। दूसरे, यह आवश्यक नहीं है कि पक्षधर्मताके होनेपर ही हेतु सिद्ध हो, जिससे असिद्धको व्यावृत्ति करनेके लिए उसे (पक्षधर्मताको) हेतुका लक्षण कहा जाय, क्योंकि जो (कृत्तिकोदयादि) हेतु पक्षमें नहीं रहते वे भी सिद्ध (गमक) माने जाते हैं। इसी तरह सपक्षसत्त्व भी जरूरी नहीं है, जिससे विरुद्धका निरास करनेके लिए उसे हेतुलक्षण माना जाय, क्योंकि 'सभी वस्तुएँ अनेकान्त स्वरूप हैं, क्योंकि वे सत् हैं' इत्यादि अनुमानोंमें सपक्षसत्त्वके अभावमें भी हेतु विरुद्ध हेत्वाभास नहीं है। जैसे बौद्ध स्वयं सब पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेके लिए दिये गये सत्त्व आदि हेतुओंको सपक्ष सत्त्वके अभावमें भी विरुद्ध नहीं मानते—उन्हें समोचीन हेतु मानते हैं। इसी प्रकार विपक्षव्यावृत्ति-सामान्यके होनेपर भी अनैकान्तिकका निरास नहीं होता, क्योंकि 'गर्भमें स्थित पुत्र श्याम होगा, क्योंकि उसका पुत्र है' आदि हेतुओंमें विपक्षव्यावृत्तिसामान्यके होने पर भी व्यभिचार देखा जाता है। यदि कहा जाय कि विपक्षव्यावृत्तिविशेषका होना जरूरी है, तो वही तो अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) है। अतः उक्त तीन रूप अविनाभावका विस्तार नहीं हैं। यदि कहें कि उन तीन रूपोंके होनेपर हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व देखा जाता है, अतः वे अविनाभावका विस्तार हैं, तो काल, आकाश आदि पदार्थोंको भी अविनाभावका विस्तार मानिए, क्योंकि उनके होनेपर ही हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व देखा जाता है। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि काल, आकाश आदि पदार्थ तो सर्व सामान्य हैं, वे अविनाभावका विस्तार नहीं हैं, क्योंकि यह तर्क तो पक्षधर्मत्व आदि रूपोंमें भी समान है, कारण कि वे भी हेतु-अहेतु रूपोंमें पाये जाते हैं। अतः हेतुका असाधारण लक्षण बतलाना ही युक्त है और वह अन्यथानुपपन्नत्व ही हेतुका असाधारण लक्षण है, उसे ही स्वीकार करना चाहिए। इसी बातको कहा भी है—

‘जिस हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व (अन्यथा—साध्यके अभावमें अनुपपन्नत्व—नहीं होना, अविनाभाव) है वही सच्चा हेतु है, उसमें त्रैरूप्य रहे, चाहे न रहे, तथा जिसमें अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वह सच्चा हेतु नहीं है, उसमें त्रैरूप्य रहनेपर भी वह बेकार है।’

यहाँ इन दोनों (अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भाव और असद्भाव) स्थलोंके उदाहरण उपस्थित हैं—

१. ‘एक मूहूर्तके बाद शकट नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय है।’ इस सद् अनुमानमें कृत्तिकोदय हेतु शकट नामक पक्षमें नहीं रहता, अतः उसमें पक्षधर्मत्व नहीं है। पर कृत्तिकोदयका शकटोदय साध्यके साथ अन्यथानुपपन्नत्व होनेके कारण वह गमक है और सद्धेतु है।

२. ‘गर्भस्थ मैत्रीपुत्र श्याम होगा, क्योंकि वह मैत्रीका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह।’ इस असद् अनुमानमें मैत्रीपुत्र हेतुमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षसत्त्व तीनों रूप विद्यमान हैं। परन्तु मैत्रीपुत्रत्व हेतुका श्यामत्व साध्यके साथ अविनाभाव नहीं है और इसलिए मैत्रीपुत्रत्व हेतु श्यामत्व साध्यका गमक नहीं है और न सद्धेतु है।

अतः सर्वत्र हेतुओंमें अन्यथानुपपन्नत्वके सद्भावसे गमकता और उसके असद्भावसे अगमकता है।

उपर्युक्त विवेचनसे योगों (नैयायिक और वैशेषिकों) द्वारा स्वीकृत पाँच रूप भी अविनाभावका विस्तार नहीं हो सकते, क्योंकि उनके रहनेपर भी अविनाभाव-रूप नियम नहीं देखा जाता। पक्षधर्मत्व (पक्षव्यापकत्व), सपक्षसत्त्व (अन्वय) और विपक्षासत्त्व (व्यतिरेक) इन तीनों रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रति-पक्षत्व इन दो रूपोंको और मिलाकर पाँच रूप कहे गये हैं। 'वह (गर्भस्थ पुत्र) श्याम होगा, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें, जो असद् अनुमान है, 'उसका पुत्र' हेतुके विषय (साध्य) श्यामत्वका बाधक प्रत्यक्षादि कोई प्रमाण न होनेसे हेतु अबाधितविषय होनेपर भी अविनाभावरूप नियमके अभावसे गर्भस्थ पुत्रके अश्याम होनेकी सम्भावनासे व्यभिचारी है। तथा गर्भस्थ पुत्रमें अश्यामपनाको सिद्ध करनेवाला प्रतिपक्षी दूसरा अनुमान न होनेसे हेतु असत्प्रतिपक्ष भी है, किन्तु व्यभिचारी होनेसे उसमें अविनाभावका अभाव पाया जाता है। अतः पाँच रूप हेतुके लक्षण नहीं हैं। अतएव यहाँ भी यह कहना चाहिए कि—

‘जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व है वहाँ पाँच रूपोंकी क्या आवश्यकता है और जहाँ अन्यथानुपपन्नत्व नहीं है वहाँ पाँच रूप रहकर भी कुछ नहीं कर सकते—व्यर्थ हैं।’

इस प्रकार अन्यथानुपपत्तिरूप नियमके निश्चयको ही हेतुका एक प्रधान लक्षण स्वीकार करना चाहिए, उसके होनेपर त्रिलक्षण और पंचलक्षणका प्रयोग हम नहीं रोकते, क्योंकि प्रयोगशैली प्रतिपाद्योंके अनुसार सत्पुरुषों द्वारा स्वीकार की गयी है। यही कुमारनन्दि भट्टारकने भी कहा है—

‘अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका एक लक्षण है। किन्तु अवयवों (प्रतिज्ञा, हेतु आदि) का प्रयोग प्रतिपद्योंकी आवश्यकतानुसार स्वीकार किया गया है ॥ [२-११८]

हेतु-भेद :

उपर्युक्त एकलक्षण हेतु सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारका होकर भी विशेषकी अपेक्षासे अतिसंक्षेपमें दो प्रकारका है—१. विधिसाधन और २. प्रतिषेधसाधन। उनमें विधिसाधनके तीन भेद कह गये हैं—१. कार्य हेतु, २. कारण हेतु और ३. अकार्य-कारण हेतु। अन्य सम्भव हेतुओंका इन्हीं तीनोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। अतः वे इनसे अतिरिक्त नहीं हैं।

१. कार्य हेतु—जहाँ कार्यसे कारणका अनुमान किया जाता है वह कार्यहेतु है। जैसे ‘यहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है।’ यहाँ धूम कार्यसे अग्नि कारणका अनुमान किया जाता है। अतः ‘धूम’ कार्य हेतु विधिसाधन हेतु है। कार्य-कार्य आदि परम्पराकार्य-हेतुओंका इसीमें समावेश है।

२. कारण हेतु—जहाँ कारणसे कार्यका अनुमान किया जाता है वह कारण हेतु कहलाता है। जैसे ‘यहाँ छाया है, क्योंकि छत्र है।’ यहाँ छत्र कारणसे छाया कार्यका अनुमान किया जाता है। अतः ‘छत्र’ कारण हेतु विधिसाधन हेतु है। कारण-कारण आदि परम्पराकारणहेतुओंका इसीमें अन्तर्भाव हो जाता है।

३. अकार्यकारण हेतु—जो न किसीका कार्य है और न कारण है उससे जहाँ अकार्यकारणरूप साध्यकी सिद्धि की जाती है वह अकार्यकारण विधिसाधन हेतु है। इसके चार भेद हैं—१. व्याप्य, २. सहचर, ३. पूर्वचर और ४. उत्तरचर। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं। १. व्याप्य हेतु—जहाँ व्याप्यसे व्यापकका अनुमान किया जाता है। जैसे—‘सब वस्तुएँ अनेकान्तस्वरूप हैं क्योंकि वे सत् हैं।’ सत् वस्तु होती है, क्योंकि ‘उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है’, ऐसा सूत्रकार गृद्धपिच्छका वचन है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुके एक धर्मके साथ, जो सुनयका विषय है, सत्त्व हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वह वस्तुका अंश है और जो वस्तुका अंश है वह पूर्ण सत् नहीं है। २. सहचर हेतु—जहाँ साथमें रहनेवाले एकसे दूसरे साथमें रहनेवालेका अनुमान किया जाता है। जैसे ‘आगमें स्पर्शसामान्य है, क्योंकि उसमें रूपसामान्य है।’ यहाँ स्पर्शसामान्य रूपसामान्यका न कार्य है न कारण है।

इसी प्रकार रूपसामान्य भी स्पर्शसामान्यका न कार्य है और न कारण है, क्योंकि वे दोनों हमेशा सब जगह एक कालमें एक साथ होनेके कारण सहचारी हैं। इसी विवेचनसे एकसामग्रीसे होनेवाले तथा साध्यके समकालवर्ती संयोगी और एकार्थ-समवायी भी सहचर जानना चाहिए। जैसे समवायीमें कारणता है। ३. पूर्वचर—जहाँ पूर्ववर्तीसे उत्तरवर्तीका अनुमान किया जाता है, जैसे—‘शकटका एक मुहूर्त बाद उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है।’ यहाँ कृत्तिकाका उदय पूर्ववर्ती है और शकटका उदय उत्तरवर्ती। अतः कृत्तिकाका उदय पूर्वचर हेतु है। पूर्वपूर्वचर आदि परम्परापूर्वचरहेतुओंका इसीमें संग्रह हो जाता है। ४. उत्तरचर—जहाँ उत्तरवर्तीसे पूर्ववर्तीका अनुमान किया जाता है। जैसे—‘भरणी नक्षत्रका उदय हो चुका है, क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है।’ यहाँ उत्तरवर्ती कृत्तिकाके उदयसे पूर्ववर्ती भरणीके उदयका अनुमान किया जाता है। अतः कृत्तिकाका उदय उत्तरचर हेतु है। उत्तरोत्तरचर आदि परम्पराउत्तरचरहेतुओंका इसी हेतुमें समावेश हो जाता है।

इस प्रकार ये छह हेतु सद्भावरूप साध्यको सिद्ध करते हैं और स्वयं भी सद्भावरूप हैं। इसलिए ये विधिसाधक-विधिसाधन हेतु कहे जाते हैं।

प्रतिषेधरूप साध्यको सिद्ध करनेवाले विधिरूप विधिसाधन अर्थात् प्रतिषेध-साधक-विधिसाधन हेतुके भी तीन भेद हैं—१. विरुद्ध कार्य, २. विरुद्ध कारण और ३. विरुद्ध अकार्यकारण। ये तीनों हेतु प्रतिषेध्य साध्यसे विरुद्ध होनेके कारण प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन कहे जाते हैं। इनके उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

१. विरुद्ध कार्य—‘यहाँ ठंडा स्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम पाया जाता है।’ स्पष्ट है कि ठंडे स्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है, उसका कार्य धूम है। उसके सद्भावसे ठंडे स्पर्शका अभाव सिद्ध होता है।

२. विरुद्ध कारण—‘इस पुरुषके असत्य नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है।’ प्रकट है कि असत्यसे विरुद्ध सत्य है, उसका कारण सम्यग्ज्ञान है। राग-द्वेषरहित यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। वह उसके किसी यथार्थ कथन आदिसे सिद्ध होता हुआ सत्यको सिद्ध करता है और वह भी सिद्ध होता हुआ असत्यका प्रतिषेध करता है।

३. विरुद्धाकार्यकारण—इसके चार भेद हैं—१. विरुद्ध व्याप्य, २. विरुद्ध सहचर, ३. विरुद्ध पूर्वचर और ४. विरुद्ध उत्तरचर ।

१. विरुद्ध व्याप्य—‘यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है ।’ यहाँ निश्चय ही शीतस्पर्शसे विरुद्ध अग्नि है और उसका व्याप्य उष्णता है ।

२. विरुद्ध सहचर—‘इसके मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन है ।’ यहाँ मिथ्याज्ञानसे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है और उसका सहचर (सहभावी) सम्यग्दर्शन है ।

३. विरुद्ध पूर्वचर—‘मुहूर्तान्तमें शकटका उदय नहीं होगा, क्योंकि रेवतीका उदय है ।’ यहाँ शकटोदयसे विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतीका उदय है ।

४. विरुद्धोत्तरचर—‘एक मुहूर्त पूर्व भरणीका उदय नहीं हुआ, क्योंकि पुष्यका उदय है ।’ भरणीके उदयसे विरुद्ध पुनर्वसुका उदय है और उसका उत्तरचर पुष्यका उदय है ।

ये छह साक्षात्प्रतिषेध्यसे विरुद्ध कार्यादि हेतु विधिद्वारा प्रतिषेधको सिद्ध करनेके कारण प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन हेतु कहे गये हैं ।

परम्परासे होनेवाले कारणविरुद्धकार्य, व्यापकविरुद्धकार्य, कारण-व्यापक-विरुद्धकार्य, व्यापककारणविरुद्धकार्य, कारणविरुद्धकारण, व्यापकविरुद्धकारण, कारणव्यापकविरुद्धकारण और व्यापककारणविरुद्धकारण तथा कारणविरुद्ध-व्याप्यादि और कारणविरुद्धसहचरादि हेतु भी प्रतीत्यनुसार कहे जाना चाहिए । उनके भी उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. कारणविरुद्धकार्य—‘इसके शीतजनित रोमहर्षादिविशेष नहीं हैं, क्योंकि धूम है ।’ यहाँ प्रतिषेध्य रोमहर्षादिविशेषका कारण शीत है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है ।

२. व्यापकविरुद्धकार्य—‘यहाँ शीतस्पर्शसामान्यसे व्याप्त शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है ।’ निषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका विरोधी अनल है, उसका कार्य धूम है ।

३. कारणव्यापकविरुद्धकार्य—‘यहाँ हिमसामान्यसे व्याप्त हिमविशेषजनित रोमहर्षादि नहीं है, क्योंकि धूम है ।’ रोमहर्षादिविशेषका कारण हिमविशेष है, उसका व्यापक हिमसामान्य है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है ।

४. व्यापककारणविरुद्धकार्य—‘यहाँ शीतस्पर्शविशेषव्यापक शीतस्पर्शसामान्यके कारण हिमसे होनेवाला शीतस्पर्शविशेष नहीं है, क्योंकि धूम है ।’ प्रतिषेध्य शीतस्पर्शविशेषका व्यापक शीतस्पर्शसामान्य है, उसका कारण हिम है, उसका विरोधी अग्नि है, उसका कार्य धूम है ।

५. कारणविरुद्धकारण—‘इसके मिथ्याचरण नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है ।’ मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है ।

६. व्यापकविरुद्धकारण—‘इसके आत्मामें मिथ्याज्ञान नहीं है, क्योंकि

तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' मिथ्याज्ञानविशेषका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी सत्यज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है,

७. कारणव्यापकविरुद्धकारण—'इसके मिथ्याचरण नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' यहाँ मिथ्याचरणका कारण मिथ्याज्ञानविशेष है, उसका व्यापक मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है।

८. व्यापककारणविरुद्धकारण—'इसके मिथ्याचरणविशेष नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थोपदेशका ग्रहण है।' मिथ्याचरणविशेषका व्यापक मिथ्याचरणसामान्य है, उसका कारण मिथ्याज्ञान है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञान है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है

९. कारणविरुद्धव्याप्य—'सर्वथैकान्तवादीके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य नहीं हैं, क्योंकि विपरीत मिथ्यादर्शनविशेष है।' प्रशमादिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शनसामान्य है, उससे व्याप्य विपरीतमिथ्यादर्शनविशेष है।

१०. व्यापकविरुद्धव्याप्य—'स्याद्वादीके विपरीतादि मिथ्यादर्शनविशेष नहीं हैं, क्योंकि सत्यज्ञानविशेष है।' विपरीतादि मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वज्ञानसामान्य है, उसका व्याप्य सत्यज्ञानविशेष है।

११. कारणव्यापकविरुद्धव्याप्य—'इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञानविशेष है।' प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष है, उसका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्याज्ञानसामान्य है, उसका व्याप्य मिथ्याज्ञानविशेष है।

१२. व्यापककारणविरुद्धव्याप्य—'इसके तत्त्वज्ञानविशेष नहीं है, क्योंकि मिथ्याार्थोपदेशका ग्रहण है।' तत्त्वज्ञानविशेषोंका व्यापक तत्त्वज्ञानसामान्य है, उसका कारण तत्त्वार्थोपदेशग्रहण है, उसका विरोधी मिथ्याार्थोपदेशग्रहणसामान्य है, उससे व्याप्त मिथ्याार्थोपदेशग्रहणविशेष है।

१३. कारणविरुद्धसहचर—'इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञान है।' प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शन है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१४. व्यापकविरुद्धसहचर—'इसके मिथ्यादर्शनविशेष नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान है।' मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका विरोधी तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

१५. कारणव्यापकविरुद्धसहचर—'इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि मिथ्याज्ञान है।' प्रशम आदिका कारण सम्यग्दर्शनविशेष हैं, उनका व्यापक सम्यग्दर्शनसामान्य है, उसका विरोधी मिथ्यादर्शन है, उसका सहचर मिथ्याज्ञान है।

१६. व्यापककारणविरुद्धसहचर—'इसके मिथ्यादर्शनविशेष नहीं हैं, क्योंकि

सत्यज्ञान है।' मिथ्यादर्शनविशेषोंका व्यापक मिथ्यादर्शनसामान्य है, उसका कारण दर्शनमोहोदय है, उसका विरोधी सम्यग्दर्शन है, उसका सहचर सम्यग्ज्ञान है।

इस प्रकार साक्षात् विरोधी ६ और परम्पराविरोधी १६, कुल २२ विरोधी हेतु, जिन्हें प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन कहा जाता है, जानना चाहिए। ये सभी हेतु अन्यथानुपपत्तिनियमके बलसे अभूत—असद्भाव—प्रतिषेधके गमक हैं और स्वयं भूत—सद्भाव—विधिरूप हैं। अतः इन विरोधी लिंगोंको 'अभूतभूत' भी कहा गया है। विधिसाधकविधिरूप हेतुके पूर्वोक्त कार्यादि ६ भेदोंको, जिन्हें 'भूत-भूत' कहा जाता है, क्योंकि वे स्वयं सद्भावरूप होकर सद्भावरूप साध्यके साधक हैं, उक्त २२ भेदोंमें मिलानेपर हेतुके प्रथम भेद विधिसाधन (उपलब्धि) के कुल २८ भेद हैं। इस तरह विधिसाधनके विधिसाधक और विधिप्रतिषेधक इन दो भेदोंका कथन किया गया। विधिसाधकको 'भूत-भूत' और विधिप्रतिषेधकको 'अभूत-भूत' नामोंसे भी वर्णित किया गया है।

अब हेतुके दूसरे भेद प्रतिषेधसाधन (अनुपलब्धि) के भी विधिसाधक-प्रतिषेध-साधन और प्रतिषेधसाधक-प्रतिषेधसाधन इन दो भेदोंका कथन किया जाता है। प्रथमको भूत-अभूत और द्वितीयको अभूत-अभूत कहा गया है। यहाँ ध्यातव्य है कि विद्यानन्दने कणादके द्वारा कथित लिंगके भूत-भूत, अभूत-भूत और भूत-अभूत इन तीन भेदोंके साथ समन्वय किया है और अभूत-अभूत नामक चौथे नये भेदको स्वीकार कर हेतुके चार भेदोंका निर्देश किया है।

विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन हेतु (भूत-अभूत)—

जिन हेतुओंका साध्य सद्भाव (भूत) रूप और साधन निषेध (अभूत) रूप हो उन्हें विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन (भूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा—

१. विरुद्धकार्यानुपलब्धि—इस प्राणीके व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है।

२. विरुद्धकारणानुपलब्धि—सर्वथा एकान्तवादका कथन करनेवालोंके अज्ञानादि दोष हैं, क्योंकि उनके युक्ति और शास्त्रसे अविरोधी वचन नहीं है।

३. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि—इस मुनिके आप्तत्व है, क्योंकि विसंवादी नहीं है।

४. विरुद्धसहचरानुपलब्धि—इस तालफलकी पतनक्रिया हो चुकी है, क्योंकि डंठलके साथ संयोग नहीं है।

इसी प्रकार और भी जानना चाहिए।

विधिप्रतिषेधक-प्रतिषेधसाधन हेतु (अभूत-अभूत)—

जिनमें साध्य भी निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो और साधन भी निषेध (अभूत—अभाव) रूप हो उन्हें विधिप्रतिषेधक-प्रतिषेधसाधन (अभूत-अभूत) हेतु कहते हैं। यथा—

१. कार्यानुपलब्धि—इस शवशरीरमें बुद्धि नहीं है, क्योंकि विशिष्ट चेष्टा, वार्तालाप और विशिष्ट आकारकी उपलब्धि नहीं होती। बुद्धिका कार्य विशिष्ट चेष्टा

आदि है, उसको शवशरीरमें उपलब्धि नहीं है, अतः उससे बुद्धिका अभाव सिद्ध किया गया है ।

२. कारणानुपलब्धि—इसके प्रशम आदि नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वार्थश्रद्धानुपलब्धि नहीं होता । यहाँ प्रशम आदिका कारण तत्त्वार्थश्रद्धानुपलब्धिसे प्रशमादिका अभाव सिद्ध किया है ।

३. व्यापकानुपलब्धि—यहाँ शिशपा नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है । यहाँपर शिशपाके व्यापक वृक्षकी अनुपलब्धिसे शिशपा व्याप्यका अभाव सिद्ध किया गया है ।

४. सहचरानुपलब्धि—इसके तत्त्वज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है । यहाँपर तत्त्वज्ञानके सहचर सम्यग्दर्शनकी अनुपलब्धिसे तत्त्वज्ञानका अभाव अनुमानित किया गया है ।

५. पूर्वचरानुपलब्धि—एक मुहूर्तके अन्तमें शकटका उदय नहीं होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं है । यहाँ शकटके पूर्वचर कृत्तिकाके उदयकी अनुपलब्धिसे शकटोदयके अभावका अनुमान किया गया है ।

६. उत्तरचरानुपलब्धि—एक मुहूर्त पहले भरणिका उदय नहीं हुआ, क्योंकि कृत्तिकाका उदय नहीं है । यहाँ भरणिके उत्तरचर कृत्तिकाके उदयकी अनुपलब्धिसे भरणिके उदयका अभाव बोधित किया गया है ।

इसी प्रकार कारणकारणानुपलब्धि, व्यापकव्यापकानुपलब्धि आदि परम्परा-प्रतिषेधसाधक-प्रतिषेधसाधन हेतुओंको भी जान लेना चाहिए ।

यहाँ ग्रन्थकारने इस समस्त निरूपणकी सम्पुष्टिके लिए पूर्वाचार्योंकी हेतुभेदोंकी संग्राहिका सात कारिकाएँ प्रस्तुत की हैं । उनका अर्थ इस प्रकार है—

‘कार्य, कारण, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचरके भेदसे लिंग (विधिसाधक-विधिसाधन) छह प्रकारका है, जो भूत (सद्भाव) रूप होकर भूत (सद्भाव) का साधक होता है और जिसमें लिंगका लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व निश्चित रूपमें रहता है । ये छहों हेतु भूतभूत हैं ॥१॥

प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन लिंगके साक्षात्की अपेक्षा विरुद्ध कार्य, विरुद्ध कारण, विरुद्ध व्याप्य, विरुद्ध सहचर, विरुद्ध पूर्वचर और विरुद्ध उत्तरचर ये छह भेद बतलाये गये हैं, जो अभूत (अभाव) रूप साध्यके साधक और स्वयं भूत (सद्भाव—विधि) रूप हैं और इसलिए वे अभूतभूत कहे जाते हैं ॥२॥

परम्पराकी अपेक्षा इस हेतुके कार्य, कारण, व्याप्य और सहचारी ये चार भेद करके उनके प्रत्येकके चार-चार भेद बतलाये हैं ॥३॥

जिनके उदाहरण कारणविरुद्धकार्य, व्यापकविरुद्धकार्य, कारणव्यापकविरुद्धकार्य, व्यापककारणविरुद्धकार्य आदिके रूपमें ज्ञातव्य हैं । इस प्रकार इस हेतुके परम्परा भेद १६ हैं । इनमें इसी हेतुके पूर्वोक्त साक्षात् ६ भेदोंको सम्मिलित करनेपर इसके कुल २२ भेद कहे गये हैं ॥४॥

जिसमें अन्यथानुपपत्ति हो वही हेतु है, और ऊपर कहे गये सभी हेतु अन्यथानुपपत्तिसे युक्त हैं । तथा इस अभूत-भूत (प्रतिषेधसाधक-विधिसाधन) के और भी इसी तरहके भेद जनना चाहिए ॥५॥

भूत (सद्भाव—विधि) के साधक अभूत (प्रतिषेध) रूप साधनके भी मनोषियोंने अनेक भेद कहे हैं। अर्थात् भूत-अभूतके, जिसे विधिसाधक-प्रतिषेधसाधन कहा जाता है, अनेक भेद हैं। इसी प्रकार अभूत (असद्भाव) के साधक अभूत (प्रतिषेध) रूप अर्थात् अभूत-अभूत साधनके भी अनेक भेद हैं, जिन्हें उदाहरणों द्वारा यथायोग्य समझ लेना चाहिए ॥६॥

इस प्रकार लिंगके संक्षेपमें उपर्युक्त (भूत-भूत, भूत-अभूत, अभूत-भूत और अभूत-अभूत) चार भेद कहे गये हैं तथा अतिसंक्षेपमें उपलम्भ और अनुपलम्भ ये दो भेद प्रतिपादित किये हैं ॥७॥

उपर्युक्त विवेचनसे बौद्धों द्वारा कार्य, स्वभाव और अनुपलम्भके भेदसे तीन ही प्रकारके हेतुओंको माननेका नियम निरस्त हो जाता है, क्योंकि सहचर आदि भी पूर्वोक्त प्रकारसे अतिरिक्त हेतु सिद्ध होते हैं। इसी तरह नैयायिकों द्वारा प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाले अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीन भेदोंका स्वीकार भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उन्हें भी पूर्वोक्त सहचर आदि हेतु मानना अनिवार्य है।

यदि कहा जाय कि अक्षपाद गौतमके न्यायसूत्रगत (१।१।५) सूत्रका त्रिसूत्रीकरण करनेसे इस प्रकार व्याख्यान किया जा सकता है कि पूर्ववत्-शेषवत् केवलान्वयि, पूर्ववत्-सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकि और पूर्ववत्-शेषवत्-सामान्यतोदृष्ट अन्वयव्यतिरेकि हेतु हैं, अतः उक्त दोष सम्भव नहीं है, तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ऊपर कहे हेतुओंमें त्रैविध्य भी सम्भव है। अर्थात् उक्त हेतुओंको केवलान्वयि आदि तीन रूप भी माना जा सकता है। केवलान्वयि हेतुमें तथोपपत्तिका नियम पाये जानेसे गमकताका कोई विरोध नहीं है। यही बात केवलव्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकि हेतुओंमें भी समझना चाहिए।

यदि उक्त सूत्रकी यह व्याख्या करें कि कारणसे कार्यका अनुमान करना पूर्ववत् है, कार्यसे कारणका अनुमान शेषवत् है और अकार्यकारणसे अकार्यकारणका अनुमान सामान्यतोदृष्ट है, क्योंकि सामान्यतः उनमें अविनाभाव है, तो वह भी हमें अभिमत है, क्योंकि हम पहले ही संक्षेपमें उक्त सभी हेतुओंका संग्रह प्रतिपादन कर आये हैं।

अगर उसकी यह व्याख्या करें कि लिंग-लिंगीसम्बन्धका कहीं निश्चय करके अन्यत्र प्रवृत्त होनेवाला हेतु पूर्ववत् है, प्रसक्तका निषेध करके शेषका अनुमान करनेवाला शेषवत् है, जिसे परिशेषानुमान भी कहा गया है और किसी विशिष्ट व्यक्तिमें सम्बन्ध (व्याप्ति) के ग्रहणपूर्वक सामान्यतः देखना सामान्यतोदृष्ट है, 'जैसे सूर्य गतिमान् है, क्योंकि एक देशसे दूसरे देशमें प्राप्ति होती है, देवदत्तकी तरह', तो यह व्याख्या भी स्याद्वादियोंके लिए तिरस्कृत नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा पूर्वोक्त हेतुओंके विस्तारका ही विशेष प्रकाशन होता है। निश्चय ही सभी हेतु पूर्ववत् ही हैं, क्योंकि शेषवत् भी पूर्ववत् सिद्ध होता है। जो प्रसक्तका प्रतिषेध है वह परिशेषकी प्रतिपत्तिका अविनाभावी है। उसका पहले कहीं निश्चय किया जाता है तभी वह अन्यत्र साध्य (परिशिष्ट) की सिद्धिमें साधनके रूपमें प्रयुक्त होता है। सामान्य-

तोदृष्ट पूर्ववत् अनुमान है, क्योंकि गतिकी अविनाभाविनी ही देशान्तरप्राप्ति देवदत्त आदिमें देखी जाती है। यदि वह गतिकी अविनाभाविनी न हो, तो वह अनुमान ही नहीं हो सकता। इसी तरह सभी हेतु शेषवत् ही हैं, यह भी कहा जा सकता है, क्योंकि धूमसे अग्निका अनुमान करने रूप पूर्ववत् भी प्रसक्त अनग्निका निषेध करके प्रवृत्त होता है। यदि अनग्निकी प्रसक्ति न हो तो अग्निमें विवाद न होनेसे अनुमान व्यर्थ हो जायगा। तथा देशान्तरप्राप्तिसे सूर्यमें गतिका अनुमान करने रूप सामान्य-तोदृष्ट भी सूर्यमें प्रसक्त अगतिका निषेध करनेसे शेषवत् सिद्ध होता है। अथवा सभी हेतु सामान्यतोदृष्ट ही हैं, क्योंकि सभी अनुमानोंमें सामान्यसे ही लिंग और लिंगीके सम्बन्ध (अविनाभाव) का ज्ञान किया जाता है, विशेषरूपसे उसका ज्ञान नहीं किया जा सकता। कुछ विशेषताकी दृष्टिसे हेतुभेद माने जायें, तो हमें उसमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकारसे हेतुभेदोंकी कल्पना की जा सकती है। हमारा तात्पर्य इतना ही है कि हेतुका प्रयोजक तत्त्व अन्यथानुपपन्नत्वके नियमका निश्चय ही है, उसके होनेपर ही प्रतिपत्ता (अनुमाता) अपने भिन्न अभिप्रायवश हेतुभेदोंकी कल्पनाको अनेक प्रकारकी मान सकता है, उसके अभावमें नहीं। अन्यथा वे हेतु न कहे जाकर हेत्वाभास कहे जायेंगे। यह हमारा सुनिश्चित मत है। उसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है।

सांख्य अवीत, वीत और वीतावीत ये तीन हेतुके भेद मानते हैं, सो वे भी अन्यथानुपपन्नत्वके नियमके निश्चयका अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित नहीं होते और न वे उपर्युक्त हेतुभेदोंसे अतिरिक्त हैं। नैयायिकोंके सिद्धान्तानुसार केवलान्वयी आदि तीन हेतुओंके रूपमें ही उनका कथन है। किसी एक जगह साध्यधर्म और साधनधर्मके अविनाभावनियमरूप साहचर्यको ज्ञातकर दूसरी जगह साधनधर्मको देखकर साध्यधर्मका ज्ञान करना अवीतानुमान है। जैसे—गुण और गुणी परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न ज्ञानोंका विषय हैं, घट और पटकी तरह। सो यह केवलान्वयी कहा जाता है। यथार्थमें कथंचित् भेदको ही साध्य बनानेपर हेतुमें अन्यथानुपपन्नत्व सिद्ध होता है, सर्वथा भेदको साध्य बनानेपर तो गुण-गुणीभावका विरोध होनेसे हेतु गमक नहीं हो सकता।

किसी स्थानमें एक धर्म (साध्य) की व्यावृत्ति (अभाव) होनेपर दूसरे धर्म (साधन) की व्यावृत्ति (अभाव) को अविनाभावनियमसे सहित ज्ञातकर अन्य स्थानमें उस धर्म (साधन) के निश्चयसे साध्यको सिद्ध करना वीतानुमान है। जैसे—‘जीवित शरीर आत्मसहित है, क्योंकि उसमें प्राणादि पाये जाते हैं।’ इसीको केवलव्यतिरेकि माना गया है। आत्मा परिणामी होनेसे उसकी राखमें आत्माकी व्यावृत्ति होनेपर प्राणादिकी भी व्यावृत्ति नियमसे पायी जाती है। जो आत्माको निरन्वय क्षणिक अथवा कूटस्थ (सर्वथा नित्य) स्वीकार करते हैं उन्हींके मतमें प्राणादि अर्थक्रियाकी उत्पत्ति नहीं बन सकती।

तथा अवीत और वीत दोनोंका जिसमें लक्षण पाया जाये वह वीतावीत अनुमान है। इसीको अन्वयव्यतिरेकि कहा गया है। जैसे—‘पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि उसमें धूम है’। इस अनुमानमें वीत और अवीत दोनोंके लक्षण अर्थात् अन्वय

और व्यतिरेक दोनों पाये जाते हैं, इसलिए यह बीतावीत अथवा अन्वयव्यतिरेक अनुमान कहा गया है। अतः बीतावीत उससे अतिरिक्त हेतु नहीं है।

अतएव 'अन्यथानुपपन्नत्वके नियमका जिसमें निश्चय हो वह हेतु है' यह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि उसके साथ हेतुओंके सभी भेद, चाहे वे अतिसंक्षेपसे या विस्तारसे या अतिविस्तारसे कहे गये हों, व्याप्त हैं अर्थात् इन सभी हेतुभेदोंमें अन्यथानुपपन्नत्वके नियमका निश्चय होनेसे वे सम्यक् हेतु माने गये हैं।

इस प्रकारके साधनसे जो शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध साध्यका विशिष्ट ज्ञान किया जाता है वह अनुमान है। किन्तु जो साध्य बाधित है, जैसे सर्वथा एकान्त, उसमें साधनकी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह प्रत्यक्षादिके बाधित है। इसी तरह जो स्वयं अनिष्ट (अनभिप्रेत) है वह भी साध्य नहीं हो सकता, क्योंकि अतिप्रसंग दोष होता है। तथा जो प्रसिद्ध है वह भी साध्य नहीं बन सकता, क्योंकि वह सिद्ध होनेसे उसे पुनः सिद्ध करना व्यर्थ है। अतः बाधित, अनभिप्रेत और सिद्ध ये तीनों साध्याभास हैं, क्योंकि वे साधनके विषय नहीं हैं। अकलंकदेवने भी कहा है—

‘जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है वह साध्य है और उससे भिन्न अर्थात् अशक्य, अनभिप्रेत और प्रसिद्ध है वह साध्याभास है क्योंकि वह साधनका विषय नहीं होता। वह विरुद्ध (बाधित—अशक्य) आदि है।’

इस प्रकार उपर्युक्त साधनसे होनेवाला साध्यका विशिष्ट ज्ञान स्वार्थ अनुमान है, जो अभिनिबोधस्वरूप है और जो विशिष्ट मतिज्ञान है। उसकी ‘अभिनिबोध’ संज्ञा इसलिए है, क्योंकि साध्यको सिद्ध करनेके लिए अभिमुख (प्रवृत्त) एवं नियमित (अन्यथानुपपन्नत्वके नियमसे सहित) साधनसे वह ज्ञान (अनुमान), जो तर्क (ऊहा) का फल है उत्पन्न होता है (अभि—अभिमुख + नि—नियमित + बोध = अभिनिबोध)। ऐसा ज्ञान स्वार्थानुमान है। परार्थ अनुमान श्रोत्रमतिज्ञान और अश्रोत्रमतिज्ञानपूर्वक होनेके कारण अक्षरश्रुतज्ञान और अनक्षरश्रुतज्ञानरूप है। किन्तु वचनात्मक परार्थानुमान मानना युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द, चाहे प्रत्यक्षपरामर्शी (प्रत्यक्षोल्लेखी) हों और चाहे अनुमानपरामर्शी (अनुमानोल्लेखी) सभी, द्रव्यश्रुत (पीद्गलिक) हैं, वे अज्ञाननिवृत्ति करानेमें असमर्थ हैं, ज्ञानात्मक परार्थानुमान ही अज्ञाननिवृत्ति करानेमें समर्थ है। यदि वचनात्मक परार्थानुमान माना जाय तो प्रत्यक्ष भी वचनात्मक परार्थ क्यों नहीं होगा, क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है—दोनों समान हैं। प्रतिपादक और प्रतिपाद्य जनोंके स्वार्थानुमान और परार्थानुमानमें कार्य तथा कारणभाव होनेसे परार्थानुमानपरामर्शी वाक्य (परार्थानुमानावयवाक्यों) को उपचारसे परार्थानुमान कहनेमें हमें विरोध नहीं है, उन्हें मुख्य परार्थानुमान नहीं माना जा सकता, मुख्य परार्थानुमान तो ज्ञानात्मक ही हो सकता है क्योंकि अज्ञानकी निवृत्ति उसीसे सम्भव है, अज्ञानरूप वचनात्मक परार्थानुमानसे नहीं।

यह ‘अनुमान परोक्ष प्रमाण है, क्योंकि वह अविशद है, जैसे श्रुतज्ञान’। इस प्रकार अनुमानका विस्तृत निरूपण किया गया है।

श्रुत-ज्ञान :

श्रुतज्ञानका स्वरूप क्या है ? श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्मका क्षयोपशम-विशेष, जो अन्तरंग कारण है, होनेपर और बहिरंग कारण मतिज्ञानके होनेपर मनके विषयको लेकर होनेवाला अविशद ज्ञान श्रुतज्ञान है, यह श्रुतज्ञानका स्वरूप है ।

शंका—केवलज्ञान और तीर्थंकरनामक विशिष्ट पुण्यप्रकृतिके उदयका निमित्त पाकर होनेवाली भगवान् तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे उत्पन्न और गणधरदेवको प्राप्त श्रुतज्ञानका उक्त श्रुतज्ञानलक्षण द्वारा संग्रह नहीं होता, अतः उक्त लक्षण अव्याप्त है ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतज्ञान भी श्रोत्रमतिज्ञान-पूर्वक होनेसे उक्त लक्षण द्वारा संग्रहीत हो जाता है, जैसे प्रसिद्ध मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानीके वचनोंसे उत्पन्न प्रतिपाद्य (शिष्य) जनोंका श्रुतज्ञान अथवा समुद्रके घोष, मेघोंकी गर्जना (गड़गड़ाहट) आदिसे जन्य और उसके अविनाभावी पदार्थोंको विषय करनेवाला श्रुतज्ञान । इसलिए श्रुतज्ञानका उपर्युक्त लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव तीनों दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष है, जैसे ऊपर कहा गया अनुमानका लक्षण । यह श्रुतज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह अविस्वादी है, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमान । श्रुतज्ञानमें अविस्वादीपना असिद्ध भी नहीं हैं, क्योंकि उससे पदार्थका ज्ञान करके प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषको किसी प्रकारका भ्रम आदि नहीं होता और अर्थ-क्रियामें सदा यथार्थता अवगत होती है, जैसे प्रत्यक्ष आदिसे होता है ।

शंका—श्रोत्रमतिपूर्वक उत्पन्न श्रुतज्ञानसे वस्तुको जानकर प्रवृत्त हुए पुरुषको कहीं अविस्वादीपना प्राप्त नहीं होता । इसी तरह अन्यत्र भी वह अविस्वादी नहीं हो सकता, अतः श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि इस तरह तो प्रत्यक्षादि भी प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकेंगे । सीपमें चाँदीका ज्ञान करके प्रवृत्त हुए पुरुषको चाँदीसे होनेवाली अनुरागादि अर्थक्रियामें विस्वादाद (विपरीत ज्ञान) होनेसे अन्यत्र होनेवाले प्रत्यक्षमें भी विस्वादादकी सम्भावना है । अतः वह भी प्रमाण नहीं हो सकेगा ।

यदि कहा जाय कि सीपमें होनेवाला चाँदीका ज्ञान तो प्रत्यक्षाभास है, अतः उसमें विस्वादाद हो सकता है, सत्य प्रत्यक्षमें नहीं, जैसे अनुमान, तो श्रुतज्ञानाभाससे विस्वादाद सम्भव है, सत्य श्रुतज्ञानसे वह कैसे हो सकता है । यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि सत्य श्रुतज्ञान असिद्ध है, क्योंकि लोकमें कितना ही व्यवहार उसीकी सत्यता पर आधृत है । दूसरे, सत्य श्रुतज्ञानकी साधिका युक्ति भी मौजूद है । वह यह है—‘श्रोत्रमतिपूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान, जिसका प्रकरण चल रहा है, सत्य ही है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, जैसे प्रत्यक्ष आदि ।’ वह दो प्रकारका है—१. सर्वज्ञके वचनोंको सुननेसे होनेवाला और २. असर्वज्ञ (अस्मदादि) के प्रामाणिक वचनोंको सुनकर होनेवाला । सो यह दोनों प्रकारका श्रुतज्ञान निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, क्योंकि गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे वह होता है ।

शंका—‘नदीके किनारे लड्डुओंके ढेर पड़े हैं’ ऐसा हास्यसे कहे गये किसी गुणवान् वक्ताके शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञानके साथ, जो असत्य है, ‘निर्दोष कारणोंसे

उत्पन्न साध्यको सिद्ध करनेके लिए दिया गया 'गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे वह होता है' हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है, अतः वह साध्यका गमक नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि हँसी-मजाक करनेवाला वक्ता गुणवान् नहीं हो सकता, हँसी-मजाक ही दोष है, जैसे अज्ञान आदि ।

शंका—विचारप्राप्त श्रोत्रमतिपूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे उत्पन्न है, यह कैसे सिद्ध है ?

समाधान—वह इस प्रकार सिद्ध है—'विचार प्राप्त श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके द्वारा उच्चरित शब्दोंसे उत्पन्न है, क्योंकि उसमें बाधकोंका अभाव सुनिश्चित है।' स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष अर्थको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष, अनुमेय अर्थका साधक अनुमान और अत्यन्त परोक्ष अर्थका बोधक आगम ये तीनों भिन्न विषयक होनेसे श्रुतज्ञानके बाधक नहीं हैं, अतः श्रुतज्ञानमें बाधकाभाव सिद्ध है । देशान्तर, कालान्तर और पुरुषान्तरकी अपेक्षासे भी उसमें संशय न होनेके कारण 'सुनिश्चित' विशेषण भी हेतुमें सुसिद्ध है, अतः श्रुतज्ञानके असिद्ध होनेकी आशंका निरस्त हो जाती है । हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि वह विपक्षमें कहीं रहता नहीं । विरुद्ध भी वह नहीं है, क्योंकि अगुणवान् वक्ताके शब्दोंसे जन्य श्रुतज्ञान, जिसमें बाधकाभाव सुनिश्चित हो, और जिसे वादो तथा प्रतिवादी दोनों स्वीकार करते हों, असम्भव है तथा परस्पर विरोध भी है । जो कथंचित् अपौरुषेय शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञान है वह गुणवान् व्याख्याताके व्याख्यात शब्दोंसे उत्पन्न होनेके कारण निर्दोष कारणोंसे जन्य सिद्ध है, इसलिए वह सत्य है । इस प्रकार स्याद्वादियोंके लिए कोई दोष नहीं है । पर्यायार्थिकनयकी प्रधानता और द्रव्यार्थिकनयकी गौणतासे कथन करनेपर श्रुतज्ञान गुणवान् वक्ताके शब्दोंसे जनित सिद्ध होता है तथा द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानता और पर्यायार्थिकनयकी गौणताकी विवक्षा करनेपर वह गुणवान् व्याख्याताके व्याख्यात शब्दोंसे जनित भी उत्पन्न होता है । ध्यातव्य है कि शब्द प्रमाणसे न सर्वथा पौरुषेय सिद्ध होता है और न अपौरुषेय ।

शंका—'विचारप्राप्त शब्द पौरुषेय ही है, क्योंकि वह प्रयत्नका अविनाभावी है, जैसे पटादिक' इस अनुमानसे आगमको, जो दो प्रकारका है—१. अंगप्रविष्ट और २. अंगबाह्य तथा अंगप्रविष्ट द्वादशांग (बारह अंगों) रूप और अंगबाह्य अनेक भेद (चउदह) रूप है, पौरुषेय मानना ही युक्त है, जैसे महाभारत आदि ?

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यह बतलाना आवश्यक है कि हेतु 'सर्वथा प्रयत्नका अविनाभावी' विवक्षित है अथवा 'कथंचित् प्रयत्नका अविनाभावी ?' प्रथम पक्ष असिद्ध है, क्योंकि स्याद्वादी द्रव्यार्थिककी अपेक्षा आगमको प्रयत्नका अविनाभावी स्वीकार नहीं करते । द्वितीय पक्ष विरुद्ध है, क्योंकि उससे आगम कथंचित् अपौरुषेय सिद्ध होता है । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि 'प्रवचन प्रयत्नका अविनाभावी है' इसका क्या मतलब है ? क्या उच्चारक पुरुषके प्रयत्नके अनन्तर उसकी उपलब्धि होती है या उत्पादक पुरुषके प्रयत्नके अनन्तर वह उपलब्ध होता है ? प्रथम विकल्प स्वीकार करनेपर उच्चारक पुरुषकी अपेक्षा प्रवचन अपौरुषेय ही सिद्ध होता है, क्योंकि उसका प्रवाह विद्यमान रहता है । द्वितीय विकल्प

माननेपर पुराणपुरुषों द्वारा रचित काव्यप्रबन्ध ही पौरुषेय सिद्ध होंगे, प्रवचन नहीं, क्योंकि अनादिनिधन होनेसे उसका उत्पादक पुरुष नहीं है। 'सर्वज्ञ उसका उत्पादक है', यह भी नहीं, क्योंकि प्रश्न होगा कि वह वर्णात्मक प्रवचनका उत्पादक है अथवा पदवाक्यात्मक प्रवचनका? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वर्णोंका सद्भाव उससे पूर्व भी विद्यमान रहता है। यह कहना भी युक्त नहीं कि 'उन वर्णोंके समान वर्णोंका सद्भाव उससे पूर्व रहता है, उन्हींका नहीं, जैसे घटादिक', क्योंकि इस प्रकार उन वर्णोंका अनुवादक उत्पादक क्यों नहीं हो जायेगा? वर्णोंके अनुवादसे पहले भी उन्हींके समान वर्णोंका सद्भाव रहनेसे अनुवादित होनेवाले वर्ण उसी समय होते हैं। फलतः कोई भी वर्णोंका अनुवादक नहीं बन सकेगा, सभी उत्पादक ही सिद्ध होंगे। जिस प्रकार कुम्हार आदि घड़ा आदिके उत्पादक हैं, अनुकारक नहीं, उसी प्रकार वर्णोंके भी उत्पादक हैं, अनुवादक नहीं और इस तरह अनुवादकका व्यवहार नहीं हो सकेगा।

यदि कहें कि पूर्वोपलब्ध वर्ण और वर्तमान वर्ण दोनोंमें सादृश्य होनेसे उनमें एकत्वका उपचार हो जाता है, अतः उन वर्णोंको पीछे बोलनेवाला अनुवादक ही है, क्योंकि 'उसने वर्णोंको कहा है, मैंने नहीं' इस प्रकारसे स्वतन्त्रताका परिहार होकर परतन्त्रताका अनुसरण होता है, तब तो जैसे वह वर्णोंका पठितानुवादक है उसी तरह वह उनका पाठयिता भी कहा जा सकता है, क्योंकि उसका भी स्वातन्त्र्य नहीं है, सभी अपने उपाध्यायसे पढ़नेके कारण उनके अधीन हैं। अतः इस प्रकार कहा जाना चाहिए—

'इस जगत्में कोई पुरुष वर्णोंको स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नहीं करता, जिस प्रकार दूसरोंने इसके लिए वर्णोंको कहा है उसी प्रकार यह दूसरोंके लिए वर्णोंको कहेगा और दूसरे भी इसी तरह अन्योके लिए उन वर्णोंको कहेंगे, इस तरह सम्प्रदाय (परम्परा) को न तोड़नेवाले व्यवहारके द्वारा इन वर्णोंमें अनादित्व सिद्ध होता है।'—१-२।

फलतः सर्वज्ञ भी अनुवादक ही है, क्योंकि पूर्व-पूर्व सर्वज्ञके द्वारा कहे गये ही चौंसठ वर्णोंका उत्तरोत्तरवर्ती सर्वज्ञों द्वारा अनुवाद होता है। यदि पूर्व सर्वज्ञके द्वारा कहे वर्ण उपलब्ध न हों, तो उत्तरवर्ती सर्वज्ञ असर्वज्ञ हो जायेगा। इस प्रकार अनादि सर्वज्ञ-परम्परा माननेवालोंके मतमें कोई सर्वज्ञ वर्णोंका उत्पादक नहीं है, वह उनका अनुवादक है। द्वितीय पक्ष (अर्थात् पदवाक्यात्मक प्रवचनका सर्वज्ञ उत्पादक है) भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि प्रवचनके पद-वाक्य भी पूर्व-पूर्व सर्वज्ञों द्वारा कहे गये ही हैं, उन्हींका उत्तरोत्तरवर्ती सर्वज्ञ अनुवाद करते हैं। प्रवचन (आगम) हमेशा अंग-प्रविष्ट, जिसके बारह भेद हैं और अंगबाह्य, जिसके अनेक (चउदह) भेद हैं इन दो रूपोंमें विभक्त रहता है। उसमें अन्य प्रकारके वर्णों या पद-वाक्योंकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वह सर्वथा अपूर्व उत्पन्न नहीं होता। [२-१६५]

शंका—एक महेश्वर ही, जो अनादि सर्वज्ञ है, वर्णोंका उत्पादक है, जैसे वह प्रथम सृष्टिके समय लोकोंका उत्पादक है, क्योंकि वह सदा स्वतन्त्र है, किसी दूसरे सर्वज्ञके पराधीन नहीं है, अतः वह वर्णोंका अनुवादक नहीं है?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि अनादि एक महेश्वरका निरास

आप्तपरीक्षा (का. १०, पृ. ५०) में किया गया है, अतः अनादि एक ईश्वर कपिल आदिकी तरह युक्तिसे सिद्ध नहीं होता । किसी तरह वह सम्भव भी हो, तो वह, जो सदा ईश्वर है, सर्वज्ञ है और ब्राह्म मानके अनुसार सौ-सौ वर्षोंके अन्तमें लोकोंका स्रष्टा है, पूर्व-पूर्व सृष्टिके समय स्वयं उत्पन्न किये गये वर्ण और पद-वाक्योंका उत्तर-उत्तर सृष्टिकालमें उपदेश होनेसे अनुवादक क्यों नहीं होगा । एक कवि, जिसने अपनी काव्यरचना की है, उसका पुनः-पुनः कथन करनेपर अनुवादक नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'शब्द और अर्थ दोनोंका पुनर्वचन पुनरुक्त है, केवल, अनुवादके अतिरिक्त' इस प्रतिपादनका विरोध आता है । उसी एकका पुनः-पुनः कथन किये जानेपर भी उसे अनुवाद न माननेपर वह पुनरुक्त ही सिद्ध होगा, जो एक दोष है और अनुवाद दोष नहीं है । अतः यदि कोई अपनी रची रचनाको पुनः कहता है और इसलिए उसे अनुवादक कहा जाता है तो महेश्वर भी अपने उत्पादित वर्ण-पद-वाक्योंका दूसरी आदि सृष्टिके समय पुनः-पुनः कथन करनेसे अनुवादक है, क्योंकि पूर्व-पूर्व कथनको उत्तरोत्तर दुहराना अनुवाद है ।

शंका—महेश्वर पूर्व-पूर्व वर्ण-पद-वाक्योंसे विलक्षण ही वर्ण-पद-वाक्योंकी रचना करता है, अतः वह अनुवादक नहीं है ?

समाधान—यह शंका भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि ऐसा किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता और यदि सिद्ध भी हो, तो प्रश्न उठता है कि पूर्व-पूर्व वर्ण-पद-वाक्योंका ज्ञान न होनेसे वह उनका अप्रणेता है या शक्ति न होने या प्रयोजन न होनेसे ? प्रथम पक्षमें उसके सर्वज्ञता नहीं बनेगी, जब कि वह सब प्रकारके वर्ण-पद-वाक्योंका ज्ञाता है, अन्यथा वह अनोश्वर हो जायेगा । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरको अनन्तशक्तिवाला माना गया है । यदि एक समयमें कुछ ही वर्ण-पद-वाक्योंकी रचनेकी शक्ति ईश्वरमें कही जाय, तो वह अनोशिकी तरह अनन्तशक्तिवाला कैसे हो सकता है ? तृतीय पक्ष भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि समस्त वाचकों (वर्ण-पद-वाक्यों) का प्रकाशन ही उसका प्रयोजन है, जैसे समस्त वाच्यार्थका प्रकाशन अथवा समस्त जगत्की रचना उसका प्रयोजन है । प्रतिपाद्यजनोंके अनुरोधसे किन्हीं ही वर्णादिकोंका प्रणयन माननेपर जगत्के उपभोक्ता प्राणियोंके अनुरोधसे किन्हीं ही जगत्के कार्योंकी सृष्टि होगी, सबकी नहीं । फलतः ईश्वरके द्वारा जो कार्य नहीं रचे गये उनके साथ 'कार्यत्व' हेतु व्यभिचारी होनेसे वह समस्त कार्योंको ईश्वरनिमित्तक सिद्ध नहीं कर सकेगा । [२, १६७]

यदि कहें कि समस्त प्रकारके वर्णादिवाचकोंके समूहको जाननेकी इच्छा रखनेवाला कोई प्रतिपाद्य ही सम्भव नहीं है, तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञका उपदेश प्रतिग्राहक (सर्वकल्याणकारी) नहीं हो सकेगा । इसे सम्भव माननेपर प्रत्येक सर्गमें समस्त वर्णादिकोंका प्रणेता ईश्वर अनुवादक ही सिद्ध होगा, उत्पादक कभी सिद्ध न होगा । इसलिए अनेक ही सर्वज्ञ मानना चाहिए, एक ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है । तथा जिस प्रकार एक सर्वज्ञ किसी वस्तुको 'नयी' कहता है, उसीको दूसरा सर्वज्ञ 'पुरानी' बतलायेगा और इस तरह अनेक सर्वज्ञोंकी कल्पना करनेपर परस्पर विरोध प्रदर्शित किया जाता है और वस्तुकी व्यवस्था असम्भव बतलायी

जाती है, उसी प्रकार एक ईश्वरकी भी अनेक सर्गों (सृष्टियों) में प्रवृत्ति माननेपर उसके अनेक उपदेश मानने होंगे । पूर्व सर्गमें जिस वस्तुको ईश्वरने 'नयी' कहा उसे ही उसने उत्तर सर्गमें 'पुरानी' बतलाया और इस तरह एक ईश्वरके माननेपर भी परस्पर विरोध आता है । यदि कहा जाय कि एक ईश्वर एक वस्तुको 'नयो-पुरानी' एक कालमें ही नहीं बतलाता, इसलिए परस्पर विरोध नहीं आता, तो अनेक सर्वज्ञों-के भी कालभेदसे 'नयो-पुरानी' बतलानेपर कैसे परस्पर विरोध आता है । अतः अनादि एक ईश्वरकी कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है ।

सोपायविशेषसिद्ध अनेक सर्वज्ञ तो प्रमाणसिद्ध हैं और वे चिरतर कालका विच्छेद होनेपर भी प्रवाहसे परमागमके अभिव्यंजक—अनुवादक हैं, क्योंकि प्रयत्नके बाद उसकी अभिव्यक्ति होती है । अतः 'कथंचित् प्रयत्नका अविनाभावी' हेतु उसे कथंचित्पौरुषेय सिद्ध करता है । इसीको यहाँ पद्य-रचना द्वारा बताया जाता है—

'परमागमकी परम्परा अनादिनिधन है । असर्वज्ञकी तरह कोई सर्वज्ञ स्वयं उसका उत्पादक नहीं है । एक सर्वज्ञ अपनी महिमासे उसका प्रकाशन करता है तथा दूसरा भी उसे प्रकाशित करता है । इस प्रकार सर्वज्ञकी परम्परा अनादि सिद्ध है । उनके द्वारा कहे शब्दोंसे उत्पन्न श्रुतज्ञान (आप्तोक्त) पूर्णतया प्रमाण जानना चाहिए, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होता है । बाह्य (अनाप्तोक्त) श्रुत पुरुषकृत पद-रचनात्मक होनेसे दो प्रकारका है—१. आर्ष और २. अनार्ष अथवा संक्षिप्त और विस्तृत । जो निर्दोष ऋषियोंके द्वारा कहे गये वचनोंसे उत्पन्न है वह आर्ष श्रुतज्ञान है और निर्बाध होनेसे प्रमाण है तथा जो ऋषियोंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंके द्वारा कहे वचनोंसे उत्पन्न होता है वह अनार्ष श्रुतज्ञान है । यह दो प्रकारका कहा गया है—१. एकान्तवादियों द्वारा कथित, जो विभिन्न मतरूप है और २. लौकिक । यह दोनों प्रकारका श्रुत मिथ्या है, क्योंकि वह राग-द्वेष-मोहादि दोषकारणोंसे उत्पन्न होता है और इसलिए वह प्रमाण नहीं है । किन्तु सम्यग्दृष्टिका श्रुत (प्रवचन) सुनय-की विवक्षा रखनेके कारण प्रमाण है ।' १-७ ।

शंका—निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होनेके कारण श्रुतज्ञानको प्रमाण सिद्ध करनेपर चोदना (वेद) ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिए, क्योंकि वह भी पुरुषगत दोषोंसे रहित चोदना (वेद) से उत्पन्न होता है और चोदना सर्वथा अपौरुषेय है । कहा भी है—

'चोदनाजन्य ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न होता है, जैसे लिङ्ग, आप्तवचन और इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान ।'

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न' शब्दके द्वारा 'गुणवान् कारणोंसे उत्पन्न' यह अर्थ अभिप्रेत है, लिङ्गज्ञान, आप्तवचनज्ञान और इन्द्रियज्ञान इन तीनोंमें भी वही अर्थ लिया गया है । प्रकट है कि लिङ्गमें अपौरुषेयता-रूप निर्दोषता नहीं है, अपितु साध्यके साथ अविनाभावनियमका निश्चय होना रूप गुणके सद्भावसे गुणवत्तारूप निर्दोषता पायी जाती है । इसी तरह आप्तवचनमें अविस्वादाद गुणके कारण गुणवत्ता है तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंमें निर्मलता आदि गुणोंके रहनेसे गुणवत्ता है ।

शंका—कारणकी निर्दोषता दोषरहितता है। वह कहीं दोषोंके विरोधी गुणोंके सद्भावसे होती है, जैसे मनु आदि ऋषियोंके द्वारा रचित स्मृतियोंमें। और कहीं दोषोंके कारणके अभावसे वह (दोषरहितता) होती है, जैसे वेदमें। वही कहा है—

‘शब्दोंमें दोषोंकी उत्पत्ति वक्ताके अधीन है। सो कहीं तो दोषोंका अभाव गुणवान् वक्ताके कारण हो जाता है, क्योंकि उसके गुणोंसे दोष दूर हो जायेंगे और फिर वे शब्दमें संक्रमण नहीं कर सकते। और कहीं वक्ताके न होनेसे वे निराश्रय नहीं रहेंगे?’—१,२।

समाधान—इस शंकामें कुछ भी सार नहीं, क्योंकि सर्वत्र गुणोंका अभाव ही दोष है और गुणोंका सद्भाव ही निर्दोषता है। अभाव दूसरी वस्तुके सद्भावरूप प्रसिद्ध है। यदि वह (अभाव) तुच्छरूप हो तो वह प्रमाणका विषय नहीं हो सकता। यथार्थमें ‘गुणवान् वक्ता’ कहनेसे ‘दोषरहित वक्ता’ का ही बोध होता है। यदि ऐसा न हो तो गुणों और दोषोंमें सहानवस्थान (एक साथ न रहना) विरोध कैसे बन सकेगा। राग, द्वेष और मोह ये निश्चय ही वक्ताके दोष हैं, जो असत्य कथनके कारण हैं और उनके विरोधी वैराग्य, क्षमा और तत्त्वज्ञान वक्ताके गुण हैं, जो उनके अभावरूप हैं और सत्य कथनके कारण हैं, यह सभी परीक्षकोंका हार्द है।

एक बात और है। स्मृतिशास्त्रोंके रचयिता मनु आदि गुणवान् नहीं हैं, क्योंकि उनके उक्त गुण नहीं पाये जाते। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं कि मनु आदिका उपदेश निर्दोष वेदके आश्रयसे हुआ है, अतः वे गुणवान् हैं, क्योंकि वेदमें गुणवत्ता नहीं है। उसका कारण गुणवान् पुरुषका अभाव है। जिस प्रकार दोषवान् पुरुष वेदका कर्ता न होनेसे उसमें निर्दोषता सिद्ध होती है उसी प्रकार गुणवान् पुरुष भी उसका कर्ता न होनेसे उसमें अगुणवत्ता सिद्ध होगी। अतः वेद गुणवान् नहीं है। अगर कहा जाय कि वेदका अपौरुषेय होना ही उसका गुण है, तो अनादि कालीन म्लेच्छादिके व्यवहार (परम्परा) भी अपौरुषेय होनेसे गुणवान् कहे जायेंगे। अतः कहना चाहिए कि—

‘वेद निर्दोष नहीं है, क्योंकि गुणवान् पुरुष उसका कर्ता नहीं है, न गुणवान् पुरुष उसका व्याख्याता अथवा प्रवक्ता है, जैसे म्लेच्छादिके व्यवहार। अतः वेदसे जो ज्ञान होता है वह निर्दोष कारण जन्य नहीं है, तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है, जैसे परमागमका ज्ञान प्रमाण है। इतने लम्बे (अनादि) कालमें अपौरुषेय वेदका उच्छेद भी सम्भव है, जिसका अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञके बिना कोई उद्धारक नहीं है। स्याद्वादियोंके मतमें तो उक्त लम्बे समयमें उच्छिन्न परमागमकी परम्पराकी प्रकाशक सर्वज्ञसन्तति है। और जिस प्रकार सर्वज्ञसन्तति परमागमकी परम्पराकी प्रकाशक है उसी प्रकार वह समस्त भाषाओं तथा कुभाषाओंकी भी प्रकाशक है, क्योंकि उनकी ध्वनि (उपदेश) सर्वभाषास्वभाववाली है। अतः वह परमागमरूप श्रुतज्ञान परमार्थसे परोक्ष प्रमाण सुसिद्ध है, क्योंकि वह निर्दोष कारणोंसे उत्पन्न है, जैसे प्रत्यक्ष।’— १-६।

इसलिए यह बिलकुल ठीक कहा कि ‘प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही प्रमाण हैं, इन्हींमें अन्य सभी प्रमाणोंका भी समावेश हो जाता है।’ इस प्रकार प्रमाण-संख्या

सम्बन्धी विवादका जो ऊपर निराकरण किया गया है वह युक्त और निर्दोष है, जैसे प्रमाण-लक्षणसम्बन्धी विवादका निराकरण। [२-१७५]

३. प्रमाणविषय-परीक्षा :

इस प्रकरणमें प्रमाणके विषयका विवाद दूर करनेके लिए उसकी भी परीक्षा की जाती है।

‘प्रमाणका विषय (प्रमेय) द्रव्य और पर्यायरूप वस्तु है, क्योंकि उसके सिवाय अन्य विषय सिद्ध नहीं होता।’ इस अनुमानसे प्रमाणका विषय—परिच्छेद्य द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप अवगत होता है।

इस अनुमानमें प्रयुक्त हेतुको दूषित करनेके लिए बौद्ध कहते हैं कि ‘प्रत्यक्ष-प्रमाण केवल स्वलक्षण (विशेष-पर्याय) को और अनुमान-प्रमाण केवल सामान्य (सन्तान-द्रव्य) को विषय करता अर्थात् जानता है, दोनोंको विषय करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। अतः उक्त अनुमानमें प्रयुक्त हेतु इन (प्रत्यक्षप्रमाणके विषय मात्र विशेष और अनुमानप्रमाणके विषय केवल सामान्य) के साथ अनेकान्तिक (व्यभिचारी) है।’ बौद्धोंका यह कथन सम्यक् नहीं है, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। प्रकट है कि प्रत्यक्ष केवल सामान्यकी तरह केवल विशेषको और अनुमान केवल विशेषकी तरह केवल सामान्यको विषय करनेवाला प्रतीत नहीं होता। यथार्थमें सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्यरूप वस्तु होती, तो प्रत्यक्ष और अनुमान उक्त प्रकारकी वस्तुको विषय करते। किन्तु वस्तु तो सामान्य और विशेषरूप अथवा द्रव्य और पर्यायरूप जात्यन्तर अर्थात् तृतीय प्रकारकी उभयात्मक प्रतीत होती है तथा प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्तिकी प्रवृत्ति भी उसीमें होती है और प्राप्ति भी उसे उसीकी होती है। वस्तु उभयात्मक न हो, केवल विशेष अथवा केवल सामान्यरूप ही हो, तो उससे कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि स्वलक्षण (विशेष), जो गोत्वसामान्यसे रहित गोव्यक्तिरूप कहा जाता है, गोदोहन आदि अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है, क्योंकि उसमें क्रम और योगपद्य (अक्रम) दोनों ही नहीं बनते, जैसे वे केवल सामान्यमें नहीं बनते। क्रम और योगपद्यकी व्याप्ति परिणमनके साथ है और परिणमन क्षणिक स्वलक्षणमें सम्भव नहीं, जैसे वह नित्य सामान्यमें सम्भव नहीं है। इस तरह केवल स्वलक्षणमें परिणमनके अभावमें क्रम और योगपद्यका अभाव प्राप्त होता है, क्योंकि उसके साथ उनकी व्याप्ति (अविनाभाव) है तथा क्रम और योगपद्यके अभावमें अर्थक्रियाका अभाव और अर्थक्रियाके अभावमें उसमें अवस्तुत्व ही प्राप्त होता है, वस्तुत्व नहीं। इसी प्रकार केवल सामान्यके विषयमें भी जान लेना चाहिए। अतः वस्तु सामान्य और विशेष अथवा द्रव्य और पर्याय उभयरूप प्रसिद्ध होती है। प्रतीति, प्रवृत्ति और प्राप्ति ये तीनों भी उसी प्रकारकी वस्तुमें दृष्टिगोचर होती हैं, अतएव वही प्रमाणका विषय है। उसके एक देशरूप केवल विशेष अथवा केवल सामान्य (विषयाभास) को विषय करनेवाला प्रमाणाभास कहा जायेगा। प्रमाण वही है जो यथार्थ वस्तुको ग्रहण करता है। किन्तु हाँ, प्रमाणके उभयात्मक विषयके एक देश (सापेक्ष विशेष अथवा सापेक्ष सामान्य) को जो ग्रहण करता है और इतर अंशका निषेध नहीं करता वह सुनय (सम्यक्नय) है और वह

प्रमाणका एक देश है। किन्तु इतर अंशका निषेध करके मात्र एक अंश (केवल विशेष या केवल सामान्य अथवा केवल पर्याय या केवल द्रव्य) को ही जो ग्रहण करता है वह दुर्नय (मिथ्या नय) है। अतएव दुर्नयके विषय (केवल विशेष अथवा केवल सामान्य) के साथ उपर्युक्त हेतु अनेकान्तिक नहीं है, क्योंकि वह प्रमाणका विषय ही नहीं है अर्थात् 'प्रमाणविषयत्व' हेतु उसमें नहीं रहता।

अतः प्रमाणका विषय द्रव्य-पर्यायरूप अथवा सामान्य-विशेषरूप अनेकान्तात्मक जात्यन्तर वस्तु है। इस प्रकार प्रमाणके विषयमें जो दार्शनिकोंका विवाद है वह निरस्त हो जाता है। यहाँ ध्यातव्य है कि बौद्ध केवल विशेषको, सांख्य केवल सामान्यको और नैयायिक-वैशेषिक स्वतन्त्र दोनोंको प्रमाणका विषय स्वीकार करते हैं, जो उक्त प्रकारसे परीक्षा करनेपर युक्त नहीं हैं।

४. प्रमाणफल-परीक्षा :

इस अन्तिम (चौथे) प्रकरणमें प्रमाणके फलका विमर्श किया जाता है।

प्रमाणके फलपर विमर्श करनेपर वह प्रमाणसे अर्थचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रतीत होता है, क्योंकि वह प्रमाणका फल है। प्रमाणका फल प्रमाणसे न सर्वथा भिन्न होता है और न सर्वथा अभिन्न।

स्मरणोय है कि बौद्ध प्रमाणके फलको प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न और सांख्य तथा नैयायिक-वैशेषिक सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। ग्रन्थकार इन दोनों (अभेद-वादियों और भेदवादियों) के मतोंकी समीक्षा करते हुए कहते हैं कि उक्त दोनों मत युक्त नहीं हैं, क्योंकि अनुमानसे प्रमाणका फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न दोनों सिद्ध होता है। वह अनुमान इस प्रकार है—

‘प्रमाणसे फल कथंचित्—करण और क्रियाके भेदकी अपेक्षासे भिन्न है और कथंचित्—एक प्रमातारूप आधारकी अपेक्षासे वह अभिन्न है, क्योंकि वह प्रमाणका फल है।’

शंका—हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धिरूप परम्पराफलके साथ हेतु अनेकान्तिक है, क्योंकि वह सर्वथा भिन्न होता है ?

समाधान—उक्त शंका युक्त नहीं है, क्योंकि हानादिबुद्धिरूप परम्पराफल भी एक प्रमाता आत्मामें होनेके कारण प्रमाणसे कथंचित् अभिन्न सिद्ध है। यथार्थमें जो प्रमाता वस्तुको सम्यक् जानता है, वही छोड़ने योग्यको छोड़ता, ग्रहण करने योग्यको ग्रहण करता और उपेक्षायोग्यकी उपेक्षा करता है। यदि उसे (परम्पराफलको) प्रमातासे सर्वथा भिन्न माना जाय, तो अन्य प्रमाताकी तरह उस प्रमाताके प्रमाण और फलमें प्रमाण-फलभावकी व्यवस्था नहीं बन सकती। अतः परम्पराफलके साथ, जो हानादिबुद्धिरूप है, उक्त हेतु अनेकान्तिक नहीं है।

शंका—अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात्प्रमाणफलके साथ हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि वह प्रमाणसे सर्वथा अभिन्न होता है ?

समाधान—यह शंका भी विचारपूर्ण नहीं है, क्योंकि उनमें करण और भाव-

साधनका स्पष्ट भेद है। निश्चय ही प्रमाण करणसाधन^१ होता है, क्योंकि वह स्वार्थ-निर्णय (अज्ञाननिवृत्ति) में साधकतम (असाधारण कारण) होता है और स्वार्थ-निर्णय (अज्ञाननिवृत्ति) रूप फल भावसाधन^२ (क्रिया) है, जो उससे निष्पन्न होती है। इस तरह प्रमाण और अज्ञाननिवृत्तिरूप साक्षात्फलमें भेद भी सिद्ध है।

इस विवेचनसे कर्त्तासाधनरूप^३ प्रमाणमें और फलमें भी कथंचित् भेद जानना चाहिए, क्योंकि स्व और बाह्य अर्थके निर्णयमें वह स्वतन्त्र है और जो स्वतन्त्र होता है वह कर्त्ता कहा जाता है तथा स्व और बाह्य अर्थका निर्णय अज्ञाननिवृत्तिरूप होनेसे क्रियारूप है। क्रिया क्रियावान्से न सर्वथा भिन्न हो होती है और न सर्वथा अभिन्न हो। अन्यथा दोनोंमें क्रिया और क्रियावान्की व्यवस्था नहीं बन सकती। यहाँ यह कहना भी युक्त नहीं है कि 'प्रमितिमात्रं प्रमाणम्'—'प्रमिति ही प्रमाण है' इस प्रमाण शब्दकी व्युत्पत्तिके आधारपर भावसाधनप्रमाणसे अज्ञाननिवृत्तिरूप फल अभिन्न ही है, क्योंकि जिस समय प्रमाता उदासीन है, किसी पदार्थको जान नहीं रहा—अव्यापृत है उस समय भी भावसाधनप्रमाणरूप प्रमाणशक्ति (लब्धि) सिद्ध है और वह अज्ञाननिवृत्ति (उपयोग) रूप फल नहीं हो सकती। वास्तवमें जो अपने तथा बाह्य पदार्थके सम्यक् जाननेमें संलग्न है वही प्रमाण प्रमाताके अज्ञानको दूर करनेमें समर्थ है, अन्य नहीं है, अन्यथा प्रमाताके वस्तुपरिच्छित्तिके लिए व्यापार न करनेपर भी अज्ञाननिवृत्ति हो जायेगी। अतः ठीक कहा है कि 'प्रमाणका फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और अभिन्न है।'

यदि प्रमाणके फलको प्रमाणसे सर्वथा भिन्न स्वीकार किया जाय, तो उसमें अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, ठीक उसी तरह, जिस तरह अभिन्न माननेमें बाधाएँ आती हैं। तात्पर्य यह कि प्रमाणके फलको प्रमाणसे सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न स्वीकार करनेपर अनेक दोष आते हैं। पहला यही कि भिन्न माननेपर प्रमाण-फलकी नियत व्यवस्था नहीं बन सकेगी। अमुक फल अमुक प्रमाताका ही है, अन्यका नहीं, यह व्यवस्था भंग हो जायेगी, क्योंकि उनमें नियत व्यवस्थाको स्थापित करनेवाला कोई संयोगादि सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है। दूसरा दोष यह है प्रमाणका फल प्रमाणसे अभिन्न स्वीकार करनेपर दोनों एक हो जायेंगे—यह जानना और बताना असम्भव हो जायेगा कि यह प्रमाण है और यह प्रमाणफल है। अभेदमें एकका अनुप्रवेश दूसरेमें हो जानेसे या तो प्रमाण ही रहेगा या प्रमाणफल। फलतः प्रमाण और फलकी भेदपक्षकी तरह अभेदपक्षमें भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

अभेदवादी बौद्धोंका यहाँ कहना है कि 'प्रमाणके फलको प्रमाणसे अभिन्न माननेपर भी संवृत्ति (कल्पना—तदन्यव्यावृत्ति) से अर्थात् अप्रमाणव्यावृत्तिसे प्रमाण और अफलव्यावृत्तिसे फल दोनों (प्रमाण-प्रमाणफल) का व्यवहार हो जायेगा—प्रमाण तथा प्रमाणफलकी व्यवस्था बन जायेगी।' उनका यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि

१. प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणसाधनम् ।

२. प्रमितिमात्रं प्रमाणमिति भावसाधनम् ।

३. प्रमिणोति जानाति स्वपरार्थं यः सः प्रमाणः आत्मा इति कर्त्तृसाधनम् । एवं प्रमाणशब्दः करण-भाव-कर्त्तृसाधनेषु त्रिष्वपि वर्तते विवक्षावशात्तथा प्रतीतेः ।—ले. ।

कल्पनासे उनका व्यवहार माननेपर उनकी काल्पनिक ही सिद्धि होगी, वास्तविक नहीं। इसलिए इष्टसिद्धिसाधनरूप प्रमाण और इष्टसिद्धिरूप फल दोनोंको वास्तविक मानना चाहिए, काल्पनिक नहीं, तभी इष्टसिद्धि सम्भव है और तभी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी भी सिद्धि हो सकेगी।

इस प्रकार संक्षेपमें प्रमाणके स्वरूप, उसकी संख्या, उसके विषय और उसके फलका संयुक्त परीक्षण किया।

उपसंहार और मंगल-कामना

ग्रन्थके अन्तमें आदि मंगल-पद्यकी तरह एक अन्त्य मंगल-पद्य भी ग्रन्थकारने दिया है, जिसमें उपसंहार पूर्वक उच्च (उत्तम) विद्या-फलकी प्राप्तिकी मंगल-कामना करते हुए कहा गया है कि—

सत्यासत्यके परीक्षक विवेकीजन उक्त प्रकारसे समीक्षित प्रमाणके लक्षण, प्रमाणकी संख्या, प्रमाणके विषय और प्रमाणके फलकी सम्यक् परीक्षा करके तथा वस्तुतत्त्व (यथार्थता) को अवगत कर दृढ़ एवं शुद्ध (निष्पक्ष) दृष्टि बनें अर्थात् यथार्थता को ग्रहण करें, जिससे वे विद्या (ज्ञान) का उच्च फल—पूर्ण आनन्द (मुक्ति) को प्राप्त करें। तात्पर्य यह कि बुद्धिमान् लोगोंको उचित है कि वे सत्यकी खोज करें और उसे प्राप्त कर ज्ञानके वास्तविक फल आनन्द (मोक्ष) को उपलब्ध करें। इसके लिए आवश्यक है कि वे प्रमाणके यथार्थ स्वरूप, यथार्थ संख्या, यथार्थ विषय और यथार्थ फलका निर्णय करें तथा अपनी दृष्टिको स्थिर और शुद्ध (निष्पक्ष) बनायें, जिससे वे विद्याफल (विद्यानन्द अर्थात् विद्या और आनन्द) को अवश्य प्राप्त करें। 'विद्याफल' पदसे ग्रन्थकारने अपना 'विद्यानन्द' नाम भी प्रकट किया जान पड़ता है, जिसका भाव यह है कि यह प्रमाण-परीक्षा आचार्य विद्यानन्द प्रणीत है। इसका जो अध्ययन-मनन करेंगे वे विद्यानन्द—विद्या और आनन्दके भोक्ता बनेंगे। साथ ही ग्रन्थकारने अपने लिए भी विद्याफलकी प्राप्तिकी मंगल-कामना की है।

आत्म-निवेदन

आशा है प्रमाण-परीक्षाका यह हिन्दी रूपान्तर (प्रस्तावनान्तर्गत) जिज्ञासुओंके लिए बोधप्रद होगा। विशेषज्ञोंसे निवेदन है कि इसमें अल्पज्ञतावश कोई त्रुटि रही हो तो वे उसे शुद्ध कर लेनेकी कृपा करें।



माणिक्यनन्दि और उनका परीक्षामुख

आचार्य माणिक्यनन्दि और उनका समय

आचार्य माणिक्यनन्दि नन्दिसंघके प्रमुख आचार्योंमें हैं। विन्ध्यगिरि (श्रवण-बेलगोला) के शिलालेखोंमें सिद्धरबस्तोमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर जो विस्तृत शिलालेख^२ उत्कीर्ण है और जो शक संवत् १३२० (ई. १३८८) का है उसमें नन्दिसंघ-के जिन प्रमुख आठ आचार्योंका उल्लेख है उनमें आ. माणिक्यनन्दिका भी नाम है^३। ये अकलंकदेवकी कृतियोंके मर्मज्ञ और अध्येता थे। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'परीक्षामुख' है, जिसका परिचय आगे दिया गया है। यहाँ उनके समय, व्यक्तित्व आदिपर विशेष विचार किया जावेगा।

समय-विचार :

आ. माणिक्यनन्दि लघु अनन्तवोर्यके उल्लेखानुसार^४ अकलंकदेव (ईसाकी ८वीं शती) के वाङ्मयके मन्थनकर्ता हैं, अतः ये उनके उत्तरवर्ती हैं। और माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखकी टीका प्रमेयकमलमार्तण्डके रचयिता प्रभाचन्द्र (ई. ११वीं शती) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं, यह सुनिश्चित है। अब प्रश्न यह है कि इन तीन-सौ वर्षकी लम्बी अवधिका क्या कुछ संकोच हो सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए न्यायाचार्य पं. महेन्द्रकुमारजीने लिखा है^५ कि 'इस लम्बी अवधिको संकुचित करने का कोई निश्चित प्रमाण अभी दृष्टिमें नहीं आया। अधिक सम्भव यही है कि ये विद्यानन्दके समकालीन हों और इसलिए इनका समय ई. ९वीं शताब्दी होना चाहिए।' लगभग यही विचार पं. कैलाशचन्द्रजी आदि अन्य विद्वानोंका भी है^६।

मेरी विचारणा :

१. अकलंक, विद्यानन्द और माणिक्यनन्दिके ग्रन्थोंका सूक्ष्म एवं तुलनात्मक अध्ययन करनेपर प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दिने केवल अकलंकदेवके ही न्याय-ग्रन्थोंका दोहन कर अपना 'परीक्षामुख' नहीं बनाया, किन्तु विद्यानन्दके प्रमाण-

१. अनेकान्त वर्ष ८, किरण ८-९, सन् १९४७। तथा आसपरीक्षा-प्रस्तावना पृ. २६ से ३३।

२. शिलालेखसंग्रह, पृ. २००, शि. ले. नं. १०५ (२५४)।

३. 'विद्या-दामेन्द्र-पद्मामर-वसु-गुण-माणिक्यनन्द्याह्वयाश्च'—वही, शि. नं. १०५।

४. अकलंकवचोम्भोषेरुहघ्ने येन श्रीमता।

न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥ —प्रमेयर. श्लो. २, १-१ उत्था.।

५. अकलंकके वचन-समुद्रको मथकर उससे 'परीक्षामुख' कैसे उद्घृत हुआ, इसके लिए लेखकका 'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक लेख देखें, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ३-४, पृ. ११९-१२८। तथा यही ग्रन्थ पृ. ४१३।

६. प्रमेयक. मा., प्रस्ता. पृ. ५।

७. न्यायकु. प्र. भा., प्रस्ता. पृ. ११३, आदि।

परीक्षा, पत्रपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि तर्कग्रन्थोंका भी दोहन करके उसको रचना की है। यहाँ हम दोनों आचार्योंके कुछ तुलनात्मक वाक्यों और सन्दर्भोंको प्रस्तुत करते हैं—

(क) आ. विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें प्रमाणसे इष्ट-संसिद्धि और प्रमाणाभाससे इष्ट-संसिद्धिका अभाव बतलाते हुए लिखते हैं—

प्रमाणादिष्टसंसिद्धिरन्यथातिप्रसंगतः । —प्र. प., पृ. २८ ।

आ. माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कहते हैं—

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः । —परी. प्रतिज्ञाश्लोक १ ।

(ख) विद्यानन्द प्रमाणपरीक्षामें ही प्रामाण्यकी ज्ञप्तिको लेकर निम्न प्रतिपादन करते हैं—

प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्परतोऽन्यथा । —प्र. प., पृ. २८ ।

माणिक्यनन्दि भी परीक्षामुखमें यही कथन करते हैं—

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च । —परी. १-१३ ।

(ग) विद्यानन्द योग्यताकी परिभाषा निम्न प्रकार करते हैं—

(१) 'योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव ।' —प्र. प., पृ. ३६ ।

(२) 'स चात्मविशुद्धिविशेषो ज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमभेदः ३ स्वार्थ-प्रमितौ शक्तियोग्यतेति च स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिधीयते ।' —वहो, पृ. ३-४ ।

(३) 'योग्यता पुनर्बन्धनस्य स्वावरणविच्छेदविशेष एव ।' —त. श्लो., पृ. २४९ ।

माणिक्यनन्दि भी योग्यताकी उक्त परिभाषाको अपनाते हुए लिखते हैं—

'स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।'

—परी. २-३ ।

(घ) ऊहाज्ञानके सम्बन्धमें विद्यानन्द कहते हैं—

'तथोहस्यापि समुद्भूतौ भूयःप्रत्यक्षानुपलम्भसामग्री बहिरंगनिमित्तभूताऽ-
नुमन्यते तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्ब्रह्मस्य ।' —प्र. प., पृ. ३६ ।

माणिक्यनन्दि भी यही कहते हैं—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।

इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।

यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।

—परी. मु. ३-११, १२, १३ ।

(ङ) विद्यानन्दने अकलंक आदिके द्वारा प्रमाणसंग्रहादिमें प्रतिपादित हेतुभेदोंके संक्षिप्त और गम्भीर कथनका प्रमाण-परीक्षामें जो विशद निरूपण किया है उसका परीक्षामुखमें प्रायः अधिकांश शब्दशः और अर्थशः अनुसरण है ।

इससे ज्ञात होता है कि माणिक्यनन्दिने परीक्षामुखमें विद्यानन्दके ग्रन्थोंका भी खूब उपयोग किया है—उन्हें उनके ग्रन्थ अच्छे अभ्यस्त थे और इसलिए माणिक्यनन्दि विद्यानन्दके उत्तरकालीन जान पड़ते हैं, पूर्वकालीन या समकालीन नहीं।

२. वादिराजसूरि (ई. स. १०२५) ने न्यायविनिश्चयविवरण और प्रमाण-निर्णय ये दो न्यायग्रन्थ रचे हैं। न्यायविनिश्चयविवरण अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय-का विशद और विस्तृत व्याख्यान है तथा प्रमाणनिर्णय उनकी मौलिक कृति है, जो लघुकाय एवं विशद रचना है। यह भी ध्यातव्य है कि प्रमाणनिर्णय न्यायविनिश्चय-विवरणके बाद ही लिखा गया है^१। परन्तु जहाँ आ. विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्यों-का उल्लेख इन ग्रन्थोंमें पाया जाता है^२ वहाँ माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखके किसी सूत्रका अथवा उनका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। यदि माणिक्यनन्दि वादिराजसूरिके पूर्ववर्ती होते तो वादिराज विद्यानन्दकी तरह उनका अथवा उनके महत्त्वपूर्ण परीक्षा-मुखके सूत्रोंका उल्लेख अवश्य करते, यह बहुत सम्भव था, क्योंकि माणिक्यनन्दि नयनन्दि (वि. सं. ११वीं शती) के शब्दोंमें 'पण्डितचूडामणि', 'महापण्डित' और प्रभावशाली तार्किक थे। इससे यह सहज ही कहा जा सकता है कि माणिक्यनन्दि वादिराजके पूर्ववर्ती नहीं हैं—सम्भवतः वे उनके समसमयवर्ती अथवा कुछ उत्तरवर्ती जान पड़ते हैं और इसीसे उनके ग्रन्थोंमें परीक्षामुखका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

३. मुनि नयनन्दिने, जिनका निश्चित समय विक्रम संवत् ११००, ई. सन् १०४३ है, अपभ्रंशमें एक 'सुदंशणचरित' लिखा है। इसे उन्होंने धारामें रहते हुए भोजदेवके राज्यमें (प्रशस्तिमें दिये रचनाकालके अनुसार) विक्रम संवत् ११०० (ई. १०४३) में बनाकर समाप्त किया है। प्रशस्तिमें^३ नयनन्दिने अपनी गुरु-परम्परा भी दी है और उसमें अपना विद्यागुरु माणिक्यनन्दि को बतलाया है तथा उन्हें 'महापण्डित' और अपनेको उनका 'प्रथम विद्याशिष्य' प्रकट किया है। धारानगरीकी भी उन्होंने बड़ी प्रशंसा की है। उस समय उसका प्रशासक राजा भोजदेव था, जो रणमें शत्रुरूपी पर्वतोंके भेदन करनेके लिए वज्र थे, ऋद्धिमें देव और असुरोंको आश्चर्यचकित करनेवाले तथा त्रिभुवन-नारायण-श्रीनिकेत उपाधिधारी नरेन्द्रपुंगव थे। प्रशस्तिगत वह गुरु-परम्परा इस प्रकार है—

१. 'तन्निर्णयानुयोगिनः स्मरणादेः पश्चादपि किमर्थं निरूपणमिति चेदनुमानमेवेति ब्रूमः ।... निवेदयिष्यते चैतत् पश्चादेव शास्त्रान्तरे (प्रमाणनिर्णये)'।

—न्यायवि. वि. द्वि. भा. २-१, पृ. १, भा. ज्ञा. पी., १९४४।

२. वही, प्र. भा. १-२, पृ. ५६, भा. ज्ञा. पी., १९४४। तथा २-१०३, पृ. १३१; अन्तिम प्रशस्ति श्लोक २।

३. इस प्रशस्तिकी ओर मेरा ध्यान मित्रवर पं. परमानन्दजी शास्त्रोने खींचा और वह प्रशस्ति अपने पाससे भुझे दी। उसे मैं यहाँ साभार दे रहा हूँ—

जिणिंदस्स वीरस्स तित्थे महंते । महाकुंदकुंदण्णए एतंसंते ।

सुणक्खाहिहाणो तहा पोमणंदी । पुणो विण्हणंदो तओ णंदणंदी ॥

जिणुद्धिद्वम्म सुरासीविसुद्धो । कयाणेयगंथो जयंते पसिद्धो ।

भवंबोहिपोओ महाविस्सणंदी । खमाजुत्तु सिद्धंतिओ विसहणंदी ॥

तीर्थंकर महावीरके महान् तीर्थमें

महान् कुन्दकुन्दान्वयकी क्रमागत परम्परामें

सुनक्षत्र नामक आचार्य

पद्मनन्दि

विष्णुनन्दि

नन्दिनन्दि

विश्वनन्दि (अनेक ग्रन्थोंके कर्ता)

विशाखनन्दि (सैद्धान्तिक)

गणी रामनन्दि (तपस्वी, नरेन्द्रों-देवेन्द्रों द्वारा वन्दनीय)

महापण्डित माणिक्यनन्दि (गुणी, त्रैलोक्यनन्दिन्, अशेष शास्त्रोंमें पारंगत, तपस्वी)

नयनन्दि (प्रथम विद्याशिष्य, जगद्विख्यात, अनिन्द्य मुनि)

जिणिदागमाहासणे एयचित्तो । तवायारणिट्ठाए लद्धाए जुत्तो ॥

णरिदामरिदेहि सो णंदबंदो । हुओ तस्स सीसो गणो रामणंदो ॥

असेसाण गंधाण पारम्मि पत्तो । तवे अंगवी भव्वराईवमित्तो ॥

गुणावासभूओ सुत्तिल्लोककणंदो । महापण्डिओ तस्स माणिककणंदो ॥

पत्ता—पढमसीसु तहो जायउ जगद्विख्यायउ मुणिणयणंदि अणिदिउ ।

चरिउ सुदंसणणाणहो तेण अवाहहो विरइउ बुह-अहिणंदिउ ॥१॥

आरामगामवरपुरणिवेस सुयसिद्ध अवंतोणामदेस ।

सुरवइपुरि व्व विबुहयणइदु तहि अत्थि धार-णपरो गरिदु ॥

रणदुद्धर अरिवरसेल्लवज्जु रिद्धिए देवासुरजणियचोज्जु ।

तिहुवणणारायणसरिणिकेउ तहि णरवइपुंगमु भोयदेउ ॥

मणिगणपहदूसियरविगभत्थि तहि जिणहर वडुविहार अत्थि ।

णिवविककमकालहो ववगएसु एयारहसंवच्छरसएसु (११००) ॥

तहि केवल्लिचरिउ अमच्छरेण णयणंदि विरइउ कोच्छरेण ।

...

...

...

...

‘एत्थ सुदंसणचरिए पंचणमोक्कारफलपयासयरे माणिककणंदि-तइविज्ज-सीस-णयणंदिणा विरइए.....’—संघि १२ ।

ध्यातव्य है कि नयनन्दिने प्रत्येक सन्धिके अन्तमें माणिक्यनन्दिको ‘माणिक्यनन्दित्रैविद्य’ भी कहा है और उनका अपनेको शिष्य प्रकट किया है । इससे जान पड़ता है कि माणिक्यनन्दि ‘महापण्डित’ के साथ ‘त्रैविद्य’ भी कहे जाते थे । ये दोनों विशेषण उनकी विद्वत्ताके परिचायक हैं ।

अपभ्रंशके महाकवि मुनि नयनन्दिद्वारा उल्लिखित इस गुरुपरम्परासे प्रकट है कि माणिक्यनन्दि नयनन्दिके साक्षात् विद्यागुरु थे और वे उनके साक्षात् प्रथम विद्या-शिष्य । अतः माणिक्यनन्दिका समय नयनन्दिके समय अर्थात् ई. सन् १०४३ से कम-से-कम १५ वर्ष पूर्व (गुरु और प्रथम शिष्यके मध्यमें इतना अन्तर स्वाभाविक है) ई. सन् १०२८ के लगभग होना चाहिए ।

४. आ. प्रभाचन्द्र इन नयनन्दि (ई. १०४३) के समकालीन हैं, क्योंकि उन्होंने भी धारा (मालवा) में रहते हुए राजा भोजदेवके राज्यमें आ. माणिक्यनन्दिसे शिक्षा ग्रहण की थी और उनके परीक्षामुखपर 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विस्तृत टीका लिखी है और शेष कृतियाँ प्रायः भोजदेव^१ (वि. सं. १०७५ से वि. सं. १११०, ई. सन् १०१८ से १०५३) के उत्तराधिकारी धारानरेश जयसिंहदेवके^२ राज्यमें बनायी हैं । इसका मतलब यह हुआ कि प्रमेयकमलमार्तण्ड भोजदेवके राज्यकालके अन्तिम वर्षों—अनुमानतः वि. सं. ११०० से ११०७, ई. सन् १०४३ से १०५०—की रचना होना चाहिए । प्रभाचन्द्र इस समय तक राजा भोजदेव द्वारा अच्छा सम्मान और यश प्राप्त कर चुके थे ।^३ उस समय ये लगभग ४० वर्षके रहे होंगे । यदि शेष रचनाओंके लिए उन्हें ३० वर्ष भी लगे हों तो उनका अस्तित्व वि. सं. ११३७ (ई. सन् १०८०) तक पाया जा सकता है और इस तरह प्रभाचन्द्रका समय वि. सं. १०६७ से ११३७ (ई. सन् १०१० से १०८०) अनुमानित होता है ।

विभिन्न शिलालेखोंमें प्रभाचन्द्रके पद्मनन्दि सैद्धान्त^४ और चतुर्मुखदेव^५ गुरु बतलाये गये हैं और न्यायकुमुदचन्द्रकी अन्तिम प्रशस्तिमें पद्मनन्दि सैद्धान्तका ही गुरुरूपसे उल्लेख है । प्रमेयकमलमार्तण्डकी अन्तिम प्रशस्तिमें पद्मनन्दि सैद्धान्तके साथ परीक्षामुखसूत्रकार माणिक्यनन्दिका भी उन्होंने गुरुरूपसे उल्लेख किया है^६ । कोई आश्चर्य नहीं, नयनन्दिके द्वारा अपने विद्यागुरुरूपसे स्मृत माणिक्यनन्दि ही प्रभाचन्द्रके भी न्यायविद्यागुरु हों । नयनन्दिने अपनेको उनका प्रथम विद्या-शिष्य और उन्हें 'महापण्डित' एवं 'त्रैविद्य' कहा है, जिससे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दि न्यायशास्त्र आदि अनेक शास्त्रोंके पारंगत विद्वान् थे और उनके कई शिष्य थे । अतः सम्भव है कि प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दिकी विद्वत्ताकी प्रख्याति सुनकर दक्षिणसे धारानगरीमें, जो उस समय आजकी काशीकी तरह समस्त विद्याओं और विद्वानोंकी

१. प्रमेयकमलमार्तण्डकी समाप्ति-पुष्पिका ।

२. आत-परीक्षा, प्रस्तावना, पृ. ३०, नं. २ टिप्पण ।

३. ये वि. सं. १११२ (ई. १०५५) के आसपास राजगद्दीपर बैठे थे—विश्वनाथ रेड, 'राजा भोज' पृ. १०३, ।

४. शिलालेखसंग्रह, भाग १, शि. ले. नं. ४० (६४) ।

५. शिलालेखसं., भाग १, शि. ले. नं. ४० (६४) ।

६. वही, शि. ले. नं. ५५ (६९) ।

७. 'गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः । नन्दताद् दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥३॥ श्रीपद्मनन्दिसेद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः । प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ॥४॥

—प्र. क. मा., प्रश. पद्य. ३, ४ ।

केन्द्र बनी हुई थी और राजा भोजदेवका विद्या-प्रेम सर्वत्र प्रसिद्धि पा रहा था, उनसे न्यायशास्त्र पढ़नेके लिए आये हों और पीछे वहाँके विद्याव्यासंगमय वातावरणसे प्रभावित होकर वहीं रहने लगे हों या वहीँके निवासी हों तथा उनसे न्यायशास्त्रकी शिक्षा ग्रहण कर लेनेके बाद गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षामुखकी टीका लिखनेके लिए प्रोत्साहित तथा प्रवृत्त हुए हों। जब हम अपनी इस सम्भावनाको लेकर आगे बढ़ते हैं तो उसके पोषक प्रायः सब आधार भी मिल जाते हैं।

पहला आधार तो यह है कि प्रभाचन्द्रने परीक्षामुखटीका (प्रमेयकमलमार्चण्ड) को आरम्भ करते हुए लिखा है कि 'मैं अल्पज्ञ माणिक्यनन्दिके चरणकमलोंके प्रसादसे इस शास्त्र (टीका) को बनाता हूँ। क्या छोटा-सा झरोखा सूर्यकी किरणों द्वारा प्रकाशित हो जानेसे लोगोंके इष्ट अर्थका प्रकाशन नहीं करता? अर्थात् अवश्य करता है।' इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने गुरु माणिक्यनन्दिके चरणोंमें बैठकर परीक्षामुख और इतर दर्शनोंको, जिनके माणिक्यनन्दि प्रभाचन्द्रके शब्दोंमें 'अर्णव' थे, पढ़ा होगा और उससे उनके हृदयमें तद्गत अर्थका प्रकाशन हो गया होगा और इसलिए उनके चरणप्रसादसे उसकी टीका करनेका उन्होंने साहस किया होगा। गुरुकी कृतिपर शिष्य द्वारा टीका लिखना वस्तुतः साहसका कार्य है और उनके इस साहसको देखकर सम्भवतः उनके कितने ही साथी अथवा दूसरे विद्वान् स्पर्धा और उपहास भी करते होंगे, जिसकी प्रतिध्वनि प्रारम्भके तीसरे^१, चौथे^२ और पाँचवें^३ पद्योंसे प्रकट होती है।

दूसरा आधार यह है कि प्रभाचन्द्रने परीक्षामुख-टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति दी है उसमें माणिक्यनन्दिका गुरुरूपसे उल्लेख किया है^४ और उनके आनन्द एवं प्रसन्नताकी वृद्धि-कामना की है। इसके अतिरिक्त इसी प्रशस्तिके चौथे पद्यमें प्रभाचन्द्रने अपनेको 'रत्ननन्दिपदे रतः' पदके द्वारा 'माणिक्यनन्दिका चरणसेवक' प्रकट किया है, जिससे वे उनके साक्षात् विद्याशिष्य प्रतीत होते हैं।

तीसरा आधार यह है कि टीकाके मध्यमें^५ परीक्षामुखके (३-११) सूत्रकी व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्रने 'इत्यभिप्रायो गुरुणाम्' कहकर इन शब्दों द्वारा माणिक्यनन्दिको स्पष्टतः अपना गुरु प्रकट किया है और उनके अभिप्रायको बतलाया है।

चौथा आधार यह है कि नयनन्दि, उनके विद्यागुरु महापण्डित माणिक्यनन्दि त्रैविद्य और प्रभाचन्द्र ये सब एक ही काल अर्थात् राजा भोजदेव (वि. सं. १०७५ से वि. सं. १११०, ई. सन् १०१८ से १०५३) के समयके विद्वान् हैं। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि नयनन्दि और माणिक्यनन्दिकी तरह प्रभाचन्द्र और माणिक्यनन्दि भी शिष्य-गुरु रहे होंगे। एक कालकी तरह इनका स्थान भी एक (धारा) ही है।

१. प्रारम्भिक पद्य २, प्रमेय. मा. पृ. १।

२, ३, ४. वही, पद्य ३, ४, ५।

५. गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः।

नन्दताद् दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ॥—प्रमेयक. मा. प्रश. श्लोक ३।

६. प्रमेयक. मा. पृ. ३४८ (नया संस्करण), ३-११ की व्याख्या, प्रकाशन ई. १९४१।

पाँचवाँ आधार यह है कि प्रभाचन्द्रने प्रशस्तिके दूसरे श्लोकमें^१ 'परीक्षामुख' को 'अद्रि' (पर्वत) और उससे उदित सूर्यके सदृश अपना प्रमेयकमलमार्तण्ड बतलाया है। यहाँ अद्रि और सूर्यके साक्षात्सम्बन्धकी तरह प्रभाचन्द्रने माणिक्यनन्दिसे अपना साक्षात्सम्बन्ध व्यक्त किया है। इसके अलावा प्रशस्तिके पहले श्लोकमें^२ प्रभाचन्द्रने लिखा है कि 'हमने उन माणिक्यनन्दिप्रभुसे परीक्षामुखको जैसा पढ़ा-समझा वैसा ही कुछ अंशमात्र उसका व्याख्यान किया।' प्रभाचन्द्रके इन कथनोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र साक्षात् गुरु-शिष्य थे। महापण्डित माणिक्यनन्दित्रैविद्य नयनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि अनेक शिष्योंके गुरु रहे होंगे, जैसा कि नयनन्दिके उल्लेखसे प्रकट है। तथा एक शिष्यके अनेक गुरु भी हो सकते हैं। वादिराजके मतिसागर, हेमसेन और दयापाल ये तीन गुरु थे। उसी तरह प्रभाचन्द्रके भी पद्मनन्दिसेद्धान्त, महापण्डित माणिक्यनन्दि त्रैविद्य आदि अनेक गुरु होंगे।

इस विवेचनसे यह निष्कर्ष सामने आता है कि माणिक्यनन्दि और प्रभाचन्द्र साक्षात् गुरु-शिष्य थे और प्रभाचन्द्रने अपने साक्षात् गुरु माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख-पर अपनी टीका (प्रमेयकमलमार्तण्डव्याख्या) उसी प्रकार लिखी है जिस प्रकार बौद्ध विद्वान् कमलशील (ई. ८५०) ने^३ अपने साक्षात् गुरु शान्तरक्षित^४ (ई. ८२५) के तत्त्वसंग्रहपर 'पंजिका' व्याख्या रची है। अतः इन सब आधारों—प्रमाणों और संगतियोंसे परीक्षामुखकार आचार्य माणिक्यनन्दि प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि प्रसिद्ध तर्कग्रन्थोंके कर्त्ता आचार्य प्रभाचन्द्र (वि. सं. १०५० से १११०, ई. १०१० से १०८०) तथा नयनन्दि (वि. सं. ११००, ई. १०४३) के समकालीन विद्वान् अनुमानित होते हैं और उनके परीक्षामुखका रचनाकाल वि. सं. १०८५, ई. १०२८ के लगभग जान पड़ता है। इस समयके स्वीकारसे आ. विद्यानन्द (ई. ७७५ से ८४०) के ग्रन्थ-वाक्योंका परीक्षामुखमें अनुसरण, आ. वादिराज (ई. १०२५) द्वारा अपने ग्रन्थोंमें परीक्षामुख और आ. माणिक्यनन्दिका अनुल्लेख, मुनि नयनन्दि (ई. १०४३) और प्रभाचन्द्र (ई. १०१० से ई. १०८०) के गुरु-शिष्यादि उल्लेखों आदिकी संगति बन जाती है।

व्यक्तित्व और कृतित्व :

नयनन्दिने अपभ्रंशमें हो 'सुदंसणचरिउ' के अतिरिक्त 'सकलविधिविधान' नामकी एक और रचना लिखी है। इसकी विस्तृत प्रशस्तिमें^५ भी उन्होंने माणिक्य-

१. '....समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्' 'मार्तण्डतुल्योऽमलः ॥२॥—वही प्रश. श्लो. २।

२. '....यद्वचत्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः।

तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशतः—वही, प्रश. श्लोक १।

३, ४. वादन्यायका परिशिष्ट।

५. पञ्चवक्ख-परोक्खपमाणोरे, णयतरलतरंगावल्लिगहीरे।

वरसत्तभंगिकल्लोलमाल, जिणसासण-सरिणिम्मलसुसाल ॥

पंडियचूडामणि विबुहचंदु, माणिककणदिउ उप्पण्णु कंदु।

—सकलविधिविधान प. ६, छन्द १० के बाद।

नन्दिको 'पण्डितचूडामणि' बतलानेके साथ ही उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाणरूप जलसे भरे, नयरूपी तरंगोंसे गम्भीर और उत्तम सात भंगरूप कल्लोलोंसे उच्छलित जिन-शासनरूपी निर्मल महासरोवरमें अवगाहन करनेवाला (न्यायशास्त्री, महान् दार्शनिक एवं स्याद्वादो) भी लिखा है। इससे स्पष्ट है कि नयनन्दिको यहाँ 'पण्डितचूडामणि' तथा 'महापण्डित' माणिक्यनन्दिके लिए न्यायशास्त्रका धुरन्धर विद्वान् बतलाना अभिष्ट है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये माणिक्यनन्दि वे ही माणिक्यनन्दि हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्षप्रमाण प्रतिपादक अपना महत्त्वपूर्ण 'परीक्षामुख' लिखा है।

गुरु-शिष्यपरम्परा और अन्य गुण :

नयनन्दिके उपर्युक्त उल्लेखानुसार माणिक्यनन्दिके साक्षात् गुरु गणी (आचार्य) रामनन्दि हैं, जिन्हें उन्होंने तपस्वी और देवेन्द्रों तथा नरेन्द्रों द्वारा वन्दनीय बतलाया है। प्रगुरु विशाखनन्दि सैद्धान्तिक हैं। नयनन्दिने माणिक्यनन्दिको कुन्दकुन्दान्वयको क्रमागत परम्पराके साथ जोड़ा है, जिससे प्रतीत होता है कि माणिक्यनन्दि ऐसी गुरुपरम्पराके हैं, जिनके वचन-प्रामाण्य और लोकप्रियतामें सन्देह नहीं किया जा सकता है।

नयनन्दिने माणिक्यनन्दिको महापण्डित और अपनेको उनका प्रथम विद्या-शिष्य कहा है। इससे दो बातें प्रकट हैं। एक तो यह कि माणिक्यनन्दि ऐसे विद्वान् थे, जो अनेक विषयोंके माने हुए पण्डित थे और इसीसे 'महापण्डित' कहे जाते थे। नयनन्दिने उन्हें 'पण्डितचूडामणि' भी लिखा है, जो 'महापण्डित' के अर्थको ही प्रकट करता है। दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि नयनन्दि माणिक्यनन्दिके प्रथम (ज्येष्ठ) विद्याशिष्य थे, अतएव उनके अनेक शिष्य रहे होंगे। परीक्षामुखके टीकाकार प्रभाचन्द्रने भी अपनेको उनका शिष्य बतलाया है। नयनन्दि अपभ्रंश भाषाके एक कवि हैं, जिनकी 'सुदंसणचरित' और 'सयलविहिविहान' नामक अपभ्रंश-रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। प्रभाचन्द्र महान् तार्किक हैं, जिनके प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि अनेक तर्कग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। नयनन्दि और प्रभाचन्द्रकी तरह माणिक्यनन्दिके और भी विभिन्न विषयोंके अध्येता शिष्य रहे होंगे। नयनन्दिने माणिक्यनन्दिको अशेष ग्रन्थों (शास्त्रों) का पारंगत, तपस्वी, अंगोंके ज्ञाता, भव्यरूपी कमलोंके सूर्य, गुणोंके आवास, त्रैलोक्यको आनन्ददायी और त्रैविद्य भी लिखा है। प्रभाचन्द्रने उन्हें 'समस्त दर्शनोंका अर्णव (समुद्र)' बतलाया है।

इन सब उल्लेखोंसे माणिक्यनन्दिके बहुमुखी पाण्डित्य, विद्वत्ता, व्यक्तित्व, कृतित्व और गुरु-शिष्य परम्परा आदिपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

परीक्षामुख और उसका उद्गम

ग्रन्थ-परिचय :

जैन साहित्यकी अमर कृतियोंमें आचार्य गृद्धपिच्छ (उमास्वाति या उमास्वामी) के 'तत्त्वार्थसूत्र' की तरह आचार्य माणिक्यनन्दिका 'परीक्षामुख' है। यह जैन परम्पराका न्यायसूत्र है। परीक्षामुखका अर्थ है परीक्षाका द्वार, वह कसौटी, जिसके द्वारा खरे-खोटे, असली-नकली, सत्य-असत्य, ग्राह्य-अग्राह्यका ठीक-ठीक ज्ञान किया जाता है। 'परीक्षामुख' ऐसी ही कसौटी है, जिसके द्वारा हेयोपादेय तत्त्वोंका भली-भाँति ज्ञान होता है। असलमें परीक्षामुखमें न्यायतत्त्वकी समीक्षा (सम्यक् विवेचना) की गयी है। इसीलिए इसे 'न्याय-विद्या' या 'न्याय-विद्यामृत' भी कहा गया है^१।

यह संस्कृत-भाषामें निबद्ध, छह परिच्छेदोंमें विभक्त और २०८ (२१३ या २१२) सूत्रोंमें निर्मित है। सूत्र शब्द-रचनाकी दृष्टिसे सरल, विशद और नपे-तुले हैं। किन्तु अर्थकी दृष्टिसे गम्भीर, तलस्पर्शी और विचारपूर्ण हैं। इसपर लिखी गयी प्रमेयकमल-मार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला जैसी व्याख्याओंसे भी यह स्पष्ट है। निःसन्देह इसके सूत्रोंकी विशेषता है थोड़ेमें बहुतका बोध करा देना।

यद्यपि जैन न्यायके महान् प्रतिष्ठाता सूक्ष्मप्रज्ञ भट्ट अकलंकदेव (ई. ८वीं शती) जैन न्यायके मौलिक तत्त्वोंकी प्रस्थापना और विवेचना अपने प्रमाणसंग्रह, न्याय-विनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय और इनकी स्वोपज्ञ वृत्तियों तथा अष्टशती (देवागमवृत्ति) में कर चुके थे। पर गौतमके न्यायसूत्र, दिङ्नागके न्यायमुख, एवं दिङ्नागके शिष्य शंकरके न्यायप्रवेश, जैमिनिके मीमांसासूत्र, कपिलके सांख्यसूत्र और गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रकी तरह 'जैन न्याय-सूत्र' जैसी रचना अकलंक या अन्य जैनतार्किकके द्वारा नहीं हो सकी थी। इस कमीको महापण्डित एवं पण्डितचूडामणि आचार्य माणिक्यनन्द (ई. १०२८) त्रैविद्यने अपना 'परीक्षामुख' लिखकर पूरा किया। उनकी यह अमर रचना भारतीय न्याय-सूत्रग्रन्थोंमें विशिष्ट स्थान रखती और जैन न्यायसूत्रका प्रतिनिधित्व करती है। सूत्र सब गद्यमें हैं। केवल इसके आदि और अन्तमें एक-एक पद्य है। वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

(१) प्रमाणार्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।

इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ॥१॥

(२) परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।

संविदे माहेशो बालः परीक्षावक्षवद् व्यधाम् ॥२॥

पहला पद्य प्रतिज्ञा-श्लोक है, जिसमें प्रमाण और प्रमाणाभासका निर्देश तथा उनके प्रयोजनको बतलाते हुए उनके कथनकी प्रतिज्ञा की गयी है। दूसरे (अन्तिम)

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ३-४, पृ. ११९-१२८, ई. १९४२।

२. प्रमेयरत्नमा. श्लोक २, १-१ उद्धृता।

पद्यमें यह बतलाया गया है कि यह रचना एक दर्पणके तुल्य है। जिस प्रकार दर्पणमें पदार्थ साफ-साफ झलकते हैं उसी प्रकार इस परीक्षामुखमें हेयोपादेयतत्त्वोंका स्पष्ट ज्ञान होता है। साथ ही ग्रन्थकारने अपनी लघुताको ऐसी सुन्दरतासे प्रकट किया है, जिससे ग्रन्थके गौरव और महत्त्वमें कोई कमी नहीं होने पाती। लिखा है कि 'हेयोपादेयतत्त्वोंके आदर्शरूप इस परीक्षामुखसूत्रको, मुझ जैसे बालक (अकलंकादि महाज्ञानियोंके समक्ष अत्यल्पज्ञानी) ने हेयोपादेयतत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान करानेके लिए, परीक्षाकुशल निष्पक्ष व्यक्ति (न्यायाधीश) की तरह रचा है।'

ग्रन्थका महत्त्व :

इस रचना (ई. १०२८) को बने ९५२ वर्षके लगभग हो गये। फिर भी उसका महत्त्व आज भी उसी प्रकारका है। टीकाकारोंने इस सूत्रग्रन्थकी बड़ी महिमा प्रकट की है। परीक्षामुखके महान् और आद्य टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र अपनी प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड-टीकाको समाप्त करते हुए लिखते हैं^१ कि 'माणिक्यनन्दि प्रभुका यह सूत्र-ग्रन्थ (परीक्षामुख) गम्भीर, निखिलार्थगोचर, शिष्यप्रबोधप्रदसमर्थ और अद्वितीय है।' दूसरे टीकाकार आचार्य अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार) ने लिखा है^२ कि 'यह परीक्षामुख 'न्यायविद्यामृत' है, जिसे आचार्य अकलंकदेवके वचन-समुद्रसे निकाला गया है और जिसके निकालनेवाले महान् आचार्य माणिक्यनन्दि हैं उन्हें मेरा विनम्र प्रणाम है।' इसी प्रकार अन्य व्याख्याकारोंने भी 'परीक्षामुख' की प्रशंसा की है।

इस सूत्रग्रन्थके महत्त्वने निःसन्देह बहुतोंको अपनी ओर आकर्षित किया है और कितने ही विद्वानोंने इसके समकक्ष दूसरे सूत्रग्रन्थ बनानेकी चेष्टा भी की है। इसके लिए उदाहरणस्वरूप श्वेताम्बर विद्वान् देवसूरिके 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' का नाम लिया जा सकता है। परन्तु इस ग्रन्थके शब्द और अर्थका बहुत कुछ अनुसरण^३ एवं उद्धरण कर लेनेपर भी वे अपने सूत्रोंमें वह शब्द-सोष्ठव और अर्थ-गौरव तथा अक्षरोंका नपा-तुलापन नहीं ला सके, जो परीक्षामुखसूत्रके सूत्रोंमें है और जो वास्तवमें एक सूत्रग्रन्थके लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है।

यह परीक्षामुख अकलंकके गहन, गम्भीर, जटिल, दुरूह, दुर्गम और गूढार्थक वाङ्मयके अर्थ (प्रतिपाद्य विषयों) का हस्तामलकवत् बोध करानेमें कितना समर्थ है, यह प्रभाचन्द्रके निम्न प्रस्तावना-वाक्यसे प्रकट है, जो प्रमेयकमलमार्त्तण्डके आरम्भमें दिया गया है।

१. गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदं,

यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः ।—प्र. क. मा., अन्तिम प्रश्., श्लो. १।

२. अकलङ्कवचोऽम्बोधेरुद्घो येन धीमता ।

न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥—प्रमेयर., श्लो. २।

३. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग २, किरण १, जून १९३५, पृ. १८ में प्रकाशित 'प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकारकी समीक्षा' शीर्षक लेख ।

श्रीमदकलङ्कार्थोऽव्युत्पन्नप्रज्ञैरवगन्तुं न शक्यत इति तद्व्युत्पादनाय करतला-
मलकवत् तदर्थमुद्धृत्य प्रतिपादयितुकामस्तत्परिज्ञानाऽनुग्रहेच्छाप्रेरितस्तदर्थप्रति-
पादनप्रवर्णं प्रकरणमिदमाचार्यः प्राह ।'

इससे परीक्षामुखसूत्रका महत्त्व स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। और टीकाकारोंके उल्लेखानुसार इस विषयमें भी कोई सन्देह नहीं रहता कि इस सूत्रग्रन्थका अकलंकके वाङ्मयपरसे उद्भव हुआ है। इसके अतिरिक्त आचार्य विद्यानन्दके प्रमाणपरीक्षा आदि ग्रन्थोंसे भी उसकी रचनामें बहुत सहायता ली गयी है ।'

परीक्षामुखका विषय :

जैसा कि पहले कहा गया है कि इस सूत्रग्रन्थमें प्रमाण और प्रमाणाभासोंका प्रतिपादन है। इसमें ६ परिच्छेद हैं । प्रथम परिच्छेदमें अन्य प्रमाण-लक्षणोंकी समीक्षा करते हुए अपने तथा अपूर्व (अगृहीत—अनिश्चित—अज्ञात) अर्थके निश्चायक सम्यग्ज्ञानको प्रमाण सिद्ध किया गया है। तथा प्रमाणके लक्षणमें दिये विशेषणोंकी सार्थकता दिखलाते हुए प्रमाणता (प्रमाणकी सत्यता—प्रामाण्य) की ज्ञप्ति और उत्पत्तिका भी विमर्श किया गया है। ज्ञप्ति (प्रमाण्यका निश्चय—सही जानकारी) अभ्यास दशा (परिचित ग्राम-तड़ागादि विषयों) में स्वतः (स्वयं) और अनभ्यस्त (अपरिचित अन्य ग्राम-तड़ागादि विषयों) में परतः (दूसरे ज्ञानादिसे) बतलाकर

१. आसपरीक्षा, प्रस्ता. पृ. २८, वीरसेवामन्दिर, १९४९। तथा यही ग्रन्थ पृ. ४०५।

२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और प्रमेयरत्नालंकार इन दो व्याख्याओंके पुष्पिकावाक्योंमें 'परिच्छेद' और प्रमेयरत्नमालाके पुष्पिकावाक्योंमें 'समुद्देश' पदका प्रयोग है। मूल सूत्र-ग्रन्थमें किस पदका प्रयोग किया गया होगा, इसका व्याख्याओंके सिवाय अन्य कोई स्रोत ज्ञात नहीं है। सूत्र-संख्याके विषयमें भी इन व्याख्याओंमें अन्तर है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें प्रथम परिच्छेदमें १३, द्वितीयमें १२, तृतीयमें १०१, चतुर्थमें $१० + ३ = १३$ (विषय और फल दोनोंको इसमें सम्मिलित कर लिया है तथा 'सामान्यं द्वेषा' ॥३॥, तिर्यगूद्घ्वंता-भेदात् ॥४॥) ये दो सूत्र मान लिये गये हैं, जबकि प्रमेयरत्नमाला तथा प्रमेयरत्नालंकार-में उन्हें एक ही सूत्र (३२) बताया गया है।), पाँचवेंमें ७३ ('ततोऽन्यत्तदाभासम्' ॥१॥ से 'प्रमाणतदाभासौ...' ॥७३॥ इस सूत्र तक) और षष्ठमें १ (मात्र 'सम्भवदन्य-द्विचारणीयम् ॥१॥' यह अन्तिम सूत्र) इस प्रकार $१३ + १२ + १०१ + १३ + ७३ + १ = २१३$ सूत्र हैं। प्रमेयरत्नमालामें प्रथम समुद्देशमें १३, द्वितीयमें १२, तृतीयमें ९७ (इसमें प्रत्यभिज्ञानके ५ उदाहरणोंको एक ६ठा ही सूत्र माना है, जबकि प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड तथा प्रमेयरत्नालंकारमें उन्हें एक-एक सूत्रका रूप दिया गया है। अतएव ४ सूत्र कम हो गये हैं), चतुर्थमें ९, पंचममें ३ और षष्ठमें ७४ सूत्र हैं। इस तरह कुल सूत्र इसमें $१३ + १२ + ९७ + ९ + ३ + ७४ = २०८$ हैं। प्रमेयरत्नालंकारमें प्रथम परिच्छेदमें १३, द्वितीयमें १२, तृतीयमें १०१, चतुर्थमें ९, पंचममें ३ और षष्ठमें ७४ कुल २१२ सूत्रोंकी संख्या है। इसे व्याख्याकारोंका विवक्षाभेद ही कहा जा सकता है। मूलकारके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं आता।—ले.।

प्रामाण्यकी उत्पत्ति दोनों (परिचित और अपरिचित) स्थानमें (अन्य कारणों— गुणादि) से प्रतिपादित की गयी है ।

द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदोंको गिनाकर प्रत्यक्षके स्वरूप, उसके सांव्यवहारिक और मुख्य दो भेदोंका निर्देश, उनके लक्षण, अर्थ और आलोककी ज्ञानके प्रति कारणताका निरास, स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यताके द्वारा ज्ञानकी प्रतिनियत पदार्थव्यवस्थाका निरूपण और मुख्यप्रत्यक्षको सयुक्तिक सिद्धि की गयी है ।

तृतीय परिच्छेदमें परोक्षप्रमाणके पाँच भेदोंकी गणना और प्रत्येकका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उन (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम) का सूत्रों द्वारा सरल और विशद निरूपण किया गया है । अनुमानका विवेचन इस परिच्छेदमें सर्वाधिक है । अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो भेदों, उसके प्रतिज्ञादि अवयवों, साध्य-साधनके लक्षणों, हेतुभेदों, धर्मीकी तीन प्रकारसे सिद्धि, पक्षप्रयोगकी आवश्यकता और प्रतिपाद्योंके अनुसार प्रयोगव्यवस्था, आगमका स्वरूप जैसे विषयोंका सूत्रोंमें विशद कथन किया गया है ।

चौथे परिच्छेदमें प्रमाणके विषय (प्रमेय) का दिग्दर्शन है । सामान्यैकान्त, विशेषैकान्त और परस्परनिरपेक्ष उभयैकान्तकी समीक्षा करते हुए सामान्य-विशेषात्मक वस्तुको प्रमाणका विषय सिद्ध किया है । साथ ही सामान्य और विशेषके दो-दो भेदोंका तथा उनका स्वरूप भी निरूपित है ।

पाँचवें परिच्छेदमें प्रमाणके फलका निर्देश है । जो प्रमाणके फलको सर्वथा भिन्न अथवा सर्वथा अभिन्न स्वीकार करते हैं उनकी मीमांसा कर उसे प्रमाणसे कथंचिद् भिन्न और कथंचिद् अभिन्न सहेतुक सिद्ध किया है ।

छठे परिच्छेदमें प्रमाणाभासके स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास व फलाभास, संख्याभासके प्रत्यक्षाभास और परोक्षाभास दो भेद निरूपित करके परोक्षाभासके अवान्तर भेदों—स्मृत्याभास, प्रत्यभिज्ञानाभास, तर्काभास, अनुमानाभास और आगमाभासका प्रतिपादन किया गया है । अनुमानाभासके पक्षाभास, हेत्वाभास, अवयवाभास और दृष्टान्ताभास भी विशदतया वर्णित हैं । परिच्छेदके अन्तमें अन्य सम्भव नय जैसे ज्ञानोपायों तथा जय-पराजयकी व्यवस्थाको भी विचारणीय बतलाया है ।

व्याख्याएँ :

(१) प्रमेयकमलमार्तण्ड—परीक्षामुखपर कई व्याख्याएँ रची गयी हैं । इनमें सबसे बड़ी, विशाल और आद्य व्याख्या प्रमेयकमलमार्तण्ड है, जिसके रचयिता प्रसिद्ध तार्किक प्रभाचन्द्राचार्य हैं । यह व्याख्या १२००० श्लोक प्रमाण है । इस व्याख्याकी प्रशंसा करते हुए उत्तरवर्ती टीकाकार लघु अनन्तवीर्यने उसे 'उदार-चन्द्रिका' की उपमा दी है और उसके सामने अपनी टीका 'प्रमेयरत्नमाला' को जुगुनूके प्रकाशके समान बताया है ।

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति ।

मादृशाः ष्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥ —प्रमेयर. श्लो. ३, पृ. ४ ।

(२) प्रमेयरत्नमाला—दूसरी टीका 'प्रमेयरत्नमाला' है, जिसे प्रभाचन्द्रके कुछ ही काल बाद लघु अनन्तवीर्य (ईसाकी १२वीं शती) ने लिखा है। यह व्याख्या अत्यन्त विशद, सरल और मध्यम परिमाणकी है। इसकी रचनाका प्रयोजन बतलाते हुए अनन्तवीर्य लिखते हैं कि 'यद्यपि प्रभाचन्द्रकी वचन (प्रमेयकमलमार्त्तण्ड) रूप उदार चांदनीके सामने जुगनुके सदृश मेरी प्रमेयरत्नमालाको कौन पूछेगा, तथापि जिस प्रकार नदीका नवीन घटमें भरा हुआ मधुर जल सज्जनोंके चित्तका हरण करनेवाला होता है, उसी प्रकार प्रभाचन्द्रके वचन ही इस मेरी प्रमेयरत्नमालारूप नयी रचनामें होनेके कारण वह सज्जनोंके मनको हरण करेगी।' इसमें सन्देह नहीं कि यह व्याख्या मन्दप्रज्ञोंके लिए बड़ी ही बोधप्रद है। इस व्याख्याको स्वयं अनन्तवीर्यने 'परीक्षामुखपञ्जिका' कहा है, जिसका अर्थ है पदोंको तोड़-तोड़कर अर्थ करना। यथार्थमें अनन्तवीर्यने परीक्षामुखके सूत्रोंका इसी प्रकार अर्थ किया है और सन्दर्भ पाकर विशेष विवेचन भी किया है। इसकी विशेषता यह है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें जिन विषयोंका विस्तृत कथन है उनका प्रमेयरत्नमालामें संक्षेपमें विशद प्रतिपादन है। अतएव इसे 'परीक्षामुखलघुवृत्ति' भी कहा गया है।

(३) प्रमेयरत्नालंकार—इसकी तीसरी व्याख्या 'प्रमेयरत्नालंकार'^३ है, जिसकी रचना पण्डिताचार्य अभिनव चारुकीर्तिने की है। इसमें अनेक स्थलोंपर नव्यन्यायका बड़ा ही सुन्दर समावेश है और इस दृष्टिसे न्यायशास्त्रके जिज्ञासुओं और छात्रोंके लिए यह व्याख्या बड़ी सहायक है।

(४) न्यायमणिदीपिका—चौथी व्याख्या अजितसेनाचार्यकी 'न्यायमणि-दीपिका' है,^४ जिसका उल्लेख प्रमेयरत्नालंकार (पृ. १८१) में भी किया गया है। पं. भुजबलि शास्त्री द्वारा सम्पादित और जैन सिद्धान्त भवन, आरासे प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रह (पृ. १) में इसके आदि-अन्तके अंशोंको देकर इस व्याख्याका कुछ परिचय दिया है।

(५) प्रमेयकण्ठिका—पाँचवीं व्याख्या शान्तिवर्णीकी 'प्रमेयकण्ठिका' है^५। यह वास्तवमें परीक्षामुखके प्रथम सूत्र 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्' की ही मात्र व्याख्या है। किन्तु इसमें पाँच स्तवकों द्वारा प्रमाणशास्त्रके सभी प्रमुख विषयों—प्रमाणका लक्षण, प्रमाणका फल, प्रामाण्य, प्रमाणका विषय, सर्वज्ञत्व आदिका संक्षेपमें कथन किया गया है।

१. प्रभेन्दुवचनोदारचन्द्रिकाप्रसरे सति ।

मादृशाः क्व नु गण्यन्ते ज्योतिरिङ्गणसन्निभाः ॥

तथापि तद्वचोऽपूर्वरचनाचिरं सताम् ।

चेतोहरं भूतं यद्वन्नद्या नवघटे जलम् ॥ —प्रमेयर. श्लो. ३, ४; पृ. ४ ।

२. शान्तिषेणार्थमारब्धा परीक्षामुखपञ्जिका । —वही. श्लो. ५, पृ. ५ ।

३. इसका प्रकाशन सन् १९४८ में मैसूरसे हो चुका है ।

४. यह अभी अप्रकाशित है ।

५. इसका प्रकाशन सन् १९७२ में बीर-सेवामन्दिर-ट्रस्टसे हो चुका है ।

प्रमेयरत्नमालापर पण्डिताचार्य चारुकीर्तिकी लिखी 'अर्थप्रकाशिका' नामकी भी एक व्याख्या उपलब्ध है, जिसका अभी प्रकाशन नहीं हुआ है और जिसकी पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन, आरामें विद्यमान है। इसका आदि-अन्त भाग देकर भवनसे प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रहमें परिचय दिया गया है। हमने आसपरीक्षाकी प्रस्तावना (पृ. २७) में भी इसका निर्देश किया है।

देवसूरिने तो इस सूत्र-ग्रन्थके आधारसे अपना एक नया ही न्यायसूत्र 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' नामका रचा है। इसमें उन्होंने परीक्षामुखका शब्दशः और अर्थशः पूर्णतया अनुसरण किया है। हेमचन्द्रने भी प्रमाणमोमांसाके सूत्रोंके निर्माणमें इसके सूत्रों और प्रमेयरत्नमालाका पूरा उपयोग किया है।

निष्कर्ष यह कि जैन न्याय-साहित्यकी उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण कृतियोंमें 'परीक्षामुख'का गौरवपूर्ण स्थान है और वह बेजोड़ कृति है।

परीक्षामुखका उद्गम :

ऊपरके विवेचनमें यह कहा जा चुका है कि प्रमेयरत्नमालाकार लघु अनन्तवीर्य-के उल्लेखानुसार आचार्य माणिक्यनन्दिने अकलंकके वाङ्मयके हार्दको अवगत कराने-के लिए उसका मन्थन कर 'परीक्षामुख' रचा है। इस (परीक्षामुख)के द्वारा अकलंकके न्यायग्रन्थोंमें, जो दुरवगाह और अत्यन्त दुरूह हैं, प्रवेश सम्भव है। अतः प्रस्तुतमें विचारणीय है कि परीक्षामुख अकलंकदेवके किन ग्रन्थोंके अध्ययनका परिणाम है ? अकलंकके अष्टशती, तत्त्वार्थवात्तिक, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय और प्रमाणसंग्रह तथा उनकी स्वोपज्ञ वृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनका सिद्धिविनिश्चय, जिसका उद्धार उसपर लिखी गयी बृहद् अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकापर-से अभी तक नहीं हो पाया है और जिसकी स्वतन्त्र प्रति कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं है, प्रकाशमें नहीं आ सका है। अतः अकलंकके उपलब्ध वाङ्मयपरसे ही परीक्षामुखके सूत्रोंके उद्गम स्थानको तुलनात्मक आधारपर प्रस्तुत किया जाता है। तुलनामें परीक्षा-मुखके सूत्रोंको कुछ बड़े टाइपमें ऊपर रखा गया है और अकलंकके ग्रन्थोंके आधार-वाक्योंको उनके नीचे कुछ छोटे टाइपमें दिया गया है।

प्रथम परिच्छेद

स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ॥१॥

१. प्रमाणमविसंवादिज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात् ।

—अष्टशती, देवा. कारिका ३६ ।

२. प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णायकत्वात् ।

—अष्टश. देवा. का. १०१ ।

१. अब यह ग्रन्थ भी भारतीय ज्ञानपीठसे सन् १९५९ में अनन्तवीर्य (बृहद्) की टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। पर तुलनामें उसे नहीं लिया जा सका, क्योंकि यह लेख उससे पहले लिखा गया था। —लेखक।

३. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम् ।
ग्रहणं निर्णयस्तेन मुख्यं प्रामाण्यमश्नुते ॥ —लघोयस्त्रय, कारि. ६० ।
४. ज्ञानं प्रमाणमात्मादेः । —लघो. का. ५२ ।
५. लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयात् ।
—अष्टश. देवा. का. १०१ ।

हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ॥२॥

१. हिताहितासिनिर्मुक्तिक्षमम् । —न्यायविनिश्चय का. ४ ।
२. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं । —लघो. विवृ. का. ६१ ।
३. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं द्वे एव प्रमाणे । —प्रमाणसंग्रहविवृति का. २ ।

तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ॥३॥

१. सति मुख्ये निर्णयात्मके ज्ञाने सकलव्यवहारनियामके ।
—लघो. वि. का. ६ ।
२. समारोपव्यवच्छेदाविशेषात् । —अष्टश. देवा. का. ६ ।

अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ॥४॥

१. अनिश्चितनिश्चयात् । —अष्टश. देवा. का. १०१ ।
२. अनिर्णीतनिर्णयिकत्वात् । —अष्टश. देवा. का. १०१ ।

दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ॥५॥

१. प्रत्यक्षेऽर्थेऽन्यथारोपव्यवच्छेदप्रसिद्धये । —न्यायवि. का. ४७१ ।
२. कथमन्यथा दृष्टे प्रमाणान्तरवृत्तिः कृतस्य करणायोगात् ।
—लघो. वि. का. २२ ।
३. गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात् । —अष्टश. देवा. का. १४ ।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ॥६॥

१. स्वतोऽव्यवसायस्य विकल्पोत्पादनं प्रत्यनङ्गत्वात् । —लघो. वि. का. ६० ।
२. स्वसंवेद्यं विकल्पानां विशदार्थविभासनम् । —लघो. का. २३ ।
३. यदि च विज्ञानं स्वात्मानं न विजानीयादुत्तरकालमनधिगतस्वात्म-
विज्ञानः कथं ब्रूयात् 'ज्ञोऽहमिति' । —त. वा. पृ. ३६ ।
४. अध्यक्षात्मविज्ञानमपरत्रानुमानिकम् ।
अन्यथा विषयालोकव्यवहारविलोपतः ॥ —न्या. वि. का. १३ ।

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥१६॥

असिद्धसिद्धेरप्यर्थः सिद्धश्चेदखिलं जगत् ।
सिद्धे तत्किमतो ज्ञेयं सैव (धोः) किन्नानुपाधिका ॥ —न्या. वि. का. १८ ।

प्रदीपवत् ॥१२॥

अनवस्येति चेन्न दृष्टत्वात्प्रदीपवत् ।...दृष्टो हि प्रदीपो घटादीनां प्रकाशकः
स्वस्य च । —त. वार्तिक पृ. ३५ ।

तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च ॥१३॥

१. प्रमाणमर्थसंवादात् । —प्र. सं. का. १० ।
२. प्रामाण्यं व्यवहाराद्धि । —लघी. का. ४१ ।
३. यद्यथैवाविसंवादि प्रमाणं तत्तथा मतम् । —लघी. का. २२ ।
४. तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं यथा, तत्संख्यादौ
विसंवादकत्वादप्रमाणं, प्रमाणेतरव्यवस्थायाः तल्लक्षणत्वात् ।
—लघी. वि. का. २२ ।

द्वितीय परिच्छेद

तद्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षेतरभेदात् ॥२॥

१. तत्प्रत्यक्षं परोक्षं च द्विधैव... । —लघी. का. ६१ ।
२. तत्समञ्जसं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वे एव प्रमाणे । —लघी. वि. का. २१ ।
३. द्वे एव प्रमाणे इति शास्त्रार्थस्य संग्रहः । —प्रमा. सं. वि. का. २ ।

विशदं प्रत्यक्षम् ॥३॥

१. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं..... । —लघी. का. ३ ।
२. प्रत्यक्षं विशदज्ञानं..... । —प्रमा. सं. का. २ ।
३. ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम् । —लघी. वि. का. ३ ।
४. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा । —न्या. वि. का. ३ ।

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ॥४॥

१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम् ।
२. तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः..... । —लघी. का. ४ ।

इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ॥५॥

१. तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम् । —लघी. वि. का. ४ ।
२. यद्देशतोऽर्थज्ञानं तदिन्द्रियाध्यक्षमुच्यते । —न्या. वि. का. ४ ।
३. तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् । —लघी. वि. का. ५२ ।

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

१. न हि तत्परिच्छेद्योऽर्थः तत्कारणतामात्मसात्कुर्यात् । —लघी. वि. का. ५२ ।
२. नार्थः कारणं विज्ञानस्य । —लघी. वि. का. ५८ ।
३. अर्थस्य तदकारणत्वात् । —लघी. वि. का. ५२ ।
४. आलोकोऽपि न कारणं परिच्छेद्यत्वादर्थवत् । —लघी. वि. का. ५५ ।
५. न हि तमः चक्षुर्ज्ञानप्रतिषेधकम्, तमोविज्ञानाभावप्रसङ्गात् ।
—लघी. वि. का. ५६ ।
६. तमोवत् । —लघी. वि. का. ५६ ।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवक्षस्तंचरज्ञानवच्च ॥७॥

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थश्चेत्कारणं विदः ।

संशयादिविदुत्पादः कौतुस्कुत इतीक्ष्यताम् ? ॥ —लघी. का. ५४ ।

२. तामसखगकुलानां तमसि सति रूपदर्शनं.....मुमूर्षोणां यथासम्भवमर्थं
सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसद्भावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति स्थितम् ।

—लघी. वि. का. ५७ ।

अतज्जन्मपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ॥८॥

१. न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥ —लघी. का. ५२ ।

२. प्रदीपस्येव घटादिः ।

—लघी. वि. का. ५२ ।

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति
(प्रत्यक्षमिति शेषः) ॥९॥

१. प्रत्यर्थमावरणविच्छेदापेक्षया ज्ञानस्य परिच्छेदकत्वात् ।

—लघी. वि. का. ५६ ।

२. यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षणी करणमनसो निमित्तं विज्ञानस्य न
बहिरर्थादयः ।

—लघी. वि. का. ५७ ।

३. मलविद्धमणिव्यक्तियंथाऽनेकप्रकारतः ।

कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथानेकप्रकारतः ॥

—लघी. का. ५७ ।

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥१०॥

१. उत्पन्नस्यापि न कारणे व्यापारः करणादिवत् । —लघी. वि. का. ५३ ।

२. अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥ —लघी. का. ५३ ।

३. यदि कारणकार्यभावमात्मार्थयोर्विज्ञानं परिच्छिद्यात् न कश्चिद्विप्रति-
पत्तुमर्हति कर्तृकरणकर्मसु ।

—लघी. वि. का. ५३ ।

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥११॥

१. लक्षणं सममेतावान् विशेषोऽशेषगोचरम् ।

अक्रमं करणातीतमकलङ्कं महीयसाम् ॥

—न्या. वि. का. १६८ ३, प्रमा. सं. का. ९ ।

२. परं ज्योतिरनाभासं सर्वतो भासमक्रमम् ।

—प्रमा. सं. का. ८ ।

३. सकलज्ञानावरणपरिक्षये तु निराभासं, सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रति-
भासायोगात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ८ ।

४. मुख्यमतीन्द्रियज्ञानम् ।

—लघी. वि. का. ४ ।

५. ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ।

अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थाविलोकनम् ॥

—न्या. वि. का. ४६५ ।

सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ॥१२॥

१. कथंचित्स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता ।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥
साक्षात्कर्त्तृ विरोधः कः सर्वथावरणात्यये ? ।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्भा भविष्यति ॥ —न्या. वि. का. ३६१, ३६२ ।

तृतीय-परिच्छेद

परोक्षमितरत् ॥१॥

इतरस्य परोक्षता ।

—लघी. वि. का. ३ ।

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥२॥

१. परोक्षं शेषविज्ञानम् । —लघी. का. ३ ।
२. ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम् ।
प्राङ्नामयोजनाच्छेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥ —लघी. का. १० ।
३. अविस्वादस्मृतेः फलस्य हेतुत्वात् प्रमाणं धारणा । स्मृतिः संज्ञायाः
प्रत्यवमर्शस्य । संज्ञा चिन्तायाः तर्कस्य । चिन्ता अभिनिबोधस्य
अनुमानादेः । —लघी. वि. का. १० ।

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

१. प्रमाणमर्थसंवादात् प्रत्यक्षान्वयिनी स्मृतिः । —प्रमा. सं. का. १० ।
२. स्मृतिहेतुधरणा संस्कार इति यावत् । —लघी. वि. का. ६ ।

दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।

तदेवेवं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

१. संज्ञायाः प्रत्यवमर्शस्य (संज्ञा प्रत्यवमर्शः) । —लघी. वि. का. १० ।
२. उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यप्रतिपाद्यसाधनम् ।
तद्वेधर्म्यात्प्रमाणं किं स्यात् संज्ञाप्रतिपादनम् ॥ —लघी. का. १९ ।
३. प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा ॥ —लघी. का. २० ।

यथा स एवायं देवदत्तः ॥६॥ गोसदृशो गवयः ॥७॥

गोविलक्षणो महिषः ॥८॥ इदमस्माद्दूरम् ॥९॥ वृक्षोऽयमित्यादि ॥१०॥

१. गौरिव गवयः इति श्रुत्वा गवयदर्शिनः तन्नामप्रतिपत्तिवत् गवयोऽयमिति
(ज्ञानं) यथा गवयदर्शिनः, (प्रमाणान्तरम्) प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्य-
सिद्धेरभावात् (तथा) वृक्षोऽयमिति ज्ञानं वृक्षदर्शिनः प्रमाणान्तरम् ।
प्रत्यक्षेषु इतरेषु तिर्यक्षु तस्यैव पुनरगवयनिश्चयः किं नाम प्रमाणं ? हानो-
पादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं नाप्रमाणं भवितुमर्हति । —लघी. वि. का. १९ ।
२. इदमल्पं महद्दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षोऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ॥ —लघी. का. २१ ।

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११॥

१. सम्भवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः । —प्रमा. सं. का. १२ ।
२. समक्षविकल्पानुस्मरणपरामर्शसम्बन्धाभिनिबोधस्तर्कः प्रमाणम् ।
—प्रमा. सं. वि. का. १२ ।
३. अविकल्पधिया लिंगं, न किञ्चित्सम्प्रतीयते ।
नानुमानादसिद्धत्वात् प्रमाणान्तरमाञ्जसम् ॥ —लघी. का. ११ ।
४. लिंगप्रतिपत्तेः प्रमाणान्तरत्वात् । —लघी. वि. का. ११ ।
५. न हि साकल्येन लिंगस्य लिंगिना व्याप्तेरसिद्धौ क्वचित् किञ्चिदनुमानं नाम ।
—लघी. वि. का. ११ ।
६. प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां यदि तत्त्वं प्रतीयते ।
अन्यथानुपपन्नत्वमतः किन्न प्रतीयते ॥ —न्या. वि. का. ३२७ ।

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१४॥

- साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् । —न्या. वि. का. १७० ।

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥१५॥

१. लिंगात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् । —लघी. का. १२ ।
२. अन्यथानुपपत्तिमान् हेतुरेव । —न्या. वि. का. १७६ ।
३. साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नम् । —न्या. वि. २६९, प्रमा. सं. का. २१ ।

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१६॥

१. साध्याविनाभावे सहक्रमसंयोगलक्षणे । —प्रमा. सं. वि. १९ ।
२. सहदृष्टैश्च धर्मेस्तन्न विना तस्य संभवः । —न्या. वि. का. ३३० ।

सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

१. युगपद्भाविनामजन्यजनकसहभावनियमः । —प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

तर्कात्तिर्णयः ॥१९॥

१. सत्यप्यन्वयविज्ञाने स तर्कपरिनिष्ठितः ।
अविनाभावसम्बन्धः साकल्येनावधार्यते ॥
सहदृष्टैश्च धर्मेस्तन्न विना तस्य संभवः ।
इति तर्कमपेक्षेत नियमेनैव लैङ्गिकम् ॥ —न्या. वि. का. ३२९, ३३० ।
२. साकल्येन व्याप्तिः परोक्षातः । —प्रमा. सं. वि. का. ३३ ।
३. व्याप्तिं साध्येन हेतोः स्फुटयति न विना चिन्तयेकत्र दृष्टिः
साकल्येनैष तर्कोऽनधिगतविषयः.... —लघी. का. ४२ ।
४. परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठेत ।—अष्टश., देवा. का. ६ ।

दृष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥२०॥

साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् । —न्या. वि. का. १७२, प्रमा. सं. का. २० ।

संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥२१॥

अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्यः । —प्रमा. सं. वि. का. २० ।

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ॥३६॥

त्रिलक्षणमभिधाय यदि समर्थयते कथमिव सन्धामतिशेते ।

—अष्टश., देवा. का. ७ ।

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ॥३७॥

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्प्रयोगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥३८॥

सर्वत्रैव न दृष्टान्तोऽनन्वयेनापि साधनात् । —न्या. वि. का. ३८१ ।

दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ॥३७॥

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ॥३८॥

साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥३९॥

सम्बन्धो यत्र निज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः ।

स दृष्टान्तः.....॥

—न्या. वि. का. ३८० ।

स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ॥५७॥

उपलब्धिविधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५८॥

१. यथा कार्यं स्वभावो वाप्यन्यथाऽऽशङ्क्यसंभवः ।

हेतुश्चानुपलम्भोऽयं तथैवेत्यनुगम्यताम् ॥

प्रत्यक्षानुपलम्भश्च विधानप्रतिषेधयोः ।

अन्तरेणैव सम्बन्धमहेतुरिव लक्ष्यते ॥

—न्या. वि. का. ३३५, ३३६ ।

२. नानुपलब्धिरेव अभावसाधनी ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

अविरुद्धोपलब्धिविधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥५९॥

सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ।

—प्रमा. सं. का. २९ ।

रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं

हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥६०॥ ।

न पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ॥६१॥

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादान्च ॥६४॥

१. न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।

—लघी. वि. का. १२

२. अन्यथाऽसम्भवो ज्ञातो यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

—प्रमा. सं. का. २९ ।

३. भविष्यत्प्रतिपद्येत शकटं कृत्तिकोदयात् ।

इवः आदित्य उदेतेति ग्रहणं वा भविष्यति ॥

—लघी. का. १४ ।

४. तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।
नामरूपादिहेतुत्वं तादात्म्यं सहचारतः ॥ —प्रमा. सं. का. ३८ ।
५. तुलोन्नामरसादीनां तुल्यकालतया न हि ।
नामरूपादिहेतुत्वं न च तद्व्यभिचारिता ॥
तादात्म्यं तु कथञ्चित् स्यात् ततो हि न तुलान्तयोः ।
—न्या. वि. का. ३३८, ३३९ ।

परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः,
कृतकश्चायं तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो
यथा बन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायं, तस्मात्परिणामी ॥६५॥

१. व्याप्यसिद्धिरविशेषेण व्यापकसाधनी । यथा अनित्यं कृतकत्वात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. ३१ ।
२. (अविरुद्ध) स्वभावोपलब्धिः—यथा अस्त्यात्मोपलब्धेः ।
—प्रमा. सं. वि. का. २९ ।

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिव्याहारादेः ॥६६॥

१. (अविरुद्ध) स्वभावकार्योपलब्धिः—अभूदात्मा स्मरणात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. २९ ।

अस्त्यत्र छाया छात्रात् ॥६७॥

१. (अविरुद्ध) स्वभावकारणोपलब्धिः—भविष्यति आत्मा सत्त्वात् ।
—प्रमा. सं. वि. का. २९ ।
२. न हि वृक्षादिः छायादेः स्वभावः कार्यं वा । न चात्र विसंवादोऽस्ति ।
—लघो. वि. का. १२ ।

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥६८॥

उद्गणाद्भूरणिः प्राक्तत एव ॥६९॥

उदेष्यति शकटं उद्गणाद्भूरणिः कृत्तिकोदयादिति ।

—प्रमा. सं. वि. का. २९ ।

अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ॥७०॥

सहचरोपलब्धिः अस्त्यात्मास्पर्शादिविशेषात् । —प्रमा. सं. वि. का. २९ ।

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥७१॥

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ।

—प्रमा. सं. का. ३० ।

नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥७२॥

यथा स्वभावविरुद्धोपलब्धिः—नाविचिलतात्मा भावः परिणामात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥७३॥

कार्यविरुद्धोपलब्धिः—न लक्षणविज्ञानं प्रमाणं विसंवादात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ॥७४॥

कारणविरुद्धोपलब्धिः—नास्य परीक्षाफलं अभावेकान्तग्रहणात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ॥७८॥

तथाऽसद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः ।

—प्रमा. सं. का. ३० ।

नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ॥७९॥

स्वभावानुपलब्धिः—यथा न क्षणक्षयैकान्तोऽनुपलब्धेः ।

—प्रमा. सं. का. वि. ३० ।

नास्त्यत्र शिशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥८०॥

१. व्यापकस्यानुपलब्धिः व्याप्यनिवर्त्तनी । न निरन्वयविनाशो भावस्य

अत्यन्ताभावानुपलब्धेः ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३१ ।

२. व्याप्यव्यापकयोरेवं सिद्धयसिद्धी विचारतः ।

सदसद्व्यवहाराय तत्त्वान्यत्वविवेकतः ॥

—प्रमा. सं. का. ३१ ।

नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥८१॥

कार्यानुपलब्धिः—अत्र (नास्ति क्षणक्षयैकान्त इत्यत्र) कार्याभावात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥८१॥

कारणानुपलब्धिः—अत्रैव (नास्ति क्षणक्षयैकान्त इत्यत्रैव) कारणाभावात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८५॥

स्वभावसहचरानुपलब्धिः—नात्रात्मा रूपादिविशेषाभावात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ३० ।

×

×

×

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥९९॥

१. आप्तवादः स एवायं यत्रार्थाः समवायिनः प्रमाणमविसंवादात्.... ।

—न्या. वि. का. ४६० ।

२. आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति ।

—त. वा. पृ. ३९ ।

३. आप्तोक्तेः.... ।

—न्या. वि. का. २८ ।

सहजयोग्यतासङ्केतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ॥१००॥

१. वाचः प्रमाणपूर्वायाः प्रामाण्यं वस्तुसिद्धये ।
स्वतः सामर्थ्यविश्लेषात् संकेतं हि प्रतीक्षते ॥ —न्या. वि. का. ४२९ ।
२. तादृशो वाचकः शब्दः सङ्केतो यत्र वर्तते । —न्या. वि. का. ४३२ ।

यथा मेवादयः सन्ति ॥१०१॥

- प्रमाणं श्रुतमर्थेषु सिद्धं द्वीपान्तरादिषु । —न्या. वि. का. २६ ।

चतुर्थं परिच्छेद

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ॥१॥

१. द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् । —न्या. वि. का. ३ ।
२. तद्द्रव्यपर्यायात्मा र्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः । —लघो. वि. का. ७ ।
३. न भेदोऽभेदरूपत्वात् नाऽभेदो भेदरूपतः ।
सामान्यं च विशेषाश्च तदपोद्धारकल्पनात् ॥ —न्या. वि. का. १८५ ।
४. सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि । —प्रमा. सं. वि. का. ७३ ।
५. समानभावः सामान्यं विशेषोऽन्यव्यपेक्षया । —न्या. वि. का. ११८ ।
६. चक्षुरादिज्ञानं सविकल्पकं सामान्य-विशेषात्मविषयं ।
—प्रमा. सं. वि. का. ४ ।
७. सामान्यविशेषात्मनोऽयुगपत्प्रतिभासायोगात् । —प्रमा. सं. वि. का. ८ ।

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-
लक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ॥२॥

१. संसर्गो नास्ति विश्लेषात् विश्लेषोऽपि न केवलम् ।
संसर्गात् सर्वभावानां तथा संवित्संभवात् ॥ —न्या. वि. का. १८६ ।
२. परापरपर्यायावाप्तिपरिहारस्थितिलक्षणोऽर्थः । —प्रमा. सं. वि. का. ६७ ।
३. परिणामे क्रियास्थितेः । —न्या. वि. का. ३४५ ।

सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥३॥

- द्रव्यमेकान्वयात्मकं । —लघो. वि. का. ६७ ।

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥४॥

१. सदृशपरिणामः सामान्यं (तिर्यक्) यमलकवत् ।
—प्रमा. सं. वि. का. ११ ।
२. सदृशपरिणामलक्षणसामान्यात्मकत्वादन्वयि (तिर्यक्सामान्यं) ।
—लघो. वि. का. ६७ ।

परापरविवर्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥५॥

- एकत्वं (ऊर्ध्वतासामान्यं) तदतत्परिणामित्वात् ।
—लघो. वि. का. ६७ ।

विशेषश्च ॥६॥

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ॥७॥

१. विशेषोऽन्यव्यपेक्षया ।

—न्या. वि. का. ११८ ।

२. पर्यायः (विशेषः) पृथक्त्वं व्यतिरेकश्च ।

—लघी. वि. ६७ ।

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥८॥

पृथक्त्वं (पर्यायः) एकत्र द्रव्ये गुणकर्मसामान्यविशेषाणाम् ।

—लघी. वि. का. ६७ ।

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ॥९॥

व्यतिरेकः सन्तानान्तरगतो विसदृशपरिणामः । —लघी. वि. का. ६७ ।

पंचम परिच्छेद

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ॥१॥

१. प्रमाणस्य फलं तत्त्व निर्णयादानहानधीः ।

निःश्रेयसं परं वेति केवलस्याप्युपेक्षणम् ॥

—न्या. वि. का. ४७६ ।

२. हानोपादानोपेक्षाप्रतिपत्तिफलं (ज्ञानं) नाप्रमाणं भवितुमर्हति ।

—लघी. वि. का. १९ ।

३. तत्फलं हानादिबुद्धयः ।

—लघी. का. १३ ।

४. अर्थावबोधे प्रीतिदर्शनात्.....अर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते सा फलम् ।

उपेक्षाऽज्ञाननाशो वा ।

—त. वा. पृ. ३६ ।

५. सिद्धप्रयोजनत्वात् केवलानां सर्वत्रोपेक्षा ।

मत्यादेः साक्षात्फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदः.....

परस्परया हानोपादानसंवित्तिः ।

—अष्टश., देवा. का. १०२ ।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ॥२॥

१. प्रमाणफलयोः क्रमभेदेऽपि तादात्म्यमभिन्नविषयत्वं च प्रत्येयम् ।

२. करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं प्रदीपतमोविगमवत् ।

नानात्वं च परश्वादिवत् ।

—अष्टश. का. १०२ ।

षष्ठ परिच्छेद

ततोऽन्यत्तदाभासम् ॥१॥

तदाभासस्ततोऽन्यथा ।

—लघी. देवा. का. २५ ।

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ॥६॥

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीसांसकस्य करणज्ञानवत् ॥७॥

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ॥८॥

सदृशे तदेवेवं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥९॥

असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ॥१०॥

इदमनुमानाभासम् ॥११॥

अक्षधोः स्मृतिसंज्ञाभिश्चिन्तयाऽऽभिनिबोधकैः ।

व्यवहाराविसंवादस्तदाभासस्ततोऽन्यथा ॥

—लघो. २५ ।

तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः (साध्याभासः) ॥१२॥

साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ।

—न्या. वि. १७२ ।

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ॥१३॥

विरुद्धासिद्धसंदिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः

—न्या. २६९ ।

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ॥१२॥

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥१३॥

१. असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने ।

अन्यथाऽसंभवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः ॥

—न्या. वि. का. ३६५ ।

२. असिद्धः सर्वथाऽन्यथा ।

—प्रमा. सं. का. ४८ ।

३. असिद्धः चाक्षुषत्वादिः ।

—प्रमा. सं. का. ४३ ।

सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥१४॥

तेनाज्ञातत्वात् ॥१५॥

१. अज्ञातः संशयासिद्धव्यतिरेकान्वयादितः ।

—प्रमा. सं. का. ४९ ।

२. साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः । तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्ति-लक्षणत्वात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ४४ ।

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ॥१६॥

१. साध्याभावसम्भवनियमनिर्णयैकलक्षणो विरुद्धो हेत्वाभासः यथा नित्यः शब्दः सत्त्वात् । —प्रमा. सं. वि. का. ४० ।

२. अन्यथानिश्चितं सत्त्वं विरुद्धमचलात्मनि ।

—प्रमा. सं. का. ४० ।

३. स विरुद्धोऽन्यथाऽभावात् ।

—प्रमा. सं. का. ४८ ।

विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ॥१७॥

१. अनिश्चितविपक्षव्यावृत्तिरनैकान्तिकः ।

—प्रमा. सं. का. ४० ।

२. व्यभिचारी विपक्षेऽपि ।

—प्रमा. सं. का. ४९ ।

निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ॥१८॥

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ॥१९॥

१. इत्यनैकान्तिकभेदाः निश्चितसंदिग्धव्यभिचारिणोऽनेकप्रकाराः ।

—प्रमाण. सं. वि. का. ४२ ।

२. सर्वज्ञप्रतिषेधे तु संदिग्धाः वचनादयः ।

—न्या. वि. का. ३४९ ।

३. सर्वज्ञो न वक्तृत्वात् ।

—प्रमा. सं. वि. का. ४२ ।

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ॥३५॥

१. सिद्धे ऽकिञ्चित्करोहेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया । —प्रमा. सं. का. ४४ ।
२. विरुद्धोऽकिञ्चित्करो ज्ञातः । —प्रमा. सं. का. ४६ ।

दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ॥४०॥

१. तदाभासाः साध्यादिविकलादयः । —न्या. वि. का. ३८० ।

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥

१. नान्तबहिर्वा स्वलक्षणं सामान्यलक्षणं वा परस्पराणात्मकं प्रमेयं यथा मन्यते परैः । —लघी. वि. का. ७ ।

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥६२॥

१. न केवलं साक्षात्करणमेकान्ते न सम्भवति अपि तु । —लघी. वि. का. ७ ।
२. अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः । —लघी. का. ८ ।

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ॥७४॥

१. इष्टं तत्त्वमपेक्षातो नयानां नयचक्रतः ।
.....उपायो न्यास इष्यते । —न्या. वि. का. ४७७ ।
२. नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ।
—प्रमा. सं. का. ८६, लघी. का. ५२ ।

उपसंहार

यह परोक्षामुखके उद्गम-बीजों (स्रोतों) के अन्वेषणका एक प्रयत्न है। इससे आ. माणिक्यनन्दिकी अद्भुत प्रतिभा, विलक्षण पाण्डित्य, महान् परिश्रम, सूक्ष्मप्रज्ञता, अदम्य साहस और अकलंकदेवके न्यायवाङ्मय तथा भारतीय दर्शनोंका असाधारण अभ्यास अवगत होता है। सम्भवतः इसीसे नयनन्दि, प्रभाचन्द्र जैसे समर्थ ग्रन्थकारोंने महापण्डित, पण्डितचूडामणि, त्रैविद्य, अजेनमतार्णव जैसे विरुद्धोंसे उल्लेखित कर उन्हें असाधारण विद्वान् बताया है।

अभिनव धर्मभूषण और उनकी न्यायदीपिका

श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघ-लांछनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

—अकलंक, प्रमाणसंग्रह, का. १ ।

×

×

×

पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वरः ।
श्रीसिंहनन्दियोगीन्द्रचरणाम्भोजषट्पदः ॥
शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्वर्द्धभूषणदेशिकः ।
भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः ॥

—विजयनगर शिलालेख ।

अभिनव धर्मभूषण यति

प्रासंगिक :

जैन समाजने अपने प्रतिष्ठित महान् पुरुषों—तीर्थंकरों, राजाओं, आचार्यों, श्रेष्ठिवरों, विद्वानों तथा तीर्थक्षेत्रों, मन्दिरों और ग्रन्थागारों आदिके इतिवृत्तिको संकलित करनेकी प्रवृत्तिको ओर बहुत कुछ उपेक्षा एवं उदासीनता रखी है। इसीसे सब कुछ होते हुए भी इस दिशामें हम लोककी दृष्टिमें अकिंचन समझे जाते हैं। यद्यपि यह प्रकट है कि जैन साहित्य, इतिहास और पुरातत्त्वकी विपुल सामग्री भारतके कोने-कोनेमें सर्वत्र विद्यमान है, पर वह बिखरी हुई असंकलित एवं अज्ञात रूपमें पड़ी हुई है। यही कारण है कि जैन इतिहासको जाननेके लिए या उसे सम्बद्ध करनेके लिए अपरिमित कठिनाइयाँ आती हैं और अन्धेरेमें टटोलना पड़ता है।

प्रसन्नताकी बात है कि अब इस ओर कुछ दूरदर्शी श्रीमान् और विद्वान् वर्गका ध्यान गया है और उन्होंने इतिहास, पुरातत्त्व तथा साहित्यके संकलन, संरक्षण, अन्वेषण आदिकी ओर रुचि ही नहीं, क्रियात्मक प्रयत्न भी आरम्भ कर दिया है।

यहाँ हम जिन अभिनव धर्मभूषणका परिचय देना चाहते हैं उनको जाननेके लिए जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पूरे और पर्याप्त नहीं हैं—उनके माता-पितादिका नाम क्या था, जन्म और स्वर्गवास कब, कहाँ, हुआ, आदिका उनसे कोई पता नहीं चलता है; फिर भी सौभाग्य और सन्तोषकी बात यही है कि उपलब्ध साधनोंसे उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, कृतित्व, गुरुपरम्परा और समयका कुछ प्रामाणिक परिचय मिल जाता है। अतः हम उन्हीं साधनों—शिलालेख, ग्रन्थोल्लेख आदि परसे उनके सम्बन्धमें कुछ कहनेका प्रयास करेंगे।

धर्मभूषण और उनके अभिनव तथा यति विशेषण :

जैन तार्किकोंमें अभिनव धर्मभूषण यतिका नाम उल्लेखनीय है। उनकी महत्त्वपूर्ण कृति न्यायदीपिका है। न्यायदीपिकाके पहले और दूसरे प्रकाशके पुष्पिका-वाक्योंमें 'यति' तथा तीसरे प्रकाशके पुष्पिकावाक्योंमें 'अभिनव' ये दो विशेषण इनके नामके साथ पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि न्यायदीपिकाके रचयिता धर्मभूषण अभिनव और यति दोनों विशेषणोंसे अभिहित होते थे। ज्ञात होता है कि 'अभिनव' विशेषण अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे व्यावृत्त करनेके लिए दिया गया है; क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि एक नामके अनेक व्यक्तियोंसे अपनेको जुदा करनेके लिए कोई उपाधि या उपनाम रख लिया जाता है। जैन साहित्यमें ऐसे और भी कई ग्रन्थकार एवं विद्वान् हुए हैं, जो अपने नामके साथ 'अभिनव' विशेषण लगाते हुए

पाये जाते हैं। जैसे—अभिनव पण्डिताचार्य^१ (शक. १२३३), अभिनव श्रुतमुनि^२ अभिनव गुणभद्र और अभिनव पण्डितदेव^३ आदि। इस प्रकार पूर्ववर्ती अपने नाम-वालोंसे व्यावृत्ति करनेके लिए 'अभिनव' विशेषण लगाना एक परिपाटी रही है। 'यति' विशेषण तो स्पष्ट ही है, क्योंकि वह मुनि या संयतके लिए प्रयुक्त होता है। अभिनव धर्मभूषण अपने गुरु श्रीवर्द्धमान भट्टारकके पट्टके उत्तराधिकारी हुए थे और वे कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें हुए हैं। इसलिए इस विशेषणके द्वारा यह भी निश्चिन्त ज्ञात होता है कि न्यायदोषिकाकार धर्मभूषण दिगम्बर जैन यति थे और वे भट्टारकमुनि नामसे लोकविश्रुत थे^४।

धर्मभूषण नामके दूसरे विद्वान् :

ऊपर कहा गया है कि अभिनव धर्मभूषणने अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणोंसे पृथक्त्व स्थापित करनेके लिए अपने नामके साथ 'अभिनव' विशेषण लगाया है। अब विचारणीय है कि वे धर्मभूषण नामके अनेक विद्वान् कौन-से हैं? एक धर्मभूषण वे हैं जो भट्टारक धर्मचन्द्रके पट्टपर बैठे थे और जिनका उल्लेख बरारप्रान्तके मूर्तिलेखोंमें बहुलतया पाया जाता है^५। ये मूर्तिलेख शकसंवत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ के उत्कीर्ण हैं। परन्तु ये धर्मभूषण न्यायदोषिकाकार धर्मभूषणके उत्तरकालीन हैं। दूसरे धर्मभूषण वे हैं, जिनके आदेशानुसार केशववर्णीने अपनी गोम्मटसारकी जीव-तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका शकसंवत् १२८१ (१३५९ ई.) में बनायी है^६। तीसरे धर्मभूषण वे हैं, जो अमरकीर्तिके गुरु थे तथा विजयनगरके शिलालेख नं. २ में उल्लिखित तीन धर्मभूषणोंमें पहले नम्बरपर जिनका उल्लेख है और सम्भवतः वही विन्ध्यगिरि पर्वतके शिलालेख नं. १११ (२७४) में भी अमरकीर्तिके गुरुरूपसे उल्लिखित हैं। यहाँ उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' भी कहा गया है। चौथे धर्मभूषण वे हैं, जो अमरकीर्तिके शिष्य और विजयनगर शिलालेख नं. २ गत पहले धर्मभूषणके प्रशिष्य हैं एवं सिंहनन्दीव्रतीके सधर्मा हैं तथा विजयनगरके शिलालेख नं. २ के ही ११वें पद्यमें दूसरे नं. के धर्मभूषणके रूपमें उल्लिखित हैं। इस तरह अब तक चार धर्मभूषणोंका पता चला है।

१. शिलालेखसं., शिलालेख. नं. ४२१।

२. जैनशिलालेखसं. पृ. २०१, शिलाले. १०५ (२४५)।

३. 'सी. पी. एण्ड बरार कैटलाग', रा. ब. हीरालाल द्वारा सम्पादित।

४. जैनशिलालेखसं., पृ. ६४५ शिलालेख नं. ३६२ (२५७)।

५. 'शिष्यस्तस्य गुरुरासीद्धर्मभूषणदेशिकः।

भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः॥'

—विजयनगरशिला. नं. २।

६. 'सहस्रनामाराधना'के कर्त्ता देवेन्द्रकीर्त्तिने भी 'सहस्रनामाराधना' में इन दोनों विद्वानोंका अपने गुरु और प्रगुरुरूपसे उल्लेख किया है। —जैन सिद्धान्त भवन, आरासे प्रकाशित प्रशस्तिसं. पृ. ९४।

७. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, 'गोम्मटसारकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका' शीर्षक लेख, अनेकान्त, वर्ष ४, किरण १, पृ. ११८।

प्रस्तुत धर्मभूषण और उनकी गुरुपरम्परा :

न्यायदीपिकाके कर्ता धर्मभूषण उपर्युक्त धर्मभूषणोंसे भिन्न हैं और जिनका उल्लेख उसी विजयनगरके शिलालेख नं. २ में तीसरे नम्बरके धर्मभूषणके स्थानपर है तथा जिन्हें स्पष्टतया श्रीवर्द्धमान भट्टारकका शिष्य बतलाया गया है। न्यायदीपिकाकारने स्वयं न्यायदीपिकाके अन्तिम पद्य^१ और अन्तिम (तीसरे प्रकाशगत) पुष्पिकावाक्यमें^२ अपने गुरुका नाम श्रीवर्द्धमान भट्टारक प्रकट भी किया है। हमारा अनुमान है कि मंगलाचरणपद्यमें भी उन्होंने 'श्रीवर्द्धमान' पदके प्रयोग द्वारा श्लेषरूपमें वर्द्धमान तीर्थंकरके साथ अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारकको भी स्मरण किया है, क्योंकि अपने परापरगुरुका स्मरण करना उचित ही है। श्रीधर्मभूषण अपने गुरुके अनन्य भक्त थे। वे न्यायदीपिकाके उसी अन्तिम पद्य और पुष्पिकावाक्यमें कहते हैं कि 'उन्हें उनकी कृपासे ही सरस्वतीका प्रकर्ष (सारस्वतोदय) प्राप्त हुआ और उनके चरणोंकी स्नेहमयी भक्ति-सेवासे न्यायदीपिकाकी पूर्णता हुई।' अतः मंगलाचरणपद्यमें भी गुरु वर्द्धमान भट्टारकका उनके द्वारा स्मरण किया जाना सम्भव एवं संगत है।

विजयनगरके उस शिलालेखमें, जो शकसंवत् १३०७ (१३८५ ई.) में उत्कीर्ण हुआ है, धर्मभूषणकी जो गुरुपरम्परा दी गयी है उसके सूचक शिलालेखगत प्रकृतोपयोगी कुछ पद्योंको यहां दिया जाता है—

“यत्पादपङ्कजं रजो हरति मानसं ।

स जिनः श्रेयसे भूयाद् भूयसे करुणालयः ॥१॥

श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥२॥

श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेतिसंज्ञः ।

तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥३॥

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः ।

एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥४॥

केचित्तदन्वये चारुमुनयः खनयो गिराम् ।

जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिध्यतेजसः ॥५॥

तत्रासीच्चारुचारित्ररत्नरत्नाङ्करो गुरुः ।

धर्मभूषणयोगीन्द्रो भट्टारकपदांचितः ॥६॥

भाति भट्टारको धर्मभूषणो गुणभूषणः ।

यद्यज्ञः कुसुमामोदे गमनं भ्रमरायते ॥७॥

शिष्यस्तस्य गुरोरासीदनर्गलत्तपोनिधिः ।

श्रीमानमरकोत्तर्यार्यो देशिकाग्रेसरः शमी ॥८॥

निजपक्षपुटकवाटं घटयित्वाऽनिलनिरोधितो हृदये ।

अविचलितबोधदीपं तमममरकीर्ति भजे तमोहरणम् ॥९॥

केऽपि स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनान्तराः ।
 योगीशा भुवि सम्भवन्तु बहवः किं तैरनन्तैरिह ॥
 धीरः स्फूर्जति दुर्जयातनुमवध्वंसी गुणैरुज्जितै-
 राचार्योऽमरकीर्तिशिष्यगणभृच्छ्रीसिहनन्दीव्रती ॥१०॥
 श्रीधर्मभूषोऽजनि तस्य पट्टे श्रीसिहनन्द्यार्यगुरोस्सधर्मा ।
 भट्टारकः श्रीजिनधर्महर्म्यस्तम्भायमानः कुमुदेन्दुकीर्तिः ॥११॥
 पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वरः ।
 श्रीसिहनन्दियोगीन्द्रचरणाम्भोजषट्पदः ॥१२॥
 शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्वर्मभूषणदेशिकः ।
 भट्टारकमुनिः श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जितः ॥१३॥”

इन पद्योंमें अभिनव धर्मभूषणकी इस प्रकार गुरुपरम्परा बतलायी गयी है—

मूलसङ्घ, नन्दिसङ्घ—बलात्कारगणके सारस्वतगच्छमें
 पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य)

धर्मभूषण भट्टारक I

अमरकीर्ति-आचार्य (जिनके शिष्योंके शिक्षक-दीक्षक
 सिहनन्दी व्रती थे)

श्रीधर्मभूषण भट्टारक II (सिहनन्दीव्रतीके सधर्मा)

वर्द्धमानमुनीश्वरः (सिहनन्दीव्रतीके चरणसेवक)

धर्मभूषण यति III (न्यायदोषिकाकार)

यह शिलालेख शकसंवत् १३०७ में उत्कीर्ण हुआ है। इसी प्रकारका एक शिलालेख नं. १११ (२७४) का है, जो बिन्ध्यगिरि पर्वतके अखण्ड बागिलुके पूर्वकी

१. इसके आगेके लेखमें १५ पद्य और हैं, जिनमें राजवंशका ही वर्णन है ।

२. “श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादादामोघ-लाञ्छनं ।

जोयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन-शासनं ॥१॥

श्रीमूल-संघ-पयोधिवर्द्धनसुधाकराः श्रीबलात्कारगणकमल-कलिका-कलाप-विकचन-
 दिवाकराः—वनवा—तकीर्तिदेवः तत्शिष्याः राय-भुज-सुदाभ—आचार्य महा-
 वादिवादीश्वर राय-वादि-पितामह सकल-विद्वज्जन-चक्रवर्ति देवेन्द्रविशाल-कीर्ति-देवाः
 तत्शिष्याः भट्टारक-श्रीशुभकीर्तिदेवास्तत्शिष्याः कलिकाल-सर्वज्ञ-भट्टारक-धर्मभूषणदेवाः
 तत्शिष्याः श्रीअमरकीर्त्याचार्याः तत्शिष्याः मालिर्वा—ति-नृपाणां प्रथमानल—
 रसित—तुत-पा—यमुल्लासक—देमक—चार्यपट्टविपुलायाचला—
 करण-मार्त्तण्डमण्डलानां भट्टारक-धर्मभूषण-देवानां—तत्त्वार्थ-वाद्धिवर्द्धमान-हिमांशुना
 —वर्द्धमानस्वामिना कारितोऽहं [यं] आचार्याणां—स्वस्तिशक-वर्ष १२९५ परिधावि
 संवत्सर वैशाख-शुद्ध १ बुधवारे ।” —उद्धृत जैन शि. सं. पृ. २२३ ।

ओर स्थित चट्टानपर खुदा हुआ है और जो शक सं. १२९५ में उत्कीर्ण हुआ है। उसमें इस प्रकार गुरु-परम्परा दी गयी है:—

मूलसंघ—बलात्कारगण
 कीर्ति (वनवासिके)
 |
 देवेन्द्र विशालकीर्ति
 |
 शुभकीर्तिदेव भट्टारक
 |
 धर्मभूषणदेव I
 |
 अमरकीर्ति आचार्य
 |
 धर्मभूषणदेव II
 |
 वर्द्धमानस्वामी

इस दोनों लेखोंको मिलाकर ध्यानसे पढ़नेसे विदित होता है कि प्रथम धर्म-भूषण, अमरकीर्ति-आचार्य, धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान ये चार विद्वान् सम्भवतः दोनोंके एक ही हैं। यदि यह सम्भावना ठीक है, तो यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि विन्ध्यगिरिके लेख (शक १२९५) में वर्द्धमानका तो उल्लेख है, पर उनके शिष्य (पट्टके उत्तराधिकारी) तृतीय धर्मभूषणका उल्लेख नहीं है। इससे जान पड़ता है कि उस समय तक तृतीय धर्मभूषण वर्द्धमानके पट्टाधिकारी नहीं बन सके होंगे और इसलिए उक्त शिलालेखमें उनका उल्लेख नहीं आया। किन्तु इस शिलालेखके कोई १२ वर्ष बाद शक संवत् १३०७ (ई. १३८५) में उत्कीर्ण हुए विजयनगरके उल्लिखित शिलालेख नं. २ में उनका (तृतीय धर्मभूषणका) स्पष्टतया नामोल्लेख है। अतः यह सहजमें अनुमान हो सकता है कि वे अपने गुरु वर्द्धमानके पट्टाधिकारी शक संवत् १२९५ से १३०७ के मध्यमें किसी समय बने होंगे।

इस तरह अभिनव धर्मभूषणके साक्षात् गुरु श्रीवर्द्धमानमुनीश्वर या वर्द्धमान स्वामी और दादागुरु द्वितीय धर्मभूषण थे। अमरकीर्ति परदादागुरु और प्रथम धर्म-भूषण पर-परदादा गुरु थे। सम्भवतः इसीसे इन पूर्ववर्ती पूज्य दादागुरु (द्वितीय धर्मभूषण) तथा पर-परदादागुरु (प्रथम धर्मभूषण) से पृथक् करने तथा पश्चाद्वर्ती एवं नया बतलानेके लिए 'अभिनव' विशेषण लगाया गया जान पड़ता है। जो हो, यह अवश्य है कि वे अपने गुरुके प्रभावशाली और मुख्य शिष्य थे।

१. प्रो. होरालालजीने इनकी निषद्या बनवायी जानेका समय शक संवत् १२९५ दिया है।

—शिलालेखसं. पृ. १३६।

समय-विचार :

यद्यपि अभिनव धर्मभूषणकी निश्चित तिथिका निर्णय करना कठिन है तथापि जो आधार प्राप्त हैं उनपरसे उनके समयका लगभग निश्चय हो जाता है। अतः यहाँ उनके समयका विचार किया जाता है।

विन्ध्यगिरिका जो शिलालेख प्राप्त है वह शक संवत् १२९५ का उत्कीर्ण है। इसमें प्रथम और द्वितीय इन दो ही धर्मभूषणोंका उल्लेख है और द्वितीय धर्मभूषणके शिष्य वर्द्धमानका अन्तिमरूपसे निर्देश है। तृतीय धर्मभूषणका उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता। प्रो. होरालालजीके उल्लेखानुसार द्वितीय धर्मभूषणकी निषद्या (निःसही) शकसं. १२९५ में बनवायी गयी है। अतः द्वितीय धर्मभूषणका अस्तित्वसमय शकसं. १२९५ तक ही समझना चाहिए। मेरा अनुमान है कि केशववर्णीको अपनी गोम्मटसारको जीवतत्त्वप्रदीपिकाटोका बनानेकी प्रेरणा एवं आदेश जिन धर्मभूषणसे मिला वे धर्मभूषण भी यही द्वितीय धर्मभूषण होना चाहिए; क्योंकि इनके पट्टका समय यदि २५ वर्ष भी हो, तो इनका पट्टपर बैठनेका समय शक सं. १२७० के लगभग पहुँच जाता है। उस समय या उसके उपरान्त केशववर्णीको उपर्युक्त टीकाके लिखनेमें उनसे आदेश एवं प्रेरणा मिलना असम्भव नहीं है। चूँकि केशववर्णीने अपनी उक्त टीका शकसं. १२८१ में पूर्ण की है। अतः उस जैसी विशाल टीकाके लिखनेके लिए ११ वर्ष जितना समय लगना भी आवश्यक एवं संगत है। प्रथम व तृतीय धर्मभूषण केशववर्णीके टीकाप्रेरक प्रतीत नहीं होते, क्योंकि तृतीय धर्मभूषण तो जीवतत्त्वप्रदीपिकाके समाप्तिकाल (शक. १२८१) से करीब १९ वर्ष बाद (लगभग शकसं. १३००में) गुरुपट्टके अधिकारी हुए जान पड़ते हैं और उस समय वे प्रायः २० वर्षके होंगे, अतः जा. त. प्र. के रचनारम्भसमयमें तो उनका अस्तित्व ही नहीं होगा तब वे केशववर्णीके टीका-प्रेरक कैसे हो सकते हैं? प्रथम धर्मभूषण भी उनके टीकाप्रेरक प्रतीत नहीं होते, कारण कि उनके पट्टपर अमरकीर्ति और अमरकीर्तिके पट्टपर द्वितीय धर्मभूषण (शकसं. १२७०-१२९५) बैठे हैं। अतः अमरकीर्तिका पट्टसमय अनुमानतः शकसं. १२४५-१२७० और प्रथम धर्मभूषणका शकसं. १२२०-१२४५ होता है। ऐसी हालतमें यह सम्भव नहीं है कि प्रथम धर्मभूषण (शकसं. १२२०-१२४५) केशववर्णीको जीवतत्त्वप्रदीपिकाके लिखनेका आदेश दें और वे ६१ या ३६ वर्षों जैसे लम्बे समयमें उसे पूर्ण करें। अतएव यही प्रतीत होता है कि द्वितीय धर्मभूषण (शकसं. १२७०-१२९५) ही केशववर्णी (शकसं. १२८१) को उक्त टीकाके लिखनेमें प्रेरक रहे हैं। अस्तु।

पहले हम यह निर्देश कर आये हैं कि तृतीय धर्मभूषण शकसं. १२९५ और शकसं. १३०७ के मध्यमें किसी समय अपने वर्द्धमानगुरुके पट्टपर असीन हुए हैं। अतः यदि वे पट्टपर बैठनेके समय (करीब शकसं. १३०० में) २० वर्षके हों, जैसा कि सम्भव है तो उनका जन्मसमय शकसं. १२८० (१३५८ ई.) के करीब होना चाहिए। विजयनगर साम्राज्यके स्वामी प्रथम देवराय और उनकी पत्नी भोमादेवी वर्द्धमानगुरुके शिष्य जिन धर्मभूषणके परमभक्त थे और जिन्हें अपना गुरु मानते थे तथा जिनसे प्रभावित होकर जैनधर्मकी अतिशय प्रभावनामें प्रवृत्त रहते थे वे यही तृतीय

धर्मभूषण न्यायदीपिकाकार हैं। पद्मावती-वस्तीके एक लेखसे ज्ञात होता है कि “राजाधिराजपरमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमानमुनिके शिष्य धर्मभूषण गुरुके, जो बड़े विद्वान् थे, चरणोंमें नमस्कार किया करते थे।” इसी बातका समर्थन शकसं. १४४० में अपने ‘दशभक्त्यादिमहाशास्त्र’ को समाप्त करनेवाले कवि वर्द्धमानमुनीन्द्रके इसी ग्रन्थगत निम्न श्लोकसे भी होता है—

राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिसर्वत्रिसरोजयुग्मः ।

श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौढ्यमुख्यः श्रीधर्मभूषणमुखी जयति क्षमाढ्यः^१ ॥”

यह प्रसिद्ध है कि विजयनगर-नरेश प्रथम देवराय ही ‘राजाधिराजपरमेश्वर’-की उपाधिसे भूषित थे^२। इनका राज्य-समय सम्भवतः १४१८ ई. तक रहा है, क्योंकि द्वितीय देवराय ई. १४१९ से १४४६ तक माने जाते हैं^३। अतः इन उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि वर्द्धमानके शिष्य धर्मभूषण तृतीय (न्यायदीपिकाकार) ही देवराय प्रथमके द्वारा सम्मानित थे^४। प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नहीं; क्योंकि वे वर्द्धमानके शिष्य नहीं थे। प्रथम धर्मभूषण तो शुभकीर्तिके और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्तिके शिष्य थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनव धर्मभूषण देवरायप्रथमके समकालीन हैं। अर्थात् न्यायदीपिकाकारका अन्तिमकाल ई. १४१८ होना चाहिये। यदि यह मान लिया जाय तो उनका जीवनकाल ई. १३५८ से १४१८ ई. तक समझना चाहिये। अभिनव धर्मभूषण जैसे प्रभावशाली विद्वान् जैन साधुके लिए ६० वर्षकी उम्र पाना कोई ज्यादा नहीं है। हमारी सम्भावना यह भी है कि वे देवराय द्वितीय^५ (१४१९-१४४६ ई.) और उनके श्रेष्ठ संकल्पके द्वारा भी प्रणुत रहे हैं^६। हो सकता है कि ये अन्य धर्मभूषण हों, जो हो, इतना अवश्य है कि वे देवराय प्रथमके समकालिक निश्चितरूपसे हैं।

न्यायदीपिकारने न्यायदीपिका (पृ. २१) में ‘बालिशः’ शब्दोंके साथ सायणके सर्वदर्शनसंग्रहसे एक पंक्ति उद्धृत की है। सायणका समय शकसं. १३वीं शताब्दीका उत्तरार्ध माना जाता है^७, क्योंकि शकसं. १३१२ का उनका एक दानपत्र मिला है,

१. प्रशस्तिसं. पृ. १२५ से उद्धृत।

२-३. डा. भास्कर आनन्द सालेतोरका Mediaeval Jainism P. 300-301। मालूम नहीं डॉ. सा. ने द्वितीय देवराय (१४१९-१४४६ ई.) की तरह प्रथम देवरायके समयका निर्देश क्यों नहीं किया?

४. डॉ. सालेतोर दो ही धर्मभूषण मानते हैं और उनमें प्रथमका समय ई. १३७८ और दूसरेका ई. १४०३ बतलाते हैं तथा वे इस झमेले में पड़ गये हैं कि कौन-से धर्मभूषणका सम्मान देवराय प्रथमके द्वारा हुआ था? (मिडियावल जैनज्म पृ. ३००)। मालूम होता है कि उन्हें विजयनगरका शिलालेख नं. २ आदि प्राप्त नहीं हो सका। अन्यथा वे इस निष्कर्षपर न पहुँचते।

५. प्रशस्तिसं. पृ. १४५ में इनका समय ई. १४२९-१४५१ दिया है।

६. इसके लिये जैनसिद्धान्तभवन आरासे प्रकाशित प्रशस्तिसं. में परिचय कराये गये वर्द्धमान मुनीन्द्रका ‘दशभक्त्यादिमहाशास्त्र’ देखना चाहिए।

७. सर्वदर्शनसंग्रहकी प्रस्तावना पृ. ३२।

जिससे वे इसी समयके विद्वान् ठहरते हैं। न्यायदीपिकाकारका 'बालिशाः' पदका प्रयोग उन्हें सायणके समकालीन होनेकी ओर संकेत करता है। साथ ही दोनों विद्वान् एक ही जगह—विजयनगरके रहनेवाले थे। इसलिए यह पूरा सम्भव है कि धर्मभूषण और सायण दोनों एक-दूसरेसे परिचित भी रहे होंगे। अतः उन्हें समसामयिक होना चाहिए। या १०-५ वर्ष आगे-पीछेके होंगे। अतः न्यायदीपिकाके इस उल्लेखसे भी पूर्वोक्त निर्धारित शकसं. १२८० से १३४० (ई. १३५८ से १४१८) समय सिद्ध होता है। अर्थात् ये अभिनव धर्मभूषण ईसाकी १४वीं सदीके उत्तरार्ध और १५वीं सदीके प्रथम पादके विद्वान् हैं।

डा. के. बी. पाठक और मुख्तार सा. इन्हें शकसं. १३०७ (ई. १३८५) का विद्वान् बतलाते हैं,^१ जो विजयनगरके पूर्वोक्त शिलालेख नं. २ के अनुसार सामान्यतया ठीक है। परन्तु उपर्युक्त विशेष विचारसे ई. १४१८ तक इनकी उत्तरावधि निश्चित होती है। डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण 'हिस्टरी ऑफ दि मिडियावल स्कूल ऑफ इण्डियन लॉजिक' में इन्हें १६०० A. D. का विद्वान् सूचित करते हैं। पर वह ठीक नहीं है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट है। पं. जुगलकिशोर मुख्तारने भी उनके इस समयको गलत ठहराया है^२।

व्यक्तित्व और कृतित्व :

अभिनव धर्मभूषणके प्रभाव एवं व्यक्तित्वसूचक जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे मालूम होता है कि वे अपने समयके सबसे अधिक प्रभावशाली और व्यक्तित्वमण्डित जैन गुरु थे। प्रथम देवराय, जिन्हें 'राजाधिराजपरमेश्वर'की उपाधि प्राप्त थी, धर्मभूषणके चरणोंमें मस्तक झुकाया करते थे^३। पद्मावतीवस्तीके शासनलेखमें उन्हें बड़ा विद्वान् एवं वक्ता प्रकट किया गया है। साथमें मुनियों और राजाओंसे पूजित बतलाया है^४। इन्होंने विजयनगरके राजघरानेमें जैनधर्मकी अतिशय प्रभावना की है। हम तो समझते हैं कि इस राजघरानेमें जो जैनधर्मकी महती प्रतिष्ठा हुई उसका विशेष श्रेय इन्हीं अभिनव धर्मभूषणको है, जिनकी विद्वत्ता और प्रभावसे सभी प्रभावित थे। इससे स्पष्ट है कि धर्मभूषण असाधारण प्रभावशाली विद्वान् थे।

जैनधर्मकी प्रभावना करना तो उनके जीवनका लक्ष्य था ही, किन्तु ग्रन्थ-रचना कार्यमें भी उन्होंने अपनी अनोखी शक्ति और विद्वत्ताका बहुत ही अच्छा उपयोग किया है। यद्यपि आज हमें उनकी एक ही अमर रचना प्राप्त है और वह है न्यायदीपिका, जो जैन न्यायके वाङ्मयमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है और उनकी ध्वलकीर्तिको अक्षुण्ण बनाये हुए है। उनकी विद्वत्ताका प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्टतया आलोकित होता है। इसके सिवाय उन्होंने और भी कोई रचना की या नहीं, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। पर एक सम्भावना है कि इनकी एक अन्य रचना 'कारण्यकलिका' भी हो सकती है, क्योंकि न्यायदीपिकाकारने उसका (न्या. दी. पृ. १११ में) इस प्रकारसे उल्लेख किया है, जिससे लगता है कि न्यायदीपिकाकार अपनी ही दूसरी

१-२. स्वामी समन्तभद्र पृ. १२६।

३-४. 'मिडियावल जैनज्म' पृ. २९९।

रचनाको देखनेका वहाँ इंगित कर रहे हैं। यदि सचमुचमें यह इनकी रचना है, तो मालूम होता है कि वह न्यायदीपिकासे भी अधिक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण होगी^१।

धर्मभूषणके उक्त प्रभाव और कार्यक्षेत्रसे यह भी मालूम होता है कि कर्णाटक देशके उपर्युक्त विजयनगरमें ही उनकी जन्म-भूमि भी रही होगी और वहीं उनका शरीरत्याग एवं समाधि भी हुई होगी, क्योंकि वे गुरुपरम्परासे चले आये विजयनगरके भट्टारकीय पट्टपर आसीन हुए थे। यदि यह ठीक है, तो कहना होगा कि उनके जन्म और समाधिका स्थान भी विजयनगर है।



१. पं. महेन्द्रकुमारजीने इसे जिनदेवकी रचना बतलाया है। पर उसके आधारका उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया। मात्र न्यायदीपिकामें उसके उल्लिखित होने भरकी सूचना की है।
—जैनदर्शन, प्रथम संस्करण, पृ. ६२८।

न्यायदीपिका और उसके प्रतिपाद्य विषय

जैन न्याय-साहित्यमें न्यायदीपिकाका स्थान और महत्त्व :

‘न्यायदीपिका’ अभिनव धर्मभूषण यतिकी संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त सुविशद और महत्त्वपूर्ण कृति है। इसे जैन न्यायकी प्रथमकोटिकी रचना कही जाय, तो अनुपयुक्त न होगा, क्योंकि जैन न्यायके अभ्यासियोंके लिए संस्कृत भाषामें निबद्ध सुबोध और सम्बद्ध न्यायतत्त्वका सरलतासे विशद विवेचन करनेवाली प्रायः यह अकेली रचना है, जो पाठकके हृदयपर अपना सहज प्रभाव अंकित करती है। ईसाकी सतरहवीं शताब्दीमें हुए और ‘जैनतर्कभाषा’ आदि प्रौढ़ रचनाओंके रचयिता श्वेताम्बरीय विद्वान् उपाध्याय यशोविजय जैसे बहुश्रुत भी इसके प्रभावसे आकृष्ट हुए हैं। उन्होंने अपनी दार्शनिक रचना ‘जैन तर्कभाषा’ में न्यायदीपिकाके अनेक स्थलोंको ज्यों-का-त्यों आनुपूर्वीके साथ अपना लिया है। वस्तुतः न्यायदीपिकामें जिस खूबीके साथ प्रमाण और नयका संक्षेपमें सुस्पष्ट वर्णन किया गया है वह अपनी खास विशेषता रखता है। और इसलिए यह संक्षिप्त कृति भी न्यायस्वरूपके जिज्ञासुओंके लिए बड़े महत्त्व और आकर्षणकी प्रिय वस्तु बन गयी है। अतः न्यायदीपिकाके सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह जैनन्यायके प्रथमश्रेणीमें रखे जानेवाले ग्रन्थोंमें स्थान पानेके सर्वथा योग्य है।

नाम :

उपलब्ध ऐतिह्यसामग्री और चिन्तनपरसे मालूम होता है कि न्यायशास्त्रके रचनायुगमें न्यायग्रन्थ, चाहे वे जैनेतर हों या जैन हों, प्रायः ‘न्याय’ शब्दके साथ रचे जाते थे। जैसे न्यायदर्शनमें न्यायसूत्र, न्यायवातिक, न्यायमंजरी, न्यायकलिका, न्यायसार, न्यायकुसुमांजलि और न्यायलीलावती आदि, बौद्धदर्शनमें न्यायप्रवेश, न्याय-मुख, न्याय-बिन्दु आदि और जैनदर्शनमें न्यायावतार, न्यायविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि पाये जाते हैं। पार्थसारथिकी शास्त्रदीपिका जैसे दीपिकान्त ग्रन्थोंके भी रचे जानेकी उस समय पद्धति रही है। सम्भवतः अभिनव धर्मभूषणने इन ग्रन्थोंको दृष्टिमें रखकर ही अपनी प्रस्तुत कृतिका नाम ‘न्यायदीपिका’ रखा जान पड़ता है। और यह अन्वर्थ भी है, क्योंकि इसमें प्रमाणनयात्मक न्यायका प्रकाशन किया गया है। अतः न्यायदीपिकाका नाम भी अपना वैशिष्ट्य स्थापित करता है और वह उसके अनुरूप है।

भाषा :

यद्यपि न्यायग्रन्थोंकी भाषा अधिकांशतः दुरूह और गम्भीर होती है, जटिलताके कारण उनमें साधारणबुद्धियोंका प्रवेश सम्भव नहीं होता। पर न्याय-

दीपिकाकारकी यह कृति न दुरुह है, न गम्भीर एवं जटिल है। प्रत्युत इसकी भाषा अत्यन्त प्रसन्न, सरल और बिना किसी कठिनाईके अर्थबोध करानेवाली है। यह भी नहीं कि न्यायदीपिकाकार वैसी रचना कर नहीं सकते थे, किन्तु उनका विशुद्ध लक्ष्य अकलंकादि रचित गम्भीर और दुरवगाह न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह आदि न्यायग्रन्थोंमें मन्दजनोंको प्रवेश करानेका था। इस बातको स्वयं धर्मभूषणने बड़े स्पष्ट और प्रांजल शब्दोंमें—मंगलाचरणपद्य तथा प्रकरणारम्भके प्रस्तावना-वाक्योंमें कहा है^१। भाषाके सौष्ठवसे समूचे ग्रन्थकी रचना भी प्रशस्त एवं हृद्य हो गयी है।

रचना-शैली :

भारतीय न्याय-ग्रन्थोंकी ओर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो उनकी रचना हमें तीन प्रकारको उपलब्ध होती है—१ सूत्रात्मक, २ व्याख्यात्मक और ३ प्रकरणात्मक। जो ग्रन्थ संक्षेपमें गूढ़, अल्पाक्षर और सिद्धान्ततः मूलके प्रतिपादक हैं वे सूत्रात्मक हैं। जैसे—वैशेषिकदर्शनसूत्र, न्यायसूत्र, परीक्षामुखसूत्र आदि। जो किसी गद्य, पद्य या दोनोंरूप मूलका व्याख्यान (विवरण, टीका, वृत्ति) रूप हैं वे व्याख्यात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रशस्तपादभाष्य, न्यायभाष्य, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि। तथा जो किसी मूलके व्याख्या-ग्रन्थ न होकर अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषयका स्वतन्त्रभावसे वर्णन करते हैं और प्रसंगानुसार दूसरे विषयोंका भी कथन करते हैं वे प्रकरणात्मक ग्रन्थ हैं। जैसे—प्रमाण-समुच्चय, न्यायबिन्दु, प्रमाणसंग्रह, आप्तपरीक्षा आदि। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका और विश्वनाथ पंचाननकी कारिका-वली आदि कारिकात्मक ग्रन्थ भी दिग्नागके प्रमाणसमुच्चय, सिद्धसेनके न्यायावतार और अकलंकदेवके लघीयस्त्रय आदिकी तरह प्रायः प्रकरणग्रन्थ ही हैं, क्योंकि वे भी अपने स्वीकृत प्रतिपाद्य विषयका स्वतन्त्रभावसे वर्णन करते हैं और प्रसंगोपात्त दूसरे विषयोंका भी कथन करते हैं। अभिनव धर्मभूषणकी प्रस्तुत 'न्यायदीपिका' प्रकरणात्मक रचना है। इसमें ग्रन्थकर्त्ताने अपने अंगीकृत वर्णनीय विषय प्रमाण और नयका स्वतन्त्रतासे वर्णन किया है, वह किसी गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। ग्रन्थकारने इसे स्वयं प्रकरणात्मक ग्रन्थ माना है^२। इस प्रकारके ग्रन्थको रचनेकी प्रेरणा उन्हें विद्यानन्दकी 'प्रमाण-परीक्षा', वादिराजके 'प्रमाण-निर्णय' आदि प्रकरण-ग्रन्थोंसे मिली जान पड़ती है।

परिचय :

ग्रन्थके प्रमाणलक्षण-प्रकाश, प्रत्यक्ष-प्रकाश और परोक्ष-प्रकाश ये तीन प्रकाश (परिच्छेद या अध्याय) करके उनमें विषय-विभाजन उसी प्रकारका किया गया है जिस प्रकार प्रमाण-निर्णयके तीन निर्णयों (प्रमाण-लक्षण-निर्णय, प्रत्यक्ष-निर्णय और परोक्ष-निर्णय) में है। प्रमाण-निर्णयसे प्रस्तुत ग्रन्थमें इतनी विशेषता है कि आगमके विवेचनका इसमें अलग प्रकाश नहीं रखा गया है, जब कि प्रमाणनिर्णयमें चौथा

१. न्यायदीपिका पृ. १, ४, ५।

२. 'प्रकरणमिदमारभ्यते'—न्यायदी. पृ. ५।

आगम-निर्णय भी है। इसका कारण यह है कि वादिराजाचार्यने परोक्षके अनुमान और आगम ये दो भेद किये हैं तथा अनुमानके भी गौण और मुख्य अनुमान ये दो भेद करके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्कको गौण अनुमान प्रतिपादित किया है और इन तीनोंके वर्णनको तो परोक्ष-निर्णय तथा परोक्षके ही दूसरे भेद आगमके वर्णनको आगम-निर्णय नाम दिया है। अभिनव धर्मभूषणने आगम जब परोक्ष है तब उसे परोक्ष-प्रकाशमें ही सम्मिलित कर लिया है—उसके वर्णनको उन्होंने स्वतन्त्र प्रकाशका रूप नहीं दिया। इन तीनों प्रकाशोंमें विषय-वर्णन इस प्रकार है—

पहले प्रमाणसामान्यलक्षण-प्रकाशमें प्रथमतः उद्देशादि तीनके द्वारा ग्रन्थ-प्रवृत्तिका निर्देश, उन तीनोंके लक्षण, प्रमाणसामान्यका लक्षण, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इन तीन मिथ्याज्ञानोंका लक्षण, इन्द्रियादिकोंको प्रमाण न होनेका वर्णन, स्वतः परतः प्रामाण्यका निरूपण और बौद्ध, भाट्ट, प्राभाकर तथा नैयायिकोंके प्रमाणसामान्यलक्षणोंकी आलोचना करके जैनमतसम्मत सविकल्पक अगृहीतग्राही 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाणसामान्यका निर्दोष लक्षण स्थिर किया गया है।

दूसरे प्रत्यक्ष-प्रकाशमें स्वकीय प्रत्यक्षका लक्षण, बौद्ध और नैयायिकोंके निर्विकल्पक तथा सन्निकर्ष प्रत्यक्षलक्षणोंकी समालोचना, अर्थ और आलोकमें ज्ञानके प्रति कारणताका निरास, विषयकी प्रतिनियामिका योग्यताका उपपादन, तदुत्पत्ति और तदाकारताका निराकरण, प्रत्यक्षके भेद-प्रभेदोंका निरूपण, अतीन्द्रियप्रत्यक्षका समर्थन और सर्वज्ञसिद्धि आदिका विवेचन किया गया है।

तीसरे परोक्ष-प्रकाशमें परोक्षका लक्षण, उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच भेदोंका विशद वर्णन, प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदिका प्रमाणान्तरूपसे उपपादन करके उनका प्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भाव होनेका सयुक्तिक समर्थन, साध्यका लक्षण, साधनका 'अन्यथानुपपन्नत्व', लक्षण, त्रैरूप्य और पाञ्चरूप्यका निराकरण, अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो भेदोंका कथन, हेतु-भेदोंके उदाहरण, हेत्वाभासोंका वर्णन, उदाहरण, उदाहरणाभास, उपनय, उपनयाभास, निगमन, निगमनाभास आदि अनुमानके परिवारका अच्छा कथन किया गया है। अन्तमें आगम और नयका वर्णन करते हुए अनेकान्त तथा सप्तभंगीका भी संक्षेपमें प्रतिपादन किया गया है। इस तरह न्यायदीपिकाके विषयोंका यह स्थूल एवं बाह्य परिचय है।

अब उसके आभ्यन्तर प्रमेयोंपर भी थोड़ा तुलनात्मक विवेचन किया जाता है। इससे न्यायदीपिकाके पाठकोंके लिए उसमें चर्चित ज्ञातव्य विषयोंका एकत्र यथा-सम्भव परिचय मिल सकेगा।

प्रतिपाद्य विषय

१. मंगलाचरण :

मंगलाचरणके सम्बन्धमें कुछ वक्तव्य अंश ग्रन्थके हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमें दिया जा चुका है। यहाँ उसके शेष भागपर कुछ विचार किया जाता है।

यद्यपि भारतीय वाङ्मयमें प्रायः सभी दर्शनकारोंने मंगलाचरणको अपनाया है और अपने-अपने दृष्टिकोणसे उसका प्रयोजन एवं हेतु बताते हुए समर्थन किया है। पर जैनदर्शनमें जितना विस्तृत, विशद और सूक्ष्म चिन्तन किया गया है उतना प्रायः अन्यत्र नहीं मिलता। 'तिलोयपण्णत्ति' में^१ यतिवृषभाचार्यने और 'धवला' में^२ श्री वीरसेनस्वामीने मंगलका बहुत ही सांगोपांग और व्यापक वर्णन किया है। उन्होंने धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोगके द्वारा मंगलका निरूपण करनेका निर्देश करके उक्त छहोंके द्वारा उसका व्याख्यान किया है। 'मगि' धातुसे 'अलच्' प्रत्यय करनेपर 'मंगल' शब्द निष्पन्न होता है। निक्षेपकी अपेक्षा कथन करते हुए लिखा है कि तद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगलके दो भेद हैं—कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नोकर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल। उनमें पुण्यप्रकृति-तोर्यकरनामकर्म कर्मतद्व्यतिरिक्त-द्रव्यमंगल है; क्योंकि वह लोककल्याणरूप मांगल्यका कारण है। नोकर्मतद्व्यतिरिक्त द्रव्यमंगलके दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। उनमें लौकिक—लोकप्रसिद्ध मंगल तीन प्रकारका है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। इनमें सिद्धार्थ^३ अर्थात् पीले सरसों, जलसे भरा हुआ पूर्ण कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेतवर्ण और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं। और बालकन्या तथा श्रेष्ठ जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं। अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र मंगल हैं। लोकोत्तर—अलौकिक मंगलके भी तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। अरहन्त आदिका अनादि अनन्त स्वरूप जीव-द्रव्य सचित्त लोकोत्तर मंगल है। कृत्रिम, अकृत्रिम चैत्यालय आदि अचित्त लोकोत्तर मंगल हैं। उक्त दोनों सचित्त और अचित्त मंगलोंको मिश्र मंगल कहा है। आगे मंगलके प्रतिबोधक पर्यायनामोंको^४ बतलाकर मंगलकी निरुक्ति^५ बताई गई है। जो पापरूप मलको गलावे—विनाश करे और पुण्य—सुखको लावे—प्राप्त करावे उसे मंगल कहते हैं। आगे मंगलका प्रयोजन बतलाते हुए कहा गया है^६ कि शास्त्रके आदि, मध्य और अन्तमें जिनेन्द्रका गुणस्तवनरूप मंगलका कथन

१. तिलो. प. गा. १-८ से १-३१।

२. धवला १-१-१ मंगलाचरण-गाथा।

३. सिद्धत्थ-पुण्ण-कुम्भो वंदनमाला य मंगलं छत्तं।

सेदो वण्णो आदंसणो य कण्णा य जच्चस्सो ॥—धवला १-१-१ पृ. २७।

४. धवला १-१-१, पृ. ३१। तिलो. प. गा. १-८।

५. 'मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोषयति विध्वंसयति इति मंगलम्।'.....

'अथवा, मंगं सुखं तल्लाति आदत्त इति वा मज्झलम्।' धवला. १-१-१, पृ. ३२-३३।

'गालयति विनाशयति धादेदि दहेदि हन्ति सोषयति।

विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥'—तिलो. प. १-९।

'अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा।

एवेण कज्जसिद्धि मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो ॥—तिलो. प. १-१५।

६. 'सत्थादि-मज्झ-अवसाणएमु जिणतोत्तमंगलुच्चारो।

णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं ॥'—ति. प. १-३१।

करनेसे समस्त विघ्न उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सूर्योदयसे समस्त अन्धकार । इसके साथ ही तीनों स्थानोंमें मंगल करनेका पृथक्-पृथक् फल भी निर्दिष्ट किया है और लिखा है कि शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे शिष्य सरलतासे शास्त्रके पारगामी बनते हैं । मध्यमें मंगल करनेसे निर्विघ्न विद्या प्राप्ति होती है और अन्तमें मंगल करनेसे विद्या-फलकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार जैनपरम्पराके दिगम्बर साहित्यमें^२ शास्त्रमें मंगल करनेका सुस्पष्ट उपदेश मिलता है । श्वेताम्बर आगम-साहित्यमें भी मंगलका विधान पाया जाता है । दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा. २) में त्रिविध मंगल करनेका निर्देश है । विशेषावश्यकभाष्य (गा. १२-१४) में मंगलके प्रयोजनोंमें विघ्नविनाश और महाविद्याकी प्राप्तिको बतलाते हुए आदि मंगलका निर्विघ्नरूपसे शास्त्रका पारंगत होना, मध्यमंगलका निर्विघ्नतया शास्त्र-समाप्तिकी कामना और अन्त्यमंगलका शिष्य-प्रशिष्योंमें शास्त्र-परम्पराका चालू रहना प्रयोजन बतलाया गया है । बृहत्कल्प-भाष्य (गा. २०) में मंगलके विघ्नविनाशके साथ शिष्यमें शास्त्रके प्रति श्रद्धाका होना आदि अनेक प्रयोजन गिनाये गये हैं । हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमें यह कहा ही गया है कि हरिभद्र और विद्यानन्द आदि तात्किर्कोने अपने तर्क-ग्रन्थोंमें भी मंगल करनेका समर्थन और उसके विविध प्रयोजन बतलाये हैं ।

उपर्युक्त यह मंगल मानसिक, वाचिक और कायिकके भेदसे तीन प्रकारका है । वाचिक मंगल भी निबद्ध और अनिबद्धरूपसे दो तरहका है^३ । जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा श्लोकादिकी रचनारूपसे इष्ट-देवता-नमस्कार निबद्ध किया जाता है वह वाचिक निबद्ध मंगल है और जो श्लोकादिकी रचनाके बिना ही जिनेन्द्रगुण-स्तवन किया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है ।

न्यायदोषिकामें अभिनव धर्मभूषणने भी अपनी पूर्व परम्पराका अनुसरण किया है और मंगलाचरणको निबद्ध किया है ।

२. शास्त्रकी त्रिविध प्रवृत्ति :

शास्त्रकी त्रिविध (उद्देश, लक्षण-निर्देश और परीक्षारूप) प्रवृत्तिका कथन सबसे पहले वात्स्यायनके 'न्याय-भाष्य' में दृष्टिगोचर होता है^४ । प्रशस्तपाद-भाष्यकी टीका 'कन्दली' में श्रीधरने उस त्रिविध प्रवृत्तिमें उद्देश्य और लक्षणरूप द्विविध प्रवृत्तिको माना है और परीक्षाको अनियत कहकर निकाल दिया है^५ । इसका कारण यह है कि श्रीधरने जिस प्रशस्तपाद-भाष्यपर अपनी कन्दली टीका लिखी है वह भाष्य

१. 'पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति ।

मज्झिम्मे णोविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे॥—तिलो. प. १-२९। धवला १-१-१, पृ. ४०।

२. यद्यपि 'कषायपाहुड' और 'चूणिसूत्र' के प्रारम्भमें मंगल नहीं किया है तथापि वहाँ मंगल न करनेका कारण यह है कि उन्हें स्वयं मंगलरूप मान लिया गया है ।

३. धवला, १-१-१, पृ. ४१ और आसपरीक्षा, पृ. ३ ।

४. न्यायभाष्य, पृ. १७, न्यायदोषिका, परिशिष्ट, पृ. २३९।

५. 'पदार्थव्युत्पादनप्रवृत्तस्य शास्त्रस्य उभयथा प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणञ्च । परीक्षायास्तु न नियमः ।'—कन्दली, पृ. २६ ।

और उस भाष्यका आधारभूत वैशेषिकदर्शनसूत्र दोनों पदार्थोंके उद्देश और लक्षणरूप ही हैं, उनमें परीक्षा नहीं है। पर वात्स्यायनने जिस न्यायसूत्रपर अपना न्यायभाष्य लिखा है उसके सभी सूत्र उद्देश, लक्षण और परीक्षात्मक हैं। इसलिए वात्स्यायनने त्रिविध प्रवृत्ति और श्रीधरने द्विविध प्रवृत्तिको स्थान दिया है। शास्त्र-प्रवृत्तिके चौथे भेद-रूपसे विभागको भी माननेका एक पक्ष रहा है, जिसका उल्लेख सर्वप्रथम उद्योतकर^१ और जयन्तभट्टने^२ किया है और उसे उद्देशमें ही शामिल कर लेनेका विधान किया है। आ. प्रभाचन्द्र^३ और हेमचन्द्र^४ भी त्रिविध प्रवृत्तिको कहते हैं। इस तरह वात्स्यायनके द्वारा प्रदर्शित त्रिविध प्रवृत्तिका पक्ष बहुमान्य है। न्यायदीपिकामें प्रभाचन्द्र और हेमचन्द्रके द्वारा अनुसृत यही त्रिविध प्रवृत्तिका पक्ष अपनाया गया है।

३. लक्षणका लक्षण :

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम स्पष्ट तोरपर वात्स्यायनने लक्षणका लक्षण निर्दिष्ट किया है और कहा है कि जो वस्तुका स्वरूप-व्यवच्छेदक धर्म है वह लक्षण है^५। न्यायवात्तिकके कर्त्ता उद्योतकरका भी यही मत है^६। न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट सिर्फ 'व्यवच्छेदक' के स्थानमें 'व्यवस्थापक' शब्दको रखकर वात्स्यायनका ही अनुसरण करते हैं^७। कन्दलीकार श्रीधर भी वात्स्यायनके 'तत्त्व' शब्दके स्थानमें 'स्वपरजातीय' और 'व्यवच्छेदक' की जगह 'व्यावर्त्तक' शब्दका प्रयोग करके करीब-करीब उन्हींके लक्षणके लक्षणको मान्य रखते हैं^८। तर्कदीपिकाकार उक्त कथनोंसे क्लृप्त हुए असाधारण धर्मको लक्षणका लक्षण मानते हैं^९। अकलंकदेव स्वतन्त्र ही लक्षणका लक्षण प्रणयन करते हैं और वे उसमें 'धर्म' या 'असाधारण धर्म' शब्दका निवेश नहीं करते। पर व्यावृत्तिपरक लक्षण मानना उन्हें इष्ट है^{१०}। इससे लक्षणके

१. 'उद्दिष्टविभागश्च न त्रिविधायां शास्त्रप्रवृत्तावन्तर्भवतीति । तस्मादुद्दिष्टविभागो युक्तः; न; उद्दिष्टविभागस्योद्देश एवान्तर्भावात् ।' न्यायवा., पृ. २७, २८ ।
२. ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव....उद्देशरूपानपायात् उद्देश एव असौ । सामान्यसंज्ञया कीर्त्तनमुद्देशः, प्रकारभेदसंज्ञया कीर्त्तनं विभाग इति'—न्यायमं., पृ. १२ ।
३. न्यायकुमुद, प्र. भा. पृ. २१ ।
४. प्रमाणमी., पृ. २ ।
५. 'उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्'—न्यायभा., पृ. १७ ।
६. 'लक्षणस्येतरव्यवच्छेदहेतुत्वात् । लक्षणं खलु लक्ष्यं समानासमानजातीयेभ्यो व्यवच्छिन्नति' । —न्यायवा. पृ. २८, 'पर्यायशब्दाः कथं लक्षणम् ? व्यवच्छेदहेतुत्वात् । सर्वं हि लक्षणमितरव्यवच्छेदकमेतैश्च पर्यायशब्दैर्नान्यः पदार्थोऽभिधीयत इत्यसाधारणत्वाल्लक्षणम्'—न्यायवा., पृ. ७९, 'इतरेतरविशेषकं लक्षणमुच्यते'—न्यायवा., पृ. १०८ ।
७. 'उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्'—न्यायमं., पृ. ११ ।
८. 'उद्दिष्टस्य स्वपरजातीयव्यावर्त्तको धर्मो लक्षणम्'—कन्दली., पृ. २६ ।
९. 'एतद्द्रव्यणत्रयरहितो धर्मो लक्षणम् । यथा गोः सास्नादिमत्वम् । स एवासाधारणधर्म इत्युच्यते'—तर्कदीपिका, पृ. १४ ।
१०. 'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं तल्लक्षणम्'—तत्त्वार्थवा., प्र. भा. २।८।२, पृ. ११९ ।

लक्षणकी मान्यताएँ दो फलित होती हैं। एक तो लक्षणके लक्षणमें असाधारण धर्मका प्रवेश स्वीकार करनेवाली और दूसरी स्वीकार न करनेवाली। पहली मान्यता मुख्यतया न्याय-वैशेषिकोंकी है और जिसे जैन-परम्परामें भी क्वचित्^१ स्वीकार किया गया है। दूसरी मान्यता अकलंक-प्रतिष्ठित है और उसे आचार्य विद्यानन्द^२ तथा न्यायदीपिकाकार आदिने अपनायी है। न्यायदीपिकाकारने तो सप्रमाण इसे ही पुष्ट किया है और पहली मान्यताकी आलोचना करके उसमें दूषण भी दिखाये हैं। ग्रन्थकारका कहना है कि यद्यपि किसी वस्तुका असाधारण—विशेष धर्म उस वस्तुका इतर पदार्थसे व्यावर्त्तक होता है, परन्तु उसे लक्षणकोटिमें प्रविष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि दण्डादि जो कि असाधारणधर्म नहीं हैं फिर भी पुरुषके व्यावर्त्तक होते हैं और 'शावलेयत्व' आदि गवादिकोंके असाधारणधर्म तो हैं, पर व्यावर्त्तक नहीं हैं। इसलिए इतना मात्र ही लक्षण करना ठीक है कि जो व्यावर्त्तक है—मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एकको जुदा कराता है वह लक्षण है। चाहे वह साधारण धर्म हो या असाधारण धर्म या धर्म भी न हो। यदि वह लक्ष्यकी लक्ष्यतेरोंसे व्यावृत्ति कराता है तो लक्षण है और यदि नहीं कराता है तो वह लक्षण नहीं है। इस तरह अकलंक-प्रतिष्ठित लक्षणके लक्षणको ही न्यायदीपिकामें अनुसृत किया गया है।

४. प्रमाणका सामान्यलक्षण :

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम कणादने प्रमाणका सामान्यलक्षण निर्दिष्ट किया है। उन्होंने निर्दोष ज्ञानको विद्या—प्रमाण कहा है^३। न्यायदर्शनके प्रवर्तक श्रौतमके न्यायसूत्रमें प्रमाणसामान्यका लक्षण उपलब्ध नहीं होता। पर उनके टीकाकार वात्स्यायनने अवश्य 'प्रमाण' शब्दसे फलित होनेवाले उपलब्धिसाधन (प्रमाकरण) को प्रमाणसामान्यका लक्षण सूचित किया है^४। उद्योतकर^५, जयन्तभट्ट^६ आदि नैयायिकोंने वात्स्यायनके द्वारा सूचित किये इस उपलब्धिसाधनरूप प्रमाकरणको ही प्रमाणका सामान्य लक्षण स्वीकृत किया है। यद्यपि न्यायकुसुमाञ्जलिकार^७ उदयनने यथार्थानुभवको प्रमाण कहा है तथापि वह उन्हें प्रमाकरणरूप ही दृष्ट है। इतना जरूर जान पड़ता है कि उनपर अनुभूतिको प्रमाण माननेवाले प्रभाकर और उनके अनुयायी विद्वानोंका प्रभाव है क्योंकि उदयनके पहले न्याय-वैशेषिक परम्परामें प्रमाणसामान्यलक्षणमें 'अनुभव' पदका प्रवेश प्रायः उपलब्ध नहीं होता। उनके बादमें

१. न्या. दो., परिशिष्ट, पृ. २४०।

२. न्या. दो., परिशिष्ट, पृ. २४०।

३. 'अदुष्टं विद्या'—वैशेषिकसू. ९।२।१२।

४. 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि समाख्यानिर्वचनसामर्थ्यात् बोधव्यम् । प्रमोयतेऽनेनेति करणार्थभिधानो हि प्रमाणशब्दः' ।—न्यायभा., पृ. १८।

५. 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणं यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणं ।'—न्यायवा., पृ. ५।

६. 'प्रमोयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते' ।—न्यायमं., पृ. २५।

७. 'यथार्थानुभवो मानमनपेक्षतयेव्यते ।'—न्यायकु., ४-१।

तो अनेक नैयायिकोंने^१ अनुभवको ही प्रमाणसामान्यका लक्षण बतलाया है।

मीमांसकोंके मुख्यतया दो सम्प्रदाय हैं—१. भाट्ट और २. प्राभाकर। कुमारिल भट्टके अनुगामी भाट्ट और प्राभाकर गुरुके मतका अनुसरण करनेवाले प्राभाकर कहे जाते हैं। कुमारिलने प्रमाणके सामान्यलक्षणमें पाँच विशेषण दिये हैं—१. अपूर्वार्थ-विषयत्व, २. निश्चितत्व, ३. बाधवर्जितत्व, ४. अदुष्टकारणारब्धत्व और ५. लोक-सम्मतत्व। वह लक्षण इस प्रकार है—

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् ।

अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥

पिछले सभी भाट्टमीमांसकोंने इसी कुमारिलकृतक प्रमाण लक्षणको माना है और उसका समर्थन किया है। प्राभाकरने^२ अनुभूतिको प्रमाणसामान्यका लक्षण कहा है। सांख्यदर्शनमें श्रोत्रादि-इन्द्रियोंकी वृत्ति (व्यापार) को प्रमाणका सामान्य-लक्षण बतलाया गया है।

बौद्धदर्शनमें^३ अज्ञातार्थके प्रकाशक ज्ञानको प्रमाणका सामान्यलक्षण बतलाया है। दिग्नागने विषयाकार अर्थनिश्चय और स्वसंवित्तिको प्रमाणका फल कहकर उन्हें ही प्रमाण माना है^४, क्योंकि बौद्धदर्शनमें प्रमाण और फल भिन्न नहीं हैं और जो अज्ञातार्थप्रकाशरूप ही हैं। धर्मकीर्त्तिने^५ 'अविसंवादि' पद और लगाकर दिग्नाग-के ही लक्षणको प्रायः परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने^६ सांख्य और योग्यताको प्रमाण वर्णित किया है, जो एक प्रकारसे दिग्नाग और धर्मकीर्त्तिके प्रमाणसामान्यलक्षणका ही पर्यवसितार्थ है। इस तरह बौद्धोंके यहाँ स्वसंवेदी अथवा अज्ञातार्थज्ञापक अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहा गया है।

जैन परम्परामें सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्र^७ और न्यायावतारकार सिद्धसेनने प्रमाणका सामान्यलक्षण निर्दिष्ट किया है। समन्तभद्रने उसमें स्वपरावभासक और ज्ञान ये दो तथा सिद्धसेनने बाधविवर्जित सहित तीन विशेषण दिये हैं। भारतीय दार्शनिकोंमें समन्तभद्र ही प्रथम दार्शनिक हैं, जिन्होंने स्पष्टतया प्रमाणके सामान्य-लक्षणमें 'स्वपरावभासक' पद रखा है। यद्यपि विज्ञानवादी बौद्धोंने भी ज्ञानको

१. 'बुद्धिस्तु द्विविधा मता अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा ।'—सिद्धान्तमु., का. ५१ ।

'तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः ।'—सैव प्रमा ।' —तर्कसं., पृ. ६८, ६९ ।

२. 'अनुभूतिश्च नः प्रमाणम् ।' —बृहती., १-१-५ ।

३. 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम् ।' —प्रमाणसमु. टी., पृ. ११ ।

४. 'स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः । विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते ॥'

—प्रमाणसमु. १-१० ।

५. 'प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्'—प्रमाणवा., २-१ ।

६. 'विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते । स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सांख्यं योग्यतापि वा ॥'

—तत्त्वसं., का १३४४ ।

७. 'स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्'—स्वयम्भू., का. ६३ ।

८. 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।'—न्यायाव., का. १ ।

‘स्वरूपस्य स्वतो गतेः’^१ कहकर स्वसंवेदी प्रकट किया है परन्तु तार्किकरूप देकर प्रमाणके लक्षणमें ‘स्व’ और ‘पर’ पदोंका एकसाथ निवेश समन्तभद्रका ही स्वोपज्ञान पड़ता है, क्योंकि उनके पहले वैसा प्रमाणलक्षण देखनेमें नहीं आता। समन्तभद्रने प्रमाणसामान्यका लक्षण ‘युगपत्सर्वभासितत्त्वज्ञान’ भी किया है, जो उपर्युक्त लक्षणमें ही पर्यवसित है। दर्शनशास्त्रोंके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि ‘प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्’ अर्थात् ‘जिसके द्वारा प्रमिति (परिच्छित्ति-विशेष) हो वह प्रमाण है’ इस अर्थमें प्रायः सभी दर्शनकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है। परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है? इसे सबने अलग-अलग बतलाया है। नैयायिक और वैशेषिकोंका कहना है कि अर्थज्ञप्ति इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षसे होती है, इसलिए सन्निकर्ष प्रमितिका करण है। मीमांसक सामान्यतया इन्द्रियको, सांख्य इन्द्रियवृत्तिको और बौद्ध सारूप्य एवं योग्यताको प्रमितिकरण बतलाते हैं। समन्तभद्रने ‘स्वपरावभासक’ ज्ञानको प्रमितिका अव्यवहित करण प्रतिपादन किया है। समन्तभद्रके उत्तरवर्ती पूज्यपादने भी स्वपरावभासक ज्ञानको ही प्रमितिकरण (प्रमाण) होनेका समर्थन किया है और सन्निकर्ष, इन्द्रिय तथा मात्र ज्ञानको प्रमितिकरण (प्रमाण) माननेमें दोषोद्भावन भी किया है^२। वास्तवमें प्रमिति—प्रमाणफल जब अज्ञाननिवृत्ति है तब उसका करण अज्ञान-विरोधी स्व और परका अवभासक ज्ञान ही होना चाहिए। समन्तभद्रके द्वारा प्रतिष्ठित इस ‘स्वपरावभासक’ प्रमाणलक्षणको आधिकरूपसे अपनाते हुए भी शाब्दिकरूपसे अकलंकदेवने अपना ‘आत्मार्थग्राहक व्यवसायात्मक’ ज्ञानको प्रमाणलक्षण बतलाया है^३। तात्पर्य यह कि समन्तभद्रके ‘स्व’ पदकी जगह ‘आत्मा’ और ‘पर’ पदके स्थानमें ‘अर्थ’ पद एवं ‘अवभासक’ पदकी जगह ‘व्यवसायात्मक’ पदको निविष्ट किया है। तथा ‘अर्थ’ के विशेषणरूपसे कहीं ‘अनधिगत’^४, कहीं ‘अनिश्चित’ और कहीं ‘अनिर्णीत’^५ पदको दिया है। कहीं ज्ञानके विशेषणरूपसे ‘अविसंवादि’^६ पदको भी रखा है। ये पद कुमारिल तथा धर्मकीर्तिसे लिये हुए मालूम होते हैं; क्योंकि उनके प्रमाणलक्षणोंमें वे पहलेसे ही विहित हैं। अकलंकदेवके उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दिने अकलंकदेवके ‘अनधिगत’ पदके स्थानमें कुमारिलोक्त ‘अपूर्वार्थ’ और ‘आत्मा’ पदके स्थानमें समन्तभद्रोक्त ‘स्व’ पदका निवेश करके ‘स्वापूर्वार्थ’ जैसा एक पद बना लिया है और ‘व्यवसायात्मक’ पदको ज्यों-का-त्यों अपनाकर ‘स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान’ यह प्रमाणसामान्यका लक्षण प्रकट किया है^७।

१. प्रमाणवा. २।४।

२. सर्वार्थसि., १-१०।

३. ‘व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्।’ —लघोय., का. ६०।

४. ‘प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।’ —अष्टश., देवा. का. ३६।

५. ‘लिंगलिङ्गिसम्बन्धज्ञानं प्रमाणं अनिश्चितनिश्चयात्।’ —‘अष्टश.’ देवा. का. १०१।

६. ‘प्रकृतस्यापि न वै प्रामाण्यं प्रतिषेधं, अनिर्णीतनिर्णयिकत्वात्।’ —अष्टश., देवा. का. १०१।

७. ‘प्रमाणमविसंवादिज्ञानम्’ —अष्टश., देवा. का. ३६।

८. ‘स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।’ —परीक्षामु., १-१।

विद्यानन्दने यद्यपि संक्षेपमें 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाण कहा है^१ और पीछे उसे 'स्वार्थ-व्यवसायात्मक' सिद्ध किया है^२, अकलंक तथा माणिक्यनन्दिकी तरह स्पष्ट तौरपर 'अनधिगत' या 'अपूर्व' विशेषण उन्होंने नहीं दिया, तथापि सम्यग्ज्ञानको अनधिगतार्थविषयक या अपूर्वार्थविषयक मानना उन्हें अनिष्ट नहीं है। उन्होंने जो अपूर्वार्थका खण्डन किया है^३ वह कुमारिलके सर्वथा 'अपूर्वार्थ' का खण्डन है, कथंचिद् अपूर्वार्थ' तो उन्हें अभिप्रेत है^४। अकलंकदेवकी तरह स्मृत्यादि प्रमाणोंमें अपूर्वार्थताका उन्होंने स्पष्टतया समर्थन किया है। सामान्यतया प्रमाणलक्षणमें अपूर्व पदको न रखनेका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष तो अपूर्वार्थग्राही होता ही है और अनुमानादि प्रत्यक्षसे अगृहीत धर्मांशोंमें प्रवृत्त होनेसे अपूर्वार्थग्राहक सिद्ध हो जाते हैं। यदि विद्यानन्दको स्मृत्यादिक अपूर्वार्थविषयक इष्ट न होते तो उनकी प्रमाणतामें प्रयोजक अपूर्वार्थताको वे कदापि न बतलाते। इससे स्पष्ट है कि विद्यानन्द भी प्रमाणको अपूर्वार्थग्राही मानते हैं। इस तरह समन्तभद्र और अकलंकदेवका प्रमाण-सामान्यलक्षण ही उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिए आधार हुआ है। धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें आ. गृहपिच्छ द्वारा स्वीकृत और विद्यानन्दके द्वारा समर्थित 'सम्यक्-ज्ञानत्व' रूप प्रमाणके सामान्यलक्षणको ही अपनाया है और उसे अपनी पूर्वपरम्परा-नुसार सविकल्पक, अगृहीतग्राही एवं स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है तथा धर्मकीर्ति, प्राभाकर, भाट्ट और नैयायिकोंके प्रमाणसामान्यलक्षणोंकी आलोचना को है।

५. धारावाहिक ज्ञान :

दार्शनिक ग्रन्थोंमें धारावाहिक ज्ञानोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी विस्तृत चर्चा पायी जाती है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक उन्हें प्रमाण मानते हैं। पर उनकी प्रमाणताका समर्थन वे अलग-अलग ढंगसे करते हैं। न्याय-वैशेषिकोंको^५

१. 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'—प्रमाणपरी., पृ. १ ।

२. 'किं पुनः सम्यग्ज्ञानं ? अभिधीयते—स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्'—प्रमाणप., पृ. १ ।

३. 'तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता ।

लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्—॥'—तत्त्वार्थश्लो., पृ. १७४ ।

४. 'सकलदेशकालव्याप्तसाध्यसाधनसम्बद्धोहापोहलक्षणो हि तर्कः प्रामाण्यितव्यः, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात् ।'—प्र. प. पृ. ४५ । 'न चैतद् गृहीतग्रहणादप्रमाणमिति शङ्कनीयम्, तस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वात् । न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृति-प्रत्यक्षग्राह्यं, येन तत्र प्रवर्तमानं प्रत्यभिज्ञानं गृहीतग्राहि मन्येत, तद्गृहीतातोतवर्तमानविवर्त्तादातात्म्यस्य द्रव्यस्य कथञ्चिदपूर्वार्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्य तद्विषयस्य नाप्रमाणत्वं, लैंगिकादेरप्यप्रमाणत्वप्रसंगात्, तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धेः ।'—प्रमाणप., पृ. ४३ । 'स्मृतिः प्रमाणान्तरमुक्तं "न चासावप्रमाणमेव संवादकत्वात् । कथञ्चिदपूर्वार्थग्राहित्वात्"'—प्रमाणप., पृ. ३६ । 'गृहीतग्रहणात्कर्त्तव्य-प्रमाणमिति चेन्न वै । तस्यापूर्वार्थवेदित्वादुपयोगविशेषतः ॥'—तत्त्वार्थश्लोक., पृ. १९५ ।

५. 'अनधिगतार्थगन्तृत्वं च धारावाहिकज्ञानानामधिगतगोचराणां लोकसिद्धप्रमाणभावानां प्रामाण्यं बिहन्तीति नाद्रियामहे ।'.....तस्मादर्थप्रदर्शनमात्रव्यापारमेव ज्ञानं प्रवर्त्तकं

कहना है कि उनसे परिच्छित्ति होती है और लोकमें वे प्रमाण भी माने जाते हैं। अतः वे गृहीतग्राही होनेपर भी प्रमाण ही हैं। भाट्टोंका^१ मत है कि उनमें सूक्ष्म काल-भेद है। अतएव वे अनधिगत सूक्ष्म काल-भेदको ग्रहण करनेसे प्रमाण हैं। प्रभाकर मतवाले^२ कहते हैं कि कालभेदका भान होना तो शक्य नहीं है क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म है। परन्तु हाँ, पूर्वज्ञानसे उत्तरज्ञानोंमें कुछ अतिशय (वैशिष्ट्य) देखनेमें नहीं आता। जिस प्रकार पहले ज्ञानका अनुभव होता है उसी प्रकार उत्तर ज्ञानोंका भी अनुभव होता है। इसलिए धारावाहिक ज्ञानोंमें प्रथम ज्ञानसे न तो उत्पत्तिकी अपेक्षा कोई विशेषता है और न प्रतीतिकी अपेक्षासे है। अतः वे भी प्रथम ज्ञानकी ही तरह प्रमाण हैं।

बौद्धदर्शनमें यद्यपि अनधिगतार्थक ज्ञानको ही प्रमाण माना है और इसलिए अधिगतार्थक धारावाहिक ज्ञानोंमें स्वतः अप्रामाण्य ख्यापित हो जाता है तथापि धर्मकीर्तिके टीकाकार अर्चटने^३ पुरुषभेदकी अपेक्षासे उनमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वीकार किया है। क्षणभेददृष्टा (योगी) की अपेक्षासे प्रमाणता और क्षणभेद अदृष्टा व्यावहारिक पुरुषोंकी अपेक्षासे अप्रमाणता वर्णित की है।

जैनपरम्पराके श्वेताम्बर तार्किकोंने धारावाहिक ज्ञानोंको प्रायः प्रमाण ही माना है—उन्हें अप्रमाण नहीं कहा है। किन्तु अकलंक और उनके उत्तरवर्ती सभी दिगम्बर आचार्योंने अप्रमाण बतलाया है। और इसीलिए प्रमाणके लक्षणमें अनधिगत या अपूर्वार्थ विशेषण दिया है। विद्यानन्दका कुछ झुकाव अवश्य उन्हें प्रमाण कहनेका प्रतीत होता है^४। परन्तु जब वे सर्वथा अपूर्वार्थत्वका विरोध करके कथंचित् अपूर्वार्थ

प्रापकं च । प्रदर्शकं च पूर्ववदुत्तरेषामपि विज्ञानानामभिन्नमिति कथं पूर्वमेव प्रमाणं नोत्तराण्यपि ।' —न्यायवा. तात्पर्य., पृ. २१ ।

१. 'धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम् ।
... तस्मादस्ति कालभेदस्य परामर्शः । तदाधिक्याच्च सिद्धमुत्तरेषां प्रामाण्यम् ।'

—शास्त्रदो., पृ. १२४-१२६ ।

२. 'सन्नपि कालभेदोऽतिसूक्ष्मत्वान्न परामृष्यत इति चेत्; अहो सूक्ष्मदर्शी देवानांप्रियः !'
—(शास्त्रदो., पृ. १२५) [अत्र पूर्वपक्षेणोल्लेखः] 'व्याप्रियमाणे हि पूर्वविज्ञानकारण-
कलापे उत्तरेषामप्युत्पत्तिरिति न प्रतीतित उत्पत्तितो वा धारावाहिकविज्ञानानि परस्पर-
स्यातिशेरेते इति युक्ता सर्वेषामपि प्रमाणता ।'—प्रकरणं., पृ. ४३ ।

३. 'यदैकस्मिन्नेव नीलादिवस्तुनि धारावाहीनीन्द्रियज्ञानान्युत्पद्यन्ते तदा पूर्वणाभिन्नयोग-
क्षेत्रत्वात् उत्तरेषामिन्द्रियज्ञानानामप्रामाण्यप्रसङ्गः । न चैवम् अतोऽनेकान्त इति प्रमाण-
संप्लववादी दर्शयन्नाह पूर्वप्रत्यक्षेण इत्यादि । एतत् परिहरति—तद् यदि प्रतिक्षणं क्षण-
विवेकदर्शनोऽधिकृत्योच्यते तदा भिन्नोपयोगितया पृथक् प्रामाण्यात् नानेकान्तः । अथ
सर्वपदार्थेष्वेकत्वाध्यवसायिनः सांव्यवहारिकान् पुरुषानभिप्रेत्योच्यते तदा सकलमेव
नीलसन्तानमेकमर्थं स्थिररूपं तत्साध्यां चार्थक्रियामेकात्मिकामध्यवस्यन्तीति प्रामाण्य-
मप्युत्तरेषामनिष्टमेवेति कुतोऽनेकान्तः ?'—हेतुबिन्दुटी. लि., पृ. ३९ B ।

४. 'गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति । तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम् ॥'

—तत्त्वार्थश्लो., पृ. १७४ ।

स्वीकार कर लेते हैं तब यही मालूम होता है कि उन्हें भी धारावाहिक ज्ञानोंमें अप्रामाण्य इष्ट है। दूसरे, उन्होंने परिच्छेदविशेषके अभावमें जिस प्रकार प्रमाण-सम्प्लव स्वीकार नहीं किया है^१ उसी प्रकार प्रमितिविशेषके अभावमें धारावाहिक ज्ञानोंको अप्रमाण माननेका भी उनका अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है। अतः धारावाहिक ज्ञानोंसे यदि प्रमितिविशेष उत्पन्न नहीं होती है तो उन्हें अप्रमाण (प्रमाण नहीं) कहना अयुक्त नहीं है। न्यायदीपिकाकारने भी प्रथम घटादिज्ञानके अलावा उत्तरवर्ती अवशिष्ट घटादिज्ञानोंको अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिको उत्पन्न न करनेके कारण अप्रमाण ही स्पष्टतया प्रतिपादन किया है और इस तरह उन्होंने अकलंकमार्गका ही समर्थन किया है।

६. प्रामाण्यविचार :

ऐसा कोई भी तर्कग्रन्थ न होगा जिसमें प्रमाणके प्रामाण्याप्रामाण्यका विचार प्रस्फुटित न हुआ हो। ऐसा मालूम होता है कि प्रारम्भमें प्रामाण्यका विचार वेदोंकी प्रामाण्यता स्थापित करनेके लिए हुआ था^२। जब उसका तर्कके क्षेत्रमें प्रवेशमें हुआ तब प्रत्यक्षादि ज्ञानोंकी प्रामाण्यता और अप्रामाण्यताका विचार होने लगा। प्रत्येक दार्शनिकको अपने तर्कग्रन्थमें प्रामाण्य और अप्रामाण्य तथा उसके स्वतः और परतः होनेका कथन करना अनिवार्य-सा हो गया^३। यही कारण है कि प्रायः छोटे-से-छोटे तर्कग्रन्थमें भी वह चर्चा आज देखनेको मिलती है।

न्याय-वैशेषिक^४ दोनोंको परतः, सांख्य^५ दोनोंका स्वतः, मीमांसक^६ प्रामाण्य-को तो स्वतः और अप्रामाण्यको परतः तथा बौद्ध^७ दोनोंको किञ्चित् स्वतः और

१. 'उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात् । सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे देशादिविशेषसमवधानादागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपित्तवते ।'
—अष्टस., पृ. ४ ।

२. 'प्रत्याक्षादिषु दृष्टार्थेषु प्रमाणेषु प्रामाण्यनिश्चयमन्तरेणैव व्यवहारसिद्धेस्तत्र किं स्वतः प्रामाण्यमुत परत इति विचारेण न नः प्रयोजनम्, अनिर्णय एव तत्र श्रेयान्, अदृष्टे तु विषये वैदिकेष्वगणितद्रविणवितरणादिक्लेशसाध्येषु कर्मसु तत्प्रामाण्यावधारणमन्तरेण प्रेक्षा-वतां प्रवर्त्तनमनुचितमिति तस्य प्रामाण्यनिश्चयोऽवश्यं कर्तव्यः, तत्र परत एव वेदस्य प्रामाण्यमिति वक्ष्यामः ।'—न्यायमं., पृ. १५५ ।

३. 'सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्प्रतीक्ष्यताम् । प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः किं परतोऽथवा ॥'
—मी. श्लो. चो. श्लो., ३३ । 'प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा सर्वविज्ञानगोचरम् । स्वतो वा परतो वेति प्रथमं प्रविचिच्यताम् ।'—न्यायमं., पृ. १४६ ।

४. 'द्वयमपि परत इत्येष एव पक्षः श्रेयान्'—न्यायमं., पृ. १६० । कन्दली., पृ. २२० ।

५. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।'—सर्वदर्श., पृ. २७९ ।

६. 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् । न हि स्वतोऽसतो शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते ॥'
—मी. श्लो. सू. २, श्लो. ४७ ।

७. 'उभयमपि एतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परतः इति ...'—तत्त्वसं. पं., का. ३१२३ ।

दोनोंको ही किंचित् परतः वर्णित करते हैं। जैनदर्शनमें^१ अभ्यास और अनभ्यासदशा-
में उत्पत्ति तो दोनोंकी परतः और ज्ञप्ति अभ्यासदशामें स्वतः तथा अनभ्यासदशामें
परतः मानी गयी है। धर्मभूषणने भी प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे ही और निश्चय
(ज्ञप्ति) अभ्यस्तविषयमें स्वतः एवं अनभ्यस्त विषयमें परतः बतलाया है।

७. प्रमाणके भेद :

दार्शनिकरूपसे प्रमाणके भेदोंको गिनानेवाली सबसे पुरानी परम्परा कौन है ?
और किसकी है ? इसका स्पष्ट निर्देश तो उपलब्ध दार्शनिक साहित्यमें नहीं मिलता
है; किन्तु इतना जरूर कहा जा सकता है कि प्रमाणके स्पष्टतया चार भेद गिनानेवाले
न्यायसूत्रकार गौतमसे^२ भी पहले प्रमाणके अनेक भेदोंकी मान्यता रही है; क्योंकि
उन्होंने ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारका स्पष्टतया उल्लेख करके
उनकी अतिरिक्त प्रमाणताका निरसन किया है तथा शब्दमें ऐतिह्यका और अनुमान-
में शेष तीनका अन्तर्भाव हो जानेका कथन किया है^३। प्रशस्तपादने^४ भी अपने
वैशेषिकदर्शनानुसार प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणोंका समर्थन करते हुए
उल्लिखित प्रमाणोंका इन्हींमें अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। प्रसिद्धिके आधारपर
इतना और कहा जा सकता है कि आठ प्रमाणोंकी मान्यता सम्भवतः पौराणिकोंकी
है। कुछ भी हो, प्रमाणको अनेकभेदरूप प्रारम्भसे ही माना जाता रहा है और प्रत्येक
दर्शनकारने कम-से-कम प्रमाण माननेका प्रयत्न किया है तथा शेष प्रमाणोंको उसी
अपनी स्वीकृत प्रमाणसंख्यामें ही अन्तर्भाव करनेका समर्थन किया है। यही कारण है
कि सात, छह, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रमाणवादो दार्शनिक जगत्में आविर्भूत
हुए हैं। एक ऐसा मत रहा, जो सात प्रमाण मानता था। छह प्रमाण माननेवाले
जैमिनि अथवा भाट्ट, पाँच प्रमाण माननेवाले प्राभाकर, चार प्रमाण कहनेवाले
नैयायिक, तीन प्रमाण माननेवाले सांख्य, दो प्रमाण स्वीकृत करनेवाले वैशेषिक और
बौद्ध तथा एक प्रमाण माननेवाले चार्वाक तो आज भी दर्शनशास्त्रकी चर्चके विषय
बने हुए हैं।

जैनदर्शनके सामने भी यह प्रश्न था कि वह कितने प्रमाण मानता है ? यद्यपि
मत्यादि पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान या प्रमाण माननेकी परम्परा अतिप्राचीनकालसे
ही आगमोंमें निबद्ध और मौखिक रूपसे सुरक्षित चली आ रही थी, पर जैनतरोँके
लिए वह अलौकिक जैसी प्रतीत होती थी—उसका दर्शनान्तरीय प्रमाणनिरूपणसे मेल

८. 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च'—परीक्षामु., १-१३। 'प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्
परतोऽन्यथा ॥'—प्रमाणप., पृ. २८।

१. 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।'—न्यायसू., १-१-३।

२. 'न चतुष्टयमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्।'—न्यायसू., २-२-१। "शब्द ऐति-
ह्यानर्थान्तरभावादानुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः।'—

—न्यायसू., २-२-२।

३. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १०६-१११।

नहीं खाता था। इस प्रश्नका उत्तर सर्वप्रथम^१ दार्शनिकरूपसे सम्भवतः प्रथम शताब्दीमें हुए तत्त्वार्थसूत्रकार आ. उमास्वातिने^२ दिया है। उन्होंने कहा कि सम्यग्ज्ञान प्रमाण है और वह मूलमें दो ही भेदरूप है—१. प्रत्यक्ष और २. परोक्ष। आ. उमास्वातिका यह मौलिक प्रमाणद्वयविभाग इतना सुविचारपूर्वक और कौशल्यपूर्ण हुआ है कि प्रमाणोंका आनन्त्य भी इन्हीं दोमें समा जाता है। इनसे अतिरिक्त पृथक् तृतीय प्रमाण माननेकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं रहती है। जबकि वैशेषिक और बौद्धोंके प्रत्यक्ष तथा अनुमानरूप द्विविध प्रमाण-विभागमें अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्होंने अति संक्षेपमें मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) इनको भी प्रमाणान्तर होनेका संकेत करके और उन्हें मतिज्ञान कहकर 'आद्ये परोक्षम्' सूत्रके द्वारा परोक्ष-प्रमाणमें ही अन्तर्भूत कर लिया है^३। आ. उमास्वातिने इस प्रकार प्रमाणद्वयका विभाग करके उत्तरवर्ती जैनतार्किकोंके लिए प्रशस्त और सरल मार्ग बना दिया। दर्शनान्तरोंमें प्रसिद्ध उपमानादिकको भी परोक्षमें ही अन्तर्भाव होनेका स्पष्ट निर्देश उनके बादमें होनेवाले पूज्यपादने कर दिया^४। अकलंकदेवने उसी मार्गपर चलकर परोक्ष-प्रमाणके भेदोंकी स्पष्ट संख्या बतलाते हुए उनको सयुक्तिक सिद्धि की और प्रत्येकका लक्षण प्रणयन किया^५। आगे तो परोक्ष-प्रमाणोंके सम्बन्धमें उमास्वाति और अकलंकने जो दिशा निर्धारित की उसीपर सब जैन तार्किक अविरुद्धरूपसे चले हैं। अकलंकदेवके सामने भी एक प्रश्न उपस्थित हुआ। वह यह कि लोकमें तो इन्द्रियाश्रित ज्ञानको प्रत्यक्ष माना जाता है, पर जैनदर्शन उसे परोक्ष कहता है, यह लोकविरोध कैसा? इसका समाधान उन्होंने बड़े स्पष्ट और प्रांजल शब्दोंमें दिया है। वे कहते हैं^६—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. सांख्यव्यवहारिक और २. मुख्य। लोकमें जिस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष कहा जाता है वही व्यवहारसे तथा देशतः विशद होनेसे सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षके रूपमें जैनोंको इष्ट है। अतः कोई विरोध नहीं है। अकलंकके बाद सभी जैन तर्कग्रन्थकारों-

१. यद्यपि श्वेताम्बरीय स्थानांग और भगवतीमें भी प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाणद्वयका विभाग निर्दिष्ट है, पर उसे पं. सुखलालजी निर्युक्तिकार भद्रबाहुके बादका मानते हैं, जिनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी है। —प्रमाणमी., भा. टि., पृ. २०। तथा श्वे. मुनि श्रोतुरविजयजीका 'श्रीभद्रबाहु' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ३, कि. १२ तथा 'क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?' शीर्षक मेरा लेख, 'अनेकान्त', वर्ष ६, कि. १०-११, पृ. ३३८ और यही ग्रन्थ पृ. ९५।

२. 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'—तत्त्वार्थसू., १-१०, ११, १२।

३. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताअभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'—तत्त्वार्थसू., १-१४।

४. 'उमानार्थापत्त्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्', 'अत उपमानागमादीनामत्रैवान्तर्भावः'

—सर्वार्थसिद्धि, पृ. ६४।

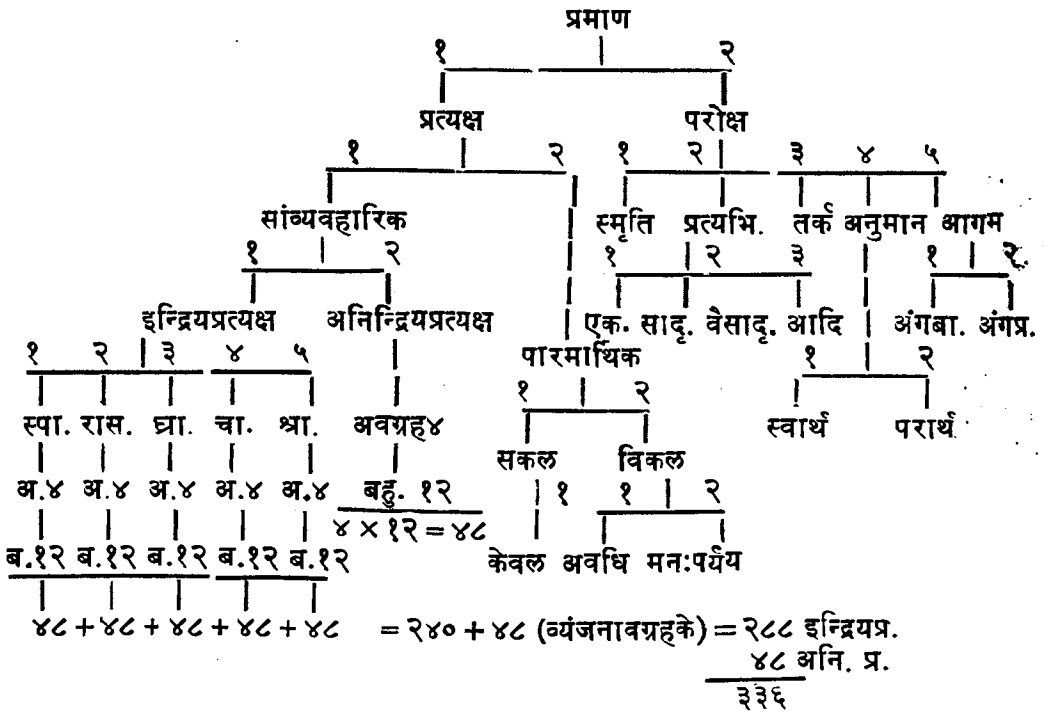
५. 'ज्ञानमाद्यं मतिः संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधिकम्।

'प्राङ्नामयोजनात् शेषं श्रुतं शब्दानुयोजनात् ॥'—लघोय., का. ११।

'परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः'—लघोय. का. ३।

६. 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्य-संख्यव्यवहारतः।'—लघोय., का. ३।

ने इसे स्वीकार किया और अपने-अपने उसे ग्रन्थोंमें बड़े आदरके साथ अपनाया है। इस तरह सूत्रकार उमास्वातिने जो प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्धारित किये थे उन्हें ही जैन तार्किकोंने परिपुष्ट और समर्थित किया है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि समन्तभद्रस्वामीने^१, जो उमास्वातिके उत्तरवर्ती और पूज्यपादके पूर्ववर्ती हैं, प्रमाणके अन्य प्रकारसे भी दो भेद किये हैं—१. अक्रमभावि और २. क्रमभावि। केवलज्ञान अक्रमभावि है और शेष मत्यादि चार ज्ञान क्रमभावि हैं। पर यह प्रमाणद्वयका विभाग उपयोगके क्रमाक्रमकी अपेक्षासे है। समन्तभद्रके लिए आसमीमांसामें आप्त विवेचनीय विषय है। अतः आसके ज्ञानको उन्होंने अक्रमभावि और आसभिन्न—अनाप्त (छद्मस्थ) जीवोंके प्रमाणज्ञानको क्रमभावि बतलाया है। इसलिए उपयोगभेद या व्यक्तिभेदकी दृष्टिसे किया गया यह प्रमाणद्वयका विभाग है। धर्मभूषणने सूत्रकार उमास्वाति निर्दिष्ट प्रत्यक्ष और परोक्षरूप ही प्रमाणके दो भेद प्रदर्शित किये हैं और उनके उत्तरभेदोंकी परम्परानुसार परिगणना की है। जैनदर्शनमें प्रमाणके जो भेद-प्रभेद किये गये हैं वे प्रमाणपरीक्षाके अनुसार इस प्रकार हैं^२—



१. 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥' —आप्तमी., का. १०१ ।

२. 'स्पर्शनादीन्द्रियनिमित्तस्य बहुबहुविधक्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवेषु सेतरेष्वर्थेषु प्रवर्तमानस्य प्रतीन्द्रियमष्टचत्वारिंशद्भेदस्य व्यञ्जनावग्रहभेदैरष्टचत्वारिंशता सहितस्य संख्याष्टाशो-
त्युत्तरद्विशती प्रतिपत्तव्या । तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्षं बह्वादिद्वादशप्रकारार्थविषयमवग्रहादि-
विकल्पमष्टचत्वारिंशत्संख्यं प्रतिपत्तव्यम् ।' —प्रमाणप., पृ. ४० ।

८. प्रत्यक्षका लक्षण :

दार्शनिक जगत्में प्रत्यक्षका लक्षण अनेक प्रकारका उपलब्ध होता है। नैयायिक और वैशेषिक सामान्यतया इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको प्रत्यक्ष कहते हैं^१। सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी वृत्तिको और मोमांसक^२ इन्द्रियोंका आत्माके साथ सम्बन्ध होने-पर उत्पन्न होनेवाली बुद्धि (ज्ञान) को प्रत्यक्ष मानते हैं। बौद्धदर्शनमें तीन मान्यतायें हैं—१. वसुबन्धुकी, २. दिग्नागकी और ३. धर्मकीर्त्तिकी। वसुबन्धुने^३ अर्थजन्य निर्विकल्पक बोधको, दिग्नागने^४ नामजात्यादिरूप कल्पनासे रहित निर्विकल्प ज्ञानको और धर्मकीर्त्तिने^५ निर्विकल्पक तथा अभ्रान्त ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। सामान्यतया निर्विकल्पकको सभी बौद्ध तार्किकोंने प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। दर्शनान्तरोंमें और भी कितने ही प्रत्यक्ष-लक्षण किये गये हैं। पर वे सब इस संक्षिप्त स्थानपर प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं।

जैनदर्शनमें सबसे पहले सिद्धसेन^१ (न्यायावतारकार) ने प्रत्यक्षका लक्षण किया है। उन्होंने अपरोक्षरूपसे अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है। इस लक्षण में अन्योन्याश्रय नामका दोष होता है, क्योंकि प्रत्यक्षका लक्षण परोक्षघटित है और परोक्षका लक्षण (प्रत्यक्षभिन्नत्व) प्रत्यक्षघटित है। अकलंकदेवने^२ प्रत्यक्षका ऐसा लक्षण बनाया, जिससे वह दोष नहीं रहा। उन्होंने कहा कि जो ज्ञान विशद है—स्पष्ट है वह प्रत्यक्ष है। यह लक्षण अपने आपमें स्पष्ट तो है ही, साथमें बहुत ही संक्षिप्त और अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे पूर्णतः रहित भी है। सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकका यह अकलंक लक्षण जैनपरम्परा में इतना प्रतिष्ठित और व्यापक हुआ कि दोनों ही सम्प्रदायोंके श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानोंने बड़े आदरभावसे अपनाया है। जहाँ तक मालूम है, फिर दूसरे किसी जैन तार्किकको प्रत्यक्षका अन्य लक्षण बनाना आवश्यक नहीं हुआ और यदि किसीने बनाया भी हो तो उसकी उतनी न तो प्रतिष्ठा हुई है और न उसे उतना अपनाया ही गया है। अकलंकदेवने अपने प्रत्यक्ष लक्षणमें उपात्त वैशद्यका^३ भी खुलासा कर दिया है। उन्होंने अनुमादिककी अपेक्षा

१. 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्'।

—न्यायसूत्र. १-१-४।

२. 'तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्।'—जैमिनि. १-१-४।

३. 'अर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षम्।'—प्रमाणस. पृ. ३२।

४. 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्।' प्रमाणसमु. १-३।

५. 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्।'—न्यायविन्दु. पृ. ११।

६. 'अपरोक्षतयाऽर्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्। प्रत्यक्षमितरद् ज्ञेयं परोक्षं गृह्णेत्यथा ॥'

—न्यायाव. का. ४।

७. 'प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्।'—लघीय. का. ३। 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा।'—न्यायवि. का. ३।

८. 'अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।

तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥'—लघीय. का. ४।

विशेष प्रतिभास होनेको वैशद्य कहा है। अभिनव धर्मभूषणने भी अकलंकप्रतिष्ठित इन प्रत्यक्ष और वैशद्यके लक्षणोंको अपनाया है और उनके सूत्रात्मक कथनको और अधिक स्फुटित किया है।

९. अर्थ और आलोककी कारणताका निरास :

बौद्ध ज्ञानके प्रति अर्थ और आलोकको कारण मानते हैं। उन्होंने चार प्रत्ययों (कारणों) से सम्पूर्ण ज्ञानों (स्वसंवेदनादि) की उत्पत्ति वर्णित की है। वे प्रत्यय ये हैं—१. समनन्तरप्रत्यय, २. आधिपत्यप्रत्यय, ३. आलम्बनप्रत्यय और ४. सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसलिए वह समनन्तरप्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादिक इन्द्रियां आधिपत्यप्रत्यय कही जाती हैं। अर्थ (विषय) आलम्बनप्रत्यय कहा जाता है और आलोक आदि सहकारिप्रत्यय हैं। इस तरह बौद्धोंने इन्द्रियोंके अलावा अर्थ और आलोकको भी कारण स्वीकार किया है। अर्थकी कारणतापर तो यहां तक जोर दिया है कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह अर्थको विषय भी नहीं कर सकता है^१। यद्यपि नैयायिक आदिने भी अर्थको ज्ञानका कारण माना है, पर उन्होंने उतना जोर नहीं दिया। इसका कारण यह है कि नैयायिक आदि ज्ञानके प्रति सीधा कारण सन्निकर्षको मानते हैं। अर्थ तो सन्निकर्ष द्वारा कारण होता है। अतएव जैन तार्किकोंने नैयायिक आदिके अर्थकारणतावाद-पर उतना विचार नहीं किया जितना कि बौद्धोंके अर्थालोककारणतावादपर किया है। एक बात और है, बौद्धोंने अर्थजन्यत्व, अर्थाकारता और अर्थाध्यवसाय इन तीन-को ज्ञानप्रामाण्यके प्रति प्रयोजक बतलाया है और प्रतिकर्मव्यवस्था भी ज्ञानके अर्थजन्य होनेमें ही की है। अतः आवरणक्षयोपशमको ही प्रत्येक ज्ञानके प्रति कारण माननेवाले जैनोंके लिए यह उचित और आवश्यक था कि वे बौद्धोंके इस मन्तव्यपर पूर्ण विचार करें और उनके अर्थालोककारणत्वपर सबलताके साथ चर्चा चलाएँ तथा जैनदृष्टिसे विषय-विषयीके प्रतिनियमनकी व्यवस्थाका प्रयोजक कारण स्थिर करें। कहा जा सकता है कि इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम सूक्ष्मदृष्टि अकलंकदेवने अपनी सफल लेखनी चलाई है और अर्थालोककारणताका सङ्कितक निरसन किया है। तथा स्वावरणक्षयोपशमको विषय-विषयीका प्रतिनियामक बताकर ज्ञानप्रामाण्यका प्रयोजक संवाद (अर्थाव्यभिचार) को बताया है। उन्होंने संक्षेपमें कहा^२ कि

१. 'नाकरणं विषयः' इति वचनात् ।

२. 'अयमर्थ इति ज्ञानं विद्यान्नोत्पत्तिमर्थतः ।

अन्यथा न विवादः स्यात् कुलालादिघटादिवत् ॥'—लघो. ५३ । 'अर्थस्य तदकारण-त्वात् । तस्य इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तत्वात् अर्थस्य विषयत्वात् ।'—लघो. स्वो. का. ५२ ।

'यथास्वं कर्मक्षयोपशमापेक्षिणी करणमनसो निमित्तं विज्ञानस्य न बहिरर्थादयः । "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं" कारणं, "नाकरणं विषयः" इति बालिशगोतम्, तामसखगकु-लानां समसि सति रूपदर्शनमावरणविच्छेदात्, तदविच्छेदात् आलोके सत्यपि संशयादिज्ञान-सम्भवात् । काचाद्युपहृतेन्द्रियाणां शंखादी, पीताद्याकारज्ञानोत्पत्तेः मुमूर्षाणां यथासम्भवमर्थे सत्यपि विपरीतप्रतिपत्तिसङ्गावात् नार्थादयः कारणं ज्ञानस्येति ।'—लघो. ५७ ।

‘ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि ज्ञान तो ‘यह अर्थ है’ यही जानता है ‘अर्थसे मैं उत्पन्न हुआ’ इस बातको वह नहीं जानता। यदि जानता होता तो किसीको विवाद नहीं होना चाहिए था। जैसे घट और कुम्हारके कार्यकारणभावमें किसीको विवाद नहीं है। दूसरी बात यह है कि अर्थ तो विषय (ज्ञेय) है वह कारण कैसे हो सकता है? कारण तो इन्द्रिय और मन हैं। तीसरे, अर्थके रहनेपर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभावमें भी केशोण्डुकादि ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आलोक भी ज्ञानके प्रति कारण नहीं है, क्योंकि आलोकाभावमें उल्लू आदिको ज्ञान होता है और आलोकसदभावमें संशयादि ज्ञान देखे जाते हैं। अतः अर्थादिक ज्ञानके कारण नहीं हैं। किन्तु आवरणक्षयोपशमापेक्ष इन्द्रिय और मन ही ज्ञानके कारण है।’ इसके साथ ही उन्होंने अर्थजन्यत्व आदिको ज्ञानकी प्रमाणतामें अप्रयोजक बतलाते हुए कहा है कि ‘तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य और तदध्यवसाय ये तीनों मिलकर अथवा प्रत्येक भी प्रमाणतामें कारण नहीं हैं। क्योंकि अर्थ ज्ञानक्षणको प्राप्त न होकर पहले ही नष्ट हो जाता है और ज्ञान अर्थके अभावमें ही होता है, उसके रहते हुए नहीं होता, इसलिए तदुत्पत्ति ज्ञान-प्रामाण्यमें प्रयोजक नहीं है। ज्ञान अमूर्त है, इसलिए उसमें आकार सम्भव नहीं है। मूर्त्तिक दर्पणादिमें ही आकार देखा जाता है। अतः तदाकारता भी नहीं बनती है। ज्ञानमें अर्थ नहीं और न अर्थ ज्ञानात्मक है, जिससे ज्ञानके प्रतिभासमान होनेपर अर्थका भी प्रतिभास हो जाय। अतः तदध्यवसाय भी सम्भव नहीं है। जब ये तीनों बनते ही नहीं तब वे प्रामाण्यके प्रति कारण कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते हैं। अतएव जिस प्रकार अर्थ अपने कारणोंसे होता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने (इन्द्रिय-क्षयोपशमादि) कारणोंसे होता है^१। इसलिए संवाद (अर्थाव्यभिचार) को ही ज्ञानप्रामाण्यका कारण मानना संगत और उचित है।’ अकलंकदेवका यह सयुक्तिक निरूपण ही उत्तरवर्ती विद्यानन्द, माणिक्य-नन्दि, प्रभाचन्द्र आदि सभी जैन नैयायिकोंके लिए आधार हुआ है। धर्मभूषणने भी इसी पूर्वपरम्पराका अनुसरण करके बौद्धोंके अर्थालोककारणवादकी विशद समालोचना की है।

१. ‘न तज्जन्म न ताद्रूप्यं न तद्व्यवसितिः सह ।

प्रत्येकं वा भजन्तीह प्रामाण्यं प्रति हेतुताम् ॥

नार्थः कारणं विज्ञानस्य कार्यकालमप्राप्य निवृत्तेः अतीततमवत् । न ज्ञानं तत्कार्यं तदभाव एव भावात्, तद्भावे चाऽभावात् भविष्यत्तमवत्, नार्थसारूप्यभृद्विज्ञानम्, अमूर्त्तत्वात् । मूर्त्ति एव हि दर्पणादयः मूर्त्तमुखादिप्रतिबिम्बधारिणो दुष्टाः, नामूर्त्तं मूर्त्तप्रतिबिम्बभृत्, अमूर्त्तं च ज्ञानम्, मूर्त्तिधर्माभावात् । न हि ज्ञानेऽर्थोऽस्ति तदात्मको वा येन तस्मिन् प्रतिभासमाने प्रतिभासेत शब्दवत् । ततः तदध्यवसायो न स्यात् । कथमेतदविद्यमानं त्रितयं ज्ञानप्रामाण्यं प्रत्युपकारकं स्यात् अलक्षणत्वेन ?” —लघीय. स्वी. का. ५८ ।

२. ‘स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्यः स्वतो यथा ।

तथा ज्ञानं स्वहेतूत्यं परिच्छेदात्मकं स्वतः ॥’

—लघीय. का. ५९ ।

१०. सन्निकर्ष :

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि नैयायिक और वैशेषिक सन्निकर्षको प्रत्यक्षका स्वरूप मानते हैं। पर वह निर्दोष नहीं है। प्रथम तो, वह अज्ञानरूप है और इसलिए वह अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमितिके प्रति करण—प्रमाण ही नहीं बन सकता है तब वह प्रत्यक्षका स्वरूप कैसे हो सकता है ? दूसरे, सन्निकर्षको प्रत्यक्षका लक्षण माननेमें अव्याप्ति नामका दोष आता है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय बिना सन्निकर्षके ही रूपादिका ज्ञान कराती है। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि चक्षुरिन्द्रिय अर्थको प्राप्त करके रूपज्ञान कराती है। कारण, चक्षुरिन्द्रिय दूर स्थित होकर ही पदार्थज्ञान कराती हुई प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे प्रतीत होती है। तीसरे, आप्तमें प्रत्यक्षज्ञानके अभावका प्रसंग आता है, क्योंकि आप्तके इन्द्रिय या इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षपूर्वक ज्ञान नहीं होता। अन्यथा सर्वज्ञता नहीं बन सकती है। कारण, सूक्ष्मादि पदार्थोंमें इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष सम्भव नहीं है^१। अतः सन्निकर्ष अव्याप्त होने तथा अज्ञानात्मक होनेसे प्रत्यक्षका लक्षण नहीं हो सकता है।

११. सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष :

इन्द्रिय और अनिन्द्रियजन्य ज्ञानको सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना गया है। उसे सांख्यव्यवहारिक इसलिए कहते हैं कि लोकमें दूसरे दर्शनकार इन्द्रिय और मन सापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। वास्तवमें तो जो ज्ञान परनिरपेक्ष एवं आत्ममात्र सापेक्ष तथा पूर्ण निर्मल है वही ज्ञान प्रत्यक्ष है। अतः लोकव्यवहारका समन्वय करनेकी दृष्टिसे अक्षयजन्य ज्ञानको भी प्रत्यक्ष कहनेमें कोई अनौचित्य नहीं है। सिद्धान्तकी भाषामें तो उसे परोक्ष ही कहा गया है। जैनदर्शनमें इस सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्षके, जो मतिज्ञानरूप है, भेद और प्रभेद ३३६ बताये गए हैं, जिन्हें एक नक्शेके द्वारा पहले बता दिया गया है।

१२. मुख्य प्रत्यक्ष :

दार्शनिक जगत्में प्रायः सभीने एक ऐसे प्रत्यक्षको स्वीकार किया है, जो लौकिक प्रत्यक्षसे भिन्न है और जिसे अलौकिक प्रत्यक्ष^२, योगिप्रत्यक्ष^३ या योगिज्ञानके नामसे कहा गया है। यद्यपि किसी-किसीने इस प्रत्यक्षमें मनकी अपेक्षा भी वर्णित की है तथापि योगजधर्मका प्रामुख्य होनेके कारण उसे अलौकिक ही कहा गया है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि आत्मामें एक अतीन्द्रिय ज्ञान भी सम्भव है। जैनदर्शनमें ऐसे ही आत्ममात्र सापेक्ष साक्षात्मक अतीन्द्रिय ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना गया है और जिस प्रकार दूसरे दर्शनोंमें अलौकिक प्रत्यक्षके भी परिचितज्ञान, तारक, केवल्य या युक्त, युंजान आदिरूपसे भेद पाये जाते हैं उसी प्रकार जैनदर्शनमें भी विकल, सकल अथवा अवधि, मेक्षपर्यय और केवलज्ञान रूपसे

१. सर्वार्थसि., १-१२ तथा न्यायविनिश्चय, का. १६७।

२. 'सांख्यव्यवहारिक इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्।'—लघी. स्वो., का. ४।

३. 'एवं प्रत्यक्षं लौकिकालौकिकभेदेन द्विविधम्।'—सिद्धान्तमु., पृ. ४७।

४. 'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिप्रत्यक्षम्।'—न्यायबिन्दु, पृ. २०।

मुख्यप्रत्यक्षके भी भेद वर्णित किये गये हैं। विशेष यह कि नैयायिक और वैशेषिक प्रत्यक्षज्ञानको अतीन्द्रिय मानकर भी उसका अस्तित्व केवल नित्यज्ञानाधिकरण ईश्वरमें ही बतलाते हैं। पर जैनदर्शन प्रत्येक आत्मामें उसका सम्भव प्रतिपादन करता है और उसे विशिष्ट आत्मशुद्धिसे पैदा होनेवाला बतलाता है। अभिनव धर्म-भूषणने भी अनेक युक्तियोंके साथ ऐसे ज्ञानका उपपादन एवं समर्थन किया है।

१३. सर्वज्ञता :

भारतीय दर्शनशास्त्रोंमें सर्वज्ञतापर बहुत ही व्यापक और विस्तृत विचार किया गया है। चार्वाक और मीमांसक ये दो ही दर्शन ऐसे हैं जो सर्वज्ञताका निषेध करते हैं। शेष सभी न्याय-वैशेषिक, योग-सांख्य, वेदान्त, बौद्ध और जैनदर्शन सर्वज्ञताका स्पष्ट विधान करते हैं। चार्वाक इन्द्रियगोचर, भौतिक पदार्थोंका ही अस्तित्व स्वीकार करते हैं, उनके मतमें परलोक, पुण्य-पाप आदि अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं हैं। भूतचैतन्यके अलावा कोई नित्य अतीन्द्रिय आत्मा भी नहीं है। अतः चार्वाक दर्शनमें अतीन्द्रियार्थदर्शी सर्वज्ञ आत्माका सम्भव नहीं है। मीमांसक परलोक, पुण्य-पाप, नित्य आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको मानते अवश्य हैं, पर उनका कहना है कि धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान वेदके द्वारा ही हो सकता है^१। पुरुष तो रागादिदोषोंसे युक्त हैं। चूँकि रागादि दोष स्वाभाविक हैं और इसलिए वे आत्मासे कभी छूट नहीं सकते हैं। अतएव रागादि दोषोंके सर्वदा बने रहनेके कारण प्रत्यक्षसे धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान होना सर्वथा असम्भव है। न्याय-वैशेषिक ईश्वरमें सर्वज्ञत्व माननेके अतिरिक्त दूसरे योगी आत्माओंमें भी स्वीकार करते हैं^२। परन्तु उनका वह सर्वज्ञत्व मोक्ष-प्राप्तिके बाद नष्ट हो जाता है। क्योंकि वह योगजन्य होनेसे अनित्य है। हाँ, ईश्वरका सर्वज्ञत्व नित्य एवं शाश्वत है। प्रायः यही मान्यता सांख्य, योग और वेदान्तकी है। इतनी विशेषता है कि वे आत्मामें सर्वज्ञत्व न मानकर बुद्धितत्त्वमें ही सर्वज्ञत्व मानते हैं जो मुक्त अवस्थामें छूट जाता है।

मीमांसक दर्शन^३ जहाँ केवल धर्मज्ञताका निषेध करता है और सर्वज्ञताके माननेमें इष्टापत्ति प्रकट करता है वहाँ बौद्धदर्शनमें^४ सर्वज्ञताको अनुपयोगी बतलाकर

१. “चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।” —शावरभा., १-१-२।

२. “अस्मद्विशिष्टानां तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिवकाल-परमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते। वियुक्तानां पुनः...” —प्रशस्तपा. भा., पृ. १८७।

३. “धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते। सर्वमन्यद्विज्ञानस्तु पुरुषः केन वार्यते॥” —तत्त्वसं., का. ३१२८। तत्त्वसंग्रहमें यह श्लोक कुमारिलके नामसे उद्धृत हुआ है।

४. “तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्। कीटसंख्यापरिज्ञाने तस्य नः क्वोपयुज्यते॥ हेोपादेयतत्त्वस्य साम्युपायस्य वेदकः। यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः॥”

—प्रमाणवा., २-३१, ३२।

धर्मज्ञताको प्रश्रय दिया गया है। यद्यपि शान्तरक्षित^१ प्रभृति बौद्ध तार्किकोंने सर्वज्ञताका भी साधन किया है। पर वह गौण है^२। मुख्यतया बौद्धदर्शन धर्मज्ञवादी ही प्रतीत होता है।

जैनदर्शनमें आगमग्रन्थों और तर्कग्रन्थोंमें सर्वत्र धर्मज्ञ और सर्वज्ञ दोनोंका ही प्रारम्भसे प्रतिपादन एवं प्रबल समर्थन किया गया है। षट्खण्डागमसूत्रोंमें^३ सर्वज्ञत्व और धर्मज्ञत्वका स्पष्टतः प्रतिपादन मिलता है। आ. कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें विस्तृतरूपसे सर्वज्ञताकी सिद्धि की है। उत्तरवर्ती समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द प्रभृति जैन तार्किकोंने धर्मज्ञत्वको सर्वज्ञत्वके भीतर ही गर्भित करके सर्वज्ञत्वपर महत्त्वपूर्ण प्रकरण लिखे हैं। समन्तभद्रकी आसमीमांसाको तो अकलंकदेवने^४ 'सर्वज्ञविशेष-परीक्षा' कहा है। निश्चय ही सर्वज्ञताके सम्बन्धमें जितना अधिक चिन्तन जैनदर्शनने किया है और भारतीय दर्शनशास्त्रको तत्सम्बन्धी विपुल साहित्यसे समृद्ध बनाया है उतना अन्य दूसरे दर्शनने शायद ही किया हो।

अकलंकदेवने^५ सर्वज्ञत्वके साधनमें अनेक युक्तियोंके साथ एक युक्ति बड़े महत्त्वकी दी है। वह यह कि सर्वज्ञके सद्भावमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसका अस्तित्व होना ही चाहिए। उन्होंने जो भी बाधक हो सकते हैं उन सबका सुन्दर ढंगसे निराकरण भी किया है। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण युक्ति उन्होंने यह दी है^६ कि आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभावको ढकनेवाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणोंके विच्छिन्न हो जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए फिर ज्ञेय—ज्ञानने योग्य क्या बचेगा? अर्थात् कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञानसे सकलार्थपरिज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियाँ और मन सकलार्थपरिज्ञानमें साधक न होकर बाधक हैं वे जहाँ नहीं हैं और आवरणोंका पूर्णतः अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावत् पदार्थोंका साक्षात् ज्ञान होनेमें कोई बाधा नहीं है। वीरसेनस्वामी^७ और आचार्य निद्यानन्दने^८ भी इसी आशयके एक महत्त्वपूर्ण श्लोकको^९ उद्धृत करके

१. 'स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते। साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥'
—तत्त्वसं., का ३३०९।

२. 'मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्वसाधनमस्य तत् प्रासंगिकम्।'—तत्त्वसं., पं. पृ. ८३३।

३. 'सर्वलोए सर्वजोवे सर्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि'—खट्खं., ५, ५, ९८।

४. प्रवचनसार, ज्ञानमीमांसा।

५. अष्टश., देवा., का. ११४।

६. अष्टश., देवा., का ३।

७. 'ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।

अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वाधीवलोकनम् ॥'—न्यायवि., का. ४६५ तथा का. ३६१, ३६२।

८. जयध्वला प्र. भा., पृ. ६६।

९. अष्टस., पृ. ५०।

१०. 'ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।

दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥'

ज्ञस्वभाव आत्मामें सर्वज्ञताका उपपादन किया है, जो वस्तुतः अकेला ही सर्वज्ञताको सिद्ध करनेमें समर्थ एवं पर्याप्त है। इस तरह हम देखते हैं कि जैनपरम्परामें मुख्य और निरुपाधिक एवं निरवधि सर्वज्ञता मानी गयी है। वह सांख्य-योगादिकी तरह जीवन्मुक्त अवस्था तक ही सीमित नहीं रहती, मुक्त अवस्थामें भी अनन्तकाल तक बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान आत्माका मूलभूत निजो स्वभाव है और सर्वज्ञता आवरणाभावमें उसीका विकसित पूर्णरूप है। इतरदर्शनोंकी तरह वह न तो मात्र आत्ममनःसंयोगादिजन्य है और न योगजविभूति ही है। धर्मभूषणने स्वामी समन्तभद्रकी सरणिसे सर्वज्ञताका साधन किया है और उन्हींकी सर्वज्ञत्वसाधिका कारिकाओंका विशद विवरण किया है। प्रथम तो सामान्य सर्वज्ञका समर्थन किया और पश्चात् 'निर्दोषत्व' हेतुके द्वारा अरहन्त जिनको ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है।

१४. परोक्ष :

जैनदर्शनमें प्रमाणका दूसरा भेद परोक्ष है। यद्यपि बौद्धोंने परोक्षशब्दका प्रयोग अनुमानके विषयभूत अर्थमें किया है, क्योंकि उन्होंने^१ दो प्रकारका अर्थ माना माना है—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। प्रत्यक्ष तो साक्षात्क्रियमाण है और परोक्ष उससे भिन्न है। तथापि जैन परम्परामें^२ 'परोक्ष' शब्दका प्रयोग प्राचीन समयसे परोक्ष ज्ञान-के अर्थमें ही होता चला आ रहा है। दूसरे, प्रत्यक्षता और परोक्षता वस्तुतः ज्ञाननिष्ठ धर्म हैं। ज्ञानको प्रत्यक्ष एवं परोक्ष होनेसे अर्थ भी उपचारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहा जाता है। यह अवश्य है कि जैन दर्शनके इस 'परोक्ष' शब्दका व्यवहार और उसकी परिभाषा दूसरोंको कुछ विलक्षण-सी मालूम होगी, परन्तु वह इतनी सुनिश्चित और वस्तुस्पर्शी है कि शब्दको तोड़े-मरोड़े बिना ही सहजमें आधिक बोध हो जाता है। परोक्षकी जैनदर्शनसम्मत परिभाषा विलक्षण इसलिए मालूम होगी कि लोकमें इन्द्रियव्यापाररहित ज्ञानको परोक्ष कहा गया है^३। जबकि जैनदर्शनमें इन्द्रियादि परकी अपेक्षासे होनेवाले ज्ञानको परोक्ष कहा है^४। वास्तवमें 'परोक्ष' शब्दसे भी यही अर्थ ध्वनित होता है। इस परिभाषाको ही केन्द्र बनाकर अकलंकदेवने परोक्षकी एक दूसरी परिभाषा रची है। उन्होंने अविशद ज्ञानको परोक्ष कहा है^५। जान पड़ता है कि अकलंकदेवका यह प्रयत्न सिद्धान्तमतका लोकके साथ समन्वय करनेकी दृष्टिसे हुआ है। बादमें तो अकलंकदेवकृत यह परोक्ष-लक्षण जैनपरम्परामें इतना

१. 'द्विविधो अर्थः प्रत्यक्षः परोक्षश्च । तत्र प्रत्यक्षविषयः साक्षात्क्रियमाणः प्रत्यक्षः । परोक्षः पुनरसाक्षात्परिच्छिद्यमानोऽनुमेयत्वादनुमानविषयः ।'—प्रमाणप., पृ. ३१ । न्यायवा. तात्प., पृ. १५८ ।

२. 'जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु ।

जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥'—प्रवचनसा. गा. ५८ ।

३. सर्वार्थसि., १-१२ ।

४. सर्वार्थसि., १-११ ।

५. 'ज्ञानस्यैव विशदनिर्भासिनः प्रत्यक्षत्वम्, इतरस्य परोक्षता ।'—लघीय. स्वो., का. ३ ।

प्रतिष्ठित हुआ है कि उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने^१ उसे अपनाया है—सबकी दृष्टि परोक्षको परापेक्ष माननेकी ही रही है।

आ. कुन्दकुन्दने^२ परोक्षका लक्षण तो कर दिया था, परन्तु उसके भेदोंका कोई निर्देश नहीं किया था। उनके पश्चाद्वर्ती आ. उमास्वातिने (त. सू. १-११ में) परोक्षके भेदोंकी भी स्पष्टतया सूचित किया और मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ये दो भेद उसके बतलाये। मतिज्ञानके भी उन्होंने मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्याय नाम कहे। चूँकि मति मतिज्ञानसामान्यरूप है। अतः मतिज्ञानके चार भेद हैं। इसमें श्रुतकी और मिला देनेपर परोक्षके फलतः उन्होंने पाँच भी भेद सूचित किये और पूज्यपादने उपमानादिकके प्रमाणान्तरत्वका निराकरण करते हुए उन्हें परोक्षमें ही अन्तर्भाव हो जानेका स्पष्ट निर्देश किया। लेकिन परोक्षके पाँच भेदोंकी सिलसिलेवार व्यवस्था सर्वप्रथम अकलंकदेवने की है^३। इसके बाद विद्यानन्द (प्र. प. पृ. ४२), माणिक्यनन्दि (परोक्षा. ३-२) आदिने परोक्षके पाँच ही भेद वर्णित किये हैं। हाँ, आचार्य वादिराजने^४ अवश्य परोक्षके अनुमान और आगम ये दो भेद बतलाये हैं। पर इन दो भेदोंकी परम्परा उन्हीं तक सीमित रही है, आगे नहीं चली, क्योंकि उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थकारने उसे नहीं अपनाया। लगता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन्हें ही सभीने निर्विवाद परोक्ष-प्रमाणके भेद स्वीकार किये हैं। अभिनव धर्मभूषणने भी इन्हीं पाँच भेदोंका कथन किया है।

१५. स्मृतिः

यद्यपि अनुभूतार्थविषयक ज्ञानके रूपमें स्मृतिको सभी दर्शनोंने स्वीकार किया है। पर जैनदर्शनके सिवाय उसे प्रमाण किसीने नहीं माना। साधारणतया सबका कहना यही है कि स्मृति अनुभवके द्वारा गृहीत विषयमें ही प्रवृत्त होती है, इसलिए गृहीतग्राही होनेसे वह प्रमाण नहीं है^५। न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध सबका प्रायः यही अभिप्राय है। जैन दार्शनिकोंका कहना है कि प्रामाण्यमें प्रयोजक अविस्वाद है। जिस प्रकार प्रत्यक्षसे जाने हुए अर्थमें विसंवाद न होनेसे उसे प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार स्मृतिसे जाने हुए अर्थमें कोई विसंवाद न होनेसे उसे भी प्रमाण मानना चाहिए। और जहाँ होता है वह स्मृत्याभास है^६। अतः स्मृति प्रमाण है। दूसरे, विस्मरणादिरूप समारोपका वह व्यवच्छेद करती है इसलिए भी वह प्रमाण

१. परोक्षासु., ३-१, प्रमाणपरी., पृ. ४१।

२. प्रवचनसा., १-५८।

३. लघोय., का. १० और प्रमाणसं., का २।

४. 'तच्च (परोक्षं) द्विविधमनुमानमागमश्चेति । अनुमानमपि द्विविधं गोणमुख्यविकल्पात् । तत्र गोणमनुमानं त्रिविधम्, स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञा, तर्कश्चेति.....।'—प्रमाणनि., पृ. ३३।

५. 'सर्वे प्रमाणादयोऽनधिगतमर्थं समान्यतः प्रकारतो वाऽधिगमयन्ति, स्मृतिः पुनर्न पूर्वानुभव-मर्यादामतिक्रामति, तद्विषया तद्वनविषया वा न तु तदधिकविषया, सोऽयं वृत्त्यन्तरा-द्विशेषः स्मृतेरिति विमृशति।'—तत्त्ववैशं., १-११।

६. प्रमाणपरोक्षा, पृ. ४२।

है। तीसरे, अनुभव तो वर्तमान अर्थको ही विषय करता है और स्मृति अतीत अर्थको विषय करती है। अतः स्मृति कथंचिद् अगृहीतग्राहो होनेसे प्रमाण ही है।

१६. प्रत्यभिज्ञान :

पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्ती वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्ययको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। प्रत्यवमर्श, संज्ञा और प्रत्यभिज्ञा ये उसीके पर्याय नाम हैं। बौद्ध चूँकि क्षणिकवादी हैं इसलिए वे उसे प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें रहनेवाला जब कोई एकत्व है नहीं, तब उसको विषय करनेवाला एक ज्ञान कैसे हो सकता है? अतः 'यह वहो है' यह ज्ञान सादृश्यविषयक है। अथवा प्रत्यक्ष और स्मरणरूप दो ज्ञानोंका समुच्चय है^१। 'यह' अंशको विषय करनेवाला ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और 'वह' अंशको ग्रहण करनेवाला ज्ञान स्मरण है, इस तरह वे दो ज्ञान हैं। अतएव यदि एकत्वविषयक ज्ञान हो भी तो वह भ्रान्त है—अप्रमाण है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिक और मीमांसक, जो कि स्थिरवादी हैं, एकत्वविषयक ज्ञानको प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रमाण तो मानते हैं। पर वे उस ज्ञानको स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं^२। जैनदर्शनका मन्तव्य है^३ कि प्रत्यभिज्ञान न तो बौद्धोंकी तरह अप्रमाण है और न न्याय-वैशेषिक आदिकी तरह प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। किन्तु वह प्रत्यक्ष और स्मरणके अनन्तर उत्पन्न होनेवाला और पूर्व तथा उत्तर पर्यायोंमें रहनेवाले वास्तविक एकत्व, सादृश्य आदिको विषय करनेवाला स्वतन्त्र ही परोक्ष-प्रमाणविशेष है। प्रत्यक्ष तो मात्र वर्त्तमान पर्यायको ही विषय करता है और स्मरण अतीत पर्यायको ग्रहण करता है। अतः उभयपर्यायवर्ती एकत्वादिकको जाननेवाला संकलनात्मक (जोड़रूप) प्रत्यभिज्ञान नामका जुदा ही प्रमाण है। यदि पूर्वोत्तरपर्यायव्यापी एकत्वका अपलाप किया जावेगा, तो कहीं भी एकत्वका प्रत्यय न होनेसे एक सन्तानकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः प्रत्यभिज्ञानका विषय एकत्वादिक वास्तविक होनेसे वह प्रमाण ही है—अप्रमाण नहीं। और विशद प्रतिभास न होनेसे उसे प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं कहा जा सकता है। किन्तु अस्पष्ट प्रतीति होनेसे वह परोक्ष प्रमाणका प्रत्यभिज्ञान नामक भेदविशेष है। इसके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद जैन-

१. 'ननु च तदेवेत्यतीतप्रतिभासस्य स्मरणरूपत्वात्, इदमिति संवेदनस्य प्रत्यक्षरूपत्वात् संवेदनद्वितयमेवैतत् तादृशमेवेदमिति स्मरणप्रत्यक्षसंवेदनद्वितयवत् । ततो नैकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञाख्यं प्रतिपद्यमानं सम्भवति ।'—प्रमाणप., पृ. ४२ ।

२. न्यायदी., पृ. ५८ का फुटनोट ।

३. 'स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य प्रत्यभिज्ञानस्यैकस्य सुप्रतीतत्वात् । न हि तदिति स्मरणं तथाविधद्रव्यव्यवसायात्मकम्, तस्यातीतविवर्त्तमात्रगोचरत्वात् । नापीदमिति संवेददम्, तस्य वर्त्तमानविवर्त्तमात्रविषयत्वात् । ताभ्यामुपजायमानं तु संकलनाज्ञानं तदनुवादपुरस्सरं द्रव्यं प्रत्यक्षमृशत् । ततोऽन्यदेव प्रत्यभिज्ञानमेकत्वविषयं तदपह्नवे क्वचिदेकान्वयाव्यवस्थानात् सन्तानैकत्वसिद्धिरपि न स्यात् ।'—प्रमाणप. पृ., ४२, ४३ ।

दर्शनमें माने गये हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि आचार्य विद्यानन्दने^१ प्रत्यभिज्ञानके एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान ये दो ही भेद बतलाये हैं। लेकिन दूसरे सभी जैनतार्किकोंने उल्लिखित अनेक—दोसे अधिक भेद गिनाये हैं। इसे एक मान्यताभेद ही कहा जा सकता है। धर्मभूषणने एकत्व, सादृश्य और वैसादृश्य विषयक तीन प्रत्यभिज्ञानोंको उदाहरण द्वारा कण्ठोक्त कहा है और यथाप्रतीति अन्य प्रत्यभिज्ञानोंको भी स्वयं जाननेकी सूचना की है। इससे यह मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानोंकी दो या तीन आदि कोई निश्चित संख्या नहीं है। अकलंकदेव^२, माणिक्यनन्दि^३ और लघु अनन्तवीर्यने^४ प्रत्यभिज्ञानके बहुभेदोंको ओर स्पष्टतया संकेत भी किया है। इस उपर्युक्त विवेचनसे यही फलित होता है कि दर्शन और स्मरणसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी संकलनात्मक ज्ञान हों वे सब प्रत्यभिज्ञान प्रमाण समझना चाहिए। भले ही वे एकसे अधिक क्यों न हों, उन सबका प्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। यही कारण है कि नैयायिक जिस सादृश्यविषयक ज्ञानको उपमान नामका अलग प्रमाण मानते हैं वह जैनदर्शनमें सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। उपमानको पृथक् प्रमाण माननेकी हालतमें वैसादृश्य, प्रतियोगित्व, दूरत्व आदि विषयक ज्ञानोंको भी उससे पृथक् प्रमाण माननेका आपादन किया गया है^५। पर जैनदर्शनमें इन सबको संकलनात्मक होनेसे प्रत्यभिज्ञानमें ही अन्तर्भाव कर लिया है।

१७. तर्क :

सामान्यतया विचारविशेषका नाम तर्क है। उसे चिन्ता, ऊहा, ऊहापोह आदि भी कहते हैं। इसे प्रायः सभी दर्शनकारोंने माना है। न्यायदर्शनमें^१ वह एक पदार्थान्तररूपसे स्वीकृत किया गया है। किन्तु उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्यके सम्बन्धमें न्यायदर्शनका^२ अभिमत है कि तर्क न तो प्रमाणचतुष्टयके अन्तर्गत कोई प्रमाण है और न प्रमाणान्तर है, क्योंकि वह अपरिच्छेदक है। किन्तु परिच्छेदक प्रमाणोंके विषयका विभाजक—युक्तायुक्तविचारक होनेसे उनका यह अनुग्राहक—सहकारी है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसे जाना हुआ पदार्थ तर्कके द्वारा पुष्ट होता है। प्रमाण जहाँ

१. तत्त्वार्थश्ला., पृ. १९०, अष्टम., पृ. २७९, प्रमाणपरी., पृ. ४२ ।

२. लघुय., का. २१ ।

३. परीक्षामु., ३१५-१० ।

४. प्रमेयर., ३-१० ।

५. 'उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।

यदि किञ्चिद्विशेषेण प्रमाणान्तरमिष्यते ॥

प्रमितोऽर्थः प्रमाणानां बहुभेदः प्रसज्यते ।'—न्यायवि., का. ४७२, लघु. १९, २०, २१ ।

६. न्यायसूत्र, १-१-१ ।

७. 'तर्को न प्रमाणसंग्रहीतो न प्रमाणान्तरमपरिच्छेदकत्वात्'—प्रमाणविषयविभागात् प्रमाणा-
नामनुग्राहकः । यः प्रमाणानां विषयस्तं विभजते । कः पुनर्विभागः ? युक्तायुक्तविचारः ।
इदं युक्तमिदमयुक्तिमिति । यत्तत्र युक्तं भवति तदनुजानाति नत्ववधारयति । अनवधारणात्
प्रमाणान्तरं न भवति ।'—न्यायवा., पृ. १७ ।

पदार्थोंको जानते हैं वहाँ तर्क उनका पोषण करके उनकी प्रमाणताके स्थितिकरणमें सहायता पहुँचाता है^१। हम देखते हैं कि न्यायदर्शनमें तर्कको प्रारम्भमें सभी प्रमाणोंके सहायकरूपसे माना गया है। किन्तु उदयनाचार्य^२, वर्द्धमानोपाध्याय^३ आदि पिछले नैयायिकोंने विशेषतः अनुमानप्रमाणमें ही व्यभिचारशंकाके निवर्त्तक और परम्परया व्याप्तिग्राहकरूपसे तर्कको स्वीकार किया है। तथा व्याप्तिमें ही तर्कका उपयोग बतलाया है^४। विश्वनाथ पंचाननका कहना है^५ कि हेतुमें अप्रयोजकत्वादिकी शंकाकी निवृत्तिके लिए तर्क अपेक्षित होता है। जहाँ हेतुमें अप्रयोजकत्वादिकी शंका नहीं होती है वहाँ तर्क अपेक्षित भी नहीं होता है। तर्कसंग्रहकार अन्नभट्टने^६ तो तर्कको अयथार्थानुभव (अप्रमाण) ही बतलाया है। इस तरह न्यायदर्शनमें तर्ककी मान्यता अनेक तरहकी है। पर उसे प्रमाणरूपमें किसीने भी स्वीकार नहीं किया। बौद्ध तर्कको व्याप्ति-ग्राहक मानते तो हैं, पर उसे प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहकर अप्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक^७ ऊहके नामसे तर्कको प्रमाण मानते हैं।

जैन तार्किक प्रारम्भसे ही तर्कके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं और उसे सकलदेश-कालव्यापी अविनाभावरूप व्याप्तिका ग्राहक मानते आये हैं। व्याप्तिग्रहण न तो प्रत्यक्षसे हो सकता है; क्योंकि वह सम्बद्ध और वर्त्तमान अर्थको ही ग्रहण करता है और व्याप्ति सर्वदेश-कालके उपसंहारपूर्वक होती है। अनुमानसे भी व्याप्तिका ग्रहण सम्भव नहीं है। कारण, प्रकृत अनुमानसे व्याप्तिका ग्रहण माननेपर अन्योन्याश्रय और अन्य अनुमानसे माननेपर अनवस्था दोष आता है। अतः व्याप्तिके ग्रहण करनेके लिए तर्कको प्रमाण मानना आवश्यक एवं अनिवार्य है। धर्मभूषणने भी तर्कको पृथक् प्रमाण सयुक्तिक सिद्ध किया है।

१८. अनुमान :

यद्यपि चार्वाकिके सिवाय न्याय-वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभी

१. 'तर्कः प्रमाणसहायो न प्रमाणमिति प्रत्यक्षसिद्धत्वात्।'—न्यायवा. ता. परिशु., पृ. ३२७।
'तथापि तर्कस्यारोपिताव्यवस्थितसत्त्वोपाधिकसत्त्वविषयत्वेनानिश्चायकतया प्रमारूपत्वाभावात्। तथा च संशयात्प्रच्युतो निर्णयं चाप्राप्तः तर्क इत्याहुः अन्यत्राचार्याः। संशयो हि दोलायितानेककोटिकः। तर्कस्तु नियतां कोटिमालम्ब्यते।'—तात्पर्यपरिशु., पृ. ३२६।
२. 'अनभिमतकोटावनिष्टप्रसंगेनानियतकोटिसंशयादिनिवृत्तिरूपोऽनुमितिविषयविभागस्तर्केण क्रियते।'—तात्पर्यपरिशु., पृ. ३२५। 'तर्कः शङ्कावधिमर्तः।***यावदाशंकं तर्कप्रवृत्तेः। तेन हि वर्त्तमानसोपाधिकोटी तदायत्तव्यभिचारकोटी वाऽनिष्टमुपनयतेच्छा विच्छिद्यते। विच्छिन्नविपक्षेच्छश्च प्रमाता भूयोदर्शनोपलब्धसाहचर्यं लिङ्गमनाकुलोऽधितिष्ठति।'—न्यायकु., ३-७।

३. 'तर्कसहकृतभूयोदर्शनजसंस्कारसचिवप्रमाणेन व्याप्तिर्गृह्यते।'—न्यायकुसु. प्रकाश., ३-७।

४. 'तत्र का व्याप्तिर्यत्र तर्कोपयोगः। न तावत् स्वाभाविकत्वम्'—न्यायकुसु. प्रकाश., ३-७।

५. न्यायसूत्रवृत्ति, १-१-४०।

६. तर्कसं., पृ. १५६।

७. 'त्रिविधश्च ऊहः मंत्रसामसंस्कारविषयः।'—शावरभा., ९-१-१।

दर्शनोंने अनुमानको प्रमाण माना और उसके स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान ये दो भेद भी प्रायः सभीने स्वीकार किये हैं। पर लक्षणके विषयमें सबकी एकवाक्यता नहीं है। नैयायिक^१ पाँचरूप हेतुसे अनुमेयके ज्ञानको अथवा अनुमितिकरण (लिंगपरामर्श) को अनुमान मानते हैं। वैशेषिक^२, सांख्य^३ और बौद्ध^४ त्रिरूप लिंगसे अनुमेयार्थज्ञानको अनुमान कहते हैं। मोमांसक^५ (प्रभाकरके अनुगामी) नियतसम्बन्धैकदर्शनादि चतुष्टय कारणों (चतुर्लक्षण लिंग) से साध्यज्ञानको अनुमान वर्णित करते हैं।

जैन दार्शनिक अविनाभावरूप एकलक्षण साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रतिपादन करते हैं। वास्तवमें जिस हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव (विना—साध्यके अभावमें—अ—साधनका न—भाव—होना) अर्थात् अन्यथानुपपत्ति निश्चित है उस साध्याविनाभावि हेतुसे जो साध्यका ज्ञान होता है वही अनुमान है। यदि हेतु साध्यके साथ अविनाभूत नहीं है तो वह साध्यका अनुमापक नहीं हो सकता है और यदि साध्यका अविनाभावी है, तो नियमसे वह साध्यका ज्ञान करायेगा। अतएव जैन तार्किकोंने त्रिरूप या पंचरूप आदि लिंगसे जनित ज्ञानको अनुमान न कहकर अविनाभावी साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमानका लक्षण कहा है^६। धर्म-भूषणने भी अनुमानका यही लक्षण बतालाया है और उसका सयुक्तिक विशद व्याख्यान किया है।

१९. अवयवमान्यता :

परार्थानुमान-प्रयोगके अवयवोंके सम्बन्धमें उल्लेखयोग्य एवं महत्वपूर्ण चर्च है, जो ऐतिहासिक दृष्टिसे जानने योग्य है। दार्शनिक परम्परामें सबसे पहले गौतमने परार्थानुमान-प्रयोगके पाँच अवयवोंका निर्देश किया है और प्रत्येकका स्पष्ट कथन किया है। वे अवयव ये हैं—१. प्रतिज्ञा, २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और

१. न्यायवा., १-१-५।

२. 'लिङ्गदर्शनात् सञ्जायमानं लेङ्गिकम् । लिंगं पुनः—यदनुमेयेन संबद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥'—यदनुमेयेनार्थेन देशविशेषे कालविशेषे वा सहचरितमनुमेयधर्मान्विते चान्यत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धमनुमेयविपरीते च सर्वस्मिन् प्रमाणतोऽसदेव तदप्रसिद्धार्थस्यानुमापकं लिङ्गं भवतीति ।'—प्रशस्तपा. भा., पृ. १००।

३. माठरवृ., का. ५।

४. 'अनुमानं लिङ्गादर्थदर्शनम् । लिङ्गं पुनस्त्रिरूपमुक्तम् । तस्माद्यदनुमेयेऽर्थे ज्ञानमुत्पद्यतेऽग्निरत्र अनित्यः शब्दः इति वा तदनुमानम् ।'—न्यायप्र., पृ. ७।

५. 'ज्ञातसम्बन्धनियमस्यैकदेशस्य दर्शनात् । एकदेशान्तरे बुद्धिरनुमानमबाधिते ॥'—तस्मात्-पूर्णमिदमनुमानकारणपरिगणनम्—नियतसम्बन्धैकदेशदर्शनं सम्बन्धनियमस्मरणं चाबाध-कञ्चाबाधितविषयत्वं चेति ।'—प्रकरणपञ्जि. पृ. ६४, ७६।

६. 'लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् । लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्ध्यः ॥'—लघोय., का. १२। 'साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्'—'न्यायवि., का. १७०। 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।'—परीक्षामु., ३-१४। प्रमाणपरी., पृ. ७०।

७. 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ।'—न्यायसूत्र, १-१-३२।

निगमन । उनके टीकाकार वात्स्यायनने^१ नैयायिकोंकी दशावयवमान्यताका भी उल्लेख किया है । इससे कम या और अधिक अवयवोंकी मान्यताका उन्होंने कोई संकेत नहीं किया । इससे मालूम होता है कि वात्स्यायनके सामने सिर्फ दो मान्यताएँ थीं—एक पंचावयवकी, जो स्वयं सूत्रकारकी है और दूसरी दशावयवोंकी, जो दूसरे किन्हीं नैयायिकोंकी है । आगे चलकर हमें उद्योतकरके न्यायवास्तिकमें^२ खण्डन सहित तीन अवयवोंकी मान्यताका निर्देश मिलता है । यह मान्यता बौद्ध विद्वान् दिग्नागकी है, क्योंकि वात्स्यायनके बाद उद्योतकरके पहले दिग्नागने^३ ही अधिकसे अधिक तीन अवयव स्वीकृत किये हैं । सांख्यविद्वान् माठर यदि दिग्नागके पूर्ववर्ती हैं तो तीन अवयवोंकी मान्यता माठरकी^४ समझना चाहिए । वाचस्पति मिश्रने^५ दो अवयव (हेतु और दृष्टान्त) की मान्यताका उल्लेख किया है और तीन अवयवनिषेधकी तरह उसका निषेध किया है । यह द्वयवयवकी मान्यता बौद्ध तार्किक धर्मकीर्त्तिकी है, क्योंकि हेतुरूप एक अवयवके अतिरिक्त हेतु और दृष्टान्त दो अवयवोंको भी धर्मकीर्त्तिने^६ ही स्वीकार किया है तथा दिग्नागसम्मत पक्ष, हेतु और दृष्टान्तमेंसे पक्ष (प्रतिज्ञा) को निकाल दिया है । अतः वाचस्पति मिश्रने धर्मकीर्त्तिकी ही द्वयवयव मान्यताका उल्लेख किया है और उसे प्रतिज्ञाको माननेके लिए संकेत किया है । यद्यपि जैन विद्वानोंने^७ भी दो अवयवोंको माना है, पर उनकी मान्यता उपर्युक्त मान्यतासे भिन्न है । ऊपरकी मान्यतामें तो हेतु और दृष्टान्त ये दो अवयव हैं और जैन विद्वानोंकी मान्यतामें प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव हैं । जैन तार्किकोंने प्रतिज्ञाका समर्थन^८ और दृष्टान्तका^९ निराकरण किया है । तीन अवयवोंकी मान्यता सांख्यों (माठर वृ. का. ५) और बौद्धोंके अलावा मीमांसकों (प्रकरणपं. पृ. ८३-८५) की भी है । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयर. ३-३६) और उनके अनुसर्ता हेमचन्द्र

१. 'दशावयवानित्येके नैयायिका वाक्ये संचक्षते—जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशय-
व्युदास इति ।'—न्यायवात्स्या., भा. १-१-३२ ।

२. 'अपरे अयवयवमिति × × × अयवयवमपि वाक्यं यथा न भवति तथोपनयनिगमनयोरर्था-
न्तरभावं वर्णयन्तो वक्ष्यामः ।'—न्यायवा. पृ. १०७, १०८ ।

३. 'पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राशिनकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते इति एतान्येव त्रयोऽवयवा
इत्युच्यन्ते ।'—न्यायप्र., पृ. १, २ ।

४. 'पक्षहेतुदृष्टान्ता इति अयवयवम् ।'—माठरवृ., का. ५ ।

५. 'अयवयवग्रहणमुपलक्षणार्थम्, द्वयवयवमपीत्यपि दृष्टव्यम्..... अयवयवमपीत्यपिना द्वयव-
यवप्रतिषेधं समुच्चिनोति उपनयनिगमनयोरित्यत्र प्रतिज्ञाया अपीति दृष्टव्यम् ।'

—न्यायवा. तात्प., पृ. २६६, २६७ ।

६. 'अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि....'—वादन्या., पृ. ६१ ।
'तद्भावहेतुभावो हि दृष्टान्ते तदवेदिनः । ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव हि केवलः ॥'

—प्रमाणवा., १-१२८ ।

७. 'एतद्द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम् ।'—परीक्षामु., ३।३७ ।

८. परीक्षामु., ३।३४ ।

९. परीक्षामु., ३।३८-४३ ।

(प्रमाणमी. २-१-८) मोमांसकोंकी चार अवयव मान्यताका भी उल्लेख करते हैं। यदि इनका उल्लेख ठीक है तो कहना होगा कि चार अवयवोंको माननेवाले भी कोई मोमांसक रहे हैं। इस तरह हम देखते हैं कि दशावयव^१ और पंचावयवकी मान्यता नैयायिकोंकी है। चार और तीन अवयवोंकी मोमांसकों, तीन अवयवोंकी सांख्यों, तीन, दो और एक अवयवोंकी बौद्धों और दो अवयवोंकी मान्यता जैनियोंकी है। वादिदेवसूरिने^२ धर्मकीर्तिकी तरह विद्वान्के लिए अकेले हेतुका भी प्रयोग बतलाया है। पर अन्य सभी दिग्गम्बर और श्वेताम्बर विद्वानोंने परार्थानुमानप्रयोगके कम-से-कम दो अवयव अवश्य स्वीकृत किये हैं। प्रतिपाद्योंके अनुरोधसे तो तीन, चार और पांच भी अवयव माने हैं। आ. धर्मभूषणने पूर्वपरम्परानुसार वादकथाकी अपेक्षा दो और वीतरागकथाकी अपेक्षा अधिक अवयवोंके भी प्रयोगका समर्थन किया है।

२०. हेतुका लक्षण :

हेतुके लक्षण-सम्बन्धमें दार्शनिकोंका भिन्न-भिन्न मत है। वैशेषिक^३, सांख्य^४ और बौद्ध^५ हेतुका त्रैरूप्य लक्षण मानते हैं। यद्यपि हेतुका त्रिरूप लक्षण अधिकांशतः बौद्धोंका ही प्रसिद्ध है, वैशेषिक और सांख्योंका नहीं। इसका कारण यह है कि त्रैरूप्यके विषयमें जितना सूक्ष्म और विस्तृत विचार बौद्ध विद्वानोंने किया है तथ्य हेतुबिन्दु जैसे तद्विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थोंकी रचना की है^६ उतना वैशेषिक और सांख्य विद्वानोंने न विचार ही किया और न कोई उस विषयके स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं। पर हेतुके त्रैरूप्यकी मान्यता वैशेषिक एवं सांख्योंकी भी है। और वह बौद्धोंकी अपेक्षा प्राचीन है, क्योंकि बौद्धोंकी त्रैरूप्यकी मान्यता तो वसुबन्धु और मुख्यतया दिग्नागसे ही प्रारम्भ हुई जान पड़ती है। किन्तु वैशेषिक और सांख्योंके त्रैरूप्यकी परम्परा बहुत पहलेसे चली आ रही है। प्रशस्तपादने^७ अपने प्रशस्तपादभाष्य (पृ. १००) में काश्यप (कणाद^८) कथित दो पद्योंको उद्धृत किया है, जिनमें

१. निर्युक्तिकार भद्रबाहुने (दश. नि. गा. १३७) भी दशावयवोंका कथन किया है, पर वे नैयायिकोंसे भिन्न हैं।
२. स्याद्वादरत्नाकर, पृ. ५४८।
३. न्या. दो., प्रस्तावना, पृ. ४५ का फुटनोट २ तथा यही ग्रन्थ पृ. ४६८, फुटनोट २।
४. सांख्यका., माठर वृ. का. ५।
५. 'हेतुस्त्रिरूपः । किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति ।' —न्यायप्र., पृ. १।
६. यही वजह है कि तर्कग्रन्थोंमें बौद्धाभिमत ही त्रैरूप्यका विस्तृत खण्डन पाया जाता है और 'त्रिलक्षणकदर्शन' जैसे ग्रन्थ रचे गये हैं।
७. ये दिग्नाग (४२५ A.D.) के पूर्ववर्ती हैं और लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी इनका समय माना जाता है।
८. उद्योतकरने 'काश्यपीयम्' शब्दोंके साथ न्यायवार्तिक (पृ. ९९) में कणादका संशय-लक्षणवाला 'सामान्यप्रत्यक्षात्' आदि सूत्र उद्धृत किया है। इससे मालूम होता है कि काश्यप कणादका ही नामान्तर था, जो वैशेषिकदर्शनका प्रणेता एवं प्रवर्तक है।

पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति इन तीन रूपोंका स्पष्ट प्रतिपादन एवं समर्थन है और माठरने अपनी सांख्यकारिकावृत्तिमें उनका निर्देश किया है। कुछ भी हे, यह अवश्य है कि त्रिरूप लिंगको वैशेषिक, सांख्य और बौद्ध तीनोंने स्वीकार किया है।

नैयायिक^१ पूर्वोक्त तीन रूपोंमें अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको और मिलाकर पांचरूप हेतुका कथन करते हैं। यह त्रैरूप्य और पांचरूप्यकी मान्यता अति प्रसिद्ध है और जिसका खण्डन-मण्डन न्यायग्रन्थोंमें बहुलतया मिलता है। किन्तु इनके अलावा भी हेतुके द्विलक्षण, चतुर्लक्षण और षड्लक्षणकी मान्यताओंका उल्लेख तर्कग्रन्थोंमें पाया जाता है। इनमें चतुर्लक्षणकी मान्यता सम्भवतः मीमांसकोंकी मालूम होती है, जिसका निर्देश प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् प्रभाकरानुयायी शालिकानाथने^२ किया है। उद्योतकर और वाचस्पति मिश्रके^३ अभिप्रायानुसार पंचलक्षणकी तरह द्विलक्षण, त्रिलक्षण और चतुर्लक्षणकी मान्यताएँ नैयायिकोंकी ज्ञात होती हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि जयन्तभट्टने^४ पंचलक्षण हेतुका ही समर्थन किया है, उन्होंने अपंचलक्षणको हेतु नहीं माना। पिछले नैयायिक शंकरमिश्रने^५ हेतुकी गमकतामें जितने रूप प्रयोजक एवं उपयोगी हों उतने रूपोंको हेतुलक्षण स्वीकार किया है और इस तरह उन्होंने अन्वयव्यतिरेकी हेतुमें पांच और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओंमें चार ही रूप गमकतोपयोगी बतलाये हैं। यहाँ एक खास बात और ध्यान देनेकी है वह यह कि जिस अविनाभावको जैन तार्किकोंने हेतुका लक्षण

१. 'गम्यतेऽनेनेति लिङ्गम्; तच्च पञ्चलक्षणम्, कानि पुनः पञ्चलक्षणानि ? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षधर्मत्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चेति ।.....एतैः पंच-भिलक्षणैरुपपन्नं लिङ्गमनुमापकं भवति ।'—न्यायमं., पृ. १०१ । न्यायकलि., पृ. २ । न्यायवा. ता., पृ. १७१ ।

२. न्या. दी., प्रस्तावना, पृ. ४५ का फुटनोट ५ तथा यही ग्रन्थ, पृ. ४६८, फुटनोट ५ ।

३. 'साध्ये व्यापकत्वम्, उदाहरणे चासम्भवः । एवं द्विलक्षणस्त्रिलक्षणश्च हेतुर्लभ्यते ।'—न्यायवा. पृ. ११९ । 'चशब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति ।'—न्यायवा., पृ. ४६ ।

४. 'एतदुक्तं भवति, अबाधितविषयमसत्प्रतिपक्षं पूर्ववदिति ध्रुवं कृत्वा शेषवदित्येका विधा, सामान्यतोदृष्टमिति द्वितीया, शेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति तृतीया, तदेवं त्रिविधमनुमानम् । तत्र चतुर्लक्षणं द्वयम् । एकं पंचलक्षणमिति ।'—न्यायवा. ता., पृ. १७४ ।

५. 'केवलान्वयी हेतुर्नास्त्येव, अपञ्चलक्षणस्य हेतुत्वाभावात् । केवलव्यतिरेकी तु क्वचिद् विषयेऽन्वयव्यतिरेकमूलः प्रवर्तते नात्यन्तमन्वयबाह्यः ।'—न्यायकलि., पृ. १० ।

६. 'केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी । अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वाबाधितासत्प्रतिपक्ष-तत्त्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वोपयिकानि । अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पंच । केवलव्यतिरेकिणः सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण चत्वारि । तथा च यस्य हेतोर्भावन्ति रूपाणि गमकतोपयिकानि स हेतुः ।'—वैशेषि. उप., पृ. ९७ ।

प्रतिपादन किया है, उसे जयन्तभट्ट^१ और वाचस्पतिने^२ पंच लक्षणोंमें समाप्त माना है। अर्थात् अविनाभावके द्वारा ही सर्व रूपोंके ग्रहण हो जानेपर जोर दिया है। पर वे अपनी पंचलक्षण या चारलक्षणवाली नैयायिकपरम्पराके मोहका त्याग नहीं कर सके। इस तरह नैयायिकोंके यहां एक निश्चित पक्ष रहा मालूम नहीं होता। हाँ, उनका पांचरूप हेतुलक्षण अधिक एवं मुख्य प्रसिद्ध रहा और इसीलिए उसीका खण्डन दूसरे तार्किकोंने किया है।

बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्तिने 'अपरे' शब्दोंके साथ, जिसका अर्चटने^३ 'नैयायिक और मीमांसक आदि' अर्थ किया है, हेतुकी पंचलक्षणोंके साथ ज्ञातत्वको मिलाकर षड्लक्षण मान्यताका भी उल्लेख किया है। यद्यपि यह षड्लक्षणवाली मान्यता न तो नैयायिकोंके यहां उपलब्ध होती है और न मीमांसकोंके यहां ही पायी जाती है, फिर भी सम्भव है कि अर्चटके सामने किसी नैयायिक या मीमांसक आदिका हेतुको षड्लक्षण माननेका पक्ष रहा हो और जिसका उल्लेख उन्होंने किया है। यह भी सम्भव है कि प्राचीन नैयायिकोंने जो ज्ञायमान लिंगको और भाट्टोंने ज्ञातताको अनुमितिमें करण माना है और जिसकी आलोचना विश्वनाथ पंचाननने^४ की है उसीका उल्लेख अर्चटने किया हो।

एकलक्षणकी मान्यता असन्दिग्ध रूपसे जैन विद्वानोंकी है, जो अविनाभाव या अन्यथानुपपत्तिरूप है और अकलंकदेवके भी पहलेसे चली आ रही है। उसका मूल सम्भवतः समन्तभद्रस्वामीके 'सधर्मेणैव साध्यस्य सधर्म्यादविरोधितः' (आसमी. का. १०६) इस वाक्यके 'अविरोधितः' पदमें सन्निहित है। अकलंकदेवने उसका वैसा

१. 'एतेषु पंचलक्षणेष्ु अविनाभावः समाप्यते । अविनाभावो व्याप्तिनियमः प्रतिबन्धः साध्य-विनाभावित्वमित्यर्थः ।'—न्यायकलि., पृ. २ ।

२. 'यद्यप्यविनाभावः पंचसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिङ्गरूपाणि संगृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः संग्रहे गोवलीवर्दन्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकास्तत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि संगृह्णाति ।'

—न्यायवा. ता., पृ. १७८ ।

३. 'षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमांसकादयो मन्यन्ते । कानि पुनः षड्रूपाणि हेतोस्तैरिष्यन्ते इत्याह...त्रोणि चैतानि पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकाख्याणि, तथा अबाधितविषयत्वं चतुर्थं रूपम् तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरं...तथा ज्ञातत्वं च ज्ञानविषयत्वं च, न ह्यज्ञातो हेतुः स्वसत्तामात्रेण गमको युक्त इति ।'—हेतुबि., पृ. ६८, हेतुबि. टी., पृ. २०५ ।

४. 'प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति । तद्दूषयति अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि ।'—सि. मु., पृ. ५० । भाट्टानां मते ज्ञानमतोन्द्रियम् । ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा तथा ज्ञानमनुमीयते ।'—सि. मु., पृ. ११९ ।

५. 'सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यम्, अविरोधात् इत्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं तत्पुत्रत्वादिवत् । एकलक्षणस्य तु गमकत्वं 'नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते' इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् ।

—अष्टश. आसमी. का. १०६ ।

विवरण भी किया है। और विद्यानन्दने^१ तो उसे स्पष्टतः हेतुलक्षणका ही प्रतिपादक कहा है। अकलंकके पहले एक पात्रकेशरी या पात्रस्वामी नामके प्रसिद्ध जैनाचार्य भी हो गये हैं, जिन्होंने त्रैरूप्यका कदर्थन करनेके लिए 'त्रिलक्षणकदर्थन' नामक तर्कग्रन्थ रचा है और हेतुका एकमात्र 'अन्यथानुपपन्नत्व' लक्षण स्थिर किया है। उनके उत्तरवर्ती सिद्धसेन^२, अकलंक, वोरसेन^३, कुमारनन्दि, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, वादिराज, वादिदेवसूरि और हेमचन्द्र आदि सभी जैन तार्किकों-ने अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) को ही हेतुका लक्षण होनेका सबलताके साथ समर्थन किया है। वस्तुतः अविनाभाव ही हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है। त्रैरूप्य या पांचरूप्य तो गुरुभूत एवं अविनाभावका ही विस्तार हैं। इतना ही नहीं, दोनों अव्यापक भी हैं। कृतिकोदयादि हेतु पक्षधर्म नहीं हैं फिर भी अविनाभाव रहनेसे गमक देखे जाते हैं। आ. धर्मभूषणने भी त्रैरूप्य और पांचरूप्यकी सोपपत्तिक आलोचना करके 'अन्यथानुपपन्नत्व' को ही हेतुलक्षण सिद्ध किया है और निम्न दो कारिकाओंके द्वारा अपने वक्तव्यको पुष्ट किया है—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

तान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ।

तान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ॥

इनमें पिछली कारिका आचार्य विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ है और वह प्रमाण-परीक्षामें उपलब्ध है। परन्तु पहली कारिका किसकी है? इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह कारिका त्रैरूप्य खण्डनके लिए रची गयी है और वह बड़े महत्त्वकी है। विद्यानन्दने अपनी उपर्युक्त कारिका भी इसीके आधारपर पांच-रूप्यका खण्डन करनेके लिए बनाई है। इस कारिकाके कर्तृत्व सम्बन्धमें ग्रन्थकारों-का मतभेद है। सिद्धिविनिश्चय-टीकाके कर्त्ता अनन्तवीर्यने^४ उसका उद्गम सीमन्धर-स्वामीसे बतलाया है। प्रभाचन्द्र^५ और वादिराज^६ कहते हैं कि उक्त कारिका सीमन्धरस्वामीके समवशरणसे लाकर पद्मावतोदेवीने पात्रकेशरी अथवा पात्रस्वामीके लिए समर्पित की थी। विद्यानन्द^७ उसे वार्त्तिककारकी कहते हैं। वादिदेवसूरि^८ और

१. 'भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात्।'—अष्टस., पृ. २८९।

२. सिद्धसेनने 'अन्यथानुपपन्नत्व' को 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतुलक्षणमोरितम्'—(न्यायाव., का. २१) शब्दों द्वारा हेतुलक्षण दोहराया है और 'ईरितम्' शब्दका प्रयोग करके तो उसकी प्रसिद्धि एवं अनुसरण भी ख्यापित किया है।

३. घवला, पृ. १३, पृ. २४६।

४. सिद्धिविनि. टी., पृ. ३००A।

५. गद्यकथाकोशगत पात्रकेशरीकी कथा।

६. न्यायवि. वि. २-१५४, पृ. १७७।

७. तत्त्वार्थश्लो., पृ. २०४।

८. स्या. रत्ना., पृ. ५२१।

शान्तरक्षित^१ पात्रस्वामीकी प्रकट करते हैं। इस तरह इस कारिकाके कर्त्तृत्वका अनिर्णय बहुत पुरातन है।

देखना यह है कि उसका कर्त्ता है कौन ? उपर्युक्त सभी ग्रन्थकार ईसाकी ८वीं शताब्दीसे ११वीं शताब्दीके भीतर हैं और शान्तरक्षित (ई. ७०५-७६२) सबमें प्राचीन हैं। शान्तरक्षितने पात्रस्वामीके नामसे और भी कितनी ही कारिकाओं तथा पद-वाक्यादिकोंका उल्लेख करके उनका आलोचन किया है। इससे यह निश्चित-रूपसे मालूम होता है कि शान्तरक्षितके सामने पात्रस्वामीका कोई तर्क-ग्रन्थ अवश्य ही रहा है। जैनसाहित्यमें पात्रस्वामीकी दो रचनाएँ मानी जाती हैं—१ त्रिलक्षण-कदर्थन और २ पात्रकेशरीस्तोत्र। इनमें दूसरी रचना तो उपलब्ध है, पर पहली रचना उपलब्ध नहीं है। केवल ग्रन्थान्तरों आदिमें उसके उल्लेख मिलते हैं। 'पात्र-केशरीस्तोत्र' एक स्तोत्र-ग्रन्थ है और उसमें आपस्तुतिके बहाने सिद्धान्तमतका प्रति-पादन है। इसमें पात्रस्वामीके नामसे शान्तरक्षितके द्वारा तत्त्वसंग्रहमें उद्धृत कारिकाएँ, पद, वाक्यादि कोई नहीं पाये जाते। अतः यही सम्भव है कि वे त्रिलक्षण-कदर्थनके हों, क्योंकि प्रथम तो ग्रन्थका नाम ही यह बतलाता है कि उसमें त्रिलक्षणका कदर्थन—खण्डन किया गया है। दूसरे, पात्रस्वामीकी अन्य तीसरी आदि कोई रचना नहीं सुनी जाती, जिसके वे कारिकादि सम्भावनास्पद होते। तीसरे, अनन्तवीर्यकी चर्चासे मालूम होता है कि उस समय एक आचार्यपरम्परा ऐसी भी थी, जो 'अन्य-थानुपपत्ति' वार्त्तिकको त्रिलक्षणकदर्थनका बतलाती थी। चौथे, वादिराजके^२ उल्लेख और श्रवणवेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्तिगत पात्रकेशरीविषयक प्रशंसापद्यसे^३ भी उक्त वार्त्तिकादि त्रिलक्षणकदर्थनके जान पड़ते हैं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पात्रकेशरी नामके एक ही विद्वान् जैन साहित्यमें माने जाते हैं और जो दिग्गम्भ (४२५ ई.) के उत्तरवर्ती एवं अकलंकके पूर्वकालीन हैं। अकलंकने उक्त वार्त्तिकको 'न्यायविनिश्चय (का. २२३ के रूपमें) में दिया है और सिद्धिविनिश्चयके 'हेतुलक्षण-सिद्धि' नामके छठवें प्रस्तावके आरम्भमें उसे स्वामीका 'अमलालोढ' पद कहा है। अकलंकदेव शान्तरक्षितके^४ समकालीन हैं। और इसलिए यह कहा जा सकता है पात्रस्वामीकी जो रचना (त्रिलक्षणकदर्थन) शान्तरक्षितके सामने रही वह अकलंक-देवके भी सामने अवश्य रही होगी। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितके लिए जो उक्त वार्त्तिकका कर्त्ता निर्भ्रान्तरूपसे पात्रस्वामी विवक्षित हैं वही अकलंकदेवको 'स्वामी' पदसे अभिप्रेत हैं। इसलिए अललङ्कारके 'स्वामी' पद तथा 'अन्यथानुपपन्नत्व' पद (वार्त्तिक) दोनोंका सहभाव और शान्तरक्षितके स्पष्ट एवं सुपरिचित उल्लेख हमें इस बातको माननेके लिए सहायता करते हैं

१. तत्त्वसं., पृ. ४०६।

२. न्यायवि. वि. २।१५४, पृ. १७७।

३. 'महिमा स पात्रकेशरिगुरोः परं भवति यस्य भवत्यासीत्।

पद्यावती सहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥'—मल्लिषेणप्रशस्ति।

४. शान्तरक्षितका समय ७०५ से ७६२ और अकलंकदेवका समय ७२० से ७८० ई. माना जाता है।—अकलंकग्र. प्रस्ता., पृ. ३२।

कि उपर्युक्त पहली कारिका पात्रस्वामीकी ही होनी चाहिए। अकलंक और शान्तरक्षितके उल्लेखोंके बाद विद्यानन्दका उल्लेख आता है, जिसके द्वारा उन्होंने उक्त वार्त्तिकको वार्त्तिककारका बतलाया है। यह वार्त्तिककार राजवार्त्तिककार अकलंकदेव मालूम नहीं होते^१, क्योंकि उक्त वार्त्तिक (कारिका) राजवार्त्तिकमें नहीं है, न्यायविनिश्चयमें है। विद्यानन्दने राजवार्त्तिकके पद-वाक्यादिको ही राजवार्त्तिककार (तत्त्वाथवार्त्तिककार) के नामसे उद्धृत किया है, न्यायविनिश्चय आदिके नहीं। अतः विद्यानन्दको 'वार्त्तिककार' पदसे 'अन्यथानुपपत्ति' वार्त्तिकके कर्त्ता वार्त्तिककार—पात्रस्वामी ही अभिप्रेत हैं। यद्यपि वार्त्तिककारसे न्यायविनिश्चयकार अकलंकदेवका ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि न्यायविनिश्चयमें वह वार्त्तिक मूलरूपमें उपलब्ध है, किन्तु विद्यानन्दने न्यायविनिश्चयके पद-वाक्यादिको 'न्यायविनिश्चय'के नामसे अथवा 'तदुक्तमकलंकदेवैः' आदि रूपसे ही सर्वत्र उद्धृत किया है। अतः वार्त्तिककारसे पात्रस्वामी ही विद्यानन्दको विवक्षित जान पड़ते हैं। यह हो सकता है कि वे 'पात्रस्वामी' नामकी अपेक्षा वार्त्तिक और वार्त्तिककार नामसे अधिक परिचित होंगे और उनसे उन्हें पात्रस्वामीका ही पाठकोंको बोध कराना अभोष्ट होगा। पर उनका अभिप्राय उससे राजवार्त्तिककारका बतलानेका तो प्रतीत नहीं होता।

अब अनन्तवीर्य और प्रभाचन्द्र तथा वादिराजके उल्लेख आते हैं। सो वे मान्यताभेद या आचार्यपरम्पराश्रुतिको लेकर हैं। उन्हें न तो मिथ्या कहा जा सकता है और न विरुद्ध। हो सकता है कि पात्रस्वामीने अपने इष्टदेव सोमन्धरस्वामीके स्मरणपूर्वक और पद्मावतीदेवीकी सहायतासे उक्त महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट अमलालीढ—निर्दोष पद (वार्त्तिक) की रचना की होगी और इस तरहपर अनन्तवीर्य आदि आचार्योंने अपनी-अपनी परिचितिके अनुसार उसके कर्तृत्वविषयक उक्त उल्लेख किये हैं। यह कोई असम्बद्ध, काल्पनिक एवं अभिनव बात नहीं है। दिगम्बर परम्परामें ही नहीं श्वेताम्बर परम्परा, वैदिक और बौद्ध सभी भारतीय परम्पराओंमें है। समस्त द्वादशांग श्रुत, मनःपर्यय आदि ज्ञान, विभिन्न विभूतियाँ, मन्त्रसिद्धि, ग्रन्थसमाप्ति, संकटनिवृत्ति आदि कार्य परमात्मस्मरण, आत्म-विशुद्धि, तपोविशेष, देवादिसाहाय्य आदि यथोचित कारणोंसे होते हुए माने गये हैं। अतः ऐसी बातोंके उल्लेखोंको बिना परीक्षाके एकदम अन्धभक्ति या काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। श्वेताम्बर विद्वान् माननीय पं. सुखलालजोका यह लिखना कि "इसके (कारिकाके) प्रभावके कायल अतार्किक भक्तोंने इसकी प्रतिष्ठा मनगढ़न्त ढंगसे बढ़ाई। और यहाँ तक वह बढ़ी कि खुद तर्कग्रन्थलेखक आचार्य भी उस कल्पित ढंगके शिकार बने" इस कारिकाको सोमन्धरस्वामीके मुखमेंसे अन्धभक्तिके कारण जन्म लेना पड़ा... इस कारिकाके सम्भवतः उद्भावक पात्रस्वामी दिगम्बर परम्पराके ही हैं; क्योंकि भक्तिपूर्ण उन मनगढ़न्त कल्पनाओंकी सृष्टि केवल दिगम्बरीय परम्परा तक ही सीमित है।" (प्रमाणमो. भा. पृ. ८४) केवल अपनी परम्पराका मोह और पक्षग्राहिताके अतिरिक्त

१. कुछ विद्वान् वार्त्तिककारसे राजवार्त्तिककारका ग्रहण करते हैं।—न्यायकुमु., प्र. भाग, प्र., पृ. ७६ और अकलंकग्रन्थ. टि., पृ. १६४।

कुछ नहीं है। उनकी इन पंक्तियों और विचारोंके सम्बन्धमें विशेषकर अन्तिम पंक्तिके सम्बन्धमें बहुत कुछ लिखा जा सकता है। इस संक्षिप्त स्थानपर हमें उनसे यही कहना है कि निष्पक्ष विचारके स्थानपर एक विद्वान्को निष्पक्ष विचार हो प्रकट करना चाहिए। दूसरोंको भ्रममें डालना एवं स्वयं भ्रामक प्रवृत्ति करना ठीक नहीं है।

२१. हेतु-भेद :

दार्शनिक परम्परामें सर्वप्रथम कणादने^१ हेतुके भेदोंको गिनाया है। उन्होंने हेतुके पांच भेद प्रदर्शित किये हैं। किन्तु टीकाकार प्रशस्तपाद^२ उन्हें निदर्शन मात्र मानते हैं, 'पांच ही हैं' ऐसा अवधारण नहीं बतलाते। इससे यह प्रतीत होता है कि वैशेषिक दर्शनमें हेतुके पांचसे भी अधिक भेद स्वीकृत किये गये हैं। न्यायदर्शनके प्रवर्तक गौतमने^३ और सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्णने पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद कहे हैं। मीमांसक हेतुके कितने भेद मानते हैं, यह मालूम नहीं हो सका। बौद्ध दर्शनमें^४ स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि ये तीन भेद हेतुके बतलाये हैं तथा अनुपलब्धि हेतुके ग्यारह भेद किये हैं^५। इनमें प्रथमके दो हेतुओंको विधिसाधक और अन्तिम अनुपलब्धि हेतुको निषेधसाधक ही वर्णित किया है^६।

जैनदर्शनके उपलब्ध साहित्यमें हेतुओंके भेद सबसे पहले अकलंकदेवके प्रमाण-संग्रहमें मिलते हैं। उन्होंने^७ सद्भावसाधक ६ और सद्भावप्रतिषेधक ३ इस तरह नौ उपलब्धियों तथा असद्भावसाधक ६ अनुपलब्धियोंका वर्णन करके इनके और भी अवान्तर भेदोंका संकेत करके उनका इन्हींमें अन्तर्भाव हो जानेका निर्देश किया है। साथ ही उन्होंने धर्मकीतिके इस कथनका कि 'स्वभाव और कार्यहेतु भावसाधक ही हैं तथा अनुपलब्धि ही अभावसाधक है' निरास करके उपलब्धिरूप स्वभाव और कार्य हेतुको भी अभावसाधक सिद्ध किया है^८। अकलंकदेवके इसी मन्तव्यको लेकर माणिक्यनन्दि^९,

१. 'अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ।'—वैशेषि. सू. ६-२-१।

२. 'शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम् । कस्मात् ? व्यतिरेकदर्शनात् ।

तद्यथा—अध्वयुरोश्वावयन् व्यवहितस्य हेतुर्लिङ्गम् चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकाशस्य च जलप्रसादोऽगस्त्योदयस्येति । एवमादि तत्सर्वमस्येदमिति सम्बन्धमात्रवचनात् सिद्धम् ।

—प्रशस्तपा., पृ. १०४१

३. 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ।'—न्यायसू. १-१-५।

४. 'त्रोण्येव लिङ्गानि' 'अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति ।'—न्यायवि., पृ. ३५।

५. 'सा च प्रयोगभेदादेकादशप्रकारा ।'—न्यायवि., पृ. ४७।

६. 'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ' 'एकः प्रतिषेधहेतुः'—न्यायवि., पृ. ३९।

७. 'सत्प्रवृत्तिनिमित्तानि स्वसम्बन्धोपलब्धयः ॥

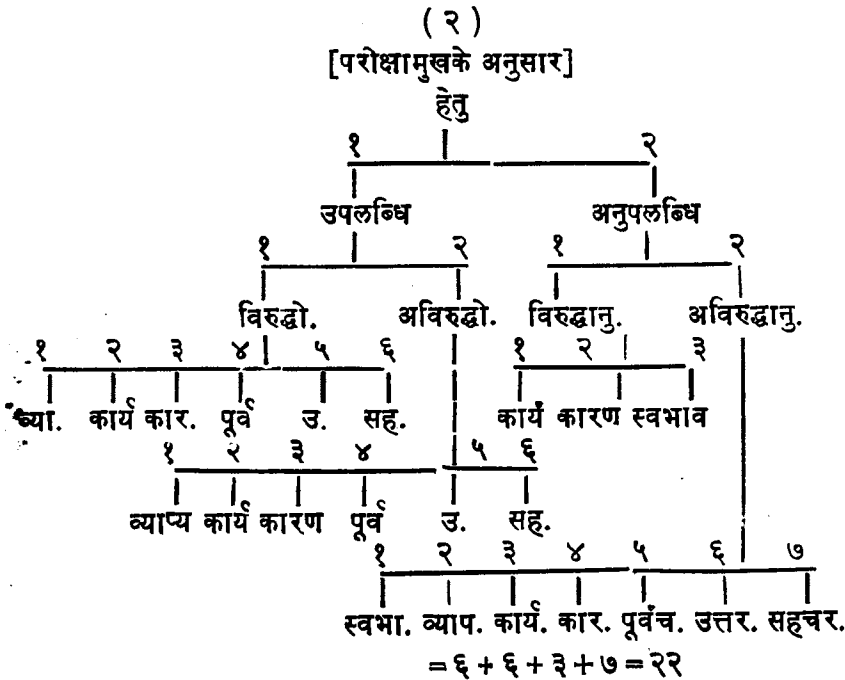
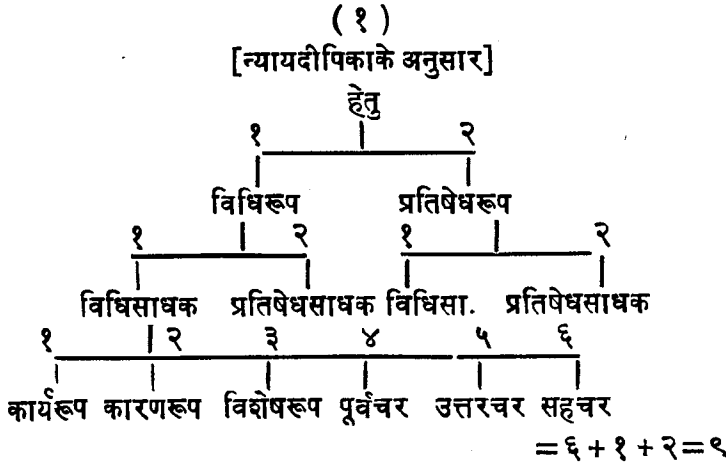
तथाऽसद्व्यवहाराय स्वभावानुपलब्धयः ।

सद्वृत्तिप्रतिषेधाय तद्विरुद्धोपलब्धयः ॥' —प्रमाणसं., का. २९, ३०। तथा इनकी स्वोपपन्नवृत्ति ।

८. 'नानुपलब्धिरेव अभावसाधनो'—प्रमाणसं., वृ. का. ३०।

९. परीक्षामुख, ३-५७ से ३-९३ तकके सूत्र ।

विद्यानन्द^१ तथा वादिदेवसूरिने^२ उपलब्धि और अनुपलब्धिरूपसे समस्त हेतुओंका संग्रह करके दोनोंको विधि और निषेध साधक बतलाया है और उनके उत्तरभेदोंको परिगणित किया है। आ. धर्मभूषणने भी अपनी पूर्वपरम्पराके अनुसार कतिपय हेतु-भेदोंका वर्णन किया है। न्यायदीपिका और परीक्षामुखके अनुसार हेतुओंके निम्न भेद हैं^३—



१. प्रमाणपरी., पृ. ४९ से ५७ ।

२. प्रमाणनयतत्त्वालोकका तृतीय परिच्छेद ।

३. प्रमाण-परीक्षाके अनुसार हेतुभेदोंको वहीँसे जानना चाहिए ।

२२. हेत्वाभास :

नैयायिक^१ हेतुके पाँच रूप मानते हैं। अतः उन्होंने एक-एक रूपके अभावमें पाँच हेत्वाभास माने हैं। वैशेषिक^२ और बौद्ध^३ हेतुके तीन रूप स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्होंने तीन हेत्वाभास माने हैं। पक्षधर्मत्वके अभावसे असिद्ध, सपक्षसत्त्वके अभावसे विरुद्ध और विपक्षासत्त्वके अभावसे सन्दिग्ध अथवा अनैकान्तिक ये तीन हेत्वाभास वर्णित किये हैं। सांख्य^४ भी चूँकि हेतुको त्रैरूप्य मानते हैं। अतः उन्होंने भी मुख्यतया तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं। प्रशस्तपादने^५ एक अनध्यवसित नामके चौथे हेत्वाभासका भी निर्देश किया है जो नया ही मालूम होता है और प्रशस्तपादका स्वोपज्ञ है क्योंकि वह न तो न्यायदर्शनके पाँच हेत्वाभासोंमें है, न कणादकथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न उनके पूर्ववर्ती किसी सांख्य या बौद्ध विद्वान्ने उसे बतलाया है। हाँ, दिग्नागने^६ अनैकान्तिक हेत्वाभासके भेदोंमें एक विरुद्धाव्यभिचारी जरूर बतलाया है, जिसके न्याय-प्रवेशगत वर्णन और प्रशस्तपादभाष्यगत अनध्यवसित-के वर्णनका आशय प्रायः एक है और स्वयं जिसे प्रशस्तपादने^७ असाधारण कहकर अनध्यवसित हेत्वाभास अथवा विरुद्ध हेत्वाभासका एक भेद बतलाया है। कुछ भी हो, इतना अवश्य है कि प्रशस्तपादने वैशेषिकदर्शन सम्मत तीन हेत्वाभासोंके अलावा इस चौथे हेत्वाभासकी भी कल्पना की है। अज्ञात नामके हेत्वाभासकी भी माननेका एक मत रहा है। हम पहले कह आये हैं कि अर्चटने नैयायिक और मीमांसकोंके नामसे ज्ञातत्व सहित षड्लक्षण हेतुका निर्देश किया है। सम्भव है ज्ञातत्व रूपके अभावसे अज्ञातनामका हेत्वाभास भी उन्हींके द्वारा कल्पित हुआ हो। अकलंकदेवने^८ इस हेत्वाभासका उल्लेख करके असिद्धमें अन्तर्भाव किया है। उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि^९ आदिने भी उसे असिद्ध हेत्वाभासरूपसे उदाहृत किया है।

१. 'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः ।'—न्यायसू. १-२-४ । 'हेतुः पञ्च लक्षणानि पक्षधर्मत्वादोनि उक्तानि । तेषामेकैकापाये पञ्च हेत्वाभासा भवन्ति । असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः ।'

—न्यायकलिका, पृ. १४ । न्यायमं., पृ. १०१ ।

२. 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ।'—वैशे. सू. ३-१-१५ । 'यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते । तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत् ॥'—प्रशस्त., पृ. १०० ।

३. 'असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः ।'—न्यायप्र., पृ. ३ ।

४. 'अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः ।'—माठरवृ. का. ५ ।

५. 'एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धानध्यवसितवचनानामनपदेशत्वमुक्तं भवति ।'

—प्रशस्तपा. भा. पृ. ११६ ।

६. न्यायप्रवेश, पृ. ३ ।

७. प्रशस्तपा. भा. पृ. ११८, ११९ ।

८. 'साध्येऽपि कृतकत्वादिः अज्ञातः साधनाभासः । तदसिद्धलक्षणेन अपरो हेत्वाभासः, सर्वत्र साध्यार्थासम्भवाभावनियमासिद्धेः अर्थज्ञाननिवृत्तिलक्षणत्वात् ।'—प्रमाणसं.स्वो., का. ४४ ।

९. परीक्षामु., ६-२७, २८ ।

जेन विद्वान् हेतुका केवल एक ही अन्यथानुपपन्नत्व—अन्यथानुपपत्ति रूप मानते हैं। अतः यथार्थमें उनका हेत्वाभास भी उसके अभावमें एक ही होना चाहिए। इस सम्बन्धमें सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकदेवने^१ बड़ी योग्यतासे उत्तर दिया है। वे कहते हैं कि वस्तुतः हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर। विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये उसीके विस्तार हैं। चूँकि अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है इसलिए हेत्वाभासके असिद्ध, विरुद्ध, व्यभिचारी और अकिञ्चित्कर ये चार भी भेद हो सकते हैं या अकिञ्चित्करको सामान्य और शेषको उसके भेद मानकर तीन हेत्वाभास भी कहे जा सकते हैं। अतएव जो हेतु त्रिलक्षणात्मक होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वसे रहित हैं वे सब अकिञ्चित्कर हेत्वाभास हैं^२। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि अकलंक-देवने पूर्वसे अप्रसिद्ध इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासकी कल्पना कहाँसे की है? क्योंकि वह न तो कणाद और दिग्नाग कथित तीन हेत्वाभासोंमें है और न गौतमस्वीकृत पाँच हेत्वाभासोंमें है? पं. सुखलालजीका कहना है^३ कि 'जयन्तभट्टने अपनी न्यायमंजरी (पृ. १६३) में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभासको माननेका पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्तभट्टके पहले कभीसे चला आता हुआ जान पड़ता है।' अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थके आधारपर ही अकलंकने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासकी अपने ढंगसे नई सृष्टि की हो। निःसन्देह पण्डितजीकी सम्भावना और समाधान दोनों हृदयको लगते हैं। जयन्तभट्टने^४ इस हेत्वाभासके सम्बन्धमें कुछ विस्तारसे बहुत सुन्दर विचार किया है। वे^५ पहले तो उसे विचार करते-करते साहसपूर्वक छठवाँ ही हेत्वाभास मान लेते हैं और यहाँ तक कह देते हैं कि विभागसूत्रका उल्लंघन होता है तो होने दो, सुस्पष्टदृष्ट अप्रयोजक (अन्यथासिद्ध) हेत्वाभासका अपह्नव नहीं किया जा सकता है और न वस्तुका उल्लंघन। किन्तु पोछे उसे वे असिद्धवर्गमें ही शामिल कर लेते हैं। अन्तमें 'अथवा' के साथ कहा है कि अन्यथासिद्धत्व (अप्रयोजकत्व) सभी हेत्वाभासवृत्ति सामान्यरूप

१. 'साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं ततोऽपरे। विरुद्धासिद्धसन्दिग्धा अकिञ्चित्करविस्तराः ॥'

—न्यायवि. का. २६९। 'असिद्धश्चाक्षुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथाऽसम्भवाभाव-

२. भेदात्स बहुधा स्मृतः ॥ विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः।'

—न्यायवि., का. ३६५, ३६६।

३. 'अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये त्रिलक्षणाः।

अकिञ्चित्कारकान् सर्वास्तान् वयं सङ्गिरामहे ॥'—न्यायवि., का. ३७०।

४. प्रमाणमी., भा. टि. पृ. ९७।

५. न्यायमं., पृ. १६३-१६६ (प्रमेय प्रकरण)।

५. 'आस्तां तर्हि षष्ठ एवायं हेत्वाभासः, सम्यग् हेतुतां तावन्नथोक्तनयेन नाशनुते एव, न च तेष्वन्तर्भवतीति बलात् षष्ठ एवावतिष्ठते। कथं विभागसूत्रमिति चेद्, अतिक्रमिष्याम इदं सूत्रम्, अनतिक्रामन्तः सुस्पष्टमपीममप्रयोजकं हेत्वाभासमपह्नवीमहि, न चैवं युक्तमतो वरं सूत्रातिक्रमो न वस्त्वतिक्रम इति।' × × × 'तदेनं हेत्वाभासमसिद्धवर्ग एव निक्षिपामः।' × × × अथवा सर्वहेत्वाभासानुवृत्तिमिदमन्यथासिद्धत्वं नाम रूपमिति न षष्ठोऽयं हेत्वाभासः।—वही, पृ. १६६।

है, छठवाँ हेत्वाभास नहीं। इसी अन्तिम अभिमतको न्यायकलिका (पृ. १५)में^१ स्थिर रखा है।

पण्डितजीकी सम्भावनासे प्रेरणा पाकर जब मैंने 'अन्यथासिद्ध'को पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थोंमें खोजना प्रारम्भ किया, तो मुझे उद्योतकरके न्यायवार्तिकमें^२ अन्यथासिद्ध हेत्वाभास मिल गया, जिसे उद्योतकरने असिद्धके भेदोंमें गिनाया है। वस्तुतः अन्यथासिद्ध एक प्रकारका अप्रयोजक या अकिंचित्कर हेत्वाभास ही है। जो हेतु अपने साध्यको सिद्ध न कर सके उसे अन्यथासिद्ध अथवा अकिंचित्कर कहना चाहिए। भले ही वह तीनों अथवा पाँचों रूपोंसे युक्त क्यों न हो। अन्यथासिद्धत्व अन्यथानुपपन्नत्वके अभाव—अन्यथाउपपन्नत्वसे अतिरिक्त कुछ नहीं है। यही वजह है कि अकलंकदेवने सर्वलक्षणसम्पन्न होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्वरहित हेतुओंको अकिंचित्कर हेत्वाभासकी संज्ञा दी है। अतएव ज्ञात होता है कि उद्योतकरके अन्यथासिद्धत्वमें से ही अकलंकने अकिंचित्कर हेत्वाभासकी कल्पना की है। आ. माणिक्यनन्दिने इसका चौथे हेत्वाभासके रूपमें वर्णन किया है^३। पर वे उसे हेत्वाभासके लक्षणके विचार-समयमें ही हेत्वाभास मानते हैं^४, वादकालमें नहीं। उस समय तो पक्षमें दोष दिखा देनेसे ही व्युत्पन्नप्रयोगको दूषित बतलाते हैं। तात्पर्य यह कि वे अकिंचित्करको स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेमें खास जोर भी नहीं देते। श्वेताम्बर विद्वानोंने^५ असिद्धादि पूर्वोक्त तीन ही हेत्वाभास स्वीकृत किये हैं, उन्होंने अकिंचित्करको नहीं माना। माणिक्यनन्दिने अकिंचित्करको हेत्वाभास माननेकी जो दृष्टि बतलाई है उस दृष्टिसे उसका मानना उचित है। वादिदेवसूरि^६ और यशोविजयने^७ यद्यपि अकिंचित्करका खण्डन किया है, पर वे उस दृष्टिको मेरे ख्यालमें ओझल कर गये हैं। अन्यथा वे उस दृष्टिसे उसके औचित्यको जरूर स्वीकार करते। अभिनव धर्मभूषणने माणिक्यनन्दिका अनुसरण किया है और उनके निर्देशानुसार अकिंचित्करको चौथा हेत्वाभास बताया है।

इस तरह न्यायदीपिकामें आये हुए कुछ विशेष विषयोंपर तुलनात्मक विवेचन किया गया है।



१. 'अप्रयोजकत्वं च सर्वहेत्वाभासानामनुगतं रूपम्। अनित्याः परमाणवो मूर्तत्वात् इति सर्वलक्षणसम्पन्नोऽप्यप्रयोजक एव।'।

२. 'सोऽयमसिद्धत्वं भवति प्रज्ञापनीयधर्मसमानः, आश्रयासिद्धः, अन्यथासिद्धश्चेति।'।

—न्यायवा. पृ. १७५।

३. परोक्षामुख, ६-२१।

४. 'लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दृष्टत्वात्।'—परीक्षा., ६-३८।

५. न्यायवा., का. २३, प्रमाणनय. ६-४७।

६. स्याद्वादरत्ना., पृ. १२३०।

७. जैनतर्कभा., पृ. १८।

न्यायदीपिकामें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार

अभिनव धर्मभूषणने अपनी न्यायदीपिकामें अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है तथा उनके कथनसे अपने प्रतिपाद्य विषयको पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। अतः यह उपयुक्त जान पड़ता है कि यहाँ उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका कुछ परिचय दिया जाय। प्रथमतः न्यायदीपिकामें उल्लिखित निम्न जेनेतर ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका परिचय दिया जाता है—

(क) ग्रन्थ—न्यायबिन्दु।

(ख) ग्रन्थकार—१. दिग्नाग, २. शालिकानाथ, ३. उदयन और ४. वामन।

न्यायबिन्दु—यह बौद्ध विद्वान् धर्मकीर्त्तिका रचा हुआ बौद्ध-न्यायका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें प्रमाणसामान्यका लक्षण, उसके प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो भेदोंका स्वीकार एवं उनके लक्षण, प्रत्यक्षके भेदों आदिका वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेदमें अनुमानके स्वार्थ और परार्थ भेद, स्वार्थका लक्षण, हेतुका त्रैरूप्यलक्षण और उसके स्वभाव, कार्य तथा अनुपलब्धि इन तीन भेदों आदिका कथन किया है। और तीसरे परिच्छेदमें परार्थ अनुमान, हेत्वाभास, दृष्टान्त, दृष्टान्ताभास आदिका निरूपण किया गया है। न्यायदीपिका पृ. १० पर इस ग्रन्थके नामोल्लेख पूर्वक दो वाक्यों और पृ. २५ पर इसके 'कल्पनापोढमभ्रान्तम्' प्रत्यक्षलक्षणकी समालोचना की गई है। प्रत्यक्षके इस लक्षणमें जो 'अभ्रान्त' पद निहित है वह स्वयं धर्मकीर्त्तिका ही दिया हुआ है। इसके पहले बौद्धपरम्परामें 'कल्पनापोढ' मात्र प्रत्यक्षका लक्षण स्वीकृत था। धर्मकीर्त्ति बौद्धदर्शनके उन्नायक युगप्रधान थे। इनका अस्तित्वसमय ईसाकी सातवीं शताब्दी (६३५ ई.) माना जाता है। ये तत्कालीन नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। न्यायबिन्दुके अतिरिक्त प्रमाणवार्तिक, वादन्याय, हेतुबिन्दु, सन्तानान्तरसिद्धि, प्रमाणविनिश्चय और सम्बन्धपरीक्षा आदि इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं। अभिनव धर्मभूषण न्यायबिन्दु आदिके अच्छे अभ्यासी जान पड़ते हैं।

१. दिग्नाग—ये बौद्ध-सम्प्रदायके प्रमुख तार्किक विद्वानोंमें हैं। इन्हें बौद्धन्यायका प्रतिष्ठापक होनेका श्रेय प्राप्त है, क्योंकि अधिकांशतः बौद्धन्यायके सिद्धान्तोंकी स्थापना इन्होंने की थी। इन्होंने न्याय, वैशेषिक और मीमांसा आदि दर्शनोंके मन्तव्योंकी आलोचनास्वरूप और स्वतन्त्ररूप अनेक प्रकरण-ग्रन्थ रचे हैं। न्यायप्रवेश, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, हेतुचक्रडमरू, आलम्बनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा आदि ग्रन्थ इनके माने जाते हैं। इनमें न्यायप्रवेश और प्रमाण-

१. उद्योतकर (६०० ई.) ने न्यायवा., पृ. १२८, १६८ पर हेतुवार्तिक और हेत्वाभास-वार्तिक नामके दो ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, जो सम्भवतः दिग्नागके ही होना चाहिए, क्योंकि वाचस्पति मिश्रके तात्पर्यटीका (पृ. २८९) गत संदर्भको ध्यानसे पढ़नेपर वैसा

समुच्चय मुद्रित भी हो चुके हैं। न्याय-प्रवेशपर तो जैनाचार्य हरिभद्रसूरिकी 'न्याय-प्रवेशवृत्ति' नामक टीका है और इस वृत्तिपर भी जैनाचार्य पार्श्वदेव कृत 'न्यायप्रवेश-वृत्तिपंजिका' नामकी व्याख्या है। दिग्नागका समय इसकी चौथी और पाँचवीं शताब्दी (३४५-४२५ ई.) के लगभग है। आ. घर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ. ११९ पर इनका नामोल्लेख करके 'न याति' इत्यादि एक कारिका उद्धृत की है, जो सम्भवतः इनके किसी अनुपलब्ध ग्रन्थकी होगी।

२. शालिकानाथ—ये प्रभाकरमतानुयायी मीमांसक दार्शनिक विद्वानोंमें एक प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने प्रभाकर गुरुके सिद्धान्तोंका बड़े जोरोंके साथ प्रचार और प्रसार किया है। उन (प्रभाकर) के बृहती नामके टीका-ग्रन्थपर, जो प्रसिद्ध

प्रतीत होता है। न्यायवा. भूमिका पृ. १४१, १४२ पर इनको किसी बौद्ध विद्वान्के प्रकट भी किये हैं। उद्योतकरके पहले बौद्ध परम्परामें सबसे अधिक प्रसिद्ध, प्रबल और अनेक ग्रन्थोंका रचनाकार दिग्नाग ही हुआ है, जिसका न्यायवात्तिकमें अनेक जगह कदर्थन किया गया है।

इन ग्रन्थोंके सम्बन्धमें मैंने माननीय पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यसे ज्ञात किया था। उन्होंने मुझे लिखा है—'दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयके अनुमान-परिच्छेदके ही वे श्लोक होने चाहिए, जिन्हें उद्योतकर हेतुवात्तिक या हेत्वाभासवात्तिक कहते हैं। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मालूम होते। यही 'हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः' इस कारिकाकी स्ववृत्तिटीकामें कर्णकगोमिने लिखा है—'वर्णितः आचार्यदिग्नागेन प्रमाणसमुच्चयादिषु' सम्भव है इसमें आदिशब्दसे हेतुचक्रडमरूका निर्देश हो।' परन्तु उद्योतकरने जो इस प्रकार लिखा है—'एवं विरुद्धविशेषणविरुद्धविशेष्याश्च द्रष्टव्याः। एषां तूदाहरणानि हेत्वाभासवात्तिके द्रष्टव्यानि स्वयं चाम्यूह्यानि' (पृ. १६८)। इससे तो यह मालूम होता है कि यहाँ उद्योतकर किसी 'हेत्वाभासवात्तिक' नामक ग्रन्थका ही उल्लेख कर रहे हैं, जहाँ 'विरुद्धविशेषणविरुद्धविशेष्योंके' उदाहरण प्रदर्शित किये हैं और वहाँसे उन्हें देखनेका यहाँ संकेतमात्र किया है। 'हेत्वाभासवात्तिके' पदसे कोई कारिका या श्लोक प्रतीत नहीं होता। यदि कोई कारिका या श्लोक होता तो उसे उद्धृत भी किया जा सकता था। अतः 'हेत्वाभासवात्तिक' नामका कोई ग्रन्थ रहा हो, ऐसा उक्त उल्लेखसे स्पष्ट मालूम होता है।

इसी तरह उद्योतकरके निम्न उल्लेखसे 'हेतुवात्तिक' ग्रन्थके भी होनेकी सम्भावना होती है—'यद्यपि हेतुवात्तिकं बुवाणेनोक्तम्—सत्तिकासम्भवे षट्प्रतिषेधादेकद्विपदपर्युदासेन त्रिलक्षणे हेतुरिति। एतदप्ययुक्तम्.....' (पृ. १२८)। यहाँ हेतुवात्तिककारके जिन शब्दोंको उद्धृत किया है वे गद्यमें हैं। श्लोक या कारिकारूप नहीं हैं। अतः सम्भव है कि न्यायप्रवेशकी तरह 'हेतुवात्तिक' गद्यात्मक स्वतन्त्र रचना हो और जिसका कर्णक-गोमिने आदिशब्दसे संकेत भी किया हो। यह भी सम्भव है कि प्रमाणसमुच्चयके अनुमानपरिच्छेदकी स्वोपज्ञ वृत्तिके उक्त पद-वाक्यादि हों। और उनकी मूल कारिकाओंको हेत्वाभासवात्तिक एवं हेतुवात्तिक कहकर उल्लेख किया हो। फिर भी जबतक 'हेतुचक्र-डमरू' और प्रमाणसमुच्चयका 'अनुमानपरिच्छेद' दोनों सामने नहीं आते और दूसरे पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते, तबतक निश्चयपूर्वक अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। —लेखक।

मीमांसक शबरस्वामीके शबरभाष्यकी व्याख्या है, इन्होंने 'ऋजुविमला' नामकी पंजिका लिखी है। प्रभाकरके सिद्धान्तोंका विवरण करनेवाला इनका 'प्रकरणपंजिका' नामका बृहद् ग्रन्थ भी है। ये ईसाकी आठवीं शताब्दीके विद्वान् माने जाते हैं। न्यायदीपिकाकारने पृ. १९ पर इनके नामके साथ 'प्रकरणपंजिका' के कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं।

३. उदयन—ये न्यायदर्शनके प्रतिष्ठित विद्वानोंमें हैं। नैयायिकपरम्परामें ये 'आचार्य'के नामसे विशेष उल्लिखित हैं। जो स्थान बौद्धदर्शनमें धर्मकीर्त्ति और जैनदर्शनमें विद्यानन्दस्वामीको प्राप्त है वही स्थान न्यायदर्शनमें उदयनाचार्यका है। ये शास्त्रार्थी और प्रतिभाशाली विद्वान् थे। न्यायकुसुमांजलि, आत्मतत्त्वविवेक, लक्षणावली, प्रशस्तपादभाष्यकी टीका किरणावली और वाचस्पति मिश्रकी न्याय-वार्त्तिकतात्पर्यटीकापर लिखी गयी तात्पर्यपरिशुद्धि टीका, न्यायपरिशिष्ट नामकी न्यायसूत्रवृत्ति आदि इनके बनाये हुए ग्रन्थ हैं। इन्होंने अपनी लक्षणावली 'शक संवत् ९०६ (ई. ९८४) में समाप्त की है। अतः इनका अस्तित्वकाल दशवीं शताब्दी है। न्यायदीपिका (पृ. २१) में इनके नामोल्लेखके साथ 'न्यायकुसुमांजलि' (४-६) के 'तन्मे प्रमाणं शिवः' वाक्यको उद्धृत किया है और उदयनाचार्यको 'योगाग्रसर' लिखा है। अभिनव धर्मभूषण इनके न्यायकुसुमांजलि, किरणावली आदि ग्रन्थोंके अच्छे अध्येता ज्ञात होते हैं। न्यायदी. पृ. ११० पर किरणावली (पृ. २९७, ३००, ३०१) गत निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्तिका भी खण्डन किया गया है। यद्यपि किरणावली और न्यायदीपिकागत लक्षणोंमें कुछ शब्दभेद है। पर दोनोंकी रचनाको देखते हुए वे भिन्न ग्रन्थकारकी रचना प्रतीत नहीं होते। प्रत्युत किरणावलीकारकी ही वह रचना स्पष्टतः जान पड़ती है। दूसरी बात यह है कि अनौपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका मत माना गया है। वैशेषिकदर्शनसूत्रोपस्कार (पृ. ९०) में 'नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः' शब्दोंके साथ पहले पूर्व पक्षमें अनौपाधिकरूप व्याप्तिलक्षणकी आलोचना करके बादमें उसे ही सिद्धान्तमत स्थापित किया है। यहाँ 'नाप्यनौपाधिकः' पर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने 'आचार्यमतं दूषयन्नाह' लिखकर उसे आचार्य (उदयनाचार्य) का मत प्रकट किया है। मैं पहले कह आया हूँ कि उदयन आचार्यके नामसे भी उल्लेखित किये जाते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि अनौपाधिक—निरुपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति मानना उदयनाचार्यका सिद्धान्त है और उसीकी न्याय-दीपिकाकारने आलोचना की है। उपस्कार और किरणावलीगत व्याप्ति तथा उपाधिके लक्षणसम्बन्धी सन्दर्भ भी शब्दशः एक हैं, जिनसे टिप्पणकारके अभिप्रेत 'आचार्य' पदसे उदयनाचार्य ही स्पष्ट ज्ञात होते हैं। यद्यपि प्रशस्तपादभाष्यकी व्योमवती टीकाके रचयिता व्योमशिवाचार्य भी आचार्य कहे जाते हैं, परन्तु उन्होंने व्याप्तिका उक्त लक्षण स्वीकार नहीं किया। बल्कि उन्होंने सहचरित सम्बन्ध अथवा स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति माननेकी ओर ही संकेत किया है^१। उदयनसे पूर्ववर्ती वाचस्पति

१. 'तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वातीतेषु शकान्ततः ।

वर्षेण्वदयनश्चक्र सुबोधां लक्षणावलीम् ॥'—लक्षणा., पृ. १३ ।

२. व्योमवती टीका, पृ. ५६३, ५७८ ।

मिश्रने भी अनौपाधिक सम्बन्धको व्याप्ति न कहकर स्वाभाविक सम्बन्धको व्याप्ति कहा है^१।

४. वामन—इनका विशेष परिचय यथेष्ट प्रयत्न करनेपर भी मालूम नहीं हो सका। न्यायदीपिकामें उद्धृत वाक्यपरसे इतना ही मालूम होता है कि ये अच्छे ग्रन्थकार और प्रभावक विद्वान् रहे हैं। न्यायदीपिका पृ. १२४ पर इनके नामके उल्लेखपूर्वक इनके किसी ग्रन्थका 'न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्' वाक्य उद्धृत किया गया है।

अब जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। धर्मभूषणने निम्न जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंका उल्लेख किया है।

(क) ग्रन्थ—१. तत्त्वार्थसूत्र, २. आप्तमीमांसा, ३. महाभाष्य, ४. जेनेन्द्र-व्याकरण, ५. आप्तमीमांसाविवरण, ६. राजवार्त्तिक और राजवार्त्तिकभाष्य, ७. न्याय-विनिश्चय, ८. परोक्षामुख, ९. तत्त्वार्थश्लोवार्त्तिक तथा भाष्य, १०. प्रमाणपरीक्षा, ११. पत्रपरीक्षा, १२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और १३. प्रमाणनिर्णय।

(ख) ग्रन्थकार—१. स्वामी समन्तभद्र, २. अकलंकदेव, ३. कुमारनन्दि, ४. माणिक्यनन्दि और ५. स्याद्वादविद्यापति (वादिराज)।

तत्त्वार्थसूत्र—यह आचार्य गृद्धपिच्छ या उमास्वाति अथवा उमास्वामीकी अमर रचना है, जो थोड़े-से पाठभेदके साथ जैनपरम्पराके दोनों ही दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें समानरूपसे मान्य है और दोनों ही सम्प्रदायोंके विद्वानोंने इसपर अनेक बड़ी-बड़ी टीकाएँ लिखी हैं। उनमें आ. पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्त्तिक, विद्यानन्दका तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, श्रुतसागर-सूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति और श्वेताम्बर परम्परामें प्रसिद्ध तत्त्वार्थभाष्य ये पाँच टीकाएँ तत्त्वार्थकी विशाल, विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ हैं। आचार्यमहोदयने इस छोटी-सी दशाध्यायात्मक अनूठी कृतिमें समस्त जैन तत्त्वज्ञानको संक्षेपमें 'गागरमें सागर'की तरह भरकर अपने विशाल और सूक्ष्म ज्ञानभण्डारका परिचय दिया है। यही कारण है कि जैनपरम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका बहुत बड़ा महत्त्व है और उसका वही स्थान है जो हिन्दूसम्प्रदायमें गीताका है। इस ग्रन्थरत्नके रचयिता विक्रमकी पहली शताब्दीके विद्वान् हैं^२। न्यायदीपिकाकारने तत्त्वार्थसूत्रके अनेक सूत्रोंको न्याय-दीपिका (पृ. ४, ३४, ३६, ३८, ११३, १२२) में बड़ी श्रद्धाके साथ उल्लेखित किया है और उसे महाशास्त्र तक भी कहा है, जो उपयुक्त ही है। इतना ही नहीं, न्याय-दीपिकाको भव्य इमारत भी इसी प्रतिष्ठित तत्त्वार्थसूत्रके 'प्रमाणनयेरधिमः' सूत्रपर निर्मित हुई है।

आप्तमीमांसा—स्वामी समन्तभद्रकी उपलब्ध कृतियोंमें यह सबसे अधिक प्रसिद्ध और असाधारण कृति है। इसे 'देवागमस्तोत्र' भी कहते हैं। इसमें दश परिच्छेद और ११४ पद्य (कारिकाएँ) हैं। इसमें आप्त (सर्वज्ञ) की मीमांसा—परीक्षा की गई है,

१. न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, पृ. १६५, ३४५।

२. स्वामीसमन्तभद्र। पं. सुखलालजी इन्हें विक्रमकी तीसरीसे पाँचवीं शताब्दीका मानते हैं। —ज्ञानबिन्दु, प्रस्तावना।

जैसा कि उसके नामसे ही प्रकट है। अर्थात् इसमें स्याद्वादनायक अर्हत् तीर्थकरको सर्वज्ञ सिद्ध करके उनके स्याद्वाद (अनेकान्त) सिद्धान्तकी सयुक्तिक सुव्यवस्था की है और स्याद्वादविद्वेषी एकान्तवादियोंमें आसामासत्व (असर्वश्य) बतलाकर उनके एकान्त सिद्धान्तोंकी युक्तियोंके साथ बहुत ही मार्मिक आलोचना की है। जैनदर्शनके आधारभूत स्तम्भ-ग्रन्थोंमें आसमीमांसा पहला ग्रन्थ है। इसके ऊपर भट्ट अकलंकदेवने 'अष्टशती' विवरण (भाष्य), आ. विद्यानन्दने 'अष्टसहस्री' (आसमीमांसालंकार या देवागमालंकार) और वसुनन्दने 'देवागमवृत्ति' टीकाएँ लिखी हैं। ये तीनों टीकाएँ उपलब्ध और प्रकाशित हैं। पण्डित जयचन्दजीकृत इसकी एक टीका हिन्दी-भाषामें भी है। पं. जुगलकिशोरजी मुस्तारने इसकी दो और अनुपलब्ध टीकाओंकी सम्भावना की है^१। एक तो वह, जिसका संकेत आ. विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें 'अत्र शास्त्र-परिसमाप्तौ केचिद्विदं मंगलवचनमनुमन्यन्ते' इस वाक्यमें आये हुए 'केचित्' शब्दके द्वारा किया है। और दूसरी 'देवागमपद्यवार्त्तिकालंकार' है, जिसकी सम्भावना युक्त्यनुशासनटीका (पृ. ९४) के 'इति देवागमपद्यवार्त्तिकालंकारे निरूपितप्रायम्।' इस वाक्यमें आये हुए 'देवागमपद्यवार्त्तिकालंकारे' पदसे की है। परन्तु पहली टीकाके होनेकी सूचना तो कुछ ठीक मालूम होती है, क्योंकि आ. विद्यानन्दने भी वैसा संकेत किया है। लेकिन दूसरी टीकाके सद्भावका कोई आधार या उल्लेख अब तक प्राप्त नहीं हुआ। वास्तवमें बात यह है कि आ. विद्यानन्द 'देवागमपद्यवार्त्तिकालंकारे' पद-द्वारा अपनी पूर्वर्चित दो प्रसिद्ध टीकाओं—देवागमालंकार (अष्टसहस्री) और पद्य-वार्त्तिकालंकार (श्लोकवार्त्तिकालंकार) का उल्लेख करते हैं और उन्हें देखनेकी प्रेरणा करते हैं। पद्यका अर्थ श्लोक प्रसिद्ध ही है और अलंकार शब्दका सम्बन्ध दोनोंके साथ सम्भव होनेसे समस्यन्त एक वचनका प्रयोग भी असंगत नहीं है। अतः 'देवागमपद्यवार्त्तिकालंकार' नामकी कोई आसमीमांसाकी टीका रही है, यह बिना पुष्ट प्रमाणोंके नहीं कहा जा सकता। अभिनव धर्मभूषणने आसमीमांसाकी अनेक कारिकाएँ न्यायदीपिकामें बड़ी कृतज्ञताके साथ उद्धृत की हैं।

महाभाष्य—धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें निम्न शब्दोंके साथ महाभाष्यका उल्लेख किया है—

'तदुक्तं स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे—' पृ. ४१।

परन्तु आज यह ग्रन्थ उपलब्ध जैन साहित्यमें नहीं है। अतः विचारणीय है कि इस नामका कोई ग्रन्थ है या नहीं? यदि है तो उसकी उपलब्धि आदिका परिचय देना चाहिए। और यदि नहीं है तो आ. धर्मभूषणने किस आधारपर उसका उल्लेख किया है? इस सम्बन्धमें अपनी ओरसे कुछ विचार करनेके पहले मैं कहना चाहता हूँ कि इसके विषयमें जितना अधिक ऊहापोहके साथ सूक्ष्म विचार और अनुसन्धान मुस्तारसा. ने किया है^२ उतना शायद ही अबतक दूसरे विद्वान्ने किया हो। उन्होंने अपने 'स्वामीसमन्तभद्र' ग्रन्थ के ३१ पेजोंमें अनेक पहलुओंसे चिन्तन किया है और

१. स्वामीसमन्तभद्र, पृ. १९९, २००।

२. स्वामीसमन्तभद्र, पृ. २१२ से २४३।

वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि स्वामोसमन्तभद्र रचित महाभाष्य नामका कोई ग्रन्थ रहा जरूर है, पर उसके होनेके उल्लेख अब तक तेरहवीं शताब्दीके पहलेके नहीं मिलते हैं। जो मिलते हैं वे १३वीं, १४वीं और १५वीं शताब्दीके हैं। अतः इसके लिए प्राचीन साहित्यको टटोलना चाहिए। इस विषयमें हम इसी ग्रन्थ (पृ. १३४) में 'गन्धहस्ति महाभाष्य' शीर्षकके नीचे विशेष विचार कर आये हैं।

४. जेनेन्द्रव्याकरण—यह आचार्य पूज्यपादका, जिनके दूसरे नाम देवनन्दि और जिनेन्द्रबुद्धि हैं,^१ प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण व्याकरणग्रन्थ है^२। पं. नाथूरामजी प्रेमो-के शब्दोंमें यह 'पहला जैन व्याकरण' है। इस ग्रन्थकी जैनपरम्परामें बहुत प्रतिष्ठा रही है। भट्टाकलंकदेव आदि अनेक बड़े-बड़े आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें इसके सूत्रोंका बहुत उपयोग किया है। महाकवि धनंजय (नाममालाकर्ता) ने तो इसे 'अपश्चिम रत्न' (बेजोड़ रत्न) कहा है^३। इस ग्रन्थपर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। इस समय केवल निम्न चार टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. अभयनन्दिकृत महावृत्ति, २. प्रभाचन्द्र-कृत शब्दाम्भोजभास्कर, ३. आर्य श्रुतिकीर्तिकृत पंचवस्तुप्रक्रिया और ४. पं. महा-चन्द्रकृत लघुजेनेन्द्र। इस ग्रन्थके कर्ता आ० पूज्यपादका समय ईसाकी पाँचवीं और विक्रमकी छठी शताब्दी माना जाता है। जेनेन्द्रव्याकरणके अतिरिक्त इनकी—१. तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि), २. समाधितन्त्र, ३. इष्टोपदेश, ४. और ५. दशभक्ति (संस्कृत) ये कृतियाँ उपलब्ध हैं। सारसंग्रह, शब्दावतारन्यास, जेनेन्द्रन्यास और वैद्यकका कोई ग्रन्थ ये उनकी अनुपलब्ध रचनाएँ हैं, जिनके परवर्ती ग्रन्थों, शिलालेखों आदिमें उल्लेख मिलते हैं। अभिनव धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ. ११ में इस ग्रन्थके नामोल्लेखके बिना और पृ. १३ में नामोल्लेखपूर्वक दो सूत्र उद्धृत किये हैं।

आप्तमीमांसाविवरण—न्यायदीपिकाकारने न्यायदीपिका पृ. ११५ पर इसका नामोल्लेख किया है और उसे श्रीमदाचार्यपादका बतलाकर उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताको विस्तारसे जाननेकी प्रेरणा की है। यह आप्तमीमांसाविवरण आप्त-मीमांसापर लिखी गयी अकलंकदेवकी 'अष्टशती' नामक विवृति और आचार्य विद्या-नन्दरचित आप्तमीमांसासालंकृति—'अष्टसहस्री' के अतिरिक्त कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है और न अकलंकदेव तथा विद्यानन्दके सिवाय कोई 'श्रीमदाचार्यपाद' नामके आचार्य ही हैं। वसुनन्दिने भी यद्यपि 'आप्तमीमांसा' पर 'देवागमवृत्ति' टीका लिखी है परन्तु वह आप्तमीमांसाकी कारिकाओंका शब्दानुसारी अर्थस्फोट ही करती है—उसमें कपिलादिकोंकी आप्ताभासताका विस्तारसे वर्णन नहीं है। अतः न्यायदीपिकाकारको 'आप्तमीमांसाविवरण'से अष्टशती और अष्टसहस्री विवक्षित हैं। ये दोनों दार्शनिक टीकाकृतियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण और गूढ़ हैं। अष्टशती तो इतनी दुरूह और जटिल

१. 'यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।

श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदोयम्।'—श्रवण., शि. नं. ४० (४४)

२. इस ग्रन्थ और ग्रन्थकारके विशेष परिचयके लिए जैन साहित्य और इतिहासगत 'देवनन्दि और उनका जेनेन्द्रव्याकरण' निबन्ध तथा समाधितन्त्रकी प्रस्तावना देखें।

३. 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्। धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥'

है कि बिना अष्टसहस्रोंके उसके मर्मको समझना बहुत मुश्किल है। जैन दर्शनसाहित्यमें ही नहीं, समग्र भारतीय दर्शनसाहित्यमें भी इनकी जोड़का प्रायः विरला ही कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ या टीकाग्रन्थ हो।

राजवार्त्तिक और भाष्य—गौतमके न्यायसूत्रपर प्रसिद्ध नैयायिक उद्योतकरके 'न्यायवार्त्तिक' की तरह आ. उमास्वाति विरचित तत्त्वार्थसूत्रपर अकलंकदेवने गद्यात्मक 'तत्त्वार्थवार्त्तिक' नामक टीका लिखी है, जो राजवार्त्तिकके नामसे भी व्यवहृत होती है। और उसके वार्त्तिकोंपर उद्योतकरकी ही तरह स्वयं अकलंकदेवने भाष्य रचा है, जो 'तत्त्वार्थवार्त्तिकभाष्य' या 'राजवार्त्तिकभाष्य' कहा जाता है। यह भाष्य राजवार्त्तिकके प्रत्येक वार्त्तिकका विशद व्याख्यान है। इसकी भाषा बड़ी सरल और प्रसन्न है, जबकि प्रत्येक वार्त्तिक अत्यन्त गम्भीर और दुरूह है। एक ही जगह अकलंकदेवकी इस चेतश्चमत्कारिणी प्रतिभाकी विविधताको पाकर सहृदय पाठक साश्चर्य आनन्दविभोर हो उठता है और श्रद्धासे उसका मस्तक नत हो जाता है। अकलंकदेवने अपना यह राजवार्त्तिक आ. पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिको आधार बनाकर लिखा है, जो तत्त्वार्थसूत्रकी समग्र टीकाओंमें पहली टीका है। उन्होंने उसके अर्थ-गौरवपूर्ण प्रायः प्रत्येक वाक्यको राजवार्त्तिकका वार्त्तिक बनाया है। फिर भी राजवार्त्तिकमें सर्वार्थसिद्धिसे कुछ भी पुनरुक्ति एवं निरर्थकता मालूम नहीं होती। राजवार्त्तिककी यह विशेषता है कि वह प्रत्येक विषयको अन्तिम व्यवस्था अनेकान्तका आश्रय लेकर करता है। तत्त्वार्थसूत्रकी समस्त टीकाओंमें राजवार्त्तिक प्रधान टीका है। पं. मुखलालजीके शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि "राजवार्त्तिक गद्य, सरल और विस्तृत होनेसे तत्त्वार्थके सम्पूर्ण टीका-ग्रन्थोंकी गरज अकेला ही पूरी करता है।" वस्तुतः जैनदर्शनका बहुविध एवं प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिए केवल राजवार्त्तिकका अध्ययन पर्याप्त है। न्यायदीपिकाकारने न्या. दी. पृ. ३१ और ३५ पर राजवार्त्तिकका तथा पृ. ६ और ३२ पर उसके भाष्यका नामोल्लेखपूर्वक उनके वाक्य उद्धृत किये हैं।

न्यायविनिश्चय—यह अकलंकदेवकी उपलब्ध दार्शनिक कृतियोंमें अन्यतम कृति है। इसमें तीन प्रस्ताव (परिच्छेद) हैं और तीनों प्रस्तावोंको मिलाकर कुल ४८० कारिकाएँ हैं। पहला प्रत्यक्ष-प्रस्ताव है, जिसमें दर्शनान्तरीय प्रत्यक्षलक्षणोंकी आलोचनाके साथ जैनसम्मत प्रत्यक्ष-लक्षणका निरूपण किया है और प्रासंगिक कतिपय दूसरे विषयोंका भी विवेचन किया है। दूसरे अनुमान-प्रस्तावमें अनुमानका लक्षण, साधन, साधनाभास, साध्य, साध्याभास आदि अनुमानके परिकरका विवेचन है और तीसरे आगम-प्रस्तावमें प्रवचनका स्वरूप आदिका विशिष्ट निर्णय किया गया है। इस तरह न्यायविनिश्चयमें जैन न्यायकी प्रस्थापना की गई है। यह ग्रन्थ भी अकलंकदेवके दूसरे ग्रन्थोंकी ही तरह दुर्बोध और गम्भीर है। इसकी मात्र कारिकाओंपर स्याद्वाद-विद्यापति वादिराजसूरिकी न्यायविनिश्चयविवरण अथवा न्यायविनिश्चयालंकार नामकी वैदुष्यपूर्ण विशाल टीका है। अकलंकदेवकी इसपर स्वोपज्ञ विवृति भी है, क्योंकि लघ्वीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रहपर भी उनकी स्वोपज्ञ विवृतियाँ हैं। न्याय-विनिश्चय मूल अकलंकग्रन्थत्रयमें सुदृढ़तः हो चुका है। वादिराजसूरिकृत टीका भी

अब मुद्रित हो चुकी है। धर्मभूषणने इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ न्यायदीपिका पृ. २४ पर इसकी अर्धकारिका और पृ. ७० एक पूरी कारिका उद्धृत की है।

परीक्षामुख—यह आचार्य माणिक्यनन्दिकी असाधारण और अपूर्व कृति है तथा जैन न्यायका प्रथम सूत्रग्रन्थ है। यद्यपि अकलंकदेव जैन न्यायकी प्रस्थापना कर चुके थे और अनेक महत्त्वपूर्ण स्फुट पद्य-प्रकरण भी लिख चुके थे। परन्तु गौतमके न्यायसूत्र, दिग्नागके न्यायप्रवेश, न्यायमुख आदिकी तरह जैन न्यायको सूत्रबद्ध करने-वाला गद्य 'न्यायसूत्र' ग्रन्थ जैन परम्परा में अब तक नहीं बन पाया था। इस कमीकी पूर्तिको सर्वप्रथम आ. माणिक्यनन्दिने प्रस्तुत 'परीक्षामुख' लिखकर किया। माणिक्यनन्दिकी यह अकेली एक ही अमर रचना है, जो भारतीय न्यायसूत्रग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यह अपूर्व ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में निबद्ध तथा छह परिच्छेदों में विभक्त है। इसकी सूत्रसंख्या सब मिलाकर २०७ है। सूत्र बड़े सरल, सरस तथा नपे तुले हैं। साथमें गम्भीर, तलस्पर्शी और अर्थगौरवको लिए हुए हैं। आदि और अन्तमें दो पद्य हैं। अकलंकदेवके द्वारा प्रस्थापित जैन न्यायको इसमें बहुत ही सुन्दर ढंगसे ग्रथित किया गया है। लघु अनन्तवीर्यने तो इसे अकलंकके वचनरूप समुद्रको मथकर निकाला गया 'न्यायविद्यामृत'—न्यायविद्यारूप अमृत बतलाया है^१। इस ग्रन्थरत्नका महत्त्व इसीसे ख्यापित हो जाता है कि इसपर अनेक महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी गई हैं। आ. प्रभाचन्द्रने १२ हजार श्लोकप्रमाण 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामकी विशालकाय टीका लिखी है। इनके पश्चात् १२वीं शताब्दीके विद्वान् लघु अनन्तवीर्यने प्रसन्न-रचनाशैलीवाली 'प्रमेयरत्नमाला' टीका लिखी है। यह टीका है तो छोटी, पर इतनी विशद है कि पाठकको बिना कठिनाईके सहजमें ही मूलका अर्थबोध हो जाता है। इसकी शब्दरचनासे हेमचन्द्राचार्य भी प्रभावित हुए और उन्होंने अपनी प्रमाण-मीमांसा में इसका शब्दशः तथा अर्थशः अनुसरण किया है। न्यायदीपिकाकारने परीक्षामुखके अनेक सूत्रोंको नामनिर्देश और बिना नामनिर्देशके उद्धृत किया है। वस्तुतः धर्मभूषणने इस सूत्रग्रन्थका खूब उपयोग किया है। न्यायदीपिकाके आधार-भूत ग्रन्थों में परीक्षामुख विशेष उल्लेखनीय है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और भाष्य—विद्यानन्दने आ. उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र-पर कुमारिलके 'मीमांसाश्लोकवार्तिक और धर्मकीर्तिके 'प्रमाणवार्तिक' की तरह पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रचा है और उसके पद्यवार्तिकोंपर उन्होंने स्वयं गद्य में भाष्य लिखा है, जो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य और 'श्लोकवार्तिकभाष्य' नामोंसे कथित होता है। आचार्यप्रवर विद्यानन्दने इसमें अपनी दार्शनिक विद्याका पूरा ही खजाना खोलकर रख दिया है और प्रत्येकको उसका आनन्दरसास्वाद लेनेके लिए निःस्वार्थ आमन्त्रण दिया है। श्लोकवार्तिकके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक चले जाइये,

१. अकलंकके वचनोंसे 'परीक्षामुख' कैसे उद्धृत हुआ है, इसके लिए मेरा 'परीक्षामुखसूत्र और उसका उद्गम' शीर्षक लेख देखें।—'अनेकान्त' वर्ष ५ किरण ३-४ पृ. ११९-१२८। तथा यही ग्रन्थ पृ. ४१३।

२. 'अकलंकवचोऽम्भोधेरुदध्रे येन धीमता।

न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥'—प्रमेयर., पृ. २।

सर्वत्र तार्किकता और गहन विचारणा समव्याप्त है। उनके सूक्ष्म एवं विशाल पाण्डित्यकी प्रखर किरणें कहीं भीमांसादर्शनके नियोगभावनादिपर अपना तीक्ष्ण प्रकाश डाल रही हैं, तो कहीं न्यायदर्शनके निग्रहस्थानादिरूप प्रगाढ तमको निष्कासित कर रही हैं और कहीं बौद्ध दर्शनकी हिममय चट्टानोंको पिघला-पिघला कर बहा रही हैं। इस तरह श्लोकवार्तिकमें हमें विद्यानन्दके अनेकमुख पाण्डित्य और सूक्ष्मप्रज्ञाके दर्शन होते हैं। यही कारण है कि जैन तार्किकोंमें आचार्य विद्यानन्दका उन्नत स्थान है। श्लोकवार्तिकके अलावा विद्यानन्दमहोदय, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्तपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और युक्त्यनुशासनालंकार आदि दार्शनिक रचनाएँ इनकी बनाई हुई हैं। इनमें विद्यानन्दमहोदय, जो श्लोकवार्तिककी रचनासे भी पहलेकी^१ विशिष्ट रचना है और जिसके उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. २७२, ३८५) तथा अष्टसहस्री (पृ. २८९, २९०) में पाये जाते हैं, अनुपलब्ध है। शेषकी रचनाएँ उपलब्ध हैं और वे मुद्रित भी हो चुकी हैं। आ. विद्यानन्द अकलंकदेवके उत्तरकालीन और प्रभाचन्द्राचार्यके पूर्ववर्ती हैं। अतः इनका अस्तित्व-समय नवमी शताब्दी (ई. ७७५ से ८४०) है^२। अभिनव धर्मभूषणने न्यायदीपिकामें इनके श्लोकवार्तिक और भाष्यका कई जगह नामोल्लेख करके उनके वाक्योंको उद्धृत किया है।

प्रमाणपरीक्षा—यह विद्यानन्दकी ही अन्यतम कृति है। यह अकलंकदेवके प्रमाणसंग्रहादि प्रमाणविषयक प्रकरणोंका आश्रय लेकर रची गई है। इसका विशेष परिचय पहले (इसी ग्रन्थ, पृ. ३१८में) दिया जा चुका है। विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक^३ और अष्टसहस्री^४ की तरह इसमें भी प्रत्यभिज्ञानके^५ दो ही भेद गिनाये हैं, जबकि अकलंक^६ और माणिक्यनन्दिने^७ दो-से ज्यादा कहे हैं और यही मान्यता जैन परम्परामें प्रायः सर्वत्र प्रतिष्ठित हुई है। इससे मालूम होता है कि प्रत्यभिज्ञानके दो भेदोंकी मान्यता विद्यानन्दकी अपनी है। धर्मभूषणने पृ. १७ पर इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ उसकी एक कारिका उद्धृत की है।

पत्रपरीक्षा—यह भी आचार्य विद्यानन्दकी रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणोंकी समालोचनापूर्वक जैन दृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण दिया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवोंको ही अनुमानांग बतलाया है। न्यायदीपिका पृ. ८१ पर इस ग्रन्थका नामोल्लेख करके उससे अवयवोंके विचारको विस्तारपूर्वक जाननेकी सूचना की है।

१. पूर्ववर्तित्वके लिए 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक मेरा द्वितीय लेख देखें, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १०-११, पृ. ३८०। तथा यही ग्रन्थ पृ. ३०५।

२. आप्तप. प्र. पृ. ४७ तथा मही ग्रन्थ पृ. २९५।

३. 'तद्विषैकत्वसादृश्यगोचरत्वेन निश्चितम्'—त. श्लो. पृ. १९०।

४. 'तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्य'—अष्टस., पृ. २७९।

५. 'द्विविधं हि प्रत्यभिज्ञानं'—प्रमाणप., पृ. ४२।

६. लघीय., का. २१।

७. परीक्षामु., ३-५ से ३-१०।

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड—यह आ. माणिक्यनन्दिके 'परीक्षामुख' सूत्र-ग्रन्थपर रचा गया प्रभाचन्द्राचार्यका बृहत्काय टीकाग्रन्थ है। इसे लघु अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार) ने 'उदारचन्द्रिका' की उपमा दी है और अपनी कृति—प्रमेयरत्नमालाको उसके सामने जुगुनूके सदृश बतलाया है। इससे प्रमेयकमलमार्त्तण्डका महत्त्व ख्यापित होता है। निःसन्देह मार्त्तण्डके प्रदीप्त प्रकाशमें दर्शनान्तरोय प्रमेय स्फुटतया भासमान होते हैं। स्वतत्त्व, परतत्त्व और यथार्थता, अयथार्थताका निर्णय करनेमें कठिनाई नहीं मालूम होती। इस ग्रन्थके रचयिता आ. प्रभाचन्द्र ईसाकी १०वीं और ११वीं शताब्दी (९८० से १०६५ ई.) के विद्वान् माने जाते हैं^१। इनका विशेष परिचय पहले आ चुका है। धर्मभूषणने न्यायदीपिका पृ. ३० पर इस ग्रन्थका केवल नामोल्लेख और ५४ पर नामोल्लेखके साथ एक वाक्यको भी उद्धृत किया है।

प्रमाण-निर्णय—न्यायविनिश्चयविवरणटीकाके कर्त्ता आ. वादिराजसूरिका यह स्वतन्त्र तार्किक प्रकरणग्रन्थ है। इसमें प्रमाणलक्षणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्ष-निर्णय और आगमनिर्णय ये चार निर्णय (परिच्छेद) हैं, जिनके नामोंसे ही ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट हो जाता है। न्या. दी. पृ. ११ पर इस ग्रन्थके नामोल्लेखके साथ उसके एक वाक्यको उद्धृत किया है।

कारुण्यकलिका—न्यायदीपिकाकारने पृ. १११ पर इस ग्रन्थका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

'प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते'।

परन्तु बहुत प्रयत्न करनेपर भी हम यह नहीं जान सके कि यह ग्रन्थ जैन रचना है या जैनेतर। अथवा स्वयं ग्रन्थकारकी ही न्यायदीपिकाके अलावा यह अन्य दूसरी रचना है, क्योंकि अब तकके मुद्रित जैन और जैनेतर ग्रन्थोंकी प्राप्त सूचियोंमें यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। अतः ऐसा मालूम होता है कि यह या तो नष्ट हो चुका है या किसी लायब्रेरीमें असुरक्षित रूपमें पड़ा है। यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायब्रेरीमें है तो इसकी खोज होकर प्रकाशमें आना चाहिए। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अच्छा तर्क-ग्रन्थ मालूम होता है। न्यायदीपिकाकारके उल्लेखसे विदित होता है कि उसमें विस्तारसे उपाधिका निराकरण किया गया है। सम्भव है गदाधरके 'उपाधिवाद' ग्रन्थका भी इसमें खण्डन हो।

स्वामीसमन्तभद्र—ये वीरशासनके प्रभावक, सम्प्रसारक और खास युगके प्रवर्त्तक महान् आचार्य हुए हैं। सुप्रसिद्ध तार्किक भट्टाकलंकदेवने इन्हें 'कलिकालमें स्याद्वादरूपी पुण्योदधिके तीर्थका प्रभावक' बतलाया है^२। आचार्य जिनसेनने इनके वचनोंको भ. वीरके वचनतुल्य प्रकट किया है^३ और एक शिलालेखमें^४ तो भ. वीरके

१. न्यायकुमुद, द्वि. भा., प्र., पृ. ५८ तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रस्ता., पृ. ६७।

२. पं. महेन्द्रकुमारजीने जिनदेवकी एक कारुण्यकलिकाका उल्लेख जैनदर्शन (पृ. ६२८) में किया है। पर उसका न्यायदीपिकाके उल्लेखके सिवाय कोई आधार नहीं बताया।

३. अष्टशती, पृ. २।

४. हरिवंशपुराण, १-३०।

५. बेलूर ताल्लुकेका शिलालेख नं. १७।

तीर्थकी हजारगुणी वृद्धि करनेवाला भी कहा है। हरिभद्र और विद्यानन्द जैसे बड़े-बड़े आचार्योंने उन्हें 'वादिमुख्य', 'आद्यस्तुतिकार', 'स्याद्वादन्यायमार्गका प्रकाशक' आदि विशेषणों द्वारा स्मृत किया है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तरवर्ती आचार्योंने जितना गुणगान स्वामी समन्तभद्रका किया है उतना दूसरे आचार्योंका नहीं किया। वास्तवमें स्वामी समन्तभद्रने वीरशासनकी जो महान् सेवा की है वह जैनवाङ्मयके इतिहासमें सदा स्मरणीय एवं अमर रहेगी। आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र, रत्नकरण्डकश्रावकाचार और जिनशतक (जिनस्तुतिशतक) ये पाँच उपलब्ध कृतियाँ इनकी प्रसिद्ध हैं। तत्त्वानुशासन, जीवसिद्धि, प्रमाणपदार्थ, कर्मप्राभूतटीका और गन्धहस्तिमहाभाष्य इन ५ ग्रन्थोंके भी इनके द्वारा रचे जानेके उल्लेख ग्रन्थान्तरोंमें मिलते हैं^१। परन्तु अभी तक कोई उपलब्ध नहीं हुआ। गन्धहस्तिमहाभाष्य (महाभाष्य) के सम्बन्धमें मैं पहले विचार कर आया हूँ। स्वामी-समन्तभद्र बौद्ध विद्वान् नागार्जुन (१८१ ई.) के समकालीन या कुछ ही समय बादके और दिग्नाग (३४५-४२५ ई.) के पूर्ववर्ती विद्वान् हैं^२। अर्थात् इनका अस्तित्व-समय प्रायः ईसाकी दूसरी और तीसरी शताब्दी है। कुछ विद्वान् इन्हें दिग्नाग (४२५ ई.) और धर्मकीर्ति (६३५ ई.) के उत्तरकालीन अनुमानित करते हैं^३। अर्थात् ५वीं से ७वीं शताब्दी बतलाते हैं। इस सम्बन्धमें युक्तिपूर्ण विचार अन्यत्र किया गया है। अतः इस संक्षिप्त स्थानपर पुनः विचार करना आवश्यक नहीं है। न्यायदीपिकाकारने न्यायदीपिकामें अनेक जगह स्वामी समन्तभद्रका नामोल्लेख किया है और उनके प्रसिद्ध दो दार्शनिक स्तोत्रों—देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) और स्वयम्भूस्तोत्रसे अनेक कारिकाओंको उद्धृत किया है।

भट्टाकलंकदेव—ये 'जैनन्यायके प्रस्थापक' के रूपमें स्मृत किये जाते हैं। जैन-परम्पराके सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर तार्किक इनके द्वारा प्रतिष्ठित 'न्यायमार्ग' पर ही चले हैं। आगे जाकर तो इनका वह 'न्यायमार्ग' 'अकलंकन्याय'के नामसे प्रसिद्ध हो गया। तत्त्वार्थवातिक, अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय और प्रमाणसंग्रह आदि इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये प्रायः सभी तार्किक एवं दार्शनिक कृतियाँ हैं और तत्त्वार्थवात्तिकभाष्यको छोड़कर सभी गूढ़ एवं दुरवगाह हैं। अनन्तवीर्यादि टीकाकारोंने इनके पदोंकी व्याख्या करनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है। वस्तुतः अकलंकदेवका वाङ्मय अपनी स्वाभाविक जटिलताके कारण विद्वानोंके लिए आज भी दुर्गम और दुर्बोध बना हुआ है, जबकि उनपर टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। जैन साहित्यमें ही नहीं, बल्कि भारतीय दर्शनसाहित्यमें भी अकलंकदेवकी सर्व कृतियाँ

१. इन ग्रन्थोंके परिचयके लिए पं. जुगलकिशोर मुख्तारका 'स्वामीसमन्तभद्र' ग्रन्थ देखें।
२. 'नागार्जुन और स्वामीसमन्तभद्र' तथा 'स्वामीसमन्तभद्र और दिग्नाग' शीर्षक दो मेरे निबन्ध, 'अनेकान्त' वर्ष ७, किरण १-२ और वर्ष ५, कि. १२ तथा यही ग्रन्थ पृ. १०७ और पृ. ११२।
३. न्यायकुमुद, द्वि. भा. का प्राक्कषण और प्रस्तावना।
४. 'क्या स्वामीसमन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन हैं?' नामक मेरा लेख, जैनसिद्धान्त-भास्कर, भा. ११, किरण १। तथा यही ग्रन्थ पृ. १२५।

अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। इनकी कतिपय कृतियोंका कुछ परिचय पहले करा आये हैं। पं. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यने इनका अस्तित्वकाल अन्तःपरीक्षण आदि प्रमाणोंके आधारपर ईसाकी आठवीं शताब्दी (७२० से ७८० ई.) निर्धारित किया है^१। न्यायदीपिकामें धर्मभूषणने अनेक जगह इनके नामका उल्लेख किया है और तत्त्वार्थवार्तिक तथा न्यायविनिश्चयसे कुछ वाक्योंको उद्धृत किया है।

कुमारनन्दि भट्टारक—यद्यपि इनकी कोई रचना इस समय उपलब्ध नहीं है, इससे इनका विशेष परिचय कराना अशक्य है। फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि ये आ. विद्यानन्दके पूर्ववर्ती विद्वान् हैं और अच्छे तार्किक हुए हैं। विद्यानन्दने अपने प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इनका और इनके 'वादन्याय' का नामोल्लेख किया है तथा उन्हें 'वादन्याय-विचक्षण' (त. श्लो. वा. पू. २८०) बतलाते हुए उनके वादन्यायकी कुछ कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं। इससे इनकी उत्तरावधि तो विद्यानन्दका समय है अर्थात् ९वीं शताब्दी है। और अकलंकदेवके ये उत्तरकालीन हैं; क्योंकि अकलंकदेवके ग्रन्थोंपर इनका कोई प्रभाव ज्ञात नहीं होता। अतः अकलंकदेवका समय (८वीं शताब्दी) इनकी पूर्वावधि है। इस तरह ये ८वीं, ९वीं सदीके मध्यवर्ती विद्वान् जान पड़ते हैं। चन्द्रगिरि पर्वतपर उत्कीर्ण शिलालेख नं. २२७ (१३६) में इनका उल्लेख है, जो ९वीं शताब्दीका अनुमानित किया जाता है^२। इनका महत्त्वका 'वादन्याय' नामका तर्कग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, जिसके केवल उल्लेख (पत्रप. पू. ३ में) मिलते हैं। आ. धर्मभूषणने न्यायदी. पू. ६९ और ८२ पर 'तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः' कहकर इनके 'वादन्याय'-की एक कारिकाके पूर्वाह्न और उत्तरार्धको अलग-अलग उद्धृत किया है।

माणिक्यनन्दि—ये कुमारनन्दि भट्टारककी तरह नन्दिसंघके प्रमुख आचार्योंमें हैं। इनकी एकमात्र कृति परीक्षामुख है, जिसके सम्बन्धमें हम पहले प्रकाश डाल आये हैं। इनका समय १०वीं-११वीं शताब्दी सुनिश्चित है। न्यायदीपिकामें कई जगह इनका नामोल्लेख किया गया है। एक स्थान (पू. १२०) पर तो 'भगवान्' और 'भट्टारक' जैसे महनीय विशेषणों सहित इनके नामका उल्लेख करके उनके परीक्षामुखका सूत्र भी उद्धृत किया है^३।

स्याद्वादविद्यापति—यह आचार्य वादिराजसूरिकी विशिष्ट उपाधि थी, जो उनके स्याद्वादविद्याके अधिपतित्व—अगाध पाण्डित्यको प्रकट करती है। आ. वादिराज अपनी इस उपाधिसे इतने अभिन्न एवं तदात्म जान पड़ते हैं कि उनकी इस उपाधिसे ही पाठक वादिराजसूरिको जान लेते हैं। यही कारण है कि वादिराजने अपनेको न्यायविनिश्चयविवरणके सन्धिवाक्योंमें^४ 'स्याद्वादविद्यापति' उपाधि द्वारा

१. अकलंकग्रन्थत्रय, प्रस्तावना, पू. ३२।

२. जैनशिलालेखसं., पू. १५२, ३२१।

३. इनका विशेष परिचय इसी ग्रन्थ (पू. ४०५ से ४३०) में देखें।

४. इसका एक उदाहरण इस प्रकार है—'इत्याचार्यस्याद्वादविद्यापतिविरचिते न्यायविनिश्चय-कारिकाविवरणे प्रत्यक्षप्रस्तावः प्रथमः।'—लि. पत्र ३०६, मु. ५४५।

हो अभिहित किया हैं। न्यायदीपिकाकारने भी न्यायदीपिका पृ. २४ और ७० पर इसी उपाधिसे उनका उल्लेख किया है। पृ. २४ पर तो इसी नामसे उनके एक वाक्यको भी उद्धृत किया है। मालूम होता है कि 'न्यायविनिश्चय' जैसे दुरूह तर्कग्रन्थपर अपना बृहत्काय विवरण लिखनेके उपलक्ष्यमें ही इन्होंने इनके गुरुजनों अथवा अन्य विद्वानोंने उक्त गौरवपूर्ण 'स्याद्वादविद्यापति'की उच्च उपाधिसे सम्मानित किया होगा। वादिराजसूरि केवल अपने समयके महान् तार्किक ही नहीं थे, बल्कि वे सच्चे अर्हद्भूक्त, आज्ञाप्रधानी, अद्वितीय वैयाकरण और अद्वितीय कवि भी थे^१। न्यायविनिश्चय-विवरण, पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, प्रमाणनिर्णय और एकीभावस्तोत्र आदि इनकी कृतियां हैं। इन्होंने अपना पार्श्वनाथचरित शकसंवत् ९४७ (१०२५ ई.) में समाप्त किया है। अतः ये ईसाकी ११वीं सदीके पूर्वार्द्धके विद्वान् हैं।



१. उन्होंने स्वयं इस बातको प्रकट किया है—

'वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनु तार्किकसिंहः ।

वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भग्यसहायः ॥'—एकीभावस्तोत्र, श्लो. २६ ।

नरेन्द्रसेन और उनकी प्रमाणप्रमेयकलिका

धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।
ऋषभादि-महावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

—अकलंक, लघीयस्त्रय ११॥

नरेन्द्रसेन

यहां 'प्रमाणप्रमेयकलिका' के कर्ता नरेन्द्रसेनके सम्बन्धमें विचार किया जाता है। 'प्रमाणप्रमेयकलिका' के अन्तमें जो समाप्ति-पुष्पिका-वाक्य पाया जाता है वह इस प्रकार है—

‘इति श्रीनरेन्द्रसेनविरचिता प्रमाणप्रमेयकलिका समाप्ता ।’

इस पुष्पिका-वाक्यमें इतना ही उल्लेख है कि प्रमाणप्रमेयकलिकाके रचना-कार श्री नरेन्द्रसेन हैं। इसके अतिरिक्त उससे कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। विचारणीय है कि ये नरेन्द्रसेन कब हुए हैं, उनके गुरु-शिष्यादि कौन हैं, उनका व्यक्तित्व और कार्य क्या है? यह प्रश्न तब और अधिक विचारणीय बन जाता है, जब हम देखते हैं कि जैन साहित्यमें अनेक नरेन्द्रसेन हुए हैं। अतएव यहाँ उन विषयों-छान-बीन करके प्रस्तुत नरेन्द्रसेनका विमर्श आवश्यक है। नीचे वही विमर्श प्रस्तुत है।

नरेन्द्रसेन नामके अनेक विद्वान् :

१. एक नरेन्द्रसेन तो वे हैं, जिनका उल्लेख आचार्य वादिराजने किया है। वह उल्लेख निम्न प्रकार है :

विद्यानन्दमनन्तवीर्य-मुखदं श्रीपूज्यपादं दया-
पालं सन्मतिसागरं कनकसेनाराध्यमभ्युद्यमी ।
शुद्धचक्षीतिनरेन्द्रसेनमकलंकं वादिराजं सदा
श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रमतुलं वन्दे जिनेन्द्रं मुदा ॥

—न्यायवि. वि., अन्तिम प्रशस्ति, श्लोक २ ।

इन नरेन्द्रसेनके बारेमें इस प्रशस्ति-पद्य या दूसरे साधनोंसे कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। वादिराजके इस उल्लेखपरसे इतना ही ज्ञात होता है कि ये नरेन्द्रसेन उनके पूर्ववर्ती हैं और वे काफी प्रभावशाली रहे हैं। आश्चर्य नहीं कि वादिराज उनसे उपकृत भी हुए हों और इसलिए उन्होंने विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, पूज्यभद्र, दयापाल, सन्मतिसागर, कनकसेन, अकलंक और स्वामी समन्तभद्र जैसे समर्थ आचार्योंके साथ उनका नामोल्लेख करते हुए उनकी वन्दना की है और उन्हें निर्दोष नीति (चारित्र) का पालक कहा है। वादिराजका समय शकसंवत् ९४७ (ई. १०२५) है। अतः ये नरेन्द्रसेन शकसं. ९४७ से पूर्व हो गये हैं।

२. दूसरे नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनकी गुणस्तुति मल्लिषेण सूरिने 'नाग-कुमारचरित' की अन्तिम प्रशस्तिमें इस प्रकार की है :

१. पार्श्वनाथचरितकी अन्तिम प्रशस्ति ।

तस्यानुजश्चारुचरित्रवृत्तिः प्रख्यातकीर्तिर्भुवि पुण्यमूर्तिः ।

नरेन्द्रसेनो जितवादिसेनो विज्ञाततत्त्वो जितकामसूत्रः ॥४॥

मल्लिषेणने इन नरेन्द्रसेनको यहाँ जिनसेनका अनुज बतलाया है और उन्हें उज्ज्वल चरित्रका धारक, प्रख्यातकीर्ति, पुण्यमूर्ति, वादिविजेता, तत्त्वज्ञ एवं कामविजयीके रूपमें वर्णित किया है। इसी प्रशस्तिके पाँचवें पद्यमें^१ उन्होंने अपनेको उनका शिष्य भी प्रकट किया है। भारतीकल्प, कामचाण्डालीकल्प, ज्वालिनीकल्प, भैरवपद्मावतीकल्प सटीक और महापुराण इन ग्रन्थोंकी भी इन्होंने रचना की है^२ और इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें इन्होंने अपनेको कनकसेनका^३ प्रशिष्य और जिनसेनका शिष्य बतलाया है^४। असम्भव नहीं कि जिनसेन और उनके अनुज नरेन्द्रसेन दोनों मल्लिषेणके गुरु रहे हों—दोनोंसे इन्होंने भिन्न-भिन्न विषयों या एक ही विषयका अध्ययन किया हो। मल्लिषेण सकलागमवेदो, मन्त्रवादमें निपुण और उभय (प्राकृत-संस्कृत) भाषाविज्ञ थे। महापुराणकी प्रशस्तिमें इन्होंने अपना समय शकसंवत् ९६९ (ई. १०४७) दिया है। इससे वादिराज और मल्लिषेण दोनों समकालीन विद्वान् जान पड़ते हैं—उनके समयमें सिर्फ़ बाईस वर्षका अन्तर है। अतः मेरा अनुमान है कि जिन नरेन्द्रसेनका उल्लेख वादिराजने किया है उन्हीं नरेन्द्रसेनका मल्लिषेणने किया है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो प्रथम नं. के नरेन्द्रसेन और ये द्वितीय नं. के नरेन्द्रसेन दोनों अभिन्न ही हैं—भिन्न नहीं हैं।

३. तीसरे नरेन्द्रसेन 'सिद्धान्तसारसंग्रह' और 'प्रतिष्ठादीपक'के कर्ता हैं, जो अपनेको इन ग्रन्थोंकी अन्तिम समाप्ति-पुष्पिकाओंमें 'पण्डिताचार्य' की उपाधिसे भूषित प्रकट करते हैं।^५ इनके उल्लेख निम्न प्रकार हैं :

श्रीवीरसेनस्य गुणादिसेनो जातः सुशिष्यो गुणिनां विशेष्यः ।

शिष्यस्तदीयोऽजनि चारुचित्तः सदृष्टिचित्तोऽत्र नरेन्द्रसेनः ॥

आदुष्पमा-निकटवर्तिनि कालयोगे नष्टे जिनेन्द्रशिववर्त्मनि यो बभूव ।

आचार्यनामनिरतोऽत्र नरेन्द्रसेनस्तेनेदमागमवचो विशदं निबद्धम् ॥

—सिद्धान्तसा., प्रश., श्लोक ९३, ९५ ।

१. तच्छिष्यो विबुधाग्रणीर्गुणनिधिः श्रीमल्लिषेणाह्वयः ।

संजातः सकलागमेषु निपुणो वाग्देवतालङ्कृतिः ॥५॥

२. प्रशस्तिसंग्रह, प्रस्तावना, पृ. ६१ (वीरसेवामन्दिर, दिल्ली संस्करण) ।

३. वादिराजने भी एक कनकसेनका उल्लेख किया है, जो ऊपर आ चुका है। जान पड़ता है कि ये कनकसेन और वादिराज-द्वारा उल्लिखित कनकसेन दोनों एक हैं।

४. इन ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ अथवा उक्त प्रशस्तिसंग्रह, पृ. १३४ ।

५. (क) 'इति श्रीसिद्धान्तसारसंग्रहे पण्डिताचार्यनरेन्द्रसेनाचार्यविरचिते द्वादशोऽध्यायः । समाप्तोऽयं सिद्धान्तसारसंग्रहः ।'

—सि. सा. सं., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर संस्करण ।

(ख) 'इति श्रीपण्डिताचार्यश्रीनरेन्द्रसेनाचार्यविरचितः प्रतिष्ठादीपकः ।'

—उपर्युक्त सि. सा. सं., प्रस्ता., पृ. ११ ।

इन उल्लेखोंमें इन नरेन्द्रसेनने अपनेको वीरसेनका प्रशिष्य और गुणसेनका शिष्य बतलाया है। पर इन्होंने अपने समयका कहीं कोई निर्देश नहीं किया। हाँ, जयसेनके धर्मरत्नाकरके आधारपर इनका अस्तित्व-काल विक्रमकी १२वीं शताब्दी (११५५-११८०) समझा जाता है^१, क्योंकि जयसेनके धर्मरत्नाकरकी प्रशस्तिमें दी गयी गुर्वावली तथा नरेन्द्रसेनके सिद्धान्तसारसंग्रहकी प्रशस्तिमें उल्लिखित गुर्वावली दोनों प्रायः समान हैं। और उनसे ज्ञात होता है कि ये दोनों आचार्य एक ही गुर्जरम्परामें हुए हैं और नरेन्द्रसेन जयसेनकी चौथी पीढ़ीके विद्वान् हैं। वे दोनों गुर्वावली यहाँ दी जाती हैं :

धर्मरत्नाकरमें उल्लिखित गुर्वावली^३ —

धर्मसेन
|
शान्तिषेण
|
गोपसेन
|
भावसेन
|
जयसेन

सिद्धान्तसारसंग्रहमें दी गयी गुर्वावली^४ —

धर्मसेन
|
शान्तिषेण
|
गोपसेन
|
भावसेन
|
जयसेन
|
ब्रह्मसेन
|
वीरसेन
|
गुणसेन
|
नरेन्द्रसेन

१. प्रश. सं., प्रस्ता., पृ. ५३ तथा सि. सा., सं. प्रस्ता., पृ. ९।

२. जयसेनने धर्मरत्नाकरका रचना-काल इसी ग्रन्थमें निम्न प्रकार दिया है—

बाणैन्द्रिय-व्योम-सोम-मिते (१०५५) संवत्सरे शुभे ।

ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सब(क)लीकरहाटके ॥

३. प्रशस्तिसं., पृ. ३।

४. वही, पृ. १०३, १०४।

अतः जयसेनकी चौथी पीढ़ीमें होनेवाले ये नरेन्द्रसेन यदि जयसेनसे, जिनका समय वि. सं. १०५५ निश्चित है, १००-१२५ सौ-सवासौ वर्ष बाद होते हैं तो इन नरेन्द्रसेनका समय वि. सं. ११५५-११८० के लगभग सिद्ध होता है। ये नरेन्द्रसेन मेदार्य (मेतार्य) नामके दसवें गणधरके नामपर प्रसिद्ध मेदपाट—मेवाड़ भूमिके अन्तर्गत 'लाडवागड' प्रदेशसे निकले 'लाडवागडसंघ'के विद्वान् थे^१ और उपर्युक्त दोनों नरेन्द्रसेनोंसे भिन्न एवं उत्तरवर्ती हैं।

४. चौथे नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख काष्ठासंघके 'लाडवागडगच्छ'की पट्टावलीमें^२ पाया जाता है और जिन्होंने अल्प-विद्या-जन्य गर्वसे युक्त 'आशाधर' को सूत्र-विरुद्ध प्ररूपणा करनेके कारण अपने गच्छसे निकाल दिया था। ये नरेन्द्रसेन पद्मसेनके शिष्य थे। पट्टावलीमें गुरु-शिष्योंकी एक लम्बी नामावली दी गयी है। इसमें प्रकृतसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ गुरु-शिष्योंके क्रमबद्ध नाम इस प्रकार हैं :

महेन्द्रसेन (त्रिषष्टिपुराणपुरुषचरितकर्ता)
 |
 अनन्तकीर्ति (चतुर्दशमतीर्थंकरचरितकर्ता)
 |
 विजयसेन (चन्द्रतपस्वी-विजेता)
 |
 चित्रसेन (पुन्नाटगच्छके स्थानमें लाडवागडगच्छके जन्मदाता)
 |
 पद्मसेन
 |
 नरेन्द्रसेन

इस पट्टावलीसे ज्ञात होता है कि ये पद्मसेन-शिष्य नरेन्द्रसेन प्रभावशाली विद्वान् थे। इनके द्वारा बहिष्कृत किये गये आशाधरको^३ 'श्रेणिगच्छ'में^४ जाकर आश्रय लेना पड़ा था। परन्तु इसमें किसी भी विद्वान्के समयका उल्लेख न होनेसे उसपरसे इन नरेन्द्रसेनके समयका निर्धारण करना बड़ा कठिन है। पर हाँ, आगे हम 'रत्नत्रयपूजा' के कर्ता नरेन्द्रसेनका उल्लेख करेंगे, उसपरसे इनके समयपर कुछ प्रकाश पड़ता है। पद्मसेन-शिष्य नरेन्द्रसेन ऊपर चर्चित हुए प्रथम और द्वितीय

१. प्रशस्तिसं., पृ. १०३, १०४।

२. 'तदन्वये श्रीमत्लाटवर्गट-प्रभाव-श्रीपद्मसेनदेवानां तस्य शिष्यश्रीनरेन्द्रसेनदेवैः किंचिद-विद्यागर्वत असूत्रप्ररूपणादाशाधरः स्वगच्छान्निःसारितः कदाग्रहप्रस्तं श्रेणिगच्छमशिष्यता'

—भट्टारकसम्प्रदाय, पृ. २५२ पर उद्धृत पट्टा.।

३. ये आशाधर सागारधर्माभूत आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके कर्ता पण्डित आशाधर प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वे गृहस्थ थे। इन्हें तो मुनि या भट्टारक होना चाहिए, जो 'लाडवागडगच्छ' से निष्कासित किये जानेपर एक दूसरे 'कदाग्रही श्रेणिगच्छ' में जा मिले थे। यह ध्यान रहे कि गण-गच्छादि मुनियों और भट्टारकोंमें होते थे, गृहस्थोंमें नहीं।—लेखक।

४. इस गच्छके बारेमें खोज होना चाहिए।

नम्बरके जिनसेन-अनुज नरेन्द्रसेन तथा तीसरे नम्बरके गुणसेन-शिष्य नरेन्द्रसेनसे स्पष्टतः भिन्न और उनके उत्तरकालीन हैं ।

५. पाँचवें नरेन्द्रसेन वे हैं, जिनका उल्लेख 'वीतरागस्तोत्र' में उसके कर्ता द्वारा हुआ है । इस स्तोत्रमें पद्मसेनका भी उल्लेख है और ये दोनों विद्वान् स्तोत्रकर्ता-के द्वारा गुरुरूपसे स्मृत हुए जान पड़ते हैं । श्रद्धेय पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने इस स्तोत्रके आठवें पद्यमें आये हुए 'कल्याणकीर्ति-रचिताऽऽलय-कल्पवृक्षम्' पदपरसे उसे कल्याणकीर्तिकी रचना अनुमानित किया है । स्तोत्रमें उल्लिखित ये पद्मसेन और नरेन्द्रसेन उपर्युक्त 'लाडवागडगच्छ' की पट्टावलीमें गुरु-शिष्यके रूपमें वर्णित पद्मसेन और नरेन्द्रसेन ही मालूम होते हैं । यदि यह सम्भावना ठीक है, तो चौथे और पाँचवें नम्बरके नरेन्द्रसेन एक ही हैं—पृथक् नहीं हैं ।

६. छठे नरेन्द्रसेन 'रत्नत्रयपूजा' (संस्कृत) के कर्ता हैं^३, जिन्होंने इसी पूजाके पुष्पिका-वाक्योंमें 'श्रीलाडवागडोयपण्डिताचार्यनरेन्द्रसेन'के रूपमें अपना उल्लेख किया है । इसका एक पुष्पिका-वाक्य यह है—

'इति श्रीलाडवागडोयपण्डिताचार्यश्रीमन्नरेन्द्रसेन-विरचिते रत्नत्रयपूजाविधाने दर्शनपूजा समाप्ता ।'

सिद्धान्तसारसंग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेनकी भी 'पण्डिताचार्य' उपाधि हम ऊपर देख चुके हैं और ये रत्नत्रयपूजाके कर्ता नरेन्द्रसेन भी अपनेको 'पण्डिताचार्य' प्रकट करते हैं । तथा ये दोनों ही विद्वान् 'लाडवागडगच्छ'में हुए हैं । इससे इन दोनोंकी एकताकी भ्रान्ति हो सकती है । पर ये दोनों विद्वान् एक नहीं हैं । सिद्धान्तसारसंग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेनने अपनी गुरुपरम्परा स्पष्ट दी है और गुणसेनको उन्होंने अपना गुरु बतलाया है । परन्तु रत्नत्रयपूजाके कर्ताने न अपनी गुरुपरम्परा दी है और न गुणसेनको अपना गुरु बतलाया है । दोनोंके अभिन्न होनेकी हालतमें दोनोंकी गुरु-परम्परा एक होनी चाहिए । यथार्थमें रत्नत्रयपूजाके कर्ता नरेन्द्रसेन सिद्धान्तसारसंग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेनसे काफी उत्तरवर्ती हैं और इन्हें पद्मसेनका शिष्य तथा चौथे एवं पाँचवें नम्बरके नरेन्द्रसेनोंसे अभिन्न होना चाहिए । ये दोनों नरेन्द्रसेन एक ही 'लाडवागडगच्छ' में और एक ही कालमें हुए हैं । नरेन्द्रसेन पद्मसेनके शिष्य थे और उनके अन्वयमें हुए, किन्तु उनके पट्टाधिकारी त्रिभुवनकीर्ति थे^४ और त्रिभुवनकीर्तिके पट्टपर धर्मकीर्ति बैठे थे^५ । इन धर्मकीर्तिके उपदेशसे वि. सं. १४३१ में केशरियाजीके एक मन्दिरकी प्रतिष्ठा हुई थी^६ तथा ये धर्मकीर्ति पद्मसेनकी दूसरी पीढ़ीमें हुए हैं । अतः धर्मकीर्तिके समय वि. सं. १४३१ में-से लगभग ५० वर्ष कम कर दिये

१. श्रीजैनसूरि-विनत-क्रम-पद्मसेनं हेला-विनिर्दलित-मोह-नरेन्द्रसेनम् ।

—अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ६-७, पृ. २३३ ।

२. वही अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ६-७, पृ. २३३ ।

३. भ. संप्र., पृ. २५३, लेखांक ६३३ ।

४. भ. संप्र., पृष्ठ २५३, लेखांक, ६३३ ।

५, ६, ७. भ. संप्र., पृष्ठ २५३, लेखांक, ६३५, ६३६, ६३८ ।

जानेपर पद्मसेनका समय वि. सं. १३८१ सम्भावित होता है और प्रायः यही काल उनके शिष्य नरेन्द्रसेनका बैठता है। अतः सिद्धान्तसारसंग्रहके कर्ता नरेन्द्रसेन (वि. सं. ११५५-११८०) से २००-२२५ वर्ष बाद होनेवाले 'रत्नत्रयपूजा' के कर्ता नरेन्द्रसेन (वि. सं. १३८१) उनसे बिल्कुल पृथक् और उत्तरवर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं। 'पण्डिताचार्य'की उपाधि उनके भिन्न रहनेपर भी दोनोंकी सम्भव है। उससे उनकी अनेकतामें कोई बाधा नहीं आती। फलितार्थ यह हुआ कि चौथे, पाँचवें और छठे ये तीनों नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं और पहले, दूसरे एवं तीसरे नरेन्द्रसेनोंसे वे भिन्न हैं।

७. सातवें नरेन्द्रसेन वे हैं जो शूरस्थ (सेन) गणके पुष्कर-गच्छकी गुरुपरम्परा-में छत्रसेन (वि. सं. १७५४) के पट्टाधिकारी हुए थे^१ और जिन्होंने शक संवत् १६५२ (वि. सं. १७८७) में कलमेस्वर (नागपुर)के एक जिनमन्दिरमें 'ज्ञानयन्त्र'की प्रतिष्ठा करवायी थी^२।

इस तरह विभिन्न नरेन्द्रसेनोंके ये सात उल्लेख हैं, जो जैन साहित्यमें अनुसन्धान करनेपर उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त और कोई उल्लेख अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। हम ऊपर कह आये हैं कि पहले और दूसरे (जिनसेन-अनुज) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं, तीसरे (गुणसेन-शिष्य) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं, चौथे, पाँचवें और छठे (पद्मसेन-शिष्य) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं, तथा सातवें (छत्रसेन-शिष्य) नरेन्द्रसेन एक व्यक्ति हैं। इस प्रकार पृथक् एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखनेवाले नरेन्द्रसेन नामके चार विद्वान् हमारे परिचयमें आते हैं और जो विभिन्न समयोंमें पाये जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता नरेन्द्रसेन :

उक्त नरेन्द्रसेनोंमें प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिकाके कर्ता सातवें नरेन्द्रसेन जान पड़ते हैं। इसमें ग्रन्थका अन्तःपरीक्षण विशेष साक्षी है। उसपरसे यह जाना जाता है कि इसके कर्ता अर्वाचीन हैं और वे तर्कशास्त्रकुशल छत्रसेनके शिष्य सातवें नम्बरके नरेन्द्रसेन ही सम्भव हैं। 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा'में, जो एक सुन्दर संस्कृत-रचना है और जिसमें नरेन्द्रसेनकी गुणस्तुति एवं यशोगान किया गया है, इनके गुरु छत्रसेनको

१. 'श्रीमज्जैनमते पुरन्दरनुते श्रीमूलसंघे वरे
श्रीशूरस्थगणे प्रतापसहिते सद्भूषणवृन्दस्तुते ।
गच्छे पुष्करनामके समभवत् श्रीसीमसेनो गुरुः
तत्पट्टे जिनसेनसन्मतिरभूत् धर्माभूतादेशकः ॥१॥
तज्जोऽभूद्धि समन्तभद्रगुणवत् शास्त्रार्थपारंगतः
तत्पट्टोदयतर्कशास्त्रकुशलो ध्यानप्रमोदान्वितः ।
सद्विद्यामृतवर्षणैकजलदः श्रीछत्रसेनो गुरुः
तत्पट्टे हि नरेन्द्रसेनचरणौ संपूजयेऽहं मुदा ॥२॥'

—नरेन्द्रसेनगुरुपूजा, उद्धृत भ. संप्र., पृ. २० ।

२. ज्ञानयन्त्र-लेख, उद्धृत भ. संप्र., पृ. २०, लेखांक ६४ ।

‘तर्कशास्त्रकुशल’ तथा दादागुरु समन्तभद्रको ‘शास्त्रार्थपारंगत’ कहा गया है^१। इससे विदित होता है कि ये छत्रसेन-शिष्य एवं समन्तभद्र-प्रशिष्य नरेन्द्रसेन भी तर्कशास्त्री तथा ‘शास्त्रार्थ-निपुण’ अवश्य रहे होंगे। हमारी इस सम्भावनाकी पुष्टि इनके एक शिष्य अर्जुनसुत सोयरा-द्वारा शक संवत् १६७३ (वि. सं. १८०८) में रचे गये, “कैलास-छप्पय”से हो जाती है^२, जिसमें अर्जुनसुत सोयराने नरेन्द्रसेनको ‘वादविजेता’ (शास्त्रार्थी) और सूर्यके समान ‘तेजस्वी’ बतलाया है^३। प्रमाणप्रमेयकलिका इन्हीं छत्रसेन-शिष्य नरेन्द्रसेनकी रचना होनी चाहिए।

नरेन्द्रसेनकी गुरु-शिष्य-परम्परा :

(१) गुरु-परम्परा :

सूरतके आदिनाथ चैत्यालयमें रहते हुए वि. सं. १७९० में इन नरेन्द्रसेनके द्वारा प्रतिलिपि की गयी ‘यशोधरचरित’ की प्रतिमें तथा ‘नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा’ में इनकी गुरु-परम्परा निम्न प्रकार पायी जाती है^४—

सोमसेन (अभिनव सोमसेन)
|
जिनसेन
|
समन्तभद्र
|
छत्रसेन
|
नरेन्द्रसेन

काष्ठासंघ-मन्दिर, अंजनगाँवकी बिरुदावलीमें^५ जो विस्तृत गुरुपरम्परा मिलती है उसमें उक्त नामोंके अतिरिक्त सोमसेनसे पूर्व गुणभद्र, वीरसेन, श्रुतवीर, माणिक्यसेन, गुणसेन, लक्ष्मीसेन, सोमसेन (प्रथम), माणिक्यसेन (द्वितीय), गुणभद्र (द्वितीय)के भी नाम दिये गये हैं और उक्त सोमसेनका ‘अभिनव सोमसेन’के नामसे उल्लेख है। बिरुदावलीमें नरेन्द्रसेनके बाद उनके पट्टपर बैठनेवाले शान्तिसेनका भी निर्देश है। इन तीनों आधारोंसे सिद्ध है कि इन नरेन्द्रसेनके साक्षात् गुरु छत्रसेन और दादागुरु समन्तभद्र थे।

(२) शिष्य-परम्परा :

इनके दो शिष्योंके भी नाम मिलते हैं। एक तो उपर्युल्लिखित शान्तिसेन

१. भ. संप्र. पृ. २०, लेखांक ६६।

२, ३. ‘तस पट्टे सुखकारनाम भट्टारक जानो।

नरेन्द्रसेन पट्टधार तेजे मार्तण्ड बखानो॥

जीती वाद पवित्र नगर चंपापुर माहे।

करियो जिनप्रासाद ध्वजा गगने जह सोहै॥२६॥’—भ. संप्र. पृ. २१, लेखांक ६९।

४. भ. संप्र. पृ. २०, लेखांक ६५ तथा ६६।

५. वही, पृ. २३, लेखांक ७६।

हैं, जो उनके पट्टाधिकारी हुए थे^१। और दूसरे अर्जुनमुत सोयरा हैं, जिन्होंने 'कैलास-छप्पय' बनाया है और जिसमें उन्होंने अपने गुरु नरेन्द्रसेनकी चम्पापुर-यात्राका भी वर्णन किया है^२। ये अर्जुनमुत सोयरा गृहस्थ मालूम होते हैं। किन्तु शान्तिसेन उनके भट्टारक-शिष्य थे। 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' के कर्ता यदि इन दोनोंसे भिन्न हैं, तो नरेन्द्रसेनके एक तीसरे भी शिष्य रहे, जिन्होंने उक्त पूजा लिखी है। शान्तिसेनकी शिष्या शिखरश्री नामकी आर्यिका थीं, जिनका उल्लेख इन्हीं आर्यिकाके शिष्य बनारसीदासने सं. १८१६ में लिखी 'हरिबंश-रास' की प्रतिमें किया है^३।

नरेन्द्रसेनका समय :

नरेन्द्रसेनका समय प्रायः सुनिश्चित है। इन्होंने वि. सं. १७८७में पूर्वोल्लिखित 'ज्ञानयन्त्र'की प्रतिष्ठा करवायी थी और वि. सं. १७९०में पुष्पदन्तके 'यशोधरचरित' की प्रतिलिपि स्वयं की थी। अतः इनका समय वि. सं. १७८७-१७९०, ई. सन् १७३३ है। अर्थात् १८वीं शताब्दी है।

नरेन्द्रसेनका व्यक्तित्व और कार्य :

ये नरेन्द्रसेन प्रभावशाली भट्टारक विद्वान् थे। इनके प्रभावका सबसे अधिक परिचायक 'कैलास-छप्पय' का वह उल्लेख है, जिसमें उन्हें 'चम्पापुर' नगरमें 'वादका विजेता' कहा गया है और तेजस्वितामें मार्त्तण्ड^४ बताया गया है। नरेन्द्रसेन ने वहाँके वातावरणको प्रभावित कर वहाँ जिनमन्दिरका निर्माण कराया था, जिसकी ध्वजा गगनमें फहरा रही थी।^५ इनके एक शिष्यने इनके प्रभाव और गुरु-भक्तिसे प्रेरित होकर संस्कृतमें 'नरेन्द्रसेनगुरु-पूजा' लिखी है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। इन्होंने जो उल्लेखनीय कार्य किये हैं वे निम्न प्रकार हैं।

१. 'प्रमाणप्रमेयकलिका' की रचना। इसका परिचय आगे दिया गया है।

२. तत्कालीन पुरानो हिन्दीमें 'पाश्वनाथपूजा' तथा 'वृषभनाथपालना' इन दो जनोपयोगी 'भक्तिपूर्ण' हिन्दी-रचनाओंका निर्माण। ये दोनों रचनाएँ अप्रकाशित हैं और हमें उपलब्ध नहीं हो सकीं। अतः उनके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश नहीं डाला जा सका।

३. कलमेश्वर (नागपुर) के जिनमन्दिरमें इन्होंने श्रीगोपालजी गंगरङ्गके द्वारा एक 'ज्ञानयन्त्र' की प्रतिष्ठा करवायी।

४. सूरतके आदिनाथ चैत्यालयमें रहकर इन्होंने पुष्पदन्तके 'यशोधरचरित' की एक प्रति लिखी, जिससे इनके शास्त्र-लेखनकी भी प्रवृत्ति जानी जाती है।

इस तरह इन्होंने साहित्य, संस्कृति और शासन-प्रभावनाके अनेक कार्य किये हैं। इन कार्योंसे इनकी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अभिरुचि और शासन-प्रभावनाके प्रति विशेष अनुराग अवगत होता है। ये तार्किक और श्रद्धालु दोनों थे।

१., २. भ. संप्र. पृ. ३२, २१, लेखांक ७३, ६९।

३. वही, पृ. ३२, २१, लेखांक ७३, ६९।

४. वही, प्रस्तावना पृष्ठ ५७ का पादटिप्पण।

प्रमाणप्रमेयकलिका

यह जैन तार्किक श्री नरेन्द्रसेनकी मौलिक न्याय-विषयक कृति है और जैन न्यायके प्राथमिक जिज्ञासुओं एवं अभ्यासियोंके लिए बड़ी उपयोगी है। इसमें प्रमाण और प्रमेय इन दो तत्त्वोंपर संक्षेपमें, किन्तु विशद, सरल और तर्कपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ :

न्याय-साहित्यके इतिहाससे मालूम होता है कि न्याय-ग्रन्थकारोंने अपने न्याय-ग्रन्थ या तो 'न्याय' शब्दके साथ रचे हैं; जैसे न्यायसूत्र, न्यायवार्तिक, न्याय-प्रवेश आदि। अथवा, 'प्रमाण' वा 'प्रमेय' या दोनों 'प्रमाणप्रमेय' शब्दोंके साथ उनकी रचना की है, जैसे प्रमाण-वार्तिक, प्रमाण-संग्रह, प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, प्रमेय-रत्नमाला, प्रमाण-प्रमेय-न्याय आदि। कितने ही ऐसे भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जो 'कलिकान्त' रचे गये हैं; जैसे जयन्त भट्टकी न्याय-कलिका, राजशेखरकी स्याद्वाद-कलिका^१, जिनदेवकी काश्यप-कलिका^२, पादलिप्ताचार्यकी निर्वाण-कलिका^३, कवि ठाकुरकी महापुराण-कलिका^४ आदि। जान पड़ता है कि नरेन्द्रसेनने इन ग्रन्थोंको ध्यानमें रखकर अपनी कृतिका भी नाम 'प्रमाण-प्रमेय-कलिका' रखा है। उसका यह गुणनाम है और वह ग्रन्थके पूर्णतः अनुरूप है।

भाषा और रचनाशैली :

ग्रन्थकी भाषा सरल तथा प्रवाहपूर्ण है। बोच-बोचमें कहीं मुहाविरों, न्याय-वाक्यों और विशेष पदोंका भी प्रयोग किया गया है। इससे भाषामें सौष्ठव एवं वैशिष्ट्य आ गया है। उदाहरणार्थ विषयकी लोक-प्रसिद्धि बतलानेके लिए दो स्थलों-

१. इसका उल्लेख 'जैन ग्रन्थावली' पृ. ७१, वर्ग १ में है और उसे २२४ ताडपत्रोंका ग्रन्थ तथा उसके जैसलमेरमें होनेका निर्देश किया गया है। यह अप्रकाशित ग्रन्थ है।
२. इसका भी उल्लेख उक्त 'जैन ग्रन्थावली' पृ. ८१, वर्ग २ में २१ नं. पर किया गया है और उसे राजशेखर (१२१४) की रचना बतलाई गई है तथा उसमें ४० कारिकाओं एवं ४ पत्रोंके होनेका निर्देश है। यह भी अप्रकाशित है।
३. यह लेखकके द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित और वोरसेवामन्दिर दिल्लीसे प्रकाशित न्याय-दोषिका (पृ. १११) तथा प्रो. महेन्द्रकुमारजीके 'जैनदर्शन' (पृ. ६२८) में उल्लिखित है।
४. यह नित्यकर्म, दोषा, प्रतिष्ठा, प्रतिष्ठापद्धति आदिका वर्णन करनेवाली 'मुनि मोहनलाल जैन ग्रन्थमाला, बम्बई'से प्रकाशित एक जैन रचना है।
५. इसका निर्देश 'अनेकान्त', वर्ष १३, किरण ७, ८ में है। यह भी अभी प्रकाशित नहीं हुई है।

पर 'आ-विद्वदङ्गना-सिद्ध' इस मुहाविरेका प्रयोग किया गया है। इससे पूर्व 'योगदृष्टिसमुच्चय' में हरिभद्रने भी इसका प्रयोग किया है, जो निम्न प्रकार है—

आ-विद्वदङ्गना-सिद्धमिदानीमपि दृश्यते ।

एतत्प्रायस्तदन्यत् सु-बह्वाऽऽगम-भाषितम् ॥

—योगदृ. स. पृ. ११, श्लोक १५ ।

नरेन्द्रसेनने प्रमाणप्रमेयकलिकामें आचार्य प्रभाचन्द्रकी शैलीका अनुसरण किया है और उनके 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' की तरह विकल्पो एवं तर्कों द्वारा वक्तव्य विषयोंकी संक्षेपमें समालोचना और ऊहापोह किया है। आरम्भमें 'ननु किं तत्त्वम्, तदुच्यताम्' शब्दोंके साथ तत्त्व-सामान्यकी जिज्ञासा करके बादमें उसके प्रमाणतत्त्व और प्रमेयतत्त्वकी उन्होंने विशेषतया मीमांसा की है।

बाह्य विषय-परिचय :

यद्यपि नरेन्द्रसेनने ग्रन्थकी स्वयं प्रकाशों या परिच्छेदों जैसे किन्हीं विभागों या प्रकरणोंमें विभक्त नहीं किया तथापि जहाँ तक प्रमाणकी मीमांसा है वह एक प्रमाणतत्त्व-परीक्षा है और उसके पश्चात् प्रमेयतत्त्वकी मीमांसा हुनिसे प्रमेयतत्त्व-परीक्षा, इस प्रकार दो प्रकरणोंमें इसे विभाजित किया जा सकता है। अतएव ग्रन्थमें हमने ये दो प्रकरण कल्पित किये हैं। इनका विषय-वर्णन इस प्रकार है।

१. प्रमाणतत्त्व-परीक्षा

इसमें प्रभाकरके 'ज्ञातृव्यापार', सांख्य-योगोंके 'इन्द्रियवृत्ति' जरन्तैयायिक भट्टजयन्तके 'सामग्री' अपरनाम कारक-साकल्य' और योगीशके 'संनिकर्ष' इन प्रमाण-लक्षणोंकी परीक्षा करके 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान' को प्रमाणका निर्दोष लक्षण सिद्ध किया गया है। ज्ञानके कारणोंपर विचार करते हुए नरेन्द्रसेनने इन्द्रिय और मनको ज्ञानका अनिवार्य कारण बतलाया है तथा अर्थ एवं आलोककी कारणताका उन्होंने सोपपत्तिक निरास किया है। प्रमाणका साक्षात् और परम्परा फल भी बतलाकर उसे प्रमाणसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न प्रदर्शित किया है। बौद्ध अपने चारों प्रत्यक्षोंको 'अविस्वादी तो मानते हैं, पर उन्हें वे व्यवसायात्मक स्वीकार नहीं करते। ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें उसकी भी मीमांसा की है और उन्हें व्यवसायात्मक सिद्ध किया है। प्रकरणके अन्तमें मीमांसक आदि उन दार्शनिकों की भी आलोचना की है, जो ज्ञानको अस्वसंवेदो स्वीकार करते हैं तथा 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' का परिहार करते हुए उसे उन्होंने स्वसंवेदो प्रसिद्ध किया है।

२. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा

इस द्वितीय प्रकरणमें सांख्योंके सामान्य, बौद्धोंके विशेष, वैशेषिकोंके परस्पर-निरपेक्ष सामान्य-विशेषोभय और वेदान्तियोंके परमब्रह्मका सविस्तर परीक्षण करके सापेक्ष सामान्यविशेषोभय प्रमेयतत्त्वको प्रमाणका विषय—सिद्ध किया गया है। बौद्ध तत्त्वको 'सकल-विकल्प-वागोचरातीत' कहकर उसे केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-

गम्य प्रतिपादन करते हैं। नरेन्द्रसेनने बौद्धोंकी इस मान्यतापर भी विचार किया है और शब्द तथा अर्थमें वास्तविक वाच्य-वाचक सम्बन्ध एवं सहजयोग्यताके होनेका निर्देश करते हुए तत्त्वको निश्चयात्मक ज्ञानका विषय युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। साथ ही समन्तभद्रके 'युत्त्वयनुशासन' की 'तत्त्वं विशुद्धम्' इत्यादि कारिकाको उद्धृत करके उससे उसे प्रमाणित किया है।

यह प्रमाणप्रमेयकलिकाका बाह्य विषय-परिचय है। अब उसका आभ्यन्तर विषय-परिचय भी प्रस्तुत किया जाता है, जो पाठकोंके लिए अधिक उपयोगी होगा।

आभ्यन्तर विषय-परिचय :

१. मंगलाचरण :

ग्रन्थके आरम्भमें मंगल करना प्राचीन भारतीय परम्परा है। उसके अनेक प्रयोजन और हेतु माने गये हैं। यहाँ संक्षेपमें उनपर प्रकाश डाला जाता है। वे इस प्रकार हैं—

१. निर्विघ्न शास्त्र-परिसमाप्ति, २. शिष्टाचार-परिपालन, ३. नास्तिकतापरिहार, ४. कृतज्ञता-प्रकाशन और ५. शिष्य-शिक्षा।

इन प्रयोजनोंका संग्राहक निम्न पद्य है, जिसे पण्डित आशाधरजी (वि. सं. १३००) ने अपने अनगरधर्ममृतकी टीका (पृ. १) में उद्धृत किया है—

नास्तिकत्व-परिहारः शिष्टाचार-प्रपालनम्।

पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

१. प्रत्येक ग्रन्थकारके हृदयमें ग्रन्थारम्भके समय यह कामना होती है कि मेरा यह ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त होजाय। न्याय तथा वैशेषिक दोनों दर्शनोंमें 'समाप्तिकामो मंगलमाचरेत्' इस वाक्यको श्रुतिप्रमाणके रूपमें प्रस्तुत करके समाप्ति और मंगलमें कार्य-कारणभावकी स्थापना की गयी है^१। जहाँ मंगलके किये जाने पर भी समाप्ति नहीं देखी जाती वहाँ मंगलमें कुछ न्यूनता—साधनवैगुण्यादि बतलायी गयी है। तथा जहाँ मंगलके बिना भी ग्रन्थ-समाप्ति देखी जाती है वहाँ जन्मन्तरीय मंगलकी कल्पना की गयी है और इस तरह प्राचीन नैयायिकोंने समाप्ति एवं मंगलमें कार्य-कारणभावकी संगति बिठायी है। नवीन नैयायिकोंका मत है^२ कि मंगलका सीधा फल तो विघ्नध्वंस है और समाप्ति ग्रन्थकर्ताकी प्रतिभा, बुद्धि और पुरुषार्थका फल है। इनके अनुसार विघ्नध्वंस और मंगलमें कार्य-कारणभाव है।

२. मंगल करना एक शिष्ट कर्तव्य है। इससे सदाचारका परिपालन होता है। अतः प्रत्येक ग्रन्थकारको ग्रन्थके आरम्भमें शिष्टाचारका पालन अर्थात् मंगल करना आवश्यक है।

३. परमात्माका गुणस्मरण करनेसे परमात्माके प्रति ग्रन्थकर्ताकी भक्ति, श्रद्धा और आस्तिक्यबुद्धि जानी जाती है और इस तरह नास्तिकताका परिहार होता है। अतः ग्रन्थकर्ता ग्रन्थारम्भमें मंगल करते हैं।

४. ग्रन्थ-सिद्धिमें गुरुजन भी निमित्त होते हैं। चाहे वे उसमें साक्षात् सम्बद्ध हों या परम्परा। उनका वरद आशीर्वाद और स्मरण उसमें अवश्य ही सहायक होता है। यदि उनसे या उनके रचे शास्त्रोंसे सुबोध प्राप्त न हो, तो ग्रन्थ-निर्माण नहीं हो सकता। इसलिए कृतज्ञ ग्रन्थकार कृतज्ञता-प्रकाशन हेतु अपने ग्रन्थके आरम्भमें उनका स्मरण अवश्य करते हैं।^१

५. पाँचवाँ प्रयोजन शिष्य-शिक्षा है। शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे शिष्योंको शिक्षा मिलती है और वे भी मंगल करते तथा इस श्रेष्ठ परम्पराको वे स्थिर रखते हैं।

जैन परम्परामें ये सभी प्रयोजन स्वीकार किये गये हैं और उनका समर्थन किया गया है। आचार्य विद्यानन्दने इन प्रयोजनोंके अतिरिक्त एक प्रयोजन और बतलाया है और उसपर उन्होंने सबसे अधिक बल दिया है। वह है, 'श्रेयोमार्ग-संसिद्धि'^२। उन्होंने लिखा है कि अन्य प्रयोजन तो पात्रदानादिसे भी सम्भव हैं^३, पर श्रेयोमार्गकी सिद्धि एक मात्र परमेष्ठिगुणस्मरणसे ही होती है। अतः श्रेयोमार्ग-सिद्धि भी मंगलाचरणका प्रयोजन है। इस मंगलाचरणका जैनवाङ्मयमें विस्तृत, विशद और सूक्ष्म विवेचन किया गया है^४। इसी ग्रन्थमें अन्यत्र भी उसका निरूपण किया जा चुका है।

प्रस्तुत प्रमाणप्रमेयकलिकामें नरेन्द्रसेनने भी मंगलाचरण किया है। इतना विशेष है कि उन्होंने विद्यानन्दकी प्रमाणपरीक्षाके मंगलाचरणको ही अपने ग्रन्थका मंगलाचरण बना लिया है। ऐसा करके उन्होंने उसी प्रकार अपनी संग्राहिणी एवं उदार बुद्धिका परिचय दिया है, जिस प्रकार पूज्यपादने आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थ-सूत्रके 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' मंगलश्लोकको अपनी सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण बनाकर दिया है^५।

२. तत्त्व-मीमांसा :

तत्त्व-विचारकोंके समक्ष 'तत्त्व क्या है?' यह ज्वलन्त प्रश्न सदा रहा है और उसपर उन्होंने न्यूनाधिक रूपमें विचार किया है। जो विचारक उसकी जितनी गहराई और तह तक पहुँच सका, उसने उसका उतना विवेचन किया। कई

१. अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः,

प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसाद-प्रबुद्धे-

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति ॥ —तत्त्वार्थश्लो. पृ. २ पर उद्धृत ।

२. श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः ।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥ —आप्तपरी, पृ. २, कारि. २ ।

३. आप्तपरी., पृ. ११ ।

४. तिलोपपण्ति १-८ से १-३१ तथा धवला १-१-१ ।

५. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, १०-११ । तथा आप्तपरी. की प्रस्ता. पृ. २ । और यही ग्रन्थ पृ. २५ से ६९ ।

विचारकोंने तो बालकी खाल निकालनेका भी प्रयत्न किया है और तत्त्वको विकल्प-जालमें आवद्ध (फाँस) कर या तो उसे 'उपप्लुत' कह दिया है और या उसे 'शून्य' मान लिया है। तत्त्वोपप्लववादी प्रमाण और प्रमेय दोनों तत्त्वोंको उपप्लुत (बाधित) बतलाकर 'तत्त्वोपप्लववाद' की स्थापना करते हैं। शून्यवादी उन्हें शून्यरूपमें स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टिमें न प्रमाणतत्त्व है और न प्रमेयतत्त्व—केवल शून्यतत्त्व है। पर ये विचारक तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वको स्वीकार करते समय अपनी सत्ताको भी खो देते हैं^१, क्योंकि उसे सिद्ध करनेके लिए कोई साधन (अस्तित्वात्मक) अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा और उस हालतमें उनकी सत्ता समाप्त हो जायेगी। और जब उनकी अपनी सत्ता ही नहीं रहती, तब तत्त्वोपप्लव या शून्य तत्त्वका साधन कौन करेगा? दूसरी बात यह है^२ कि जब किसी निर्णीतवस्तु को स्वीकार ही नहीं किया जाता—सभी विषयोंमें विवाद है तो किसी भी विषयपर यहां तक कि उनके अभिमत तत्त्वोपप्लव या शून्यतत्त्वपर भी विचार नहीं किया जा सकता। ज्ञानके अभावमें वे उसे न स्वयंको समझा सकते हैं और वचनके अभावमें न दूसरोंको उसे बता सकते हैं, क्योंकि ज्ञान और वचन ये दो ही स्व-पर बोधके साधन हैं, जिन्हें न तत्त्वोपप्लववादी मानते हैं और न शून्यवादी।

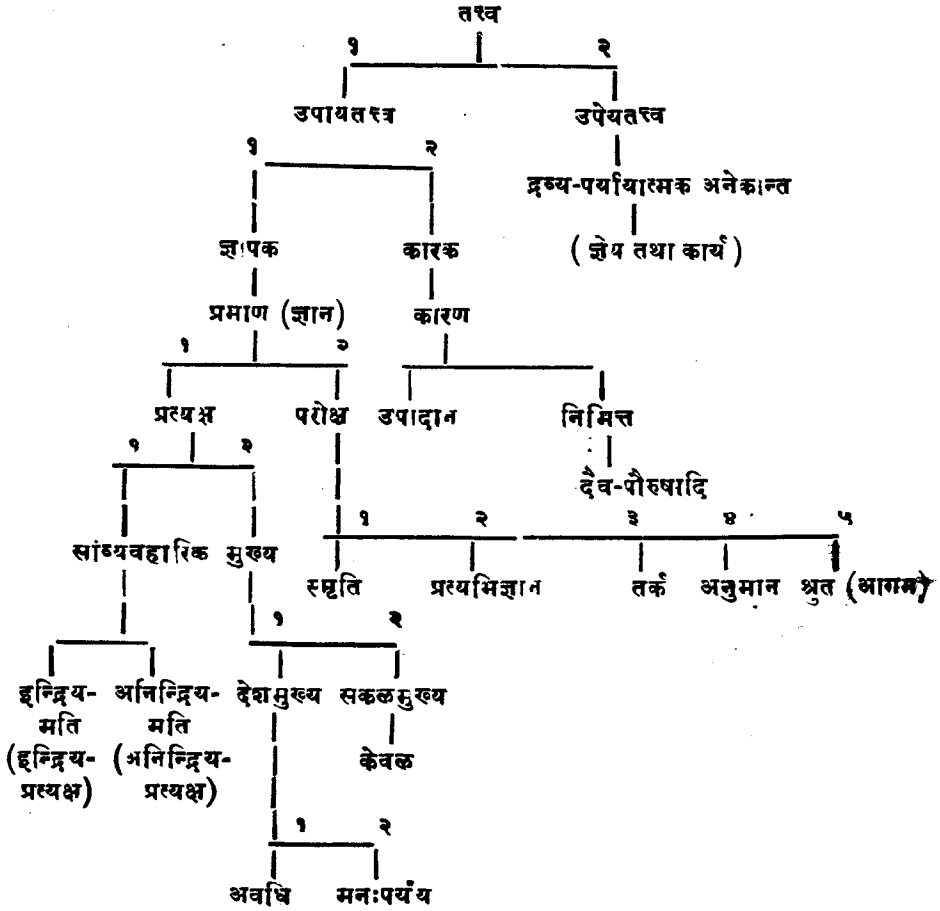
कितने ही चिन्तक तत्त्वको स्वीकार करके भी उसे अवक्तव्य, शब्दाद्वैत, ब्रह्माद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत आदिके कटघरेमें बन्द कर लेते हैं और उसकी सिद्धिके लिए एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाते हैं। पर ये चिन्तक भी यह भूल जाते हैं कि तत्त्व जब सर्वथा अवक्तव्य है^३ तो शब्दप्रयोग किस लिए किया जाता है और उसको किये बिना दूसरोंको उसका बोध कैसे कराया जा सकता है? उस हालतमें तो केवल मौन ही अवलम्बनीय है^४। तथा जो उसे सर्वथा अद्वैत—(शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि रूप) एक मानते हैं वे साध्य-साधनका द्वैत माने बिना कैसे उसकी स्थापना कर सकते हैं, क्योंकि उसको सिद्ध करनेके लिए साधनरूपमें उपस्थित किये जानेवाले हेतु, तर्क और प्रमाण द्वैतवादमें ही सम्भव हैं, अद्वैतमें नहीं^५।

द्वैतवादी सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक और बौद्ध दार्शनिकोंने भी तत्त्वपर विचार किया है, पर उन्होंने भी उसके एक-एक पहलू (एकान्त) को ही

१. 'तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्व-परिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहृतमेतत्, तथातत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात् ।'—अष्टस. पृ. ३७ तथा ४२ ।
२. किञ्चिद्विनिर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते ।
सर्वविप्रतिपत्ती तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥—अष्टस. पृ. ४२ ।
३. सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः ।
संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थ-विपर्ययात् ॥ —आसमी. का. ४९ ।
४. अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः ।
आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥ —आसमी. का. ५० ।
५. अद्वैतैकान्त-पक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्धयते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ —इत्यादि, आसमी. का. २४ से २७ ।

मानकर उसका ऐकान्तिक प्रतिपादन किया है।

जैन दार्शनिक तत्त्वपर गहरा और सूक्ष्म चिन्तन करनेके उपरान्त इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि तत्त्व अनेकान्तस्वरूप है। आचार्य समन्तभद्रने तत्त्वको दो भागों—उपेयतत्त्व और उपायतत्त्व में विभक्त कर उनपर विशद प्रकाश डाला है^१। तथा उनके व्याख्याकारों—अकलंक और विद्यानन्दने उनकी तत्त्व-व्यवस्थाको युक्त एवं उचित सिद्ध किया है। यहाँ हम उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वके भेदों एवं उपभेदोंको एक रेखाचित्र द्वारा दे रहे हैं, इससे उसे समझनेमें सुविधा रहेगी—



प्रमाणप्रमेयकलिकामें नरेन्द्रसेनने भी तत्त्व-सामान्यकी जिज्ञासा करते हुए उसे नाम-सिद्ध मानकर उसके विशेषों—प्रमाण और प्रमेय तत्त्वोंपर संक्षेपमें मीमांसा उपस्थित की है।

प्रमाणतत्त्व-मीमांसा :

तत्त्व, अर्थ, वस्तु और सत् ये चारों एक ही अर्थके बोधक पर्यायशब्द हैं। जो अस्तित्व स्वभाववाला है वह सत् है और तत्त्व, अर्थ तथा वस्तु अस्तित्व-स्वभावकी

१. आत्ममी., का. ६ से ७५ और ७६ से ११३।

सीमासे बाहर नहीं हैं—वे तीनों भी अस्तित्ववाले हैं। इसलिए सत्का जो अर्थ है वही तत्त्व, अर्थ और वस्तुका है और जो अर्थ इन तीनोंका है वही सत्का है। निष्कर्ष यह कि ये चारों शब्द समानार्थक हैं। ऊपर हम देख चुके हैं कि तत्त्व दो समूहोंमें विभक्त है। वे दो समूह हैं—१. उपायतत्त्व और २. उपेयतत्त्व। उपायतत्त्व दो प्रकारका है—१. ज्ञापक (प्रमाण) और २. कारक (कारण)। उपेयतत्त्व भी दो तरहका है—१. ज्ञाप्य (ज्ञेय—प्रमेय) और २. कार्य (उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ)। इनमेंसे यहाँ ज्ञापक-प्रमाण और ज्ञाप्य-प्रमेय ये दो ही ग्रन्थकारको चर्चाके विषय अभिप्रेत हैं। अन्य तार्किकोंने भी इनपर विचार किया है और उनके स्वरूपादि निर्धारित किये हैं। साथ ही प्रमाणको व्यवस्थापक तथा प्रमेयको व्यवस्थाप्यके रूपमें स्वीकार किया है।^२

ज्ञातव्यापार-परीक्षा :

सर्वप्रथम प्रमाणके स्वरूपपर विचार किया जाता है।

प्रभाकरका मत है^३ कि जिसके द्वारा अर्थका प्रकाशन हो वह प्रमाण है और अर्थका प्रकाशन ज्ञाताके व्यापार द्वारा होता है। जब तक ज्ञाता वस्तुको जाननेके लिए व्यापार अर्थात् प्रवृत्ति नहीं करता तब तक उसे वस्तुका ज्ञान नहीं होता। यह देखा जाता है कि वस्तु, इन्द्रियाँ और ज्ञाता ये तीनों विद्यमान रहते हैं, पर वस्तुका ज्ञान नहीं होता। किन्तु ज्ञाता जब व्यापार करता है—वस्तुको जाननेके लिए उद्यत होता है, तब वस्तुका ज्ञान अवश्य होता है। अतः ज्ञाताके व्यापारको प्रमाण मानना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थमें इसकी मीमांसा करते हुए कहा गया है कि ज्ञाताका व्यापार उससे भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न है, तो उनमें—ज्ञाता और व्यापारमें सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यदि भिन्नोंमें सम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तो जिस प्रकार भिन्न ज्ञाताके साथ भिन्न व्यापारका सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार पदार्थान्तरके साथ भी व्यापारका सम्बन्ध सम्भव है, क्योंकि भिन्नता दोनोंमें समान है और यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि ज्ञाताके साथ ही उसके व्यापारका सम्बन्ध है, पदार्थान्तरके साथ नहीं, क्योंकि तब ज्ञाताका ही व्यापार है, पदार्थान्तरका नहीं, तो यह बतलाना चाहिए कि वह व्यापार क्रियात्मक है या अक्रियात्मक? यदि क्रियात्मक है तो वह क्रिया उससे (व्यापारसे) भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो भिन्नपक्षसम्बन्धी पहले कहा गया दोष पुनः आता है। यदि अभिन्न है तो या तो व्यापारमात्र रहेगा या क्रियामात्र, क्योंकि अभेदमें दोमेंसे कोई एक ही रहता है, दूसरा उसीके अनुरूप हो जाता है। यदि वह व्यापार अक्रियात्मक है तो वह व्यापार कैसे? क्योंकि व्यापार तो क्रियारूप होता है, अक्रियारूप नहीं। अतः व्यापार ज्ञातासे

१. 'उपायतत्त्वम्—ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधम्। तत्र ज्ञापकं प्रकाशकमुपायतत्त्वं ज्ञानम्।

कारकं तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि।' —अष्टस. टिप्प. पृ. २५६।

—अष्टस. टिप्प. पृ. २५६।

२. 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।' —सांख्यका. ३।

३. शास्त्रदी. पृ. २०२ तथा मीमांसाश्लोक. पृ. १५२।

भिन्न तो नहीं बनता । अभिन्न भी वह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रथम तो दोनों एक हो जायेंगे—‘ज्ञाता और ज्ञातृव्यापार’ यह भेद फिर नहीं हो सकता । दूसरे, प्रभाकरने उसे ज्ञातासे अभिन्न स्वीकार भी नहीं किया है ।

इसके अतिरिक्त अनेक प्रश्न और उठते हैं । प्रभाकरसे पूछा जाता है कि वह व्यापार नित्य है या अनित्य ? नित्य तो उसे माना नहीं जा सकता, क्योंकि वह ज्ञातासे उसी तरह उत्पन्न होता है जिस तरह घट मिट्टीसे होता है । यदि उसे अनित्य कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसका उत्पादक कारण नहीं है । आत्मा-को उसका उत्पादक कारण मानना सम्भव नहीं है, कारण, वह नित्य है और नित्यमें अर्थक्रिया बनती नहीं । स्पष्ट है कि अर्थक्रिया क्रमशः या युगपत् होती है और क्रम तथा योगपद्य नित्यमें बनते नहीं । अतः वे दोनों नित्यसे निवृत्त होते हुए अपनी व्याप्यभूत अर्थक्रियाको भी निवृत्त कर लेते हैं । वह अर्थक्रिया भी अपने व्याप्य सत्त्वको निवृत्त कर देती है । कौन नहीं जानता कि व्यापककी निवृत्तिसे व्याप्यकी भी निवृत्ति हो जाती है । इस तरह नित्यमें सत्त्वके न रहनेपर वह खरबिषाण सदृश है । अतः ज्ञाताका व्यापार न नित्य सिद्ध होता है और न अनित्य । इसी तरह यह भी उनसे पूछा जा सकता है कि वह चिद्रूप है या अचिद्रूप ? यदि चिद्रूप है तो वह स्वसंवेदी है या अस्वसंवेदी ? प्रथम पक्षमें अपसिद्धान्त है और द्वितीय पक्ष अयुक्त है, क्योंकि कोई भी चिद्रूप अस्वसंवेदी नहीं हो सकता । यदि उसे अचिद्रूप कहा जाय तो उससे अर्थप्रकाशन नहीं हो सकता ।

निष्कर्ष यह कि व्याप्तु—आत्मा और व्याप्य—अर्थके सम्बन्धका नाम ज्ञातृ-व्यापार है^१ । यतः व्याप्य—अर्थ जड़ है, अतः उसका सम्बन्ध भी जड़ है और जड़ (अज्ञान) से अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमा नहीं हो सकती । अज्ञानकी निवृत्तिके लिए तो अज्ञानविरोधी होना चाहिए और अज्ञानविरोधी है ज्ञान, जड़रूप व्यापार नहीं । अतः ज्ञाताका व्यापार प्रमाणका स्वरूप सम्भव नहीं है, तब उससे प्रमेयकी व्यवस्था कैसे हो सकती है ?

इन्द्रियवृत्ति-परीक्षा :

सांख्योंका^२ कहना है कि जबतक इन्द्रियाँ अपना उद्घाटनादि व्यापार नहीं करतीं, तबतक अर्थका प्रकाशन नहीं होता । अतः अर्थप्रकाशनमें इन्द्रियोंकी वृत्ति (व्यापार) करण होनेसे वह वृत्ति ही प्रमाण है, इन्द्रियाँ, मन, आत्मा या उनका सन्निकर्ष आदि नहीं, क्योंकि उनके रहते हुए भी इन्द्रियोंके व्यापारके अभावमें अर्थ-परिच्छिन्ति नहीं होती । अतः इन्द्रियव्यापारको ही प्रमाण मानना उचित है ।

१. ‘अथवा, ज्ञानक्रियाद्वारको यः कर्तृभूतस्यात्मनः कर्मभूतस्य चार्थस्य परस्परं संबन्धो व्याप्तु-व्याप्यत्वलक्षणः स मानसप्रत्यक्षावगतः विज्ञानं कल्पयति ।—शास्त्रदी. पृ. २०२ ।

‘तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते ।

तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः ॥

व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ।’—मो. श्लो. पृ. १५२ ।

२. ‘प्रमाणं वृत्तिरेव च ।’—योगवा. पृ. ३०, सांख्य प्र. भा. १-८७ ।

यहाँ विचारणीय है कि इन्द्रियोंका व्यापार अर्थप्रमितिमें साधकतम है या नहीं ? क्योंकि करण वही होता है जो साधकतम होता है—‘साधकतमं करणम्’ । पर इन्द्रियव्यापार अर्थप्रमितिमें साधकतम नहीं है, सिर्फ साधक है । इन्द्रिय-व्यापारसे ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञानसे अर्थप्रमिति होती है । अतः अर्थप्रमितिमें अव्यवहित—साक्षात्कारण ज्ञान है और इसलिए वही साधकतम है । इन्द्रियव्यापार अर्थप्रमितिमें व्यवहित—परम्परा कारण है, अतः वह उसमें साधकतम नहीं है । दूसरे, इन्द्रियाँ प्रकृतिका परिणाम होनेसे अचेतन हैं, अतः उनका व्यापार भी अचेतन—अज्ञानरूप है । और अज्ञानरूप इन्द्रियव्यापार अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रामाण्य में साधकतम नहीं हो सकता और जब वह साधकतम नहीं, तो वह प्रमाण कैसे ?

इसके अलावा, एक प्रश्न यह होता है कि वह इन्द्रियव्यापार इन्द्रियोंसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है, तो यह बतलाना चाहिए कि वह उनका धर्म है या पृथक् पदार्थ ? यदि वह उनका धर्म है तो उनका परस्परमें कौन-सा सम्बन्ध है ? क्या तादात्म्य है या समवाय है या संयोग ? यदि तादात्म्य है तो वह व्यापार श्रोत्रादिमात्र ही रहेगा और वे श्रोत्रादि सुप्तावस्थामें भी विद्यमान रहती हैं तब उस समय भी अर्थपरिच्छित्ति होना चाहिए । यदि कहा जाय कि उनमें समवाय सम्बन्ध है, तो समवाय तो एक, चित्त और व्यापक है तथा श्रोत्रादिका सद्भाव भी सर्वत्र है, ऐसी स्थितिमें प्रतिनिवृत्ति देशमें व्यापारके होनेका नियम समाप्त हो जायगा और अर्थपरिच्छित्ति सर्वत्र होनी । दूसरे, सांख्योंने समवायको स्वीकार भी नहीं किया । अगर उनका सम्बन्ध संयोग माना जाय, तो वह इन्द्रियोंका व्यापार न होकर वह पृथक् द्रव्यपदार्थ बन जायेगा, क्योंकि संयोग दो स्वतन्त्र द्रव्यपदार्थोंमें होता है, धर्म-धर्मोंमें नहीं । अतः इन्द्रियव्यापार इन्द्रियोंका धर्म सिद्ध नहीं होता । यदि उसे पृथक् पदार्थ माना जाय, तो वह उनका व्यापार नहीं कहा जा सकेगा, जैसे पृथक् घटादि पदार्थ इन्द्रियोंका व्यापार नहीं माने जाते । यदि व्यापार इन्द्रियोंसे अभिन्न है, तो तादात्म्य पक्षमें जो दोष आता है वही दोष अभिन्न पक्षमें भी विद्यमान है ।

तीसरे, इन्द्रियोंका व्यापार तैमिरिक रोगीको होनेवाले द्विचन्द्रज्ञान तथा संशय आदि मिथ्याज्ञानोंमें भी प्रयोजक होता है, पर वे ज्ञान प्रमाण नहीं है । अतः इन्द्रियोंके व्यापारको प्रमाण मानना संगत नहीं है । हाँ, ज्ञानमें कारण होनेसे उसे उपचारसे प्रमाण माननेमें कोई आपत्ति नहीं है । मुख्यरूपसे तो ज्ञान ही प्रमाण है ।

कारकसाकल्य-परीक्षा :

जयन्तभट्ट और उनके अनुगामी वृद्ध नैयायिकोंका अभिमत है^१ कि अर्थोपलब्धिमें अर्थ, आलोक, इन्द्रिय, आत्मा और ज्ञान आदि सभी कारणोंका यथोचित योगदान होता है । इनमेंसे यदि एककी भी कमी रहे तो अर्थोपलब्धि नहीं हो सकती । अतः सामग्री अथवा कारकसाकल्य (कारकोंकी समग्रता) प्रमाण है ।

१. ‘प्रतिनियतदेशवृत्तिरभिव्यज्येत् ।’—प्रमेयक. पृ. १९ ।

२. ‘अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाऽबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम् ।’

—न्यायमं. पृ. १२ ।

जेन तार्किकोंका कहना है ' कि प्रमाके प्रति जो करण है वही प्रमाण है और करण वह होता है जो अव्यवहित एवं असाधारण कारण है। सामग्री अथवा कारक-साकल्यके अन्तर्गत वे सभी कारण सम्मिलित हैं, जो साधारण और असाधारण, व्यवहित और अव्यवहित दोनों हैं। ऐसी स्थितिमें सामग्री या कारकसाकल्यको प्रमाण मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। ध्यान देनेकी बात है कि इन्द्रियादि सामग्री ज्ञानकी उत्पत्तिमें तो साक्षात् कारण है, पर अर्थोपलब्धिरूप प्रामां प्रमाणें वह साक्षात् कारण नहीं है, परम्परा कारण है। साक्षात् कारण तो उसमें उक्त सामग्रीसे उत्पन्न हुआ एकमात्र ज्ञान ही है। अथवा, यों कहना चाहिए कि उक्त सामग्री मात्र ज्ञानको उत्पन्न करती है, वह सीधे अर्थोपलब्धिमें व्यापृत नहीं होती। अतः उक्त सामग्री जब ज्ञानसे व्यवहित हो जाती है तो वह अर्थोपलब्धिमें अव्यवहित कारण—साधकतम नहीं कही जा सकती। यदि परम्पराकारणोंको भी साधकतम (कारण) माना जाय तो उनका न कोई प्रतिनियम रहेगा और न कहीं विराम ही होगा। अतः कारकसाकल्य या सामग्री प्रमाणका स्वरूप नहीं है। नरेन्द्रसेनने अनेक विकल्प उठाकर कारकसाकल्यकी विशद मीमांसा की है।

सन्निकर्ष-परीक्षा :

योगोंकी मान्यता है कि ज्ञाताका व्यापार, इन्द्रियोंका व्यापार और कारक-साकल्य अर्थपरिच्छित्तिमें तबतक कुछ भी सक्रिय योगदान नहीं कर सकते, जबतक इन्द्रियोंका योग्य देशमें स्थित अर्थके साथ सम्बन्ध न हो। इस सम्बन्धके होनेपर ही ज्ञाताको अर्थप्रमिति होती है। अतः इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्धरूप संनिकर्ष ही प्रमाण है, इन्द्रियव्यापारादि नहीं। वात्स्यायन इतना और कहते हैं कि कभी-कभी ज्ञान भी प्रमितिजनक होता है और इसलिए वह भी प्रमाणकोटिमें सन्निविष्ट है^१।

जेन नैयायिकोंका विचार है^२ कि अर्थपरिच्छित्ति अज्ञाननिवृत्तिका ही दूसरा नाम है और इस अर्थपरिच्छित्तिरूप अज्ञाननिवृत्तिमें जो करण हो, उसे अज्ञानविरोधी होना चाहिए और अज्ञानविरोधी है ज्ञान। अतः ज्ञान ही प्रमिति-जनक होनेसे प्रमाण माना जाना चाहिए, संनिकर्ष नहीं। स्पष्ट है कि इन्द्रिय और अर्थ दोनों जड़—अचेतन हैं, अतः उनका सम्बन्ध संनिकर्ष भी जड़ है और जड़ (अज्ञान) से अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमिति उत्पन्न नहीं हो सकती। इसलिए संनिकर्ष-को प्रमाण मानना ठीक नहीं है। तात्पर्य यह कि इन्द्रियसंनिकर्ष साक्षात्-प्रामां साधकतम होनेवाले ज्ञानमें कारण है और इसलिए वह ज्ञानसे व्यवहित हो जानेके कारण मुख्य प्रमाणकी कोटिमें नहीं आ सकता। एक बात और है। वह यह कि ज्ञाताको^३ अर्थपरिच्छित्तिमें जिसकी साधकतमरूपसे अपेक्षा होती है वही प्रमाण

१. प्रमेयक. मा. पृ. ८।

२. 'यदा संनिकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः, यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्ध्यः फलम् ।'

—न्यायभा. १-१-३।

३. प्रमेय क. मा., पृ. १४।

४. 'प्रतिपत्तुरपेक्ष्यं यत् प्रमाणं न तु पूर्वकम् ।' —सिद्धिवि., १-३।

होना चाहिए और वह साधकतरूपसे अपेक्षणीय है ज्ञान । संनिकर्षकी अपेक्षा तो केवल साधकरूपमें होती है, साधकतरूपमें नहीं । तब, जो साधकतरूप नहीं वह प्रमाण कैसे ?

दूसरे, संनिकर्षमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव ये लक्षणके तीनों दोष भी हैं । रूपको तरह रसके साथ चक्षुःसंयुक्तसमवाय और रूपत्वकी तरह रसत्वके साथ चक्षुःसंयुक्तसमवेतसमवाय संनिकर्ष रहते हुए भी चक्षुके द्वारा रसप्रमिति और रसत्वप्रमिति उत्पन्न नहीं होतीं । अतः संनिकर्ष अतिव्याप्त है । चक्षुर्निद्रिय अप्राप्यकारी होनेसे वह रूपका ज्ञान संनिकर्षके विना ही कराती है । इसलिए संनिकर्ष अव्याप्त भी है । यतः संनिकर्ष अचेतन है अतः वह चेतनात्मक अज्ञान-निवृत्ति (प्रमा) को पैदा नहीं कर सकता और इसलिए संनिकर्ष असम्भवि भी है । जान पड़ता है कि संनिकर्षको प्रमितिजनक—प्रमाण माननेमें वात्स्यायनके सामने ये सब आपत्तियाँ रही हैं और इसलिए उन्होंने ज्ञानको भी प्रमितिजनक स्वीकार किया है । पर वे संनिकर्षको प्रमाण माननेवाली पूर्व परम्पराको नहीं छोड़ सके । अस्तु ।

प्रमाणका निर्दोष स्वरूप :

न्यायशास्त्रके अध्ययनसे ऐसा मालूम होता है कि 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा प्रमिति (सम्यक् परिच्छित्ति) हो वह प्रमाण है' इस अर्थमें प्रायः सभी न्यायग्रन्थकारोंने प्रमाणको स्वीकार किया है । परन्तु वह प्रमिति किसके द्वारा होती है अर्थात् प्रमितिका करण कौन है ? इसे सबने अलग-अलग बतलाया है । जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि नैयायिक संनिकर्षसे अर्थज्ञप्ति मानते हैं, अतः वे संनिकर्षको प्रमितिकरण बतलाते हैं । प्रभाकर ज्ञाताके व्यापारको, सांख्य इन्द्रिय-वृत्तिको, जयन्तभट्ट कारकसाकल्यको और बौद्ध सांख्य एवं योग्यताको प्रमितिकरण प्रतिपादन करते हैं । जैन न्यायशास्त्रमें स्वपरावभासक ज्ञानको प्रमितिका करण बतलाया है^१ । इस प्रमाणप्रमेयकलिकामें उसीका समर्थन करते हुए उसे ही प्रमाणका निर्दोष लक्षण सिद्ध किया है तथा उसे स्वसंवेदी माननेमें मीमांसकोंके द्वारा उठायी 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' आपत्तिका सयुक्तिक परिहार किया है ।

प्रमाणका फल :

अब ज्ञान-प्रमाणवादी जैनोंके सामने प्रश्न आया कि यदि ज्ञानको प्रमाण माना जाता है तो उसका फल क्या है, क्योंकि अर्थाधिगम प्रमाणका फल है और उसे प्रमाण मान लेनेपर उसका अन्य फल सम्भव नहीं है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए जैन तात्त्विकोंने कहा है^२ कि अर्थाधिगम होनेपर ज्ञाताको उस ज्ञेय (अर्थ) में प्रीति होती है और वह प्रीति उस (प्रमाण) का फल है । निश्चय

१. प्रमाणप्रमेय., पृष्ठ ३ का पाद-टिप्पण ।

२. वही, पृष्ठ १७ तथा १८ के पाद-टिप्पण तथा विशेषके लिए न्यायदी., प्रस्तावना पृ. १२ ।

३. वही, पृष्ठ १८ का पादटिप्पण तथा सर्वार्थसि. १-१० की व्याख्या ।

ही यदि वह अर्थ ग्रहण करने योग्य होता है तो उसमें ज्ञाताकी उपादान बुद्धि, छोड़ने योग्य होता है तो हेयबुद्धि और उपेक्षणीय होता है तो उपेक्षाबुद्धि होती है। अतः ज्ञानको प्रमाण माननेपर उसका फल हान, उपादान और उपेक्षा है। यह उसका परम्परा फल है और साक्षात् फल उसका अज्ञाननाश है। उस अर्थके विषयमें जो ज्ञाताको अन्धकारसदृश अज्ञान होता है वह उस अर्थका ज्ञान होनेपर दूर हो जाता है। वात्स्यायनने भी ज्ञानको प्रमाण स्वीकार करते हुए उसका हान, उपादान और उपेक्षा बुद्धि फल बतलाया है^१।

प्रमाण और फलका भेदाभेद :

जैन परम्परामें एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनों रूपसे परिणमन करनेवाला स्वीकार किया गया है, अतः एक प्रमाताकी अपेक्षा प्रमाण और फलमें अभेद तथा कार्य और कारणरूपसे पर्यायभेद या करण और क्रियाका भेद होनेके कारण उनमें भेद माना गया है^२। जिसे प्रमाणज्ञान होता है उसीका अज्ञान दूर होता है, वही अहितको छोड़ता है, हितका उपादान करता है और उपेक्षा करता है^३। इस प्रकार एक अन्वयि आत्माको दृष्टिसे प्रमाण और फलमें कथंचित् अभेद है और प्रमाताका अर्थपरिच्छित्तिमें साधकतमरूपसे व्याप्रियमाण स्वरूप (ज्ञान) प्रमाण है तथा अर्थपरिच्छित्तिरूप प्रमिति उसका फल है, अतः इनमें पर्यायदृष्टिसे कथंचित् भेद है^४। यहाँ उल्लेखनीय है कि सांख्य आदि, इन्द्रियवृत्ति आदिको प्रमाण और ज्ञानको उसका फल स्वीकार करके उन (प्रमाण तथा फल) में सर्वथा भेद ही मानते हैं और बौद्ध (बाह्य अर्थका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले सौत्रान्तिक एवं ज्ञानमात्रको माननेवाले विज्ञानवादी क्रमशः) ज्ञानगत अर्थकारिता या सारूप्यको और ज्ञानगत योग्यताको प्रमाण तथा विषयाधिगति एवं स्ववित्तिको फल मानकर उनमें सर्वथा अभेदका प्रतिपादन करते हैं। पर जैनदर्शनमें सर्वथा भेद और सर्वथा अभेदको प्रतीतिबाधित बतलाकर अनेकान्तदृष्टिसे उनका कथन किया गया है, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं। नरेन्द्रसेनने भी प्रमाण-फलके भेदाभेदकी चर्चा की है और उन्हें कथंचिद् भिन्न तथा कथंचिद् अभिन्न सिद्ध किया है।

ज्ञानके अनिवार्य कारण :

अब प्रश्न है कि ज्ञानके अनिवार्य कारण क्या हैं और वे कौन-कौनसे हैं? इस सम्बन्धमें सभी तार्किकोंने विचार किया है। बौद्ध अर्थ और आलोकको भी ज्ञानके

१. न्यायभा., १-१-३। तथा प्रमाणप्रमे., प्रस्तावना, पृ. १७ का टिप्प.।

२. (क) 'प्रमाणात्कथंचिद्धिन्नाभिन्नं फलमिति !'—प्रमाणपरी., पृ. ६६।

(ख) 'प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च।'—परीक्षामु., ५-२।

३. 'यः प्रमितीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः।' परीक्षामु., ५-३।

४. प्रमाणपरी., पृ. ६६।

५. तत्त्वसं., का. १३४४।

प्रति कारण मानते हैं। उनका कहना है कि सब ज्ञान चार प्रत्ययों (कारणों) से उत्पन्न होते हैं। वे प्रत्यय ये हैं : १. समनन्तरप्रत्यय, २. आधिपत्यप्रत्यय, ३. आलम्बनप्रत्यय और ४. सहकारिप्रत्यय। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है, इसलिए वह समनन्तरप्रत्यय कहलाता है। चक्षुरादिक इन्द्रियाँ आधिपत्य-प्रत्यय कही जाती हैं। अर्थ (विषय) आलम्बनप्रत्यय कहा जाता है और आलोक आदि सहकारिप्रत्यय हैं। इस तरह बौद्धोंने इन्द्रियोंके अतिरिक्त अर्थ और आलोक-को भी ज्ञानके प्रति कारण माना है। अर्थकी कारणतापर तो यहाँ तक जोर दिया गया है कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह उसे विषय भी नहीं कर सकता है^२।

बौद्धोंके इस मन्तव्यपर जैन तात्त्विकोंने पर्याप्त विचार किया है और कहा है कि अर्थ तथा आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय-व्यतिरेक न होनेसे वे ज्ञानके कारण नहीं हैं। अर्थके रहनेपर भी विपरीत ज्ञान देखा जाता है और अर्थाभावमें केशोण्डु-कादि ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आलोकके रहते हुए उलूकादि नक्तचरोंको ज्ञान नहीं होता तथा उसके अभावमें उन्हें ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। अतः अर्थ ज्ञानका कारण नहीं है और न आलोक। किन्तु इन्द्रिय और मन ये दोनों व्यस्त अथवा समस्त रूपमें आवरणक्षयोपशम (योग्यता) की अपेक्षा लेकर ज्ञानमें कारण हैं^३। नरेन्द्रसेनने भी इन्द्रिय तथा मनको ही ज्ञानका अनिवार्य कारण बतलाया है और अर्थ तथा आलोकको ज्ञानका अनिवार्य कारण न होनेका प्रतिपादन किया है। साथ ही बौद्धोंकी इस आपत्तिका भी, कि ज्ञान यदि अर्थसे उत्पन्न न हो तो वह उसे प्रकाशित नहीं कर सकता, परिहार किया है और माणिक्यनन्दिकी तरह लिखा है कि जिस प्रकार दीपक अर्थसे उत्पन्न न होकर भी उसे प्रकाशित करता है उसी तरह ज्ञान भी अर्थसे उत्पन्न न होकर योग्यताके बलसे उसका प्रकाशन करता है।

इस तरह इस प्रमाणतत्त्व-परीक्षा प्रकरणमें अन्य प्रमाणलक्षणोंकी मीमांसा करते हुए प्रमाणका निर्दोष स्वरूप, प्रमाणका फल और प्रमाणके कारणोंकी चर्चा की गयी है। यद्यपि ग्रन्थकर्ताने प्रमाणके भेदोंको भी बतलानेका आरम्भमें संकेत किया है किन्तु उनपर उन्होंने कोई विचार नहीं किया। जान पड़ता है कि उनकी दृष्टिमें प्रमाण और प्रमेयका मात्र स्वरूप बतलाना ही मुख्य रहा है और इसलिए उन्होंने इसमें विचार किया गया है।

४. प्रमेयतत्त्व-परीक्षा

अब प्रमेय-तत्त्वपर विचार किया जाता है। जो प्रमाणके द्वारा जाना जाये वह प्रमेय है। अर्थात् प्रमाण जिसे जानता है वह प्रमेय कहलाता है। प्रमेयके इस

१. 'चत्वारः प्रत्यया हेतुश्चालम्बनसमनन्तरम्'^३।

तथैवाधिपत्येयं च प्रत्ययो नास्ति पञ्चमः ॥' — माध्यमिकका. १-२। तथा अभिषर्माकोश, परि. २, श्लो. ६१-६४।

२. 'नाकारणं विषयः' इति।

३. लघीयस्त्रय, का. ५७-५८ तथा वृत्ति।

सामान्य स्वरूपमें किसी भी तार्किकको विवाद नहीं है। विवाद सिर्फ उसके विशेष स्वरूपमें है। सांख्य प्रमाणके द्वारा प्रतीयमाण उस प्रमेयका विशेष स्वरूप सामान्य (प्रधान-प्रकृति) बतलाते हैं। बौद्ध उसे विशेष (स्वलक्षण) रूप मानते हैं। वैशेषिक सामान्य और विशेष दोनों परस्पर निरपेक्ष—स्वतन्त्र प्रमाणका विषय प्रतिपादन करते हैं तथा वेदान्ती परमपुरुषरूप प्रमेयका कथन करते हैं। प्रस्तुतमें विचारणीय है कि प्रमाणके द्वारा जानी जानेवाली वस्तु यथार्थतः कैसी है? प्रमेयका वास्तविक स्वरूप क्या है? यहाँ पहले प्रमेयविषयक उन सभी मान्यताओंको दिया जाता है, जिनकी इस पुस्तकमें चर्चा की गयी है और बादको प्रमेयका वह स्वरूप दिया जावेगा, जिसे जैन तार्किकोंने प्रस्तुत किया है।

सामान्य-परीक्षा :

सामान्यवादी सांख्यिकोंका पूर्वपक्ष—सांख्यिकोंका मत है कि प्रमाण तीन प्रकारका है^१—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान और ३. आसन्नति (आगम)। इन तीनों प्रमाणोंका विषय चार तरहका अर्थ है, जो सांख्यिकोंके शास्त्रमें वर्णित है^२। कोई प्रकृति ही है, कोई विकृति ही है, कोई प्रकृति और विकृति दोनों रूप है, तथा कोई अनुभय रूप है—न प्रकृति है और न विकृति है। इनमें मूलप्रकृति प्रकृति ही है—समस्त कार्य-समूहकी मूल कारण है और जो विकृति नहीं है—जिसका अन्य कोई कारण नहीं है। इस मूल प्रकृतिको प्रधान, बहुधानक और सत्त्वरजस्तमकी साम्यावस्था भी कहा गया है। महत् आदि सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं। प्रकृतिसे उनकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वे विकृति हैं और इन्द्रियादि सोलहके गणको वे उत्पन्न करते हैं, इसलिए वे प्रकृति भी हैं। सोलहका समूह सिर्फ विकृति है। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच भूत ये सोलह केवल दूसरोंसे उत्पन्न होते हैं, किसी अन्यको उत्पन्न नहीं करते। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति। वह न किसीको उत्पन्न करता है और न किसीसे उत्पन्न होता है। अतः वह अनुभयरूप है। इस तरह इन चार अर्थसमूहोंमें वे पच्चीस तत्त्व आ जाते हैं, जिनका सांख्यशास्त्रमें^३ निम्न प्रकार प्रतिपादन किया गया है—

प्रकृतिसे महत्तत्त्वकी, महान्से अहंकारकी, अहंकारसे सोलह (५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय, १ मन और ५ तन्मात्राएँ) की और सोलहमें आयी हुई पाँच तन्मात्राओंसे पाँच भूतोंकी उत्पत्ति होती है। ये २४ तत्त्व हैं। पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष

१. 'दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।

त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥'—सांख्यका. ४।

२. 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥—सांख्यका. ३।

'संक्षेपतो हि शास्त्रार्थस्य चतस्रो विधाः। कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिदर्थः विकृतिरेव, कश्चित्प्रकृतिविकृतिः, कश्चिदनुभयरूपः।' —सांख्यतत्त्व., पृष्ठ १४।

३. 'प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥' —सांख्यका. २२।

है, जो निष्क्रिय, कूटस्थ-नित्य, व्यापक और ज्ञानादिपरिणामोंसे शून्य केवल चेतन है। यह पुरुषतत्त्व अनेक है और सबकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति परिणामी-नित्य है। इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है और महान् आदि विकारोंको उत्पन्न करती है^१। कारणरूप प्रकृति 'अव्यक्त' कही जाती है और उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यरूप परिणाम—महदादि व्यक्त कहे जाते हैं। इस तरह सांख्योंने प्रकृति अथवा प्रधानपर, जो सामान्यरूप है, अधिक बल दिया है और इसलिए इनका यह प्रकृतिवाद सामान्य-वाद कहा गया है। पुरुषको सांख्य मानते अवश्य हैं, पर वह पुष्कर-पलाशके समान निर्लेप है। उसे न बन्ध होता है और न मोक्ष। बन्ध और मोक्ष दोनों प्रकृतिको ही होते हैं^२। हाँ, प्रकृतिके द्वारा सम्पादित भोगका वह मात्र भोक्ता है। ज्ञानको पुरुषका धर्म न मानकर प्रकृतिका धर्म (परिणाम) माना जाता है। चैतन्यको ज्ञानसे भिन्न स्वीकार करके उसे पुरुषका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं। बुद्धिरूप दर्पणमें^३ इन्द्रिय-विषयों और पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह प्रतिबिम्ब ही भोग है और उसीका गुरुष भोक्ता है। प्रकृतिको जब यह ज्ञान हो जाता है कि 'इस पुरुषको तत्त्वाभ्यासे' "मैं प्रकृतिका नहीं हूँ और प्रकृति मेरी नहीं है" इस प्रकारका विवेक हो गया है और उसे मुझसे विरक्ति हो गयी है, तब वह उसका संसर्ग उसी प्रकार छोड़ देती है, जिस प्रकार नर्तकी दर्शकोंको अपना नृत्य दिखाकर फिर नृत्यसे विरत हो जाती है^४। फिर केवल्य हो जाता है और प्रकृतिसे उस पुरुषका सदाके लिए संसर्ग छूट जाता है। इस प्रकार सारा खेल (बन्ध, मोक्ष आदि) इस प्रकृतिका है।

जैनो द्वारा सांख्योंके इस सामान्यवादपर विचार :

जैन विचारकोंने सांख्योंकी इस तत्त्वव्यवस्थापर गहराईसे विचार किया है और उसमें उन्हें अनेक दोष जान पड़े हैं। पहली बात तो यह है कि प्रधानका जैसा स्वरूप ऊपर दिखाया गया है वह न अनुभवमें आता है और न अनुमानादि प्रमाणसे सिद्ध है। प्रकृति जब जड़ है तब उसमें सत्त्व, रज और तमोगुण कैसे सम्भव हैं? किसी भी घट, पट आदि अचेतनमें उनका सद्भाव नहीं देखा जाता और जब उनमें उनका सद्भाव नहीं है तब उनके कारण प्रधानमें इन सत्त्वादि गुणोंका अस्तित्व

१. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधमि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ —सांख्यका. ११ ।

२. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ —सांख्यका. ६२ ।

३. 'बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः । तथा च दृशिच्छाया-
पन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः ।' —योगसू. तत्त्ववै., २-२० ।

४. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।

अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ —सांख्यका. ६४ ।

५. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।

पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाशय विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ —सांख्यका. ५९ ।

असम्भव है। चेतन आत्मा में ही वे पाये जाते हैं। और तो क्या, इन तीनों गुणों के कार्य, जो प्रसन्न, प्रकाश, ताप, राग, द्वेष, मोह, शोक, सुख, दुःख आदि, बतलाये गये हैं वे भी चेतन आत्माओं में ही देखे जाते हैं, किसी अचेतन में नहीं।

दूसरे, पृथिवी आदि मूर्त्तिक हैं और आकाश अमूर्त्तिक है, ये परस्पर विरोधी कार्य एक ही कारण (प्रधान) से कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ?

तीसरे, प्रधानसे महान्, अहंकार आदि जिन तत्त्वों की उत्पत्ति कही गयी है उनमें महान् सत्त्व तो बुद्धिरूप है और शेष सब अबुद्धिरूप हैं, ये सब विजातीय तत्त्व भी उसी एक कारणसे पैदा नहीं हो सकते। अन्यथा^२, अचेतन पञ्चभूतसमुदायसे चैतन्य की उत्पत्ति भी क्यों नहीं मानी जाय और उस हालतमें चार्वाकों का मत सिद्ध होगा, सांख्यिकों का नहीं। वस्तुतः बुद्धि, जिसका काम जानना है, चेतन आत्मा का ही परिणाम है, वह प्रधान का, जो सर्वथा अचेतन एवं जड़ है, परिणाम कैसे हो सकती है ?

कहा जा सकता है^३ कि जिस प्रकार एक स्त्री अपने स्वामी को सुखी करती है; क्योंकि वह उसके प्रति सुखरूप है। अपनी सौती को दुःख उत्पन्न करती है, क्योंकि उनके लिए वह दुःखरूप है और दूसरे पुरुषों को वह मोहित करती है, क्योंकि उनके प्रति वह मोहरूप है। उसी तरह प्रकृति भी परस्परविरोधी सुख, दुःख और मोहरूप परिणामों को पुरुष में उत्पन्न करती है और इसलिए प्रकृति में उक्त प्रकार के कार्यों के मानने में कोई असंगति नहीं है। यह कथन भी युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि स्त्री का उदाहरण विषम है। स्त्री चेतन है और प्रकृति अचेतन। अतः स्त्री को तो सुखादिरूप मानना उचित है, पर प्रकृति को सुखादिरूप मानना उचित नहीं है। और इसलिए सुखादि परिणामरहित अचेतन प्रकृति उन सुख-दुःख-मोहादि चेतन-परिणामों का उपादान नहीं हो सकती। चेतन परिणामों का उपादान चेतन ही हो सकता है। वास्तव में सुख, दुःख, मोह आदि अन्तस्तत्त्व के ही परिणाम हैं, जड़ के नहीं^४। यदि कहा जाय कि सुखादि परिणाम अन्तस्तत्त्व के नहीं हैं, किन्तु वे प्रधान के हैं, प्रधान के संसर्गसे वे अन्तस्तत्त्व के मालूम पड़ने लगते हैं, तो यह कथन भी बुद्धि को नहीं लगता; क्योंकि संसर्गसे यदि किसी वस्तु या वस्तुधर्म की व्यवस्था की जाय, तो

१. 'अमूर्त्तस्याकाशस्य मूर्त्तस्य पृथिव्यादेश्चैककारणकत्वाद्योगात्।' — प्रमेयरत्न., पृ. १५३।

२. 'अन्यथा, अचेतनादपि पञ्चभूतकदम्बकान्चैतन्यसिद्धेश्चार्वाकमतसिद्धिप्रसंगात्, सांख्यगन्ध एव न भवेत्।' — प्रमेयरत्न., पृ. १५३।

३. 'एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशोलसम्पन्ना स्वामिनं सुखाकरोति, तत्कस्य हेतोः ? स्वामिनं प्रति तस्याः सुखरूपसमुद्भवात्। सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखाकरोति, तत्कस्य हेतोः ? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत्कस्य हेतोः ? तत्प्रति तस्या मोहरूपसमुद्भवात्। अनया स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याता।' — सांख्यतत्त्व., पृ. ८१।

४. 'सुख-दुःख-मोहरूपतया घटादेरन्वयाभावादन्तस्तत्त्वस्यैव तथोपलम्भात्।' — प्रमेयर., पृ. १५०।

न किसी वस्तुको और न उसके अपने किसी धर्मकी स्वतन्त्र व्यवस्था हो सकेगी^१। अतः प्रतीतिके अनुसार वस्तुव्यवस्था होना चाहिए।

चौथे, यदि प्रकृतिको ही बन्ध और मोक्ष होते हैं तो पुरुषकी कल्पना व्यर्थ है^२। भोक्ताके रूपमें उसकी कल्पना भी युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धिमें इन्द्रिय-विषय-की छाया पड़नेपर भी अपरिणामी पुरुषमें भोक्तृत्वरूप परिणमन नहीं हो सकता। तथा पुरुष जब सर्वथा निष्क्रिय एवं अकर्ता है तो वह भुजि-क्रियाका भी कर्ता नहीं बन सकता और तब वह 'भोक्ता' नहीं कहा जा सकेगा। कितने आश्चर्य तथा लोकप्रतीतिके विरुद्ध बात है कि जो (प्रधान) कर्ता है वह भोक्ता नहीं है और जो (पुरुष) भोक्ता है वह कर्ता नहीं है। जबकि यह लोकप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि 'जो करता है वह भोगता है।' जो प्रधान ज्ञान-परिणामका आधार नहीं देखा जाता, उसे उसका आधार माना जाता है और जो पुरुष 'ज्ञानस्वरूप स्वार्थव्यवसायी' देखनेमें आता है उसका निरास किया जाता है,^३ यह कैसी विचित्र बात है। ऐसी मान्यताओंको प्रेक्षावानोंने 'दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना पापीयसी' कहकर उन्हें अश्रेयस्कर बतलाया है। इससे भी बढ़कर आश्चर्य तब होता है जब प्रधानको मोक्षमार्गका उपदेशक कहा जाता है और स्तुति (पूजा-भक्ति-नमन) मुमुक्षु पुरुषकी करते हैं^४।

पाँचवें, पुरुषमें यदि स्वयं रागादिरूप परिणमन करनेकी योग्यता और प्रवृत्ति हो, तो प्रकृति-संसर्ग उसमें बलात् रागादि पैदा नहीं कर सकता। नर्तकी उन्हें पुरुषोंमें राग या विराग पैदा करती है जिनमें उसके प्रति राग या विराग भाव होता है। किसी घड़े या लकड़ीमें वह राग या विराग भाव उत्पन्न नहीं करती। इससे स्पष्ट है कि जबतक पुरुषमें राग या विरागभावरूप होनेकी योग्यता न होगी, तब-तक प्रकृति-संसर्ग उसमें न अनुराग पैदा कर सकता है और न विराग। अन्यथा, मुक्त अवस्थामें भी प्रकृति-संसर्ग रहनेसे मुक्तोंके भी रागादि विकार उत्पन्न होना चाहिए। प्रधानकी मुक्तके प्रति निवृत्ताधिकार और संसारी आत्माके प्रति प्रवृत्ताधिकार मानकर भी उक्त दोषका निराकरण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रधानको निवृत्तार्थ और प्रवृत्तार्थ इसलिए कहा जाता है कि पुरुष प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेपर

१. संसर्गादिविभागश्चेदयोगोलकवह्निवत् ।

भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु ॥ —प्रमेयरत्न., पृ. १५१ ।

२. 'तदसम्भवतो नूनमन्यथा निष्फलः पुमान् ।

भोक्ताऽऽत्मा चेत्त एवास्तु कर्ता तदविरोधतः ॥

विरोधे तु तयोर्भोक्तुः स्याद्भुजो कर्तृता कथम् ।' —आप्तप., का. ८१, ८२ ।

३. 'ज्ञानपरिणामाश्रयस्य प्रधानस्यादृष्टस्यापि परिकल्पनायां ज्ञानात्मकस्य च पुरुषस्य स्वार्थ-व्यवसायिनो दृष्टस्य हानिः पापीयसी स्यात् । "दृष्टहानिरदृष्टपरिकल्पना च पापीयसी" इति सकलप्रेक्षावतामम्युपगमनीयत्वात् ।' —आप्तप., पृ. १८६ ।

४. 'प्रधानं मोक्षमार्गस्य प्रणेतृ, स्तूयते पुमान् ।

मुमुक्षुभिरिति ब्रूयात्कोऽन्योऽकिञ्चित्करात्मनः ॥' —आप्तप., का. ८३ ।

५. 'केवलं मुक्तात्मानं प्रति नष्टमपीतरात्मानं प्रत्यनष्टं निवृत्ताधिकारत्वात् प्रवृत्ताधिकारत्वा-च्चेति. न, विरुद्धधर्माध्यासस्य तदवस्थत्वात्प्रधानस्य भेदानिवृत्तेः ।' —आप्तप., पृ. १५९ ।

संसारमें संसरण नहीं करता और उसका संसर्ग रहनेपर वह संसारमें प्रवृत्त होता है। वास्तवमें निवृत्तार्थ और प्रवृत्तार्थका व्यवहार पुरुषकी ओरसे है, प्रकृतिकी ओरसे नहीं। इसके अतिरिक्त प्रधानमें विरोधी धर्मोंका अध्यास होनेसे वह एक और निरंश नहीं बन सकता।

छटे, अचेतन प्रकृतिको यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि 'पुरुषको विवेक उत्पन्न हो गया है और वह मुझसे विरक्त हो गया है?' वास्तवमें पुरुष ही प्रकृतिसे संसर्ग करनेकी इच्छा करता है और विवेक होनेपर वह उससे छूटनेके लिए छटपटाता है। अतः पुरुषको ही परिणामि-नित्य तथा ज्ञानस्वभाववाला मानना चाहिए और उसीको बन्ध एवं मोक्षका वास्तविक अधिकारी स्वीकार करना चाहिए।

सातवें, अन्ध और पंगुके उदाहरण द्वारा प्रकृति और पुरुषमें संसर्गकी कल्पना करके उससे जो पुरुषके दर्शन तथा प्रधानके कैवल्य एवं सर्गोत्पत्तिका कथन किया जाता है वह भी आपातरम्य प्रतीत होता है, क्योंकि जिस प्रकार अन्ध और पंगु दोनोंमें परस्पर मिलनेकी इच्छा तथा उस प्रकारकी प्रवृत्ति होनेपर उनका सम्बन्ध (मिलन) होता है उसी तरह जबतक पुरुष और प्रकृति दोनोंमें संसर्गकी इच्छा और स्वतन्त्र परिणमनकी योग्यता नहीं होगी, तबतक उनमें न संसर्ग सम्भव है और न दर्शन, कैवल्य और सृष्टि ही। ये दोनों परस्पर विजातीय हैं और इसलिए वे एक-दूसरेके परिणमनमें उपादान नहीं हो सकते।

सांख्योंका यह मत सामान्यैकान्त, नित्यत्वैकान्त या सामान्यवादके रूपमें प्रसिद्ध है क्योंकि प्रकृतिको उन्होंने सर्वथा एक, नित्य, व्यापक, सामान्य और निरवयव तत्त्व माना है और उसे ही आविर्भाव, तिरोभाव, मूर्त्त, अमूर्त्त आदि विरोधी परिणमनोंका सामान्य आधार स्वीकार किया है^१। परन्तु हम ऊपर देख चुके हैं कि वह न अनुभवसिद्ध है और न अनुमानादि प्रमाणसिद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थमें नरेन्द्रसेनने सांख्योंके इस विशेषनिरपेक्ष सामान्यैकान्त अथवा सामान्यवादकी आलोचना करते हुए 'निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत्' कुमारिलभट्टकी इस युक्ति और दूसरे अनेक विकल्पों द्वारा उसका निराकरण किया है। उन्होंने लिखा है कि विशेष-रहित अकेला सामान्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता और वह उसी तरह अवस्तु है, जिस तरह केवल सामान्यरहित विशेष या स्वतन्त्र दोनों^२ और इसलिए सामान्य-विशेषात्मक अनेकान्त—अर्थ ही प्रमेय है—प्रमाणका विषय है^३।

विशेष-परीक्षा :

विशेषवादी बौद्धोंका पूर्वपक्ष—बौद्धोंका कहना है कि एक, नित्य, व्यापक और परमार्थसत् सामान्य, चाहे वह प्रधानरूप हो या चाहे परमपुरुषरूप हो, हमें प्रत्यक्षसे प्रतीत नहीं होता। जो प्रतीत होते हैं वे हैं विशेष—एक-एक, पृथक्-पृथक्,

१. 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

पङ्गवबन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥'—सांख्यका. २१ ।

२. आप्तमी., का. ३६-४० तथा जैनदर्शन, पृ. ४६१ ।

३. 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः'—परीक्षामु. ४-१ ।

अनेक और अनित्य व्यक्तियाँ। स्पष्ट देखते हैं कि कोई घट है, कोई पट है, कोई पुस्तक है, कोई लकड़ी है, कोई पत्थर है, कोई गाय है, कोई आदमी है, इस तरह संसारकी सभी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् व्यक्तिरूपमें ही प्रतीत होती हैं। 'जो जहाँ और जिस कालमें है वह वहीं और उसी कालमें पाया जाता है, अन्य देश या अन्य कालमें नहीं'। और इसलिए दो भिन्न देशों और दो भिन्न कालोंमें व्यापक कोई भी पदार्थ नहीं है^१। यदि भिन्न देशों और भिन्न कालोंमें रहनेवाला एक सामान्य पदार्थ माना जाय, तो यह बतायें कि वह सामान्य प्रत्येक व्यक्तिमें पूर्णरूपसे रहता है अथवा आंशिक ? यदि पूर्णरूपसे रहता है, तो या तो दूसरे अन्य व्यक्तियोंमें उसका अभाव मानना पड़ेगा, या व्यक्तियोंकी तरह उसे भी अनन्त मानना होगा। यदि वह उनमें आंशिकरूपसे रहता है, तो वह निरंश और नित्य नहीं रहेगा। अतः बुद्ध्यभेदको छोड़कर उससे भिन्न सामान्य नहीं है^२। यह बुद्ध्यभेद भी अन्यापोहरूप है। अगोव्यावृत्तिसे गौका व्यवहार, अघटव्यावृत्तिसे घटका व्यवहार और अपटव्यावृत्तिसे पटका व्यवहार होता है। गोत्व, घटत्व, पटत्व आदि रूप सामान्यकी अपेक्षासे नहीं।

ये विशेष ही स्वलक्षण हैं, जो चित्त और अचित्त दोनों रूप हैं तथा ये दोनों भी क्षणिक एवं परमाणुरूप हैं। ये ही प्रत्यक्षका विषय तथा अर्थक्रियासमर्थ होनेसे परमार्थसत् हैं^३। इनसे विपरीत सामान्यलक्षण है^४। ये स्वलक्षणात्मक विशेष परस्परमें असंसृष्ट हैं और अत्यन्त निकटवर्ती हैं। इनमें हमें स्थिरता और स्थूलताका भ्रम होता है^५ पर वास्तवमें वे प्रतिक्षण विनश्वर और सूक्ष्म स्वभाव हैं। उन्हें अपने विनाशमें किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं होती। जिन कारणोंसे उनकी उत्पत्ति होती है उन्हींसे उनका विनाश होता है और इसलिए उत्पत्तिके कारणोंसे व्युत्तिरिक्त कारण न होनेसे विनाशको निर्हेतुक माना गया है। प्रत्येक पूर्वक्षण उत्तरक्षणको उत्पन्न करता है और स्वयं विनष्ट हो जाता है। इस तरह पूर्वोत्तर क्षणोंको सन्ततिमें कार्य-कारणभाव आदिकी व्यवस्था है। पूर्वक्षण कारण है तो उत्तरक्षण कार्य है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि परमाणुओंका परस्परमें संसर्ग (सम्बन्ध) क्यों सम्भव नहीं है ? वे असंसृष्ट ही क्यों हैं ? इसका उत्तर यह है कि एक परमाणुका दूसरे

१. 'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः ।

न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥'

२. 'एकत्र दृष्टो भावो हि क्वचिन्नान्यत्र दृश्यते ।

तस्मान्न भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः ॥'

३. 'तस्य विषयः स्वलक्षणम् ।', 'यस्यार्थस्य संनिधानासंनिधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेद-
स्तत्स्वलक्षणम् ।', 'तदैव परमार्थसत् ।', 'अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः ।'

—न्यायबि., पृ. १८ ।

४. 'अन्यत्सामान्यलक्षणम् ।' —न्यायबि., पृ. १८ ।

५. 'स च संसर्गः सर्वात्मना न सम्भवति एव, एकपरमाणुमात्रप्रचयप्रसंगात् । नाप्येकदेशेन, दिग्भागभेदेन बह्विभिः परमाणुभिरेकस्य परमाणोः संसृज्यमानस्य षडंशतापत्तेः । तत एवासंसृष्टाः परमाणवः प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्त इति ।' —आप्त., पृ. १७६ ।

परमाणुके साथ यदि सर्वात्मना संसर्ग हो, तो दो परमाणु मिलकर एक हो जायेंगे । फलतः सब परमाणुओंका पिण्ड केवल एक परमाणुका ही प्रचय होगा; क्योंकि दूसरे सब परमाणु उसी एक परमाणुके पेटमें समा जायेंगे । यदि एकदेशसे वह संसर्ग हो, तो छह दिशाओंसे छह परमाणुओं द्वारा एक परमाणुके साथ सम्बन्ध होनेपर उस परमाणुके छह अंश कल्पना करना पड़ेंगे । अतः केवल असंसृष्ट परमाणु-पुञ्ज ही निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय है, अवयवी या स्कन्धादि नहीं ।

यह परमाणु-पुञ्ज क्षणिक है, क्योंकि अर्थक्रिया वस्तुका लक्षण है और यह जिसमें सम्भव है वही परमार्थसत् है । यतः नित्य और एकरस वस्तुमें यह अर्थ-क्रिया न तो क्रमसे सम्भव है और न युगपत् । अतः अर्थक्रियाके न बन सकनेके कारण कोई भी वस्तु नित्य और एकस्वभाव नहीं है, अपितु क्षणिक और नाना-स्वभाव है । तथा अपनी सामग्रीके अनुसार कार्योत्पादक है ।

सांख्योंने जिस तरह जीव या चेतनको, 'पुरुष' नाम दिया है और उसे अपरिणामी नित्य स्वीकार किया है, ठीक इसके विपरीत बौद्धोंने 'जीव' को 'चित्त' कहा है और उसे प्रतिक्षण विनश्वर एवं नानाक्षणात्मक माना है । ये चित्तक्षण परस्पर-भिन्न हैं । उनमें इतना ही सम्बन्ध है कि पूर्वं चित्तक्षण कारण है और उत्तर चित्त-क्षण कार्य है । इनकी सन्तति अथवा धाराका प्रवाह अनवरत चालू रहता है । और तो क्या, चित्तक्षणोंकी यह परम्परा निर्वाण अवस्थामें भी विद्यमान रहती है । अन्तर इतना ही है कि संसार-अवस्थामें वह सास्त्रव रहती है और निर्वाणमें वह निरास्त्रव हो जाती है । इस तरह सास्त्रव चित्तसन्तति संसार है और निरास्त्रव चित्तसन्तति मोक्ष है । प्रदीपके निर्वाणकी तरह चित्तका निर्वाण होता है ।

वस्तुको सर्वथा भेदरूप स्वीकार करनेसे बौद्धोंका यह मत विशेषैकान्त, भेदैकान्त, अनित्यत्वैकान्त और विशेषवादके रूपमें प्रख्यात है ।

जैनोंका उत्तरपक्ष—जैन दार्शनिकोंने बौद्धोंके इस मतपर पर्याप्त और विस्तृत ऊहापोह किया है और उन्हें यह मत भी दोषपूर्ण प्रतीत हुआ है । जैसा कि हम सांख्य-मतकी मोमांसामें देख चुके हैं कि वस्तु न सर्वथा एक है और न सर्वथा नित्य है उसी तरह वह न सर्वथा पृथक्-पृथक् अनेक है और न सर्वथा क्षणिक ही प्रतीत होती है । 'रत्नावली' का एक-एक मणि यदि सर्वथा अलग-अलग हो और उनमें अनुस्यूतरूपमें सूतका सम्बन्ध न हो तो उन्हें 'रत्नावली' (माला या हार) नहीं कहा जा सकता । उसी तरह एक-एक क्षण अलग-अलग हों और उनमें अन्वयी द्रव्य न हो तो उन्हें 'वस्तु' संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । सन्तान, समुदाय, साधर्म्य, प्रेत्यभाव ये

१. 'जहण्येय-लक्षण-गुणा वेश्लियाई मणी विसंजुत्ता ।

रयणावलि-ववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥

जह पुण ते चेव मणी जहागुणविसेसभागपडिबद्धा ।

'रयणावलि' त्ति भण्णइ जहंति पडिक्कसण्णाउ ॥

तह सव्वे णयवाया जहाणुल्लवणिउत्तवत्तवा ।

सम्मदंसणसदं लहंति ण विसेसण्णाओ ॥

—सन्मति., १-२२, २४, २५ तथा वरांगचरित, २६-६१, ६२, ६३ ।

सब एकत्व (द्रव्य) के अभावमें सम्भव नहीं हैं^१। क्षणोंमें जब एकत्वान्वय सर्वथा है ही नहीं, तो स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, दत्तग्रहादिव्यवहार, स्वपति, स्वजाया आदि व्यपदेश उनमें कैसे बन सकते हैं^२? जिस चित्तक्षणने किसी दूसरे चित्तक्षणको कुछ उधार दिया था वे दोनों तो नष्ट हो गये, दिये हुए का वापसी ग्रहण कौन करेगा और कौन देगा? जिस पतिके साथ स्त्रीका और जिस स्त्रीके साथ पुरुषका वैवाहिक सम्बन्ध हुआ था, उनका द्वितीय क्षणमें अभाव हो जानेसे न तो स्त्री 'यह मेरा पति है' और न पुरुष 'यह मेरी स्त्री है' का व्यपदेश कर सकेंगे।

इस क्षणिकवादमें सबसे बड़ा दोष यह है कि निरन्वय नाशशील क्षणोंमें कार्य-कारणभाव भी नहीं बनता है। कारण उसे माना गया है जिसके होनेपर कार्य उत्पन्न होता है और कार्य वह कृता जाता है जो कारणव्यापारके बाद पैदा होता है। बौद्ध पूर्वक्षणको कारण और उत्तरक्षणको कार्य मानते हैं। परन्तु पूर्वक्षण जबतक रहता है तबतक उत्तरक्षण उत्पन्न नहीं होता। पूर्वक्षणके निरन्वय विनष्ट हो जानेपर ही उत्तरक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट पूर्वक्षण कारण हो नहीं सकता, क्योंकि वह है ही नहीं, जैसे चिरतर अतीत क्षण न होनेसे कारण नहीं हैं^३। इसी तरह उत्तरक्षण पूर्वक्षणका कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह असत् है। अन्यथा, आकाशपुष्प, खरविषाण आदि असत्तोंको भी कार्य मानना पड़ेगा। दूसरे, कार्यको असत् होनेपर उपादानका नियम नहीं बन सकता। जिस किसी अभावसे जिस किसी भी कार्यको उत्पत्ति होने लगेगी^४।

क्षणिकवादमें हिंसा, हिंसाफल, हिंस्य, हिंसक, बन्ध, मोक्ष और आचार्य-शिष्य आदिकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती है^५। जिस चित्तक्षणने हिंसाका अभिप्राय किया, उसने हिंसा नहीं की, किसी दूसरे हो चित्तक्षणने हिंसा की और जिसने हिंसा की उसे हिंसाका फल प्राप्त नहीं हुआ, किसी तीसरे चित्तक्षणको ही वह प्राप्त हुआ। इस तरह वस्तुको सर्वथा क्षणिक माननेपर 'हिंसा करनेवालेको ही हिंसा-फल प्राप्त होनेका' लोक-

१. सन्तानः समुदाग्रश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः ।

प्रत्येकभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्वये ।—आप्तमी., का. २९ ।

२. प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृ-घाती स्व-पतिः स्व-जाया ।

दत्त-ग्रहो नाधिगत-स्मृतिर्न न क्वार्थसत्यं न कुलं न जातिः ॥ —युक्त्यनु., का. १६ ।

—आप्तमी., का. ४१ और युक्त्यनु., का. ११, १२, १३, १४, १५, १७ ।

३. 'निरन्वयक्षणिकत्वे कारणस्यैवासम्भवात् । तथाहि—न विनष्टं कारणम्, असत्वात्, चिरतरातीतवत् ।... न हि समर्थोऽस्मिन् सति स्वयमनुत्पत्तिसोः पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा, नित्यवत् ।...'—अष्टस., पृ. १८२ तथा आप्तमी. का., ४३ ।

४. यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्माजनि खपुष्पवत् ।

मोपादाननियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्यजन्मनि ॥ —आप्तमी., का. ४२ ।

५. हिनस्त्यनभिसंघातु न हिनस्त्यभिसन्धिमत् ।

बद्धयते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः ।

चित्तसन्ततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः ॥—आप्तमी., का. ५१, ५२ ।

विश्रुत नियम नहीं बन सकता है। दूसरे, प्राणनाशका नाम हिंसा है और नाशको अहेतुक स्वीकार किया गया है। ऐसी स्थितिमें किसीको हिंसक और किसीको हिंस्य नहीं माना जा सकता है। इसी तरह एक ही चित्तक्षणके बन्ध तथा मोक्ष भी नहीं बन सकते हैं। आचार्य और शिष्यका सम्बन्ध भी क्षणिकवादमें असम्भव है^१। प्रथम क्षणमें जिस चित्तक्षणने किसीसे पढ़ा वह द्वितीय क्षणमें निरन्वय विनष्ट हो जानेसे न शिष्य बन सकेगा और न पढ़ानेवाला उसका आचार्य हो सकेगा। इस तरह क्षणिकवादमें कोई भी तत्त्व-व्यवस्था नहीं बनती है।

जिन बहिरर्थपरमाणुओं अथवा संवित्परमाणुओंको विशेष एवं स्वलक्षण कहा गया है वे न प्रत्यक्षसे सिद्ध हैं और न अनुमानादिसे प्रतीत होते हैं। स्थिर, स्थूलादि, नित्यानित्य और द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु ही प्रत्यक्षादिसे प्रतीत होती है। सामान्य-निरपेक्ष अकेला विशेष कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। वृक्षत्वसहित शिशपादि व्यक्तियों एवं गोत्वादिसहित खण्ड-मुण्डादि गवादि व्यक्तियोंका ही हमें भान होता है। नरेन्द्रसेनने बौद्धोंके इस विशेषवादकी भी सबलताके साथ आलोचना की है और कुमारिलकी 'सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि' इस युक्ति द्वारा विशेषोंको खरविषाणकी तरह अवस्तु सिद्ध किया है। और उन्हें अप्रमेय अर्थात् प्रमाणका अविषय बतलाया है तथा प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु सिद्धि को है।

सामान्यविशेषोभय-परीक्षा :

सामान्यविशेषोभयवादी वैशेषिकोंका पूर्वपक्ष—वैशेषिकोंकी मान्यता है कि केवल सामान्य अथवा केवल विशेष प्रमाणका विषय—प्रमेय-वस्तु नहीं है, किन्तु स्वतन्त्र—परस्परनिरपेक्ष सामान्य और विशेष दोनों प्रमाणका विषय अर्थात् वस्तु हैं। उनका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह ही भाव पदार्थ^२ हैं और ये एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि इनका अलग-अलग प्रत्यय होता है। 'द्रव्यम्' ऐसा प्रत्यय होनेसे द्रव्यपदार्थ, 'गुणः' ऐसी प्रतीति होनेसे गुण-पदार्थ, 'कर्म' ऐसा ज्ञान होनेसे कर्मपदार्थ, 'सामान्यम्' इस प्रत्ययसे सामान्यपदार्थ, 'विशेषः' इस प्रत्ययसे विशेषपदार्थ और 'इहेदम्'—'इसमें यह' इस प्रकारके प्रत्ययसे समवायपदार्थ सिद्ध होते हैं। इस प्रत्ययभेदके अतिरिक्त सबका लक्षण भिन्न है। द्रव्य उसे कहा गया है जो गुणवाला, क्रियावाला और समवायिकारण है। गुण वह है जो द्रव्यके आश्रय रहता है और स्वयं निर्गुण एवं निष्क्रिय है। उत्क्षेपणादि परिस्पन्दनरूप क्रियाका नाम कर्म है। अनेक व्यक्तियोंमें रहनेवाला सामान्य है। नित्यद्रव्योंमें रहनेवाला तथा उनमें परस्पर भेदव्यवहार करानेवाला विशेष है। और अयुतसिद्धोंमें रहनेवाले सम्बन्धका नाम समवाय है। इसी तरह सबके कारण

१. 'न शास्तृ-शिष्यादि-विधिव्यवस्था' —युक्त्यनु., का. १७।

२. 'अभाव' नामका एक सातवाँ पदार्थ भी वैशेषिकोंने स्वीकार किया है, किन्तु उसका ज्ञान निःश्रेयसका कारण न होनेसे उसे न सामान्यकी संज्ञा प्राप्त है और न विशेषकी। अतः उसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

भिन्न हैं, अर्थक्रिया सबकी जुड़ी है और कार्य भी सबके अलग-अलग हैं। अतः ये ये छह ही पदार्थ हैं और वे सर्वथा भिन्न हैं।

इन छह पदार्थोंमें द्रव्य, गुण और कर्म ये तीन पदार्थ व्यक्ति—विशेषरूप हैं। सामान्य स्वयं सामान्य (जाति) रूप है। अन्य दर्शनोंमें अस्वीकृत एवं वैशेषिक दर्शनमें स्वीकृत विशेष विशेषरूप है ही और समवाय इन सबके सम्बन्धका स्थापक है। इस तरह वैशेषिकोंके ये छह पदार्थ सामान्य और विशेषरूप होनेके कारण उन्हें सामान्य-विशेषोभयवादी तथा उनके इस वादको सामान्यविशेषोभयवाद कहा गया है।

जैनोका उत्तरपक्ष—जैन दर्शनमें उनके इस स्वतन्त्र सामान्यविशेषोभयवाद-पर भी जैन दार्शनिक लेखकोंने विचार किया है और उन्हें इसमें भी दोष जान पड़े हैं। पहली बात तो यह है कि जो दोष एकान्ततः सामान्यवाद और विशेषवादके स्वीकार करनेमें दिये गये हैं वे सब स्वतन्त्र उभयवादके माननेमें भी प्राप्त हैं।

दूसरे सब प्रकारसे वस्तुको सामान्यरूप मान लेनेपर फिर वह सब प्रकारसे विशेषरूप स्वीकार नहीं की जा सकती और सब प्रकारसे विशेषरूप स्वीकार कर लेनेपर वह सर्वथा सामान्यरूप नहीं मानी जा सकती और इस तरह स्वतन्त्र उभयवाद व्यवस्थित नहीं होता।

तोसरे, प्रत्ययभेदसे यदि पदार्थभेद स्वीकार किया जाय, तो 'घटः, पटः, कटः' इत्यादि अनन्त प्रत्यय होनेसे घटपटादिको भी पृथक्-पृथक् अनन्त पदार्थ मानना पड़ेगा। अतः प्रत्ययभेद पदार्थभेदका नियामक नहीं है। जो अपने अस्तित्वको दूसरेमें नहीं मिलाता, दूसरेके आश्रित नहीं रहता और स्वतन्त्र है वही स्वतन्त्र और भिन्न पदार्थ मानने योग्य है। यथार्थमें गुण-कर्मादि द्रव्यके विभिन्न धर्म अथवा परिणमन मात्र हैं, वे स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। वे द्रव्यके साथ ही उपलब्ध होते हैं, द्रव्यको छोड़कर नहीं और इसलिए वे द्रव्यके आश्रित हैं और द्रव्यके परतन्त्र हैं। पदार्थ तो ठोस और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखनेवाला होता है। यदि गुण-कर्मादि द्रव्यसे भिन्न पदार्थ हों, तो 'अस्य द्रव्यस्य अयं गुणः'—'इस द्रव्यका यह गुण है' इत्यादि व्यपदेश नहीं हो सकता, क्योंकि उनका कोई नियामक नहीं है। समवाय व्यापक और नित्य है। वह भी इसका नियमन नहीं कर सकता। अन्यथा जिस प्रकार महेश्वरमें ज्ञानका समवाय है उसी तरह आकाशमें ज्ञानका समवाय क्यों न हो जाय। अपि च, द्रव्य और गुण जब सर्वथा भिन्न हैं तो उनमें समवाय कैसे हो सकता है। उनमें तो संयोग ही सम्भव है।

यदि कहा जाय कि द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध हैं। अतः उनमें समवाय ही सम्भव है, संयोग नहीं; संयोग तो युतसिद्धोंमें होता है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह अयुतसिद्धत्व क्या है? क्या अपृथक्-सिद्धत्वका नाम अयुतसिद्धत्व है? या पृथक्करणकी अशक्यताका नाम है अथवा कथंचित् तादात्म्यका नाम है? यदि अपृथक्-सिद्धत्वको अयुतसिद्धत्व माना जाय, तो वायु, धूप, छाया आदि भी अपृथक् सिद्ध हैं और इसलिए उनमें भी द्रव्य-गुणादि-की तरह समवाय होना चाहिए और उस हालतमें उन्हें एक मानना पड़ेगा। फलतः

पृथिवी आदि नौ द्रव्योंका प्रतिपादन विरुद्ध तथा असंगत है। रूप, रस आदि भी अपृथक्सिद्ध हैं और पृथक् आश्रयमें नहीं रहते हैं। अतः चौबीस गुणोंका कथन भी असंगत है। इसलिए प्रथम पक्ष तो श्रेयस्कर नहीं है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि पृथक्करणकी अशक्यता द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छहों पदार्थोंमें है। अतः इनमें भी भेद न होनेपर द्रव्यादि पृथक् छह पदार्थोंकी भी मान्यता समाप्त हो जाती है। तीसरा पक्ष स्वीकार करनेपर जैन मान्यताका प्रसंग आवेगा, क्योंकि जैनदर्शनमें ही द्रव्य और गुणादिमें कथंचित् तादात्म्य स्वीकार किया गया है, वैशेषिकदर्शनमें वह मान्य नहीं है। अतः कथंचित् तादात्म्यको छोड़कर समवाय सिद्ध नहीं होता। और समवायके सिद्ध न होनेपर 'इस द्रव्यका यह गुण है' यह व्यपदेश नहीं बन सकता। इसी तरह द्रव्यमें द्रव्यका व्यपदेश भी द्रव्यत्वके समवायसे माननेपर वैशेषिकोंको उस समवायके होनेसे पहले द्रव्यका क्या स्वरूप है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि द्रव्य ही द्रव्यका स्वरूप है, तो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि 'द्रव्य' संज्ञा द्रव्यत्वके समवायसे होनेके कारण वह उसका स्वरूप नहीं हो सकता। अगर कहा जाय कि द्रव्यका सत् ही द्रव्यका निज स्वरूप है, तो सत्का भी सत्नाम सत्ताके समवायसे माना गया है। अतः सत्का भी सत्ता समवायसे पूर्व क्या स्वरूप है, यह प्रश्न उठता है, जिसका कोई समाधान वैशेषिकोंके यहां नहीं है, क्योंकि सत्को स्वयं सत् माननेपर सत्तासमवाय निरर्थक है और उसे स्वयं असत् स्वीकार करनेपर खरविषाणादिकी तरह उसमें सत्तासमवाय संभव नहीं है। इस तरह द्रव्यका अपना कोई स्वरूप नहीं बनता। इसी तरह गुण और कर्मके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए। सामान्य, विशेष और समवाय ये तीन पदार्थ ही स्वरूप सत् होनेसे सत् कहे जा सकते हैं और इस प्रकार तीन पदार्थोंकी ही व्यवस्था बनती है।

पर ये तीन पदार्थ भी स्वतन्त्र और पृथक् सिद्ध नहीं होते। जहाँ तक सामान्यका प्रश्न है वह एक-सी नानाव्यक्तियोंमें पाया जानेवाला भूयःसाम्य या सदृश परिणमनके अतिरिक्त अन्य नहीं है। समान व्यक्तियोंमें जो अनुगत व्यवहार होता है वह इसी भूयःसाम्य या सदृश परिणमनके कारण होता है। जिनकी अवयव रचना समान है उनमें 'गौरयम् गौरयम्', 'अश्वोऽयम् अश्वोऽयम्', 'घटोऽयम् घटोऽयम्' इत्यादि अनुगताकार प्रत्यय तथा व्यवहार होता है। यह सब व्यवहार लोकसंकेतपर आधारित है। लोगोंने जिस समान रचनाके आधारपर जिनमें 'गौ' या 'अश्व' या 'घट' का संकेत कर रखा है उस समान रचनाको देखकर लोग उनमें उन शब्दोंका प्रयोग या व्यवहार करते हैं। 'गौ' आदिमें 'गोत्व' आदि कोई ऐसा सामान्य पदार्थ नहीं है, जो अपनी उन व्यक्तियोंसे स्वतन्त्र, नित्य, एक और अनेकानुगत सत्ता रखता हो और समवायसम्बन्धसे उनमें रहता हो। यदि ऐसा सामान्य माना जाय, तो प्रश्न उठता है कि वह विभिन्न देशोंमें रहनेवाली अपनी व्यक्तियोंमें खण्डशः रहेगा या सर्वात्मना? खण्डशः माननेपर उसमें सांशत्वका प्रसंग आवेगा— वह निरश नहीं रहेगा और सर्वात्मना स्वीकार करनेपर वह एक नहीं बन सकेगा।

जितने और जहाँ-जहाँ व्यक्ति होंगे उतने ही सामान्य मानना पड़ेंगे। अतः सादृश्य-रूप ही सामान्य है और वह व्यक्तियोंका अपना धर्म है। 'सत् सत्', 'द्रव्यम् द्रव्यम्' आदि अनुगत व्यवहार इसी सादृश्यमूलक है, स्वतन्त्र सामान्य या सत्तामूलक नहीं।

इसी तरह विसदृश नाना व्यक्तियों या नित्य द्रव्योंमें रहनेवाला अपना अलग-अलग स्वरूप, पार्थक्य अथवा बुद्धिगम्य वेलक्षण्य ही विशेष है और वह उन व्यक्तियोंसे स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाला नहीं है, क्योंकि वह उन्हींका अपना उसी प्रकार धर्म है जिस प्रकार सादृश्य। जिस प्रकार एक विशेष दूसरे विशेषसे स्वतः व्यावृत्त है, उसका कोई अन्य व्यावर्त्तक नहीं है उसी तरह समस्त अनित्य व्यक्तियाँ और नित्य द्रव्य भी अपने असाधारण स्वरूपसे स्वतः व्यावृत्त हैं, उनकी व्यावृत्तिके लिए स्वतन्त्र विशेष नामके अनन्त पदार्थोंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। सभी व्यक्तियाँ स्वयं विशेष हैं। अतः उन्हें अन्य व्यावर्त्तककी जरूरत नहीं है।

समवायको से स्वतन्त्र पदार्थ माना हो नहीं जा सकता, क्योंकि वह दो सम्बन्धियोंके सम्बन्धका नाम है और सम्बन्ध सम्बन्धियोंसे भिन्न नहीं होता। वह अभिन्न, अनित्य और अवेक होता है। समवायको नित्य, व्यापक और एक स्वीकार करनेपर पूर्वोक्त दोष आते हैं।

अतः वैशेषिकोंके षड् पदार्थ, जो स्वतन्त्र सामान्य-विशेषोभयवादरूप हैं, प्रमाणका विषय नहीं हैं। नरेन्द्रसेनने इसकी सयुक्तिक आलोचना करते हुए कथंचित् अन्यविशेषात्मक, कथंचित् द्रव्यपर्यायात्मक और कथंचित् गुण-गुण्यात्मक वस्तुको प्रमेय सिद्ध किया है।

(ई) ब्रह्म-परोक्षाः

वेदान्तियोंके ब्रह्मवादका पूर्वपक्ष—ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियोंका मत है कि यह प्रतिभासमान जगत् मात्र ब्रह्म है। ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है। वही प्रमाणका विषय है। प्रत्यक्ष हो, चाहे अनुमान या आगम। सभी प्रमाण विधिको ही विषय करते हैं। प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—१. निर्विकल्पक और २. सविकल्पक। निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे मात्र सत्का ही ज्ञान होता है। वह ज्ञान गुंने व्यक्ति अथवा बच्चोंके ज्ञानकी तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्दसम्पर्कसे रहित है। इस प्रत्यक्षसे विधिको अंतरह निषेध भी जाना जाता हो, सो बात नहीं है, क्योंकि वह निषेधको विषय नहीं करता। सविकल्पक प्रत्यक्षसे यद्यपि 'घटः', 'पटः' इत्यादि भेदकी प्रतीति होती हुई जान पड़ती है, किन्तु वह मिथ्या है, अविद्याके द्वारा वैसा प्रतीत होता है। यथार्थतः वह सत्तारूपसे युक्त पदार्थोंका ही बोधक है। अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष भी सत्तामात्रका साधक है। और यह सत्ता परमब्रह्मरूप ही है^१। अनुमान भी सत्ताका ही ज्ञापक है। वह इस प्रकार है—विधि ही वस्तु है, क्योंकि वह प्रमेय है और चूँकि प्रमाणोंकी विषयभूत वस्तुको प्रमेय माना गया है, अतः सभी प्रमाण

१. मी. श्लो., प्रत्यक्ष सू., श्लोक १२० तथा 'प्रमाणप्रमेयक.', पृ. ३७।

२. ब्रह्मसि., तर्कपाद, श्लोक १, तथा प्रमाणप्रमे. पृ. ३७।

३. प्रमाणप्रमे. पृ. ३७।

विधि (भाव) को ही विषय करनेमें प्रवृत्त होते हैं ।^१ मीमांसकोंके द्वारा स्वीकृत अभाव नामका कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसका विषयभूत अभाव कोई वस्तु ही नहीं है । अतएव विधि ही वस्तु है और वही प्रमेय है । एक अन्य अनुमानसे भी विधितत्त्वकी ही सिद्धि होती है । 'ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभासके अन्तर्गत हैं, क्योंकि वे प्रतिभासमान होते हैं, जैसे प्रतिभासका अपना स्वरूप ।' और प्रतिभास स्वयं परमब्रह्म है । आगमवाक्य भी उसीके प्रतिपादक हैं । उनमें स्पष्टतया कहा गया है कि 'जो हो चुका, हो रहा है और होगा वह सब पुरुष (परम ब्रह्म) ही है' जिस प्रकार विशुद्ध आकाशको तिमिर-रोगी अनेक प्रकारकी चित्र-विचित्र रेखाओंसे खचित और चित्रित देखता है उसी तरह अविद्याके कारण यह निर्मल एवं निर्विकार ब्रह्म अनेक प्रकारके देश, काल और आकारके भेदोंसे युक्त, कलुषताको प्राप्त हुएकी तरह भेदरूप प्रतीत होता है^३ ।

यही ब्रह्म समस्त विश्वकी उत्पत्तिमें उसी तरह कारण है जिस प्रकार मकड़ी अपने जालमें, चन्द्रकान्तमणि जलमें और बट अपने विभिन्न प्ररोहोंमें कारण होते हैं^४ । जितने भेदात्मक परिणमन दिखाई देते हैं उन सबमें उसी प्रकार स्रूपकी अन्वय विद्यमान है जिस प्रकार घट, घटी, सराब आदि मिट्टीके परिणामोंमें मिट्टीका अन्वय स्पष्ट देखा जाता है । अतः परमब्रह्म ही प्रमाणका विषय है—प्रमेय है ।

जैनो द्वारा ब्रह्मवादपर विचार—जैन विद्वानोंने इस ब्रह्मवादपर भी विस्तृत विचार किया है और उसे युक्तिकी कसौटीपर रखकर उसका परीक्षण किया है । एक, नित्य, निरंश और व्यापक परमब्रह्मके स्वीकार करनेपर सारी लोकव्यवस्था समस्त हो जाती है । लोकमें नाना क्रियाओं और नाना कारकोंका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । यह भेद अद्वैतैकान्तमें कैसे बन सकता है ? एक ही वस्तु स्वयं उत्पाद्य और उत्पादक दोनों नहीं बन सकती है । पुण्य और पाप दो कर्म, सुख और दुःख उनके दो फल, इहलोक और परलोक दो लोक, विद्या और अविद्या तथा बन्ध और मोक्ष ये द्वैत-युगल अद्वैतवादमें असम्भव हैं ।

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न होता है कि अद्वैत ब्रह्म प्रमाणसिद्ध है या नहीं ? यदि प्रमाणसिद्ध है तो प्रमाणसे सिद्ध करनेसे पूर्व वह साध्यकोटिमें स्थित रहेगा और प्रमाण साधनकोटिमें । और उस हालतमें साध्य-साधनका द्वैत अवश्य मानना पड़ेगा । उसे माने बिना अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है । यदि अद्वैत ब्रह्म

१. मी. श्लो., पृ. ४७८ तथा प्रमाणप्रमेय., पृ. ३७ ।

२. 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।'—ऋक् सं. म. १०, सू. ८०, ऋ. २ ।

३. 'यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।

संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते ॥

तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया ।

कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति ॥'—बृहदा. भा. वा. ३, ५, ४३-४४ ।

४. 'ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।

प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतुः सर्वजन्मिनाम् ॥'—उद्घृत, प्रमेयक. पृ. ६५ ।

प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, फिर भी वह स्वीकार किया जाता है, तो द्वैतवादियोंका द्वैत भी क्यों न माना जाय ।

प्रत्यक्षसे जो विधिकी प्रतीति कही गयी है और विधिको ही ब्रह्म कहा गया है वह भी युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्षसे जहाँ 'घटः सन्, घटः सन्' इस तरह घट-पटादिकी सत्ता प्रतीत होती है वहाँ घटसे भिन्न पट और पटसे भिन्न घटकी भिन्नताकी भी प्रतीति होती है । बिना भेदके अभेद स्वप्नमें भी प्रतीत नहीं होता । अतः प्रत्यक्ष सत्ताकी तरह असत्ताको भी विषय करता है । और तब प्रत्यक्ष सत्ता-असत्ता द्वैतका साधक सिद्ध होता है—अद्वैतका साधक नहीं ।

अनुमानसे ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर पक्ष, हेतु, दृष्टान्त और साध्यका भेद अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उनके बिना अनुमान नहीं बनता है और उस दशामें वही द्वैतका प्रसंग आता है । ऊपर जिन दो अनुमानोंका चलेख किया गया है वे दोनों अनुमान भी निर्दोष नहीं हैं । प्रमेयस्वहेतु कालात्ययापदिष्ट है, क्योंकि 'विधि ही वस्तु है' यह पक्ष प्रत्यक्षबाधित है । प्रत्यक्षसे निषेध भी प्रतीत होता है । प्रतिभासमानत्वहेतु भी सदोष है, क्योंकि ग्राम, उद्यान आदि पदार्थ प्रतिभासके विषय हैं, स्वयं प्रतिभास नहीं है । जैसे दीपक आदि प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले घटादि पदार्थ प्रकाशसे भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं और उनमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव है उसी तरह प्रतिभास तथा ग्रामादि प्रतिभास्य-पदार्थोंमें प्रतिभास्य-प्रतिभासकभाव है । दोनोंकी एक सत्ता कदापि नहीं हो सकती ।

आगमवाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि माननेपर यह प्रश्न होगा कि वे आगमवाक्य ब्रह्मसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न हैं तो अद्वैत कहाँ रहा ? और यदि अभिन्न हैं, तो ब्रह्मकी तरह वे आगमवाक्य भी साध्यकोटिमें आ जायेंगे । यदि कहा जाय कि यह सब अविद्याजन्य व्यवहार है और अविद्या अपरमार्थ है—वह परमार्थ अद्वैत ब्रह्ममें कोई बाधा नहीं पहुँचा सकती, तो यह कहना संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अविद्या जब अपरमार्थ है, तो वह ढाल बनकर अद्वैत ब्रह्मकी रक्षा नहीं कर सकती । यत्तु प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमवाक्य ये सब भी मिथ्या (अपरमार्थ) हैं, तो उनसे होनेवाली एकमात्र ब्रह्मकी सिद्धि भी अपरमार्थ हो होगी । इसके साथ ही यह प्रश्न भी होता है कि वह अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है, तो द्वैत प्रसक्त होता है । और यदि अभिन्न है, तो वह भी ब्रह्मकी तरह परमार्थ या उसकी तरह ब्रह्म भी अपरमार्थ सिद्ध होगा । अविद्याको भिन्नाभिन्नादि विचारोंसे रहित मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि इतरेतराभाव आदि अवस्तु होनेपर भी भिन्नाभिन्नादि विचारोंके विषय होते हैं । एक बात और है । जब ब्रह्मसे भिन्न या अभिन्न वास्तविक अविद्या है ही नहीं, तो आत्म-श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा किसकी निवृत्ति की जाती है ?

'सब प्राणी एक हैं, सबमें ब्रह्मका अंश है, सबको एक दृष्टिसे देखना चाहिए' आदि एक प्रकारकी भावना है और तत्त्वज्ञान दूसरी बात है । प्रत्यक्षसे जब हमें जड़ और चेतन भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं और जड़ तथा चेतन भी देश, काल एवं आकारकी परिधिको लिये हुए अनेक मालूम पड़ रहे हैं तो उनका लोप कैसे किया

जा सकता है ? तत्त्वकी व्यवस्था प्रतीतिके आधारपर होना चाहिए। हाँ, सत्सामान्यकी दृष्टिसे वस्तु एक होकर भी द्रव्य, गुण, पर्याय आदिके भेदसे वह अनेक भी है। अतः वस्तु कथंचित् एक और कथंचित् अनेकरूप है और यही कथंचित् एका-नेकात्मक, भेदाभेदात्मक अथवा सामान्यविशेषात्मक वस्तु प्रमेय है—प्रमाणका विषय है। प्रमाणप्रमेयकलिकामें यही अनेकान्त-दृष्टि प्रस्तुत की गयी है और सप्तभंगीप्रक्रिया द्वारा प्रमेयतत्त्वको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

वक्तव्यावक्तव्यतत्त्व-परीक्षा :

बौद्ध तत्त्व (स्वलक्षणात्मक वस्तु) को अवक्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि विकल्प और शब्द दोनों ही अनर्थजन्य हैं और इसलिए वे अर्थको विषय नहीं करते हैं। उनके द्वारा तो केवल विवक्षा अथवा अन्यापोहमात्र कहा जाता है। अर्थ उनके द्वारा अभिहित नहीं होता। वह केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय है। शब्द अवस्तु है और अर्थ वस्तु है। तथा अवस्तु और वस्तुमें क्या सम्बन्ध ? जब उनमें सम्बन्ध ही सम्भव नहीं है तब शब्दके द्वारा अर्थ (स्वलक्षणात्मक तत्त्व) कैसे वाच्य हो सकता है ? अतः तत्त्व अवक्तव्य है।

बौद्धोंकी यह मान्यता स्पष्टतया स्ववचनबाधित है। जब तत्त्व अवक्तव्य है तो 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उसका कथन नहीं किया जा सकता है। यदि उसे 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा 'अवक्तव्य' कहा जाता है तो वह 'अवक्तव्य' शब्दका वाच्य—वक्तव्य हो जाता है। दूसरे, यदि शब्द अर्थको नहीं कहते—वे केवल अन्यापोहरूप सामान्यका ही प्रतिपादन करते हैं, तो बुद्धका समस्त उपदेश वस्तुप्रतिपादक न होनेसे मिथ्या ठहरता है और तब बुद्धके उपदेश तथा कपिलके उपदेशमें कोई अन्तर नहीं रहता। तीसरे, यदि वस्तु और वस्तुधर्म सभी अवक्तव्य हैं तो शब्दोंका प्रयोग किस लिए किया जाता है ? आश्चर्य है कि शब्दों द्वारा जो कहा जाता है वह अवस्तु है और जो वस्तु है वह उनके द्वारा कही नहीं जाती ! ऐसी स्थितिमें शब्द-प्रयोगके बिना दूसरोंकी वस्तुप्रतिपत्ति कैसे करायी जा सकती है ? क्योंकि दूसरोंकी पदार्थप्रतिपत्ति करानेके एकमात्र कारण शब्द ही हैं और वे अर्थप्रतिपादक हैं नहीं। अन्ततोगत्वा बुद्धकी सब देशना निरर्थक सिद्ध होती है। अतः दूसरों (विनेयजनों) को वस्तुप्रतिपत्ति करानेके लिए शब्दोंका प्रयोग आवश्यक है और तब उन्हें वस्तुका प्रतिपादक मानना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ताल्वादिपरिस्पन्दरूप वास्तविक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले शब्द भी अवस्तु कैसे कहे जा सकते हैं ? अतः शब्द वस्तु हैं और अर्थ भी वस्तु हैं तथा दोनोंमें वाच्य-वाचकसम्बन्ध भी मौजूद है। इसके साथ ही शब्दोंमें अर्थको प्रतिपादन करनेकी स्वाभाविक योग्यता और संकेतशक्ति भी विद्यमान है। अतएव शब्द वस्तुके प्रतिपादक हैं। इससे स्पष्ट है कि तत्त्व अवक्तव्य नहीं है, किन्तु शब्दों द्वारा वह वक्तव्य है। नरेन्द्रसेनने इस सम्बन्धमें भी अपने विचार प्रस्तुत करते हुए स्वामी समन्तभद्र आदि आचार्योंके वचनों द्वारा दृढ़ताके साथ समर्थन किया है कि वस्तु जिस प्रकार प्रमाणद्वारा प्रमेय है उसी प्रकार वह शब्दों द्वारा वक्तव्य भी है—वचनों द्वारा उसका प्रतिपादन भी किया जाता है।

उपसंहार :

ऊपरके विवेचनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि प्रमेय—प्रमाणका विषय सामान्यविशेषात्मक, द्रव्यपर्यायात्मक, भेदाभेदात्मक एवं भावाभावात्मक वस्तु है। प्रमाण इसी प्रकारकी आत्यन्तर वस्तुको विषय करता है। इस प्रकारकी वस्तुको स्वीकार करनेमें विशेष, वैयधिकरण्य आदि कोई दोष नहीं है। समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकालक, विद्यानन्द आदि युगप्रतिनिधि जैन विद्वानोंने युक्ति-प्रमाण पुरस्सर प्रमेयको सामान्यविशेषात्मक वस्तु करके अनेकान्तकी प्रतिष्ठा की है। सिद्धसेनका सन्मत्तिसूत्र तो इसका अद्वितीय प्रतिनिधि ग्रन्थ है। नरेन्द्रसेनने भी इस प्रमाणप्रमेय-कलिकामें एकान्तवादोंकी समीक्षा करते हुए अनेकान्तवादकी अतिसंक्षेपमें सुन्दर स्थापना की है और इस तरह उन्होंने पूर्वपरम्पराका विशदोकरण करके उसका समर्थन किया है।

परिशिष्ट

बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपाजितैः,
माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात्प्रायो गुणद्वेषिभिः ।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलेर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः ॥

—भट्टकलंकदेव, न्यायविनिश्चय

परिशिष्ट १ सन्दर्भ-संकेत विवरण

‘जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र’ में लेखक की जो पूर्व-प्रकाशित अनुसन्धान-सामग्री समाहित की गयी है, उसके पूर्व-प्रकाशन आदिके सन्दर्भ-संकेतों का विवरण प्रस्तुत ग्रन्थके शीर्षकों के साथ निम्न प्रकार है :—

प्रस्तुत ग्रन्थके शीर्षक	पूर्व शीर्षक तथा प्रकाशन आदि अन्य विवरण
१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र : ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि :	जैन न्यायका विकास, वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, वी. नि. सं. २४७६ तथा परिवर्धित रूपमें जबलपुर विश्वविद्यालयमें सन् १९७७ में दिये गये लिखित दो व्याख्यान ।
२. आचार्य कुन्दकुन्दका प्राकृत वाङ्मय और उसकी देन	शीर्षक वही, क्षु. विदानन्द स्मृति-ग्रन्थ, द्रोणगिरि, छतरपुर (म. प्र.), वी. नि. सं. २४९९ ।
३. आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थ-सूत्रका मंगलाचरण	: तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण (दो निबन्ध), अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६, ७, १०, ११, सरसावा, सन् १९४२ ।
४. तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज	: शीर्षक वही, अध्ययन-अनुसन्धान, अंक ८, जयपुर, सन् १९८० ।
५. तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा	: शीर्षक वही, जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, सन् १९४५ ।
६. स्वामी समन्तभद्र	: देवागम अपरनाम आसमीमांसाकी प्रस्तावना, वाराणसी, सन् १९६७ ।
७. निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र	: क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं ? अनेकान्त, वर्ष ६, किरण १०, ११, सरसावा, सन् १९४४ ।
८. नागार्जुन और समन्तभद्र	: शीर्षक वही, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, सन् १९४५ ।

९. दिग्नाग और समन्तभद्र : दिग्नाग और समन्तभद्रमें पूर्ववर्ती कौन ?
अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, सन् १९४५ ।
१०. कुमारिल और समन्तभद्र : उपर्युक्त ।
११. धर्मकीर्ति और समन्तभद्र : क्या समन्तभद्र धर्मकीर्तिके उत्तरकाळीन हैं ?
जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, सन् १९४५ ।
१२. गन्धहस्ति महाभाष्य : गन्धहस्ति महाभाष्यकी कल्पनाका उद्गम
स्थान, जैनमित्र, पोष बंदी २, बी. नि. सं.
२४७२ ।
द्वितीय लेख, शीर्षक वही, अनेकान्त वर्ष ९,
किरण १, सन् १९४८ ।
१३. देवागम-आप्तमीमांसा : देवागम अपरनाम आप्तमीमांसाकी प्रस्तावना,
वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, सन्
१९६७ ।
१४. युक्त्यनुशासन : युक्त्यनुशासनकी प्रस्तावना, सांगानेर,
जयपुर, सन् १९६९ ।
१५. रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी
प्राचीनतापर अभिनव प्रकाश : शीर्षक वही, जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा,
सन् १९४७ ।
१६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी
समन्तभद्रकी कृति है : क्या रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी समन्त-
भद्रकी कृति नहीं है ? अनेकान्त, वर्ष ६,
किरण १२, सन् १९४४ ।
द्वितीय लेख, वर्ष ७, किरण १२, सन् १९४४ ।
रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसाका एककर्तृत्व
प्रमाणसिद्ध है । — द्वितीयसे षष्ठ लेख पर्यन्त,
अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ४-११ तक, सन्
१९४५ ।
१७. रत्नकरण्डकटीका और उसके
कर्त्ताका समय : रत्नकरण्डकटीकाकार प्रभाचन्द्रका समय,
अनेकान्त, सन् १९४७ ।
१८. आचार्य अनन्तवीर्य और उनकी
सिद्धिविनिश्चयटीका : शीर्षक वही, अनेकान्त, सन् १९४६ ।
१९. आचार्य विद्यानन्द : आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना, सरसावा, सन्
१९४९ ।
२०. आप्तपरीक्षा : वही, सन् १९४९ ।

२१. प्रमाणपरीक्षा : प्रमाणपरीक्षाकी प्रस्तावना, वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, सन् १९७७ ।
२२. आचार्य माणिक्यनन्दि और उनका समय : आचार्य माणिक्यनन्दिके समयपर अभिनव प्रकाश, अनेकान्त, वर्ष ८, किरण ८-९, सन् १९४७ ।
२३. परीक्षामुख और उसका उद्गम : शीर्षक वही, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ३,४, सन् १९४२ ।
२४. अभिनव धर्मभूषण यति : न्यायदीपिकाकी प्रस्तावना, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, सन् १९४५ ।
२५. न्यायदीपिका और उसके प्रतिपाद्य विषय : वही ।
२६. न्यायदीपिकामें उल्लिखित ग्रन्थ और ग्रन्थकार : वही ।
२७. नरेन्द्रसेन : प्रमाणप्रमेयकलिकाकी प्रस्तावना, माणिक-चन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, सन् १९६१ ।
२८. प्रमाणप्रमेयकलिका : वही ।



परिशिष्ट २

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र विषयक विशिष्ट सन्दर्भ ग्रन्थ

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्रके विशेष अध्ययन-अनुसन्धानके लिए उपलब्ध विशिष्ट सन्दर्भ-ग्रन्थोंका कालक्रमानुसार विवरण ।

गृह्यपिच्छ (वि. १-३ शती)	: तत्त्वार्थसूत्र	अनेक स्थानोंसे प्रकाशित
समन्तभद्र (वि. २-३ शती)	: देवागम-भासमीमांसा युक्त्यनुशासन स्वयम्भूस्तोत्र रत्नकरण्डकश्रावकाचार	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, १९६७ वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी
सिद्धसक (वि. ४-५ शती)	: सन्मति तर्क	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी
देवमन्दि-पूज्यपाद (वि. ६ठी शती)	: सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी
अकलङ्कदेव (वि. ७वीं शती)	: लघुयस्त्रय न्यायविनिश्चय प्रमाणसंग्रह सिद्धिविनिश्चय अष्टशती तत्त्वार्थवार्त्तिक	सिंधी जैन ग्रन्थमाला (अकलंक ग्रन्थत्रयके अन्तर्गत प्रकाशित) ” ” भारतीय ज्ञानपीठ, काशी गान्धी नाथारंग जैन ग्रन्थमाला भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
हरिभद्र (वि. ८वीं शती)	: अनेकान्तजयपताका अनेकान्तवाद प्रवेश षड्दर्शनसमुच्चय शास्त्रवार्तासमुच्चय न्यायप्रवेशटीका	गायकबाड़ सीरिज, बड़ौदा भारतीय ज्ञानपीठ, काशी देवचन्द लालभाई, भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद गायकबाड़ सीरिज, बड़ौदा
सिद्धसेन (वि. ८वीं शती)	: न्यायावतार कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	रायचन्द जैन ग्रन्थमाला, आगास

वादीभसिंह (वि. ९वीं शती)	: स्याद्वादसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
अनन्तवीर्य (वि. ९वीं शती)	: सिद्धिविनिश्चयटीका	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विद्यानन्द (वि. ८३२-८९७)	: तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अष्टसहस्री आसपरीक्षा प्रमाणपरीक्षा पत्रपरीक्षा युक्त्यनुशासनालंकार सत्यशासन-परीक्षा श्रीपुरपाश्वर्नाथस्तोत्र	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला " " वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली वीर-सेवा-मन्दिर-दृष्ट, वाराणसी सनातन जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला भारतीय ज्ञानपीठ वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली
अनन्तकीर्ति (वि. १०वीं शती)	: बृहत्सर्वज्ञसिद्धि लघुसर्वज्ञसिद्धि	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला " "
देवसेन (वि. ९९०)	: नयचक्र (प्राकृत) आलापपद्धति	
वसुनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: आसमीमांसावृत्ति	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
माणिक्यनन्दि (वि. १०-११वीं शती)	: परीक्षामुख	
वादिराज (वि. १०८२)	: न्यायविनिश्चयविवरण प्रमाणनिर्णय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
प्रभाचन्द्र (वि. १०३७-११३७)	: प्रमेयकमलमार्तण्ड (परीक्षामुखटीका)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रयटीका)	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला
सिद्धर्षि (वि. ११वीं शती)	: न्यायावतारवृत्ति	रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई ।
अभयदेव (वि. १०-११वीं शती)	: सन्मतितर्कटीका	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद ।

अनन्तवोर्य (वि. १२वीं शती)	: प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुखवृत्ति)	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, काशी ।
शान्तिसूरि (वि. १२वीं शती)	: न्यायावतारवार्तिकसवृत्ति सिधो जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।	
देवसूरि (वि. १२वीं शती)	: प्रमाणनय तत्त्वालोका- लंकार स्याद्वादरत्नाकर	आर्हत प्रभाकर कार्यालय, पूना । " "
हेमचन्द्र (वि. ११४१-१२२९)	: अन्ययोगव्यवच्छेद- द्वात्रिंशतिका वेदाङ्कुश	प्रकाशित प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि. १२-१३वीं शती)	: विश्वतत्त्वप्रकाश	जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर ।
राजमहाराज (१३वीं शती)	: अष्टसहस्रोटिप्पण	प्रकाशित
राजमहाराज (१३वीं शती)	: लघोयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति	माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला ।
रत्नप्रभसूरि (वि. १३वीं शती)	: स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
रत्नलयेण (वि. १४वीं शती)	: स्याद्वादमंजरी	रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास
धर्मभूषण (वि. सं. १५वीं शती)	: न्यायदीपिका	वीर-सेवा-मन्दिर, दिल्ली ।
शान्तिवर्णी (वि. सं. १७८७)	: प्रमेयकण्ठिका	वीर-सेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी ।
नरेन्द्रसेन (वि. सं. १७८७)	: प्रमाणप्रमेयकलिका	मा. दि. जै. ग्रन्थमाला ।
चारुकीर्ति (वि. सं. १८वीं शती)	: प्रमेयरत्नालंकार	मैसूर यूनि., मैसूर ।

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परीक्षालेख

यशोविजय
(वि. सं. १८वीं शती)

: अष्टसहस्रीविवरण

प्रकाशित

अनेकान्तव्यवस्था

जैनतर्कभाषा

सिद्धी जैन ग्रन्थमाला

ज्ञानचिन्दु

न्यायसूत्रखण्ड

अनेकान्तप्रवेश

न्यायालोक

शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका

गुरुतत्त्वविनिश्चय

अन्य सन्दर्भ-ग्रन्थों के लिए प्राकृत तथा जैन साहित्य के इतिहास ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए ।



